प्रकाशक :—
श्री उदयाभिनन्दन हीरक जयन्ती ग्रन्थ-समिति

द्वितीय संस्करण संवत् 2031 वि.

मूल्य 35 रु.

मुद्रक :—
जनगण प्रेस, जोधपुर.
फोन : 23876

यत्प्रभापटलोद्भासि भासतेऽद्यापि भारतम् ।
आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम् ॥
(स्वामिपादाः)

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ समिति, जोधपुर के समस्त सदस्यगण

एवं श्री मथुरादास माथुर, अध्यक्ष की ओर से पुष्पाञ्जलि समर्पित

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ

प्रथम खण्ड

राजस्थान प्रदेश वैद्य-सम्मेलन

की ओर से

सादर समर्पित

रामप्रकाश स्वामी, भिषगाचार्य, एम.ए.

अध्यक्ष

राजस्थान प्रदेश वैद्य-सम्मेलन (पञ्जिकृत)

वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा

प्रधान मंत्री

राजस्थान प्रदेश वैद्य-सम्मेलन (पञ्जिकृत)

एवं समस्त सदस्यगण

एवं

मारवाड़ आयुर्वेद-प्रचारिणी-सभा जोधपुर

की ओर से

समर्पित

वैद्यवाचस्पति द्रोणाचार्य

अध्यक्ष

दाऊलाल जोशी

प्रधान मंत्री

एवं समस्त सदस्यगण

|धपुर शहर जिला कांग्रेस कमेटी

की ओर से

समर्पित

द्वारकादास पुरोहित धाराशास्त्री

अध्यक्ष

एवं समस्त सदस्य गण

एवं

अन्तर प्रांतीय कुमार साहित्य-परिषद् के केन्द्रीय कार्यालय

की ओर से समर्पित

नेमीचन्द्र जैन 'भावुक'

संस्थापक एवं महामंत्री

अन्तर प्रांतीय कुमार साहित्य-परिषद्

श्री उदयाभिनन्दन–हीरक–जयन्ती ग्रन्थ के पदाधिकारी

एवं

कार्यालय के अधिकारी

मथुरादास माथुर	दौलतराम चौधरी	गुमानमल पारख
अध्यक्ष	कार्यवहाक अध्यक्ष	कोषाध्यक्ष

बुद्धिप्रकाश आचार्य,	मुनि देवेन्द्रचन्द्र,	बाबू ईश्वरचन्द्र घोषाल	वैद्य अम्बादत्त व्यास
मंत्री	व्यवस्थापक	सयुक्त व्यवस्थापक	कार्यालय सचिव

कार्य कारिणी के सदस्य एवं विशेष सहयोगियों की सूचिः—

नारायणदासजी वाइस प्रिन्सिपल
मनसुखदासजी पारख
हरखलालजी मणिहार
डाक्टर कल्याणमलजी
तारकप्रसादजी व्यास
अचलेश्वर प्रसाद जी शर्मा
राधावल्लभजी काबरा
मुरलीधरजी पुरोहित
कृष्णदत्तजी पुरोहित शास्त्री
मदनगोपालजी काबरा
हाजी असगर अली जी
चान्दमलजी अग्रवाल
द्वारकादासजी पुरोहित वकील
माणकलालजी बालीया
नरेन्द्रकुमारजी सांघो
धर्मनारायणजी माथुर
रामचन्द्रजी देवड़ा
जगदीशजी परिहार
दीपचन्दजी छांगाणी
कविराज तेजदानजी

कविराज गणेशलाल रंगा
वैद्य देवीदत्तजी व्यास
मोदी सरदारनाथजी
अनोपराजजी ललवाणी
हुकमचन्दजी वकील
रामरतनजी अग्रवाल
मोहनलालजी गोठेचा
प्रेमसुन्दरजी यति
डा० खेतलखाणी
लूणकरणजी मिश्रीलालजी जैन
देवोलालजी रंगा
वैद्य अम्बालालजी जोशी
वैद्य मुरलीधरजी वैष्णव
माणकचन्दजी यति
वैद्य शिवनारायणजी व्यास
रामरतनजी व्यास
वैद्य रामलालजी जोशी
नेमीचन्द्र जैन जी 'भावुक'
मोहनलाल तिवारी
वैद्य बाबूलालजी जोशी

विषय-सूची

—०—

(खण्ड २)

(खण्ड ३)

आदिदेव भगवान् श्रीधन्वन्तरि

सद्भक्त्यानम्रकम्रत्रिदशपतिशिरश्चारुकोटोरकोटो-
प्रेङ्खन्माणिक्यमालामलकललहरीधौतपादारविन्दः ।
विष्णोर्भव्यावतारः करकलितसुधापूरकुम्भः समन्ता-
दव्यादव्याजभव्याकृतिरिह भगवान् साधुधन्वन्तरिर्वः ॥

चरित्रनायक के आराध्यदेव

जङ्गम युग प्रधान भट्टारकोत्तम भट्टारक पूज्य भगवान
श्री श्री १००८ श्री जिनदत्तसूरीश्वरजी महाराज

उपराष्ट्रपति, भारत
नई देहली
फरवरी ५,१९६८
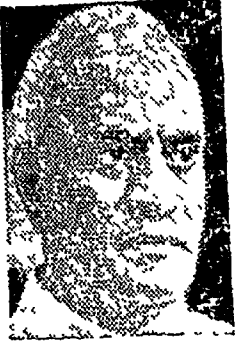
आपका पत्र दिनांक २९ जनवरी, १९६८ का प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप श्री उदयाभिनन्दन ग्रंथ तथा हीरक जयन्ती समारोह का आयोजन निकट भविष्य में करने जा रहे हैं।

मैं आपके आयोजन की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूं।

आपका
V. V. Giri
(वी० वी० गिरि)

तुघलक रोड, १
नई देहली-११
कँप पुणी-२ : दि० ५-२-१९६८

R.K. KHADILKAR
Deputy Speaker Loksabha

श्री मथुरादासजी,

आपके दि० २९-'-१९६८ के लिए धन्यवाद।

परिचय विज्ञाप्ति से ज्ञात होता है कि पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक (श्री गुरांसाहिब) एक प्रथम श्रेणी के आयुर्वेद मार्तण्ड है। आप आजीवन जन सेवा करते रहे हैं। ऐसे महानुभाव का गुण-गौरव आपकी समिति द्वारा होना न केवल उचित है किन्तु अभिनन्दनीय है।

ऐसा देखा जाता है कि पुराने आयुर्वेदाचार्य अपना अनुभव, ज्ञान तथा नुस्खे आखिर दम तक, केवल अपना मान टिकाने के दृष्टिकोण से, दूसरे को पारित नही करते और वह ज्ञान तथा अनुभव उन्हीं के साथ चला जाता है। आने वाली पीढी को वह ज्ञान, अनुभव तथा नुक्से, एक भंडार के स्वरूप में प्राप्त हो सकता है। सभव है कि यह ज्ञान तथा अनुभव आयुर्वेद चिकित्सा-संशोधन के क्षेत्र में एक आधार बनकर महत्व प्राप्त करें तथा जन-मानव को उसका लाभ प्राप्त हो सके। इस बुनियादी तत्व को ध्यान में रखते हुए अभिनन्दन ग्रथ की रचना होन से वह महत्व प्राप्त करेगा इसमें संदेह नही।

श्री गुरांसाहिब के नागरिक अभिनन्दन पर मै अपनी शुभ कामना भेजता हूं तथा उन्हे दीर्घायु प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करता हूं।

जयहिन्द।

आपका
र. के. खाडिलकर

योजना आयोग
नई देहली
दिनांक : ८ फरवरी, १९६८

ाव गाडगील

प्रिय श्री माथुर,

हर्ष का विषय है कि राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक-लोक प्रसिद्ध "चांणोद गुरांसाहिब" के हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर राजस्थान की जनता ने उनका नागरिक अभिनन्दन विशाल पैमाने पर फरवरी १९६८ में मनाने के साथ ही उन्हें एक उत्कृष्ट अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निर्णय किया है।

श्री गुरांसाहिब के रजत जयन्ती समारोह एवं अभिनन्दन ग्रंथ के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक मंगलकामनाऐं समर्पित है।

आपका,
धनंजयराव गाडगील

खाद्य, कृषि, सामुदायिक विकास
तथा सहकारिता मन्त्री
भारत सरकार
नई दिल्ली।

दिनांक : ६ फरवरी, १९६८

राजवैद्य पं० उदयचन्द्र भट्टारक, जोधपुर के हीरक-जयन्ती समारोह के अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रथ भेंट किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हू।

चिकित्सा क्षेत्र में पं० उदयचन्द्र जी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आयुर्वेदिक पद्धति के विकास, प्रचार और प्रसार में इनका योगदान देश के युवा चिकित्सको के लिए मार्गदर्शन देगा।

मेरी शुभ कामना है कि पं० उदयजन्द्र दीर्घायु हो एव सदैव देश व समाज की सेवा में रत रहे।

जगजीवन राम

मन्त्री, वित्त मन्त्रालय,
भारत

नई दिल्ली, फरवरी १९६८

प्रिय माथुरजी,

राजमान्य राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक 'चाणोद गुरासाहिब' की हीरक जयन्ती समारोह के सम्बन्ध में आपका २६ जनवरी १९६८ का पत्र मिला।

गुरांसाहिब की चिकित्सा-पद्धति एवं ज्ञान-गरिमा से आयुर्वेद के प्रसार में महान् योगदान हुआ है। मानवमात्र की समदर्शी भाव से सेवा करके श्री गुरांसाहिब ने भावी पीढ़ी के लिये एक आदर्श प्रस्तुत किया है। उनकी हीरक जयन्ती समारोह के अवसर पर मैं अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

आपका
कृष्णचन्द्र पन्त

इस्पात, खान तथा धातु उप-मंत्री
भारत

फरवरी १२, १९६८

प्रिय माथुरजी,

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि आप वयोवृद्ध जनसेवी एवं प्रकाण्ड पंडित श्री उदयचन्द्र जी भट्टारक के उपकारों का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर उन्हे एक उत्कृष्ट अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रहे हैं। आपका यह बहुत ही उत्तम निर्णय है। इससे भट्टारकजी को न केवल सुयश एवं सम्मान ही प्राप्त होगा बल्कि जनता भी अपने श्रद्धेय नेता का समयोचित अभिनन्दन कर अपने को कृतार्थ समझेगी। उक्त अवसर पर पुनीत प्रकाशन के लिये मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ आपके साथ है।

समारोह की सफलता के लिए कामना करता हूँ।

आपका
चौ. रामसेवक

सिंचाई व बिजली उपमंत्री, भारत

५२, साउथ एवेन्यू,

नई दिल्ली

१० फरवरी, ६८

प्रिय माथुरजी,

जोधपुर की जनता अपने गणमान्य वैद्यराज श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक का उनकी ६०वीं 'वर्षगांठ' पर अभिनन्दन कर रही है, यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ। ऐसे निःस्वार्थ जनसेवी देश के गौरव और जनता में विश्वास के प्रेरक हैं।

उदयचन्द्रजी दीर्घायु हों और अनेक वर्षों तक आयुर्वेद चिकित्सा-जगत् में अपनी सेवा और अनुभवों से प्रेरणा देते रहें, यह हमारी कामना है।

आपका

सिद्धेश्वर प्रसाद

सचिव,

भारत सरकार,

वित्त मन्त्रालय (व्यय विभाग),

नई दिल्ली।

७ फरवरी, १९६८

महोदय,

राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक 'चांणोद गुरांसाहिब' की हीरक जयन्ती समारोह के सम्बन्ध में आपका दिनांक २६ जनवरी १९६८ का पत्र प्राप्त हुआ।

आयुर्वेद को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिये श्री गुरांसाहिब द्वारा की गई सेवाएँ तथा उनका सर्व-जन-हिताय जीवन सर्वविदित है। मानव मात्र को समदर्शी भाव से सेवा करके गुरां महोदय ने अपनी शिष्य-परम्परा तथा भावी पीढ़ी के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। उनकी हीरक जयती समारोह पर मै उनकी दीर्घायु की कामना करता हूँ।

आपका

त्रिभुवन प्रसाद सिंह

जयपुर
राजस्थान

फरवरी २९, १९६८
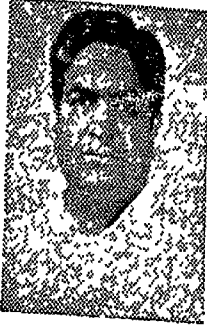
मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि चाँणोद गुरांसाहिब के सम्मान में उनका नागरिक अभिनन्दन किया जा रहा है और उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है जिसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित शोधपूर्ण लेखों का संकलन होगा। गुरांसाहिब ने आयुर्वेद की जो सेवा की है वह अभूतपूर्व है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा में लगाया है।

मैं इस अवसर पर गुरांसाहिब के दीर्घ स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ और अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

मोहनलाल सुखाड़िया

जयपुर
राजस्थान

१२ फरवरी, १९६८

...ास
...क सुरक्षा, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य मंत्री

प्रिय बन्धु,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी की हीरक जयन्ती समारोह के अवसर पर जोधपुर की स्थानीय जनता फरवरी मास में उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रही है।

राजवैद्य पंडित उदयचन्द्रजी भट्टारक न केवल राजस्थान के ही अपितु भारतवर्ष के आयुर्वेद के प्रसिद्ध चिकित्सकों में से एक हैं। उन्होने आयुर्वेद पद्धति की वैज्ञानिकता को सिद्ध करके इसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। भगवान से प्रार्थना है कि ऐसे जनसेवा कर्मयोगी चिरायु हों ताकि जनताजनार्दन को उनकी सेवाओं का लाभ हो।

विनीत,
दामोदर व्यास

जयपुर

राजस्थान

६ फरवरी, १९६८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक की हीरक-जयन्ती के उपलक्ष्य में नागरिक अभिनन्दन करने का निर्णय किया गया है।

श्री गुरांसाहिब भारत के चिकित्सा क्षेत्र में सर्वविदित हैं तथा इस प्रदेश के गरीब से लेकर अमीर तक को जो लाभ उनकी निस्वार्थ सेवा से मिला है उसके लिये यह प्रदेश श्री गुरांसाहिब का ऋणी है।

मैं श्री गुरांसाहिब की दीर्घ आयु की कामना करता हूं।

मुझे आशा है कि श्री गुरांसाहिब के नागरिक अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा आयुर्वेद विज्ञान को देश में उच्च स्थान प्राप्त होगा तथा सही माने में देश की इस महान् विभूति के प्रति समाज द्वारा श्रद्धास्पद सम्मान की अभिव्यक्ति होगी।

शिवचरण माथुर

शिक्षा मंत्री

राजस्थान, जयपुर

यत

राठौड़
ंत्री

जयपुर
राजस्थान
२ फरवरी, १६६७

आदरणीय प्रधान सम्पादकजी,

मुझे यह जानकर अत्यन्त खुशी हुई कि आयुर्वेद-चिकित्सक-सम्राट लोकप्रसिद्ध "चाणोद गुरांसाहिब" की हीरक जयन्ति इसी माह में जोधपुर में मनाई जा रही है। यह जोधपुर की जनता के लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। "नाड़ीवैद्य" के रूप में गुरांसाहिब के समान राजस्थान में अन्य शायद ही कोई वृद्ध होगा। सबसे बड़ी बात तो गुरांसाहिब में है वह यह कि उनके दरवाजे पर राजा और रंक मे कभी भी अन्तर नही पाया।

यह और भी प्रसन्नता का विषय है कि सहृदयी गुरांसाहिब का इस शुभ अवसर पर नागरिक अभिनन्दन किया जा रहा है और उन्हे एक ग्रन्थ भी भेंट किया जा रहा है। मै अपनी हार्दिक शुभ कामना प्रेषित कर रहा हूं।

आपका
खेतसिंह राठोड़

राव धीरसिंह,
उप मंत्री,
शिक्षा, नियुक्ति एवं सामान्य प्रशासन

जयपुर
राजस्थान
दिनांक ६-२-६८

आदरणीय माथुर साहब,

राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्र जी भट्टारक द्वारा जोधपुर की जनता के प्रति किये गये यथार्थ उपकारों का जो मूल्यांकन कर हीरक जयन्ती का आयोजन किया जा रहा है वह वास्तव में सराहनीय है।

मैं इस पुनीत अवसर पर हीरक जयन्ती की व अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

सद्भावी,
राव धीरसिंह

जयपुर

राजस्थान

फरवरी ८, १९६८

ते

राज्य स्वास्थ्य-मंत्री

महोदय,

आपका पत्र क्रमांक ४०५-६८ दिनांक २९ जनवरी, ६८ प्राप्त हुआ।

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य पं० उदयचन्द्रजी भट्टारक नव्वे वर्ष में प्रवेश कर रहे है और उनकी विद्वत्ता तथा सेवाओ के उपलक्ष में उपकृत जनता द्वारा हीरक जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है तथा नागरिक अभिनन्दन कर उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित किया जा रहा है।

ऐसी आदर्श विभूति को इस प्रकार उचित सम्मान दिया जाना आयुर्वेदिक विज्ञान के उत्थान व प्रगति की दिशा में महान योग होगा जो आयुर्वेद जगत के विकास एवं ज्ञानवृद्धि के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होगा। आयुर्वेद भारत की प्राचीन चिकित्सा पद्धति है और इसको पुनर्जीवित कर एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली के समकक्ष बनाने के लिए किए जाने वाले प्रयासो की सफलता एवं इस हीरक जयन्तो महोत्सव की सफलता के लिए पूर्ण सदभावना एवं शुभकामनाओं सहित।

भवनिष्ठा

सुमित्रा

सत्य मेव जयते

प्रभा मिश्रा,
उप मन्त्री, विधि एवं स्वायत्त शासन

जयपुर
राजस्थान
फरवरी ३, १९६८

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि ९० वर्षीय पं० श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक "चांणोद गुरांसाहिब" के हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर जोधपुर की जनता ने उनका नागरिक अभिनन्दन एवं इस अवसर पर अभिनन्दन ग्रथ भेंट करने का निश्चय किया है। मैं ऐसे लब्धप्रतिष्ठित एवं जनसेवी चिकित्सक-सम्राट का अभिनन्दन करना जोधपुर की जनता का परम सौभाग्य मानती हूँ।

यह और भी प्रसन्नता की बात है कि ग्रथ के सम्पादन का दायित्व न केवल राजस्थान के वित्त मन्त्री श्री माथुर साहब जैसे जीवट एवं प्राणवान व्यक्ति ने वहन किया है वरन् आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों एवं अनुभवी, सिद्धहस्त चिकित्सकों की परिमार्जित लेखनी से ग्रथ प्रतिपादित होगा। इस भौतिक युग की दौड़ में जब कि वैज्ञानिक उपलब्धियां संसार को चौंधायमान् कर रही हैं, प्रतिदिन चिकित्सा क्षेत्र में ऐसे आश्चर्यकारक प्रयोग हो रहे हैं कि आज की सफलता कल साधारण बात दृष्टिगत होने लगती है, तो ऐसी स्थिति में आयुर्वेदिक चिकित्सकों के सामने भी यह चुनौती है कि वे इस भारतीय चिकित्सा प्रद्धति में निरन्तर प्रयोगरत रहकर वैज्ञानिक सफलताओं के अनुरूप न केवल इसे सक्षम् पद्धति सिद्ध करें अपितु अग्रणी वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के स्थान पर आरूढ करावें।

गुरांसाहिब का जीवन तो निरन्तर इसी क्षेत्र में कार्यरत् रहा है। अतः ग्रंथ न केवल आयुर्वेदाचार्यों को नई दिशा प्रदान करने में ही सफल होगा बल्कि भट्टारकश्री के अनुभवों से परिपूर्ण होकर आधुनिक काल की ऐतिहासिक निधि के रूप में प्रतिष्ठित होगा, ऐसी मैं आशा करती हूँ।

प्रभा मिश्रा

जयपुर

राजस्थान

२ फरवरी, १९६८

गंगाराम चौधरी,

उप मंत्री, राजस्व व अकाल सहायता

आदरणीय माथुर साहब,

जोधपुर की जनता द्वारा राज्यवैद्य प० श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक के यथार्थ उपकारो का वास्तविक मूल्यांकन कर जो हीरक जयंती समारोह का आयोजन किया है वह अत्यंत सराहनीय है।

मैं इस पुनीत अवसर पर समारोह की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूं।

आपका

गंगाराम चौधरी

सत्य मेव जयते

प्रद्युम्नसिंह
उप मन्त्री, कर एवं राजकीय उपक्रम

जयपुर
राजस्थान
फरवरी २, १९६८
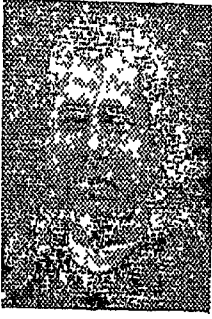
आदरणीय माथुर साहब,

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि राजवैद्य पं० श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक का हीरक जयंती समारोह फरवरी १९६८ में मनाया जा रहा है। इस अवसर पर उनका नागरिक अभिनन्दन करने के साथ ही एक अभिनन्दन ग्रंथ भी उनको भेंट किया जा रहा है।

इस ग्रंथ में सुयोग्य लब्धप्रतिष्ठित तथा अनुभवी विद्वान वैद्यराजों के लेख प्रकाशित होने से यह ग्रथ एक अद्भुत रचना बन सकेगी। इससे यह ग्रंथ वैद्यों का मार्गदर्शन करने में सहायक होगा।

मैं इस महोत्सव की सफलता की कामना करता हूँ।

आपका
प्रद्युम्नसिंह

Calcutta,
February 8, 1968

Rajvaidya Sri Udaichandraji of Chanoud celebrates his 90th birthday this month when his friends and admirers will present him a commemoration volume.

Though I have not had the privilege of meeting him personally I find that this contribution to the propagation of and research in the indigenous system of medicine is fairly large, besides his other interests in arts. I send him my felicitations on this occasion.

P. C. Ghosh
Chief Minister
West Bengal

Chairman,
Press Council of India

31 Aurangzeb Road
New Delhi, 7th February 1968

Shri J R. Mudholkar congratulates the Committee in bringing out the Commemoration Volume and wishes success of the function being organised for presenting it to Pandit Shri Udaichandraji Bhattarak.

आयुर्वेदमार्तण्ड पंडित उदयचन्द्रजी राज्यवैद्य चाणोद गुरांसाहब के पूर्वज आचार्य किशनचन्द्रजी वैद्य मुनी खरतरगच्छ के मेरे मारवाड़ में आने वाले पुर्खा राव शीवाजी के साथ कन्नौज से आये। उनके पश्चात् सर्वदा जोधपुर राजवंश के साथ पीढी दर पीढी सम्बन्ध रहने के कारण मारवाड़ के यशस्वी राजाओं ने समय समय पर इनके महापुरुष गुरुओं को खिल्लतों, सनदो तथा भेंटो से सम्मानित किया।

पंडित उदयचन्द्रजी महाराज के गुरु पूज्य उमेददत्तजी गुरां साहब का मेरे महान पूर्वज स्वर्गीय जसवतसिहजी महाराजा से विशेष संबन्ध रहा। गुरां साहब की आश्चर्यजनक चिकित्सा से एक निकटवर्ती व्यक्ति को रोगमुक्त होते देख महाराजा साहब ने गुरां साहब को अपना निजी राज्यवैद्य बना चाणोद से बुलाकर जोधपुर में ही बस जाने का अनुरोध किया।

मैंने स्वयं ने देखा कि मेरे भ्राता स्वर्गीय उम्मेदसिहजी महाराजा के बांह में एक विशेष रूप की पीड़ा उठने पर जोधपुर के अग्रेज प्रिन्सि-पल मेडिकल आफिसर ने निश्चित रूप से कहा कि शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त और कोई उपाय नही और आपरेशन के लिए भी इंगलैण्ड जाना पड़ेगा क्योकि भारत मे पर्याप्त साधन नही थे, साथ में यह भी कहा गया कि आपरेशन होने पर भी सफलता मिलना निश्चित बात नहीं और हाथ बेकार भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में पंडित उदय-चन्द्रजी ने चिकित्सा का भार स्वयं लिया और थोड़े ही दिनों में महाराजा साहब को पूर्णरूप से पीड़ामुक्त कर दिया। उस चमत्कार से प्रभावित हो महाराजा साहब ने गुरां साहब को पालकी सिरोपाव तथा सोना प्रदान कर विशेष सम्मानित किया।

गुरां साहब की ख्याति दूर दूर होने के कारण जोधपुर की भी ख्याति बढ़ी है और दूर दूर से रोगी आकर उनकी अद्भुत कला से लाभ उठाकर जाते हैं।

गुरां साहब ने आयुर्वेद की भी विशेष सेवा की है और उन्हीं के आग्रह से राज्य से सारी सुविधायें मिली और एक विशाल अखिल भारतीय आयुर्वेद सम्मेलन भी जोधपुर में १९३९ में हुआ।

जोधपुर का सौभाग्य है कि गुरां साहब जैसे महान व्यक्ति ने इस नगर को सुशोभित किया है और करते हैं। गुरां साहब दीर्घजीवी हों और उनके अनुभव का लाभ वह और भी देते रहे यह मेरी हार्दिक इच्छा है।

अजीतसिह
जनरल महाराजधिराज
श्री सर

डॉ० च० द्वारकानाथ
परामर्शदाता– विदेशी चिकित्सा पद्धति

भारत सरकार
स्वास्थ्य मंत्रालय

यह परम प्रसन्नता का विषय है कि आप लोग राजस्थान-गगन के पीयूषवर्षी चन्द्र राजवैद्य पं० उदयचन्द्र जी भट्टारक की मनाई जाने वाली हीरक-जयन्ती के अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने जा रहे हैं।

मैं आप लोगो के द्वारा राज्यवैद्य जी की मनाई जाने वाली हीरक जयन्ती की सफलता के लिए शुभकामनाएँ प्रकट करता हूं और आशा करता हूं कि आपका अभिनन्दन ग्रन्थ लेख-मालाओं से अनुस्यूत होकर आयुर्वेद जगत को वैज्ञानिक दिशा में सोचने का स्वर्णावसर प्रदान करेगा।

भवदीय
च. द्वारकानाथ

महापुरुष के प्रति कृतज्ञता

स्वामी जयरामदासजी, भिषगाचार्य, जयपुर

भारतवर्ष को अनेक ऋषि मुनियों को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त है जिन ने अपने तपःप्रभाव से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वप्रथम नानाविध उपलब्धियाँ संसार को प्रदान की। अज्ञानतिमिराच्छन्न संसार को अपनी ज्ञानगरिमा के द्वारा आलोकित कर जगद्गुरु के गौरवमय पद पर भारतवर्ष को आसीन करने का श्रेय उन्ही ऋषिमहर्षियों को है। इसी को लक्ष्य कर मनु ने कहा है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
सवस्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

स्वस्वरूपानुसंधान की शिक्षा प्रदान करने के कारण वे महापुरुष बने हैं और उनको उत्पन्न करने वाली भूमि भी धन्य है।

प्राणाचार्य राजवैद्य भट्टारक महोपाध्याय प० श्री उदयचन्द्रजी महाराज श्री गुरांसा ऐसे ही महापुरुषा हैं जिनके लोकोत्तर गुणगणो से प्रथम साक्षात्कार में ही व्यक्ति प्रभावित हो जाता है। आपने बाल्यकाल से ही आध्यात्मानुचिन्तन में अपने मानस लो सलग्न कर बहुजनहिताय बहुजनसुखाय जीवन निर्धारित कर श्रीमद्भगवद्गीतोक्त सर्वभूतहितैषिता को मूर्त्तरूप प्रदान किया है। गुरांसा जैसे महानुभाव के लिये निम्नोक्ति सर्वथा सार्थक होती है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित् सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परब्रह्मणि यस्यचेतः॥

गुरांसा ने मरुभूमि एव राजस्थान में जो आयुर्वेद स्रोतस्विनी प्रवाहित की है वह किसी भी व्यक्ति से तिरोहित नही है। आपके वर्चस्व, मनस्विता, चिकित्साकौशल आदि पीयूषपाणि चिकित्सक गुणो से प्रभावित होकर तात्कालिक मरुधराधीश ने आपको राज्य-सम्मान प्रदान करवा कर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय प्रदान किया था। आयुर्वेदाभ्युदय के लिए सतत प्रयत्नो एवं दूरदर्शिता के कारण वैद्यसमाज ने अपना नेतृत्व आपको प्रदान किया तथा राज्यशासन ने भी आपको अनेक बार उत्तरदायित्व पदो पर आसीन किया, जहाँ आपने अपनी प्रतिभा के द्वारा अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया।

प्राचीन परिपाटी के चिरन्तन सत्यान्वेषण के अनुपम तत्वानुसधान में तत्पर सौम्यमूर्ति, उज्ज्वलसरलवेशविन्यास, सगीत, कलाप्रियता, वैद्योचित कर्त्तव्यकल्याणनिर्वाहणैषिता आदि गुणगणो से कौन सहृदय व्यक्ति आकृष्ट एव सश्रद्ध नतमस्तक नही होता।

आयुर्वेद के प्राचीन लुप्त रसो का प्रयोग आपके उर्वर मस्तिष्क का ही फल है जिससे न केवल आपने धन, यश अर्जित किया अपितु नागार्जुन सम्प्रदाय की विच्छिन्न शृङ्खला को

पुनः संयुक्त कर रसचिकित्सा के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया है। कलाकरोपम आपके विचारगांभीर्य में निहित नवीन रत्नों को वही व्यक्ति कर सकता है जिसने आयुःशास्त्र का तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त किया है। आज भारतवर्ष में सिद्धहस्त पीयूषपाणि चिकित्सको का अभाव बतलाने वालो के लिए आप बन्द्यस्थल है। आयुर्वेदीय शुद्ध चिकित्सापद्धति का समाश्रय लेकर उन संकीर्ण व्याधि-पीड़ित जनो को जोवनदान देकर आपने आयुर्वेदविजयवैजयन्ती फहराई है।

ऐसे महापुरुष के प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ अभिनन्दन का आयोजन करने के लिए आयोजक प्रशंसा के पात्र हैं।

जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह ऐसे महापुरुष को दीर्घस्वस्थजीवन प्रदान करें। जिससे वे वैद्यसमाज और आयुर्वेद की इस सकटापन्न स्थिति मे और भी अधिक सेवा कर सकें।

इस अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनाये है।

दीर्घ जीवन की शुभ कामना

चाणोद गुरांसा चिकित्सक सम्राट राजमान्य राजवैद्य भट्टारक पं० उदयचन्द्रजी राजस्थान के ही नही भारत के विद्वान चिकित्सकों में से एक है। इन्होने हमारी उस समय चिकित्सा की जब ब्रिटिश सरकार के बड़े जुर्म थे। लोकनायक स्व. श्री जयनारयणजी व्यास के नेतृत्व में हम जेल में थे तब श्री व्यासजी ने सरकार से मांग की कि हमारी चिकित्सा श्री गुरांसा से कराई जाय। श्री गुरांसा ने निष्कपट भाव से हमारी निःशुल्क चिकित्सा की। श्री गुरांसा गरीब और अमीर सभी के चिकित्सक हैं श्री गुरांसा मेरे परिवारजनो एवं मित्रों के विश्वस्त चिकित्सक हैं।

मैं भगवान से श्री गुरासा के दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता हूं।

अचलेश्वर प्रसाद शर्मा
प्रधान सम्पादक
प्रजासेवक साप्ताहिक, जोधपुर

जोधपुर
राजस्थान
फरवरी १६, १९६९

प्रिय श्री माथुर,

मुझे यह जान कर हार्दिक प्रसन्नता है कि चाणोद गुरां साहिब को हीरक जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर इस ऐतिहासिक नगर के नगर-बन्धुओं ने उन्हें अभिनन्दन ग्रथ भेंट करने का निर्णय लिया है। मैं इस शुभ अवसर पर गुरां साहिब के प्रति अपनी सभी मंगल कामनाए प्रस्तुत करना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। गुरां साहिब से मेरे तथा मेरे पूज्य पिताश्री के बहुत ही स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं जिनकी अमिट छाप मेरे हृदय-पटल पर चिरकाल तक अंकित रहेगी। मेरी हार्दिक कामना है कि प्रस्तावित अभिनन्दन ग्रन्थ पूर्ण सफलता से सम्पन्न हो सकेगा।

आपका
इन्द्रनाथ मोदी

मनः अभिव्यक्ति

हम कथाओं और ग्रन्थों में धन्वन्तरि वैद्य का नाम पढ़ते व सुनते आए हैं। परन्तु इस वर्तमान युग में उसका प्रत्यक्ष स्वरूप हम श्रीयुत पूज्य गुरां साहब (चाणोद) चिकित्सकसम्राट् राजवैद्य पं० उदयचन्द्रजी मे देखते हैं। इससे ज्यादा मेरे पास कोई शब्द नही हैं कि मैं गुरां साहब के लिये कुछ लिखूं।

भवदीय
माधोसिंह भैंसवाड़ा
उप मंत्री
भवन-निर्माण विभाग, राजस्थान

चरित्रनायक के निष्ठावान बन्धु

मथुरादास माथुर धाराशास्त्री
प्रधान सपादक एव अध्यक्ष
उदयाभिनन्दन ग्रन्थ
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

आज भी जिनकी दिवंगत आत्मा भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न कर रही है—

महात्मा गांधी

जवाहरलाल नेहरू

लालबहादुर शास्त्री

भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक
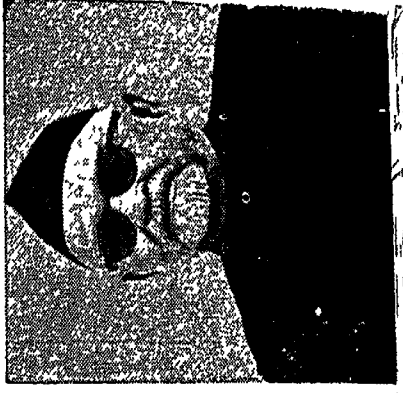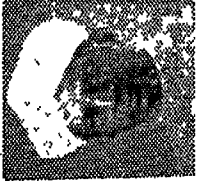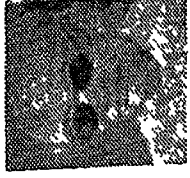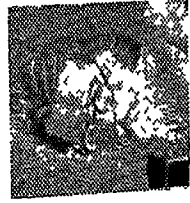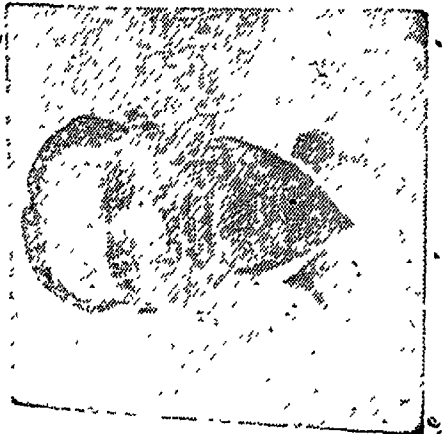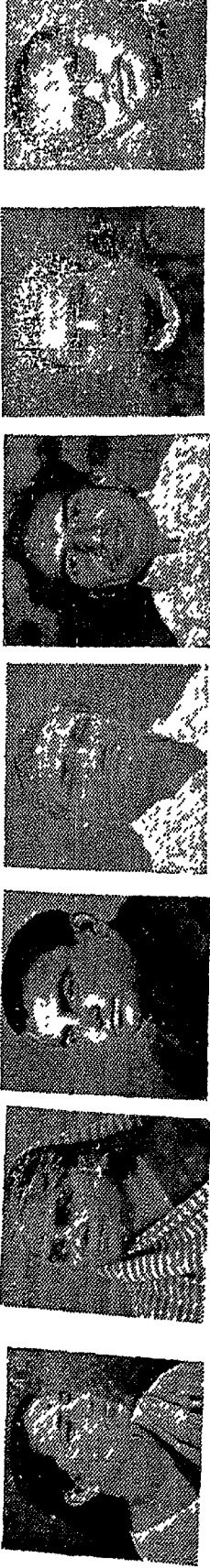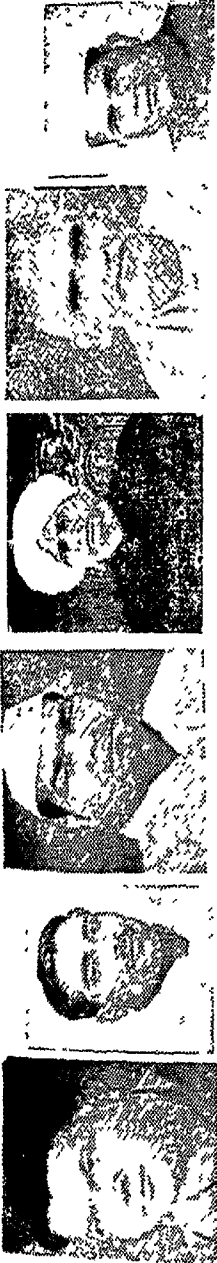
चरित्रनायक की आशा के प्रतीक

राजस्थान के लोक प्रिय मुख्य मन्त्री
श्री मोहनलालजी सुखाड़िया

सम्पादकीय

प्रातःस्मरणीय श्री गुरांसाहब को समूचे भारत का वैद्यसमाज अपने पिता की तरह पूजनीय मानता है। भारत के अधिकांश रोगी श्री गुरांसाहब को पीयूषपाणि की उपमा के माध्यम से याद करते हैं। राजस्थान के घर-घर में आपकी महिमा सुनी जा सकती है और मारवाड़ का तो पत्थर-पत्थर आपका गुण गाता है। ऐसे ओजस्वी व्यक्तित्व वाले स्वनामधन्य पं० उदयचंद्रजी (चाँणोद गुरांसाहब) को हिन्दुस्तान में चिकित्सा करते-करते ७५ वर्ष से भी अधिक समय हो चुका है, कारण वे ९३वें वर्ष में पदार्पण कर चुके हैं। ऐसे तपस्वी महामानव आज भी हिन्दुस्तान में विरले ही देखे व पाये जाते हैं। हमारे मारवाड़ और राजस्थान को यह गौरव प्राप्त है कि वह अत्यंत निकट से श्री गुरांसाहब के दर्शन कर सकता है और आपकी सुहृत् वत्सलता के कारण जो भी आपको एक बार देख लेता है वह उन्हें अपना ही मान बैठता है एवं अपने सुखों का नहीं प्रत्युत् अपने दुःख-दर्दों का साथी मानता रहता है। इसीलिए ऐसे ही महामानवों के लिए गीता ने 'सर्वभूत हिते रत:' का विशेषण दिया है जिसके लिए आप सर्वथा उपयुक्त हैं।
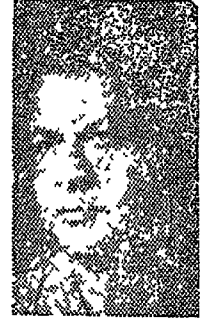
श्री गुरां साहब को मैं बचपन ही से जानता हूं। मेरा समूचा परिवार आपको बड़ी निटकता से जानता है। जब मैं बच्चा था तब भी आपको जानता था। कॉलेज में पढ़ कर आने के बाद थोड़ा आपसे अलगाव हुआ, कारण आप 'राजवैद्य' के नाते मारवाड़ में बहुत बड़े आदमी माने जाते थे। स्वर्गीय महाराजा उम्मेदसिंहजी के बाद आपकी राज्य में एक महान् कलाकार की हस्ती थी। राज्य ने आपको अपने विशिष्टतम उपाधियाँ, उपहारों एवं मर्य्यादाओं से विभूषित किया था जिसका प्रत्यक्षीकरण जोधपुर मे हुवे अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के उन्तीसवें अधिवेशन से किया जा सका था। हम लोगों ने भी साश्चर्य देखा कि महाराजा तो खैर अपने ही आदमी थे पर सात समुद्रों पार वाला अंग्रेज प्रधान मंत्री भी आपके इशारों पर चलने में अपना गौरव समझता था।

ऐसे राज एवं राज्य-सम्मानित व्यक्ति से हमारा कुछ समय तक अलगाव या यों कहें कि अलगाव का भ्रम हुआ। कारण हम उस समय अंग्रेजी हुकूमत

के खिलाफ महात्मा गांधी व श्री जयनारायणजी व्यास के निर्देशन में अहिंसक आंदोलन कर रहे थे, नारे लगाते, जुलूस निकालते थे, सरकार ने हमारा दमन किया। ज्यों-ज्यों हमारा दमन किया, हमारी ताक़त बढ़ी, हमने जेलें भरदीं। किंतु हमें वहां भी श्री गुरांसाहब के दर्शन हुए, मात्र दर्शन ही नहीं, उन्होंने हमारी जेल में भी चिकित्सा निशुल्क एवं हम लोगों के परिवारजनों को भी पूरी तरह आश्वस्त करते रहे ताकि हमारा अभाव उन्हें न खटके। इससे यह आभास होता है कि पूज्य गुरांसाहब राजवैद्य ही नहीं अपितु प्रजा से सम्बन्धित अधिक रहे। हमारा भ्रम मिट गया, हमने आपको अपना व समाज का परम हितैषी माना। हमारे मन में आपका तब से उत्तरोत्तर सम्मान बढ़ता ही गया और उसी की एक यह "श्री उदयाभिनन्दन ग्रंथ एवं हीरक जयंती समारोह समिति जोधपुर" विशाल परिणति है। हमारे आंदोलन में वैद्यों का भी सहयोग था। हमने उसी समय उक्त समिति का बीजवपन किया था। श्री मार० आ० प्रचारिणी सभा जोधपुर ने भी उन्हीं दिनों एक अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

समय बीतता गया, हम लोग भी इधर-उधर फैल गये। मगर हम जहाँ भी गये वहाँ हमें श्री गुरांसाहब की यश-कीर्ति सुनने को मिली जब यह मिलती हमारा मन तड़फ उठता कि 'क्या कारण है, हम बड़े-बड़े कार्य करते ही रहते हैं पर यह एक हमारा मनभावन कार्य पूरा नहीं होता ?' मैं जोधपुर आता और वैद्यों से मिलता, उन्हें प्रेरणा देता और चला जाता। जोधपुर का ही वैद्य-समाज नहीं, समूचा हिन्दुस्तानी वैद्य-समाज कांग्रेसी शासन से कुछ खिन्न-सा रहता था, उसकी धारणा में सरकार उसका जैसा सम्मान करना चाहिये वैसा नहीं कर पाती थी। वह मेरे आने पर अपना होने के नाते कुछ अपनी खीज निकालता, मांगें पेश करता।

कांग्रेसी शासन ने आयुर्वेद की समूची प्राथमिक मांगें पूरीं की और वैद्यों के लिए भी क्षेत्र तय्यार किया कि वह अपनी प्रगति आप करें और जन-सेवा के द्वारा जन-भावना को उभार कर आंदोलित करें। कुछ वैद्यों ने इसमें सहयोग किया, उनमे श्री गुरांसाहब एक अन्यतम व्यक्ति थे। आप राजस्थान आयुर्वेद बोर्ड के प्रथम सभापति निर्वाचित हुए।

राजस्थान प्रांतीय आयुर्वेद सम्मेलन एवं राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) जोधपुर में भी श्री गुरांसाहब को अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने के प्रस्ताव पारित हुए। इन प्रस्तावों की सूचना वैद्य बधुओं द्वारा मुझे समय २

युवक हृदय सम्राट् दिवंगत नेहरु
पंचायती राज्य के संस्थापक

सर्व प्रथम भारत में पंचायती राज्य की स्थापना नागौर में हुई

लोकतंत्र के प्रेरक

श्री मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्य मंत्री (राजस्थान)
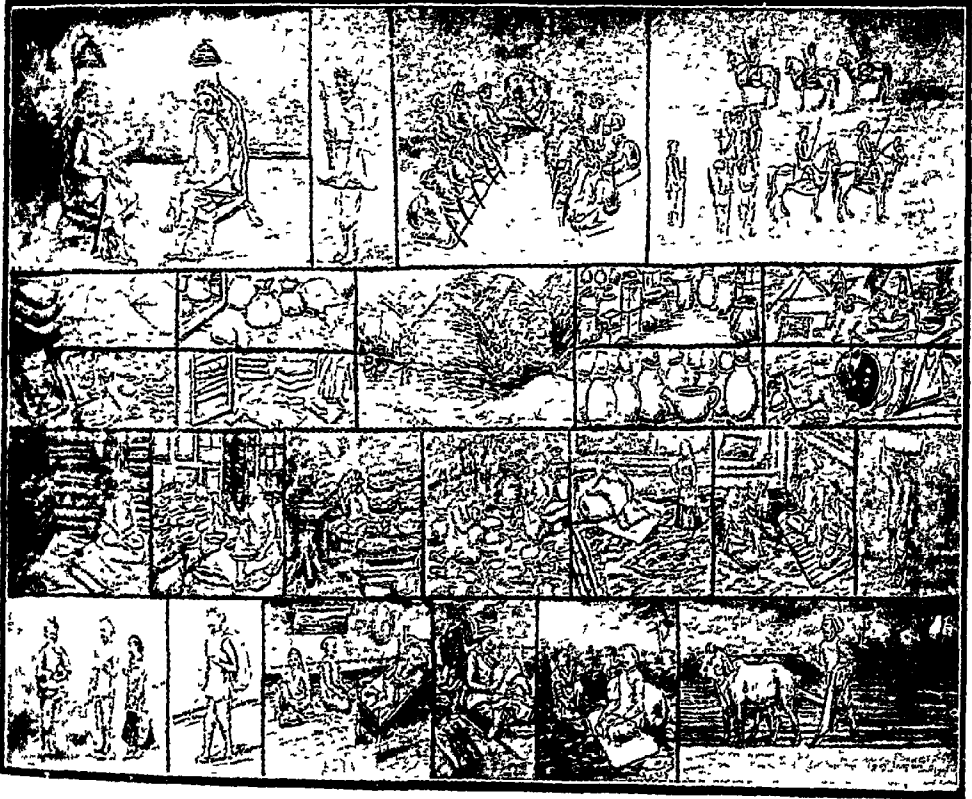
राजस्थान में पंचायत राज्य से समृद्धि

लोकतंत्र के प्रहरी

श्री मथुरादास माथुर
वित्तमंत्री (राजस्थान)

पर मिलती रहती थी किन्तु कार्यव्यस्तता के कारण मैं चाहता हुआ भी इस ओर ज्यादा ध्यान न दे सका। अन्ततः १९६२ में जब मैं जोधपुर आया तब वैद्य बंधुओं द्वारा संपर्क स्थापित किए जाने पर मैंने फिर उन्हें टटोला किंतु कुछ तत्व न मिला तब मैंने शहर के गुणग्राही बहुश्रुत श्री गोवर्द्धनलालजी काबरा से इस संबंध में बातचीत की, उन्होंने इसे अत्यत प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया, एक समिति बनी, वैद्य माधवलालजी जोशी इसके मन्त्री एवं श्री काबराजी इसके अध्यक्ष बनाए गए। काम कुछ प्रगति करने लगा किंतु श्री काबराजी के आकस्मिक निधन ने फिर इसमें शिथिलता ला दी। अंततः मुझे ही उदयाभिनंदन ग्रंथ एवं हीरक जयंती समारोह का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया तथा कार्यसौकार्य के लिए श्री दौलतराम चौधरी को कार्यवाहक अध्यक्ष बनाया गया। श्री चौधरी की लगन ने इस कार्य को आगे बढ़ाया, एतदर्थ वह धन्यवाद के पात्र हैं।

यहाँ मैं पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय पं० स्वर्गीय श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊजी का भी पुण्य स्मरण करता हूँ जिन्होंने सर्वप्रथम इस अभिनंदन ग्रंथ का प्रधान संपादकत्व स्वीकार कर हमारा पथ-निर्देश किया। उन्ही की स्वर्गस्थ आत्मा ने जब जब इस कार्य में शिथिलता आई हमे प्रेरणा देकर आगे बढाया है। वे आज भी हमारे संबल हैं।

देश पर इसी दौरान कई संकट आए, उन्ही संकटों में अत्यधिक फँसे रहने के कारण इस कार्य मे शिथिलता आती गई, फिर भी मुझे खुशी है कि कार्य रुका नही, धीरे २ प्रगति करता ही रहा। समस्त भारत के महान् आयुर्वेदज्ञों की सेवा में हम लोगों ने पत्र डाले, उनसे सपर्क साधा और उनके वैदुष्यपूर्ण लेखों को हमारी समिति ने प्राप्त किया वस्तुतः यह हमारा सौभाग्य ही था एवं श्री चांणोद गुरांसाहब का वैशिष्ठ्य। जिस प्रकार देश पर इस दौरान विपत्तियां आईं, ठीक उसी तरह इसी काल मे वैद्य समाज पर भी एक से एक वढकर अनभ्र वज्रपात हुए, सर्वप्रथम श्री गुरां साहब के साथी आयुर्वेद के आदर्श विद्वान यादवजी भाई का स्वर्गवास हो गया ? श्री गुरांसाहब इससे संभल भी न पाए कि श्री गोवर्द्धनजी शर्मा छांगाणी का स्वर्गवास हो गया। श्री गुरांसाहब अपने इन दोनों प्रिय साथियों का वियोग सहन न कर सके और बीमार पड़ गए ? हमारा व समिति के सारे साथियों का विचित्र हाल ? हमारा संबल श्री गुरां साहब थे पर गुरां साहब का संबल कौन ? किन्तु श्री धन्वन्तरि भगवान के एकनिष्ठ भक्तों एवं अपने गुरुदेव के कृपाकटाक्ष में असीम श्रद्धा रखने

वाले श्री गुरांसाहब ने इन कष्टों को अन्ततः झेल ही लिया पर ईश्वर की क्या कहें उसने महान विद्वान श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री को भी अपने पास बुला लिया। श्री गुरां साहब फिर हिले। पर चोट पर चोट करने की प्रतिभा के धनी ईश्वर ने और भी एक प्रखर प्रहार अभी २ श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के देहावसान के रूप में किया ? श्री गुरांसाहब एक बार फिर हतोत्साहित हुए। मैंने सारे कार्यकर्ताओं को नए सिरे से फिर इकट्ठा किया। सारी सम्पादकीय व्यवस्था का भार श्री बाबूलालजी जोशी पर डाला और रा. प्र. वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्री रामप्रकाशजी स्वामी से उन्हें निरंतर सहयोग देने की प्रार्थना की। मुझे खुशी है कि इन दोनों महानुभावों तथा इनके वैद्य तथा वैद्येतर मित्रों ने मिलकर यह अनोखी प्रेरणा देने वाला, विद्वानों के साथ रहने वाला, छात्रों के मार्ग को सरल करने वाला तथा साधारणतम रोगियों को भी अन्धकार मे प्रकाश देने वाला यह अभिनंदन ग्रंथ तैयार कर आज मां भारती के श्री व धी पुत्र श्री चाँणोद गुरांसाहब की सेवा में समर्पित किया है जिसका समस्त वैद्य समाज एवं आयुर्वेदानुरागी समाज को ही नहीं प्रत्युत् समस्त राजस्थान के माध्यम से सारे हिंदीसेवी समाज को गौरवमिश्रित हर्ष है।

मैं साधना प्रेस के श्री हरिप्रसाद पारीके आदि समस्त कर्मचारियों को भी धन्यवाद समर्पित करता हूँ जिन्होंने हमें सहयोग दिया। इसके साथ-साथ मैं अपने सारे वैद्य-बंधुओं को, समिति के सदस्यों को तथा रामप्रकाशजी स्वामी, कविराज विष्णुदत्त, बुद्धिप्रकाशजी आचार्य, देवीदत्तजी व्यास, मंगलदासजी स्वामी, एवं प्रेमशंकरजी शर्मा आदि का भी धन्यवाद करता हूं जिनके साहचर्य से श्री बाबूलालजी जोशी इतने बड़े कार्य को इतनी सरलता से कर पाए। इन सब की व्यवस्था के लिए श्री देवेन्द्रचंद्रजी मुनि एव श्री ईश्वरचंद्रजी घोषाल भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं श्री गुरांसाहब के शतायुष्य को श्रीधन्वन्तरि भगवान् से प्रार्थना करता हुआ यह ग्रंथ श्री गुरां साहब को समर्पित करता हूँ।

मथुरादास

(मथुरादास माथुर)
प्रधान सम्पादक एव अध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन-हीरक-जयन्ती-ग्रन्थ-समिति

अपनी बात

"व्यक्ति का महत्त्व तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना में है, अन्यथा तेरा मेरा तो केवल क्षुद्र पुरुषों के लिये है। मैं तो अपने इस नश्वर शरीर से मानव मात्र का होना चाहता हूँ जिस से मेरे माता-पिता को अधिक शांति तथा संतोष मिलेगा। उनकी महत्ता भी इसी में है कि उनकी सन्तान अधिकाधिक मानव-सेवा से जगत कल्याण का कार्य करे और यह कार्य जिस प्रकार मैं सोच रहा हूँ इसी से संभव है।"

हमारे चरित्र नायक ने आज से ७५ वर्ष पूर्व उक्त भीष्म प्रतीज्ञा की थी, इसका महत्त्व समझने वाले ही समझ सकते हैं। पर इतना अवश्य एक साधारण से साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि श्री गुरां साहब एक विभूतिमान महान पुरुष है जैसे कि महर्षि चरक के बारे में भी लोगों की (तत्कालीन) धारणा है कि वे व्याकरण महाभाष्यकार श्री पतञ्जलि ही थे, उन्होंने योग-शास्त्र में पातञ्जल योग एवं व्याकरण शास्त्र में पातञ्जल महाभाष्य की रचना की और आयुर्वेद में अग्निवेश संहिता का प्रति संस्कार किया जो भारत मे 'चरक संहिता' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

प्रातःस्मरणीय चरित्रनायक की महर्षि पतञ्जलि के समान ही मान्यता थी—जैसा कि उन्होने अपने 'योगवार्तिक' के प्रारम्भ के वार्तिक में कहा है—"योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्यं च वैद्यकेन। योऽपा करोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलि रानतोस्मि।" इसी प्रकार चक्रपाणि दत्त ने भी चरक की आयुर्वेद दीपिका टीका के मंगलाचरण में लिखा है—

> पातञ्जल महाभाष्य-चरक प्रति संस्कृतैः।
> मनोवाक्काय दोषाणां हर्त्रे हिपतये नमः॥

इन्हीं उपरोक्त भावनाओं ने हमारे चरित्रनायक की भावनाओं का निर्माण किया। इसी निर्माण-कार्य मे हमारे चरित्र नायक का ध्यान भारतीय कायचिकित्सा शल्य एवं शल्य तंत्र की ओर प्रथमतः आकृष्ट हुआ; किन्तु उपरोक्त दो ग्रंथों के सिवाय आयुर्वेद के अन्य तंत्र ग्रंथ उपलब्ध नही हैं। आज से दो हजार वर्ष पूर्व तो आयुर्वेद के सभी तन्त्र और विशेषज्ञ भी थे इसमें सन्देह नहीं है, उदाहरणार्थ सम्राट चन्द्रगुप्त के भाग्यविधाता एवं परम गुरू व नीति शास्त्र के अनुपम विद्वान् आचार्य चाणक्य (कौटिल्य) ने अपने कौटिलीय अर्थशास्त्र में निर्देश

दिया है कि 'राजमहिषी के गर्भवती होने पर कौमारभृत्य (वैद्य) गर्भ की रक्षा के निमित्त प्रयत्नशील रहे और प्रसव काल आने पर विधिवत् सुख प्रसव कराने का यत्न करें।'

और भी 'राजा के निकट जाङ्गुल विद् (विषवैद्य) और भिषक (कायचिकित्सक) रहने चाहिये। वैद्य का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह औषधालय के प्रयोग में शुद्ध समझी हुई औषधि को पाचक व पोषक रूप में प्रथम स्वयं प्रयोग कर व अन्यान्य पर प्रयोग कर बाद में राजा को दे।' इस इतिहास द्वारा यह स्पष्ट होता है कि गुप्त काल, जो भारत के इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता है, में शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, अगद तंत्र आदि आयुर्वेद के सभी अंग विद्यमान थे। उन उन के विशेषज्ञ भी सर्वथा उपलब्ध थे। इतना ही नहीं उस समय 'आश मृतक परीक्षा' (पोस्ट मार्टम) विधि भी प्रचलित थी। और इसी पद्धति को उस समय 'व्यवहारायुर्वेद' की संज्ञा दी गई थी इसका उल्लेख श्री चाणक्य ने अपने 'कण्टक शोधन' नामक चौथे अधिकरण के सातवे अध्याय में किया है। इस से यह प्रमाणित होता है कि आज से लगभग २२७५ वर्ष पूर्व आयुर्वेद साङ्गोपाङ्ग व पूर्ण समुन्नत दशा में था। यही चित्र हमारे चरित्र नायक के दिमाग में दौड़ रहा था। उन्हें विश्वास था कि यदि प्रयत्न किया जाय तो आज भी उस जमाने का पुनरावतरण किया जा सकता है। चरित्र-नायक आज अपनी सरकार (जनतंत्र) के समय तो पूर्ण आशावान हैं इसीलिये हमने इन उदाहरणों को यहां उपस्थित किया है।

इसी पूर्व पीठिका में श्रद्धेय चरित्र नायक के मष्तिस्क में आयुर्वेद के मूल रूप का आभास उपस्थित करना समीचीन होगा। आयुर्वेद में त्रिधातुवाद का सिद्धान्त अपना विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि यह सारा विज्ञान वातपित्त श्लेष्म मूलक है। रोगों की ओर ध्यान दें तो वात, पित्त, कफ की विकृति प्रतीत होगी एवं आरोग्यता की ओर ध्यान दें तो वात, पित्त, कफ की प्राकृतावस्था सामने आयेगी। ऋग्वेद में भी आयुर्वेद के इस त्रिधातुवाद की चर्चा है।

हमारे चरित्रनायक एवं आयुर्वेदीय ऋषि महर्षियों के अनुसार वात का अर्थ है—सर्व विषगंत (क्रिया) और गन्धन (सूचन) का उपादान मांसपेशियों में वेग उत्पन्न करके आकुंचन-प्रसारणादि चेष्टाओं को जिन्हें Sensation और Musculer Actia कहा जाता है—करना। शब्द, स्पर्श, रूप-रस गन्ध को मन के सन्निकट पहुँचाना, मन की वृत्तियों का नियमन और प्रेरणा करना, सभी इन्द्रियों को अपने अपने कार्य में लगाना। हृदय की गति, रसादि धातुओं का संचालन, मस्तिष्क

की प्रेरणा, सुषुम्नादि नाड़ियों का कार्य, आमाशय की क्रिया, क्षुद्र-वृहद आंत्रों का क्रिया-कलाप आदि जितने भी गति रूप कार्य शरीर में होते हैं वे सभी वायु के हैं। शवच्छेद कर के मस्तिष्क एवं सुषुम्नादि को देखने वाले तथा जीवित प्राणी पर नानाविध परीक्षाएँ करके प्रत्यक्ष करने वाले पाश्चात्य विज्ञानविद् पंडितों का कहना है कि 'बिजली की तरह कोई अद्भुत एवं सर्वव्यापिनी शक्ति शरीर में है जिसके प्रभाव से शरीर के समस्त यन्त्र-तन्त्र चलते रहते हैं।' महर्षि चरक ने अपने वात कलकलीय अध्याय में भी उक्त बातों का पूर्ण समथन किया है।

इस वर्णन को देखने के पश्चात् कोई भी विज्ञ मनुष्य सरलता से समझ सकता है कि आयुर्वेदज्ञ महर्षियों को समग्रनाड़ी मण्डल (Nervous system) की क्रियाओं का अप्रतिहत ज्ञान था। सुश्रुत का कहना है कि 'प्रस्पन्दनोद्वहन-पूर्ण विवेक धारण लक्षणो वायु. पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति।' सु.सू.अ.१५

शरीर में होने वाले आवश्यक सन्ताप (उष्णता) तथा दहन पचनादि क्रिया का उपादान पित्त है। शरीर का स्वाभाविक सन्ताप (९८, ९८$\frac{?}{?}$ F.) बनाये रखना अन्न का विपाक, रस की रक्त रूप मे परिणति, बुद्धि एवं मनोबल की वृद्धि, दृष्टि की उज्ज्वलता और त्वक् की शोषण शक्ति ये शरीर में पित्त के कार्य हैं। दहन (Oxidization) और पचन (Digestion) क्रिया के बिना कोई भी खाद्य शरीर मे परिवर्त्तित होकर तन्मय नही हो सकता। पाश्चात्यविदों का कहना है कि 'शरीर के भीतर यह परिवर्तन उष्णता के कारण होता है।' उष्णता अग्नि का गुण है, फलतः यह सिद्ध होता है कि शरीर में जो अग्नितत्त्व की उपस्थिति है वही पित्त है।

श्लेष्मा का अर्थ है श्लेष्मण, स्नेहन, क्लेदन आदि का उपादान। संधियों का श्लेषण, शरीर का स्नेहन, अन्न का क्लेदन, धातुओं का पूरन आदि कार्य भी श्लेष्मा के हैं। श्लेषण - स्नेहन आदि कार्य जल के हैं अतएव श्लेष्माउदक कर्म से शरीर का उपकार करने वाला 'सौम्य' कहा गया है। ये वात, पित्त, कफ शरीर में दृश्य जगत के वायु, सूर्य और चन्द्रमा की समता के माने गये हैं, वात का वायु एक ही है। सूर्य तेज स्वभाव का व चन्द्रमा जल स्वभाव वाला है। विसर्ग (तर्पण), आदान (शोषण) और विक्षेप (सचरण) इन तीन क्रियाओं से जैसे सोम, सूर्य और वायु जगत को धारण करते हैं वैसे ही वात, पित्त, कफ शरीर को धारण करते हैं। इनकी साम्यावस्था आरोग्यता है एवं विषमावस्था रोगोत्पादक है। अतः यह सर्वमान्य हो जाता

है कि त्रिदोष सिद्धान्त हमारे महर्षियों की हमें अद्भुत देन है, इस पर आक्षेप करने से पूर्व हमारे चरित्रनायक का कहना है कि— 'विमल एवं निष्पक्ष बुद्धि से आयुर्वेद का अध्ययन करना अत्यावश्यक है।' आयुर्वेद के मूलान्वेषण त्रिदोष ही मुख्य हैं, उनका विश्वास है कि 'शरीर पदार्थों का साम्य वैषम्य और उनकी विविध कार्यकर्तृता अथवा अनियमितता, कुपिता, कुपितता, वात पित्त, कफ पर ही निर्भर हैं।

हमारे आदर्श चरित्रनायक ने उपरोक्त स्थूल विवरण के अलावा कुछ और सूक्ष्म गोते आयुर्वेदीय महासागर में लगाये हैं और आयुर्वेद की महत्ता प्रदर्शित की है कुछ इसकी भी झांकी करानी समीचीन रहेगी उदाहरणार्थ—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थंतु स्वं स्वं गृण्हाति मानवः
नियतं तुल्य योनित्वान्नायेनान्य मितिस्थितिः। सु शा: अ:१

चक्षुरिन्द्रय से गन्ध का ज्ञान नहीं होता और न जिह्वा से शब्द ज्ञान ही होता है। इसी तरह नासा से सफेद काले के भेद का भी ज्ञान नहीं हो सकता। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्रात्वक्, चक्षु, रसन व घ्राण और उनके पांच विषय— शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध नियत हैं तब प्रकट यह होता है कि सृष्टि के भी तत्त्व गुण पांच से अधिक नहीं हैं। यदि यह कल्पना करें कि तत्व गुण पांच से अधिक हैं तो उनको जानने के लिये हमारे पास साधनों की भी अपेक्षा होगी। इन पांच गुणों में से प्रत्येक के अनेक भेद हो सकते हैं। जैसे शब्दगुण एक है पर उसके ऊचा, नीचा, कर्कश, कोमल, भद्दा, फटा आदि, अथवा संगीत शास्त्र के अनुसार षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम आदि एवं व्याकरण शास्त्र के अनुसार कण्ठय, तालव्य, ओष्ठय आदि अनेक भेद होते हैं। इसी तरह यद्यपि रूप भी एक ही गुण है तथापि उसके—सफेद, लाल, हरा, पीला, काला, नीला आदि अनेक भेद हो जाते हैं। इन में भी मधुर यद्यपि एक विशिष्ट रस है तथापि हम अनुभव करते हैं— ईख, गुड़ और चीनी आदि का मिठास भिन्न २ तरह का होता है। इसी प्रकार एक ही मधुर रस के अनेक भेद हो जाते हैं यदि इन भिन्न २ मिश्रणों पर विचार किया जाय तो यह गुण वैलक्षण्य अनन्त प्रकार से असंख्य हो सकता है। चरक के सूत्र स्थान के आत्रेय भद्र का धीय अध्याय में मधुरादि रसों के त्रिषष्ठि भेद दिखाने के बाद उनकी यह अनन्तता स्पष्ट कही है—

"इति त्रिषष्ठि द्रव्याणां निर्दिष्टा रस संख्यया
त्रिषष्ठिः स्यात्क संख्येया रसानां रस कल्पनात
रस स्तर तमाभ्यां संख्यामति पतन्ति हि।" च. सू. अ. २६

प्रस्तुत उदयाभिनन्द ग्रन्थ में आये लेखों का महत्त्व चरित्रनायक की भावनाओं के अनुसार ही क्रमबद्ध रूप में पाठकों के सामने है। मान्य लेखकों की लेखनी ने विषय का पूर्ण प्रतिपादन करते हुए कहीं २ प्रत्यक्ष अनुभवों पर भी प्रकाश डाला है। इसी लेखसरणि में जोधपुर के आयुर्वेद के विद्वान श्री देवीदत्तजी व्यास ने जोर देकर कहा कि "आतुर परिचर्या धन कमाने का व्यवसाय नहीं अपितु सेवा का मार्ग है जिस की समानता ईश्वर पूजा से ही सकती है।" वस्तुतः चरित्र नायक की मूल भावना को ही विद्वान लेखक ने मूर्त्तरूप में उपस्थित कर दिया है। लेखक ने छात्र-छात्राओं के हित की भावना से सरल से सरल भाषा में इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया है। ठीक इसी तरह श्रीमती शान्ति देवी जोशी ने भी छात्र-छात्राओं के हित को ही अपने लेख का आदर्श बनाया है।

'आयुर्वेदीय निदान सरणि' शीर्षक लेख में विद्वान लेखक श्री कृष्णदत्तजी शास्त्री ने बड़े ही दुःख के साथ लिखा है कि—"आज की निरंतर बढ़ती हुई रोगी संख्या क्या इस दोषपूर्ण चिकित्सा पद्धति की परिचायिका नहीं है?" महान दुःख का विषय है कि "काम ये दुःख तप्ताना प्राणिनामार्त्ति नाशनम् की निष्काम भावना से प्राणी-जगत को स्वास्थ्य समर्पण करने के पवित्र कर्त्तव्य को आज paying business का रूप दिया जा रहा है।" विद्वान लेखक की इस बात का महत्व है, इस पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये।

आयुर्वेदीय अनुसंधान पद्धति शीर्षक में तथ्यान्वेषी लेखक ने निर्भीक रूप से स्पष्ट लिखा है कि 'यह सर्वविदित है कि आज तक किसी भी भारतीय ऐलोपैथ डाक्टर ने नव्य चिकित्सा विज्ञान में किसी भी प्रकार की गवेषणा का कोई चमत्कार नहीं दिखाया? वे ही सब विदेशों से आए हुए विविध शस्त्र, यंत्र, उपकरण, औषधियाँ आदि उनके पास हैं जिनके शिल्पाभ्यास से वे तद्रूप होकर भारतीयता को विस्मृत कर चुके हैं। जिस प्रकार ऐलोपैथि में एक बार किसी असत् सिद्धान्त को अपनाया गया और कालान्तर में उस में त्रुटि प्रतित हुई तो उसे छोड़ कर दूसरा सिद्धांत पकड़ लिया गया बस? इसी प्रकार की पद्धति आयुर्वेद के क्षेत्र में भी गवेषणा के नाम से प्रचारित करने का उद्योग हो रहा है और हो सके तो आयुर्वेद के कतिपय सिद्ध प्रयोगों को ऐलोपेथि में सम्मिलित कर आयुर्वेद को धता बता देने की भी नीति चल रही है।' लेखक के इस अभिप्राय से हम पूर्ण सहमत हैं। विद्वान लेखक के इन शब्दों का भी हम पूर्णतः समर्थन करते हैं कि—प्राचीन शास्त्रों का एक अक्षर भी लुप्त न होने देना चाहिये और नवीन के उपादान तथा आत्मसात करने में प्रतिरोध भी न होना चाहिये।

'आयुर्वेदीय चिकित्सा के चारों पादों की वर्तमानावस्था' के विद्वान लेखक के मत में... "वर्तमान समय में आयुर्वेद के अनुयायी चाहे व्यवसायी हों या विद्यार्जनरत छात्र हो---- कोई भी आयुर्वेद की स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं। समाज और सरकार दोनों तरफ से उपेक्षित सा और अपने लिये उचित स्थान तथा सम्मान से वंचित सा अपने को महसूस करता है।" आज वर्तमानावस्था का कितना स्पष्ट निरूपण है ? आगे चल कर विद्वान लेखक ने उक्त अवस्था के निवारणार्थ चारों घटकों में से प्रत्येक घटक के लिये जो उपाय सुझाये हैं वे अतीव उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। 'आयुर्वेदीय भारत' के प्रथम उपकुलपति के अनुभूत विचारों से वैद्यसमाज अवश्य ही लाभ उठायेगा, ऐसी हमें पूर्ण आशा है। इतने उपयोगी एवं सामयिक लेख के लिये हम लेखक के सर्वान्तःकरण से आभारी हैं।

'रक्तचाप' के विद्वान लेखक ने अपने अनुभवों का हमें जो दान दिया है वह हमारे ही लिये नहीं अपितु वैद्य-जगत के लिये उनकी अनुपम देन साबित होगी, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इन्हीं मनीषि महाशय ने 'वातरोगों पर अनुभूत' शीर्षक में बहुत ही उपयोगी प्रयोग वैद्य समाज के सामने उपस्थित किया है जो विचारणीय है।

'बाल पक्षाघात एवं आयुर्वेद' के तत्वान्वेषी लेखक ने केन्द्रीय-आयुर्वेदिक अनुसंधानशाला, उदयपुर की बाल पक्षाघात शाखा के विशेषज्ञ चिकित्सक की हैसियत से जो विवरणात्मक लेख दिया है वह चिकित्सक समाज का मार्ग निर्देशन चिरकाल तक करता रहेगा। अस्तु:

'आत्मवाद एवं जड़वाद' के तत्वदर्शी विद्वान लेखक ने अपने लेख में जड़वादियों को अचूक युक्तियों से अच्छा झकझोरा है। आयुर्वेद को आत्मवादी शास्त्र बताते हुए आपने थोड़े में कितना सुन्दर विवेचन किया है—"आमतत्व को व्यापकतत्व के रूप में अंगीकार किया है। आत्मतत्व से ही जगत-प्रपंच की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। एतावता संसार की कोई भी वस्तु आत्म-तत्वशून्य नहीं हो सकती। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि चेतनवर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होती है। इस सत्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आयुर्वेदाचार्यों ने बताया है कि जगत में व्यवहारार्थ जड़ और चेतन का प्रयोग प्रचलित है। एवं इन्द्रिय विकासोपेत द्रव्यों को चेतन और इन्द्रिय विकास रहित पदार्थ को संज्ञा से अभिहित किया गया है।"

स्टीज आफ इंडियन मेडिसिन' में भाषण करते हुए राजनैतिक विज्ञान

वक्ता ने बहुत ही समीचीन कहा है कि "खुला मस्तिष्क रखकर विश्व की अच्छी बातें ग्रहण करनी चाहिये और उदाराशय रखकर अपनी अच्छी बाते विश्व को देनी चाहिये।" किन्तु प्रश्न यही है कि हमारी अच्छी बातों का कोई नैतिक ग्राहक भी है अथवा तस्कर विधि से ही हमारी सारी अच्छाइयां लूटी या हड़पी गई हैं। राजनैतिक वक्ता ने इस पर कुछ प्रकाश डालना अनावश्यक ही समझा है। अपने सारे भाषण का सार बताते हुए विद्वान वक्ता ने स्वीकार किया है— "आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के लिये पाठ्यक्रम, अनुसंधान, औषधनिर्माण, सर्व साधारण जन स्वास्थ्य संरक्षण योजनाओं को सफल बनाने के लिये इस समय एक स्थिर नीति की आवश्यकता है, और ऐसी स्थिर नीति का निर्धारण तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि 'मेडिकल कौंसिल' की तरह आयुर्वेदिक कौंसिल बनाने का निर्णय भारतसरकार द्वारा नहीं ले लिया जाता।" हम वक्ता के इस अंश से सर्वथा सहमत हैं।

'चिकित्सा में चरक की विशिष्टता' शीर्षक लेख में तथ्यान्वेषी लेखक ने एक एक शब्द तोल २ कर दिया है। विशेषता यह है कि भाषा बड़ी ही सुबोध एवं सरल है। अन्त में लेखक के ये शब्द बड़े ही गभीर अर्थ के द्योतक हैं कि "चरक संहिता या अग्निवेशतंत्र समुद्र के समान गंभीर है उसमें आज तक की समग्र चिकित्सा विधियों का समावेश भी शक्य है परन्तु उसकी चिकित्सा विधि की अद्भुतता की विशेषता भी साथ ही साथ रहती है। अस्तुः

'शोधन' के मनस्वी लेखक ने चरक संहिता के कल्पद् स्थान को सरल चार्टों में उपस्थित कर चिकित्सों व छात्र-छात्राओं के अध्ययन, मनन एवं परिशीलन को प्रवुद्ध सर्वथा रखने की मूर्त्त कल्पना की है जोकि सर्वदा श्लाघनीय है। आशा है लेखक की कामना अवश्य ही साफल्य लाभ कर वैद्य-जगत का मार्ग निर्देशन सर्वदा करती रहेगी। 'मौलिक विज्ञानिकता-त्रिदोष सिद्धान्त' के प्रगतिशील लेखक ने अपने लेख मे त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापक विवेचना की है जो विचारणीय एवं मननीय है।

'कायचिकित्सा' के तप.पूत विद्वान लेखक के लेख का अध्ययन करने से आपकी तत्त्वग्राही बुद्धि का भली भांति ज्ञान होता है। ऐसे लेखकों पर जनता को गर्व है। आपने पाश्चात्य चिकित्सा विधि से कायचिकित्सा में आयुर्वेद की विशेषता पर इतना सुन्दर व सरल प्रकाश डाला है कि वह पढ़ते ही बनता है। पाठक उत्तरोत्तर अपने आप को ज्ञान गंगा में गोते लगा कर आनन्दानुभव करता है। विद्वान लेखक ने जनता के भ्रम को मिटाने की चेष्टा की है साथ साथ यह

घोषणा भी करदी है कि पाश्चात्य चिकित्सा के वैज्ञानिक कायचिकित्सा के क्षेत्र में धराशायी हो रहे हैं। लेख पठनीय एवं मननीय है।

'रस शास्त्र' के लेखक वर्त्तमान युवा पीढ़ी के प्रतीक हैं। आपने रसशास्त्र का विवेचन सुन्दर ढंग से किया है। विषय को सरल बनाने के लिये आपने 'चार्ट' दिये हैं वे अत्युपयोगी होंगे, ऐसी हमारी मान्यता है।

युगप्रवर्त्तक प्रात: स्मरणीय विश्ववंध्य पुण्यश्लोक स्व. श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज का 'आयुर्वेद में विज्ञान' शीर्षक लेख मूलत: संस्कृत में था। लेख की महत्ता व विषय की यथार्थ प्रतिपाद्यता को बहुत पहिले से जानने के कारण हमारी आन्तरिक इच्छा थी कि यह लेख 'उदयाभिनन्दन ग्रंथ' में समाविष्ट किया जाय। कुछ साथी इसका हिन्दी अनुवादित रूप चाहते थे, वह पूज्यपाद स्वामी मंगलदासजी ने कर के हिन्दी जगत को एक अनुपम देन दी है, एतदर्थ हम उन के श्री चरणों में श्रद्धावनत है।

'चरक संहिता का इन्द्रिय स्थान' के लेखक ने भारतीय आयुर्वेद विज्ञान से संबधित महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित अरिष्टलक्षणों में स्वप्न पर गुणावगुण जानने को आधार भूमि पर आयुर्वेद प्रणाली को स्वप्न के संबंध में अन्तर्देशीय विचार सरणि के माध्यम पर एक जटिल समस्या प्रस्तुत की है जो विचारणीय एवं मननीय है।

'अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य' के विद्वान लेखक ने 'गुण रत्नमाला' को 'भाव-प्रकाश' का ही एक अंग माना है। अन्य अनेकानेक अज्ञात आयुर्वेद साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला है जो वैद्य मनीषियों के लिये विचार-विमर्श का साधन समयोचित रूप में बन पाया है।

'विष-विज्ञान' बहुश्रुत विज्ञ लेखक ने प्राच्य एवं प्रतीच्य विचारधारा का विहंगावलोकन करते हुए अपने विषय का अपनी दृष्टि में अच्छा सामयिक प्रकाश डाला है जो कि विचारणीय एवं मननीय है।

'आयुर्वेदीयस्त्रिदोष सिद्धान्त कीटाणुवादश्च' के महा मनीषी लेखक ने आयुर्वेदीय त्रिदोष सिद्धान्त के चिर स्थायित्व का प्रतिपादन करते हुए आधुनिक कीटाणुवाद को त्रिदोष सिद्धान्त का ही एक अग प्रमाणित किया है। विद्वान लेखक ने कीटाणुवाद की भिन्न स्थिति को सर्वथा अस्वीकृत किया है।

'अन्न-पान का प्रकृति से संबंध' शीर्षक के लेखक ने आयुर्वेदीय पुरातन संस्कृति के दो पृष्ठों को आज के वातावरण में खोलने व उस पर गंभीरतया विचार

प्रस्तुत उदयाभिनन्द ग्रन्थ में आये लेखों का महत्त्व चरित्रनायक की भावनाओं के अनुसार ही क्रमबद्ध रूप में पाठकों के सामने है। मान्य लेखकों की लेखनी ने विषय का पूर्ण प्रतिपादन करते हुए कहीं २ प्रत्यक्ष अनुभवों पर भी प्रकाश डाला है। इसी लेखसरणि में जोधपुर के आयुर्वेद के विद्वान श्री देवीदत्तजी व्यास ने जोर देकर कहा कि "आतुर परिचर्या धन कमाने का व्यवसाय नहीं अपितु सेवा का मार्ग है जिस की समानता ईश्वर पूजा से हो सकती है।" वस्तुतः चरित्र नायक की मूल भावना को ही विद्वान लेखक ने मूर्त्तरूप में उपस्थित कर दिया है। लेखक ने छात्र-छात्राओं के हित की भावना से सरल से सरल भाषा मे इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया है। ठीक इसी तरह श्रीमती शान्ति देवी जोशी ने भी छात्र-छात्राओं के हित को ही अपने लेख का आदर्श बनाया है।

'आयुर्वेदीय निदान सरणि' शीर्षक लेख में विद्वान लेखक श्री कृष्णदत्तजी शास्त्री ने बड़े ही दुःख के साथ लिखा हैं कि—"आज की निरंतर बढ़ती हुई रोगी संख्या क्या इस दोषपूर्ण चिकित्सा पद्धति की परिचायिका नहीं है?" महान दुःख का विषय है कि "काम ये दुःख तप्ताना प्राणिनामार्त्ति नाशनम् की निष्काम भावना से प्राणी-जगत को स्वास्थ्य समर्पण करने के पवित्र कर्त्तव्य को आज paying business का रूप दिया जा रहा हैं।" विद्वान लेखक की इस बात का महत्व है, इस पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये।

आयुर्वेदीय अनुसंधान पद्धति शीर्षक में तथ्यान्वेषी लेखक ने निर्भीक रूप से स्पष्ट लिखा है कि 'यह सर्वविदित है कि आज तक किसी भी भारतीय ऐलोपैथ डाक्टर ने नव्य चिकित्सा विज्ञान मे किसी भी प्रकार की गवेषणा का कोई चमत्कार नहीं दिखाया? वे ही सब विदेशों से आए हुए विविध शस्त्र, यंत्र, उपकरण, औषधियाँ आदि उनके पास हैं जिनके शिल्पाभ्यास से वे तद्रूप होकर भारतीयता को विस्मृत कर चुके हैं। जिस प्रकार ऐलोपैथि में एक बार किसी असत् सिद्धान्त को अपनाया गया और कालान्तर में उस में त्रुटि प्रतित हुई तो उसे छोड़ कर दूसरा सिद्धांत पकड़ लिया गया बस? इसी प्रकार की पद्धति आयुर्वेद के क्षेत्र में भी गवेषणा के नाम से प्रचारित करने का उद्योग हो रहा है और हो सके तो आयुर्वेद के कतिपय सिद्ध प्रयोगों को ऐलोपेथि में सम्मिलित कर आयुर्वेद को घता बता देने की भी नीति चल रही है।' लेखक के इस अभिप्राय से हम पूर्ण सहमत हैं। विद्वान लेखक के इन शब्दों का भी हम पूर्णतः समर्थन करते हैं कि—प्राचीन शास्त्रों का एक अक्षर भी लुप्त न होने देना चाहिये और नवीन के उपादान तथा आत्मसात करने में प्रतिरोध भी न होना चाहिये।

'आयुर्वेदीय चिकित्सा के चारों पादों की वर्तमानावस्था' के विद्वान लेखक के मत में... "वर्तमान समय में आयुर्वेद के अनुयायी चाहे व्यवसायी हो या विद्यार्जनरत छात्र हो---- कोई भी आयुर्वेद की स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं। समाज और सरकार दोनों तरफ से उपेक्षित सा और अपने लिये उचित स्थान तथा सम्मान से वंचित सा अपने को महसूस करता है।" आज वर्तमानावस्था का कितना स्पष्ट निरूपण है ? आगे चल कर विद्वान लेखक ने उक्त अवस्था के निवारणार्थ चारों घटकों में से प्रत्येक घटक के लिये जो उपाय सुझाये हैं वे अतीव उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। 'आयुर्वेदीय भारत' के प्रथम उपकुलपति के अनुभूत विचारों से वैद्यसमाज अवश्य ही लाभ उठायेगा, ऐसी हमें पूर्ण आशा है। इतने उपयोगी एवं सामयिक लेख के लिये हम लेखक के सर्वान्तःकरण से आभारी हैं।

'रक्तचाप' के विद्वान लेखक ने अपने अनुभवों का हमें जो दान दिया है वह हमारे ही लिये नहीं अपितु वैद्य-जगत के लिये उनको अनुपम देन साबित होगी, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इन्हीं मनीषि महाशय ने 'वातरोगों पर अनुभूत' शीर्षक में बहुत ही उपयोगी प्रयोग वैद्य समाज के सामने उपस्थित किया है जो विचारणीय है।

'बाल पक्षाघात एवं आयुर्वेद' के तत्वान्वेषी लेखक ने केन्द्रीय-आयुर्वेदिक अनुसंधानशाला, उदयपुर की बाल पक्षाघात शाखा के विशेषज्ञ चिकित्सक की हैसियत से जो विवरणात्मक लेख दिया है वह चिकित्सक समाज का मार्ग निर्देशन चिरकाल तक करता रहेगा। अस्तु:

'आत्मवाद एवं जड़वाद' के तत्वदर्शी विद्वान लेखक ने अपने लेख मे जड़वादियों को अचूक युक्तियों से अच्छा झकझोरा है। आयुर्वेद को आत्मवादी शास्त्र बताते हुए आपने थोड़े में कितना सुन्दर विवेचन किया है—"आमतत्त्व को व्यापकतत्त्व के रूप में अंगीकार किया है। आत्मतत्त्व से ही जगत-प्रपंच की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। एतावत्ता संसार की कोई भी वस्तु आत्म-तत्त्वशून्य नहीं हो सकती। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि चेतनवर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होती है। इस सत्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आयुर्वेदाचार्यों ने बताया है कि जगत में व्यवहारार्थ जड़ और चेतन का प्रयोग प्रचलित है। एवं इन्द्रिय विकासोपेत द्रव्यों को चेतन और इन्द्रिय विकास रहित पदार्थ को जड़ संज्ञा से अभिहित किया गया है।"

'फैकल्टीज आफ इंडियन मेडिसिन' में भाषण करते हुए राजनैतिक विज्ञान

वक्ता ने बहुत ही समीचीन कहा है कि "खुला मस्तिष्क रखकर विश्व की अच्छी बातें ग्रहण करनी चाहिये और उदाराशय रखकर अपनी अच्छी बातें विश्व को देनी चाहिये।" किन्तु प्रश्न यही है कि हमारी अच्छी बातों का कोई नैतिक ग्राहक भी है अथवा तस्कर विधि से ही हमारी सारी अच्छाइयां लूटी या हड़पी गई हैं। राजनैतिक वक्ता ने इस पर कुछ प्रकाश डालना अनावश्यक ही समझा है। अपने सारे भाषण का सार बताते हुए विद्वान वक्ता ने स्वीकार किया है—"आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के लिये पाठ्यक्रम, अनुसंधान, औषधनिर्माण, सर्व साधारण जन स्वास्थ्य संरक्षण योजनाओं को सफल बनाने के लिये इस समय एक स्थिर नीति की आवश्यकता है, और ऐसी स्थिर नीति का निर्धारण तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि 'मेडिकल कौंसिल' की तरह आयुर्वेदिक कौंसिल बनाने का निर्णय भारतसरकार द्वारा नहीं ले लिया जाता।" हम वक्ता के इस अंश से सर्वथा सहमत हैं।

'चिकित्सा में चरक की विशिष्टता' शीर्षक लेख में तथ्यान्वेषी लेखक ने एक एक शब्द तोल २ कर दिया है। विशेषता यह है कि भाषा बड़ी ही सुबोध एवं सरल है। अन्त में लेखक के ये शब्द बड़े ही गंभीर अर्थ के द्योतक हैं कि "चरक संहिता या अग्निवेशतंत्र समुद्र के समान गंभीर है उसमें आज तक की समग्र चिकित्सा विधियों का समावेश भी शक्य है परन्तु उसकी चिकित्सा विधि की अद्भुतता की विशेषता भी साथ ही साथ रहती है। अस्तु:

'शोधन' के मनस्वी लेखक ने चरक संहिता के कल्पद् स्थान को सरल चार्टों मे उपस्थित कर चिकित्सों व छात्र-छात्राओं के अध्ययन, मनन एवं परिशीलन को प्रबुद्ध सर्वथा रखने की मूर्त्त कल्पना की है जोकि सर्वदा श्लाघनीय है। आशा है लेखक की कामना अवश्य ही साफल्य लाभ कर वैद्य-जगत का मार्ग निर्देशन सर्वदा करती रहेगी। 'मौलिक विज्ञानिकता-त्रिदोष सिद्धान्त' के प्रगतिशील लेखक ने अपने लेख मे त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापक विवेचना की है जो विचारणीय एवं मननीय है।

'कायचिकित्सा' के तपःपूत विद्वान लेखक के लेख का अध्ययन करने से आपकी तत्त्वग्राही बुद्धि का भली भांति ज्ञान होता है। ऐसे लेखकों पर जनता को गर्व है। आपने पाश्चात्य चिकित्सा विधि से कायचिकित्सा में आयुर्वेद की विशेषता पर इतना सुन्दर व सरल प्रकाश डाला है कि वह पढ़ते ही बनता है। पाठक उत्तरोत्तर अपने आप को ज्ञान गंगा में गोते लगा कर आनन्दानुभव करता है। विद्वान लेखक ने जनता के भ्रम को मिटाने की चेष्टा की है साथ साथ यह

घोषणा भी करदी है कि पाश्चात्य चिकित्सा के वैज्ञानिक कायचिकित्सा के क्षेत्र में धराशायी हो रहे हैं। लेख पठनीय एवं मननीय है।

'रस शास्त्र' के लेखक वर्त्तमान युवा पीढी के प्रतीक हैं। आपने रसशास्त्र का विवेचन सुन्दर ढंग से किया है। विषय को सरल बनाने के लिये आपने 'चार्ट' दिये हैं वे अत्युपयोगी होंगे, ऐसी हमारी मान्यता है।

युगप्रवर्त्तक प्रातः स्मरणीय विश्ववंध्य पुण्यश्लोक स्व. श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज का 'आयुर्वेद में विज्ञान' शीर्षक लेख मूलतः संस्कृत में था। लेख की महत्ता व विषय की यथार्थ प्रतिपाद्यता को बहुत पहिले से जानने के कारण हमारी आन्तरिक इच्छा थी कि यह लेख 'उदयाभिनन्दन ग्रथ' में समाविष्ट किया जाय। कुछ साथी इसका हिन्दी अनुवादित रूप चाहते थे, वह पूज्यपाद स्वामी मंगलदासजी ने कर के हिन्दी जगत को एक अनुपम देन दी है, एतदर्थ हम उन के श्री चरणों में श्रद्धावनत हैं।

'चरक संहिता का इन्द्रिय स्थान' के लेखक ने भारतीय आयुर्वेद विज्ञान से संबधित महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित अरिष्टलक्षणों में स्वप्न पर गुणावगुण जानने को आधार भूमि पर आयुर्वेद प्रणाली को स्वप्न के संबंध में अन्तर्देशीय विचार सरणि के माध्यम पर एक जटिल समस्या प्रस्तुत की है जो विचारणीय एवं मननीय है।

'अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य' के विद्वान लेखक ने 'गुण रत्नमाला' को 'भाव-प्रकाश' का ही एक अग माना है। अन्य अनेकानेक अज्ञात आयुर्वेद साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला है जो वैद्य मनीषियों के लिये विचार-विमर्श का साधन समयोचित रूप में बन पाया है।

'विष-विज्ञान' बहुश्रुत विज्ञ लेखक ने प्राच्य एवं प्रतीच्य विचारधारा का विहँगावलोकन करते हुए अपने विषय का अपनी दृष्टि में अच्छा सामयिक प्रकाश डाला है जो कि विचारणीय एवं मननीय है।

'आयुर्वेदीयस्त्रिदोष सिद्धान्त कीटाणुवादश्च' के महा मनीषी लेखक ने आयुर्वेदीय त्रिदोष सिद्धान्त के चिर स्थायित्व का प्रतिपादन करते हुए आधुनिक कीटाणुवाद को त्रिदोष सिद्धान्त का ही एक अंग प्रमाणित किया है। विद्वान लेखक ने कीटाणुवाद की भिन्न स्थिति को सर्वथा अस्वीकृत किया है।

'अन्न-पान का प्रकृति से संबंध' शीर्षक के लेखक ने आयुर्वेदीय पुरातन संस्कृति के दो पृष्ठों को आज के वातावरण में खोलने व उस पर गंभीरतया विचार

करने का आह्वान वैद्य-समाज से किया है जो लेखक के वर्तमान पद की जिम्मेवारियों से ओत:प्रोत है।

प्रात: स्मरणीय स्व. श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री के अन्य ३ लेख और भी हैं (१) आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता जो कि 'सांख्ये नानामतानि' के अन्तर्गत है। (२) आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुकूल अभिनव चिकित्सा विज्ञान का समन्वय (३) आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता अन्तर्गत आरम्भवादादिवाद चतुष्टय विज्ञानम् (संस्कृत) के लेखक हैं। महा मनीषी श्री शास्त्रीजी के लेख एक से एक बढ़ कर हैं। आपने अपने विषय की प्रतिपादना में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। आज सारा वैद्यसमाज श्री शास्त्री के प्रति पूर्ण निष्ठावान होता हुआ पूर्णरूपेण श्रद्धावनत है।

उपरोक्त लेखों व लेखकों के सहयोग ही से हमारे चरित्रनायक की वास्तविक प्रतीती सर्व साधारण को हो सकेगी ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है। हमारे चरित्रनायक का रोम रोम आयुर्वेदप्रासक हैं। इसी तरह अखिल भारत मे हमारे चरित्रनायक की अभिव्यक्ति का प्रदर्शन अपने शब्दों मे करने की उत्कट इच्छा रखने वाले भी अनगिनत हैं। हमारे पास अनेकों प्रबंध भी स्थानाभाव के कारण रखे रह गये हैं। हम उन प्रेषकों की भावना से परिचित हैं फिर भी इस महँगाई के जमाने में अब कलेवर बढ़ाना समीचीन न होगा। अस्तु।

हमारे प्रात: स्मरणीय चरित्रनायक की उपरोक्त विद्वद्मंडली द्वारा जो अभिव्यक्तियां प्रकाशित की गई हैं, उसी तरह यदि हम सर्वसाधारण जनता की ओर देखें तो हमें पता चलेगा कि हमारे चरित्रनायक 'गुरांसा' और आयुर्वेद पर्यायवाची सर्व साधारण की जबान पर हो चले हैं, इसका कारण यदि हम ढूंढे तो हमें पता चलेगा कि आपश्री ने जो अथक रूप से लम्बे ७५ वर्षों तक जनता की सेवा की है वही आज विकसित होकर जनरव मे प्रस्फुटित हो रही है। हमारे साथ २ राजस्थान का बच्चा २ जानता है कि श्री गुरांसा की नाड़ी देखने की अनुपम विधि अपना विशेष महत्व रखती है। सभी जानते हैं कि इन्हें थर्मामीटर, स्टेथिस्कोप, एक्सरे आदि किसी भी पाश्चात्य यंत्र की अवश्यकता अपने निदान में नहीं पड़ती प्रत्युत उन यंत्रों की सहायता से किये जाने वाले रोगनिदान की बजाय चरित्रनायक की तीन अंगुलियां एवं बन्द आँखें निदान करती हैं उन्हें देख सुन कर स्तंभित रह जाना पड़ता है। अच्छे २ पाश्चात्य चिकित्सक एवं सर्जन श्री गुरांसा की इस अद्भुत चमत्कार से आये दिन प्रभावित होते रहते हैं। एक बार एक यूरोपियन महिला से जो कि

श्री गुरांसा को अपने एक मित्र की नाड़ी दिखलाने आई थी—श्री गुरांसा का निदान सुनकर आश्चर्यचकित होती हुई बोली—"नाड़ी तीन अंगुलियों से देखने के साथ २ इन्होंने जो अपनी आँखें मूंद रखी थी, मेरा खयाल है इन्होंने किसी जादू से बंद आँख से भीतर की सारी रोगस्थिति को प्रत्यक्ष देखली ? इनकी आँखों का लेस एक्सरे से भी अधिक शक्ति रखता है।" ये हैं वे उद्गार जो आये दिन आपके साथ रहने वाले हमारे जैसों को नित्य ही सुनने को मिलते हैं। औरों की तो बात ही क्या, हम भी कभी २ आपके नाड़ी दर्शन से बड़े आश्चर्य में पड़ जाया करते हैं। राज घराना भी आपके नाड़ी ज्ञान के बल पर ही आपके चरणों की ओर आकर्षित हुआ, यह सभी जानते हैं।

उपरोक्त नाड़ी विज्ञान के चमत्कार ने जहां श्री गुरांसा के चरित्रबल एवं आत्मबल को एक ओर विकसित किया वहां बुद्धिवादी समाज के मन में भी इस भावना को विकसित किया कि ऐसा चमत्कारिक नाड़ी विज्ञान श्री गुरांसा के बाद कहां मिलेगा ? जब लोगों ने सुना कि श्री गुरांसा को अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित किया जा रहा है तब हमारे पास ऐसे असख्य पत्र देश-विदेशों से आने लगे कि श्री गुरांसा के नाड़ी विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान की एक झलक इस ग्रंथ में अवश्य दी जाय। हमने भी इस जन सम्मति को सच्चे हृदय से स्वीकार की। स्वीकार तो की पर इसकी व्यवस्था कैसे की जाय इस चक्कर में हम बुरी तरह फंस गये। अन्ततः हमारी दौड़ तो श्री गुरांसा तक ही थी। हमने आपश्री से प्रार्थना की और आपने हमारी प्रार्थना स्वीकार की। आपने अपने पूर्वजों के खजाने से नाड़ी संबंधी कुछ श्लोक निकालकर हमें दिये जो इस ग्रन्थ में दिए जा रहे हैं। तत्त्वग्राही बुद्धिमान व्यक्ति इसे समझेंगे और जन-कल्याण में प्रवृत्त होंगे ऐसी हमारी पूर्ण आशा है।

उपरोक्त नाड़ी विज्ञान के बाद अब हम चिकित्सा विज्ञान पर भी श्री गुरांसा के अद्भुत कौशल के बारे में प्रकाश डाल देना अपना कर्तव्य मानते हैं। श्री गुरांसा चिकित्सा में प्रथम स्थान मूत्र परीक्षा को देते हैं। आपश्री ने त्रिदोष सिद्धान्त पर ही मूत्र परीक्षा व्यवस्थित की है जो इस ग्रंथ में यथास्थान दी गई है। आपने अपनी मूत्र परीक्षा में प्रायः सभी बड़ी-बड़ी बीमारियों की परीक्षा मूत्र-परीक्षा द्वारा संभव बताई है। इसी संदर्भ में आपने रोगी की मृत्यु का भी ज्ञान संभव बताया है। दिशाओं के माध्यम से मूत्र में गिराई गई तैल बिन्दु पूर्व दिशा में बढ़े तो बहुत काल तक रोग बढ़ता रहे, दक्षिण दिशा में बढ़े तो रोगी एक दिन जीये, पश्चिम दिशा में बढ़े तो स्वस्थ होवे आदि आदि अनेक चमत्कारी बातें आपश्री ने बताई हैं जो बुद्धिजीवियों के मनन योग्य हैं।

उपरोक्त मूत्र परीक्षा के बाद हमारे चरित्रनायक के चिकित्सा विज्ञान पर भी दो शब्द कहने समयोचित होंगे। चरित्रनायक आयुर्वेदीय ग्रंथ निधि के पूर्णतः भक्त हैं। आपके पुस्तकालय में प्रायः सभी ग्रन्थ प्राप्त हैं। किन्तु आपके यति सम्प्रदाय से संश्लिष्ट होने के कारण जैनागम शास्त्रागारों से आपने अनेक अमूल्य प्रयोग निकाले व जनता-जनार्दन की सेवा में अपने आपको उत्तरोत्तर प्रोत्साहित किया। इसी सन्दर्भ में हमने 'वैद्यवल्लभ' की कुछ झाँकी पाठकों के मननार्थ उपस्थित की है जिसे पाठकवृन्द अत्यधिक पसन्द करेंगे, ऐसी हमें आशा है। साथ-साथ चिकित्सकों, छात्र-छात्राओं के लिये भी वह बड़ा उपयोगी साबित होगा तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य के उद्धार में वह वैद्यसमाज का पृष्टपोषक होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

हमारे चरित्रनायक ने आज की युग संहारक व्याधि अर्बुद (कैंसर) की चिकित्सा पर गम्भीर अनुसंधान किया है। जिस समय आप इस अनुसंधान में लगे तो सचमुच में आप खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सब भूल गये। आपकी हालत ठीक वैसी ही हुई जैसी गुरू द्रोणाचार्य को परीक्षा देते समय अर्जुन की हुई थी। अपने परमाराध्य गुरूदेव की कृपा से आपने उस समय इस व्याधि में साफल्य लाभ किया जब कि इस बीमारी की विस्तृत जानकारी पाश्चात्य जगत को भी नहीं थी। विगत सन् १९२६ मे आपने हिन्दुस्तान की व्यापार नगरी मोहमयी (बम्बई) में इसकी सफल चिकित्सा कर अपने भक्तों को गौरवान्वित एवं सर्व साधारण जनता को मंत्रमुग्ध कर दिया। इसी मंत्रमुग्धावस्था में सर्व साधारण आपकी व आयुर्वेद को जय जयकार करने लगे। इसके बारे में भी मूर्घन्य चिकित्सकों, प्रबद्ध जननायकों एवं बुद्धिजीवी वर्ग ने भी 'अभिनन्दन ग्रथ' में इसका प्रयोगोद्‌घाटन करने की प्रार्थना की। हमने पूज्यपाद श्री गुरांसा के सामने इन सारी प्रार्थनाओं को उपस्थित किया। इस परमोदारमना चरित्र-नायक ने सबों की प्रार्थना पर अपना दुर्लभ योगस्वरूप 'क्वाथ एवं वटियों का प्रयोग' प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की। इस पर मैंने श्रीचरणों से प्रार्थना की कि यदि आप चाहें तों कृपा कर इस नर-संहारकारी व्याधि की जिस रूप रेखा के आधार पर आपने शोध की है उसे भावी शोधकों के मार्गदर्शनार्थ कृपा कर उस रूप रेखा को भी प्रकाशित करने की आज्ञा प्रदान करें ताकि भावी शोधकर्त्ताओं का समय बहुत कुछ बच सके एवं वे आपश्री को आजीवन याद करते रहें। इस पर उदारमना चरित्रनायक ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। तदनुसार अर्बुद की पूरी-पूरी गवेषणा पद्धति इस ग्रन्थ में प्रकाशित की जा रही है जो कि राष्ट्र एवं राष्ट्र के प्रत्येक

नागरिक के लिए बडी ही उपयोगी रहेगी। खासकर चिकित्सकों के लिए यह प्रोत्साहक साबित होगी तथा भावी अनुसंधानकर्त्ताओं को मार्ग प्रदर्शित करेगी, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

उपसंहार.

जहां तक हमने चरित्रनायक के साथ रहकर उनका सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है तो हमें यह ज्ञात हुआ है कि स्वनामधन्य चरित्रनायक चरक की व्यवस्थाओं से अत्यंत ही अनुप्राणित हुए हैं। आपकी धारणा बन कर मजबूत हो गई है कि 'सृष्टितत्त्वों' के मूल गुण ५ से अधिक नहीं हो सकते क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों के तत्त्व ५ हैं। प्रत्येक इन्द्रिय को एक ही अपने नियत विषय का ज्ञान हुआ करता है इसलिए यह निश्चित है कि इन गुणों के आश्रयभूत तत्त्व, निःसन्देह पांच ही हैं और वे पूर्वोक्त श्रुति एवं आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त आत्मा से अपने २ रूप मे परिणत हुए हैं। पर इन्हीं द्रव्यों में से रस और अनुरस की कल्पना की जाय तो ६३ की कल्पना अगणित हो जाती है। क्योंकि रस में तारतम्यतः मधुर, मधुरतर व मधुरतम की कल्पना की जाय तो यह गणना अतिक्रमित हो सकती है। यथा—

'षट पंचकः षट्च पृथक रसाः स्युश्चतुर्द्धिकौ पञ्चदश प्रकारौ। भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव, द्रव्यं षड़ा स्वाद मिति त्रिषष्ठिः' (अ. र. सू. अ. १०)

रसों में मधुराल्म लवण-वात हर। कटुतिक्त कषाय वार हर तिक्तस्वादु कषाय पित्तहर। कटूम्ल लवण पित्तकर एवं कटुतिक्त कषाय श्लेष्महर और मधुराल्म लवण श्लेष्मकर होते हैं। असंसृष्ट रसों की सख्या ६ है, एक द्वाहदि भेद से परस्पर मिश्रतों की संख्या ५७ है, योग ६३। रसानुसार भेद से और तरतमादि भेद से इनकी संख्यायें असख्यात हैं।

सर्व साधारण की सुविधा के लिये चरित्रनायक ने अपने दिमाग में जो सूक्ष्म चित्र बनाया है वह यों है—१ रस वाले द्रव्य ६ होते हैं। २ रस वाले द्रव्य १५ होते हैं। ३ रस वाले द्रव्य २० होते हैं। ४ रस वाले द्रव्य १५ होते हैं। ५ रस वाले द्रव्य ६ होते हैं और ६ रसों वाला द्रव्य १ होता है। ये ६३ भेद आयुर्वेद में स्थूल रूप से चिकित्सा-सौन्दर्य के लिये किया गया है, इसमें ६२ रसों का भेद कुपित दोषों के भेद को शांति करता है और ६३ वां भेद दोषों को प्राकृतावस्था में बनाये रखता है। चिकित्सा क्षेत्र मे सिद्धि व सफलता चाहने वाले चिकित्सकों के लिये यह परमावश्यक है कि दोष व औषध आदि का युक्तियुक्त विचार कर कहीं एक रस की एवं कहीं संयुक्त रस की कल्पना

करनी चाहिये। विद्वान चिकित्सक भिन्न २ रोगों में (तथा स्वस्थावस्था में) भी दो रस वाले द्रव्यों तथा एक रस वाले द्रव्यों की भिन्न २ कल्पना भी कर सकते हैं।

उपरोक्त आधार पर ही हमारे चरित्रनायक का चिकित्सा सौष्ठव आज लम्बे ७५ वर्षों से सुरभित होता चला आ रहा है। हमारी एकान्त कामना है कि यह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे जिस प्रकार समूचे भारत में आपका यश फैल रहा है वह समस्त विश्व मे भी फैलता रहे।

संक्षिप्त शल्य कर्म की तैयारी, शल्य, भग्न, द्रव्य गुण शास्त्रे रसनिरूपण, द्रव्य-शक्ति, रक्त विस्रावण क्रिया, शिशु व्याधियां, बच्चों की रोग-परीक्षा, शिशु-जन्म, शरीर की उपादेयता, पाचन-संस्थान, वात-संस्थान, अन्तस्रोत-ग्रन्थिया अस्थि-सार, प्रत्यक्ष-ज्ञान के साधन आदि लेख भी इस ग्रन्थ में दिये गये हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगे। अस्तु।

क्षमा याचनाः—

हमारा आज परम सौभाग्य है कि हम अपने श्रद्धेय चरित्रनायक के कर-कमलों में इस स्वतंत्रता के युग में यह अपनी श्रद्धावनत भेंट अर्पण कर रहे हैं। स्वतंत्र भारत की विजय-पताका आज जिन सेनानियों के हाथ में है उन्होंने कठिन से कठिन यातनाएँ सह कर भी अपनी अटूट संकल्प-शक्ति के बल पर चरित्रनायक के सामने आज का अवसर उपस्थित किया है इसका प्रत्येक भारत-वासी को अधिक हर्ष है एवं उन सफल सेनानियों पर आस्था तथा गर्व है। स्वातन्त्र्योत्तर काल से ही हमारी व हमारे चरित्रनायक की उत्कट अभिलाषा बनी हुई है कि स्वतंत्र होते ही हम अपने देश के विज्ञान, अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपने देशीय कला-कौशल आदि को समुन्नत होते हुए देखेंगे। किंतु विगत वर्षों मे हमारी यह भावना जितनी सफल होनी चाहिये थी उतनी न हो सकी है, इसमें कुछ दोष हमारा अपना है तथा अधिकांश विदेशियों द्वारा सत्ता हस्तांतरित करते समय उपस्थित की गई उन परिस्थितियों का है जिनसे हम आज तक जूझते चले आ रहे हैं।

सर्वप्रथम हम हमारे चरित्रनायक से क्षमाप्रार्थी हैं कि उनके अनुरूप हम आज कुछ भी न कर पाए। फिर भी जैसा-तैसा पत्र-पुष्प फलरूप जो कुछ बना है उसे 'त्वदीयं वस्तु गोविंद, तुभ्यमेव समर्पये' की भावना से उनके करकमलों में उन्हीं के बालकों की यह अटपटी भेंट अर्पण है।

द्वितीयतः हम अपने इस यज्ञ के सह-होताओं से भी क्षमाप्रार्थी हैं जिनके कि सहयोग से आज यह यज्ञ पूर्ण हो रहा है। प्रमादवश किन्ही से कुछ अटपटा व्यवहार हो गया हो तो वे हमें उदाराशयता के नाते अवश्य क्षमा करेंगे।

इसके उपरांत उन महान् लेखकों से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिनके लेख हमने आमंत्रित किए, बार २ प्रार्थनाएँ की फिर भी स्थानाभाव के कारण तथा कलेवर के बहुत-सी बढ़ जाने से हम उनकी रचनाएँ दे नहीं पाए। आशा है वे हमें क्षमा करेंगे।

यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये उपयोगी साबित हो इसलिये प्रधान सम्पादक की यह आज्ञा थी कि सस्कृत भाषा के लेख ग्रन्थ में सम्मिलित न किये जांय। परन्तु चरित्रनायक की विशेष आज्ञा के कारण स्व. श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री के लेखों को मूल सस्कृत भाषा में सम्मिलित करना पड़ा है क्योंकि श्री शास्त्रीजी इस संसार में नहीं हैं अतः बिना उनकी आज्ञा के लेखों का हिन्दी अनुवाद करना अनुचित होता। आशा है वे सभी विद्वान जिनके लेख संस्कृत भाषा मे होने के कारए इस ग्रन्थ में सम्मिलित नही किये जा सके, हमें क्षमा करेंगे।

वृक्षायुर्वेद एवं पशु-आयुर्वेद के संबंध में बहुत-सी सामग्री होते हुए भी हम इस ग्रन्थ में सम्मिलित नही कर पाये क्योंकि चरित्रनायक का स्वास्थ्य अचानक अत्यधिक अस्वस्थ हो गया। अतः इस विषय के चित्र ही दिये जा रहे हैं जिससे ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सके।

अंततः हम उन सभी लेखकों से क्षमाप्रार्थी हैं जिनकी कि अलभ्य रचनाओं के मुद्रण में कहीं २ अशुद्धियां स्वास्थ्य के गिर जाने एवं अन्यान्य आयोजनों में अतिव्यस्तता के कारण रह गई हैं, जिससे उन्हें अवश्य चिंता होगी। पर यह दोष हमारा है और इसके दोषभागी भी हम ही हैं अतः वे उदाराशय लेखक व पाठक हमें क्षमा करें। साथ २ चरित्रनायक के सभी श्रद्धालु भक्तों से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं जिन्हें इस यज्ञ के पूर्ण होने की आज से कहीं पहले आशा थी।

आभार-प्रदर्शनः—

सर्वप्रथम हम चरित्रनायक के पुत्रतुल्य अनन्य सुहृदय श्री मथुरादासजी माथुर महाशय का आभार स्वीकार करते हुए हमें स्पष्ट कहना पड़ेगा कि आप के ही सौजन्य व उद्‌बोधन से हम आज के दिवस का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाए हैं।

हम हमारे चरित्रनायक एवं उनके पारिवारिक उदारमनाओं का भी आभार स्वीकार करते हैं जिनके अहः रहः सहयोग द्वारा ही इस ग्रय को सामग्री टाजु पाए।

हम राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन, जोधपुर (रजि०) के अध्यक्ष श्री स्वामी रामप्रकाशजी का भी आभार स्वीकार करते है जिन्होंने अपनी संस्था द्वारा उदयाभिनंदन ग्रंथ की हमें सत्प्रेरणा दी व समय समय पर हमारा प्रत्येक दिशा में हाथ बँटाया।

हम उन सभी दानदाताओं का भी आभार स्वीकार करते हैं जिन्होंने इस यज्ञ में अपने धन से आहुति दी।

हम श्री मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा, जोधपुर के अध्यक्ष श्री द्रोणाचार्य एवं उनके सभी कार्यकर्त्ताओं का भी आभार स्वीकार करते हैं जिन्होंने हमें इस यज्ञ को आयोजना में सर्वांतःकरण से साहाय्य पहुँचाया।

मैं अपने कार्यकारी अध्यक्ष श्री दौलतरामजी एवं सम्पादक मंडल के समस्त सदस्यों का भी आभारी हूँ जिन के बल पर ही मैं इस गुरुतर भार को वहन कर सका।

अंततः मैं अपने कार्यकारी सहयोगियों के सहयोग की प्रशंसा में कुछ नहीं कह सकता जिनका कि यह कर्त्तव्य था जिसे उन्होंने सदाशयता से निभाया। परंतु मैं साधना प्रेस के सर्वाधिकारी श्री हरिप्रसादजी को एवं उनके समस्त कर्मचारियों का भी आभार स्वीकार करता हूँ जिनके सहयोग से ही हम अपना यह यज्ञ पूर्ण करने में सफल हो सके। इतिशम्

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

श्री उदयाभिनन्दन ग्रन्थ— दान-दाताओं की सूची

श्रीमान सेठ गोवर्द्धनलालजी काबरा	१५००)
„ „ हीराचन्द्रजी जुगराजजी पारख	१००१)
„ „ माणकलालजी बालिया	१००१)
„ „ चाँदमलजी अग्रवाल	२५१)
„ „ असगरअलीजी	१५१)
„ लाला रामचन्द्रजी माथुर	१५१)
„ रामरतनजी अग्रवाल	१०१)
„ सेठ नाहटा कानमलजी	१०१)
„ प्रिन्सिपल नारायणदासजी	५१)
„ ज्वालादासजी माथुर	१००१)
„ सेठ अनूपराजजी ललवाणी	१०१)
„ सेठ राधावल्लभजी काबरा	१०१)
„ वकील हरकलालजी मनिहार	५१)
„ मोहता शिवराजजी	१०१)
„ शाह घेवरचन्द्रजी कानूनगो	१०१)
„ भाटिया कृष्णचन्द्रजी	५१)
„ भण्डारी विमलचन्द्रजी फतेहचन्द्रजी, रानी	२०१)
„ मेहरचन्द्रजी जैन, जयपुर	५१)
„ सेठ घेवरचन्द्रजी गुलाबचन्द्रजी पारख	२०१)
„ तनसुखदासजी लक्ष्मणदासजी पारख	२०१)
„ सेठ बालकृष्णजी फतेहपुरिया, पाली	५१)
„ कविराजजी तेजदानजी	१५१)
„ मोदी सरदारनाथजी	२५१)
„ मोदी इन्द्रनाथजी, भूतपूर्व न्यायमूर्ति	१०१)
„ सुराणा सम्पतराजजी, शोलापुर	१०५)
„ सेठ नोहालचन्द्रजी दलीचन्द्रजी, खीमेल	५०)
„ मदनलालजी अग्रवाल, पटवारी	२१)

चरित्रनायक के विज्ञ शिष्य

वैद्य बाबूलाल जोशी
लेख पृष्ठ संख्या ५६३ पर
सम्पादक
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

चरित्रनायक के उत्तराधिकारी शिष्य

वैद्य कान्तिचन्द्र जैन
साहित्य सुधाकर

सेवाभावी शिष्य

वैद्य मुनि देवेन्द्रचन्द्र
चिकित्सक रत्न
व्यवस्थापक
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत) जोधपुर

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत) जोधपुर का यह द्वितीय वार्षिक अधिवेशन जो राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर मे सम्पन्न हो रहा है, परम सम्मानास्पद पीयुषपाणी, परम अनुभवी आयुर्वेद मार्त्तण्ड वैद्यावतंस राज्यमान राजवैद्य वयोवृद्ध श्री **पण्डित उदयचन्द्रजी** के द्वारा जनता जनार्दन की जो निस्वार्थ सेवा में त्याग, तपस्या व लगन के द्वारा चिरकाल तक की गई है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ "चिकित्सक सम्राट्" उपाधि से विभूषित के रूप में आज दिनाङ्क २-२-६४ को सार्वजनिक अभिनन्दन करता है तथा उनके उपयोगी दीर्घ जीवन की शुभ कामना करता है।

वैद्य बाबूलाल जोशी
२–२–६४
अध्यक्ष
एवं
समस्त सदस्य
राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत)
जोधपुर

चरित्रनायक आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस, चिकित्सकसम्राट् भट्टारक
महोपाध्याय, राजमान्य, राजवैद्य
पं० उदयचन्द्रजी महाराज (चांणोद गुरां साहिब)

का

जीवन परिचय

(सम्पादक की लेखनी से)

संसार में वे महापुरुष सदा श्रद्धा के पात्र होते हैं और उन्हीं का जीवन धन्य है, जिनसे समाज को सत्प्रेरणा मिलती है तथा जो सदा लोकोपकार कर अपना जीवन आदर्श तथा सफल बना लेते हैं। ऐसे महा पुरुषों का अवतरण एक विशेष परिस्थिति में होता है और वे अपने समय की विषमताओं को दूर कर समाज को एक नया मोड़ देने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

जगन्नियन्ता जगदीश्वर स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने परम सुहृद अर्जुन को महाभारत के समराङ्गण में गीता का सदुपदेश देते हुए कहा है कि संसार में जो भी विभूतिमान, श्रीमान् तथा ओजस्वी पुरुष तुम्हें दृष्टिगत होते हैं, वे सब मेरे ही तेज भाग से उत्पन्न हुए समझना चाहिए और मैं तभी मानव स्वरूप धारण करता हूं, जब संसार में जीवन व्यापार अस्त-व्यस्त होने लगता है।

तदनुसार हमारे चरितनायक के जीवन-परिचय से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भगवान श्रीकृष्ण के उक्त कथन को सर्वथा चरितार्थ करते हैं, क्योंकि समाज से आपको बड़ी ही सत्प्रेरणा मिली है और आपका सारा जीवन प्रतिक्षण लोकोपकार में ही लगा रहा है। आपके अलौकिक कार्यों से आपको विभूतिमत्ता तथा ओजस्विता स्पष्ट प्रकट होती है। वैसे तो आपने प्रायः सभी क्षेत्रों में अपना वैचक्षण्य प्रदर्शित किया किन्तु मुख्यतया आयुर्वेद को अपना प्रधान क्षेत्र मान कर इसे अधिक उपबृंहित किया है। अतः यहाँ यह समझ लेना अनुपयुक्त नही होगा कि आपके जन्मकाल में आयुर्वेद की स्थिति किस रूप में विद्यमान था।

वैदिक काल से लेकर मौर्य साम्राज्य तक आयुर्वेद का उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास होता रहा और अनेक नवीन प्रगतियों के कारण यहां तक पहुंचने वाले समय को

'आयुर्वेद के स्वर्णयुग' के नाम से सम्बोधित करना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं समझा गया। बाद में वैदेशिक आक्रमणों के कारण देश की विविध प्रवृत्तियों का ही ह्रास हुआ तो आयुर्वेद भी उससे बच नहीं सका। स्वतंत्रता संग्राम प्रारम्भ होने तक वैदेशिक आक्रमणों के कारण आयुर्वेद इस हीन दशा में पहुच गया कि सामान्य वनस्पति ज्ञाता भी एक चिकित्सक कोटि में समझा जाने लगा और ज्ञात अज्ञात किसी भी वस्तु का जैसे-तैसे प्रयोग करने को भी आयुर्वेद चिकित्सा मान लेने का दुःसाहस किया जाने लगा। ऐसे कथित चिकित्सकों द्वारा न दोष-दूष्य पर ध्यान दिया जाता था तथा न अष्टविध एवं पचविध परीक्षण से रोग निर्णय करने की पद्धति उनके व्यवहार में परिस्फुट रही थी। अतः समाज में एक किंवदन्ती के अनुसार केवल सग्रह ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर' को पढ़ने वाले को भी आयुर्वेद का प्रमुख चिकित्सक समझा जाता था और 'शीघ्र बोध' पढ़ने वाले को महा ज्योतिषी। औषध निर्माण की प्रायः अधिकांश प्रक्रियाएँ लुप्त हो रही थीं तो नवीन आविष्कार तथा शोध का तो कोई प्रश्न ही नहीं था।

जन्म स्थान

उक्त आयुर्वेदीय दुरवस्था में हमारे चरित्रनायक का जन्म विक्रम संवत् १९३५ वैशाख शुक्ला ३ अक्षय तृतीया के महत्वपूर्ण दिवस को राजस्थान प्रदेश के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक सिरोही राज्य के बडलूट ग्राम में हुआ। वैसे तो राजस्थान की वीर भूमि का ही अपने सपूत वीर क्षत्रियों के कारण देश के इतिहास में अमर स्थान रहा है और महावीर, महाराणा प्रताप, महाराज चंद्रसिंह राठौड़, दुर्गादास राठौड जैसे राष्ट्रीय भक्तों एव परम वीरों की अमर गाथा आज भी हमें राष्ट्रीय चेतना एवं स्वदेश प्रेम की सत्प्रेरणा प्रदान करती है, इस पर भी अक्षय तृतीया जैसे पर्व दिन को पावन करना भी चरित्रनायक की लोकोत्तरता का परिचायक प्रतीत होता है। अक्षय तृतीया का देशव्यापी महत्व तो कतिपय ऐतिहासिक कारणों से है ही, फिर भी राजस्थान में इस दिन का बहुत ही व्यापक रूप में महत्व स्वीकार किया गया है। आज भी राजस्थान प्रदेश में अक्षय तृतीया का दिन नवीन वर्ष का शुभ चिन्ह समझा जाता है और राजा से रंक तथा अमीर गरीब सभी लोग अपने आराध्य देव की पूजा के पश्चात् यथासम्भव नूतन वर्ष के जल से विविध व्यजनों का आस्वाद करते हैं। कई स्थानो पर श्रद्धा तथा स्नेह प्रदर्शन के स्वरूप लोग एक दूसरे से मिलते हैं और वीरतापूर्वक गौरव गाथा को स्मरण करने के निमित्त विविध रूप मे सुख, समृद्धि एवं शांति के आस्वाद (जाम) ग्रहण करते हैं। इस दिन के शकुन परीक्षणों से भावी वर्ष के पूर्ण तथ्य को समझने की परम्परा में विश्वास रखने वाले अनेक विज्ञ राजस्थान प्रदेश में आज भी विद्यमान हैं। इस प्रकार अक्षय तृतीया एक मनोज्ञ एवं आदर्श दिवस समझा गया है।

आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम्।

चिकित्सा का युगपुरुष

विश्ववंद्य
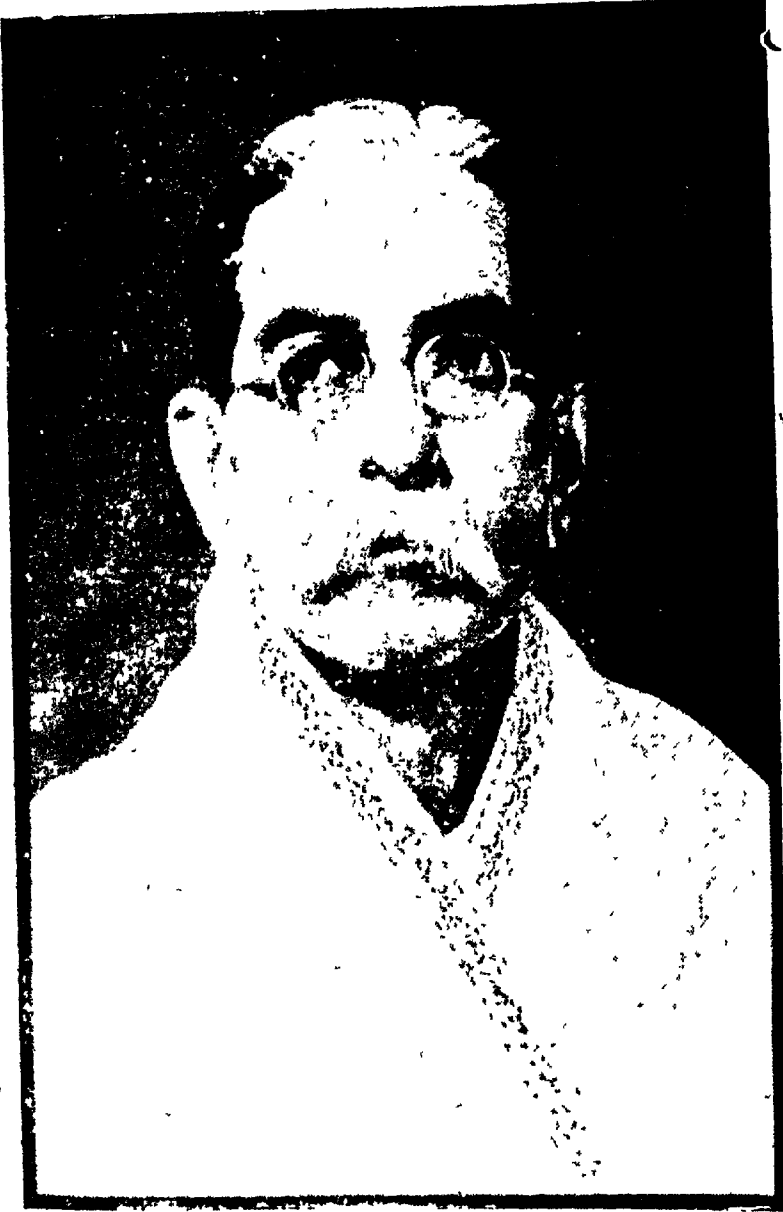
चिकित्सक-सम्राट् कर्मयोगी पीयूषपाणि-आयुर्वेद-मार्त्तण्ड प्राणाचार्य वैद्यावतंस महोपाध्याय राजमान्य-राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक (श्री चाणोद गुरां साहिब) जोधपुर (राज०)

वंश परिचय

अन्य ऐतिहासिक महत्वों के साथ-साथ अक्षय तृतीया को भगवान परशुराम का जन्म दिन होने से यह दिन परशुराम जयन्ती के रूप में मनाया जाता है। भारतीय मान्यताओं के अनुसार भगवान श्री परशुराम भी चौबीस अवतारों में से एक होने से वे भगवद्‌वतार ही समझे जाते हैं, फिर भी जब तत्कालीन प्रशासकों में आसुरी वृत्ति का अत्यंत सक्रमण हो चुका तो इक्कीस बार अपने ब्रह्मतेज से आसुरी वृत्ति का विनाश कर श्री परशुराम ने ससार को चकित कर दिया था। और प्रशासन में व्यामोह न हो, अत: समस्त देश में विधि परामर्शदाता के पद को अलंकृत किया था। तब से उसी परशुराम के वशधर प्रत्येक राज्य वंश में विधि परामर्शदाता के रूप में ही रहे और पुरोहित शब्द से सबोधित किए जाते रहे। पुरोहित अपने राज्य में तत्कालीन प्रशासकों के कुल-गुरु होने के साथ-साथ अन्य प्रशासन पाटव का भी ध्यान रखते थे और राजा और प्रजा के मध्य सौमनस्य बनाए रखने का दायित्व वहन करते थे। कालक्रम से तथा देशभेद से पुरोहितों मे भी कुछ अवान्तर भेद होने से उनके कुछ वर्ग हो गये, किन्तु मूलत: क्रियाकलाप में कोई विशेष अन्तर नही आया। वैदेशिक आक्रमणों से जब राज-परिवारों की परिस्थितियों में परिवर्तन आया तो अस्तव्यस्तता के कारण इस वर्ग को भी पिछड़ना पड़ा और अन्यान्य व्यवसाय करने लगे।

हमारे चरितनायक भी भगवान परशुराम की उक्त वंश शृंखला मे 'पारीक पुरोहित' वर्ग से सबद्ध हैं और वहां केवल जन्म ग्रहण करने के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण की तरह आपने वासुदेव देवकीज होकर भी गोपराट् नन्द को महत्व प्रदान करने के समान 'जैन यति सम्प्रदाय' को पावन किया। यह समुदाय भी अपना एक अनूठा इतिहास रखता है, जिसका परिचय केवल एक निम्न उद्धरण से ही स्पष्ट प्रकट होता है। यह फ़रमान तथा सनद मुगल प्रशासको ने जैन यतिराजों के लिए लिखे हैं और इनकी मूल प्रतियें आज भी हमारे चरितनायक के पास फारसी भाषा मे सुरक्षित हैं। जोधपुर राज्य के भूतपूर्व सुपरिंटेन्डेट आर्चिएलोजीकल डिपार्टमेन्ट स्व० प० विश्वेश्वरनाथजी रेऊ एम० ए० साहित्याचार्य ने १५ वी अखिल भारतीय ऑरियन्टल कान्फ्रेंस के बम्बई अधिवेशन मे उक्त फरमानों में से दो को प्रस्तुत कर उनकी प्रामाणिकता भी स्वीकार करवाली है। इससे इनका देशव्यापी महत्व स्थिर होता है।

फरमान

'खरतरागच्छीय श्री बाबाजी ज्ञानसागरजी श्री स्वामीजी को सूबा अजमेर में रहने वाले सभी मुसलमान और हिन्दू तथा खास तौर से जैन बनिया एवं यति जाति के

हर घर से फसल दर फसल एक रुपया और नारियल भेंट लेने का सम्मान प्रदान किया जाता है। क्योंकि उनका यह सम्मान यहां गत कई वर्षों ही नही पीढ़ियों से चला आ रहा है अतः मोहम्मदशाह बादशाह गाजी इस फरमान से उनका यह सम्मान पीढ़ी दर पीढ़ी आगे भी होते रहने की आज्ञा प्रदान करते हैं। फकत् २० जिलहिज २२ सं० मुहर ११३३ ए० एच०'

उक्त उद्धरण हमारे चरित्रनायक के वंशपरिचय के लिये पर्याप्त प्रकाश डालता है।

जन्म तथा कुलक्रम

चरित्रनायक का जन्मस्थान यद्यपि बरलूट (सिरोही प्रान्त) है, तथापि आपके पिताश्री जोधपुर के मूल निवासी न होकर भूतपूर्व जोधपुर राज्य के पश्चिम पार्श्ववर्ती सिरोही राज्य के शिवगंज क्षेत्र के 'पारीक पुरोहित' वंशधर थे और चरित्रनायक के जैन यति संप्रदाय के दीक्षागुरु स्वर्गीय श्री प्राणाचार्य भट्टारक महोपाध्याय राजवैद्य पं० श्री उम्मेद-दत्तजी महाराज के साथ आयुर्वेदीय सेवाओं में निरत थे। उस क्षेत्र में कई एक प्राप्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ज्ञात हुआ है कि चरित्रनायक के अग्रजों का कुलक्रम एक आदर्श एवं अनुकरणीय रहा है। अनेक लोग वहां के प्रशासकों के सामन्त पदों को विभूषित कर चुके हैं तो कुछ ने अपने ब्रह्मतेज से संसार को आलोकित किया है। यही स्थिति आपके दीक्षा कुलक्रम की भी रही और आपकी गुरु-परम्परा में ऐसे कितने ही महा-पुरुष अवतरित हुए हैं जिन्होंने देश की राजधानी, मेवाड़ एवं मारवाड़ एवं राजस्थान के अन्य अनेक रियासतों के राजा महाराजाओं को अपने तपोबल से प्रभावित किया है।

जननी जनक वात्सल्य

हमारे चरित्रनायक के पिताश्री आपके श्री दीक्षागुरु महाराज के साथ जोधपुर पधार गये थे तो स्वाभाविक था कि आपकी माताश्री और अन्य परिजन भी उनके साथ जोधपुर आते। भूतपूर्व जोधपुर राज्य के तत्कालीन महाराज श्री जसवंतसिंहजी (द्वितीय) के राज्य में लगभग १९३० विक्रम संवत के आसपास चरित्रनायक के भौतिक शरीर के मातापिता जोधपुर पधार गये और तब से अन्त तक यहीं विराजे। यद्यपि आपके पिताश्री का नाम 'अमरोजी' था, किन्तु जन समाज में अधिक प्रिय होने के कारण प्रेमपूर्ण 'ओखोजी' शब्द से पुकारे जाते थे। श्रद्धेय माताजी का नाम दौलीबाई था। इस अदम्य युगल के स्नेह-ग्रन्थि के स्वरूप हमारे चरित्रनायक का प्रादुर्भाव, जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, विक्रम संवत् १९३५ की वैशाख शुक्ला ३ अक्षय तृतीया को अक्षय के रूप में ही हुआ।

चिरन्तन काल, प्रवास क्षेत्र और पुत्र संतति सभी एक से एक बढ़ कर ऐसे हेतु थे कि माता-पिता का वात्सल्य भाव हमारे चरित्रनायक के प्रति अगाध स्नेह सागर के रूप में

उमड़ पड़ा, और आपकी अलौकिकता ने इसमें और भी चार चांद लगा दिये जिसने आपका क्षणिक संयोग भी प्राप्त किया, आपकी माधुरी पर मुग्ध हुए बिना नही रह सका और आपने भी अपनी बालोचित लीलाओं से सभी के मन प्रफुल्लित किये तो माता पिता के सहज स्नेहसागर का तो तरंगित होना स्वाभाविक ही था। किन्तु आपको यह सब स्थिति कब अधिक समय तक स्वीकार थी। आपके जीवन का तो लक्ष्य ही केवल मायाजाल में न फंस कर एक व्यापक दृष्टिकोण से अग्रसर होने का था। अतः जीवन के उदयकाल में ही हमारे चरित्रनायक को सांसारिक सभी बन्धनों से स्वतः मुक्त होने का अवसर मिल गया। पहले ३ वर्ष की आयु में माताजी तथा उनके कुछ ही समय पश्चात जब चरित्रनायक की आयु अनुमानतः पांच वर्ष की भी नहीं हो पाई थी, तभी पिताश्री भी अपना भौतिक शरीर इस संसार से विलीन कर गये और चरित्रनायक के पिताश्री के अनन्य कृपालु तथा आपके दीक्षागुरु स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज के चरणों का सान्निध्य आपको प्राप्त हुआ, क्योंकि आपके पिताश्री ने अपनी पारलौकिक यात्रा के समय अपने जीवन की अपार निधि चरित्रनायक को उक्त यतिराजश्री के चरणों में पहुंचाने का इन शब्दों में संकल्प किया था कि अब तक आपने मुझे निभाया तो मेरे जीवन का यह सारभूत तत्व आपके ही चरणों में समर्पित है। आप इसे अपना ही समझ पूर्ण संस्कृत करना, जिससे यह अपनी उज्ज्वल आभा से संसार को आलोकित करने में सक्षम हो सके।

शैशव काल

चरित्रनायक का जन्म यद्यपि दीक्षाकुल से अन्य कुल में हुआ था, किन्तु चिरंतन सहवास के कारण वे यतिराज भी आपके कुलसदस्य से कम नहीं थे। इस पर भी आपके पिताश्री ने अपनी मृत्यु के समय चरित्रनायक को उनके चरणों में ही समर्पित कर दिया तो स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज ने इनका लालन पालन एक अपने प्रगाढ परिजन के रूप में ही करना प्रारम्भ कर दिया। आपने भी अपने प्रखर बुद्धि कौशल से इन्हें अधिकाधिक अपनी ओर आकृष्ट किया और एक दिन उन्हें चरित्रनायक को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर संतोष करना पड़ा।

चरित्रनायक के गुरुदेव स्वर्गीय श्री उम्मेददत्त जी महाराज स्वर्गीय महाराजा श्री जसवंतसिंह जी (द्वितीय), जोधपुर नरेश के निजी चिकित्सक तथा प्रिय सामन्त थे और संन्यासाश्रम में विराजने के कारण अधिक परिग्रह को प्रश्रय नहीं देते थे। फिर भी आपको उक्त जोधपुर नरेश के दरबार में एक दरबारी के रूप में प्रति दिन पधारना पड़ता था, अतः हमारे चरित्रनायक को भी अपने शैशवकाल में ही जोधपुर राजघराने में पधारने का पर्याप्त अवसर ही नहीं मिला अपितु शाही लालन पालन भी उपलब्ध हुआ है। कई बार चर्चाओं के समय चरित्रनायक से ज्ञात हुआ है कि स्वर्गीय महाराजा श्री जसवंतसिंह जी

(द्वितीय) को पहलवानी का बहुत शौक था। इसलिये एक झुण्ड पहलवानों का आपने अपने यहां रख छोड़ा था। वे प्रतिदिन उनके साथ स्वयं भी व्यायाम करते और अपने दरबारियों को भी इसके लिये प्रेरित करते थे। बच्चे और सबसे छोटे होने के कारण चरित्रनायक की ओर भी महाराज श्री जसवंतसिंह जी का ध्यान होना स्वाभाविक था। उनकी मान्यताओं के अनुसार बचपन से ही व्यायाम प्रारभ करना चाहिए, अतः स्वयं जोधपुर नरेश चरित्रनायक को तैल मालिश कर कितने ही दाव-पेच सिखाने में रुचि लेते थे। इस प्रकार चरित्रनायक को अपने शैशवकाल में शाही लालन पालन का अवसर मिलना भी उनकी एक लोकोत्तरता का परिचायक है।

माता पिता के अभाव में भी चरित्रनायक ने अपनी विचक्षणता से शैशवकाल का आमोद प्रमोद से ही समापन किया। गुरु महाराज की हवेली पर जितने भी परिचारक तथा श्रद्धालु जन उपस्थित होते, सभी एक स्वर से आपके बुद्धिवैभव की प्रशसा करते नही थकते और सब तरह से आपको सुख-सुविधा पहुंचाने का प्रयत्न करते थे। परिणाम, आपका शैशवकाल परम सुखद रहा।

भारतीय जैन यतिसम्प्रदाय का परिचय

वैदिक संस्कृति के प्रचार प्रसार के समय जब यज्ञादि कर्मो से हिंसा को अधिक बल मिला तो अहिंसा का महत्व स्थापित करने के लिए भगवान् महावीर स्वामी का अवतरण हुआ। भगवान् महावीर ने अपने जीवनकाल में न केवल भारत मे ही, अपितु पार्श्ववर्ती अन्य देशों मे भी अपने शिष्य-प्रशिष्य भेज अपनी मान्यताओं का प्रचार करवाया। भगवान् महावीर जैन धर्म के अंतिम तीर्थङ्कर थे और उनके पूर्व २३ तीर्थङ्कर हो चुके थे। उन्होंने देश के प्रत्येक प्रांत एव क्षेत्र में अपना धर्म फैलाया और उस धर्म को बराबर आगे चालू रखने के लिए स्थान स्थान पर उनके अनुयाइयों ने कई उपाश्रय बनवाए, जिनमें उनके धर्म गुरु प्रचारादि के लिए आने पर निवास करते थे। जैन धर्म के उपदेश तथा श्री महावीर स्वामी के अनुयायी होने के कारण उन्हें जैन यति के नाम से सबोधित किया जाने लगा। और इस समुदाय में सम्मिलित हुए सभी संन्यासियों के मंडल को 'जैन यति सप्रदाय' संज्ञा दी गई। क्योकि इस मत के अनुयाई पूरे देश में व्याप्त है, अतः इसे 'भारतीय जैन यति सम्प्रदाय' कहा जाता है। और सत्य, अहिंसा का पालन करने का उपदेश देने के साथ साथ ये लोग अपरिग्रह पर भी जोर देते हैं। कुछ पुस्तके और श्वेत वस्त्र इनका परिग्रह होता है और जैन समाज का गुरुत्व वहन करने के कारण 'गुगंसा' भी कहे जाते हैं। प्रारंभ में ये लोग उपदेश व (शालाशिक्षण भी कराते थे और आयुर्वेद, ज्योतिष यत्र, मंत्र व संस्कारादि कार्य तो वे आज भी सर्वत्र देश में कराते हैं। श्री महावीर स्वामी के लम्बे समय बाद जब अनेक तपस्वी यतिराज इस सम्प्रदाय में होते रहे तो उनके विशिष्ट कार्यों

तथा सद्गुणों को स्मरण करने के लिए उन उन महापुरुषों के अनुयाइयों ने अपने को विशेष वर्गों में मान लिया और उसे अपनी भाषा में 'गच्छ' कहने लगे।

उदाहरणार्थ एक स्थान के यतिराज के एक शिष्य ने अमावस्या के दिन को भूल से पूर्णिमा कह दिया और अपनी यह भूल शीघ्र गुरु चरणों में पहुँच कर निवेदन कर दी कि आज मुझ से ऐसा दोष हो गया है। पूज्य गुरुदेव ने अपने घबराए हुए शिष्य को आश्वस्त करते हुए दृढ़ता से विश्वास दिलवाया कि आज पूर्णिमा ही होगी और पूर्ण चंद्र आकाश में उदय होगा। यतिराज ने अपने तपोबल से सायंकाल अपने कथन को सत्य कर दिखाया और सभी लोग विस्मय में पड़ गए कि आज यह चंद्र और चंद्रिका कैसी? अन्त में प्रश्नकर्ताओं ने यतिराज के महत्व को स्वीकार कर क्षमा-याचना की और उनका गुणानुवाद करने लगे। तब से उनके अनुयाइयों ने इस घटना के आधार पर अपना 'पूर्णिमा-गच्छ' मान लिया और वह गच्छ परम्परा अब तक भी चली आ रही है। इस प्रकार जैन यति सम्प्रदाय में कुल ८४ गच्छ हैं, जिन्हें उनका एक वर्ग विशेष कहा जा सकता है। इन्हीं गच्छों में मुख्य 'खरतर गच्छ' है जिसकी १ शाखा उक्त पूर्णिमा-गच्छ भी है व कुल ११ शाखाएं हैं और हमारे चरित्रनायक इसी गच्छ में दीक्षित होने के कारण इसके अनुयाई हैं। फिर भी आपकी मान्यता के अनुसार यति समुदाय का यह गच्छ भेद केवल भ्रम मात्र है और यति समुदाय को विच्छृंखलित करता है, अतः यति संगठन के लिए इसका परिमार्जन करना चाहिए, अन्यथा धीरे-धीरे इस दोष के कारण यति समुदाय में मतभेद बढ़ जायगा और व्यर्थ द्वन्द्व मे पड़ कर मूल लक्ष्य से च्युत हो जावेंगे। अतः आपके यहां बिना किसी भेदभाव के सभी समुदाय के यतिराजों का समान आदर होता है। आपका कथन है कि महावीर स्वामी के कोई विशष गच्छ नहीं था।

"मारवाड़ी यतिसम्प्रदाय का सिंहावलोकन"

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। श्री माहावीर स्वामी के अनुयाई जैन यति वर्ग समस्त देश में व्याप्त हैं, फिर भी मारवाड़ क्षेत्र के यतियों का अपना एक अनूठा स्थान है। जैसे बम्बई, कलकत्ते आदि विशाल नगरों में राजस्थान वासी मात्र को मारवाड़ी कहते हैं वैसे ही यथार्थ में मरुभू की प्रधानता के कारण प्रायः समस्त राजस्थान को ही मारवाड़ कहना अतिशयोक्ति नही होगा। अतः यहां समस्त राजस्थान के यतिसमुदाय के सबंध में विवरण दिया जायगा। फिर भी यतियों के गच्छ में "खरतर गच्छ" को प्रमुख मान्यता है और उसके आदि प्रवर्तक श्री जिनरत्न प्रभव सूरीश्वर जी महाराज ने जोधपुर के निकटवर्ती ओसियां ग्राम मे ही प्रखर तपस्या कर वहां समस्त समाज को पावन किया था, और जैन धर्म के ओसवाल नामक जाति मे दीक्षित भी कर लिया था। उनकी इस प्रखर तपस्या के कारण ही उन्हे 'खरतर गच्छ' के प्रवर्तक माना गया और स्थान स्थान पर उनके

पीठस्थापन कर सम्मान प्रदान किया गया। जैन यति समुदाय में धीरे धीरे गच्छ के प्रमुख को 'श्रीपूज्य' कहा जाने लगा और उनके प्रधानस्थल भी स्थापित हुए। यद्यपि देश में अनेक श्रीपूज्य हैं किन्तु राजस्थान के मरुक्षेत्र में ही लगभग पांच-सात श्रीपूज्यों की गद्दियां हैं, अतः समस्त देश में राजस्थान का महत्व यतिसम्प्रदाय के कारण भी बढ़ा हुआ है।

राजस्थान के तत्कालीन प्रशासकों ने भी जैन यतिराजों के सद्गुणों से प्रभावित हो उनको शाही सम्मान प्रदान किया है, जिनके अनेक प्रमाण हैं। हमारे चरित्रनायक के पास भी जो मूल फारसी एवं उर्दू भाषा की सनदें, इनके पूर्वज मारवाड़ के यतिराजों को दी गई हैं, वे विद्यमान हैं, जिसके अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मारवाड़ में यति समुदाय का अत्यन्त प्रभाव रहा और सदा वे परोपकार में रत हो लोककल्याण करते रहे।

सनद

'बादशाह औरङ्गजेब, मोहम्मद फर्रुक शैयद, मोहम्मद शाह और अहमदशाह आदि के शाही फरमानों की आज्ञानुसार, जगद्गुरु आचार्य श्री जिनचन्द्र देव सूरीजी, श्री जिन-सुख सूरीजी श्री जिनराज सूरीजी, श्री रतन सूरीजी, श्रीकमलसागर सूरीजी और जिनसेन-सूरीजी, जिन्हें व्याख्यान के समय दण्डोत, तख्त-ए-खास, तख्त-ए-रवां, छत्र, सायागीर, खास-पालकी, मोरछत्र, चंवर सोने और चांदी के सिंहासन का सम्मान प्रदान किया गया है, उन्हें समस्त सम्मान प्रदान किया जाता है। उनका यह सम्मान बराबर पीढ़ी-दर-पीढ़ी बना रहेगा। समस्त हिन्दू और मुसलमान बिना किसी भेदभाव के इनके नगर-प्रवेश के समय पगमण्डन का स्वागत करेंगे और दण्डवत् से आदर करेंगे। समस्त जनता इस राजाज्ञा की कभी अवहेलना नहीं करेगी और इन्हें प्रतिवर्ष हर घर से प्रति फसल पर एक रुपया और नारियल भेंट दिया जाता रहेगा। भारतवर्ष में यह सम्मान बिना किसी संकोच के बराबर किया जाता रहे और खास तौर पर हिन्दू और मुसलमान सब जातियें जगद्गुरु का सम्मान कर श्रद्धा व्यक्त करें तथा अपना गुरु समझें। यदि इस आज्ञा पालन में किसी तरह गलती हुई तो श्री आदरणीय गुरुदेव को सर्वाधिकार होगा कि वे उसे दण्ड दें या क्षमा कर दें। प्राचीन काल के समस्त राजा, जैसे राजा विक्रमादित्य और शालिवाहन आदि समस्त चक्रवर्ती सम्राट, राजा महाराजा जैसे श्री जयचन्द, जिनके अधिकार में बड़ी बड़ी सेनाएं थीं, महाराजा......चौहान और समस्त छोटे बड़े राजा महाराजा, जो सभी अपने गुरुओं को सम्मान देते रहे। महाराजा अजीतसिंहजी और महाराजा अभयसिंहजी तथा श्री बड़ा महाराजाजी भी जैसा शाही फरमानों में उल्लिखित है जगद्गुरु श्री विनयसागरजी और हेमराजजी देव दोनों को आदर व सम्मान प्रदान करते रहे थे। अतः यह परवाना तथा रुक्का इस संबंध में लिख कर प्रसारित किया जाता है कि इसे इसी तरह बराबर पालन किया जाय। गुरुदेव का छोटा चेला बड़े चेले की आज्ञा मानता रहे।'

यह सनद महाराजा विजयसिंहजी, जोधपुर की राज्य-मुद्रा के साथ प्रदान की गई है, जिनका राज्यकाल सन् १७५२ से १७९३ ई० तक माना गया है। किन्तु इस सनद की तिथि, जीर्ण होने के कारण अपाठ्य हो गई है।

जैन साहित्य के सम्बन्ध में अनेक इतिहासविदों की मान्यता है कि उसमें अनेक अव्यक्त तत्व छिपे हुए है। यही कारण है कि आज भी अनेक विदेश यात्री भारत आकर भारत के प्राचीन जैन शास्त्रों की कई प्रतिलिपियां खरीद कर ले जाते हैं और उन पर विविध प्रकार से खोज करते हैं। उन्ही लोगों की मान्यता के अनुसार जैसलमेर का पुस्तकागार ऐसे प्रच्छन्न रत्नों का भंडार समझा जाता है और वहां विदेशी आक्रमण के समय पैदल यात्राएं कर जैन यति समाज ने अपना अमूल्य साहित्य पहुंचा दिया था। इसी प्रकार बीकानेर, फलौदी, जोधपुर, जयपुर, उदयपुर, पाटन (गुजरात, आदि प्राचीन राजधानियो के पुस्तकागारों में भी जैन यति सम्प्रदाय के अनेक गुप्त मंत्र, तंत्र, यंत्र, कला आदि के ग्रन्थ संकलित हैं, जिन पर वर्षो शोध कार्य किया जा सकता है।

एक बार चरित्रनायक के पास नेपाल राज्य के पशुपतिनाथ मंदिर के नाथजी महाराज के उत्तराधिकारीजी ने जैसलमेर से लौट कर चर्चा की कि मारवाड़ के यति समुदाय ने भारतीय तन्त्र विद्या की जो सुरक्षा की है वह सदा चिरस्मरणीय रहेगी। उस प्रेस तथा लेखन सामग्री के पूर्ण अभाव के युग मे जैसा मारवाड़ के यतियों ने लिखा, उतना श्रम कही किसी समुदाय के संतों ने नही किया। भोजनाच्छादन से अधिक की सर्वथा चिन्ता छोड़ कर निरन्तर साहित्य सेवा में लगने वाला यह समुदाय आज भी भारत की प्राचीन गौरवगाथा को समुज्ज्वल कर रहा है। गुर्जर क्षेत्र मे जो प्रभाव जैन यति समुदाय का मिलता है, उसका भी उद्गम स्थान मारवाड़ ही कहा जा सकता है, क्योंकि उनके श्रवकादि अनुयाई राजस्थान के ही प्रवासी थे और उनके साथ यतिराज भी यहां से गुजरात की ओर अग्रसर हो गये। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि पूर्वी राजस्थान की अपेक्षा पश्चिमी राजस्थान में यति सम्प्रदाय के अधिक उपाश्रय तथा स्थान हैं और कतिपय उपाख्यान भी मिलते हैं जो उनके गौरव के प्रतीक हैं।

पाली जिले नारलाई गाँव में छोटी पहाड़ियों पर टिके हुए दो मंदिरों का उपाख्यान स्पष्ट डिंडम् घोष करता है कि मारवाड़ में यति समुदाय का कैसा व्यापक प्रभाव था। कहना है कि वे दोनों मदिर एक यतिराज के दो शिष्य केसाजी व जेसाजी अपनी मत्र विद्या से खेड (बालोतरा) से उठा कर लाये थे। और अपने स्थान पर ले जाते थे। गुरुजी के कथनानुसार यदि अरुणोदय होने लगे तो उन्हें वहीं छोडने का निर्णय था, अतः प्रथम शिष्य ने थक कर ताम्रचूड मुर्गे की आवाज से गुरुभाई को उषाकाल की भ्रान्ति करवादी और अपना मदिर श्रम दूर करने के लिये रख दिया। गुरुभाई ने भी पूर्व निर्णयानुसार अपना

सम्मान प्रदान करती थी और सर्वत्र आप लोकप्रिय थे। आपके जीवन से अनेकों ने सत्प्रेरणा लो और अपना आदर्श जीवन निर्माण करने में सफल हुए।

प्रारम्भिक शिक्षाभ्यास तथा गुरुदेव

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे चरित्रनायक का जन्म बरलूट ग्राम में हुआ था और उस समय चरित्रनायक के गुरुदेव स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज जोधपुर मे राजवैद्य पद पर कार्य करने हेतु पधार गये थे तो आप श्री के पिता श्री अमरोजी का भी जोधपुर आ जाना स्वाभाविक था क्योंकि श्री अमरोजी स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज के अनन्य विश्वस्त व्यक्ति तथा सहधर्मी थे। जन्म के कुछ ही समय बाद जब चरित्रनायक को श्री गुरां साहिब के चरणों में विसर्जित कर श्री अमरोजी परलोक सिधार गये तो लालन पालन एव शिक्षा दीक्षा का सीधा उत्तरदायित्व श्रद्धेय गुरां साहिब पर ही आ गया। श्री गुरां साहिब स्वयं तो बहुमुखी विद्वान थे ही, किन्तु भावी सुयोग्य शिष्यों को अधिक सुसंस्कृत करने के लिये श्री पं. श्यामकरणजी दाधीच को इनका प्रारम्भिक शिक्षक नियुक्त किया। अत्यल्प समय में ही जब चरित्रनायक ने अपने अद्भुत बुद्धि कौशल से अक्षराभ्यासादि को समाप्त कर दिया तो तत्कालीन सहयोगी भाषाओं के रूप मे उर्दू, अंग्रेजी आदि का भी अभ्यास क्रमशः श्री गुरांसाहिब के यहां पधारने वाले विद्वानों से करवाया गया।

श्री गुरां साहिब के तत्कालीन अनेक मित्रों के सम्पर्क में आने से चरित्रनायक ने पुस्तकादि के माध्यम से ज्ञानार्जन करने की अपेक्षा व्यावहारिक एवं प्रायोगिक विधि से अधिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्राप्त किया। श्री गुरां साहिब एक कुशल पीयूषपाणि चिकित्सक होने के साथ साथ उदयपुर व जोधपुर नरेशों के परम विश्वस्त सामन्तों मे से थे, अतः उनके यहां अनेक राजपुरुषों का भी शुभागमन होता था तो कतिपय सम्भ्रान्त नागरिक भी प्रायः पधारते ही रहते थे। उन सब के साथ निरन्तर सहयोग एव साहचर्य तथा संलापादि के होने से चरित्रनायक ने अपने जीवन के अरुणोदय से ही सर्वविध व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना प्रारंभ कर दिया। कई बार चरित्रनायक अपने वर्तमान उत्तराधिकारियों को जीवन-व्यवहार का उपदेश देते हुए अपने बालजीवन की तत्परता पर चर्चा करने लगते हैं तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि किस परिमार्जित वातावरण मे आपका संस्कार हुआ है। श्री गुरां साहिब ने तो अपने चिर संचित अनुभवों से आपको परिष्कृत किया ही, किन्तु उनके अनेक गुणज्ञ सहकर्मियों ने भी आप में विमल गुणों का यथाविधि सन्निवेश किया।

श्री गुरां साहिब के साथ कई बार चरित्रनायक जोधपुर नरेश के शाही प्रासाद मे पधारते तो वहां की चर्चाओं को बड़ी तन्मयता से सुन कर उन पर मनन करने लगते थे

॥ जयेत्सदा श्रीजिनदत्तसूरिः ॥

चरित्रनायक के गुरुवर्य महोदय

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद प्राणाचार्य महोपाध्याय राजमान्य-राजवैद्य पीयूषपाणि
आयुर्वेदमनीषी भट्टारक पण्डित श्री १०८ श्री उम्मेददत्तजी महाराज

और रात्री में विश्राम के समय श्री गुरांसाहिब की पाद सेवा में विराजते तो अनेक जिज्ञस्य प्रश्नों पर चर्चा कर अपना संतोष करते थे। चरित्रनायक के बाल्य काल में अनेक महाराष्ट्र तथा गुर्जर प्रदेश एवं बंगाल के परिवार भी जोधपुर राज्य की सेवाओं में थे तथा कुछ लोग स्वतन्त्र व्यवसाय भी करते थे। श्री गुरां साहिब के यहां उनका भी अनेक प्रकार से यातायात होने से चरित्रनायक पर उनकी भाषा का भी आकर्षण हुआ और आपने गुजराती, मराठी आदि का भी अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः चरित्रनायक हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी और संस्कृत इन सात भाषाओं का ज्ञान अपनी किशोरावस्था तक ही प्राप्त कर चुके थे और इस ज्ञानार्जन के लिये आपने श्री दत्तात्रेय के चोबीस गुरुओं की तरह अनेक गुरुओं की सेवा का अवसर प्राप्त किया, जिससे अपने भाषाज्ञान के साथ साथ व्यावहारिक एवं प्रायोगिक ज्ञानपिपासा शान्त की। प्रारभिक शिक्षा का ऐसा संयोग विरले ही पुरुषों को मिलता है, जो हमारे चरित्रनायक ने प्राप्त किया। अतः यह कह सकते हैं कि चरित्रनायक की प्रारभिक शिक्षा एक आदर्शरूप में हुई है और सुयोग्य अनुभवी गुरुजनों का लाभ प्राप्त किया है।

मारवाड़ी यति सम्प्रदाय में अनुरक्ति

पूज्य स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज के चरणों में विराजने के कारण चरितनायक पर मारवाड़ी यति सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि श्री गुरां साहिब स्वयं इसी वर्ग के एक सम्भ्रान्त यतिराज तो थे ही, साथ ही अनेक प्राचीन गौरवमय आख्यानों से चरित्रनायक का आकर्षण शनैः शनैः इस सम्प्रदाय की ओर अधिक बढ़ने लगा। "मारवाड़ी यति सम्प्रदाय का सिंहावलोकन" शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये जोधपुर राज्य के सनद के रुक्के का इतिवृत्त चरित्रनायक ने अपने गुरुदेव के मुख से सुना और कुछ मीर मुंशियों से उसे पढ़ा कर जाना तो इस गौरवमय सम्प्रदाय की ओर इनका अनुराग प्रायः स्वतः प्रबुद्ध हो गया। वैसे तो जन्म से ही आपको संसार की भौतिक समृद्धि में मोह नहीं था, फिर यति सम्प्रदाय की गौरवमयी सेवा तथा उसके फलस्वरूप प्रदत्त शाही सम्मान का ज्ञान आपको हुआ तो एक दिन श्री गुरु चरणों में आपने स्पष्ट निवेदन कर दिया कि मेरी रुचि श्रीचरणों में जैन प्रशासन को अङ्गीकार करने की है।

इस पर भी श्री गुरां साहिब ने नाना विध ऊहापोह से चरित्रनायक को अपनी वंश परम्परा की सुरक्षा करने का दायित्व बतलाया और समझाया कि स्व० श्री अमरोजी मुझ से यह आशा नहीं करते थे कि मै तुम्हें एक विरक्त बना कर उनके पुत्रवात्सल्य से मुक्त करूं। चरित्रनायक ने श्री गुरां साहिब को स्पष्ट निवेदन कर दिया कि महाराज ! व्यक्ति का महत्व तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना में है, अन्यथा तेरा मेरा तो केवल क्षुद्र पुरुषों के लिए है। मैं तो अपने इस नश्वर शरीर से मानव मात्र का होना चाहता हूँ, जिससे मेरे

दीक्षा गुरु

जैन यति सम्प्रदाय में यह रिवाज है कि कोई सुयोग्य शिष्य अपने गुरुदेव की परीक्षा कसौटी पर खरा उतर जाता है तब ही उसे विधिवत् सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया जाता है। नियमानुसार स्वयं के गुरुदेव ही दीक्षागुरु बनाये जाते हैं, किन्तु आवश्यकता तथा परिस्थितिवश कभी कभी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भी भावी यतिराज को दीक्षित कर देते हैं। चरित्रनायक अपनी किशोरावस्था को पार कर जब पूर्ण वयस्क होने लगे थे तो गुरांसाहिब ने सामाजिक उत्तरदायित्व देने के लिये इन्हें दीक्षा देने का निर्णय लिया। प्रश्न था कि आपकी दीक्षा किसी अन्य सुयोग्य आचार्य से कराई जाय, किन्तु चरित्रनायक को यह स्वीकार नहीं था। आपने विनयपूर्वक श्री गुरांसाहिब से प्रार्थना की कि मुझे तो जो कुछ आलोक मिला है, वह सब आपके चरणों का ही प्रताप है। अतः मुझे आपश्री मे ही अनन्त श्रद्धा है और जहाँ जिसको जैसी श्रद्धा है, उसी में उसका कल्याण है। इसलिये मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य को अपना दीक्षा गुरु नहीं बनाऊंगा। अब आपको जो भी निर्णय लेकर व्यवस्था करनी है कीजिये। मेरे विद्यागुरु यतिवर्य श्री जवाहरलालजी महाराज या आप दोनों मे कोई मुझे दीक्षा प्रदान करेंगे तो अधिक कल्याणकारी होगा।

श्री उम्मेददत्तजी गुरां साहिब की अलौकिकता तथा चमत्कृतियों के लिए इन्हीं पृष्ठों में पाठकों को यत्र तत्र पढ़ने को पर्याप्त सामग्री मिलेगी, फिर भी उनकी गुणावली को लिपिबद्ध करना किसी सामान्यजन की क्षमता के बाहर है। श्री गुरांसाहिब एक अलौकिक महापुरुष थे जो मेवाड़ व मारवाड़ की सामान्य जनता से राजा, महाराजा, सेठ, साहूकारों तक एक भाव से सम्मानित थे। ज्योतिष, मंत्र, यंत्र, तंत्र पर तो आपका एकाधिकार था ही, साथ ही आयुर्वेद आपका प्रमुख सेवा-साधन था। इसी की चमत्कृति से आप अनेक सामन्तों के सम्पर्क में आए और उनके प्रमुख चिकित्सक के साथ-साथ परम सुहृद एवं परामर्शदाता भी बन गए। संवत् १९५२ में महाराज श्री जसवंतसिंहजी (द्वितीय) के स्वर्गवास के पश्चात् गुरुदेव श्री उम्मेददत्तजी महाराज उक्त श्री जी साहिबों का दुःसह वियोग न सह सके और वे जोधपुर से ब्यावर (नए शहर) को शीघ्र ही प्रस्थान कर गए। गुरांसाहिब ने वहाँ पूर्वोक्त सामूहिक निर्णय को मान कर चरित्रनायक के दीक्षा गुरु बनने का निश्चय कर लिया और शास्त्रीय विधि तथा लौकिक व्यवहार के समन्वय से इस कार्य को सविधि सम्पन्न करने की तैयारियां प्रारम्भ कर दीं।

दीक्षा संस्कार

संस्कार पद्धति भारतीय संस्कृति की एक अद्‌भुत देन है। प्रमुख मान्यता के अनुसार संस्कार सोलह होते हैं, उनमें भी कुछ का अत्यधिक महत्व है। भारतीय परम्परा में मान्यता है कि जैसे खान से निकले हुए रत्नादि को शाण पर घिस कर परिमार्जित तथा

चरित्रनायक के दीक्षा एवं शिक्षा के गुरुवर्य

स्वर्गता पूज्यपादाः श्री १००८ श्री जवाहरमलजी
दैवज्ञमहाभागाः

सुसंस्कृत कर लिया जाता है वैसे ही व्यक्ति को भी सुसंस्कृत करने पर उसमें अभिनव गुणोदय होता है, अर्थात् उसकी पात्रता अधिक प्रखर होकर समाज, के समक्ष आती है, जिससे उसकी उपयोगिता का अधिकाधिक निर्धारण हो सके। भारतीय समाज-व्यवस्था इसीलिए अधिक लचीली होकर, जितनी सस्कृतियां आईं, उन्हें आत्मसात् करती रही है और अपने सद्गुणों से सब को तिरोहित कर आज भी अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। यहां सब को समान अवसर मिलने का खुला क्षेत्र है।

भारतीय जन-जीवन के सभी क्षेत्रों में इस संस्कार पद्धति का बड़ा महत्व स्वीकार किया गया है। अतः जैन यति सम्प्रदाय भी दीक्षा संस्कार समारोह बड़ी धूमधाम से करते हैं। उनकी मान्यतानुसार व्यक्ति अनुराग से वैराग्य की ओर अग्रसर होता है। अतः समस्त भोगों के उपयोग के पश्चात् ही उनसे विराम सम्भव है, इसलिए दीक्षा संस्कार के पूर्व व्यक्ति की शेष भोगेच्छाओं की शान्ति के लिए कुछ समय पूर्व दीक्षित होने वाले व्यक्ति के समक्ष सर्वविध भोगो का साधन प्रस्तुत करने का समारम्भ किया जाता है। विशिष्ठ भोजन तथा परिधान और वाहनादि से उसका शाही सम्मान कर अन्त में उनके परित्यागस्वरूप केवल श्वेत परिधान तथा साधारण भोजनादि ग्रहण करने का उपदेशपूर्वक संकल्प करवाते हैं। इस अवसर पर अनेक गणमान्य समाजधुरीण तथा विद्वान् मनीषी भी विद्यमान रहते हैं तो तत्कालीन प्रशासन की भी साक्षी का अवसर ग्रहण किया जाता है।

चरित्रनायक का दीक्षा संस्कार भी जैन यति सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार राजस्थान के प्रसिद्ध नगर ब्यावर में दादाबाड़ी स्थान पर हुआ। कई दिन पूर्व वैरागी रूप में आपका शाही सम्मान से बिनोला आदि निकले गए। अनेक प्रमुख यतिराज न केवल मारवाड़ क्षत्र से ही, अपितु भारतवर्ष के सुदूर क्षेत्रों में इस अवसर पर सम्मिलित होने के लिए पधारे। श्री गुरांसाहिब का मेवाड़ तथा मारवाड़ के राज घरानों मे सुदृढ़ सम्बन्ध होने से दोनो ही राज्यों के प्रशासनों का अटूट सहयोग आपके इस सस्कार में प्राप्त हुआ। जोधपुर के अनेक सामन्त तथा श्रद्धालु सेठ साहूकार श्री गुरां साहिब के प्रभाव से पूर्णतया परिचित थे, अतः आपसे आपके सुयोग्य शिष्यों का यह संस्कार सुन अपनी सेवाओं के लिए सन्नद्ध हो गए। फलतः दीक्षा संस्कार के समय चरित्रनायक की विकासोन्मुखी गुणावली पर मुग्ध हो दीक्षा स्थल पर विशाल जन समूह एकत्रित हो गया जिसमें अबालवृद्ध सभी प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित थे।

ऐसे विशाल जन समूह के समक्ष, श्री गुरां साहिब ने अपने सुयोग्य भावी उत्तराधिकारी को उनसे भी अधिक प्रभावशाली तथा लोकोपकारी बनाने की सद्भावना से चरित्रनायक को विधिवत् यति सम्प्रदाय मे दीक्षित घोषित करने के लिए सहपाठी सुहृद्वर श्री जवाहरमलजी महाराज से प्रार्थना की। यहां यह प्रकट कर देना प्रासगिक ही होगा कि

पूज्य श्री गुरां साहिब उम्मेददत्तजी महाराज के एक और शिष्य भी थे जिनका नाम श्री फतहचंदजी था। उनकी दीक्षा भी चरित्रनायक के साथ ही सम्पन्न करने की श्री जवाहरमलजी महाराज से विनय की गई थी। यद्यपि श्री फतहचंदजी ज्येष्ठ शिष्य थे तथापि चरित्रनायक की अलौकिक प्रखरता एवं प्रज्ञा कौशल की गहरी छाप पूज्य श्री गुरां साहिब के मानस पर अङ्कित हो जाने के कारण वे चरित्रनायक को व्यक्त रूप में भी अपना पट्ट शिष्य मानते थे।

पूज्य जवाहरमलजी महाराज ने पूज्य गुरां साहिब की प्रार्थना का आदर करते हुए अपने कर कमलों से दोनों को दीक्षित कर उनके मस्तकों पर वासक्षेप किया। घोषणा के तत्काल पश्चात् मेवाड़ तथा मारवाड़ के प्रशासकों के प्रतिनिधियों एवं अन्य समुपस्थित गणमान्य यतिराज, सेठ साहूकार, सामन्त तथा श्रद्धालु जनता जनार्दन ने श्री फतहचन्दजी व हमारे चरित्रनायक को सुयोग्य पदानुरूप सम्मान प्रदान कर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। चरित्रनायक का यह संस्कार विक्रम संवत् १९५३ की मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी को हुआ था जिस समय चरित्रनायक की आयु अठारह वर्ष की थी। वैसे तो अपने जीवन लक्ष्य पर पहिले से ही चरित्रनायक पूर्ण प्रबुद्ध थे, किन्तु इस नवीन उत्तरदायित्व ने उन्हें समाज के प्रति और भी अधिक जागरूक कर दिया कि उन्हें अब अधिक सतर्कता से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है।

चरित्रनायक के ज्येष्ठ गुरुभ्राता श्री फतहचंदजी का स्वर्गवास संवत् १९५८ में पूज्य गुरां साहिब की विद्यमानता में ग्राम खीमेल में ही हो गया।

विशिष्ट प्रशिक्षण तथा स्वाध्याय

चरित्रनायक ने अपने उत्कट बुद्धिकौशल से शीघ्र ही प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करली तो श्री गुरांसाहिब ने आपके विशिष्ट प्रशिक्षण का सुप्रबन्ध कर दिया। आपके कुलक्रमागत व्यवसाय आयुर्वेद, ज्योतिष, तथा धर्मोपदेश था और इन सब का मूल श्रोत या मूलोद्गम संस्कृत भाषा होने के कारण आपने संस्कृत भाषा का प्रौढ़ प्रशिक्षण प्राप्त करना श्रेयस्कर समझा। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय कला, कौशल तथा विज्ञान का आदि स्रोत भी संस्कृत वाङ्मय ही है, अतः श्री गुरांसाहिब ने संस्कृत के विशिष्ट ज्ञानार्जन के लिये जोधपुर के तत्कालीन प्रमुख विद्वान् स्वर्गीय पण्डितप्रवर श्री श्यामकरणजी आसोपा (दाधीच) को आपके अध्यापनार्थ नियुक्त कर लिया। समयानुसार चरित्रनायक पंडितजी के घर पर भी अपनी उत्पन्न शंका या जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये पधार जाते थे। अधिकांशतः तो पंडितजी श्री गुरांसाहिब की साक्षी में ही उनकी हवेली पर आपको अध्यापन कराते थे। तत्कालीन प्रचलित परम्परा के अनुसार अध्येय सभी व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा, छन्द, तथा निरुक्तादि द्वारा वैदिक वाङ्मय तक का गम्भीर

अध्ययन किया। चरित्रनायक की तरुणावस्था के काल में यति सम्प्रदाय अपने को किसी अन्य का शिष्य घोषित करना तथा विधर्मियों से पढ़ना भी हेय समझते थे, किन्तु चरित्रनायक के विशेष अध्ययन के लिये श्री गुरांसाहिब ने इस दोष का आमूलचूल परिवर्तन कर दिया, और जहाँ से भी ज्ञान का साधन सुलभ हुआ श्री गुरां साहिब ने सभी बन्धनों से मुक्त हो अपने सुयोग्य शिष्यों के लिये समुचित ज्ञानार्जन का प्रबध किया। प्रशिक्षण के समय चरित्रनायक को अपनी ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये इतनी उत्कण्ठा थी कि कहीं भी कोई सुयोग्य विद्वान् के पधारने की चर्चा सुनते तो श्री गुरांसाहिब से विशेष आज्ञा ग्रहण कर उनके शब्दामृत से तृप्त होने के लिये अवश्य पधारते थे। अतः आपने जोधपुर में पधारने वाले अनेक विभिन्न क्षेत्रीय महामनीषियों से सम्पर्क स्थापित कर अपनी बुद्धि को बहुमुखी शाण दिलवाने का विशाल प्रयत्न किया।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य का बहुश्रुत सर्वाङ्गीण अध्ययन पूर्ण हो गया तो अपना परम्परा प्राप्त वंशानुगत व्यवसाय आयुर्वेद चरित्रनायक को आकर्षित नहीं करता, ऐसी बात असंभव थी, क्योंकि भूतदयापरायणता इस शास्त्र का महत्व और चरित्रनायक का सर्वभूत हितैषिता के लिये नैसर्गिक मानस, फिर इन दोनों में समन्वय का विलम्ब ही कैसा ? श्री गुरांसाहिब को चरित्रनायक का थोड़ा भी वियोग सर्वथा असह्य था। अतः गुरां साहिब ने आयुर्वेदाध्ययन के लिए भी अपने प्रिय शिष्य को अन्यत्र कहीं न भेज कर अपने चरणों के सान्निध्य में ही अपने चिरसंचित ज्ञान भण्डार से पूरित करने का निर्णय किया। श्री गुरां साहिब इतने दैदीप्यमान थे कि आपके समक्ष सदा प्रकाषपुञ्ज विद्यमान रहता था और इसका प्रमाण उनके चिकित्सा कौशल से मिलता था कि अनेक राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार तथा संभ्रान्त नागरिकों को उन्होंने अपनी चिकित्साचातुरी से आकृष्ट किया। श्री गुरांसाहिब का संकल्प और चरित्रनायक की श्रद्धा, इनके सामञ्जस्य से यही निर्णय रहा कि आप श्री गुरांसाहिब से आयुर्वेद का अध्ययन करें। साथ ही प्रायोगिक कर्माभ्यास का भी प्रत्यक्ष प्रशिक्षण श्री गुरांसाहिब के निर्देशानुसार करते रहे। फिर भी श्री गुरांसाहिब ने जैसलमेर के तत्कालीन धुरन्धर विद्वान् वैद्यराज श्री पंडित देवीदत्त जी व्यास के सुपुत्र पण्डित-प्रवर श्री वैद्यनाथ जी को अपनी हवेली पर ही रख लिया व उनसे भी चरित्रनायक अनवरत आयुर्वेद वाङ्मय का अध्ययन व प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ज्ञान प्राप्त करते रहे। वृद्धावस्था के कारण पंडित् श्री देवीदत्तजी भी अपने पुत्र वैद्यनाथजी के साथ यहीं विराजने लगे।

चरित्रनायक के आयुर्वेदाध्ययन क्रम में लघुत्रयी का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, किन्तु एक शास्त्र मे प्राप्त प्रगल्भ प्रशिक्षण व्यक्ति के लिये दूसरा शास्त्र स्वतः करामलकवत् होता है, अतः अत्यल्प समय में ही आपने इसको पूर्ण कर दिया और कई वार तो चरित्रनायक ने

१००-१२५ श्लोक तक एक ही दिन में कण्ठस्थ कर लोगों को अपनी स्मरणशक्ति से
चकित करने का अवसर प्राप्त किया। इस कठिन श्रम के लिये श्री गुरांसाहिब इन्हें बराबर
मना करते रहते थे, किन्तु आपकी अभिरुचि कभी शान्त ही नहीं होती थी। सामान्य अध्य-
यनाध्यापन का क्रम यद्यपि प्रायः मध्याह्न तथा रात्रि में श्री गुरां साहिब की चरण सेवा के
समय होता था, किन्तु प्रातःकाल समागत रोगी एवं रुग्णाओं पर प्रत्यक्ष तथा श्री गुरांसाहिब
चरित्रनायक को उक्त अध्ययन का अभ्यास कराते रहते थे। समय समय पर रसायन शाला
में निर्मित होने वाले सभी प्रयोगों का भी द्रव्य परिचयपूर्वक कुशल निर्माण का अभ्यास
किया जाता था तो जैन यति सम्प्रदाय में प्रचलित एक विशेष चिकित्सा पद्धति का सदुपदेश
भी श्री गुरां साहिब से चरित्रनायक को ग्रहण करने का लाभ मिलता रहा था। इस प्रकार
लघुत्रयी प्रशिक्षण के पश्चात् चरित्रनायक ने आयुर्वेदिक चिकित्सा के सैद्धान्तिक पक्ष की
ओर अग्रसर होना चाहा तो श्री गुरां साहिब ने वृहत्त्रयी के गम्भीरतम अध्ययन का संकेत
किया। चरित्रनायक को इसमें विलम्ब कहां सह्य था, तत्काल चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट
एवं अन्य समकालीन आचार्यों के आर्ष ग्रन्थों को जुटा कर नियमित अध्ययन मे जुट गये।
सुयोग्य शिष्यों का यह उत्साह देख श्री गुरां साहिब अत्यन्त आह्लादित हुए और आपके
लिये नियमित वृहत्त्रयी के अध्ययन का पूर्ण प्रबन्ध कर दिया। जिन जिन कठिन स्थलों
पर आपको जिज्ञासाएं उपस्थित होतीं श्री गुरां साहिब बहुत ही मार्मिक विवेचन से आपको
संतोष कराते थे। इस प्रकार पूर्ण निष्ठा के साथ प्रत्यक्ष कर्माभ्यासपूर्वक आपने अपने श्री
गुरु चरणों से ही आयुर्वेद शास्त्र का प्रौढ़ अध्ययन किया, और बढ़ते हुए विज्ञान के चरणों
से तथा चिकित्सा के अपर पक्ष शल्य चिकित्सा से भी पूर्ण सुपरिचित होने के लिए चरित्र-
नायक ने जोधपुर राज्य के ही नहीं, अपने अन्तिम जीवन में, डाइरेक्टर जनरल मेडीकल
एण्ड हेल्थ सर्विसेज गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, श्री मैकवट साहिब से पूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त
किया। प्रमाणस्वरूप श्री मैकवट साहिब ने आपको एक प्रमाण पत्र देकर भूरि भूरि
प्रशंसा की और जीवनपर्यन्त आप से उनका मधुर सम्बन्ध बना रहा। ऐसे कई प्रमाण इसी
ग्रन्थ में चरित्रनायक को प्राप्त अभिनन्दन-पत्र तथा प्रशंसा पत्रों की शृंखला में मुद्रित हैं।

इस प्रकार चरित्रनायक ने आयुर्वेद शास्त्र का यथार्थ मे सर्वाङ्गीण अध्ययन किया।
विशिष्ट वैदुष्य एवं प्रौढ़ पाण्डित्य प्राप्त होने पर आपमें और भी स्वाध्याय की रुचि जागृत
हो गई। अध्ययन समाप्त होने पर भी आपमे जो स्वाभाविक ज्ञानाभिरुचि थी, तदनुसार
आप सहयोगी अन्य चिकित्सा शास्त्रों की ओर भी प्रवृत्त हुए और यूनानी, एलोपैथिक, नै
चुरोपैथी, साइकोथिरेपी, बायोकेमी, हीलिंगथिरेपी आदि सभी चिकित्सा पद्धतियों, के उपयोगी
साहित्य को पढ़ गये। आपकी इस स्वाध्यायशीलता ने ही आपको एक भयंकर व्याधि से
आक्रान्त कर दिया किन्तु फिर भी आप अपनी स्वाध्यायशीलता को सामान्य चर्चाओं में ही
पूर्ण कर लिया करते थे। इन प्रवृत्तियों से आप एक सुयोग्य चिकित्सक तो बने ही, साथ

ही एक विशिष्ट अनुभवी आयुर्वेदनिष्णात विद्वान् बनने का भी मनोज्ञ अवसर प्राप्त कर सके, जिससे आपके जीवन में पाठकों को स्वर्ण सौरभ का संयोग देखने का सहज समुचित अवसर उपलब्ध होता है।

विश्वचिकित्सा विज्ञान आयुर्वेद

सतत स्वाध्याय तथा बहुमुखी अध्ययन से चरित्रनायक के चिकित्सा विज्ञान के प्रति जो सुदृढ़ विचार बने वे इन पंक्तियों के शीर्षक मे ही सुव्यक्त हो जाते हैं। आपकी मान्यतानुसार आयुर्वेदशास्त्र ने चिकित्सा शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ किया है कि "जो क्रिया रोग का निवारण करे और जिससे धातुसाम्यावस्था प्राप्त हो वही चिकित्सा है" इसके अन्तर्गत संसार की सभी चिकित्सा पद्धतियें समाविष्ठ हो जाती हैं, क्योकि आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रासाद के केवल एक एक स्तम्भ का आश्रय लेकर अन्य सब चिकित्सा पद्धतियां विकसित एवं पल्लवित हुई हैं। अष्टादश उपशय भेद से, कौनसी चिकित्सा पद्धति है, जो दूर रह प्रभावित नही होती है। फिर कोई चिकित्सा पद्धति केवल भौतिक शरीर यन्त्र का ही एक मशीन की भांति उपचार करती है तो दूसरी केवल मानस महल में सुचारुता लाने का प्रयत्न करती है। आयुर्वेद को चिकित्सा पद्धिति की संज्ञा देना तो भयंकर भूल है ही, किन्तु "आरोग्य शास्त्र" कहना भी इसका महत्व कम करना है। जो शास्त्र मानव को समाज के अनुरूप जीना और जीवन व्यवहार समझाता हो, उसे जीवन विज्ञान तथा जीवन शास्त्र मानना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र के प्रवर्तक महर्षियों ने इसका उद्गम जीवन के साथ ही संसार में स्वीकार किया है और जीवन के साथ ही इसकी गति है, अतः यह शाश्वत शास्त्र है। इसके सिद्धान्त प्रकृति की उस उर्वरलीला के अभिनेताओं पर आश्रित ही नहीं, पूर्णतया तन्मय हैं कि प्रकृति से विहीन जीवन की सत्ता हो तो आयुर्वेदीय सिद्धान्तों से रिक्त भी जीवन सत्ता हो सकती है।

समस्त चराचर जगत का आधार एक अव्यक्त अलौकिक शक्ति है और उसकी सहज शक्ति प्रकृति। इन्ही दोनों के समन्वय से भौतिक जगत का निर्माण आधारभूत पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतो से होता है और इनमे प्रधान नियामक द्रव्य, वायु, तेज और तप है जो आयुर्वेद में वात, पित्त और कफ के नाम से सम्बोधित होते हैं। ये वात, पित्त और कफ ही शरीर का धारण, पोषण तथा विनाश के लिये मुख्य हेतु हैं और इनकी समता मे आरोग्य तथा विषमता मे अनारोग्यावस्था प्राप्त होती है। जब तक धरातल पर जीवन विद्यमान है तब तक इनकी सत्ता को तिरोहित नही किया जा सकता। और आयुर्वेद शास्त्र की सार्वभौमिकता को भी कोई सशय या खतरा दृष्टिगत नही होता।

स्वस्थ व्यक्ति सामान्य जन-जीवन के व्यवहार में जब इन्द्रियार्थ, काल और कर्म हीन, मिथ्या एव अतियोग से उपयोग करता है तो परिणामस्वरूप शरीर में आधि व्याधि

का प्रादुर्भाव होता है। इन्हें आयुर्वेद ने असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम की संज्ञा दी है और ये ही मानव की अस्वस्थावस्था के मूल हेतु हैं। इन हेतुओं को परि-वर्जित कर इन्द्रियार्थादि के समयोग से मानव को स्वतः स्वस्थावस्था प्राप्त हो जाती है, क्योंकि निदान परिवर्तन और सम भावों के सन्निवेश का नाम चिकित्सा है।

इसके अतिरिक्त स्वास्थ मानव एक सामाजिक अंग है अतः आयुर्वेद शास्त्र उसे सामाजिक जीवन व्यवहार का भी सदुपदेश करता है। तदनुसार पीडित, अभाव तथा शोक-ग्रस्त व्यक्ति की सहायता करना मानव का परम कर्त्तव्य है तो परपीड़न जीवन में अशांति का प्रधान कारण है। इस प्रकार के अनेक प्रकरण मिलते हैं, जिन पर अमल करने पर विश्व में शान्ति मिशनों की स्थापना का बहुत सा कार्य स्वतः समाप्त हो सकता है। अतः आज के समाजधुरीणों को चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सघ के विश्व स्वास्थ्य सगठन मे आयुर्वेद जैसे विश्व चिकित्सा विज्ञान की मौलिकता पर भारतीय विद्वानों के साहचर्य से मनन करावें और प्राप्त निर्णयों के आधार पर स्वास्थ्य सम्बन्धी भावी रीति नीति का कार्यक्रम घोषित करें।

मारवाड़ में आयुर्वेद का विकास

आयुर्वेद जैसा सार्वभौम विज्ञान किसी भी क्षेत्र विशेष या समाज विशेष की थाती न होकर समस्त विश्व की निधि रहा है, फिर भी तत्क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुसार उसे तदनुरूप ही अग्रसर होने का अवसर मिला है। मारवाड़ तत्कालीन जोधपुर राज्य का प्रधान क्षेत्र होने से अन्य कला-कौशल विज्ञान की तरह आयुर्वेद को भी एक देशी राज्य का क्षेत्र होने से पल्लवित होने का पर्याप्त सुलभ अवसर था; किन्तु देश के वैदेशिक आक्रमणों से मारवाड़ भी अछूता नहीं रहा। इन आक्रमणों में देश की सभी समृद्धियो पर प्रभाव तो आयुर्वेद पर भी इसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। मारवाड़ के अनेक विद्वान् चिकित्सक कालक्रम से समाप्त होते गए और विदेशी आक्रान्ताओं ने भी चतुर्मुखी विनाश किया जिसके फलस्वरूप क्वचिदुद्भूट विद्वद्वैद्य कुलों में आयुर्वेदीय उपगूढ़ ज्ञानोपन्निति सन्निहित हो गई थी जिनमें जोधपुर के प्रमुख वैद्यराज श्री चुन्नीलाल वेणीरामजी महाराज का घराना विशेषोल्लेखनीय है। इनके वंशधर स्व० वैद्यराज पडित मोहनलालजी के सुपुत्र वैद्यराज श्री अम्बालालजी जोशी, साहित्यायुर्वेदरत्न एव उनके स्वसूनु वैद्यराज श्री बुद्धि-प्रकाशजी आचार्य आयुर्वेदवाचस्पति आज भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार अन्य महत्वपूर्ण माने जाने वाले घरानो में स्व० श्री पूनमचंदजी वैद्यराज के वशज श्री हरिगोपालजी दवे, स्वर्गीय वैद्य श्री माणकचंदजी वैद्य के वशधर वैद्यराज श्री चाँदमलजी, मानचंदजी, स्वर्गीय पंडित मगनीरामजी दाधीच कविराज के भतीजे स्वर्गीय वैद्यराज गोविन्दचन्दजी जोशी (धौंकलजी), स्वर्गीय श्री भूरजी महाराज वैद्यराज श्रीमाली, पोकरण से आगत स्वर्गीय

चरित्रनायक

निखिल भारतवर्षीय २९ वां आयुर्वेद महासम्मेलन जोधपुर १६३६ में
स्वागताध्यक्ष के रूपमें

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु भक्त

मारवाड के सुप्रसिद्ध महामोहापाध्याय
कविराजा श्री मुरारिदानजी के
सुपुत्र कविराजा श्री गणेशदानजी
जोधपुर.

चरित्रनायक के अनन्य भक्त

पुरोहित श्री पचाणदासजी
(मींढा महाराज) जोधपुर

वैद्य अमृतलालजी रंगा के वंशज सर्वश्री देवीलालजी, मदनलालजी, किशनलालजी और पंडित गणेशलाल रंगा आयुर्वेदरत्न, बुडकिया ग्राम वाले वैद्य पंडित स्वर्गीय श्री रामवल्लभजी व्यास के आत्मज श्री पंडित देवीदत्तजी आयुर्वेदाचार्य, स्वर्गीय वैद्यराज भारतभूषणजी वर्मा के उत्तराधिकारी डॉ० द्रोणाचार्यजी वैद्यवाचस्पति, स्वर्गीय वैद्यराज हरिरामजी जोशी के पुत्र श्री बाबूलालजी जोशी व श्री रामलालजी जोशी, स्वर्गीय वैद्यराज श्री वृद्धिचन्द्रजी के शिष्य यतिराज श्री लक्ष्मीचन्दजी वैद्यराज, जैसलमेर तथा प्रशिष्य श्री रमेशचन्द्रजी, वैद्यराज श्री प्रेमसुन्दरजी यतिराज फलौदी, चरित्रनायक के सहपाठी ब्यावर निवासी स्वर्गीय वैद्यराज पूर्णचन्द्रात्मज राय साहिब वैद्य श्री तनसुखजी व्यास के वंशज, स्वर्गीय श्री पन्नारामजी महाराज के शिष्य स्वर्गीय श्री स्वामी कानड़दासजी वैद्य के शिष्य, स्वर्गीय वैद्यराज श्री लालदासजी वैष्णव के पुत्र श्री मुरलीधरजी वैष्णव, कलहंस कवि वैद्यराज स्वर्गीय पंडित उत्साहरामजी के शिष्य, शिवरामजी स्वर्गीय स्वामीजी श्री देवीदानजी महाराज के शिष्य प्रशिष्य, श्री मगनलालजी जोशी के आत्मज वैद्य दाऊलाल जोशी तथा वैद्य हरिदासजी के शिष्य वैद्य रामचन्द्रजी तथा कविराज विष्णुदत्तजी खेड़ापा पीठाधीश्वर महन्त, स्वर्गीय श्री हरिदासजी महाराज के शिष्य एव स्वर्गीय स्वामी अचलूरामजी महाराज के शिष्य आज भी विद्यमान है। पार्श्ववर्ती क्षेत्रों मे, कुचामण, नागौर, पीपाड, पाली, जालौर, जैसलमेर, फलौधी, मेड़ता व बाड़मेर आदि स्थानों पर भी अनेक वैद्य व यति घरानों मे आयुर्वेद की थाती सुरक्षित थी। चरित्रनायक के गुरु घराने मे पाली क्षेत्र के अनेक स्थानों पर भी आयुर्वेद के उज्ज्वल रत्न प्रच्छन्न थे। आयुर्वेद को सनातन परम्परा की अविच्छिन्न एव अक्षुण्ण बनाए रखने में इन सभी घराणों का योग रहा है। मारवाड़ मे आयुर्वेद का विकासकाल महाराज श्री जसवतसिंहजी (द्वितीय) के समय से महाराज श्री उम्मेदसिंहजी तक का समय भी कहा जा सकता हैं। इस काल मे राजा तथा प्रजा दोनों ही मे आयुर्वेद के प्रति अनुरक्ति तथा श्रद्धा बढ़ी और बहुमुखी विकास भी हुआ। राज्याश्रय मिलने से आयुर्वेद की सभी प्रवृत्तियों में भी नवीन सुधार और तत्कालीन राज्य सरकार ने अनेक कुशल आयुर्वेदीय चिकित्सकों का पूर्ण सम्मान किया। मारवाड़ क्षेत्रव्यापी संगठन बना व अभूतपूर्व निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन भी इसी काल मे सम्पन्न हुआ जिसका विशद वर्णन आगे 'आयुर्वेद लोक सेवा' शीर्षक में पाठकों को मिलेगा। जून सन् १९४० में एक आयुर्वेद बोर्ड भी बना व उसी वर्ष अक्टूबर मे गुणोपेत वैद्यों एव हकीमों द्वारा रोगारोग्य प्रमाण-पत्र प्रदान करने संबंधी नियम भी बने। चरित्रनायक को तदन्तर्गत जो सम्मान मिला उसका उल्लेख इसी अध्याय के 'राजकीय सम्मान' सर्ग मे किया गया है। वैद्य समाज में संगठन की भावना प्रबुद्ध हुई तो चिकित्सा शैली को भी परिमार्जित स्वरूप दिया जाने लगा। इस प्रकार विदेशी आक्रमणों के पश्चात् स्वतत्रता प्राप्ति तक आयुर्वेद का यथासम्भव विकास मारवाड़ क्षेत्र मे हुआ

और तत्पश्चात् लोकप्रिय श्री व्यास मंत्री मंडल के उत्साही स्वास्थ्य मंत्री श्री मथुरादासजी माथुर महोदय ने इसका पूर्ण उपबृंहण एवं पोषण किया।

यति सम्प्रदाय और आयुर्वेद

गत पंक्तियों में कई बार स्पष्ट लिखा जा चुका है कि यति सम्प्रदाय के प्रमुख सेवा कार्यों में आयुर्वेद और ज्योतिष, मन्त्र, यन्त्रादि का स्थान रहा है। इसका प्रमाण आज भी उपलब्ध होता है कि जहाँ तहाँ जिस कभी भी स्थान पर मारवाड़ के गांवों या नगरों में पहुँच कर देखिये कि यदि कोई जैन यति, जिन्हें वहाँ की परिभाषा में 'गुरांसा' कहते हैं, वहाँ विद्यमान हैं तो उनका आयुर्वेदीय चिकित्सा से अवश्य किसी न किसी प्रकार संबंध होगा ही।

प्राचीन काल में जब विदेशी आक्रमण हुए तो यति समाज ने अपने धार्मिक ग्रन्थों के साथ अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों को भी सुरक्षित रखा, जिनकी पाण्डुलिपियां आज भी यत्र तत्र जैन पुस्तकागारों की शोभा बढ़ा रही हैं। धर्म ग्रन्थों के लिखने का अभ्यास होने से यति सम्प्रदाय के लोगों ने अपनी गुरु परम्परा प्राप्त विशिष्ट चिकित्सा शैली के भी कुछ प्रयोगों को अपने लिखित साहित्य में सुरक्षित कर लिया। यति सम्प्रदाय की जीवनचर्या में कुछ अद्‌भुत रासायनिक मिश्रणों का प्रयोग होता था जिनको वे अपने पुस्तकादि की सुरक्षा के लिये व्यवहार में लाते थे, उनका औषधीय प्रयोग करके भी आयुर्वेद की एक नवीन सरणी का आविष्कार जैन यति समुदाय द्वारा हुआ।

चरित्रनायक के यहां कई प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों का संग्रह है, जिनकी पाण्डुलिपियों को देखते ही बनता है कि किस परिश्रम और लगन से इनका गुम्फन हुआ होगा। उनमें वर्णित शैली पर विचार करने पर उनकी स्पष्ट मौलिकता प्रतीत होती है। आयुर्वेद के अन्य साहित्य में वर्णित विषयों से उन पाण्डुलिपिस्थ ग्रन्थों की रचना तथा विषय प्रतिपादन में बड़ा अन्तर है।

अपरिग्रह का पूर्ण व्रत पालन करने के कारण जैन यति समाज ने आयुर्वेद के मूलोद्देश्य भूत हितैषिता को पूर्ण प्रश्रय दिया और केवल जनकल्याण तथा लोकोपकार की भावना से, जिसे आज 'मिसनरी सेवा' कहते हैं, देश के कोने कोने में पहुंच कर आर्त जनता की सेवा करने का श्रेय प्राप्त कर लिया। इसके प्रतिफल में उनके लिये संसार में कोई आकर्षक नहीं था; अतः वे सदा समाज के श्रद्धाभाजन थे और अप्रत्यक्ष रूप में आयुर्वेद की सुरक्षा के लिये सजग प्रहरी का कार्य करते थे।

अतः यति समाज ने आयुर्वेद की सेवा के लिये अपना बलिदान किया और वे इसके लिये अपना सर्वस्व देकर भी प्राणप्रण से चेष्टा करते रहे। गुरु शिष्य परम्परा से वे इसे

अग्रसर ही नही करते रहे, अपितु अनेक नवीन आविष्कारों से इसके कलेवर को वृद्गित भी किया, जिससे यतिसमाज और आयुर्वेद का अटूट सम्बन्ध व्यक्त किया। वृद्त्रयी में से अष्टांगहृदयकार श्री वागभट्ट जैन समुदायी थे।

गुरुदेव राजवैद्य पं. उम्मेददत्तजी महाराज का चिकित्सा कौशल

चरित्रनायक के यहाँ गत कई पीढ़ियों से परम्परागत चिकित्सा व्यवसाय चला आ रहा था किन्तु आपके गुरुदेव राजवैद्य पं० उम्मेददत्तजी महाराज ने इसको अपने जीवन काल मे अधिक परिष्कृत किया और व्यापक रूप में प्रमुखतया इसी कार्य को आगे बढ़ाया। प्रारंभ में श्री गुरुदेव पाली जिले के खीमेल गाँव में अपने पूर्वजों के क्षेत्र पर ही विराजते थे और आसपास के सभी वर्ग की चिकित्सा व्यवसाय से सेवा करते थे। किन्तु धीरे धीरे आपकी पीयूषपाणिता की यशोपताका दूर दूर तक फहरने लगी।

गुरुदेव के निकटतम गच्छीय यतिराज बाबा जी श्री मग्नीरामजी महाराज मेवाड़ की राजधानी उदयपुर के धान मंडी वाले उपाश्रय में विराजते थे, वे वहां के 'राजगुरु' पद को सुशोभित करते थे। आपको परंपरागत सभी प्रकार के राज्य सम्मान प्राप्त थे। राजकीय पालकी आपको राजप्रसाद लाने ले जाने आया करती थी व उधर सामान्य जनता में भी आपका प्रभाव वैसा ही प्रबल था। गुरुदेव श्री उम्मेददत्त जी महाराज को उन्हों ने अपना दत्तक शिष्य घोषित कर दिया अत: उन्हें भी उदयपुर राज्य में परम्परागत बाबाजी वाले सभी राज्य सम्मान महाराज श्री सज्जनसिंह जी के राज्य में प्राप्त हुए तो मेवाड़ के राजघराने के तथा वहां के प्रमुख सामंतों व ठाकुरों आदि के ठिकानों मे भी श्री गुरांसा साहिब की चिकित्सकीय सेवाए ली जाने लगी।

कुछ समय ससम्मान उदयपुर विराज कर आप खीमेल लौट आये तो चाणोद व घाणेराव आदि ठिकानों में श्री गुरांसाहिब निजी चिकित्सक स्वीकार कर लिये गये और अधिकांश समय के लिये वहां ही विराजने के लिए स्वतंत्र हवेली आदि स्थानों की व्यवस्था करदी गई।

श्री गुरांसाहिब ने, ग्राम खीमेल में भी पूर्वजों द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त सामाजिक उपाश्रयादि स्थानों के साथ साथ अपने स्वतंत्र औषधालय तथा निर्माणशाला आदि की व्यवस्था के लिये "गुरांसाहिब का नोहरा" नामक एक विशाल भवन बनवा लिया और उसमे अपने आप भी निवास करने लगे। उन दिनों उस क्षेत्र में यातायात के अधिक साधन नही होने से श्री गुरांसाहिब ने अपने चिकित्सादि कार्यो में इधर उधर पधारने के लिये रथ, सगड़, घोड़ा आदि वाहनों का भी प्रबन्ध कर लिया, इससे प्राय: आप अर्बुदाञ्चल के इस पावन क्षेत्र में सिरोही और गुजरात प्रदेश के अधिकांश स्थानों पर चिकित्सार्थ आहूत किये जाने लगे।

गुरांसाहिब जैसी महान् विभूति किसी एक ही स्थान के लिये कैसे अवरुद्ध हो सकती थी। राजनैतिक परिष्कृत मस्तिष्क के समन्वय से चाणोद ठिकाणे के कार्य से श्री गुरांसाहिब का कई वार जोधपुर पधारना होता ही रहता था, और "रत्न को गवेषणा सभी करते हैं,—रत्न किसी की खोज नहीं करता" की सदुक्ति के अनुसार वहां भी श्री गुरांसाहिब की सेवा चिकित्सार्थ रुग्ण जनता उपस्थित होकर आरोग्य लाभ उठाने लगी।

जोधपुर में प्रथम ही वार जब गुरांसाहिब उक्त ठिकाणे के कार्यवश पधारे तब वे अपने सुहृद्वर यतिराज श्री जवाहरमल जी महाराज के स्थान पर सिवाञ्ची गेट विराजे। उस समय तत्कालीन जोधपुर नरेश महाराज श्री जसवतसिंह जी (द्वितीय) के कनिष्ट भ्राता महाराज श्री किशोरसिंहजी के अङ्गरक्षक कर्नल श्री थानसिंहजी व्याधि-सकट से इतने गहरे पीड़ित थे कि संन्यासावस्था (मूर्च्छा) प्राप्त हो चुकी थी। सभी चिकित्सकों-डाक्टरों, हकीमों व वैद्यों ने निराशा व्यक्त करदी तो पूज्य गुरांसाहिब के भक्तों ने उन्हें आहूत कर श्री गुरांसाहिब से निदान व चिकित्सा करवाने की सलाह दी। वादविवादोत्तर यह परामर्श आदृत हुवा व श्री गुरांसाहिब को पधार कर परीक्षा करने की प्रार्थना की गई। गुरुपरवर ने अपनी कुशाग्र बुद्धि एव पैनी आंखों से शास्त्र विधि द्वारा रोग निदान कर तुरंत चिकित्सा प्रारम्भ करदी फलतः पहले ही दिन सन्यासावस्था (मूर्च्छा) दूर हो गई व अन्य भी सुधार दृष्टिगोचर होने लगे। आपने कुछ ही दिनों में कर्नल साहिब को रोग मुक्त कर राज्य घराने में अपनी सफल चिकित्सा चातुरी की ख्याति स्थापित करदी।

द्वितीय वार पुनः जब चाणोद ठिकाणे के कार्यवश आप जोधपुर पधारे तो महाराज श्री जसवतसिंहजी, मारवाड़ नरेश की परमप्रिया उपपत्नी (पासवान) श्री नन्नीजी साहिबां एक कष्टसाध्य व्याधि से पीड़ित थी और चिरकाल से डाक्टर वैद्यराज एव हकीमों की निरन्तर चिकित्सा के बावजूद भी कोई लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता था। स्वर्गीय महाराज श्री जसवंतसिंहजी के कनिष्ट भ्राता महाराज किशोरसिंहजी ने श्रीजी साहिबों के समक्ष अपने पूर्व अनुभव के अनुसार श्री गुरांसाहिब का प्रसंग उपस्थित किया और श्री नन्नीजी साहिबां के लिये अपरधन्वन्तरिरूप श्री गुरांसाहिब चिकित्सोचित सम्मान के साथ जोधपुर राज्यपरिवार में चिकित्सार्थ पधारे। श्री गुरुदेव की अद्भुत निदान सरणी से श्री जोधपुर नरेश अत्यन्त प्रभावित हुए और श्री नन्हीजी साहिबां का उपचार श्री गुरांसाहिब से ही करवाने का निर्णय कर लिया। चाणोद ठाकुर साहिब को आग्रहपूर्वक सूचना कर दी गई कि श्री गुरांसाहिब चाणोद की एक निधि के रूप मे अब यहीं विराजेंगे। आपको यह श्री राजपरिवार की सुखसमृद्धि हेतु स्वीकार होगा। श्री गुरांसाहिब के उपचार से श्री नन्नीजी साहिब को पूर्ण आरोग्य लाभ प्राप्त हुआ, तब से श्री गुरांसाहिब जोधपुर राज्य के गृह-चिकित्सक तथा राजवैद्य पद को अलंकृत करने लगे।

इस उपचार से श्री गुरांसाहिब की चिकित्साकीर्ति और भी अधिक प्रस्फुटित हुई और किशनगढ़ बूदी, जयपुर, जैसलमेर आदि अन्य राज घरानों में भी आपको चिकित्सार्थ आमन्त्रित किया जाने लगा। फिर भी श्री गुरांसाहिब का औदार्यभाव इतना विशद था कि जोधपुर मे स्वर्गीय श्री महाराजाधिराज श्री जसवतसिंहजी के करकमलों द्वारा 'श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक महौषधालय' का उद्घाटन करवा कर प्रतिदिन सामान्य से सामान्य रुग्ण जनता को भी घण्टों चिकित्सालय प्रदान करते थे और यह चिकित्सा प्राय: नि:शुल्क की जाती थी। वर्तमान मे कृष्णा मिल लिमिटेड ब्यावर के स्वामी उद्योगपति श्री राठी परिवार के प्रपितामह मारवाड़ क्षेत्र के पोकरण ग्राम से ही यहां आकर व्यवस्थित हुए थे। वे एक बार एक कष्टसाध्य व्याधि से आक्रांत हुए और विविध उपचारों के बाद भी कोई लाभ नहीं हुआ तो श्री गुरांसाहिब की सेवा मे चिकित्सार्थ आये। श्री गुरांसाहिब को विद्यावितर्क विज्ञान, स्मृति तत्परता और क्रियाकौशल, प्रकृति के भण्डार से उन्मुक्त रूप मे प्रदत्त थे, अतः जो भी विषमता आपके समक्ष आती सहज सरल हो जाती थी, श्री माहेश्वरी खीवराजजी राठी साहिब का भी रोगनिर्णय कर चिकित्सा की गई तो आश्चर्यजनक लाभ हुआ और वे गुरांसाहिब के वंशानुक्रम से अनन्य भक्त बन गए। इस प्रकार के अनेक उदाहरण श्री गुरांसाहिब के चिकित्सकीय जीवन से उपलब्ध होते हैं, जो आपके चिकित्सा-कौशल का आज भी महत्व स्वीकार करने को बाध्य कर देते है।

पूज्य गुरांसाहिब को यदा कदा स्वर्गीय महाराज श्री जसवन्तसिंहजी फरमाया करते थे कि कभी आपके ग्राम खीमेल चलेगे। इसका मूर्तरूप सवत् १९४८ में श्री दर्बारसाहिब ने दिया जब कि वे सिंह के आखेट (शिकार) के लिये देसूरी पधारे थे व जब श्री गुरुप्रवर व चरितनायक साथ में थे। वहां से लौटते समय ग्राम खुडाला मे शिविर हुआ। वहां रात्रि में स्वर्गीय महाराज साहिब ने बातचीत के दौरान श्री गुरांसाहिब से पूछा कि आपका ग्राम यहां से कितना दूर है। पूज्य गुरांसाहिब ने उत्तर दिया कि वह अनुमानतः छः मील ही दूर है। यह सुन कर श्री दर्बारसाहिब ने खीमेल पधारने का निश्चय कर लिया। निदान दूसरे ही दिन प्रात: ८ बजे खुडाला से ग्राम खीमेल के लिए प्रस्थान कर खीमेल पहुँच कर तीन दिन वही विश्राम किया। यह है हमारे पूज्य गुरुप्रवर स्वर्गीय श्री उम्मेददत्तजी महाराज मे तत्कालीन महाराजा साहिब के विश्वास का प्रत्यक्ष प्रमाण।

गुरुदेव का राजकीय सम्मान

एक चिकित्सक सदा राजा से रक तक सब का सम्मान भाजन होता है, फिर यदि प्रभुदत्त पीयूषपाणिता आदि गुणों की समष्टि किसी चिकित्सक महानुभाव मे विद्यमान हो तो वह नि:सन्देह सब का अनन्यतम हृदय सम्राट होता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण श्री

स्वर्गीय गुरांसाहिब श्री उम्मेददत्तजी महाराज रहे हैं। प्रारम्भ में श्री गुरांसाहिब को सामान्य जनता जनार्दन का सम्मान तथा आदर तो अपने प्रारम्भिक जीवन लीला क्षेत्र खीमेल ग्राम में ही पर्याप्त रूप से प्राप्त हुआ था। फिर जब मेवाड़ नरेश महाराणा सज्जनसिंहजी के यहां आपका पधारना हुआ तो वहां से आपको पालकी सिरोपाव का शाही सम्मान एवं ताजीम प्रदान की गई। जब तक श्री गुरांसाहिब उदयपुर में विराजे श्री गुरांसाहिब का समस्त व्यय मेवाड़ राज्य से किए जाने की आज्ञा प्रसारित की गई।

वहां से लौटने पर मारवाड़ के चाणोद, घाणेराव आदि अनेक सामन्तों ने भी श्री गुरांसाहिब को चिकित्सकीय सेवाओं के सम्मान स्वरूप बड़ी बड़ी जागीरें प्रदान की व आपका आदर किया और उनके शाही दरबारों में प्रमुख स्थान प्रदान किया गया। जोधपुर पधारने पर श्री नन्नीजी साहिबा की चिकित्सा के बाद श्री गुरांसाहिब को जोधपुर राज्य में ताजीम का सम्मान प्रदान किया गया और उत्तरोत्तर आपका राजघराने से अधिक सम्पर्क बढ़ने पर पालकी शिरोपाव और स्वर्ण सम्मान भी जोधपुर के स्वर्गीय महाराज श्री जसवन्तसिंहजी (द्वितीय) ने आपको प्रदान किया। जोधपुर के साथ-साथ श्री गुरांसाहिब का किशनगढ़, जयपुर, बून्दी आदि राज परिवारों से भी सम्बन्ध हो गया था। अतः वहां से भी आपको समय समय पर शाही सम्मान मिले।

श्री गुरांसाहिब को सामाजिक प्रतिष्ठा भी पूर्णतया प्राप्त थी। अनेक संस्थाओं तथा सम्मेलनों से भी आपका सम्मान किया गया था। आपको प्राणाचार्य की पदवी से विभूषित किया था। यति समुदाय में आपका पद महोपाध्याय के रूप मे था और पण्डित-प्रवर के रूप में आपको सम्मानित कर आदर प्रदान किया गया। श्री गुरांसाहिब द्वारा श्रद्धालु जनता की दर्शन सुविधा के लिए अपने नवीन विशाल भवन 'श्री चाणोद गुरासाहिब की हवेली' का निर्माण कराते हुए इसके एक कक्ष मे निजी पूजा-पाठ की सुविधा के लिए दादा साहिब की मूर्ति एवं चरणपादुका स्थापित की। इस प्रकार श्री गुरांसाहिब को अपने सेवामय जीवन में ही सर्वतोमुखी सम्मान प्राप्त हुआ था।

चरित्रनायक का चिकित्सा कर्मानुप्रवेश

चरित्रनायक को अपने जीवन के अरुणोदय से ही वैद्यक व्यवसाय का संस्कार प्राप्त था क्योंकि आपकी गुरुकुल परम्परा में इसका प्राधान्य था, जिस पर भी आपके गुरुदेव एक आदर्श राज चिकित्सक होने से जोधपुर में नियमित उसे श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेदिक महौषधालय' का संचालन करते थे और सर्वत्र उनका चिकित्सा-क्रम प्रचलित था। शिक्षा दीक्षा के बाद चरित्रनायक भी पूर्ण वयस्क हो गए तो श्री गुरांसाहिब ने आपको अपना भार कम करने के लिए चिकित्सा कर्म में अनुप्रवेश के लिए प्रेरित किया। श्री गुरुमुख से अधीत समस्त आयुर्वेद शास्त्र और पीयूषपाणि चिकित्सक के लिए केवल गुरु आज्ञा या

चरित्रनायक के प्रति गुरुवद्
भक्ति रखने वाले

यति कान्ति सागरजी
आपका लेख पृष्ठ संख्या
६१० पर है।

चरित्रनायक के दीर्घायुष्य की
कामना करने वाले

श्री मद्विजय विद्याचन्द्र
सूरीश्वरजी श्री १००८ त्रिस्तुति
के आचार्य

चरित्रनायक के बाल--सहचारी

स्वर्गस्थ-व्याख्यानवाचस्पति
जैनाचार्य श्री श्री १००८
श्री भट्टारक श्रीमद्
विजय-यतीन्द्र-सूरीश्वरजी

संकेत मात्र की ही आवश्यकता शेष थी अतः यह प्राप्त होते ही चरित्रनायक इस कार्य में प्रवृत्त हो गए। चरित्रनायक अपने जीवन का छाया चित्र स्पष्टतया स्मृति पटल पर स्मरण करते ही सब घटनाओं पर एक कथानक के रूप में प्रकाश डाल देते हैं। सर्व प्रथम जो चिकित्सा आप द्वारा हुई उसका मनोरञ्जक वर्णन करते हुए आपने बताया कि निदान औषध व्यवस्था ठीक ठीक होने पर भी आतुर की व्यग्रता से चिकित्सक गुरु तथा लघु व्याधि के निर्णय में सुदृढ़ नहीं रह पाता। उसका प्रत्यक्षीकरण उन्हें वहीं हुआ। श्री गुरां साहिब को चरित्रनायक से यह भय था कि कहीं परम्परा में कालुष्य लाने का उपक्रम नहीं हो जाय। आतुर अपनी प्रकृति से ही इतना अधीर था कि चिकित्सकों का धैर्य भी अपने करूणा क्रन्दन से मुक्त करा देता था। फिर भी चरित्रनायक ने दक्षतापूर्वक दोष दूष्य समूर्च्छना तथा अष्टविध परीक्षण से रोग निर्णय कर चिकित्सा प्रारम्भ की और श्री गुरां साहिब को अपने सोत्साह कार्य से पूर्ण सन्तुष्ट किया। इस प्रकार से सद्वैद्योचित निर्णय गुरांसाहिब को प्रभावित कर जन-मानस मे विश्वास जागृत कर लिया तो श्री गुरांसाहिब प्रायः चरित्रनायक को ही अपने सभी स्थानों पर उत्तराधिकारी चिकित्सक के रूप में चिकित्सार्थ साथ साथ ले जाने लगे और स्वतन्त्र रूप से भी आपको चिकित्सा करने का अवसर प्रदान कर अपने को शनैः शनैः कार्य भार से मुक्त करने लगे, और एक दिन सभी कार्य भार श्री गुरांसाहिब से चरित्रनायक ने प्राप्त कर उनकी सेवा में निरत हो गए।

सम्प्रदाय पीठाधिरोहण

संसार में ऐसे विरले ही व्यक्ति होते हैं, जिन्हें एक सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त हों। इसीलिये कहावत है कि व्यक्ति सर्वत्र अपना ही महत्व चाहता है किन्तु अपने उत्तराधिकारी सन्तान से सदा यह आशा करता है कि उससे भी अधिक बढ़कर उसका व्यक्तित्व चमके। जब स्वतः ही ऐसा सुयोग्य अवसर मिलता है तो वे व्यक्ति परम धन्य है। श्री गुरांसाहिब को हमारे चरित्रनायक से ऐसा ही सन्तोष हुआ। धीरे धीरे श्री गुरांसाहिब के समक्ष ही आपने उनके सर्वाङ्गीण क्षेत्र में कुशलता से प्राविण्य प्राप्तकर लिया। चिकित्सा व्यवसाय के साथ साथ अन्य सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विषयों पर भी चरित्रनायक ने श्री गुरांसाहिब को सन्तुष्ट किया तो श्री गुरांसाहिब ने पूर्ण युवराजपद आपको प्रदान कर नियमानुसार आध्यात्मचिन्तन में लग गये। विक्रम संवत् १९७१ की फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा-होलिका पर्व का एक भयकर दुर्दिन श्री चरित्रनायक के जीवन में आया कि जिसकी कभी स्वप्न मे भी कल्पना करना भयभीत करने वाला था। श्रद्धेय श्री गुरांसाहिब ने प्रातःकाल ही अपने दैनिक नित्यनैमित्तिक कर्म से निवृत्त हो परम स्वच्छ एव स्वस्थ वातावरण मे अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी चरितनायक को बुलाकर कहा कि इस प्रतिष्ठान की सारी व्यवस्था तथा क्रियाकलाप को विधिवत् समझ लिया है और चिरकाल से इसका

संचालन भी तुम्हारे द्वारा ही हो रहा है। अब भी यदि कोई विशेष जिज्ञासा हो तो मुझसे और पूछ सकते हो। मैं अब कुछ समय के लिये एक विशेष यात्रा पर जाने का चिन्तन कर रहा हूं, अतः इसमें कोई बाधा न हो, इसी दृष्टिकोण से आप लोगों को और प्रबुद्ध कर दिया है। इसके बाद श्री गुरांसाहिब समाधिस्थ हो गये और चरित्रनायक को इस सब घटना ने पूर्ण आश्चर्यान्वित कर दिया।

तत्काल अपने परम विश्वस्त संनिकट परिजनों को बुला कर सारा वृत्तान्त सुनाया और कहा कि इसमें क्या हेतु हो सकता है। अनेक विज्ञजनों ने, आपको, जैसा कि स्वयं चरित्रनायक का भी विश्वास था, आश्वस्त किया कि श्री गुरांसाहिब तो होली दिवाली के पर्व दिनों में प्रायः एसी ही साधनाओं में निरत होते रहे हैं, अतः कोई विशेष विचार की आवश्यकता नहीं, अभी कुछ समय बाद स्वयं प्रबुद्ध हो अपनी माया का संवरण कर लेंगे। किन्तु आज की साधना जैसा समझा गया उससे कहीं अधिक विचित्र थी और एक महा-प्रयाण की तैयारी में थी। आवश्यकता से अधिक समय होने पर भी, जब श्री गुरांसाहिब ने अपनी चिरसमाधी को भग्न नहीं किया तो चरित्रनायक ने दुःसाहसपूर्वक श्री गुरांसाहिब की चादर का अवगुण्ठन दूर किया। बस यह करना था कि सब स्वरूप स्पष्ट हो गया कि श्री गुरांसाहिब तो इस संसार का कार्य पूर्ण होने से श्री देवराज की राज्यसभा अलंकृत करने पधार गए। शेष भौतिक शरीर की परम्परानुसार यथास्थान सस्कारित कर दिया और सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों के बाद सभी उपस्थित यति समाज ने एक स्वर से निर्णय कर लिया कि चरित्रनायक से अधिक प्रगल्भ पुरुष इस सम्प्रदाय-पीठ की शोभा बढ़ाने वाला व्यक्ति कौन मिलेगा।

अतः विक्रम संवत् १९७२, चैत्र शुक्ला तृतीया को श्री गुरासाहिब के साम्प्रदायिक पीठ पर बड़े समारोह के साथ चरित्रनायक को साम्प्रदायिक विधि के अनुसार श्री पूज्यजी महाराजा एवं उपस्थित यति समुदाय ने आपको उत्तराधिकार प्रदान कर साभिषेक आरूढ़ एवं पदासीन किया। जैन यतिसमाज में भी विभिन्न आचार्यपीठों से सम्बन्धित अनेक पोठ हैं, जिनमें श्री पूज्य पीठ जयपुर से सम्बन्धित श्री गुरांसाहिब का पीठ माना गया है। इनके यहां भी अन्य सन्त महन्त तथा राजागुरुओं की भांति आचार्य पीठ के रिक्त होने पर सुयोग्य उत्तराधिकारी का अभिषेक उस रिक्त पीठ पर किया जाता है और उस अवसर पर अनेक प्रमुखजनों की समुपस्थिति मे एक विशाल समारोह मना कर इसकी पूर्ति की जाती है। चरित्रनायक का यह समारोह भी अन्य समारोहों की तुलना में कम नहीं था। राजस्थान के सभी जैन पीठाचार्यों ने इसमें पधार कर समारोह की शोभा बढ़ाई थी, साथ ही राजस्थान भर के अनेक गण्यमान्य श्रद्धालु श्रावकों, सेठ साहूकारों, राजा महाराजाओं ने भी इस पुनीत वेला में भाग लेकर श्री स्वर्गीय गुरांसाहिब तथा चरित्रनायक के प्रति अपनी अपनी

अनन्त श्रद्धा तथा अमित अनुराग व्यक्त किया । तब से आपको एक प्रधान जैनाचार्य का पद अलंकृत करने का अवसर मिला ।

कलाप्रियता

चरित्रनायक के सद्‌गुण-समूह में आपकी कलाप्रियता को भी एक अनूठा स्थान है । आपको अपने बचपन से ही प्रकृतिसौन्दर्य मे बड़ा आकर्षण अनुभव होता था, अतः श्री गुरांसाहिब की हवेली मे विविध प्राकृतिक दृश्यों को सजाया करते थे । श्री गुरांसाहिब के साथ जब तक आप श्री जोधपुर नरेश द्वारा प्रदत्त राजकीय प्रवास "श्री गणेश बाग" में रहे तो वहां और उसके बाद श्री गुराँसाहिब के निजी भवन में विविध प्रकार की साज-सज्जा तथा उद्यान आदि का कार्य चरित्रनायक स्वयं ही देखा करते थे । इसी समय में आपको फोटोग्राफी की ओर भी आकर्षण हुआ । वह उत्तरोत्तर अधिक विकसित हुआ और एक समय ऐसा शीघ्र ही आया कि चरित्रनायक जोधपुर में फोटोग्राफरों के भी आचार्य समझे जाने लगे और इस कला का कोई ऐसा उत्तमोत्तम देशी या विदेशी रासायनिक द्रव्य तथा कैमरा रील आदि उपकरण आदि नहीं थे जो आपके यहां उपलब्ध नही हो सकते थे । आपकी चित्रकारी इतनी आकर्षक तथा अनूठी थी कि अनेक गुणज्ञजन आपको विशेष आग्रह पर एतदर्थ आमन्त्रित कर अपने को कृतार्थ समझते थे । तत्कालीन जोधपुर राजघराने के तो आपके यहां अनेक ऐसे चित्र हैं कि जो आपकी ही अलौकिक कुंचिका से अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं । अपने शिष्य समुदाय की इच्छा पूर्ण करने के लिए चरित्रनायक ने एक दूकान भी फोटोग्राफी तथा रेडियो इन्जीनियरिंग वर्क्स की जोधपुर स्टेशन रोड पर लगाई, जो करीब चालीस वर्ष तक सफलतापूर्वक चलती रही ।

घड़ीसाजी और रेडियो इन्जीनियरिंग में भी चरित्रनायक को प्रवीणता प्राप्त हुई है । आपने ऐसे कई अवसरों पर अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है कि बाहर का कोई घड़ीसाज जिस घड़ी की मशीन को ठीक नहीं कर सका, सामान्य प्रयास से उसे आपने ठीक कर दी । इस समय भी आपके यहां कई प्रकार की विविध डिजाइनों वाली घड़ियें देखने को मिलेगी, जो आपके भवन के अनेक स्थानों की शोभा ही नहीं बढ़ा रही है, अपितु आपकी कलाप्रियता की गुप्तकथा दर्शकों के कर्णगोचर करती रहती हैं । कई वर्षों तक कई देशी विदेशी कम्पनियों की अलभ्य घड़ियों की एजेन्सी आपके यहां रही है, जिससे आपको इस कला का सर्वतोमुखी अनुभव है । रेडियो का सर्वप्रथम प्रवेश देश मे हुआ तो जोधपुर में चरित्रनायक ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने रेडियो मंगाया और उसकी इन्जिनियरिंग को बड़ी दक्षता से समझा । उस समय अनेक राजा महाराजा, सामन्त, सेठ साहूकार भी रेडियो की विचित्रता जानने के लिए चरित्रनायक से सम्बन्ध स्थापित कर परामर्श लिया करते थे । आपके द्वारा ही प्रायः जोधपुर के सभी प्रमुख रेडियो प्रेमियों ने रेड़ियो खरीदे ।

रेडियो सम्बन्धी किसी भी जानकारी तथा कठिनाई पर विजय प्राप्त करने के लिए जोधपुर में एक समय लोग आपसे ही परामर्श ग्रहण करते थे। विदेशी कम्पनियों की विश्वस्त एजेंसी भी राजस्थान भर के लिए आपके ही पास थी। आपने एतदर्थ एक गुणोपेत रेडियो विशेषज्ञ श्री S. K. Banerji बंगाली को रु. ३५०) मासिक पर रख छोड़ा था।

इन सब कला कौशलों की रुचि से चरित्रनायक को एक विशिष्ट मैकेनिक बनने का भी अवसर स्वतः प्राप्त हो गया। आपके व्यस्त चिकित्सकीय जीवन में भी अपनी रुचि के अनुसार चरित्रनायक प्रातः फोटोग्राफी, घड़ीसाजी, रेडियोइन्जीनियरिंग आदि कार्यों के लिए समय निकाल ही लेते थे और सुरुचिपूर्ण मनोनियोग से उक्त कलाओं में कुछ न कुछ अपना नवीन परिवर्तन तथा परिवर्धन करने में सफल हो जाते थे। यही हेतु था कि अनेक वर्कशोप के मिस्त्री लोग चरित्रनायक के सम्पर्क में आते और आपके कथनानुसार क्रिया-कलाप से परिवर्तनादि कर अपने को भी आश्चर्यचकित करने लगते। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण-स्वरूप आपके यहां लगे हुए प्रिन्टिंग प्रेस तथा फार्मेसी की मशीनरी में चरित्रनायक की मैकेनिक कुशलता का स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अतः इन सब में चरित्र-नायक की कलाप्रियता तथा कलानुराग का ही महत्व स्वीकार करना होगा। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का समन्वय किसी भी सामान्य पुरुष में उपलब्ध नही होता। जो भी व्यक्ति चरित्र-नायक के सम्पर्क में आया, उसने आपकी कलाप्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा ही नही की अपितु एक नवीन प्रेरणा लेकर जाने का यत्न किया है, जिससे वह अपने कार्य मे कुछ आवश्यक परिवर्तन या परिवर्धन करने का श्रेय प्राप्त कर सके।

संगीत में अनुराग तथा प्रवीणता

वैसे तो चरित्रनायक साहित्य और सङ्गीत व कलाविहीन पुरुष बिना सींग पूंछ का पशु होता है। इस सदुक्ति का प्रायः उच्चारण कर लोगों को मानव बनने का सदुपदेश देते रहते हैं। किन्तु इस सदुक्ति को अपने जीवन मे अक्षरशः अवतरित कर कथनी और करनी में एकरूपता लाने का परम प्रयत्न भी चरित्रनायक ने प्रत्यक्ष करके दिखाया है। श्री गुरांसाहिब के समय से ही अर्थात् अपनी बाल्यावस्था मे जो सङ्गीतज्ञ या नर्तक तथा वादक जोधपुर नरेश के दरबार में आते उन्हें चरित्रनायक बड़ी तन्मयता से सुनते और देख कर तल्लीन एवं मुग्ध हो जाते थे। उत्तरोत्तर आपकी यह रुचि अधिक प्रबल हुई तो श्री गुरांसाहिब की आज्ञानुसार आपने अपने यहाँ भी सङ्गीत आदि के अनेक कार्य-क्रमों को आयोजित करना प्रारम्भ किया जिनमे प्रायः नगर के तथा नवागन्तुक सभी प्रमुख सङ्गीतज्ञ, वादक, नर्तक भाग लेने लगे। चरित्रनायक को इससे शान्ति तथा सन्तोष का अनुभव होने लगा किन्तु अभीप्सित मनोरथ सिद्धि नहीं मिली, क्योंकि आप तो

केवल परम्पराओं में विश्वास न कर शास्त्र विधि में श्रद्धा रखने वाले थे। शास्त्रविहीन सङ्गीत को आज भी आप अरण्यरोदन मानते हैं।

अतः आपने भरतनाट्यम् शैली की छाया पर शास्त्रानुसार सङ्गीत का अभ्यास करने के लिए कर्णाटकीय शास्त्रीय संगीत के प्रमुख स्थल दक्षिण भारत से तौर्यत्रिक् प्रशिक्षण प्राप्त करने को एक संगीताचार्य श्री सुब्रह्मण्यम् महोदय को आहूत किया और उनसे दक्षिण भारतीय संगीत शास्त्र का उत्तर भारतीय संगीत शास्त्र से समन्वय करते हुए सांगोपांग अध्ययन एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास प्राप्त किया। संगीत शास्त्र पर आपके यहाँ अनेक ऐसी प्राचीन महत्वपूर्ण रचनाएं उपलब्ध हैं जो कि अप्राप्य प्रायः हो चुकी हैं व जिन्हें अनेक सगीताचार्य देखने को लालायित पाए जाते हैं। आप जब आधी व चौथाई मात्रा के लय में वादन करने का संकेत किसी नवागन्तुक वादक या संगीतज्ञ को देते हैं तो वे मूक रह जाते हैं और आपसे ही उसका सदुपदेश लेकर कृतकृत्य होते हैं। आपने अपनी इस रुचि को सुचारु रूप से पूर्ण करने के लिए कतिपय अन्य स्थानीय सगीतज्ञों, यथा श्री चुन्नीलालजी भगत आदि को अपने यहाँ प्रश्रय दिया और अनन्य सहयोग प्रदान कर स्थानीय संगीत मण्डलों को भी प्रोत्साहित किया। आपने कुछ श्लोक तालोत्पत्ति के विषय में संग्रह किए हैं जिनमे तौर्य-त्रिकोत्पत्ति की विचित्र कल्पना है। उनमें चतस्र जाति के तालों का निरूपण देव नृत्य जो चार-चार मात्रा के टुकड़ों से हुआ माना जाता है, उसके बोल 'तद्धि तुन्ना' बताते हुए किया है व तिस्र जाति के तालों का जन्म दैत्यों के नृत्य से उद्धृत बताते हुए उसके बोल 'डा डी डुं' बताए हैं। इन्ही दो ताल जातियों से 'मिश्र' 'खण्ड' एवं 'संकीर्ण' जाति के तालों का निर्माण सिद्ध किया है जो ताल शास्त्र मे हमारे चरित्रनायक की असाधारण गति का परिचायक है। रागों के विषय में भी आपका ऐतिहासिक ज्ञान श्लाघ्य है। आप शिष्यों को रागों का प्रादुर्भाव, शार्ङ्गदेवोक्त अष्टादश जाति के दस लक्षणों से बताते हुए जो जाति प्रसार प्रक्रिया समझाते हैं वह संगीत ससार में स्तुत्य माना जाता है। आप भरत के सात ग्राम रागों का उल्लेख करते हुए राग शब्द की उत्तम व्युत्पत्ति समझाते हैं। श्रुति, मूर्च्छना एव ग्राम और स्वरों के विषय में आपका उत्कृष्ट ज्ञान आपके पास आने वाले कई संगीतज्ञों ने अत्यन्त उपयोगी बताते हुए ग्रहण किया है।

संगीत की रुचि लेकर जो व्यक्ति या कलाकार आपकी सेवा में उपस्थित होता है तो उसे आपकी ओर से सब प्रकार की सुविधा प्रदान को जाती है।

संगीत के तृतीय विषय नृत्य पर भी आपका गहन अध्ययन है। आपका अनेक नृत्य मुद्राओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रशंसनीय है। एक बार राजस्थान के मुख्य मन्त्री स्वर्गीय श्री जयनारायणजी व्यास श्री आपके यहां एक आयोजन में पधारे तो अपने प्राचीन संस्मरणों के अनुसार नवीन परिवर्तित भवन में चरित्रनायक से वह स्थान जानने को उत्सुक हुए

जहां उन्हें चरित्रनायक ने एक सफल अभिनय की भूमिका के लिए तैयार किया था। श्री व्यासजी के अनुसार वह अभिनय रेल्वे क्लब की ओर से होने वाला था।

अखिल भारतवर्षीय संगीत कान्फरेंस जोधपुर के समय तत्कालीन जोधपुर नरेश श्री हनवंतसिहजी महाराज के आप पूर्ण परामर्शदाता के रूप में कार्य कर कान्फ्रेंस को सफल बनाने में अतिशय सहयोग देते रहे, जिससे उसकी बड़ी सफलता रही। इस प्रकार चरित्रनायक का संगीत में न केवल अतिशय अनुराग मात्र ही है अपितु आपको इस कला में पूर्ण प्रावीण्य प्राप्त है।

आयुर्वेद तथा संगीत का संबंध

प्राचीन आर्ष ग्रंथों में आयुर्वेद का मूलोद्देश्य दो भागों में विभक्त किया गया है। पहला स्वास्थ्य सुरक्षा और दूसरा आतुर चिकित्सा। स्वास्थ्य में आयुर्वेद ने न केवल शरीर मात्र को ही अभिमत किया है, अपितु आत्मेन्द्रियमन की प्रसन्नता को भी सम्मिलित किया है। अतएव अनागत बाधा प्रतिषेध के प्रकरण रसायन तथा वाजीकरणों के स्थान स्थान पर मनोज्ञ संगीत मनोहर संलाप तथा आवश्यक मनोरंजनकारी वाद्य नृत्यों का भी उल्लेख किया है, जिससे व्यक्ति का मनोमय ससार सदा स्वस्थ एवं प्रफुल्लित रहे और स्वस्थ मानस मण्डल से प्रभावित होकर शरीर तंत्र भी पूर्णतया स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे। वैद्य या चिकित्सक समाज का एक प्रमुख अंग होता है क्योंकि उसकी स्वास्थ्य सुरक्षा का सीधा उत्तरदायित्व उस पर होता है। इसलिए अब तथा प्राचीन काल में भी प्रशासन में वैद्य को समुचित स्थान दिया जाता था। उक्त मनोरञ्जनादि कार्यक्रमों को समझने के लिए कुशल चिकित्सक का संगीतज्ञ होना भी परमावश्यक है, जिससे कि वह समयानुसार उचित निर्देशन दे सके। चरित्रनायक जब प्राचीन राज्यसभाओं मे पधारते थे तो वहां समागत संगीतज्ञों के कार्यक्रम में भाग लेने पर आपने कितने संगीतज्ञो को विविध राग-रागनियों का नामोच्चारणपूर्वक निर्देश दिया है कि अमुक राग से श्री दरबार साहिब को अधिक प्रसन्नता होगी और प्रचुर पुरस्कारादि दिया जाएगा। जिज्ञासा करने पर प्रत्युत्तर में श्री चरित्रनायक ने उन उन संगीतज्ञों को स्पष्ट आयुर्वेदीय प्रमाणों से समझाया है कि अमुक अमुक राग रागनियों का अमुक अमुक समय में व्यक्ति पर इस प्रकार प्रभाव होता है। संगीत शास्त्र के ग्रथों मे भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि सगीत स्वस्थ व्यक्ति को प्रसन्न रखता ही है किंतु आतुरेक रोग प्रशमन मे भी पूर्ण सहायता करता है। क्षय, पांडु, श्वास, कास आदि अनेक व्याधियों में सगीत का अद्भुत प्रभाव देखा गया है और चरित्रनायक ने भी कुछ व्यक्तियों को इसका प्रयोग करवाया है। आपके यहां एक उस्ताद कई वर्षों तक रहे, उन्हे श्वास का आक्रमण होता था। आपने उन्हे बताया कि अमुक राग के अतिरिक्त ही आप गाया करें जिससे आपको इस रोग से मुक्ति मिल जायगी। जिज्ञासा

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु श्रावक

श्रेष्ठीवर्य श्री मनसुखदासजी पारख (तिवरी वाले) बम्बई

चरित्रनायक के सुहृद्वर

तत्कालीन स्वास्थ्य विभाग के डाइरेक्टर जनरल डॉक्टर

R. Charles Mac-Watt

M. B. B. S. F. R C. P. F. R C S

Major General I M S (Retiered),

करने पर आपने फ़रमाया कि इस राग से वात दोष की वृद्धि होकर प्राण वह स्रोत विकृत होने से श्वास होता है अतः इसके छोड़ने से श्वास शांत हो जावेगा। यह सब आयुर्वेद तथा संगीत शास्त्र के प्रमाणानुसार है। अतः स्पष्ट है कि आयुर्वेद तथा संगीत का अटूट सम्बन्ध है।

नाड़ी विज्ञान तथा संगीत

चरित्रनायक प्रायः संगीत शास्त्र की एक सदुक्ति अपने सम्पर्क में आने वाले चिकित्सक तथा शिष्य समुदाय को सुनाया करते हैं कि जैसे वीणा के तार अपनी स्वर-लहरी के भेद से विभिन्न राग रागनियों के व्यक्त करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही हस्तगत जीवसाक्षिणी नाड़ी भी अपनी गति के अनुसार सभी रोगों को स्पष्ट प्रकट करती है। किंतु इन सब के लिए चाहिए किसी सच्चे गुरु का संकेत तथा स्वयं की परम साधना। नाड़ी गति का मर्मज्ञ वह चिकित्सक अधिक सफलतापूर्वक हो सकता है, जिसे संगीत स्वरलहरी का आवश्यक ज्ञान है, क्योंकि जैसे ही किसी रागरागिनी को स्वरध्वनि सुनते ही चिकित्सक का मानस संबधित रागरागिनी का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है तो उसी साधना के अनुसार हस्तगत नाड़ी की गति से भी चिकित्सक का मस्तिष्क रोग ज्ञान के निर्णय मे समर्थ हो जाता है।

पहले प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है कि सङ्गीत से व्यक्ति प्रभावित होता है उसका भी प्रत्यक्षीकरण नाड़ी विज्ञान से होता है, क्योंकि जो भी प्रभाव जीवित शास्त्र पर होता है, उसकी साक्षी नाड़ी से होती है। जब विवाद या रुग्णावस्था से आतुर हर्ष या स्वास्थ्य की ओर अग्रसर होगा तो नाड़ी गति में आवश्यक परिवर्तन आयेगा। चरित्रनायक ने कई बार सङ्गीत से मन प्रसार होने पर नाड़ीपरीक्षण का अभ्यास अपने शिष्य मंडल को करवाया तो स्पष्ट इसकी अनुभूति उन्हें मिली है कि नाड़ीपूर्वापेक्षा सरल, मृदु और अधिक प्रसन्न प्रतीत हुई। इससे ज्ञात होता है कि नाड़ी विज्ञान और सङ्गीत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और एक कुशल नाड़ी विज्ञानवेत्ता को सङ्गीत में रुचि लेकर अवश्य अभ्यास करना चाहिए। चरित्रनायक उत्साही व्यक्तियों को इसका अभ्यास कराने के लिये सदा सन्नद्ध रहते हैं।

चिकित्सा कौशल का प्रसार

श्री गुरांसाहिब के सान्निध्य में ही हमारे चरित्रनायक ने चिकित्सा कार्य प्रारम्भ कर दिया था और उत्तरोत्तर अपने इस पुनीत कार्य को पूर्ण व्यापक रूप से अग्रसर किया। जनसेवा का विमल मानस तो आपको प्रकृति से प्राप्त था, फिर आर्तजनों मे कारुण्य, मैत्री तथा निःस्वार्थ प्रीति आदि चतुर्विधि वैद्यवृति से आप कैसे दूर रह सकते थे। १९०९ ई० मे जब पूरी मरुभू को महामारी ने आक्रान्त कर लिया तो श्री गुरासाहिब की आज्ञानुसार

चरित्रनायक राजकीय चिकित्सकदल के साथ रुग्ण जनता की सेवा में लग गये। प्रति दिन करीब हजारों की संख्या में लोग आपकी सेवा में आरोग्य लाभ प्राप्त करने लगे और आपकी चिकित्साचातुरी से प्रभावित हुए। तत्कालीन जोधपुर राज्य के प्रधान स्वास्थ्याधिकारियों ने भी आपकी सेवाओं की भूरि भूरि प्रशंसा की, जिसके प्रमाणपत्र इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मुद्रित किये गये हैं।

तत्कालीन जोधपुर राज परिवार से तो चरित्रनायक का राजवैद्य के रूप में घनिष्ट सम्बन्ध सम्पर्क था ही, साथ ही पारिवारिक शृंखलाओं के अनुसार चरित्रनायक की चिकित्सकीय ख्याति का प्रचार प्रसार अधिक बढ़ने पर अन्य राजा महाराजा, सेठ, साहूकार तथा सामान्य नागरिकों ने भी आपकी चिकित्सा का लाभ मिलने का सुअवसर प्राप्त किया। इस प्रसङ्ग में आप बूंदी, किशनगढ़, जैसलमेर, जयपुर, रीवां, दांता आदि अनेक राजघरानों में चिकित्सार्थ पधारने लगे और उन्हें अपनी चिकित्सा चातुरी से प्रभावित किया। कई बार आप बम्बई,अहमदाबाद,बड़ोदा,मद्रास,दिल्ली,पूना,लखनऊ आदि नगरों में अनेक सम्भ्रान्त नागरिकों को चिकित्सा के लिए पधारे और उन्हें अपनी पीयूषपाणिता से आरोग्य लाभ पहुचाया। इसी प्रसङ्ग में चरित्रनायक ने जोधपुर राज्यकाल के अनेक राजपुरुषों की चिकित्सा तो की ही, साथ ही राजस्थान राज्य के गठन के बाद राजस्थान हाईकोर्ट के चीफजस्टिस श्री वांचू की धर्मपत्नी तथा राजस्थान के राज्यपाल डा. सपूर्णानन्द का निदान आदि ने भी कतिपय मंत्री मण्डल के सदस्यों सहित आपकी चिकित्सा सेवाओं का लाभ प्राप्त किया है। आपकी इस चिकित्सकीय ख्याति का प्रभाव स्थानीय जनता पर भी होना स्वाभाविक था, अतः धीरे धीरे यह जनमानस बनने लगा कि यदि कोई रोगी अन्य सहयोगी चिकित्सकों से प्रायः असाध्य समझ लिया गया है तो लोग स्वतः यह कहते सुने जाने लगे कि इसे तो श्री चाणोदगुरांसा की सेवा में पहुँचाया जाय और यदि वे चिकित्सा करना स्वीकार कर लेते हैं तो अवश्य स्वस्थ हो जायगा। वास्तव में यह कथन सत्य ही सिद्ध हुआ है और चरित्रनायक द्वारा जिन कष्टसाध्य आतुरों को आरोग्य लाभ मिला उनमें से कुछ का एक नाटकीय ढंग का विवरण अगली पक्तियों में दिया जाता है, जिससे पाठकों को विश्वास हो जायगा कि चरित्रनायक ने किस प्रकार चिकित्सकीय दायित्व का निर्वाह करते हुए अपन चिकित्सा कौशल का प्रसार किया है।

दुश्चिकित्स्य आतुरों की आदर्श चिकित्सा

एक बार स्वयं स्व० श्री उम्मेदसिहजी महाराज जोधपुर को दक्षिण कफोणी संधि में अस्थि वृद्धि वेदना अनुभव होकर गतिशैथिल्य अनुभव होने लगा। तत्काल आवश्यक उपचारार्थ राज्य के तत्कालीन प्रमुख स्वास्थ्याधिकारी पी० एम० ओ० महोदय श्री हेवर्ड साहब को बुलाया गया तो पूर्ण परीक्षण के बाद श्री डाक्टर साहब ने कहा कि किसी

विदेशी सर्जन की सहायता से इसका शल्योपचार करने पर ही ठीक होगा और इसकी चिकित्सा भारत में होना सर्वथा असंभव है। पीड़ित तथा व्यथित नरेश ने एक निराशा की उच्छ्वास के बाद सब घटना अपनी महारानी साहिबा को बताई और कुछ समय बाद विदेश में उपचारार्थ जाने का निर्णय किया जाने लगा। श्री महारानी साहिबा ने आग्रह-पूर्वक निवेदन किया कि विदेश को प्रस्थान करने के समय तक यदि श्री चाणोद गुरांसाहब से भी परामर्श कर लें तो क्या आपत्ति है। वे भी अपने यहां की एक मान्य विभूति हैं और राज परिवार के निजी चिकित्सक भी हैं। श्री दरबार साहिब ने तो सहज नारी स्वभाव की अपरिपक्वता पर उपहास करते हुए इसलिए चरित्रनायक को बुलाने का कष्ट नहीं किया कि एक शल्य साध्य व्याधि में आपका क्या उपयोग होगा और श्री महाराणी साहिबा ने शल्योपचार की भीति से अपनी सौभाग्याकांक्षा में तत्काल चरित्रनायक को राज प्रासाद में आमन्त्रित किया और सब स्थिति से अवगत किया। चरित्रनायक ने आयुर्वेद शास्त्र की चमत्कृति का सुअवसर समझ कर श्री दरबार साहिब का यथाशास्त्र रोग निर्णय कर केवल पन्द्रह दिन उपचार से स्वस्थ हो जाने का पूर्ण सुदृढ़ विश्वास दिला दिया। फलतः चिकित्सा आरम्भ हुई और केवल दश दिन मे श्री दरबार साहिब एक अच्छे पोलो खिलाड़ी होने के कारण पोलो क्रीड़ा तथा शिकार मे तत्परता से खेलने लगे। इस अद्भुत लाभ पर उन्हें बड़ा आश्चर्य ही नही हुआ किंतु आयुर्वेद विज्ञान के प्रति एक अगाध श्रद्धा जागृत हो गई। श्री दरबार साहिब ने प्रधान स्वास्थ्याधिकारी श्री हेवर्ड साहिब को बुला कर अपना हाथ फिर दिखाया और कहा कि अब कितने समय के लिए विदेश चलना है? श्री डॉक्टर सारी स्थिति का सम्यक्तया परीक्षण कर विस्मित हो गए और सहसा पूछने लगे कि कैसे ठीक हो गया? प्रत्युत्तर में जब श्री दरबार साहिब ने चरित्रनायक का उपचार संबधी सवाद सुनाया तो उसी दिन से श्री डाक्टर हेवर्ड साहब आपके अनन्य मित्र तथा भक्त बन गए। और श्री दरबार साहब ने चरित्रनायक को इस विज्ञान के बहुमुखी विकास के लिए एक विशाल योजना बना कर प्रस्तुत करने का फरमाया जिससे इसका जीर्णोद्धार हो सके।

उक्त डाक्टर श्री हेवर्ड के काल में ही उनके सहयोगी डॉ० श्री गोवर्धनजी जोशी जो राजकीय मेडिकल सेवाओं में थे उन्हें एक व्याधि सांकर्य हो गया और चिरकाल तक ऐलोपैथी चिकित्सा के उपचार से कोई लाभ नही हुआ एक दिन मेडिकल परिषद के निर्णय के बाद डॉ० हेवर्ड ने निर्णय लिया कि उक्त डाक्टर साहिब का आपरेशन किया जाय। स्वयं डाक्टर भी इससे सहमत नही थे, अतः किसी प्रकार रात्रि में वहां से मुक्त होकर अपने घर लौट आया और चरित्रनायक को उपचार के लिए बुलाया। आतुर को ज्वर तो निरन्तर था ही साथ ही साथ मूत्र का तीन चौथाई भाग प्रायः पूयमय होता था। आपने अपने रोग निर्णय के बाद श्री डाक्टर साहिब को स्वस्थ होने का कह दिया और उपचार आरम्भ

किया गया। एक मेडिकलमेन होने के कारण अनेक सहयोगी डाक्टर लोग भी इस उपचार में साक्षी पूर्वक देखते थे और चरित्रनायक ने बिना ही किसी शल्योपचार के डाक्टर को पूर्ण स्वस्थ कर दिया। इससे डाक्टर समाज में भी आयुर्वेद की चिकित्सा के प्रति रुचि तथा श्रद्धा जाग्रत हुई।

तत्कालीन जोधपुर राज्य के मन्त्री मण्डल के प्रमुख सदस्य ठाकुर साहिब श्री माधोसिंहजी साहिब की धर्मपत्नी श्रीमती ठाकुराणीजी साहिबा भी सुषुम्ना काण्ड अस्थि क्षय व्याधि से पीड़ित हो गई जिससे डाक्टर वर्ग ने उन्हे मासो प्लास्टर करके सीधे ही लेटाए रखा। फलतः ठाकुराणीजी साहिबा को लाभ की अपेक्षा उत्तरोत्तर स्वास्थ्य की हानि ही हुई और विवश होकर डाक्टरों के मायाजाल से मुक्त हो चरित्रनायक की सेवा में चिकित्सार्थ उपस्थित हुए। आपने अपनी पद्धति से रोग निर्णय के बाद जो उपचार किया उससे श्री ठाकुराणीजी साहिबा को आश्चर्यजनक लाभ हुआ जब कि डाक्टर साहिबानों का कथन था कि रुग्णा को अब किसी प्रकार स्थायी लाभ होने की सम्भावना नही है और ऐसा ही रहना पड़ेगा। किन्तु चरित्रनायक ने अपनी आयुर्वेदीय साधना से इसके विपरीत कर दिखाया। रुग्णा और रुग्णा के अभिभावक ठाकुर साहिब माधोसिंहजी, स्वर्गवास आजीवन आपके भक्त बन गए।

इसी प्रकार भूतपूर्व जोधपुर राज्य के सम्मान्य सामन्त तथा वर्तमान राज्य सभा के सदस्य श्री लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर के सुपुत्र श्री शान्ति कुमारजी भी एक बार एक कष्टसाध्य व्याधि से आक्रान्त हो गए और अन्यान्य अनेक अर्वाचीन तथा प्राचीन चिकित्सकों व वायुयान से समागत बीकानेर के जर्मन डाक्टर की चिकित्सा से सर्वथा निराशा का ही वातावरण रहा तो चरित्रनायक को अपने ग्राम खीमेल जहां वे किसी कार्य-वश पधारे थे, तात्कालिक विशेष आमंत्रण से बुला कर समस्त घटनाचक्र से परिचित कराया। आपने विधिवत् रोग निर्णय कर सब को पूर्णतया आश्वस्त करते हुए चिकित्सा प्रारम्भ की तो उत्तरोत्तर आतुर को आरोग्यलाभ होने लगा और कुछ ही समय में पूर्ण स्वस्थ हो गए। तब से आतुर प्रायः आपके ही चिकित्सकीय परामर्श में रहता है और समस्त परिवार आपका अनन्य श्रद्धालु है।

जोधपुर के ही एक प्रख्यात व्यवसायी तथा उद्योगपति श्री गणेशीलाल एण्ड सन्स के प्रमुख भागीदार श्री चांदमल अग्रवाल को एक बार तीव्र उदरशूल हुआ और अर्वाचीन चिकित्सकों के निर्णयानुसार तत्काल 'एपण्डिसाइटिस' बता कर शल्योपचार करने का निर्णय हुआ। आतुर को चरित्रनायक में अगाध श्रद्धा होने से आपको भी बुला कर परामर्श लिया तो आपने स्पष्ट कह दिया कि यदि आप शल्योपचार के लिए पधारे तो मेरी मनाई नहीं है अन्यथा न तो शल्योपचार की आवश्यकता है और न कोई भयकर व्याधि ही है। बिना

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु भक्त

स्वर्गीय श्रेष्ठीवर्य शाह श्री गोवर्धनलालजी काबरा

श्री उदयाभिनन्दनग्रन्थ समिति के आदिम अध्यक्ष जो अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन जोधपुर अधिवेशनकाल में स्वागत समिति के प्रधानमंत्री भी थे ।

चरित्रनायक के श्रद्धालु श्रावक

श्रेष्ठीवर्य श्री माणकलालजी बालिया बी. ए. जोधपुर

ही शल्योपचार के सामान्य भेषजोपचार से आपको आरोग्य लाभ हो जायगा अब जैसा भी उचित समझें करें। इससे अधिक आतुर को क्या चाहिए ? तत्काल आपकी चिकित्सा प्रारम्भ की और पूर्ण स्वस्थ हो गए। वे अब तक भी इस व्याधि से पीड़ित नहीं हुए हैं और सर्वतया स्वस्थ हैं।

राधनपुर निवासी सेठ मणिलाल वकीरदास के सन् १९२६ ई० में गलार्बुद (कैंसर) हो गया था। इस महाव्याधि से मुक्त होने के लिये उन्होंने लगभग ढ़ाईलाख रुपया एलोपैथिक, आयुर्वेदिक, व यूनानी उपचारों में व्यय किया किन्तु किंचित्मात्र भी लाभ दृष्टिगोचर न हुआ व डाक्टरों के निर्देशानुसार चिकित्सार्थ विदेश जाने का निर्णय लिया गया क्योंकि भारत में इस रोग के लिए एलोपैथिक कोई संस्थान उस समय नहीं था। आपके भक्तों ने उन्हें प्रसङ्गवश कुछ दिन धैर्यपूर्वक चरित्रनायक की औषध सेवन का सत्परामर्श दिया। इसे समादृत करते हुए चरित्रनायक को बंबई आमन्त्रित किया गया जहां उन्होंने रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करदी व थोड़े ही समय में रोगी रोगमुक्त हो गये। ऐसी विचक्षण चिकित्सा की, बंबई के प्रमुख डॉक्टरों सर्वश्री देशमुख व मेयर आदि ने, मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

सन् १९५८ ई० में बाईस सम्प्रदाय के वयोवृद्ध स्वामीजी श्री अमरचन्द जी महाराज अर्बुदरोग ग्रस्त हो गये। भोजन करते समय हिचकियां आने लगी व भोजन निगलने में रुकावट प्रतीत होने लगी। दिल्ली के डॉक्टर सेन आदि द्वारा एलोपैथिक उपचार कराये गये किन्तु कोई लाभ न हुआ और अशक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई व साधारण चलना फिरना भी कष्टप्रद हो गया। ऐसी घोर अवस्था में वर्तमान में अवकाशप्राप्त न्यायमूर्ति माननीय श्री इन्द्रनाथ जी मोदी अपने पास प्राप्त हुए महाराजा श्री के रोग विवरण का पत्र लेकर चरित्रनायक की सेवा में पधारे। गंभीरतापूर्वक उस विवरण को सुन कर चरित्रनायक ने "गलार्बुद" रोग निश्चय किया एवं एक सप्ताह की औषधि महाराजश्री के लिये उन्हें प्रदान करदी। जब तक माननीय मोदीजी द्वारा भेजा गया उत्तर व औषधि दिल्ली पहुंचे तब तक डॉक्टरों ने भी 'क्ष' किरण द्वारा परीक्षण के पश्चात् "गले का कैंसर रोग" ही निश्चित किया व शल्य चिकित्सा व डीपथिरेपी करवाने व गले में कृत्रिम नली लगाकर उसके द्वारा भोजन देह में पहुंचाने की सलाह दे दी। श्रद्धावान् भक्तों ने व महाराज श्री स्वयं ने यह सब होते हुए भी चरित्रनायक द्वारा प्रेषित औषधि लेने का निर्णय किया। एक सप्ताह के भीतर ही लाभ दृष्टिगोचर होने लगा तो महाराज श्री ने इच्छा प्रकट की कि एक बार उन्हें चरित्रनायक स्वयं पधार कर देखलें व ३-४ दिन यहीं विराजें व औषधि दें तो अधिक उत्तम रहे। महाराजा श्री के भक्तवर सर्व श्री सरदारनाथजी मोदी एडवोकेट एवं विजयराज जी कांकरिया बड़लू वालों के साथ चरित्रनायक दिल्ली पधारे व शास्त्रीय विधि से रोगी व रोग की परीक्षा की। उसी समय दिल्ली के प्रसिद्ध डाक्टरों का एक बोर्ड भी

बुलाया गया जिन्होंने कृत्रिम नलिका से भोजन पहुंचाने पर जोर दिया। चरित्रनायक उनसे असहमत रहे व आयुर्वेदीय चिकित्सा से ही उन्हें पूर्ण स्वस्थ कर देने को आश्वस्त किया। समुपस्थित डॉक्टर ताराचन्द व श्री सेन आदि ने जोर देते हुए पुनः कहा कि बिना कृत्रिम नली लगाये कोई लाभ संभव नही है तो चरित्रनायक ने उनसे प्रश्न किया कि क्या आप नलिका लगाने के बाद इन्हें जीवित रखने व पूर्ण स्वस्थ कर देने की गारंटी ले सकते हैं तो उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा कि यह नहीं कह सकते। निदान चरित्रनायक द्वारा चिकित्सा प्रारंभ की गई व थोड़े ही दिनों में वे महाराजा श्री पूर्ण स्वस्थ हो गये व पैदल यात्रा करते हुए अलवर होते हुए जयपुर पधार गये।

यह तो केवल पाठकों को जानकारी के लिए केवल सामान्य दिग्दर्शन मात्र ही है अन्यथा ऐसी अनेक घटनायें जोधपुर के नागरिकों के मुख से यत्र तत्र सर्वत्र नगर में पहुँचने पर चरित्रनायक के चिकित्सा कौशल के संबंध में सुनने को आज भी उपलब्ध होती हैं। आपकी इस चिकित्सा चातुरी का ही प्रभाव है कि आज करीब ९० वर्ष की इस वृद्धावस्था मे भी लोग आपसे परामर्श करने ही नहीं चिकित्सकीय लाभ प्राप्त करने भी दूर दूर से आते हैं और सब कठिनाइयों को पार करके भी आपके विशाल अनुभव का लाभ उठाते हैं अर्वाचीन चिकित्सकों से परित्यक्त रोगियों की संख्या आपकी चिकित्सा में रोगियो मे अधिक होती है और उसमें प्रायः सफलता रहती है।

राजकीय सम्मान

वैसे तो चरित्रनायक के पूर्वजों को जो शाही सम्मान प्राप्त था उनका उल्लेख इन्ही पंक्तियों में यत्र तत्र पहले 'फरमान' तथा 'सनद' के उद्धरणों में हो गया है और आपके गुरुदेव स्वर्गीय पण्डित उम्मेददत्तजी महाराज के सम्मान से भी स्पष्ट हो जाता है किन्तु फिर भी जो सम्मान हमारे चरित्रनायक को अपनी सेवाओं से निजी तौर पर राज्य द्वारा प्राप्त हुआ उसका भी पाठकों को परिचय मिलना आवश्यक है।

चरित्रनायक को पीयूष-पाणिता की ख्याति जब दिग्दिगन्त में फैल रही थी तो रेल्वे कर्मचारी भी इस ओर आकर्षित हुए और आपकी चिकित्सा-चातुरी से लाभ उठाने लगे। किन्तु चिकित्सा तथा चिकित्सक के बीच ऐसा गाढ बन्धन होने पर भी सरकार द्वारा ऐसी कोई व्यवस्था नही थी कि रेल्वे विभाग के आतुरों को यथास्थान आयुर्वेदीय चिकित्सा-लाभ पहुँचाया जाय। रेल्वे कर्मचारियों की मांग तथा आपका चिकित्सा-वैभव देख भूतपूर्व जोधपुर राज्य के प्रशासक ने सर्वप्रथम चरित्रनायक को ही रेलवे विभाग में आयुर्वेदीय चिकित्सक बनाने का सम्मान दिया। वहां आपको अन्य आवश्यक यातायात आदि की भी सर्वविध सुविधाए सुलभ की गई। इसके प्रमाण में राज्य का आदेश इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मुद्रित है।

आपकी निःशुल्क चिकित्सकीय सेवाओं से प्रभावित हो मारवाड़ की समस्त जनता

ने राज्य सरकार से प्रार्थना की कि आपको इस पुनीत कार्य में अधिकाधिक सुविधा प्रदान की जाय। जोधपुर राज्य प्रशासन ने इस पर आपको सभी प्रकार के करों से मुक्त करने का आदेश प्रसारित कर चरित्रनायक का सम्मान किया।

भूतपूर्व जोधपुर-नरेश स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजी साहिब की सफल चिकित्सा के पश्चात् जोधपुर राज्य में आपको "पालकी सिरोपाव" तथा पैर में सोना पहिनने का सम्मान दिया गया जो तत्कालीन परम्पराओं के अनुसार कभी किसी व्यक्ति को परम विशिष्टतम सेवाओं के स्वरूप मे ही दिया जाता था।

इसी प्रसंग में आपको राज्य सरकार द्वारा राज-पत्र में घोषणापूर्वक विधिवत् 'राजवैद्य' बनाने का शाही सम्मान दिया गया और पूरे मारवाड़ राज्य में सर्वप्रथम आयुर्वेदीय चिकित्सक के रूप मे चरित्रनायक को ही रोगातुर प्रमाण-पत्र देने का अधिकार प्रदान कर आपकी सेवाओं का मूल्यांकन जोधपुर राज्य द्वारा किया गया। न्यायालयों में उपस्थिति की माफी भी दी गई। इसके अतिरिक्त आपको उक्त नृपवर ने अपना निजी व राज्य परिवार का चिकित्सक नियुक्त कर दिया।

जोधपुर में सम्पन्न निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महा सम्मेलन के लिए चरित्रनायक के आग्रह पर ही जोधपुर-नरेश स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजी साहिब ने संरक्षक बन कर आद्योपांत सम्मेलन मञ्च पर विराजने की महती अनुकम्पा की और चरित्रनायक की तत्कालीन सेवाओ से प्रभावित हो राज्य में आपको "पालकी सिरोपाव" से अलंकृत किया और एक विशाल जागीर देने का निर्णय भी लिया गया किन्तु चरित्रनायक स्वयं ने इस बन्धन में आना उचित नही समझा।

जोधपुर-नरेश स्वर्गीय श्री हनवन्तसिंहजी ने भी आपको समय-समय पर मान दिया। उनके दो पुत्रियों के जन्मोत्तर जब वर्तमान महाराज श्री गजसिंहजी का जन्म हुआ तो उस अवसर पर आपको एक नई कार "पोइंटिक' भेंट की।

भूतपूर्व जोधपुर राज्य के लोकप्रिय मन्त्रि मण्डल ने भी अपना कार्य ग्रहण करते ही राज्य के आयुर्वेद विभाग को अधिक सक्रिय करने का निर्णय लिया तो तत्कालान स्वास्थ्य मन्त्री श्री मथुरादासजी माथुर ने आपके औषध निर्माणपाटव पर मुग्ध होकर जोधपुर राज्य की आयुर्वेदिक फार्मेसी का नियन्त्रणाधिकारी के रूप में आपकी सेवायें ग्रहण कर सम्मानित किया।

राजस्थान राज्य के शास्त्री मन्त्रि मण्डल में रावराजा हणवन्तसिंहजी स्वास्थ्य मन्त्री राजस्थान की अध्यक्षता में जो आयुर्वेद मण्डल राज्य में आयुर्वेदीय सेवाओं के प्रचार प्रसार के लिए बना उसके चरित्रनायक को सम्मानित सदस्य बनाया गया। इनके बाद

राज्य में 'राजस्थान आयुर्वेद मन्डल' की सर्व प्रथम घोषणा की गई तो उसका अध्यक्ष पद, हमारे चरित्रनायक को ही प्रदान कर राजस्थान राज्य ने अपनी गुणग्राहकता का परिचय देते हुए आपको सम्मानित किया। इस प्रकार चरित्रनायक को समय समय पर आपकी सेवाओं तथा विपुल ज्ञान राशि से प्रभावित हो, सभी प्रशासन ने आपको यथोचित सम्मान प्रदान किया।

राष्ट्रीय सेवा तथा सर्वप्रियता

चरित्रनायक ने सदा अपने आचरण को चिकित्सकीय आचार संहिता के विमल आदर्शो पर निर्भर रखने में जागरूकता रखी हैं। कभी किसी को आपके आचरण तथा व्यवहार से किसी भी प्रकार का क्षोभ हुआ हो, इसका उदाहरण नहीं मिलता। जो व्यक्ति आपसे मिला आपका ही हो गया क्योंकि सब धर्मो में तटस्थ वृत्ति तथा पराराधन पाण्डित्य आदि चिकित्सकीय आचार संहिता के नियमों का चरित्रनायक ने अक्षरशः अनुपालन किया है। यही कारण है कि चरित्रनायक के यहां सर्वदल सम्मेलन देखने का अवसर सुलभ होता है और जिस पञ्चशील का आविष्कार नवीन रूप से स्वीकार किया जा रहा है उसीका स्वरूप चरित्रनायक के जीवन में देखने को मिल सकता है। आपमें सर्व धर्म सहिष्णुता का एक अद्भुत गुण है कि सभी दल आपको एक भाव से देख कर आपके प्रति श्रद्धा रखते हैं। ऐसी सार्वभौम लोकप्रियता का उदाहरण बिरले ही स्थानों पर देखने को मिलेगा।

फिर भी चरित्रनायक के समक्ष राष्ट्र सेवा तथा देश प्रेम का कम महत्व नहीं है। आप अपने प्रारम्भिक जीवन से ही राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों के सम्पर्क में रहे हैं, किन्तु आपने सदा उनसे यही निवेदन किया कि हमारी राष्ट्र सेवा का माध्यम भी हमारा पुनीत कार्य चिकित्सा से ही होगी। इससे जो कोई भी सेवा राष्ट्र को आवश्यक होगी हम सदा ही तन, मन, धन से तत्पर हैं। जोधपुर राज्य की एक मात्र राजनैतिक संस्था मारवाड़ लोक परिषद की विभिन्न प्रवृत्तियों में जब तत्कालीन लोकनायकों को राजनैतिक कारावास दिया गया तो लोकनायकों ने वहां आयुर्वेदीय चिकित्सा के लिए चरित्रनायक को ही राज्य सरकार द्वारा आयुर्वेदीय चिकित्सक के रूप मे भेजने का आग्रह किया। फलस्वरूप आप भूतपूर्व जोधपुर राज्य द्वारा राजनैतिक बंदियों के लिए आयुर्वेदिक चिकित्सक नियुक्त किए गए और उन्हें अपनी सेवाओं से सन्तुष्ट किया।

एक बार बम्बई प्रवास में चरित्रनायक ने स्वर्गीय महात्मा गांधी से भी भेंट की और मारवाड़ की राजनैतिक जागृति से परिचित कराया। श्री महात्मा गांधी आपकी विचार सरणी से अत्यन्त प्रभावित हुए और जैन यति समाज के एक धुरीण होने के कारण इस सम्बन्ध में भी आपसे महात्माजी ने लम्बी चर्चा की, क्योंकि स्वयं महात्मा गांधी की कुल

परम्परा जैन यति समाज से पूर्णतया सम्बन्धित थी। अतः चरित्रनायक की जितनी देर उनसे बातचीत हुई महात्माजी आपको गुजराती भाषा के सुमधुर शब्द "गोरजी" उर्फ गुरांसा से ही सबोधित करते रहे ।

इस प्रकार चरित्रनायक राज्य तथा प्रजा प्रेम के एक साथ सम्मिश्रण की एक अद्भुत झलक है, एवं आपकी इस विचक्षणता से आप सबको आकर्षित करते रहते हैं ।

सार्वजनिक सम्मानपात्रता

आपके इस अद्भुत वैचक्षण्य से प्रभावित होकर जब भूतपूर्व जोधपुर राज्य ने आपका पर्याप्त शाही सम्मान किया तो स्थानीय जनमानस में भी आपके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने की भावना जागृत हो उठी। और समस्त आबालवृद्ध जनसमूह ने मिल कर निर्णय किया कि चरित्रनायक का विशाल सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाय।

उक्त निर्णयों को क्रियान्विति देने के लिए गठित विभिन्न समितियों ने जब अपने समस्त क्रियाकलापों को पूर्ण कर लिया तो नगर के विशाल प्रांगण में एक विशाल जनसमूह ने चरित्रनायक को अपनी सम्मान सुमनाञ्जलि भेंट करने को एकत्रित हो गई : इसमें कोई ऐसा व्यक्ति नही था, जो चरित्रनायक के लिए श्रद्धावनत न हो। सभी एक स्वर से चरित्र-नायक की विभिन्न गुणावलि पर चर्चा करने में लीन थे। सम्मानार्थ सजाये गये विशाल मंच पर जब चरित्रनायक तथा विशेष अतिथि और अध्यक्ष पधारे तो जनसमूह का हृदय आनन्दविभोर हो उठा और सभी उस क्षण की प्रतीक्षा में लग गये कि उनके मानस सम्राट चरित्रनायक को उनकी पुंजीभूत श्रद्धा का वह रजतमय कवच कब भेंट किया जायगा कि जो उनकी अनन्त श्रद्धा का वह रजतमय कवच कब भेंट किया जायगा कि जो उनकी अनन्त श्रद्धा का चरित्रनायक के लिए चिरपरिचायक होगा।

अन्त में सभी औपचारिकताओं के बाद चरित्रनायक को इस विशाल जनसमूह के समक्ष करीब ५०० तोले की चांदी के कास्किट में रख कर सार्वजनिक श्रद्धा का अभिनन्दन पत्र समर्पित किया गया, जिसमें सभी उपस्थित जनता जनार्दन भावोद्रेक में गद्गद हो गये और अपनी मूक मुद्रा को भंग कर चरित्रनायक के जयजयकारों से वायुमण्डल को गुंजरित कर दिया। इस प्रकार की सार्वजनिक सम्मानपात्रता चरित्रनायक की अपनी एक अनूठी विशेषता है, जो प्रायः सबको प्रभावित करती रहती है ।

सदाचार तथा सदाशय की प्रतिमूर्ति

चरित्रनायक आयुर्वेदीय सदाचार सेवन से न केवल अपने से परामर्श लेने वाले व्यक्तियों को ही अपने सदुपदेश से स्वस्थ रखने का श्रेय ग्रहण करते हैं अपितु आप स्वयं भी सदाचार ही नहीं सदाशय की भी प्रतिमूर्ति हैं। आपकी समस्त चर्या सदाचार से ओत-

प्रोत रहती है। अहर्निश आपका ध्यान इसी ओर लगा रहता है कि किस प्रकार किसी भी आर्त की कोई सेवा हो जाय तो वही मेरी कर्त्तव्यपूर्ति है। आपका सस्मितवदन, स्वच्छ धवलवेष जैसा ही निर्मल हृदय और सरल गौराङ्गयष्टि किसके लिए मनमोहक नही हो सकती। आपकी अपनी विशुद्धान्त:करणता के कारण आपने, जो भी व्यक्ति आपके सम्पर्क में आया, आपने सहज सद्भावनापूर्ण विचारों से, उसी में पूर्ण विश्वास कर लेते हैं। यदि उसने किसी प्रकार आपका कोई अहित या अनिष्ट किया तो स्नेहभाव से ही उसे सचेष्ट कर क्षमा भी कर देते हैं और कहते हैं कि भगवान् महावीर ने तो कानों में कीले ठुकवा कर भी आवेश धारण नहीं किया तो जैनागम का यह सिद्धान्त उनके अनुयाइयों के लिए क्यों नही है? यदि कोई दुर्जन अपना स्वभाव नही छोड़ सकता है तो सज्जन की सज्जनता भी इसी में है कि वह अपना गुण नहीं छोड़े। फिर हमारी संस्कृति के अनुकूल शौर्य की अपेक्षा क्षमा को वीरों का अलंकरण कहा है, जिसे इस युग मे भी हमारे देखते-देखते महात्मा गांधी ने प्रत्यक्ष कर दिया है कि भारतीय दर्शन का यह सच्चा स्वरूप है।

ब्राह्म मूहर्त में ही आप शौचादि से निवृत्त हो नियमित देवाराधना करते हैं जिसमें आपको अपनी परम्परानुसार अगाध श्रद्धा है। ऐसे बहुत हो कम स्थान मिलेगे जहा पर अहर्निश घृत पूरित दो ज्योति जागृत रहती हों और वहां कज्जल के स्थान पर केशर पड़ती हो किन्तु चरित्रनायक की देवराधना में उक्त दोनों हो का सम्मिश्रण देखने का आज भी सुलभ अवसर है। तदनन्तर पूरे दिन पर तथा मध्य रात्रि तक आप इस वृद्धावस्था मे भी जिस उत्साह तथा लगन से एक नवयुवक से भी अधिक कार्य करते हैं उससे द्रष्टाओं को ईर्ष्या हो तो भी अतिशयोक्ति नहीं है। सबसे बड़ा आश्चर्य जो आपके जीवन में देखने को मिला है वह है एकासनता और मिताहार। आपका आहार इतना स्वल्प है कि देखते ही आश्चर्य होता है। दो समय के अतिरिक्त तीसरे समय दूध या फलादि का भी आपको कोई व्यसन नही है। आग्रह होने से चाय-पान अवश्य कर लेते हैं। अत: आपकी कर्मशक्ति तथा स्वल्पाहार में सामञ्जस्य लाना भी बड़ा ही आश्चर्यजनक है। आपके यहां अतिथिभेद तथा अपने निजी भोजनादि में कोई अन्तर नहीं होने दिया जाता। एक सामान्य से सामान्य अतिथि और आपके भोजन में सामग्री की सभी प्रकार से एकरूपता होगी, जबकि अन्यत्र प्राय: परिस्थिति अनुसार आवान्तरभेद कर दिया जाता है। अतिथि सत्कार में आपका व्यक्तित्व इतना अनूठा है कि स्वयं उसकी परिचर्या में लग जाते हैं और कई बार अपने अनुयाइयों को परामर्श देते हैं कि हमारी संस्कृति में अतिथि सेवा का बहुत महत्त्व स्वीकार किया गया है क्योंकि उसमें हमें सहज श्रेय मिल जाता है। अतिथि का भोजन अपना निज का है, और इससे बढ़ कर हमारा क्या सौभाग्य होगा कि वह अपना ही भोजन हमारे घर पर खाकर हमारी सेवा का बहाना संसार को दिखा देते हैं। अत: ऐसे पवित्र कार्य को सहर्ष कर लेना चाहिए। आप अतिथि को 'सर्वदेवमयोहरि:' के रूप में मानते हैं।

चरित्रनायक के घनिष्ठ मित्र

स्वर्गीय लाला रामचन्द्रजी माथुर
जोधपुर

चरित्रनायक के वात्सल्य अधिकारी

लाला हरिश्चन्द्रजी माथुर
संसद-सदस्य

चरित्रनायक के भक्तिवान्

धाराशास्त्री
श्री नन्दकिशोरजी माथुर

बच्चों से आपको बड़ा स्नेह है। उनके स्नेहाकर्षण के लिए उन्हें कुछ न कुछ वितरण करते रहते हैं अतः जब भी आप रिक्त होते हैं, बालगोपाल आपके मधुर सलाप के लिए आ जाते हैं। इन सबसे पाठकों को स्पष्ट हो जाता है कि चरित्रनायक करुणा तथा वात्सल्य की समष्टि, त्याग तथा दम का समन्वय और सदाचार तथा सदाशय की प्रतिमूर्ति हैं जिससे आपके सम्पर्क में आकर व्यक्ति आपका सर्वतोमुखी लाभ प्राप्त करता है और आदर्श जीवन सत्प्रेरणा लेकर भी अपने को कृतार्थ कर लेता है।

गुणग्राहकता तथा विद्वज्जनानुरक्ति

प्रारम्भ से ही चरित्रनायक की यह उत्कण्ठा रही है कि सद्गुणसम्पद यदि हेय स्थान से भी उपलब्ध हो तो ग्रहण करना चाहिए कई बार साम्प्रदायिक परम्पराओं के विपरीत भी आपने कुछ ऐसे व्यक्तियों को अपने यहां नियमित मर्यादाओं मे प्रश्रय देकर उनसे कुछ विद्याएं प्राप्त की हैं, जो अन्य किसी व्यक्ति के लिए यह सरल नहीं था। नवीन ज्ञान या विशेष गुण अपने से छोटे या हीन व्यक्ति से भी लेने में आपको कोई संकोच नहीं होता। इसलिए आपके पास अनेक अद्भुत चमत्कार (करिश्मों) का संग्रह विद्यमान है। अचेतकारी अद्भुत चमत्कार और आपके व्यावृत जीवन का समन्वय सर्वथा आश्चर्यजनक है फिर भी आपको अपनी रुचि के अनुसार सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से कुछ हाथजादू के भी सीखने का सुअवसर मिला है। अन्य कलादि क्षेत्रों में भी जो वैशिष्ट्य आपका पहले इन्हीं पंक्तियों मे बताया गया है, उन सबके पीछे आपकी सहज गुणग्राहकता ही प्रभाव है, और आपकी यह गुणग्राहकता आज भी उतनी ही सजग है जितनी आपकी पूर्ण युवावस्था में थी।

जो व्यक्ति स्वभाव से ही गुणग्राहक होगा तो उसके यहां अनेक निषण्णात व्यक्तियों की शृंखला का होना नैसर्गिक है। चरित्रनायक के यहां भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिलता है। साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत, संस्कृति और आदर्श जीवन का कोई भी विद्वान व्यक्ति जोधपुर नगर में आएगा तो चरित्रनायक के सम्पर्क मे उसको अवश्य पधारना ही पड़ेगा। कई बार तो आपके अनुयायी ही आपकी सद्गुणावली से उन्हें परिचित करा देते हैं तो उनके स्वयं के मन में दिदृक्षा उत्पन्न हो ही जाती है, अथवा कई बार चरित्रनायक स्वयं उन्हें अपने यहां आमन्त्रित कर सत्कार करते हैं। अधिकाश विद्वानों को तो आप अपने यहां पर चिरकाल तक रखते हैं और उनकी भोजनादि सभी सेवाओं का भार स्वयं उठा कर अपनी रुचि को पूर्ण करते हैं। ऐसे विद्वान् आपके यहां पर जब ठहरना स्वीकार कर लेते हैं तो प्रतिदिन समयानुसार जो जिस विषय का विद्वान् होता है उससे उसी ही विषय पर चरित्र-नायक का विश्रम्भालाप घण्टों तक चलता रहता है और आपको इसमें इतना अपार हर्ष होता है कि कई बार भोजनादि दैनिक कृत्यों में भी अनावश्यक अस्तव्यस्तता आ जाती है।

इसके विपरीत कुछ विद्वान् अपने विषय में इतने अधूरे निकल जाते हैं कि चरित्रनायक स्वयं से उन्हें कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिलता है। ऐसे व्यक्तियों को भी चरित्र-नायक के यहां पर पूर्ण सुविधा मिलती है और वे जब स्वेच्छा से ही लौटने की इच्छा व्यक्त करते हैं तो उन्हें आर्थिक पुरस्कार व पाथेय व्ययपूर्वक फिर पधारने के आग्रह के साथ विदा दी जाती है। इस प्रकार चरित्रनायक के यहां विद्वान ही विद्वान के श्रम का मूल्यांकन करता है। इस सदुक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिलता है क्योंकि आप में सहज गुण-ग्राहकता तथा विद्वज्जनानुरक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण प्रकृति ने किया है।

सम्प्रदाय सेवा

जैन यति सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण चरित्रनायक का ध्यान अपनी परम्परा प्राप्त इस सम्प्रदाय की परिस्थितियों की ओर होना भी स्वाभाविक था। आपका ध्यान जब इस ओर हुआ तो अनुभव में आया कि प्रत्येक श्री पूज्य पीठ के आचार्य केवल रूढ़िवाद से बंध कर ही अपनी अज्ञता में लीन हो रहे हैं। और यति-समाज उनकी इस उपेक्षा के कारण सर्वथा विच्छृंखलित हो उन्मार्गगामी होता चला जा रहा है। कही एक दूसरे में उत्तराधिकार के झगड़े हैं तो कही सम्पत्ति के विभाजन का द्वन्द्व चल रहा है। इस संघर्ष का लाभ उठा कर श्रावक समाज श्रद्धा के स्थान पर समाज से घृणा करने लगा और जहां अवसर लगा सम्पत्ति को भी अधिकार मे लेने लगे। जो यति समाज एक दिन शाही सल्तनत को भी कम्पित करने का प्रभाव रखता था, वह अज्ञतावश अब परमुखापेक्षी हो कर सामान्य जीवन-निर्वाह के लिए भी पराश्रयी हो गया था।

इन विषम परिस्थितियों मे आपने अपने यति सम्प्रदाय को उद्बोधन दिया और उनके प्राचीन गौरव से परिचित कर संगठित रूप से कुरीतियों को उखाड़ फेंकने को आमंत्रित किया। फलस्वरूप अखिल भारतवर्षीय यति समाज में एक क्रान्ति आई और राजस्थान हो प्रधानतया इस समुदाय का प्रधान स्थल होने के कारण अजयमेरु की निर्मल शृङ्खलाओं के प्रधान नगर में पुनः एक विशाल सम्मेलन आहूत किया गया। इस सम्मेलन मे यद्यपि आप सशरीर अनेक अन्य कारणों से उपस्थित नही हो पाये तथापि आपके उत्तम समयानुकूल सुझावों व सत्प्रेरणाओं से यति समाज में पर्याप्त जागृति आई और संगठित रूप से अनेक सुधारों को करने का संकल्पों का सूत्रपात हुआ। तब से यह सम्मेलन अब तक बराबर कार्य कर रहा है और प्रति वर्ष अनेक गतिविधियों से इस समाज की हीन दशा में प्रगति लाने में सफल हुआ है।

आपके प्रारम्भिक जीवन में यति समाज का गच्छ-भेद भी एक प्रबल द्वन्द्व का कारण था। एक आचार्य दूसरे की उपस्थिति में न नगर-प्रवेश करता था और न किसी मांगलिक कार्य में ही उपस्थित होता था। सभी श्री पूज्यों में अपने आपको ही श्रेष्ठतम

मान के अहंकार भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। इस दोष-परिमार्जन के लिये भी चरित्र-नायक ने भगीरथ प्रयत्न किया और जयपुर बीकानेर के सभी श्री पूज्यों के कोटवाल तथा स्वयं आचार्यों से पत्र-व्यवहार कर जोधपुर में स्नेह-सम्मेलन कराने की स्वीकृति प्रदान करवाई। तत्कालीन जोधपुर राज्य के प्रशासकों को जैन यति सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा से परिचित करा उसमें जो विशेषताएं थीं उनकी ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। अन्त में जोधपुर राज्य द्वारा समस्त यति सम्प्रदाय के आचार्यों की विधिवत् प्रतिष्ठा तथा सम्मान करने की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई तो जोधपुर में सबको आमंत्रित कर एक स्नेह-सम्मेलन सुसम्पन्न करवाया। तब से प्रायः सभी श्री पूज्य एक दूसरे को समानाधिकार प्रदान करते हैं और स्नेह से मिलते हैं। इस प्रकार चरित्रनायक ने अपने सम्प्रदाय की अनुपम सेवा की है, जिससे सभी भारतवासी यति-समाज प्रभावित हुआ है और सुपरिचित है। आपने यति-समाज में आयुर्वेद का अधिक प्रचार-प्रसार कर सम्प्रदाय-सेवा का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

समाज-सेवा

चरित्रनायक का सामाजिक सेवा क्षेत्र केवल यति सम्प्रदाय तक ही सीमित न होकर सभी क्षेत्रों में व्याप्त रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के सभी सामाजिक जीवन में जो दोष तथा कुरीतिये बढ़ रही थी, उन सब पर आपको क्षोभ था। आपकी हवेली के पार्श्ववर्ती क्षेत्रस्थ कतिपय समाजों में जो अशिक्षा, बाल तथा वृद्ध-विवाह और अन्य दुर्व्यसनों का बोलबाला था, उनके लिए चरित्रनायक प्रतिदिन आपके सम्पर्क में आने वाले समाज के प्रमुखो को इन सब दुर्व्यसनों तथा कुरीतियों से मुक्त होने के लिए कहा करते थे। फलतः समाज में एक जागृति आई और शिक्षा प्रचार के साथ-साथ अन्य बुराइयों से भी समाज मुक्त होने लगा।

जैन ओसवाल समाज भी आपसे पूर्ण प्रभावित था, क्योंकि आपका घराना ओसवालों के लिए "श्री गुरां साहिब" जैसा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका था। स्थानीय समाज के प्रमुख सज्जनो के अतिरिक्त आपके भू-सम्पदा क्षेत्र खीमेल आदि के जैन ओसवाल तथा पोरवाल महानुभाव भी आपकी सेवा में सामाजिक व धार्मिक उपदेश तथा चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में पधारते ही रहे हैं। उन्हें भी आपने समयानुसार सामाजिक परिवर्तन लाने के अमूल्य सुझाव देकर आवश्यक सुधार करने को विवश किया है। विवाहादि शुभ कार्यों में मांगलिक कार्यो की उपेक्षा कर केवल प्रदर्शन के लिए दिए जाने वाले अपव्ययों को आपने व्यर्थ बतलाया और इस बचत से समाज के निःसहाय लोगों की सेवा का मार्गदर्शन किया। आपने ओसवाल समाज के धुरीणों को बताया कि यति समाज आपके समाज से पूर्णतया सम्बन्धित है और वर्तमान युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार आप लोग इसकी

आवश्यकता नहीं समझते हों तो इसे अपने में ही आत्मसात् कर लीजिये, जिससे समाज में अधिक वर्गभेद न हो। जो जैन यति परिस्थितियों के अनुसार गृहस्थ होते गये, उनके प्रति भी चरित्रनायक की पूर्ण सहानुभूति रही है। आपने उन्हें अपना ही एक अङ्ग मान कर जैन समाज में उचित आदर दिलाने का प्रयत्न किया। आपने अपने विचार तथा भावनाओं को कभी संकीर्ण नहीं बना कर उन्हें पूर्ण प्राञ्जल तथा प्रशस्त रखा। आपकी मान्यतानुसार समाज के बदलते हुए ढांचे मे किसी भी साधु या यति आदि का, जब तक वह पूर्ण परिग्रह का त्याग न करें, सद्गृहस्थों के बीच आते जाते रहना सर्वथा दोषपूर्ण ही नहीं, किन्तु अनुचित भी है। अतः आपने अपने उत्तराधिकारियों को सहर्ष गृहस्थ होने की आज्ञा दे कर जीविकोपार्जन में लगा दिया।

किसी भी अपठित ब्राह्मण को देख आपके मन में बड़ी वेदना होती है। इसी प्रकार शौर्यहीन क्षत्रिय तथा व्यवसायविहीन अन्य सामाजिक प्राणी भी आपको उद्वेलित किये बिना नहीं रहता। आपकी सुदृढ़ धारणा है कि शिक्षा तथा व्यवसाय तो प्रत्येक सामाजिक प्राणी का एक प्रारम्भिक अधिकार है। जिस समाज में इन दोनों का अभाव हो, वह कभी चिरकाल तक सुस्थिर नहीं रह सकता। वैदिककालीन भारत मे इसीलिए चार आश्रम-व्यवस्थाओं में समाज को इतना व्यवस्थित कर दिया था कि प्रत्येक नागरिक वह चाहे दीन हो या समृद्ध, समान भाव से गुरुकुल में केवल गुरु-सेवा मात्र से ही प्रशिक्षण प्राप्त करता था और गृहस्थाश्रम में उचित व्यवसाय का अधिकारी होता था। आज स्वतंत्र भारत में शिक्षा तथा व्यवसाय का समाज के लिए पूर्ण समन्वय होना आवश्यक है। इस प्रकार हमारे चरित्रनायक उच्च सामाजिक सुधारों की विचारधाराओं से ओतप्रोत हो सदा समाज-सेवा में निरत रहे हैं।

आयुर्वेद लोक-सेवा

इन्हीं पंक्तियों में "मारवाड़ में आयुर्वेद-विकास" शीर्षक के अन्तर्गत जिस प्रकार मारवाड़ राज्य में स्वतंत्रता के अरुणोदय तक आयुर्वेद की स्थिति रही उसका एक सिंहावलोकन किया गया है। इसी काल में चरित्रनायक को भी आयुर्वेद लोक की सेवाओं का अवसर सुलभ हुआ। आपने चिकित्सा-कार्य में पूर्णतया व्यावृत होने पर भी आपको अपने क्षेत्र के वैद्यों को विच्छृंखलित देख व्याकुलता हुई। सन् १९३३ में बीकानेर संभूत निखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन के शुभ अवसर पर जब आप श्री बीकानेर पधारे तो आपने वहां पधारे हुए कतिपय विद्वान् एवं कर्मठ वैद्यों को, एक मारवाड़व्यापी वैद्यों का संगठन स्थापित करने हेतु, अपने स्थानों को लौटने से पूर्व जोधपुर पधारने की साग्रह प्रार्थना की। फलतः स्वर्गीय वैद्यराज श्री गोवर्धनजी छांगाणी, नागपुर, जिनका मूलस्थान मारवाड़ में पोकरण ग्राम था, स्वर्गीय वैद्यराज श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज बम्बई, स्वर्गीय वैद्यराज श्री टी. सुखरामदासजी ओझा, कराची, स्वर्गीय डा. ए. लक्ष्मीपति, मद्रास, स्वर्गीय वैद्यराज

नि० भा० २९ वां आयुर्वेद महासम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के रूप में एवम्
स्वागत कारिणी के सदस्य महानुभावो के साथ
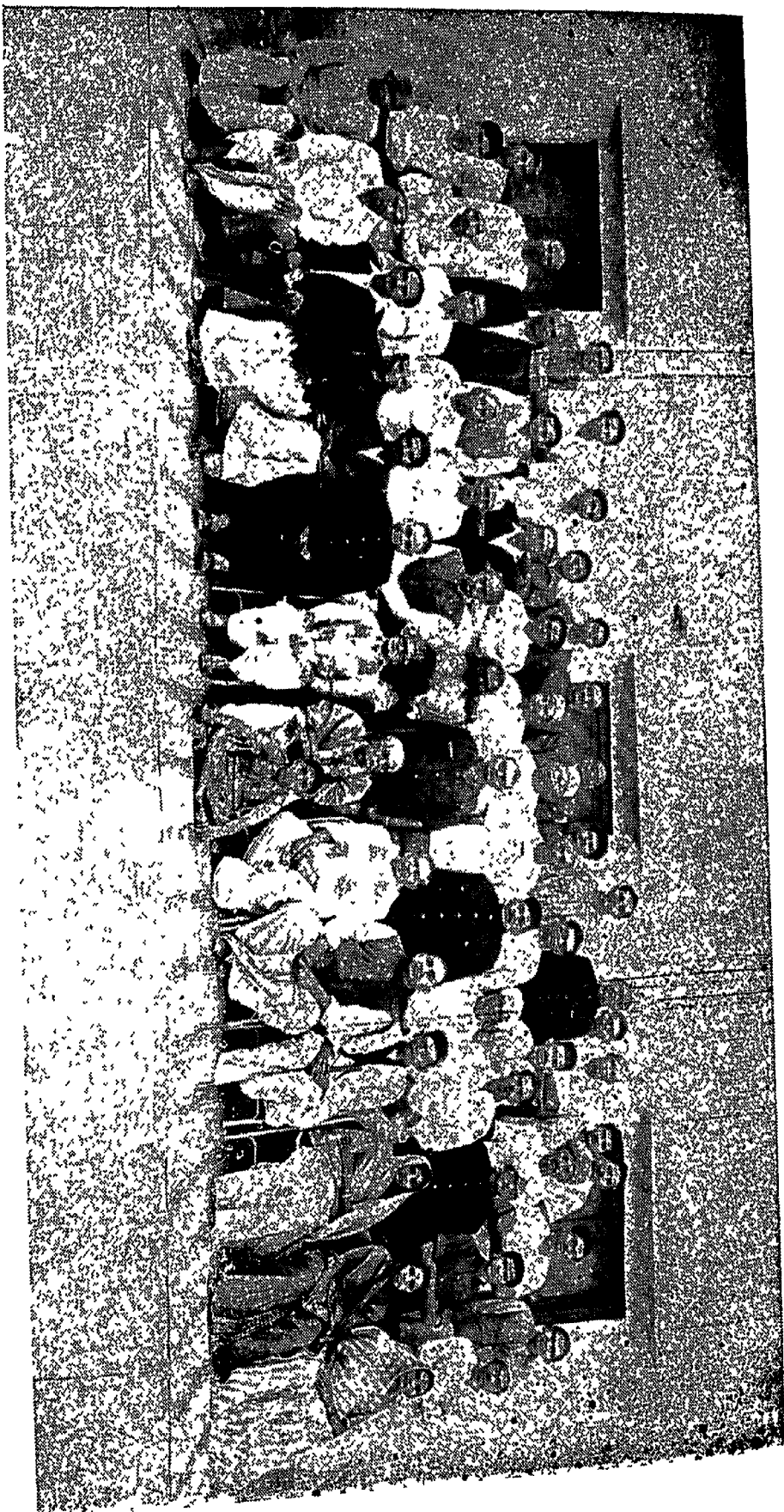
चरित्रनायक

शिष्यमंडली के साथ

श्री ख्यालीरामजी द्विवेदी, इन्दौर, स्वर्गीय वैद्यराज श्री किशोरीदत्तजी, कानपुर आदि के इस पुनीत कार्य की सम्पन्नता हेतु जोधपुर विश्रामोत्तर आपने अपने स्थानों को लौटने का निश्चय किया व उनकी उपस्थिति में हमारे चरित्रनायक के सत्प्रयत्न से श्री मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा जोधपुर की स्थापना हुई। समुपस्थित वैद्यसभा के विशेष आग्रह पर उसके सभापति पद को भी आपही ने अलंकृत किया। किसी सभा या संगठन का मन्त्री ही उसका प्राण होता है, अतः आपके परम विश्वस्त स्वर्गीय वैद्यराज श्री खूबचंद शर्मा को आपने आपका मन्त्री नियुक्त कर मारवाड़ वैद्य समाज के व्यापक संगठन का बीड़ा उठा लिया। उत्साही तथा कर्मठ मंत्री के सहयोग से निरन्तर सात आठ वर्षों तक इस सभा का उत्तरदायित्व चरित्रनायक ने संभाला और अंत में अन्य आवश्यक कार्यों से अपना यह भार अन्य सहयोगी साथियों को दे दिया। श्री मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा ने वैद्य समाज के हित में किस प्रकार कार्य किया इसका विशद विवेचन उसी के प्रकाशित कार्य विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

चरित्रनायक को अपने सीमित क्षेत्र की सेवाओं से ही कहां संतोष होने वाला था। आपने उक्त सभा के माध्यम से, बम्बई में होने वाले निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के अवसर पर उपस्थित हो अपने परम सुहृद् स्वर्गीय श्री गोवर्धनजी छांगाणी और डॉ० गणनाथ सेन सरस्वती, यादवजी त्रिकमजी आचार्य आदि को अपने शुभसंकल्प की ओर आकर्षित कर अगला अधिवेशन अन्य स्थानों से प्राप्त निमत्रणों को अस्वीकार करवा कर, जोधपुर ही में करवाने का निमन्त्रण दे दिया। इस निमन्त्रण के बाद चरित्रनायक पर जो दायित्व आगया था, उसके लिए आप सदा सजग रहे और तत्कालीन जोधपुर नरेश स्वर्गीय श्री उम्मेदसिंहजी महाराज को सम्मेलन का संरक्षकत्व स्वीकार करवा स्वयं चरित्रनायक ने स्वागताध्यक्षता का भार वहन किया। कुछ ही समय पूर्व उक्त जोधपुर नरेश की अद्भुत चिकित्सा कर चरित्रनायक ने जोधपुर महाराजा तथा समस्त राजपरिवार की आयुर्वेद के प्रति जो श्रद्धा जागृत करदी थी, उसका प्रत्यक्ष फल जोधपुर में निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन को मिला और सम्मेलन मे पधारने वाले सभी सज्जनों ने एक स्वर से अनुभव किया कि इस प्रकार की व्यापक सफलता सम्मेलन को अपने जीवन में पहली बार प्राप्त हुई। इस सम्मेलन के अवसर पर चरित्रनायक का स्वागताध्यक्ष पद से एक सारगर्भित भाषण हुआ। इसमें समागत सभी वैद्य बंधुओं को निःशुल्क भोजन व्यवस्था की गई थी। ऐसा सम्मेलन आज तक कहीं अन्यत्र न हुआ और न होने की कोई संभावना दृष्टिगोचर होती है।

चरित्रनायक की इन विपुल सेवाओं तथा चिकित्सा वैभव से प्रभावित हो श्री मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा ने आपको 'प्राणाचार्य' की उपाधि से विभूषित करते हुए एक

विशाल जनसमूह के समक्ष आपका हार्दिक अभिनन्दन किया और साथ ही निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन ने अपने मंच से आपकी सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए 'आयुर्वेदमार्तण्ड' पदवी प्रदान कर आपका सम्मान किया। आपकी इन सेवाओ का प्रभाव निखिल भारतीय स्तर के वैद्य समाज पर इतना हुआ कि जब कभी चरित्रनायक किसी सम्मेलन में पहुँच गये तो जोधपुर राजवैद्यजो के नाम से स्वतंत्र शिविर की ही व्यवस्था होने लगी और आपके सुझावों को सदा सम्मान मिलता रहा।

जब इस प्रकार प्रान्त के बाहर निखिल भारतीय स्तर पर चरित्रनायक की सेवाए स्वीकार की जाने लगीं तो सन् १९५० ई० में राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के दशम अधिवेशन सीकर में प्रान्त के वैद्य समाज ने भी निर्विरोध रूप से उक्त सम्मेलन के सभापति के लिए आपकी सेवायें आमंत्रित कीं। नवीन राजस्थान राज्य के संगठन के बाद प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन का यह सर्वप्रथम अधिवेशन था और वैद्य समाज तथा राज्य के समक्ष आयुर्वेद की अनेक व्यापक समस्यायें थीं। विकट समय में चरित्रनायक ने जो समाज की बागडोर सम्भाल कर सफल नेतृत्व प्रदान किया उसका पूरे वैद्य समाजो को गौरव है। इस अवसर पर अध्यक्षीय भाषण आपने प्रसारित कर समाज तथा राज्य सरकार को अपने कर्तव्यों का निर्देश किया।

इस अवसर पर आपने राजस्थान आयुर्वेद विभाग के पुनर्गठन की एक व्यापक रूपरेखा भी आर्थिक समस्या के साथ प्रस्तुत की।

चरित्रनायक के समयोचित सुझावों से प्रभावित हो राजस्थान सरकार ने राज्य में सर्व प्रथम गठित किए जाने वाले आयुर्वेद परामर्शदातृ मंडल के अध्यक्ष पद पर भी आपकी सेवायें अंगीकार कीं। उक्त बोर्ड के पुनर्गठन काल तक चरित्रनायक ने उक्त पद पर पूर्ण तत्परता से अपनी सेवायें देकर वैद्य समाज तथा राज्य सरकार को पूर्ण सतुष्ट किया। बोर्ड के अध्यक्ष पद पर समारूढ़ होने पर जयपुर सद्वैद्य सभा एव वैद्यसभा बम्बई आदि से भी आपका अभिनन्दन किया गया। राजस्थान राज्य के व्यास मंत्रि मंडल में स्वास्थ्य मंत्री महोदय श्री मथुरादासजी माथुर साहिब ने भी चरित्रनायक की आयुर्वेदीय सेवाओं के सम्मानस्वरूप आपके सत्परामर्शानुसार जोधपुर मे पहिला राजकीय आयुर्वेदीय केन्द्रीय औषधालय खांडाफलसा स्थापित कर आपसे अवैतनिक प्रधान चिकित्सक पद पर सेवायें देने का आग्रह किया। इस प्रकार चरित्रनायक की व्यापक आयुर्वेद लोक सेवाओं से समस्त वैद्य जगत पूर्णतया सुपरिचित है और आज भी आपकी एकछत्र निष्ठा है कि आयुर्वेद की सेवा के लिए कहीं भी यदि सर्वस्व भी देना पड़े तो सबसे पहिले चरित्रनायक होंगे जो कि नेतृत्व करें। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह केंद्रीय औषधालय में आपने निजी औषधियां निःशुल्क वितरित कीं व राज्य सरकार से सवारी व्यय उनके आग्रह के बावजूद भी स्वीकार नहीं किया।

चरित्रनायक के साथ

स्वर्गीय मरुधराधीश राजराजेश्वर महाराजाधिराज १०८ श्री हनुवन्तसिंहजी महोदय एस. जे. ए. फार्मेसी का निरीक्षण करते हुए।

चरित्रनायक के साथ

स्वर्गीय मरुधराधीश राजराजेश्वर महाराजाधिराज १०८ श्री हनुवन्तसिंहजी महोदय को आयुर्वेद की गतिविधियों के बारे मे बात करते हुए।

तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्व० जयनारायणजी व्यास से आयुर्वेद की समस्याओं का परामर्श करते हुए।
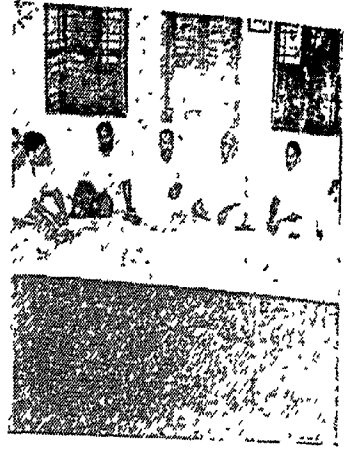
जोधपुर कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष एवं राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) के तत्कालीन अध्यक्ष के साथ चरित्रनायक आयुर्वेदीय विचार गोष्ठी करते हुए।

तत्कालीन मुख्यमन्त्री स्व० जयनारायणजी व्यास से आयुर्वेद विषय पर चर्चा करते हुए।

राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री जयनारायण व्यास को औषधिनिर्माण शाला बताते हुए चरित्रनायक।

श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेदिक महौषधालय का विकास

चरित्रनायक के गुरुदेव प्राणाचार्य, भट्टारक महोपाध्याय राजवैद्य पं. उम्मेददत्तजी महाराज ने चाणोद से जोधपुर पधारने के बाद महाराज श्री जसवन्तसिंहजी, जोधपुर नरेश के संरक्षकत्व में श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेदिक महौषधालय की स्थापना अपने आराध्यदेव श्री जिनदत्तसूरि दादा साहिब के नाम पर सन् १८८८ ईस्वी में की थी। तब से उक्त औषधालय चरित्रनायक की पैतृक परम्परा के उत्तराधिकार के रूप में नियमित चल रहा है और आपने भी उसका विधिवत् संचालन किया। किन्तु युगानुरूप परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार आपके लिए यह आवश्यक हो गया कि इस औषधालय को अधिक विकसित कर जनोपयोगी बनाने का पूर्ण प्रयास किया जाय। अतः सन् १९४७ ईस्वी के आसपास जब आपने अपने प्राचीन भवन का जीर्णोद्धार तथा आवश्यक संवर्धन किया तो औषधालय के लिए भी एक स्वतन्त्र कक्ष का निर्माण करवा दिया। अन्य आवश्यक साज-सज्जा के साथ साथ सुरक्षित काच की आलमारियों तथा फर्नीचर की भी आधुनिकतम व्यवस्था की गई जिससे औषधियों की स्वच्छता तथा कर्मचारियों एवं आतुरों को आवश्यक सुविधा बनी रहे। अनेक शास्त्रीय प्रयोगों के साथ ही औषधालय के स्टॉक में चरित्रनायक के चिरकाल से अनुभूत स्वायत्तसिद्धौषधियों का भी पर्याप्त सग्रह प्रतिक्षण रहने की व्यवस्था की गई।

नवीन चिकित्सा विज्ञान की अनेक उपलब्धियों से चरित्रनायक को बड़ा संतोष है और प्रत्येक सहयोगी चिकित्सा विधियों का आप पर्याप्त ज्ञान भी रखते है, किन्तु आपकी एक मात्र दृढ भावना विशुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा करने में है। अतः उक्त श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक महौषधालय में एक भी औषध आयुर्वेद पद्धति से अतिरिक्त नहीं मिलेगी और न स्वयं चरित्रनायक भी अपने किसी आतुर को शल्य चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य चिकित्सा के लिए परामर्श देंगे। अपनी मान्यतानुसार आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के शल्य विभाग का तो कालक्रम से अनभ्यास के कारण ह्रास हुआ है, उसका जीर्णोद्धार किया जा सकता है और कार्य चिकित्सा के सम्बन्ध में भगवान् श्री चरक की यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि जो यहां है वह सब जगह है और जो आयुर्वेद में नहीं है, वह कहीं नहीं है अतः चिकित्सक के मननपूर्वक अपने ही शास्त्र का आलोडन कर आवश्यक रत्नोपलब्धि से रुग्ण को आयुर्वेद का श्रद्धालु बनना चाहिए। आज के जो आयुर्वेदीय चिकित्सक ऐलोपेथी से समस्त आतुरों को अपने पास आने पर भी उसी चिकित्सा पद्धति के विषाक्त प्रयोगों के चिकित्सा कराने की सलाह देते हैं, उन पर आपको बड़ा क्षोभ है। आपकी मान्यता में ऐसे चिकित्सक न केवल आयुर्वेद की गौरव-गरिमा को ही कलुषित करते हैं, अपितु अपने अविकसित नवीन चिकित्सा विज्ञान से आतुरों के जीवन से भी खिलवाड़ करते हैं। दोनों पद्धतियों के सैद्धान्तिक मतभेद को भी ध्यान मे रख कर निर्णय करें तो स्पष्ट आकाश-पाताल का अंतर

प्रतीत होता है। एक एण्टीबयोटिक नाम से जीवनविरोधी द्रव्यों का प्रयोग करती है तो दूसरी आयुर्वेद नाम से जीवन की प्राप्ति कराने का संदेश देती है।

इसी प्रकार वैद्योचित वेषभूषा पर भी आपके अपने स्वतन्त्र विचार हैं। और श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक महौषधालय में आदर्श वैद्यकीय वेष में अलंकृत चिकित्सक कार्य करते हैं। वैद्य के वेष में आधुनिकता का अधिक सम्पुट उसके विचारों में भी परिवर्तन ला देता है। अतः एक चिकित्सक को ज्ञान तो सर्वतोमुखी होना चाहिए किन्तु उसका आचार विचार एवं वेष भूषा अपने निजी क्षेत्र के अनुसार ही होने पर अधिक संगति तथा सजीवता प्रतीत होती है। चरित्रनायक ने इन्हीं समयोचित धारणाओं के आधार पर अपने पैतृक परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त श्री जिनदत्त सूरि आयूर्वेदिक महौषधालय का पूर्ण विकास कर स्थानीय जनता को आवश्यक लाभ उठाने का सुअवसर प्रदान किया।

एस. जे. ए. फार्मेस्युटिकल वर्क्स की स्थापना

चरित्रनायक को चिकित्सा सेवाओं का अधिक प्रचार प्रसार होने पर सिद्धौषधियों की भी आवश्यकता उत्तरोत्तर अधिक होने लगी और अन्य चिकित्सक तथा रुग्ण जनता में भी चरित्रनायक के सिद्ध स्वायत्त प्रयोगो की मांग बढ़ने लगी तो उनकी पूर्ति के लिए स्वतन्त्र रूप से 'एस. जे. ए. फार्मेस्युटिकल वर्क्स' की स्थापना कर इसे गवर्नमेंट ऑफ इंडिया से रजिस्टर करवाया। इस 'फार्मेस्युटिकल वर्क्स' को चरित्रनायक ने केवल पुराणपन्थ के औषधनिर्माण कारखाने के रूप में ही न रख कर आधुनिकतम सभी एपरेटस एवं मशीनरी से पूर्णतया व्यवस्थित किया। फार्मेसी विभाग में आवश्यक सभी नवीन मशीनें यथा डिसइन्टीग्रेटर, प्लवराइजर, ऑइल प्रेसर, ऑटोमेटिक खरल, इमामदस्ते, और बोतल फिलर्स तथा टेबलेट मेकिंग मशीन आदि आदि सभी एक से एक बढ़ कर उत्तम डिजाइन और मेक की लगाई गई हैं। विशुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा का दम्भ रखने वाले ऐसे वयोवृद्ध चिकित्सक का इस प्रकार नवीन मशीन उपकरणों आदि का प्रयोग देख पाठकों के हृदय में भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि कथनी और करनी में यह कैसा अन्तर ? किन्तु इसका स्पष्टीकरण यहीं कर देना उपयुक्त है कि जिस प्रकार मशीनों का उपयोग चरित्रनायक ने अपने वर्क्स में किया है, वह संदेह करने वाले व्यक्ति देख कर संतोष कर सकते हैं। कूटने के लिए दो मन करीब का इमामदस्ता चरित्रनायक के मस्तिष्क की उपज है, जो डिसइण्टीग्रेटर और पल्वराइजर की यान्त्रिक उष्मा से द्रव्य को नष्ट होने से बचाता है। पहले इमामदस्ते में चूर्ण करके ही पल्वराइजर या डिसइण्टीग्रेटर में डाला जाता है तो एक दो रिवोल्यूशन में ही द्रव्य छन कर नीचे चेंबर में आ जाता है और गरम नहीं होता। खरलें भी लोहे के स्थान पर अपने बुद्धि कौशल से चरित्रनायक ने पत्थर की ही प्रयुक्त की हैं जिससे कोई धातुजन्य दोष होने की सम्भावना नही है। टैबलेट मशीन की डाइयां चरित्रनायक ने अपने

ही निर्देशन में बनवाई हैं तो अधिक विजातीय द्रव्य के मिश्रण की आवश्यकता नहीं रहती और इस प्रकार मशीनों का उपयोग करने पर भी औषधनिर्माण की विशुद्धता में कोई अन्तर नही आने देने का प्रयत्न चरित्रनायक की अपनी एक निजी सूझबूझ है। अधिक विशद विवरण जानने लिए जिज्ञासुओं को एक बार इस प्रतिष्ठान को अवश्य देखना चाहिए। राजस्थान का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, समस्त देश में यह छोटा सा फार्मेस्यु-टिकल वर्क्स अपनी शानी का पहला है जहां एक स्वतन्त्र चिकित्सक ने बिना किसी औषध व्यवसाय के अपने चिकित्सा व्यवसाय में ही प्रयुक्त होने वाली औषधियों को आधुनिकतम रूप देने के लिए इतना आर्थिक विनियोग दिया है।

फार्मेसी विभाग की पूर्ति में प्रिंटिंग प्रेस भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। चरित्र-नायक ने जोधपुर नगर का सर्वप्रथम अपटुडेट इलेक्ट्रिक उदय आर्ट प्रिंटिंग प्रेस भी फार्मेसी विभाग के आवश्यक लेबल, कार्डबोर्ड, लिटरेचर आदि प्रकाशित करने के लिए अधिकांश समय के लिए दे दिया है। प्रेस की सुविधा के कारण एस जे. ए. फार्मेस्युटिकल वर्क्स का कार्य और भी अधिक सुनियोजित तथा व्यवस्थित हो गया। और जो पैकिंग सामग्री मुद्रित कराकर दी जाती है, वह सब इसी प्रेस मे छपती है। जिन व्यक्तियों ने इस फार्मेस्युटिकल वर्क्स की औषधियें प्रयोग मे ली हैं, वे स्वयं अनुभव करते है कि गुणाधान की दृष्टि से औषधियों का स्तर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है और पैकिंग तथा डिजाइन भी अत्यन्त आकर्षक तथा सामयिक है। सभी औषधनिर्माण एवं पैकिंग आदि की व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र प्रबन्ध होने पर भी चरित्रनायक भी समय मिलते ही अपने सत्परामर्श से मैनेजमेंट को जागरूक करते रहते हैं। आप सदा इस पक्ष में रहे हैं कि कोई औषधि न बने और चाहे अल्पमात्रा में ही बने, उसमें जिस द्रव्य की जैसी आवश्यकता है, उसी रूप में सम्मिश्रण करके बनाई जाय, किसी प्रतिनिधि द्रव्य को भी उसके स्थान पर कम ही प्रयुक्त किया जाय। यही कारण है कि इतने बड़े वर्क्स का केवल जोधपुर नगर में ही एक बिक्री केन्द्र है और अन्य स्थानों पर एजेंसी आदि की कोई सुविधा नही दी जा सकती है। ऐसे आदर्श एस. जे. ए. फार्मेस्युटिकल वर्क्स की स्थापना एवं संवर्धन का गौरव भी चरित्रनायक को ही प्राप्त है, जो यथार्थ में अनुकरणीय है।

आयुर्वेदीय औषध निर्माण में अभिनव विकास

प्राचीन काल से आयुर्वेदीय औषध निर्माण की कुछ कल्पनायें चली आ रही हैं, जिनमे स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम, फाण्ट, चूर्ण, गुटिका, लेह, घृत, तैल, पाक, आसव, अरिष्ट, रस क्रिया, भस्म कूपीपक्व तथा खल्वी रसायन, वर्ति, अञ्जन आदि प्रमुख हैं। चरित्रनायक ने उक्त कल्पों के मूलाधार को तो विकृत नहीं किया किन्तु इनके स्वरूप में इतना परिष्कार तथा परिमार्जन करने का प्रयत्न किया, जिससे आतुर को आकर्षक तथा

अधिक रुचिकर प्रतीत हो। क्वाथों को ऐसे सुन्दर पैकिंगों में प्रस्तुत किया गया है कि आतुर पर एक भार नहीं आता है और मात्रा आदि के लिए आवश्यकतानुसार पैकिटों में छोटे प्लास्टिक चम्मच रख दिए गए, जिसमें नियमित उपयोग हो सके। आसवारिष्ट के लिए चरित्रनायक ने एक ऐसी विधि आविष्कृत की है, जो पोदीनासव या द्राक्षारिष्ट आदि को देखेंगे तो पारदर्शकता के साथ साथ उनमें उक्त प्रदान द्रव्यों के रंग स्वाद तथा गंध की भी उपस्थिति उपलब्धि होगी और निर्माण पद्धति एवं प्रभाव में कोई अन्तर दिखाई नहीं देगा।

पारदीय प्रयोगों में चरित्रनायक को सर्वथा अविश्वास है और केवल वानस्पतिक तथा धातु और रत्नादि का प्रयोग अपनी चिकित्सा में करते हैं। अतः जिन औषधियों का प्रयोग आपके यहां होता है उसका सर्वोत्तम वर्ग ही आप ग्राह्य समझते हैं और शेष द्रव्य सर्वथा छोड़ देते हैं। इस आधार पर आपने जिन प्रयोगों को अपने चिरकालीन अनुभव में बहुत उपयोगी अनुभव किया, उनका निर्माण अपनी निर्माणात्मक बुद्धि से आवश्यकतानुसार करवाते हैं। आपके यहां के चूर्ण, गुटिका आदि सभी कल्पनाओं में नवीन औषध व्यवसाय की तुलना में कोई अन्तर प्रतीत नही होता। सभी गुटिकाओं पर एस. जे. ए. फार्मेस्युटिकल वर्क्स जोधपुर की मुद्रा तथा ट्रेडमार्क होगा। पैकिंग तथा औषध के मूल स्वरूप को देख कर यह आयुर्वेदीय औषध है या अर्वाचीन चिकित्सा विज्ञान की उपज है, में भेद करना कठिन हो जाता है। आयुर्वेदीय औषध निर्माण में यह अभिनव विकास चरित्रनायक की ही अपनी देन है जब कि उसके मूल स्वरूप को नष्ट न होने देकर पूर्ण आकर्षक तथा रुचिकर बना दिया है। यही कारण है कि चरित्रनायक की औषधियों का प्रयोग आबाल वृद्ध सभी सुकुमार प्रकृति के आतुर भी बिना संकोच कर लेते हैं और आयुर्वेद का गौरव स्वीकार करते हैं।

नव निर्माण की अभिरुचि

हमारे चरित्रनायक की सदा सभी क्षेत्रों में एक नव-निर्माण की अभिरुचि रही है। प्रतिक्षण आपके मस्तिष्क में एक न एक नवीन कृति का रेखाचित्र बना रहता है और समय पाते ही वह अपना मूर्त रूप ग्रहण कर लेता है। प्रारम्भ मे तो आपने अपनी इस अभिरुचि को फोटोग्राफी की कला में पूर्ण किया और फिर आपने अपने जीवन के सभी क्षेत्रों को इससे पूर्ण किया। पूर्वजों के प्राचीन भवन को नव-निर्माण द्वारा नवीनता देने का जो चित्र आपने अपने मस्तिष्क में बनाया उसे ही सब सुयोग्य इंजीनियरों ने भी एक मत से स्वीकार कर लिया।

अन्य प्रेस फार्मेसी आदि में भी आप किसी भी निर्माण को तब तक पूर्ण नहीं मानते जब तक उसमें कोई कलात्मक तथा नवीनता का सन्निवेश न हो। और सूक्ष्म कलात्मक

अभिव्यक्ति के लिए आप एक लंबा समय भी किसी वस्तु को देने के लिए तैयार रहते हैं। अपने कार्य के अतिरिक्त किसी दूसरे कार्य में भी आप ऐसी सलाह प्रदान करने को उद्यत रहते हैं, जिससे उसमें कोई नवीनता की झलक हो। आपके यहां की जो भी कृति है, उसमें नवनिर्माण का सन्निवेश अवश्य ही देखने को मिलेगा। औषध निर्माण में तो आपने अपनी रुचि को पर्याप्त प्रश्रय दिया है। विभिन्न कल्पनाओं का प्रसादन और सुचारुता उत्तम पैकिङ्ग देखते ही बनता है। आसवारिष्टों के निर्माण में नवीन संशोधन कर जिस स्वाद रंग तथा पारदर्शकता का समन्वय कर नूतन प्रकार निकाला है, बहुत ही अनुकरणीय है। आपके यहां की वटी, चूर्ण, तैल और पाक आदि अन्य कल्पों में भी पर्याप्त सुधार कर आपने उन्हें अभिनवरूपता प्रदान की है।

भोज्य व्यञ्जनों में भी आपकी नवनिर्माण अभिरुचि का स्पष्ट प्रमाण मिलता रहता है। प्रातः सायं जब आपसे परामर्श ग्रहण किया जाता है तो एक ही कृति को कई प्रकार से निर्मित करने का सुझाव आप प्रदान करते हैं। विशिष्ट प्रीति-भोजों में भी आपकी यह अभिरुचि रहती है कि अतिथियों को प्रत्येक सामग्री में कुछ न कुछ नवीनता प्रतीत होनी चाहिए और आप इसमें पूर्णतया सफल भी होते है। प्रत्येक नवागंतुक व्यक्ति आपकी इन नवीन कृतियो को सहसा समझने मे सफल नही होता और कई बार तो स्वयं चरित्रनायक से ही उसके सबंध मे सम्यक्तया जानकारी प्राप्त कर जिज्ञासा शान्ति करनी पड़ती है। इस प्रकार चरित्रनायक को अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नवीनता लाने की पर्याप्त रुचि रही है और इसको पूर्ण करने के लिए आपने किसी न किसी रूप में सर्वत्र अपनी नवनिर्माण अभिरुचि का मुद्रांकन कर दिया है।

श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना

मारवाड़ क्षेत्र में आधुनिक नवीन पद्धति से आयूर्वेदीय शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था के लिए चरित्रनायक ने अपने यहां एक महाविद्यालय भी चलाया। इस विद्यालय मे अनेक छात्रो ने कुछ समय आयुर्वेद का शिक्षा ग्रहण किया और वे कालान्तर में अपने कार्य क्षेत्र में सफल आयुर्वेद व्यवसायी सिद्ध हुए हैं। चरित्रनायक की अध्यापन शैली यद्यपि गुरुशिष्य परम्परा के रूप में रही है तथापि, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ की सभी परीक्षाएं दिलाने के लिए उक्त महाविद्यालय में अपने अनेक आधुनिक विधि से पढ़ाने वाले सुयोग्य अध्यापकों को भी अध्यापन कार्य के लिए रख कर इस युग के अनुरूप आयुर्वेदीय शिक्षा दिलाने व उन्हें डिगरियां डिप्लोमा दिलवाने का आपने उक्त महाविद्यालय में प्रबंध किया। अनेक छात्र आयुर्वेद विशारद, आयुर्वेदाचार्य आदि परीक्षाओं में सम्मिलित हो सफल हुए हैं, और प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के लिए आपके आतुरालय एवं रसायनशाला आदि में पूर्ण सुव्यवस्था की गई है। सुयोग्य विद्यार्थियों को चिरकाल तक अपने यहां निःशुल्क भोजन

निवासादि की सुविधा भी प्रदान कर उन्हें अध्ययन में प्रवृत्त करते रहे हैं। आपका विशाल पुस्तकालय सदा विद्यालय के छात्र तथा प्राध्यापकगण के लिए प्रस्तुत रहता है। यदि किसी अन्य नवीन प्रकाशित ग्रन्थ की आवश्यकता होती है तो आप तत्काल मंगवा कर पूर्ति कर देते रहे हैं। आपकी इन सेवाओं से प्रभावित होकर ही निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्या-पीठ की परीक्षाओं का केन्द्र चिरकाल तक आपके इस विद्यालय में रहता रहा। जहां नियमित विधि विधान से परीक्षा कार्य स्वस्थ वातावरण में संपन्न होता रहा है। इस वृद्धावस्था में भी परीक्षा कार्य की पवित्रता के लिए हमारे चरित्रनायक स्वयं अपने भोजन विश्रामादि की उपेक्षा करके भी सम्यक्तया केन्द्राध्यक्ष पद का उत्तरदायित्व निभाते हैं। आपके केन्द्राध्यक्षत्व की पवित्रता का स्पष्ट प्रमाण इसी में है कि आप स्वयं के शिष्य कई बार इस केन्द्र से विफल रहे हैं। चरित्रनायक शिक्षा का महत्व इसी में स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति आपका तथा समाज का अधिकाधिक कल्याण कर सके। यदि शिक्षा में भी स्वार्थ-परायणता है तो वह शिक्षा नहीं व्यवसाय है और पतन का कारण है। अतः सेवाभावी चिकित्सकों के निर्माण के लिए श्री जिनदत्तसूरि आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना चरित्र-नायक ने की।

सम्प्रदाय पीठ के उत्तराधिकारी

जैन यति सम्प्रदाय की परम्पराओं के अनुसार किसी भी पीठाध्यक्ष को गृहस्थ नही होना पड़ता है। अतः चरित्रनायक भी इससे पृथक् ही रहे, किन्तु अपने पीठ के उत्तरा-धिकार के लिए स्वर्गीय श्री गुरांसाहिब की विद्यमानता में ही आपने एक होनहार सुयोग्य उत्तराधिकारी का चयन उनकी शैशवावस्था में ही कर लिया। जैन पीठाधीश होने से यथासंभव यह दृष्टिकोण रहा कि इसे कोई कुलीन जैन ही संभाले तो अधिक संगत होगा। अतः आपके प्राचीन पीठ के पार्श्ववर्ती क्षेत्र मारवाड़ जंकशन के निकटस्थ बीठोड़ा ग्राम के निवासी जैनकुलभूषण श्री साह लक्ष्मीचन्द्रजी के पुत्र श्री दौलतराज को आपने अपने उत्तरा-धिकारी के रूप में ग्रहण कर लिया। श्री दौलतराज अपनी बाल्यावस्था ही में अपने श्रद्धेय गुरु एवं दादागुरु महोदय को प्रभावित एवं संतुष्ट करने लगे तो "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। गृहीत् को अपने सुयोग्य शिष्य की निर्मल वृत्तियों तथा प्रतिभा पर बहुत ही सतोष तथा प्रसन्नता थी किन्तु प्रकृति की अव्यक्त व्य-वस्था मे कुछ अन्य ही होने की कल्पना चल रही थी।

चरित्रनायक के ही खरतर गच्छ की ग्यारह शाखाओं में से 'भाव हर्ष' नामक शाखा के पीठाधीश चरित्रनायक के दीक्षागुरु यतिप्रवर श्री जवाहरमल जी महाराज, ज्योतिष्याचार्य जो कि गुरुप्रवर श्री उम्मेददत्त जी महाराज के सहपाठी थे, गुरुप्रवर की विद्यमानता में ही स्वर्गलोग पधार गये। उनके शिष्य यतिप्रवर श्री चिमनजी भी जवाहरमलजी महाराज के

सुधा से अनाप्लावित नहीं रहता। जब कभी देखिये, जाकर मिलिये किसी न किसी साहित्य चर्चा पर ही आप द्वारा आस्वाद किया जा रहा होगा। यदि कोई साहित्यकार आपके यहां पधार गये तो उन्हें सर्वोच्च सम्मान एवं सेवा प्रदान की जायगी और उनके सद्गुणों से सब को लाभ हो ऐसा प्रयत्न किया जायगा। आपने अपने यहां अनेक साहित्यकारों को समुचित सम्मान प्रदान कर अनेक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रन्थो के प्रकाशन में योगदान दिया है। "राजविद्या" आपके उदयआर्ट प्रिंटिंग प्रेस में मुद्रित ऐसा ही प्रकाशन है जो प्राचीन राजनीति एवं राजा, राजपुरुष, शासन परिषद् और शासन प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। उक्त ग्रन्थ अपने क्षेत्र में सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रन्थ है और नानाविध छन्दों में गुम्फित किया गया है। कई अध्यायों में विभक्त कर जिन राजनियमों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है, वह चरित्रनायक की प्राचीन राजनिति की तथा साहित्याभिरुचि का परिचायक है।

जोधपुर के ही कलिया कवि श्री नारायणसिंह जी आपके अनन्य श्रद्धालुओं में रहे हैं और डिंगल भाषा के अच्छे कवि होने से उनकी राज भक्ति तथा, शौर्य, प्रार्थना, पराक्रमादि स्थायी भावों की रचनाएँ प्रायः बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। इन्होंने प्राचीन जोधपुर राज्य में बड़े गुरां-साहिब श्री उम्मेददत्तजी महाराज व महाराज जसवंतसिंह जी के एवं चरित्रनायक व महाराज श्री उम्मेदसिंहजी के घनिष्ट सम्बन्धों का विवरण अपनी रचना "उम्मेदोदययशाङ्क" में किया है। आपको चरित्रनायक ने आदर सहित अपने यहां रखा व उनकी रचनाओं के प्रकाशन व संशोधन में अपूर्व योगदान किया।

इसी प्रकार स्वयं चरित्रनायक के छोटे मोटे अनेक प्रकाशन हैं जिससे आपकी साहित्य सेवा तथा प्रकाशन आदि प्रवृत्ति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आपके यहां के अप्रकाशित ग्रन्थों को आप भविष्य में भी प्रकाशित करवाने के विचार में हैं। केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च कौंसिल को भी आपने अपने यहां के ग्रन्थ प्रकाशनार्थ भेजे हैं। इस सबसे आपकी साहित्यिक गतिविधियों की स्पष्टता है।

आयुर्वेद क्षेत्र का शिष्य मंडल

चरित्रनायक से विधिवत् आयुर्वेदीय आर्ष ग्रंथों एवं आयुर्वेद के सैद्धान्तिक मल से सप्रायोगिक प्रत्यक्ष कर्माभ्यासादि शिक्षा ग्रहण कर चिकित्सा व्यवसाय में प्रवृत्त होने वाले शिष्यों में चरित्रनायक के दीक्षा शिष्य सर्व श्री मुनि देवेंद्रचंद्रजी व कान्तिचन्द्रजी के अतिरिक्त श्री प्रेम सुन्दरजी, वैद्य श्री बाबूलालजी जोशी, श्री देवीलालजी रंगा, श्री मदनलालजी रंगा, श्री द्रोणाचार्यजी, श्री दाऊलालजी जोशी, श्री मुरलीधरजी वैष्णव, कविराज श्री विष्णुदत्तजी, श्री शिवनारायणजी व्यास धनापा, श्री मूलराजजी, श्री मनोरमा आचार्य, श्री शांतिदेवी जोशी, श्री अम्बादत्तजी व्यास, मुलजी, श्री किशनलालजी रंगा, श्री गणेशो-

लालजी रंगा, श्रीरामलालजी जोशी, श्री पूनमचदजो जैन; श्री अशोककुमारजो जैन बाड़मेर, श्री हीराचंदजी पोरवाल, श्री रतनदेवी जैन, श्री सुमनदेवी जैन, श्री शकुन्तला आचार्य, श्री हरिशंकर आचार्य, श्री नारायणदासजी भाटीया, ओम्प्रकाश जैन, वन्दना जोशी आदि आज भी राजस्थान के वैद्य समाज में अपना प्रतिष्ठित स्थान सुरक्षित रखते हैं। कतिपय शिष्य यथा श्री बाबूलालजी जोशी आदि तो अखिल भारतीय स्तर के प्रतिष्ठित वैद्य एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। इस प्रकार आपके प्रायः सभी शिष्य आयुर्वेद जगत के उदीयमान नक्षत्र हैं और आयुर्वेद समाज की सेवा भी करते रहते हैं। वैद्यों के अधिकारों की रक्षा हेतु वह सदा चरित्रनायक के सान्निध्य में अपना सर्वस्व भी न्योछावर कर देने में नहीं हिचकते। अहर्निश किसी न किसी प्रकार आयुर्वेद की वे सेवा करते ही रहते हैं। ऐसे गुरु वास्तव में धन्य हैं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि चरित्रनायक अलौकिक प्राज्ञावान्, श्रीमान्, प्रत्युत्पन्न-मति, पीयूषपाणी चिकित्सक, आयुर्वेदीय शिक्षा कार्य, कुशल सिद्धौषध निर्माता, इस युगानुरूप यान्त्रिक, संगीत के धुरंधर विद्वान, साहित्यप्रेमी, उदार हृदय, एवं अनेकानेक विषयों के कोविद हैं। ऐसा अनूठा योग बिरले ही व्यक्तियों मे पाया जाता है। प्राणी मात्र के लिए हितकर होने के कारण आपका जीवन धन्य है। हम आपकी व शिष्य प्रशिष्यों की शतायु कामना करते हुए ईश्वर से आपको जीवनपर्यन्त स्वस्थ रखने की प्रार्थना करते हैं।

श्रीमतामायुर्वेद मार्तण्ड-प्राणाचार्य-वैद्यावतंस-महोपाध्याय-भट्टारक-राजमान्य-राज वैद्य-पंडित उदयचन्द्राभिध चाणोद-गुरां महाभागानां हीरक-जयन्ती मखमहोत्सवावसरे पद्यमयी कुसुमाजलिः सादरं समर्प्यते।

(१)

भव्येषु प्रभवन्ति पक्षरचनाः सिद्धयन्ति साध्ये त्वयि,
साक्षात् श्री जगदीश्वरोऽपि जगतः कल्याण कामाय यः।
यज्जन्माक्षयपूर्विकातिथि दिने (अक्षय तृतीयाम्) कृत्वा हि सन्तुष्यति,
सश्चाणोद गुरांभिधो विजयता मारोग्यवान् भारते ॥१॥

(२)

यो बाल्यात्स्वकुल चतैर्गु णगणैरालोकितश्चन्द्रवत्,
लोके नित्यनवैश्चिकित्सकगुणैरारोग्यलाभं दिशन्।
यः प्लेगादिमहामयप्रशमने लब्ध प्रतिष्ठो यतिः,
नाडीज्ञान रहस्यवित् सुभिषजां मूर्धन्यभूतो जयेत् ॥२॥

(३)

आयुर्वेद विधानदक्षभिषजा नानारहस्यान्विता,
सिद्धाः भेषजकल्पनाः सुभिषजां वृत्तिश्चसंस्थापिता।
प्रायश्चौद्भिदमौषधामृतमलं रोगौघविध्वंसने,
सः श्रीमान्नुदयाभिधो विजयतां सद्वैद्यचन्द्रो यतिः ॥३॥

यत्प्रभा परलोकद्वासि भासतेऽद्यापि भारती।
आयुर्वेदात्मकं ज्योतिः शाश्वतं नः प्रकाशताम् ॥

चरित्र नायक के श्रद्धावान् सुहृद्वर
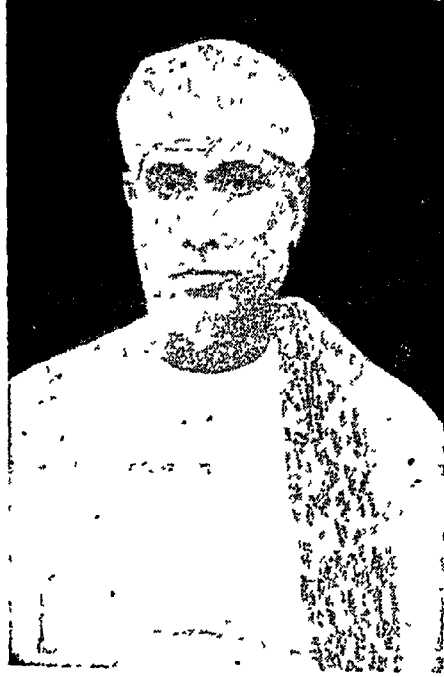
युगप्रवर्तक-आयुर्वेद-मार्त्तण्ड-प्राणाचार्य वैद्यरत्न भिषगाचार्य स्वर्गता :
श्री लक्ष्मीराम स्वामि महाभागा : जयपुर.

राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन (सीकर) की अध्यक्षता
करते हुए चरित्रनायक

चरित्रनायक के अनुजवत्

स्व० वैद्यराज पण्डित चन्द्रशेखरजी शास्त्री
कविरत्न, आयुर्वेदाचार्य, बीकानेर.

(४)

सूरिर्नित्यनवैश्चिकित्सकगुणैः सम्वर्धमानो भुवि,
राज्येनापिसुसत्कृतः सुशिविकासम्मानदानेन यः ।
हेमालंकरणैरलकृतपदो यो राजवैद्यो मतः
सश्चाणोदगुरांभिधो विजयतां धन्वन्तरि ख्यातिमान् ॥४॥

(५)

नानारोग निवारणेन जनता सम्मोदितानेकशः
सम्मानं ह्यभिनन्दनैश्च नितरामाकल्पयत् हार्दिकम् ।
आयुर्वेदचिकित्सकोऽमृतकरं सूरिर्हिभट्टार कः
सश्चाणोदगुरांभिधो यतिवरो जीव्यात्समाः शाश्वतम् ॥५॥

(६)

राजस्थान प्रदेश वैद्यपरिषन्मूर्धन्यमूतो यतिः,
आयुर्वेदमहत्त्ववर्धनविधौ वैद्यैः सुसम्मानितः ।
आयुर्वेद रविर्मतः सुभिषजां सम्मेलने भारते,
सश्चाणोद गुरांभिधो विजयतां नित्यं यशस्वीभवान् ॥६॥

(७)

प्रेम्णात्वच्चरणारविन्दयुगले सेयहि षट्पुष्पिकाः
मालापद्यमयी सदा विलसतां ते हीरकाख्ये मखे ।
आयुर्वेदमहर्षिरद्यसकलैर्लोकैर्हि संस्तूयते,
सोजीव्यादुदयाभिधश्चरकवच्चन्द्रो समाः शाश्वतम् ॥७॥

वैद्य प्रेमशंकर शर्मा भिषगाचार्येण राजस्थानायुर्वेदविभागस्य वर्तमान निदेशकेन भारतीयायुर्वेद पजीयनमण्डलायुर्वेद संकाय परिषदध्यक्षेण (प्रेसीडेन्ट कॉन्सिल ऑफ स्टेट बोर्ड एण्ड फेकल्टीज ऑफ इन्डियन मेडिसीन) आयुर्वेद बृहस्पति प्राणाचार्य आयुर्वेद महोपाध्यायादि विविधोपाधिधारिणा रचितानि ।

२५ नवम्बर, १९६७

तत्कालीन राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् के साथ

चरित्रनायक

यहां सर्वश्री वर्तमान राजस्थान विधान सभा के उपाध्यक्ष
श्री पूनमचन्दजी विश्नोई, न्याय मूर्ति श्री कानसिहजी आदि उपस्थित है।

राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन सीकर
के अध्यक्ष चरित्रनायक
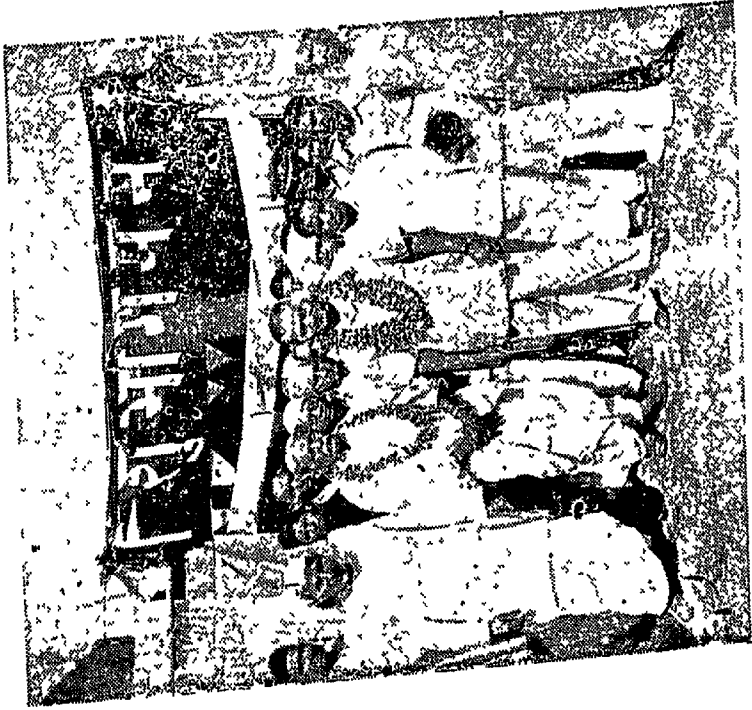
साथ में तत्कालीन स्वास्थ्य मन्त्री
श्री हनुवंतसिंहजी रावराजा खडे हैं,

राजस्थान के राज्यपाल डा० संपूर्णानन्द की
नाड़ी परिक्षण करते हुए चरित्रनायक

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥

श्री राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के दशमाधिवेशन

सीकर के सभापति

चिकित्सक सम्राट् आयुर्वेद मार्तण्ड प्र.णाचार्य भट्टारक महोपाध्याय राजमान्य राजवैद्य

पं० उदयचन्द्रजी महाराज (चाणोद गुरांसा)

का

अभिभाषण

२-५-५०

रोगादिरोगान्सततानुषक्ताऽशेषकाय-प्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥
राष्ट्रं समुन्नतमनामयमीहमानाः सर्वे वयं भिषज उद्यममद्य कुर्मः ।
धन्वन्तरे ! स भवतःकृपया फलीस्ता-दित्येव वांछति सदोदयचन्द्र एषः ॥

सभादरणीय वैद्य बान्धव,

मान्य महिलाओं व सज्जनों !

आज के इस क्षण को पुनीत पर्व, शुभ संयोग व मंगलमय मुहूर्त कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । क्योंकि आज की इन विषम परिस्थितियों मे हम सब आयुर्वेद का भविष्य सोचने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं । अतीत के विशाल गह्वर में हमारे पूर्वज महर्षिगण इसके लिए कितनी वार सोच चुके हैं इसका बहुत बड़ा इतिहास है । उनके ही सतत अध्यवसाय के फलस्वरूप अधिगत आयुर्वेद सिद्धान्त निधियों के स्वरूप को यथातथ्य मे समझने व समझाने के लिए ही हम सब इस प्रान्त मे आज दशवी वार एकत्रित हो रहे हैं। आगे कुछ कहूं इसके पूर्व यदि मैं मेरी निजी और आप सबकी ओर से उन महामहिम महर्षिराज कपिल, भेड़, जतुकर्ण, हारीत, आत्रेय, भारद्वाज आदि को स्मृति स्वरूप श्रद्धांजलि समर्पित कर यह कामना करता हूं कि उनकी अमर ज्योति हमारी आन्तरिक आत्मा में वह अदम्य उत्साह व साहस व्यक्त करती रहे कि हम उन्हीं के—

न त्वहं कामये राज्यं नारोग्यं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।

इस परमोत्तम लक्ष्य को पूर्ण करने में सफल सिद्ध हों ।

जहाँ हम आज इस उक्त लक्ष्य-पूर्ति के लिए सम्मिलित हो रहे हैं, वह क्षेत्र भी अपने अतीत की एक महती विशिष्टता व्यक्त कर रहा है क्योंकि जब-जब जहां-जहां हमारे पूर्वज महर्षिराज अपने विचारों के आदान-प्रदान के लिये एकत्रित हो उनका निष्कर्ष स्थिर करते थे, उसी के स्थल को हमारे पूर्वजों ने उनके कार्यकलापों के स्मारक स्वरूप एक पारिभाषिक "तीर्थ" शब्द से पुकारा है ऐसा कतिपय ऐतिहासिक प्रमाणों से व्यक्त होता है। अतः यह सीकर भी लोहार्गल क्षेत्र होने से जो राजस्थान में एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल समझा जाता है, एवं अपने प्रांगण से विश्व को विमल संदेश दे चुका है यह स्वयं सिद्ध है। उसी पुनीत प्रदेश पर हम सब आज सम्मिलित हो आयुर्वेद के लिये अवश्य ठोस निर्णय करेंगे ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

यहां के प्राचीन और वर्तमान शासक एवं कुबेरबन्धु श्रेष्टिसमाज की भी आयुर्वेद के प्रति कितनी गाढ भक्ति है। इसके प्रबल प्रमाणों का समन्वय यहाँ की श्री माधव सेवा समिति जैसी संस्था है, जिसको कि हमारे स्वागत मन्त्री पं० प्रह्लादरायजी प्राणाचार्य जैसे कर्मठ कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त है। इतना ही नहीं इसी प्रदेश ने अपने प्रांगण में देश-बन्धु राजस्थान-केशरी सेठ जमनालालजी बजाज जैसे सपूतों को खिलाया है जिन्होंने कि राजस्थान को ही नहीं समस्त भारत को गौरव प्रदान किया है। अतः मेरा यह विश्वास है कि आयुर्वेदोन्नति के निर्णयों के लिये भी यह स्थान अवश्य ही सफल सिद्ध होगा!

किन्तु जहां तक आज के हमारे इस सम्मेलन के सभापतित्व का प्रश्न है उसका प्रान्त के अनेक प्रमुख आयुर्वेद महारथियों के रहते मुझ जैसे साधारण व्यक्ति से पूर्ण कराया जाना मुझे संकोच अनुभव कराता जा रहा है। यह संकोच इसलिये नहीं कि इसके साथ मुझ पर कुछ उत्तरदायित्व आ रहा है अपितु संकुचित होने के लिये यह सन्देह बाध्य कर रहा है कि इस वृद्धावस्था में मैं आप महानुभावों की सेवा सम्यक् प्रकार से कर सकूंगा या नहीं? किन्तु फिर भी मैं आप महानुभावों की सद्भावना और कर्त्तव्यनिष्ठा में पूर्ण विश्वास रखते हुए इस गुरुतर भार वहन के लिये अपने आपको आपकी सेवाओं के लिये समर्पित करता हूं और आशा करता हूँ कि आप लोगों का पुनीत सहयोग ही इस कार्य में अवश्यम्भावी सफलता प्राप्त करायेगा।

आयुर्वेद का महत्व—

यहां मुझे आज आयुर्वेद के सिद्धान्तों की चर्चा द्वारा आयुर्वेद की वैज्ञानिकता सिद्ध करने में आपका अमूल्य समय वृथा नष्ट नहीं करना है। क्योंकि इसके लिये तो इस मच से ही नहीं अपितु विभिन्न प्रान्तीय वैद्य सम्मेलनों और अखिल भारतीय महासम्मेलन के मच से भी कई बार यह सिद्ध किया जा चुका है कि आयुर्वेद एक सर्वसम्मत वैज्ञानिक शास्त्र है, और इसीलिये केन्द्रीय सरकार व प्रांतीय सरकारों द्वारा नियुक्त की गई अन्यान्य कमेटियों

ने भी इसको सरकार की ओर से समुचित सहयोग प्रदान करने की दबे दिल से शिफारिशें की हैं। किन्तु फिर भी हमारे कुछ सहयोगी मित्र जो पाश्चात्य-पद्धति (ऐलोपैथी) के आधार पर ही अपना जीवित रहना समझते हैं और आयुर्वेद को सरकार द्वारा अपना लेने पर अपने राजसी-ठाट-बाट एवं अपनी उच्च पदों की हकूमतों का अन्त समझते हैं, वे आज भी आयुर्वेद पर कीचड़ उछालने से नहीं चूकते और सरकार को जो कि स्वयं ऐसे विषयों का निर्णय करने में असमर्थ है एव मनमाने तरीके पर समझा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। उन मित्रों के भारतवासी होने के नाते भारत की वफादारी के विषय में तो मुझे यहां कुछ नहीं कहना है किन्तु आयुर्वेद के विषय में जो भ्रम वे फैला रहे हैं उसके निराकरण के लिये मैं उन्हीं के गौरांग गुरुदेवों के आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ मन्तव्य यहां पर उपस्थित कर रहा हूं जो कि समय-समय पर उन्होंने आयुर्वेद की प्रशसा में प्रकट किये हैं।

आज के युग में अमेरिका को सर्व समृद्ध राष्ट्र स्वीकार करने में कोई भी सजग प्राणी नही जो शिर हिला सकता हो, जिसने कि अणुबम जैसी वैज्ञानिक शक्ति को अपनी क्रोड में रख कर विश्व को विस्मय में डाल दिया है ? वहीं के प्रसिद्ध चिकित्सा-विशारद डाक्टर क्लार्क आयुर्वेद की महत्ता निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं :

If the physicians of present day would drop from pharmocopea all the modern drugs and chemicals and treat their patients according to Charck there would be less work for undertakers and fewer chronic invalids in the world.

Dr. Clarke
M.A , M D.

अर्थात् आधुनिक चिकित्सक यदि अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोड़ कर चरक के सिद्धान्तानुकूल चिकित्सा प्रारम्भ कर दें तो. चिकित्सकों के सामने चिकित्सा कार्य का भार संसार में बिल्कुल कम हो जायगा। और संसार में जीर्ण रोग भी बहुत कम मिलेंगे।

Lt. Col. Dr. C P. Lukis लिखते हैं कि :—

We have many things to learn from the people of this country in respect of medicine science.

अर्थात् औषध विज्ञान के विषय में हमको इस देश से अभी बहुत कुछ सीखना है।

आयुर्वेद के शरीर विज्ञान के लिए डाक्टर हर्नल महोदय अपने निम्न शब्दों में विस्मय व्यक्त करते हैं।

Probably it will come as a surprise to many as it did myself to discover the amount of anatomical knowledge which is disclosed in the work of the earliest medical writers of India. Its extent and accuracy are surprising.

अर्थात् भारत के वैद्यक विज्ञान सम्बन्धी ग्रथ निर्माताओं ने अपने ग्रंथों में जो शारीरिक विज्ञान का वर्णन किया है उसे देख कर बहुत विद्वानों को विस्मय होगा जैसा कि मुझे स्वयं को भी हुआ है, क्योंकि भारतीयों का शारीरिक विज्ञान सम्बन्धी विवेचन इतना विस्मृत व सत्य है एवं वास्तव में विस्मयोत्पादक है।

आयुर्वेद के प्रसव विज्ञान व शल्य चिकित्सा विज्ञान के विषय में कलकत्ता के मेडिकल कॉलेज के प्रिंसीपल डाक्टर चार्ल्स ने जो कुछ लिखा है उसका उद्धरण प्रसिद्ध विद्वान वैद्य पं० उमेशचन्द्रजी ने इस प्रकार दिया है।

Dr. Charles highly praised the process on delivery of difficult cases and even confessed that with all his great experience in midwifery and surgery, he never had any idea of the like being found in all the medical works that came under his observation.

Vaidyak Shabd Sindhu
Preface Page 36

अर्थात् डाक्टर चार्ल्स ने यह स्वीकार किया है कि कष्टसाध्य प्रसव के लिए जैसा शल्य कर्म उसने आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाया है उनके लिए वह कभी सोच भी नहीं सका था।

उपर्युक्त प्रकरणों में ही बर्लिन के प्रसिद्ध डाक्टर हर्षबर्ग ने लिखा है कि—

The Indian kenw and Practised in indegenious operation wich always remained unknown to the Greeks and wich even the Europeans only learnt from them with Surprise in the beginning of this century.

भारतीय विद्वान् अपने शल्यकर्म को जानते थे और काम में लाते थे, जो ग्रीस बासियों के लिये अज्ञात ही था। यहां तक कि आज की इस शताब्दी के प्रारम्भ मे भी यूरोपियन लोग उन्हीं भारतीयों से वह शल्य कर्म बड़े विस्मय के साथ सीखते हैं।

उपयुक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद एक असंदिग्ध सर्वसम्मत विज्ञान है और यह आयुर्वेद विज्ञान भारत ही क्या विश्व का चिकित्सा शास्त्र हो सकता है। मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि अब वह दिन दूर नहीं कि जब सरकार स्वयं इन भुलावों को उलझन से निकलेगी और आयुर्वेद को ही राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित करेगी।

सरकार और आयुर्वेद—

आज स्वतन्त्र भारत अधूरे तीन वर्ष की अवस्था वाले निर्बोध शिशु की तरह है। जिस प्रकार इस अवस्था के बालक के लिये विवेकशून्यता स्वाभाविक है उसी प्रकार यदि हम हमारे भारत और भारतीय सरकार के लिये सोचे तो अप्रासंगिक नहीं होगा। किन्तु ऐसी

दशा मे निर्बोध शिशु के माता पिता और परिवार वालों का जितना उत्तरदायित्व उसके लालन, पालन और कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग में प्रवृत्त करने का होता है उस से कम उत्तरदायित्व आज भारतवासियों का भी भारत की स्वतंत्रता सरक्षण प्रवृत्ति में हो यह बात नही ?

२६ जनवरी १९५० के बाद तो यह उत्तरदायित्व और भी महत्वपूर्ण हो गया है। ऐसी अवस्था मे यदि भारतीय वैद्य समाज भी सरकार को अपना उचित सहयोग प्रदान करते हुये भारतीय जनता को पूर्ण स्वस्थ रखने का मार्ग प्रदर्शन करे तो असंगत नहीं है। क्योंकि वैद्य समाज ने तो भारत की परतत्र दशा में भी देश के सात लाख गावों की व अमीर गरीब सभी जनता की निष्काम भावना से सेवा की है। वैद्यों की सेवा व त्याग का ही तो यह फल है कि आज देश की निजी चिकित्सा पद्धति अपने क्रोड़ मे दिव्य अलौकिक प्रभाव लिये हुये स्वतत्र भारत का पुनः स्वागत कर रही है। अतः सरकार को भी चाहिए कि वह वास्तविकता समझते हुए अपने व्यामोह व पक्षपात को छोड़कर आयुर्वेदानुयायी वैद्य हकीमों की सहयोग की बात सुनें एवं स्वास्थ्य और चिकित्सा प्रसार के लिये विवेकपूर्ण उचित कदम बढावें क्योंकि इस जनतन्त्र युग में सरकार पर भी पूर्ण उत्तरदायित्व है। उसे जनता के धन, बल, कौशल का सदुपयोग करना है जोकि आगे जाकर उसे प्रशंसास्पद बनायेगा।

किन्तु यदि गहराई में पहुंच कर ढूंढ निकालें तो परिस्थिति बिलकुल विपरीत है। दूसरे शब्दों मे यदि यों कहें कि सरकार देश के स्वास्थ्य विभाग की ओर से आंख मीचे हुये है तो अतिशयोक्ति नही होगी। यद्यपि राजस्थान प्रान्त के एकीकरण के पूर्व विभिन्न इकाइयों में पहिले से ही यत्किंचित् साहय्य आयुर्वेद के नाम पर प्राप्त होता रहा था और प्रान्त के एकीकरण के बाद भी प्रान्तीय सरकार ने आयुर्वेद के लिये एक प्रारम्भिक उचित कदम बढा कर आयुर्वेद विभाग का स्वतंत्र संगठन कर दिया है एवं उसके उच्च पदाधिकारी की नियुक्ति भी की है। यह हमारे मुख्य सचिव श्री शास्त्रीजी व स्वास्थ्य सचिव श्री रावराजा साहिब का आयुर्वेद के प्रति स्नेह का द्योतक है।

किन्तु यह सब कब तक और कैसे अग्रसर होता रहेगा। क्योंकि हमारी प्रान्तीय सरकारों की नीति तो केन्द्रीय सरकार के आश्रित रहती है। केन्द्रीय सरकार की प्रतिच्छाया से प्रान्तीय सरकारें कभी ओझल नही हो सकतीं। अतः केन्द्र में जो नीति स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के लिए व्यवहृत की जा रही है उसके लिए मुझे आपसे यहाँ कुछ निवेदन करना है।

१५ अगस्त १९४७ का दिन भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य हुवा, जब कि यह भारत गत हजार वर्षो की परतंत्रता के सींकचों में से निकल कर अपनी स्वतंत्र दशा पर गर्जना करने लगा। उस समय यह स्वाभाविक ही था कि भारत की नवीन सरकार

भारत को सर्वतोमुखी दृष्टि से संपन्न करने का सोचती। और इसके साथ ही विचार-विनिमय करती स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के सुगठन के लिए भी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के सुगठन के लिए भी। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के लिए कोई समुचित कदम नही बढाया गया। ऐसी अवस्था मे जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, स्वतन्त्र भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार को देश के हित के लिए समझावे। भारतीय वैद्य समाज ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। इसके उत्तर में सरकार ने बताया कि देशी चिकित्सा पद्धति समिति की रिपोर्ट आने पर सरकार उस पर पूर्ण विचार करेगी। यह समिति कर्नल डाक्टर रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता मे दिनांक १६ दिसम्बर १९४६ का तत्कालीन सरकार द्वारा देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए बनाई गई थी।

यद्यपि इस कमेटी का निर्माण देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए किया गया था, किन्तु वह डाक्टर बंधुओं के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। इसका उत्तरदायित्व भी हमारी सरकार पर ही था, क्योंकि वह सत्य के प्रतिद्वन्दियों से सत्य कहलाना चाहती थी। इसीलिए सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए निखिल भारतीय वैद्य महा सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास कर सरकार की सेवा में भेजा था जो अविकल रूप में यहां दिया जाता है।

'अंतरिम सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय चिकित्सा पद्धति की समिति में वैद्यों के उचित एवं यथार्थ प्रतिनिधित्व के लिए जो पत्र व्यवहार महा सम्मेलन की ओर से संयुक्त मंत्री ने किया है और सरकार द्वारा उसकी जैसी अवहेलना हुई है उस पर यह सम्मेलन अत्यंत असंतोष प्रकट करता है और सरकार को सचेत करना चाहता है कि इस स्थिति में इस समिति द्वारा जो कुछ निर्णय किए जायेंगे सम्मेलन उन्हें स्वीकार करने को बाध्य नहीं होगा।'

'यह सम्मेलन सरकार का पुनरपि इस ओर ध्यान आकर्षित करना उचित समझता है कि आयुर्वेद के विषय मे विचार करने के लिए अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का सहयोग लेना परम आवश्यक है।'

देश के कोने कोने से भी उक्त प्रस्ताव के रूप में सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया। इस अवसर पर सरकार ने श्री आचार्य यादवजी महाराज बम्बई, वर्तमान सभापति अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन को कमेटी में नियुक्त किया। परिणामतः वैद्य समाज को कुछ सन्तोष हुआ। इसके कुछ दिन बाद ही कमेटी ने भी साक्षी आदि लेकर अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष शीघ्र उपस्थित करदी। कमेटी ने अपने इतिवृत्त में देशी चिकित्सा पद्धति

को प्रोत्साहित करने के लिए काफी सुन्दर सुझाव दिए, जिनको शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन ने अपने बड़ौदा वाले ३६ वें अधिवेशन में सर्वसम्मत निर्णय किया। और इससे सरकार को सूचित भी कर दिया गया। किन्तु सरकार की ओर से इस तरफ अभी कोई समुचित कदम नही बढ़ाया गया है। हाँ, तद्विपरीत वैद्य समाज और भारतीय जनता को अन्धकार में रखने के लिए डाईरेक्टर जनरल ऑफ हेल्थ सर्विसेज गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया के परामर्श से भारत की वर्तमान स्वास्थ्य मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृत कुंवर ने देशी चिकित्सा पद्धति के पक्ष में चोपड़ा कमेटी के विचारों पर पुनः नवीन तौर पर विचार करने के लिए एक अन्य कमेटी फिर नियुक्त करदी है।

हाल ही में अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन का जो ३७ वां अधिवेशन देहली में हुआ उस समय भी भारतीय वैद्य समाज का एक शिष्ट मंडल स्मृतिपत्र (Memorádum) पेश करते हुए भारत की स्वास्थ्य मन्त्रिणी श्रीमती राजकुमारी अमृत कुंवर से मिला तो उसके उत्तर मे स्वास्थ्य मंत्रिणी ने उक्त कमेटी के निर्णय प्राप्त होने तक के लिए प्रतीक्षा करने का कह कर पुनः टाल दिया। और यदि कमेटी के निर्णय विषयों पर मनन करें तो अवगत होगा कि मानों इस बार तो सरकार ने देशी चिकित्सा पद्धति पर अन्तिम प्रहार कर दिया है। अतः यदि अब हम इसे आशा के प्रतिकूल कदम बढाना न कहें तो कहें क्या ? जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ सरकार की ओर से तो परिस्थिति बिल्कुल विपरीत ही है। सरकार देशी चिकित्सा पद्धति के लिए न कुछ करती है और न कुछ करना चाहती ही है।

हमारी सरकार हमारी देशी चिकित्सा पद्धति के लिये इस प्रकार का कुठाराघात करती है यह जानकर प्रत्येक सहृदय मानव के हृदय में तहलका मच जाता है। अन्ततोगत्वा सरकार देशी चिकित्सा पद्धति का इस प्रकार गला क्यों घोटती जा रही है ? और विदेशी चिकित्सा पद्धति को भारतीय जनता पर क्यों बलपूर्वक लादती जा रही है ? ये दो प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही हैं।

उक्त दोनों प्रश्नों के समाधान का समस्त उत्तरदायित्व भी सरकार पर ही देना होगा। आज की सरकार स्वयं अज्ञान, भ्रान्ति, उपेक्षा व पक्षपात से आच्छादित है। केन्द्रीय सरकार के समस्त सचिव पाश्चात्य सभ्यता से अनुप्राणित होने के कारण उनके आचार-विचार व रहन-सहन आदि सभी मे पाश्चात्य सभ्यता की बू है। वे भारत को एक वैदेशिक संस्कृति के आधार पर सुसज्जित करना चाहते हैं। यह भी मैं कहूंगा कि चाहे उन्हें भारत के राजनैतिक जीवन का विशेष ज्ञान हो, किन्तु पिछले कार्यकाल के अनुभव ने यह बता दिया है कि उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का तो आवश्यकतानुकूल ज्ञान नहीं ही है।

जब वे पूर्व एवं पश्चिम के परस्पर विरोधी विचारों से सोचते हैं और निष्कर्ष नहीं निकाल पाते, किन्तु विचार समूहों में भ्रान्त हो जाते हैं तब उन्हें उनका मानवीय स्वभाव

जो कि वर्षों से उसी रंग में रंगा हुआ है, भारतीय विचारों से उपेक्षा और पाश्चात्य से पक्षपात करा देता है। यही कारण है कि आज आयुर्वेद के विषय में ही नहीं अपितु कतिपय सामाजिक एव आर्थिक समस्याओं के निर्णय में भी उनकी यही दशा है। अन्यथा उनका ऐलोपैथी के प्रति ऐसा एकान्त पक्षपात नहीं होता जैसा कि आज किया जा रहा है।

जिस चिकित्सा पद्धति को विदेशी सरकार ने भी भारत जैसे दीन-हीन देश के लिए ठीक नही समझा और भोर कमेटी खर्चीली योजना को कार्यान्वित न कर देशी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए चोपड़ा कमेटी नियुक्त कर विचार उपस्थित करने को कहा। उसी भोर कमेट के सुझावों को आज हमारी स्वदेशी सरकार कार्यान्वित करने जा रही है, जो न केवल देश को ही निर्धन बनायेगी अपितु देश के व्यक्तियों के स्वास्थ्य स्तर को भी अत्यधिक गिरा देगी। प्रसंगोपात्त से यदि यहां भोर कमेटी के दिये कुछ सुझावों पर प्रकाश डालू तो अनुचित न होगा।

भोर कमेटी ने अपने सुझावों में सिफारिश की है कि देश की स्वास्थ्य रक्षा के लिये सरकार को तीन अरब त्रसठ करोड़ रुपये एक कालिक और छः अरब एक करोड़ रुपये प्रति वर्ष खर्च करना होगा। जिसके द्वारा प्रत्येक छः हजार की जन-सख्या के पीछे एक डाक्टर रखा जायगा। अब आप ही सोचिये कि यदि सरकार अपने देश के धन का एक बहुत बड़ा भाग दूसरे उन्नति के आवश्यक कार्यों को छोड़ कर इस काम में व्यय कर भी दे तो परिणाम क्या होगा ?

हां, पूज्य महात्मा गांधी के वे विचार तो सर्वथा सत्य हो जायेंगे जो उन्होंने एक बार अपने "यंग इण्डिया" पत्र में लिख कर व्यक्त किये थे कि "अंग्रेजों ने अपनी चिकित्सा पद्धति का प्रचार हमें गुलाम बनाने के लिये ही किया है। अंग्रेज चिकित्सक एशिया के प्रदेशों में बस कर अपना व्यवसाय राजनैतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये करते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति की वृद्धि का अर्थ हमारे पराधीनता के पाशबन्धन को और भी दृढ़तम बनाना है।"

जो चिकित्सा पद्धति(ऐलोपैथी) राज्य से पूर्ण आश्रय पाकर और डेढ़सो वर्ष तक अरबों रुपये प्रचार के लिए खर्च करवा कर २५००० हजार की जन-संख्या के पीछे (जो अभी के अनुपात से है) एक चिकित्सक भी तैय्यार नहीं कर सकी है उससे एक हजार की जनसंख्या पर एक चिकित्सक की आशा करना एक दुराशामात्र नही तो और क्या ? यह हमारे शासक स्वयं शान्त मस्तिष्क से सोचें तो भला होगा।

यहाँ मुझे ऐलोपैथी का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं करना है, क्योंकि यह एक प्रकरणान्तर है। इसके लिए तो वैद्य-डाक्टरों कासंयुक्त सम्मेलन होना चाहिए जिसमें देश के सच्चे हित को ध्यान में रखते हुये सोचा जाय तो बताया जा सकता है कि एक ओर तो ऐलोपैथी में

कितने दोष हैं एवं उसके सिद्धांत कितने भ्रान्त हैं। और भारत जैसे देश के लिए वह कितनी और कैसी अनुचित सिद्ध हुई है एवं हो सकती है।

जहाँ कि दूसरी ओर आयुर्वेद न केवल शरीर के स्थूल व सूक्ष्म अंगो-पांगों को स्वस्थ्य रखने एव विकृतावस्थापन्न शरीर को और शरीरावयवों को निरोग रखने वाला शास्त्र ही न होकर अध्यात्म विद्या व मानव शास्त्र भी है। इसमें एक ओर धर्माधर्म तथा योग शास्त्र जैसे गहन विषयों का विवेचन है और दूसरी ओर नैतिकता और सच्चरित्र के उपदेशों द्वारा आदर्श नागरिक निर्माण की कला है। एक ओर वैशैषिक दर्शनों द्वारा प्रतिपादित त्रिगुणवाद और परमाणुवाद के आधार पर भौतिक शास्त्र का सूक्ष्म विश्लेषण है तो दूसरी ओर त्रिदोष-वाद के मौलिक सिद्धान्तानुसार शरीर के स्थूलावयवों की चिकित्सा भी है।

किन्तु फिर भी जब जब आयुर्वेद को ही राष्ट्र की चिकित्सा पद्धति घोषित करने के लिए सरकार के समक्ष सुझाव उपस्थित किए गए तब तब सरकार ने आयुर्वेद क्या विज्ञा-तानुमोदित चिकित्सा शास्त्र है ? क्या इससे अनुसंधान और वैज्ञानिक आविष्कार किए जा सकते हैं ? क्या आयुर्वेद में शल्य चिकित्सा है ? यदि स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग से डाक्टरों को सर्वथा दूर कर दिया जाय तो क्या वैद्य लोग इसका यथावत् संचालन कर सकेंगे ? आदि २ विभिन्न प्रश्न करके उनके निर्णय के लिए एक कमेटी बना दी है, जिनमें कि डाक्टर बन्धुओं की ही अधिकता और अध्यक्षता रही है। इससे सत्य और वास्तविकता भी सरकार से सर्वथा दूर ही रही है।

सरकार क्या करे ?

यदि सरकार कमेटी से ही इस विषय में निर्णय कराना चाहती है, तो वह देश के प्रमुख वैद्यों को उसमें स्थान दे। और वैद्यों की अध्यक्षता से ही कमेटी का निर्णय प्राप्त करे। अन्यथा मैं तो यह निवेदन करूंगा कि सरकार के उक्त प्रश्नों के समाधान के लिए इसी वक्तव्य के प्रारम्भ मे मेरे द्वारा दिए गए आयुर्वेद के प्रति विदेशी चिकित्सकों के मन्तव्य एवं अब तक की सरकार द्वारा नियुक्त की गई कमेटियों के सुझाव ही पर्याप्त होंगे। समय की मांग को दृष्टिगत करते हुए अब कमेटियों से निर्णय लेने का समय बीत चुका है। अतः सरकार अब तो आयुर्वेद के लिए रचनात्मक कदम बढ़ावे। और आयुर्वेद के सिद्धांतों पर ही देश के लिए एक संयुक्त चिकित्सा पद्धति घोषित कर निम्न प्रकार से स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग का संगठन करे।

केन्द्रीय चिकित्सा समिति Medical Council of India में भारतीय वैद्यों को अधिका-धिक सख्या में स्थान दे।

केन्द्र के स्वास्थ्य व चिकित्सा विभाग के उच्च पदाधिकारी पद पर वैद्य को नियुक्त करे, जिसे कि ऐलोपैथी का पर्याप्त ज्ञान हो।

राजकीय समस्त चिकित्सालयों और आतुरालयों में औषध चिकित्सकों Physicians के स्थान पर वैद्यों को ही नियुक्त करे। और शल्य चिकित्सक के स्थान पर जब तक योग्य शल्य चिकित्सक वैद्य उपलब्ध न हो तब तक ऐलोपैथी के डाक्टरों को नियुक्त करें। किन्तु शल्य चिकित्सा साध्य व्याधियों में भी डाक्टरों के लिए आवश्यक हो कि वे वैद्यों द्वारा दिए गए सुझावों पर पूर्णतया गम्भीरता से विचार करें। और आवश्यकतानुकूल उनको काम मे भी ला कर अनुभव प्राप्त करें। तात्पर्य यह है कि चिकित्सा का आधार स्तम्भ आयुर्वेद को ही बनाना चाहिए। क्योंकि इसके सिद्धान्त स्थिर हैं।

किन्तु मेरे उपर्युक्त कथन का यह अर्थ भी नहीं समझा जाय कि आज के युग में विदेशी चिकित्सा पद्धति ने इस संसार को जो अद्भुत व आवश्यक नवीनताएँ दी हैं उनको सर्वथा व्यवहार में नही लाना चाहिए। मैं ही नहीं आयुर्वेद का सिद्धांत भी इसको स्वीकार करता आया है कि विश्व का कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है कि जो औषध नहीं हो। किन्तु उसकी तारतम्य विवेचना आयुर्वेद के सिद्धांत द्रव्य-गुण-परीक्षण के आधार पर ही करके उसको कार्य रूप में व्यवहृत करना चाहिए। अतः ऐलोपैथी के जो उपादेय और अत्यावश्यक अंश (यंत्र शस्त्रादि) हैं उनको अवश्य ग्रहण कर लेन चाहिए। किन्तु मैं साथ ही यह भी कहूँगा कि उसके आधारभूत सिद्धांत अभी स्थिर नहीं हो पाए हैं। अतः काय चिकित्सा के लिए तो विशुद्ध आयुर्वेदीय चिकित्सा हो होनी चाहिए।

आधुनिक ऐलोपैथी में जो शल्य चिकित्सा प्रचलित है आयुर्वेद उससे शून्य नही है इसका विशद विवेचन शास्त्रो मे उपलब्ध है। अतः जब तक आयुर्वेद की शल्य चिकित्सा कार्य रूप में नहीं ली जा सके तब तक के लिए उसे उसी रूप मे ग्रहण कर लेना चाहिए। और धीरे २ उसमें व्यवहृत होने वाली औषधियों के स्थान पर भी स्वदेशी औषधियों का व्यवहार करना प्रारम्भ कर देना चाहिए।

देश में विभिन्न स्थानों पर स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित कर उनके द्वारा स्वास्थ्य का प्रचार करवाया जाना चाहिए। स्वास्थ्य प्रचार के लिए केवल वैद्यों को ही नियुक्त करें, क्योंकि आयुर्वेद में स्वास्थ्य संरक्षण की सामग्री पूर्ण मात्रा में उपलब्ध होती है। आयुर्वेदीय परि-पाटी से यदि भारतीयों की दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या बनी तो जनता पूर्ण स्वस्थ रह सकेगी।

यह तो हुई स्वास्थ्य और चिकित्सा विभाग के नवीन सगठन की व्यवस्था। आगे आयुर्वेद की सर्वांगीण उन्नति करने के लिये सरकार को भारत के समस्त विश्व-विद्यालयों में आयुर्वेदिक कालेजों की स्थापना करनी चाहिये। जिनके साथ आतुरालय, शावच्छेदना-लय, चिकित्सालय, रसायनशाला, वानास्पतिक उद्यान, वनस्पति विश्लेषण शाला, अनुसंधान शाला, पुस्तकालय आदि की भी अनिवार्य व्यवस्था हो। उन कालेजों का पाठ्यक्रम आयु-

वेदप्रधान तो हो ही किन्तु उसमे आवश्यक आधुनिक रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान का भी अवश्य समन्वय किया जाय।

आयुर्वेदीय औषधियों का मापदण्ड Standard एक सा हो इसके लिए सरकार देशी औषधियों के व्यवसाय पर नियंत्रण स्थापित करे। किसी प्रकार का संदिग्ध द्रव्य प्राप्त न हो इसके लिए फार्मेसी एक्ट और भारतीय वनस्पति Indian drugs act एक्ट बना कर कार्यान्वित करे। समस्त भारत के लिए एक फार्मोकोपिया का निर्माण करावे।

भारत जैसे समृद्ध देश मे प्रकृति देवी की असीम अनुकम्पा रही है, जिससे यहां कई प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन में औषधियों की भी न्यूनता नहीं है। अतः सरकार उनके निर्णय, संग्रह और सदुपयोग की पूरी पूरी व्यवस्था करे। उन्हीं वनस्पतियों का प्रचुर मात्रा में उत्पादन बढ़ाने के लिए राजकीय वनविभागों के सहयोग से पूर्ण प्रबन्ध करे।

एक केन्द्रीय विशाल अनुसंधानशाला की भी आवश्यकता है। इसका प्रधान, वैद्य हो। उस अनुसंधानशाला में वैद्य और डाक्टर दोनों मिल-जुल कर देश के हित को ध्यान में रखते हुए उत्तमोत्तम अनुसंधान करें जो देश के लिए वरदान सिद्ध हो।

उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था से न केवल सरकार को आर्थिक लाभ ही होगा अपितु सरकार देश के धन के बहुत बड़े भाग को बचा कर कितने ही अन्य आवश्यक कार्य कर सकेगी। और देश का स्वास्थ्य स्तर भी राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक सभी पहलुओं से अभ्युन्नत होगा।

यदि सरकार अभी मेरे सुझावों के अनुसार कतिपय कारणों से इस प्रकार की व्यवस्था नही करना चाहती हो और आयुर्वेद का परीक्षण ही कराना उचित समझती हो तो वर्तमान मे चलने वाले राजकीय चिकित्सालयों के मेडिकल वार्डों को दो विभागों में बांटकर परीक्षण करे। उन दोनों विभक्त किए भागों में से एक में वैद्यों तथा दूसरे में डाक्टरों को चिकित्सा के लिए नियुक्त कर रोगियों की तुलनात्मक चिकित्सा से निर्णय कर ले कि एक रोगी को वैद्य कितने समय में किस मूल्य की औषध से, किस व्यवस्था से और किस प्रकार स्वस्थ्य करता है और रोग-मुक्ति के बाद उस रोगी की साधारण स्वास्थ्य दशा की क्या अवस्था रहती है। और साथ ही यह भी देखें कि डाक्टर साहेब दूसरे रोगी को क्या करते हैं। इस प्रकार तारतम्य के निर्णय से जो सुलभ मार्ग अवगत एवं सिद्ध हो वही मार्ग सरकार शीघ्र अपनावे।

मुझे केवल निवेदन यही करना है कि अब सरकार देशी चिकित्सा पद्धति के लिए कुछ रचनात्मक कदम बढ़ावे और फिर उससे दूसरी दूसरी आशाएँ करें। बिना सरकार के आश्रय के प्रत्यक्ष में आयुर्वेद के द्वारा कुछ बताना संगत नहीं क्योंकि वैद्य कोई जादूगर नही है कि चट से जादू दिखा कर सरकार को चमत्कार दिखाने की मांग पूरी कर दे। अतः

सरकार को चाहिए कि उपर्युक्त सुझावों के आधार पर किसी न किसी रूप में देशी चिकित्सा को अपनावे।

यह मैं अवश्य विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि सरकार ने देशी चिकित्सा पद्धति घोषित की तो देश को एक बहुत बड़ा आर्थिक लाभ होगा।

अब प्रश्न शेष यह रह जाता है कि सरकार यह समन्वय, जो मैंने बताया है करे ही क्यों? जब कि उसका कार्य इस वर्तमान व्यवस्था से चल ही रहा है। इसका उत्तर बिलकुल संक्षिप्त है कि आज की सरकार प्रजा की सरकार है। अतः वह प्रजा के धन और स्वास्थ्य दोनों का ह्रास नहीं कर सकती। देशी चिकित्सा, विदेशी चिकित्सा की अपेक्षा उत्तम एवं सस्ती होने के कारण सरकार को इस प्रकार करना ही होगा, अन्यथा एक दिन जैसे राष्ट्र भाषा के प्रश्न को हल करने के लिए अंग्रेजी और हिन्दी के बीच सरकार उलझी हुई थी, और देशव्यापी जनता की मांग ने सरकार को निर्णय पर ला ठहराया वैसे ही राष्ट्र की चिकित्सा पद्धति के लिए भी होकर ही रहेगा।

वैद्य समाज और आयुर्वेद

समय का प्रभाव है कि वैद्य समाज को भी अब अपना परिवर्तन करना होगा। आज का युग संगठन एवं प्रचार का है। इस प्रचार प्रचार प्रधान युग में भी वैद्यों की गुण-गरिमा यदि औषधालय और उनके रोगियों तक ही सीमित रही तो एक दिन हमें समाप्त हो जाना होगा। आज भी यदि वैद्य बन्धु अपने प्राचीन संहिता ग्रंथों के सूत्रों पर पारस्परिक द्वन्द युद्ध करते रहे, संसार के नवीनतम आविष्कारों को देख एक पक्ति का सूत्र इस आशा में कह कर कि यह तो हमारे यहां भी है सन्तोष लेते रहे एवं एक दूसरे की कमी को ताकते रहे तो इसमें सन्देह नही कि सरकार हमारे लिए जो करने जा रही है उसमें वैद्यों का अन्त हो जायगा। अतः हमे पारस्परिक भेद-भाव एवं छोटे-मोटे की भावना भुला कर जन-सम्पर्क मे आते हुए आयुर्वेद के पूर्ण प्रचार के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

सगठन

आज के वैद्य समाज के पारस्परिक वैमनस्य का सबसे बड़ा कारण हमारी निजी आत्मानभिज्ञता है। इसको समझने के लिए मुझे वैद्य समाज को दो दलों में विभक्त करना होगा। पहला नवीन दल जो विद्यालयों से शिक्षा प्राप्त कर निकला है। दूसरा प्राचीन दल जो गुरु-परम्परा एव वंश-परम्परा से चिकित्सा करता आ रहा है। द्वितीय दल की प्राचीनता होने के कारण उनका जनता पर विशेष प्रभाव है। अतः उन्हें अपने प्रभाव का अभिमान है और नवीन शिक्षितों को उनकी शिक्षा का। इसमें संदेह नहीं कि दोनों ही दलों का अभिमान अपनी अपनी दृष्टि से सही है। किन्तु यह अभिमान एक दल से दूसरे दल को घृणा करना सिखाता है यह बुरा है। जहां दोनों दलों को अपना प्रभाव आयुर्वेद के उत्थान

के लिए समष्टि रूप से लगा देना चाहिए, वहां ऐसा नहीं होता। जब-जब आयुर्वेद के उत्थान का प्रश्न विज्ञ-व्यक्ति के समक्ष मे आता है तब-तब वह इन दोनों दलों के प्रचार से जो एक दूसरे के विरोध में करते हैं, अपना निजी निर्णय नहीं कर पाता। और आयुर्वेद से श्रद्धा के स्थान पर घृणा करने लग जाता है।

प्रिय वैद्य बन्धुओं! इस प्रकार आज हम ही आयुर्वेद के प्रवर्तक होने के स्थान पर घातक हो रहे हैं। हमें इस भेदभाव को भुलाना चाहिए, और छोटे-बड़े की भावना को भुला कर पारस्परिक प्रेम करना सीखना चाहिये। यहां मेरा नवयुवकों से विशेष निवेदन है कि वे अपना उत्तरदायित्व समझें। भारतीय संस्कृति के आधार पर वृद्ध सदा आदरणीय होते हैं और वैसे भी वृद्ध प्रणाली अब राजकीय रजिस्ट्रेशन आदि की नवीन व्यवस्था से थोड़े समय में ही समाप्त होने वाली है। अतः नवयुवकों को अपनी कर्त्तव्यपरायणता और सहिष्णुता से काम लेते हुये वृद्धों का समादर करना चाहिये। और उनके द्वारा वंश-परम्परा से प्राप्त आयुर्वेद के अनुपमेय गुणों वाले प्रयोग प्राप्त कर निजी और आयुर्वेद की कीर्तिपताका फहरानी चाहिये। यहां मुझे मद्रास के कैप्टिन श्री निवास मूर्ति के वे शब्द स्मरण होते हैं जो उन्होंने अपने अध्यक्ष पद से कहे थे कि "यदि हमें आयुर्वेद को चमकाना है तो वंश-परम्परागत चिकित्सकों का सम्मान करना सीखना चाहिये।"

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वृद्ध कुछ करे ही नही। वृद्ध महापुरुषों से भी मेरी प्रार्थना है कि वे आज के नवयुवकों को अपने उत्तराधिकारियों के रूप में समझें और समझें कि इन्हीं सपूतों से आयुर्वेद के भविष्य का निर्माण होना है। अतः तन, मन, धन, से नवयुवकों को सहयोग दे और उनके परिश्रम का सम्मान करें, इससे वैद्य समाज का एक व्यापक संगठन होगा।।

प्रचार कार्य समाचार पत्र

आज के युग मे प्रचार के जो मोटे मोटे साधन हैं, उनमें प्रेस (मुद्रणालय) व प्लेटफार्म (व्याख्यान मच) हैं। अतः वैद्य समाज को भी चाहिये कि अब वह केवल वैद्यों के ही प्लेटफार्म तक सीमित न रह कर सभी संस्थाओं में प्रविष्ट हों। उनके प्लेटफार्म से भी यथाशक्य आयुर्वेद का प्रचार करें।

समाचार पत्रों द्वारा भी हमे आयुर्वेद का प्रचार करना चाहिये। किन्तु आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाओं का जो रूप आज हमारे सामने है वह बड़ा ही शोचनीय है। हमारे राजस्थान प्रांत में, जो कि भारत के महाप्रांतों की गणना में एक है और जहां देशी राज्यों की पहले से ही अधिकता होने के कारण वैद्यों को उचित संरक्षण प्राप्त होता रहा है। जिससे यहां पर सफल चिकित्सक और विद्वान वैद्यों की उचित उपलब्धि है, फिर भी आज यहां एक ही पत्रिका का प्रकाशन होता है। और वह भी द्वैमासिक पत्रिका के रूप में, जहां कि

उसे पाक्षिक व साप्ताहिक रूप में निकलना चाहिए था। क्योंकि यह प्रांत के वैद्य समाज का प्रमुख पत्र है। यही दशा अन्य प्रांतों के पत्रों की एवं निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन की पत्रिका की है। इसको हमें अवश्य बदलना होगा।

वह बदलना होगा इस प्रकार कि प्रत्येक प्रांत में तीन प्रकार के पत्र प्रकाशित होने चाहिये। १. बालशिक्षापयोगी स्वास्थ्य पत्र, २. साधारण जन-स्वास्थ्य पत्र, ३. वैद्य समाज का प्रमुख पत्र। बालशिक्षापयोगी स्वास्थ्य पत्रों में बीस वर्ष तक के छात्र जीवन सबधी स्वास्थ्य नियम एवं स्वास्थ्य ही स्वतंत्र नागरिक निर्माण कर सकता है इस भावना से संबंध रखने वाले लेख होने चाहिये। साधारण जन-स्वास्थ्य पत्रों में पारिवारिक स्वास्थ्य संरक्षण कैसे हो सकता है आदि सर्वसाधारण जनोपयोगी लेख होने चाहिये। और वैद्य समाज के प्रमुख पत्रों में आयुर्वेदीय प्रयोगों पर किये गये अन्वेषण, नवीन प्रचलित रोगों पर आयुर्वेदीय निदान प्रणाली एवं चिकित्सानुभव, और संगठन संबंधी उपाय प्रकट करने वाले लेख होने चाहिये। इसके साथ ही प्रत्येक पत्र में ठोस सामग्री होनी चाहिये जिससे कि प्रत्येक संबंधित व्यक्ति आकर्षित हो कर पत्र का ग्राहक बने ही। आज की तरह जैसे कि पत्रिका सम्मेलन पर भार है और प्रतिवर्ष सम्मेलन के कोष से कुछ न कुछ भेंट पत्रिका को चढ़ानी ही पड़ती है ऐसा नही होना चाहिये।

यदि इस भार का भी कारण ढूंढ निकालें तो इसके लिये हम ही दोषी प्रमाणित होते हैं। क्योंकि जिस व्यवसाय के आश्रय से हम अपना जीवनयापन करते हैं उसके लिए एक क्षण भी देना नही चाहते। यदि कहीं इस व्यवसाय के फलस्वरूप पद व सम्मान वितीर्ण होता हो तो हम अवश्य अपनी बड़ी बड़ी योग्यताओं के प्रमाण पत्रों को बगल में दबाये घण्टों प्रतीक्षा में व्यर्थ समय नष्ट कर देते हैं एवं अपनी योग्यताओं के पुल बांधने में तनिक भी नहीं सकुचाते। किन्तु समाजोत्थान एवं आयुर्वेद के विकास के लिये एक क्षण भी देना हराम समझते हैं, जहां कि हमारे दूसरे साथी अपने विज्ञान और व्यवसाय के लिये प्राणों तक का बलिदान कर देते हैं अतः हम वैद्यों को समाचार पत्रों के लिए भी अवश्य समय निकालना चाहिए।

रचनात्मक कार्य-क्रम

प्रिय बान्धवों! अब मोह निद्रा को छोड़ो और आयुर्वेद की तपस्या में लग जाओ। जहां तक मेरा निजी विश्वास है, आज के वैद्य समाज में एक भ्रांतिमूलक धारणा और भी फैली हुई है—वह यह है कि साधारण परिस्थिति से वैद्य विशिष्ट महापुरुषों से नवीन जागृति की अधिक आशा लगा कर अपने आपको अकर्मण्य बना लेते हैं। मैं उनसे निवेदन करूंगा कि मेरी समझ से हम लोगों में एक कार्यकर्ता और सम्मेलन के सेनानी के रूप में

कोई भी साधारण व विशिष्ट नहीं है। हम सब एक स्थान पर बैठ कर विचार करने वाले एक ही हैं। जितने भी महापुरुष आज हमारे सामने है वे साधारणता से निकले हैं। अतः ऐसी मिथ्या धारणाओं को स्थान नहीं देना चाहिए। और आयुर्वेद के विकास के लिए देश के कोने-कोने से कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए।

आयुर्वेदीय कार्यक्रमों में प्रचार के अतिरिक्त रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रमुखता दी जानी चाहिए। इससे वैद्य अपना निजी एवं आयुर्वेद का लाभ तो प्राप्त करेंगे ही साथ ही जनता को भी अत्यधिक लाभ मिलेगा। जिससे जनता को भी अत्यधिक लाभ मिलेगा। जिससे जनता की अभिरुचि आयुर्वेद की ओर विशेष प्रवृत्त होगी और वैद्य समाज की आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप में स्वीकार कराने की मांग भी अत्यधिक सरल हो जायगी। अतः वैद्य बान्धव अपने-अपने स्थान पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से स्वास्थ्य केन्द्र खोलें। और गाँव के सेठ-साहूकारों, पटेल-चौधरियों एवं राज्यकर्मचारियों को उनका सदस्य बनाकर प्रति सप्ताह सभायें किया करें। उन सभाओं में स्वास्थ्योपदेश द्वारा आयुर्वेदीय विवेचन से दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, देशों आदि के नियम सरल भाषा में समझावें। आस-पास के क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली औषधियों के गुणों पर प्रकाश डालें और गाँव के धनिक नागरिकों की सहायता से रुग्णावस्था मे आवश्यक प्राथमिक चिकित्सा के लिये कुछ औषधियो का संग्रह भी रखें। इस प्रकार सर्वतोमुखी सेवा प्रत्येक वैद्य अपने-अपने स्थान पर प्रारम्भ करदे।

और जब ग्राम पचायतों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और सभाओं के निर्वाचन हों तब वैद्य लोग अधिक से अधिक संख्या में चुनाव के लिये खडे होकर उन बोर्डों और सभाओं के सदस्य बनें। इसमें कोई सदेह नहीं कि वैद्य लोग चुनाव में सफल न हों क्योंकि उनकी सेवायें उनको अवश्य विजेता बनायेंगी। इस प्रकार जब वे अपनी मूक सेवाओं से शासन के अंग बनेंगे तो एक दिन आयेगा कि आयुर्वेद भारत की ही नही विश्व की चिकित्सा प्रणाली हो सकेगी। उक्त रचनात्मक कार्यक्रम मे कोई व्यय और बाधा नही है। केवल त्याग व सेवा की भावना से कार्य करना है जो कि आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है। अतः वैद्य समाज को इस ओर अवश्य शीघ्र प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

आयुर्वेद सेवाग्राम—

मेरी एक सद्भावना और है, जो आप लोगो के दृढ़ संकल्प से सफल हो सकती है। और मुझे विश्वास भी है कि सुनने पर आप सब ही सज्जन उसे पसंद करेंगे। वैसे तो हमारे प्रान्त को कतिपय महाविभूतियों ने अलंकृत किया है, और वे राष्ट्र-निर्माण-प्रवृत्तियों में अपना सर्वस्व दे गये हैं। यहाँ यदि मै स्वर्गीय वैद्यरत्न आयुर्वेदमार्तण्ड श्री स्वामी लक्ष्मी-

रामजी महाराज को स्मरण कर श्रद्धांजलि समर्पित करूं तो मेरी कर्त्तव्यपूर्ति होगी। श्री स्वामीजी एक ऐसी महाविभूति थे कि वे हमारे प्रान्त के लिये विधि का वरदान सिद्ध हो गये। स्वामीजी आयुर्वेद के लिए ही जीये और मरे। इसी अवसर पर मै अपने सहयोगी परम मित्र कविराज पं० श्री चन्द्रशेखरजी आयुर्वेदाचार्य की भी राजस्थान मे की गई आयुर्वेद की सेवाओं को विस्मरण नहीं कर सकता हूं। आज श्रीस्वामीजी की स्मृति शेष स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट एवं श्री धन्वन्तरि औषधालय जयपुर आदि संस्थाऐं उनके मार्ग का अनुसरण करने के लिये हमें प्रेरित कर रही हैं। इसीलिये श्री स्वामीजी के पदचिन्हों का अनुसरण करने वाले आयुर्वेदमार्तण्ड पं० श्रीमणीरामजी महाराज ने रतनगढ़ मे श्रीधन्वन्तरि मन्दिर को स्थापना की हैं। मेरी भी यही एक भावना है कि हम राजस्थान के वैद्य एक उदाहरण उपस्थित करें और सेवाग्राम की तरह "एक आयुर्वेद सेवाग्राम" की स्थापना करें। उस सेवाग्राम को स्थापना एक ग्राम में हो, जहाँ से आयुर्वेद सबंधी अनेक प्रकार को सेवाओं द्वारा वह सेवाग्राम विश्व को विमल संदेश दे।

रूपांतर में इसी प्रकार की अभिलाषा लाहौर वाले अखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष राजवैद्य श्री जीवनराम कालीदास शास्त्री गोंडल ने अपने भाषण में की थी। और उन्होंने यहाँ तक बताया था कि स्वर्गीय बीकानेरनरेश श्री गंगासिंहजी उसकी स्थापना के लिए सब प्रकार सुख-सुविधाये देने को तैयार थे। आज उसी राजस्थान के सपूत की सद्भावना का ही प्रतिफल यदि रतनगढ़ के श्री धन्वन्तरि मन्दिर की स्थापना को कहूं तो असंगत नहीं होगा क्योकि बीकानेर राजस्थान का एक जिला है, इस घटना से स्वयं सिद्ध है कि इस राजस्थान के पुनीत प्रांगण में यह बीज अन्तर्गर्भित है। अतः यह कार्य अवश्य सफल हो सकता है। यद्यपि मैंने स्वयं ने रतनगढ के श्री धन्वन्तरि मदिर को नही देखा है, किन्तु श्री पं० मणिरामजी महाराज के व्यक्तित्व से असंदिग्ध है कि काल पाकर यह मन्दिर राजस्थान का अनुपमेय स्थान होगा।

अस्तु, मेरी इस सेवाग्राम की भावना को मूर्त्तरूप देने के लिये मैं राजस्थान के समस्त वैद्य एवं प्रमुख नागरिकों से निर्वहन करता हूं कि वह इस ओर अग्रसर होकर पूर्ण सहयोग प्रदान करे। साथ ही यह भी प्रार्थना करूगा कि यदि प० मणिरामजी महाराज ही अपने रतनगढ के धन्वन्तरि मंदिर को राजस्थान मे आयुर्वेद की सेवाओं के लिए समर्पित कर दें तो वैद्य समाज पर बड़ा अनुग्रह होगा। पडितजी महाराज के द्वारा यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार करली जाती है तो हमे इस अधिवेशन मे ही वहाँ के लिए रचनात्मक कार्यक्रम बना लेने का अवसर मिल जायगा। मेरा विश्वास है कि ऐसे स्थान से साहित्य संशोधन व प्रकाशन, बनस्पति वाटिका, अनुसधान, स्वास्थ्यप्रचार आदि आदि सभी कार्य सम्पादित किये जा सकेगे। क्योंकि पडितजी महाराज स्वयं त्यागमूर्ति हैं और प्रांत भी धनजनविद्यासमृद्ध है।

उपसंहार—

अन्त में मैं स्वागत समिति के सदस्यों के कर्मकौशल एवं अनवरत परिश्रम के लिए उन्हें धन्यवाद समर्पण करते हुए आगामी अधिवेशन तक के लिए, आप महानुभावों के सहयोग की कामना करता हूं और मेरे इन साधारण सुझावों को सुनने में जो लम्बा समय आप लोगो ने दिया है उस कष्ट के लिए क्षमा मांग कर अपना स्थान ग्रहण करता हूं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वं भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

शान्तिः शान्तिः

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥

चिकित्सकसम्राट् आयुर्वेदमार्तण्ड प्राणाचार्य भट्टारक महोपाध्याय राजमान्य राजवैद्य

पं० उदयचन्द्र (चाणोद गुरांसा) जोधपुर

का

राजस्थान आयुर्वेदिक बोर्ड के प्रथमाधिवेशन में सभापति पद स दिया गया

अभिभाषण

दिनांक २-८-५१ गुरुवार

सद्भक्त्यानम्रकम्रत्रिदशपतिशिरश्चारुकोटीरकोटी-
प्रेखन्माणिक्यमालामलकललहरीधौतपादारविन्दः
विष्णोर्भव्यावतारः करकलितसुधापूरकुम्भः समन्ता-
दव्यादव्याजभव्याकृतिरिह भगवान् साधुधन्वन्तरिर्वः ॥१॥

जयतिजगदमन्दानन्दमन्दारकन्दो
गदकरिहरिरोन्द्रो वन्द्यपादारविन्दः
तदनु विविधविद्यावेदिवंद्यावतंसो
जयति भुवि जिनादिर्दत्तसूरिर्यतीन्द्रः॥२॥

सम्माननीय स्वास्थ्य मत्री महोदय तथा अन्य उपस्थित सभ्यवृन्द ?

आज यह परम प्रसन्नता का विषय है कि हमारी लोकप्रिय सरकार के विचारशील सुयोग्य उत्साही स्वास्थ्य मत्री श्रीमान् मथुरादासजी माथुर ने इस बोर्ड का उद्घाटन करके हमें एक अधिकृत रूप में आयुर्वेद के भविष्य निर्माण के लिए एकत्रित हो विचार-विमर्श करने का सुअवसर प्रदान किया है। श्री माथुरजी से मेरा गाढ़ परिचय होने के कारण मैं आप सबको विश्वास दिलाता हूँ कि इनको न केवल सरकार के रूप मे ही अपितु व्यक्तिगत रूप में भी भारतीय विज्ञान आयुर्वेद के प्रति अगाध स्नेह रहा है और है। इसका प्रत्यक्ष परिचय आपने अपने गत जोधपुर सरकार के मत्रित्व काल में मारवाड़ वैद्य सम्मेलन बुला आयुर्वेदिक बोर्ड का पुनर्गठन करके तो दिया ही था, किन्तु इस नवनिर्मित महाराजस्थान में भी मंत्रि मण्डल मे आते ही अभी २ जोधपुर मे एक वृहद आयुर्वेदीय चिकित्सालय का उद्घाटन किया है जिसके द्वारा एक अत्यल्प समय मे ही पांच सौ से कहीं अधिक सख्या में रोगी प्रतिदिन औषध प्राप्त करके आरोग्य प्राप्त कर रहे हैं। यह औषधालय कुछ समय के बाद ही आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रसार के साधनों में अपना उचित स्थान रक्खेगा। इस

चरित्रनायक के दिवंगत मित्रवर्ग
जोकि आयुर्वेद लोक की देदीप्यमान विभूतियां रही ।

आयुर्वेदिक साहित्य के
पुनरुद्धर्ता
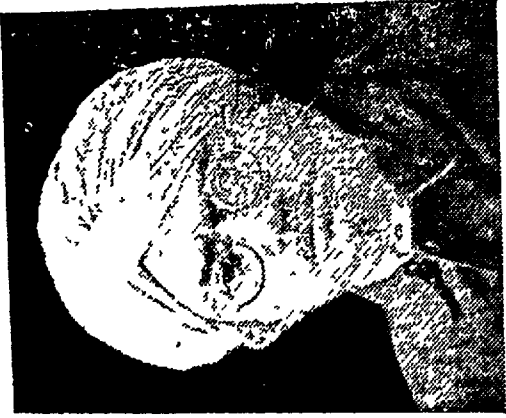
यादवजी त्रिकमजी आचार्य
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड
बम्बई

शारीर (आयुर्वेद) के प्रतिसंस्कर्ता,
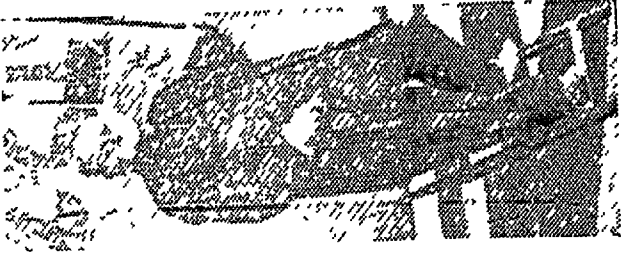
कविराज गणनाथ सेन सरस्वती
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड
कलकत्ता,

शिक्षाशास्त्री

राजवैद्य नन्दकिशोरजी
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड
जयपुर,

औषधालय में मुझे जो सरकार ने अवैतनिक प्रधान प्रबंधक Honorary Incharge नियुक्त किया है, उसको मैं किस तत्परता से निभा सकूंगा इसका तो भविष्य ही साक्षी होगा। इसके अतिरिक्त इस स्वतत्र आयुर्वेदिक बोर्ड का निर्माण करके भी आयुर्वेदानुयायी वैद्य समुदाय के लिए प्रगति पथ प्रशस्त बना दिया है। आपकी इस उदारता एव निर्मल आयुर्वेद स्नेह के लिए मैं आपको अनेकानेक धन्यवाद समर्पण करूँगा और समस्त प्रान्तीय वैद्य समाज की ओर से कृतज्ञता व्यक्त करते हुए श्री मत्री महोदय से आशा करूँगा कि आप इस बोर्ड निर्माण के पुनीत ध्येय मे अवश्य समय समय पर पूर्ण सहायक सिद्ध होते रहेंगे।

आगे कुछ निवेदन करूं, इससे पूर्व मुझे सरकार द्वारा दिये इस बोर्ड के अध्यक्षत्व जैसे गुरुतर भार को मैं मेरी इस वृद्धावस्था मे किस प्रकार वहन कर सकूंगा इसके लिए संकोच अनुभव कर रहा हूँ। प्रांत में अनेक सुयोग्य विद्वान तथा ख्यातिप्राप्त चिकित्सक आयुर्वेदानुरागियों के होते हुए भी मुझे ही इस पद का दिया जाना मैं समझता हूँ संभव है सरकार का मेरे लिए एकांत निर्णय रहा हो अथवा यह निर्णय शीघ्रता मे किया गया हो। किन्तु फिर भी मुझे आशा ही नही दृढ़ विश्वास है कि सरकार का तो पूर्ण अनुग्रह रहेगा ही, साथ ही आप सब सहयोगियों का भी पुनीत सहयोग कम नही होगा, इस बल पर ही मैं इस अध्यक्ष पद के गुरुतर भार वहन के लिये अपने आपको आपकी सेवा में उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ।

अस्तु, बोर्ड निर्माण के बाद, जैसा कि अभी २ श्री स्वास्थ्य सचिव महोदय ने भी अपने उद्घाटन भाषण मे स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि "हम सब प्रान्तीय वैद्य समुदाय एव विशेषत: बोर्ड के सदस्यों पर भी सरकार से कहीं बढ़ कर आयुर्वेद के भविष्य की रूपरेखा बनाने का उत्तरदायित्व आ गया है।" हमें इस बोर्ड के द्वारा आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के विकास तथा वृद्धि के लिए और प्रान्तीय वैद्य समाज के हितों की समुचित सुरक्षा के लिये तन्मयता से सोच-विचार कर सरकार द्वारा उन्हें कार्यान्वित कराना है। वैसे तो आज यह देशव्यापिनी समस्या है कि आयुर्वेद के कितने ही पहलुओं पर विचार किया जा सकता है, किन्तु विशेषत: राजस्थान में हमे आयुर्वेदीय शिक्षण सस्थाओं में एक ही पाठ्यक्रम प्रचलित करने, आयुर्वेदीय परीक्षाओ की समुचित व्यवस्था राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा सम्पादित करवाने, प्रांत मे समस्त वैद्यो को पजिकाबद्ध Registered करवाने, एक विशाल आयुर्वेदीय अनुसंधानशाला Ayurvedic Research Institute स्थापित करवाने, ग्राम्य चिकित्सालयों के स्तर को व्यवस्थित करवा कर प्रांत के बड़े बड़े नगरो मे वृहद् आयुर्वेदिक चिकित्सालय खुलवाने, उत्कृष्टतम औषधियो की प्राप्ति के लिये सुव्यवस्थित रसायनशालाओं Pharmacies की स्थापना करवाने और सुयोग्य सफल चिकित्सको की सेवायें प्राप्त कर आयुर्वेद को अधिकाधिक जनप्रिय बनाने, विशुद्ध आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम को संचालित करने के लिए सुयोग्य प्राध्यापक

प्रस्तुत करने आदि २ अन्य और भी कतिपय आवश्यक समस्याओं पर पूर्ण विचार करना है।

किन्तु यह सब तभी सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकेगा जब कि हम सब महर्षि चरकाभिमत आप्त[1] बनें। हमें अपने पारस्परिक मनोमालिन्य तथा भेदभाव और स्वार्थवृत्तियों को छोड़ कर जनकल्याण की भावना से सोचने का ध्येय बनाना चाहिये। आज हमें पदलोलुपता में फँस कर ही अपने आपको समाप्त नहीं कर देना है। विश्व का इतिहास साक्षी है कि आगे वे ही बढ़े हैं जिन्होंने अपनी अग्रगामिता के लिए अपने आप तक को समर्पित कर दिया है। आप स्वयं सुपरिचित हैं कि हमारे पूर्वजों ने भी किस निःस्वार्थ भावना से ऋषिजीवन व्यतीत करके आयुर्वेदशास्त्र की कलेवर वृद्धि की है। अतः हमें भी उन्हीं के उस पुनीत लक्ष्य को अपनाना होगा, जिससे कि भविष्य में हम भी कुछ करने योग्य बन सकें।

आज यह एक संकटापन्न संक्रमण काल हमारे सामने है। और सरकार ने यह सुन्दर सुअवसर आयुर्वेद के विकास तथा वृद्धि के लिये हमारे विचारों से परिचित होने के लिये हमें दिया है। अतः हमें अब पूरी तन्मयता से कार्य कर सरकार और जनता को आयुर्वेद की उपयोगिता तथा प्रत्यक्ष चमत्कारों पर मुग्ध कर देना चाहिये। यदि यह समय केवल मिथ्या वाद-प्रतिवाद में ही नष्ट कर दिया गया और कोई ठोस योजना नहीं बनाई जा सकी तो इससे बढ़कर हम वैद्यवृन्द को कोई अन्य बड़ी भूल नहीं होगी, क्योंकि सम्भव है कि भविष्य में फिर कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त नही होगा। अतः मेरा यह दृढ सकल्प है, और शेष अन्य सदस्यों को भी दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये, कि इस बार हम आयुर्वेदिक चिकित्सा के विकास के लिये अवश्य एक सर्वाङ्गपूर्ण योजना सरकार के समक्ष उपस्थित करेंगे। और अन्य प्रान्तों से भी कही अग्रिम पंक्ति में, आयुर्वेद की दृष्टि से, राजस्थान को समासीन कर देंगे।

यहाँ मैं हमारी सरकार से भी अनुरोध करना नहीं भूलूंगा कि वह इस बोर्ड को केवल आधुनिक राजनीति का ही लक्ष्य साधन नहीं बनावे। जैसा कि कई अन्य प्रांतीय सरकारें ही नहीं अपितु हमारी गत राजस्थान सरकार भी कर चुकी है। बोर्ड आयुर्वेद के विकास तथा वृद्धि के लिए अनेकों ठोस योजनायें सरकार के समक्ष उपस्थित करेगा, उनको शीघ्र कार्यान्वित किया जाना चाहिए। यद्यपि वर्तमानकालीन आर्थिक समस्या, जो आज एक देशव्यापिनी समस्या हो रही है, जिसका व्याज करके आयुर्वेदिक विकास योजनाओं को भी कार्यान्वित करने में विलम्ब बताया जा सकता है। किन्तु यहाँ विशेष समय नही होते हुए

---

१ रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता-स्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं तथा॥
आप्ताःशिष्टाःविबुद्धास्ते तेषां ज्ञानमसंशयम्। सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

भी इस सम्बन्ध में मैं सरकार का ध्यान गत वर्ष राजस्थान प्रांतीय वैद्य सम्मेलन के सभापति पद से उपस्थित की गई मेरी उस आयुर्वेद विभाग की पुनर्गठन-योजना की ओर आकर्षित करूंगा जिसमें कि आयुर्वेद की सर्वतोमुख विकास के लिए वर्त्तमान बजट में ही बहुत कुछ किया जा सकता है, इसके लिए सरकार के समक्ष सुझाव उपस्थित किये गये हैं। वह योजना राजस्थान प्रांतीय वैद्य-सम्मेलन के मंच से स्वीकृत की गई है, अतः सरकार को उसे शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद ही एक ऐसी चिकित्सा पद्धति है कि जो आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से देश में प्रचलित अन्यान्य चिकित्सा पद्धतियों में अपना विशेष महत्त्व रखती है। जिस पर भी राजस्थान जैसे साधारण[१] देश मे तो आयुर्वेदिक चिकित्सा एक सफल चिकित्सा हो सकती है। क्योंकि यहां के निवासियों के रहन-सहन, व्यापार-व्यवहार, आहार-विहार और आचार-विचार तथा जलवायु के अनुकूल आयुर्वेद के सिद्धांतों का अत्यधिक समन्वय बैठता है अतः यदि सरकार बहुव्ययसाध्य एलोपैथी चिकित्सा का राजस्थान में अधिक प्रसार न कर आयुर्वेद द्वारा जनस्वास्थ्य-संरक्षण-योजना बनायेगी तो न केवल आर्थिक लाभ ही सरकार को होगा, अपितु एक बहुत बड़े पैमाने-पर जनस्वास्थ्य-समस्या का समाधान भी हो जायगा और प्रान्त की जनता पूर्ण स्वस्थ रहेगी।

अन्त में मैं एक बार पुनः श्री स्वास्थ्य सचिव महोदय को उनके अनुपम आयुर्वेदानुराग के लिये धन्यवाद समर्पण करता हुआ आप सब महानुभावों को, जैसा कि श्री स्वास्थ्यमंत्री महोदय से मुझे वचन प्राप्त हो गया है, विश्वास दिलाता हूँ कि प्रान्त में आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल ही रहेगा और राज्य द्वारा भी इसके लिए सर्वतोमुखी सहायता प्राप्त होती रहेगी। अब आगे अधिक समय न लेकर आप सब महानुभावों के सतत सहयोग में पूर्ण विश्वास करते हुए निम्न शुभकामना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

---

[१] समाःसाधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुता। समता तेन दोषाणां तस्मात्साधारणो वरः॥

अभिनन्दनम्

श्री धन्वन्तरिर्जयति, जगतिच स्वास्थ्य सुधाधरो भगवान् ।
उ दयमजस्रं कुरुता मायुर्वेदीय विज्ञान श्रुतेः ।
द धनाति धैर्यं भिषजाम् समाजे ।
य स्यान्तरालं दययाभिषिक्तम् ॥
चँ द्रीकृताद्यस्य यशः सुमेराद् ।
द्र व्याण्यनन्तानि द्रवन्ति नित्यम् ॥
सू तिमहारोगहरौषधीनां ।
री ति महावंशभुवां सुधीनाम् ।
म न्तर्मणिर्धन्वधराणंवस्य ।
हा री रुजार्तस्य विपद् कुलस्य ।
श स्तं यदातंक कुलीश भावम् ।
या त्यस्तस्वास्थ्येषु सुखाश्रयत्वं ॥
ना न्तं यदीयस्य गुणाकरस्य ।
म न्दी कृतं येन यशः परेषाम् ॥
भि न्नेत्ररोगेभकपोल भित्ति ।
नं दन्ति नित्यं निरुजी कृताश्च ॥
द द्यातीन्द्राय चिरायुषत्वं ।
नं म्यो महद्भिर्भगवान्सुधेन्द्रः ॥

—वैद्य कृष्णदत्त शास्त्री

अभिनन्दन

संसृति को नवज्योति दान देने की क्षमता,
रखता तव मस्तिष्क, विविध ज्ञान गौरवता,
अप्रोमया तेरी वाणी में, अपरिमेय प्राणों का स्पंदन,
तव अभिनंदन ॥

युग-युग से तुम क्लांत जगति का, परित्राण करते आये,
गत प्राय प्राणों में भी, तुम नव-प्राण भरते आये,
तुम रसवैद्य, हरो राष्ट्र का, जरा-मरण क्रंदन।
तव अभिनंदन ॥

करुणार्णव तेरे मानस में, निश्छल सेवा भाव भरा है,
वात, पित्त, कफ, धातु दोष का, अविच्छिन्न विज्ञान भरा है
रोगाकुल इस मर्त्य लोक में है, अमरलोक का सर्जन ॥
तव अभिनंदन ॥

तपः पूत कृशकाय तपस्वी, तुम कर्मठ, तुम कला केन्द्र,
तेरी गुण गरिमा से धन्य, वैद्य जगत, ओ मानसेन्द्र,
तुम हो स्वस्थ राष्ट्र के स्रष्टा, करता राष्ट्र तुम्हारा वंदन,
तव अभिनंदन ॥

—वैद्य कृष्णदत्त शास्त्री

राजस्थान के ऋषितुल्य राजवैद्य चाणोद गुरांसा

रामप्रकाश स्वामी, भिषगाचार्य, एम. ए., जयपुर
अध्यक्ष, राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जिकृत)

राजस्थान की गौरवगाथा इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। राजस्थान की धरती वीरप्रसवा ही नहीं है, इसने सन्त, भक्त, धनी, दानी, विद्वान्, वैद्य व समाजसेवियों की भी बहुत बड़ी संख्या भारत को प्रदान की है। अन्यान्य क्षेत्रों की तरह आयुर्वेद के क्षेत्र में भी अनेकों विभूतियां राजस्थान में आविर्भूत हुई हैं।

राजस्थान निर्माण से पहले राजस्थान में छोटी बड़ी मिला कर करीब पच्चीस रियासतें थीं। वैसे अंग्रेजी राज्य के समय तो इस प्रदेश की 'बाईस रजवाड़े' संज्ञा ही प्रचलित थी।

इन देशी राज्यों में जोधपुर का राठौड़ी राज्य जिसको 'नौ कोटि मारवाड़' भी कहा जाता था, जयपुर के बाद द्वितीय स्थान रखता था। इसी जोधपुर राज्य में चाणोद एक ठिकाना है। राजस्थान के वैद्य समाज की अन्यतम विभूति सम्माननीय राजवैद्य राज्यगुरु भट्टारक श्री उदयचन्द्रजी महाराज का मूल स्थान यही चाणोद कस्बा है। आपकी गुरुपरम्परा चाणोद से ही प्रचलित है। आपका बहुत बड़ा स्थान जोधपुर में भी है। सामान्यजनों मे आपकी चाणोद गुरांसा के नाम से ही प्रसिद्धि है।

वैद्य समाज को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि बौद्धकाल के पश्चात आयुर्वेद की रुकी हुई श्रीवृद्धि मुगल साम्राज्य व अंग्रेजी शासन में आकर समाप्त प्रायः हो गई थी। एक सहस्र वर्ष का यह काल आयुर्वेद का घातक काल कहा जा सकता है। अरबों के वाह्य आक्रमणों से तथा मुसलमानी राज्य में मजहबी दृष्टि के कारण आयुर्वेदीय प्राचीन ग्रंथों की खुले आम होलियां भी जलाई गई थीं। ऐसे विपरीत देशकाल में भारत के देशी राज्यों, राजाओं तथा धनिक वर्ग ने आयुर्वेद की रक्षा का गौरवमय प्रयास किया। जोधपुर सरकार में भी आयुर्वेद को स्थान मिला हुआ था। सरकार द्वारा राजवैद्य स्वीकृत किए जाते थे। हमारे श्रद्धेय श्री चाणोद गुरांसा भी जोधपुर राज्य के राजवैद्य व राजगुरु के सम्मानास्पद पद से विभूषित हैं।

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत)
के अध्यक्ष

स्वामी श्री रामप्रकाशजी भिषगाचार्य
एम. ए. जयपुर.

चरित्र नायक के निष्ठावान सुहृद्

त्यागमूर्ति श्री मंगलदासजी स्वामी
जयपुर.

चरित्रनायक के अनुजवत्

स्व० अमृतलालजी रंगा रसवैद्य
जोधपुर.

चरित्रनायक के निष्ठावान्

स्वनामधन्य स्वामी जयरामदास जी भिषगाचार्य,
पण्डित-मार्त्तण्ड-विद्यावागीश, (जयपुर)
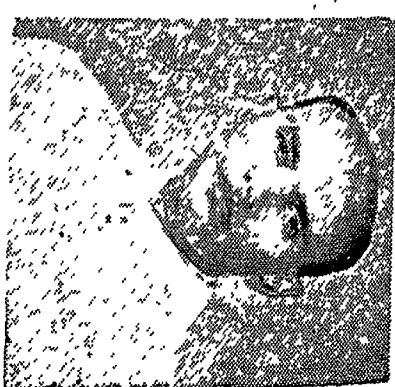
श्री जयानन्द ठाकुर
उपकुलपति आयुर्वेद विश्वविद्यालय
सौराष्ट्र.

बीसवीं सदी में राजस्थान के विभिन्न राज्यों में अनेकों महाप्राण वैद्यरत्न कार्यक्षेत्र में आए। उन्हीं में से अग्रणी श्री चाणोद गुरांसा हैं। वैसे राजस्थान में उस समय विभिन्न क्षेत्रों में यतिवर सिद्ध चिकित्सक के रूप मे विख्यात थे। राजस्थान मे चिरकाल से मंत्र तंत्र प्रायोगिक रूप में यति वर्ग में प्रचलित थे, साथ ही सिद्धहस्त चिकित्सा ने सोने में सुगन्ध का काम किया था। सम्माननीय चाणोद गुरांसा की परम्परा में दोनों ही प्रणालियां सम्यक् प्राप्त हुई हैं। आपने संस्कृत का सम्यक् अध्ययन कर अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। आप साहित्य व संगीत कला में भी प्रवीण हैं।

आपने अपनी सूझबूझ व अनोखी कार्यक्षमता से आयुर्वेदीय क्षेत्र में कई नवीनताएं प्रारम्भ कीं। आपकी अपनी फार्मेसी को जिन सज्जनों ने देखा है वे जानते हैं कि उसमें औषधियां प्रामाणिक ही नहीं हैं अपितु उनका रख-रखाव तथा व्यावसायिक रूप भी अनुकरणीय है। आपकी आरम्भ से ही आयुर्वेद में परम निष्ठा है। आपने चिकित्सा क्षेत्र में नवीन चिकित्सा पद्धति का कभी महत्व नहीं माना। दीर्घकालीन अनुभव, निरन्तर चिन्तन ही आपके मार्ग-दर्शक हैं।

राजवैद्य होने के नाते रियासती राज्यकाल मे अनेकों ऐसे परीक्षात्मक अवसर आए जब आपको अपनी चिकित्सा का महत्व बनाए रखने में कठिन से कठिन परीक्षाओं में से गुजरना पड़ा। तात्कालिक जोधपुर महाराजा तथा सारा राजपरिवार आपमें बहुत ही श्रद्धा रखते थे। राजपरिवार तथा उच्चस्तरीय प्रशासक कार्य में आपकी चिकित्सा का बहुत ही सम्मान था। सैकड़ों ही नहीं सहस्रों ऐसे रोगियों के केस जो नवीन चिकित्सा क्रम से उलझन में पड़ते रहते हैं आपकी चिकित्सा में आकर साफल्य को प्राप्त होते हैं।

राज्य में भूमि, सोना, ग्राम, शिरोपाव आदि पुरस्कार प्रदान करना राज्य की ओर का सर्वोच्च सम्मान समझा जाता था। आप इन सभी सम्मानों से सम्मानित हैं। जोधपुर नगर के निवासी तो आपकी सफल चिकित्सा से निरंतर लाभान्वित होते ही हैं, जोधपुर से बाहर के राजस्थान, गुजरात, बम्बई आदि दूरस्थ क्षेत्रों के भी दुःसाध्य रोगी आपकी शरण में आते हैं या आपको बुलाते हैं। कैसा भी जटिल रोग हो आप जब उसकी ओर सम्यक् ध्यान देते हैं तो उसमें साफल्य निश्चित-साही मान लिया जाता है। बहुत से ऐसे भी असाध्य रोग आपके सामने लाए गए हैं जिनके ठीक होने की किसी रूप में भी आधुनिक

थ्योरी के चिकित्सकों को आशा नहीं थी पर आपने अपनी परिगामी सूक्ष्म दृष्टि से उन रोगों के निवारण में भी अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

निखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन का उन्तीसवाँ सम्मेलन जोधपुर में जिस महत्त्व के साथ सम्पन्न हुआ था उसकी उस महान् सफलता का श्रेय आपको ही है। उस सम्मेलन का उद्घाटन महामहिम महाराजा श्री उम्मेद-सिंहजी जोधपुर ने किया था। उद्घाटन के पश्चात् महाराजाधिराज ने सभापति के भाषण तक बैठे रहने का भी अनुग्रह किया। उस सम्मेलन में पधारने वाले सज्जनों ने देखा होगा कि राज्य के प्रधानमन्त्री सर डोनाल्ड से लेकर सभी प्रमुख पदों के प्रशासनाधिकारी व्यक्ति सम्मेलन में बड़े उत्साह से भाग ले रहे थे। सर डोनाल्ड ने प्रदर्शनी का उद्घाटन किया था। राज्य के प्रायः विभागीय प्रधान स्वागत समिति में विविध समितियों का कार्य-संचालन कर रहे थे। यह स्थिति द्योतन करती है कि पूजनीय चाणोद गुराँसा के प्रति महाराजाधिराज जोधपुर व उनके प्रमुख राज्याधिकारी कितनी श्रद्धा रखते थे। यह सब आपके वैदुष्यपूर्ण व्यवहार-कौशल व आयुर्वेदीय समुचित चिकित्साज्ञान तथा दीर्घ अनुभव का ही परिणाम था।

आप सौजन्य की मूर्ति हैं। आप के पास छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी हैसियत के जो भी रोगी पहुचते हैं उन सब के साथ आप अत्यन्त सहृदयता का व्यवहार करते हैं। आपकी स्नेहशील प्रेममय वाणी तथा पीयूषपूर्ण पाणि के संस्पर्श से ही रोगी का आधा रोग निवृत्त सा हो जाता है। रोगी आपके दर्शन तथा औषधव्यवस्था से ही एक प्रकार का मनोबल प्राप्त कर लेता है तथा आरोग्य लाभ में दृढ़ आस्था बना लेता है। आपमे वे अधिकांश गुण समाहित हैं जिनको आयुर्वेदमनीषियों ने एक वैद्य में अनिवार्य आवश्यकता मानी है।

आज प्रत्येक विभाग के कर्मचारियों के लिये आचार संहितायें बनाई जा रही हैं पर आयुर्वेदाचार्य महर्षियों ने आयुर्वेदीय तन्त्रों के रचनाकाल में ही वैद्यों की आचार संहिता निरूपण कर दी थी। महर्षि सुश्रुत विशाखानुप्रवेशनीय अध्याय के प्रारम्भ में ही कार्यक्षेत्र में उतरने के लिए वैद्य का किन गुणों से युक्त होना आवश्यक है उसका कितने उत्ताम रूप से निर्देश करते हैं :—

"अधिगततन्त्रेण, उपासिततन्त्रार्थेन, दृष्टकर्मणा, कृतयोग्येन, शास्त्रं निगदता राजानुज्ञानेन, शुचिना, शुक्लवस्त्र परिहितेन, छत्रवता, दण्डहस्तेन, सोपानत्केन, अनुद्धतवेषेण, सुमनसा, कल्याणाभिव्याहरिणा, अकुहकेन, बन्धुभूतेन भूतानाम् सुसहायवता वैद्येन विशिखानु प्रवेष्टव्या।"

चिकित्सा कार्य करने को प्रवृत्त होने वाले वैद्य को अपनी कैसी तैयारी करनी आवश्यक है महर्षि सुश्रुत ने इसका अपने उपर्युक्त संदर्भ में स्पष्ट निर्देश कर दिया है। उन गुणों का जब हम चाँणोद गुरां सा में सन्तुलन करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि मानों आर्तत्राता भट्टारक श्री उदयचन्द्र जी महाराज इन गुणों की प्रतिमूर्ति ही हैं। उक्त सभी गुण उनमे समुचित रूप से विकसित हैं। "सर्वभूतहिते रता" की भावना उनमें कूट कूट कर भरी हुई है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। वे एक सफल से सफल चिकित्सक, शास्त्रमर्मज्ञ, भारतीय संस्कृति के परम अनुरागी, विद्वत्सेवी, मधुरभाषी, परम विनीत व निरभिमानी सत्पुरुष हैं।

उनके औषध निर्माण तथा चिकित्सा ने पुण्य का आदर्श उपस्थित किया है। इस चाक-चक्यपूर्ण नवीन वैज्ञानिक चिकित्सा की चकाचौंध से चकित व भ्रान्त हुए व्यक्तियों की आस्था को आयुर्वेद की ओर प्रवृत्त कराने में आप द्वारा जो सतत प्रयत्न चल रहा है वह अवर्णनीय है।

राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों मे आयुर्वेदीय चिकित्सकों को जो अनेक देदीप्यमान विभूतियां आज अवशिष्ट हैं उनमें आपका समादरणीय स्थान है। अर्थलिप्सा की भावना से डगमगाते वैद्य समाज की आयुर्वेदीय निष्ठा को बनाये रखने मे आपका उदाहरण परम सहायक है।

वैसे अब आप आयु के चतुर्थ चरण में हैं तो भी प्रातःकाल से लेकर रात्रि के एक प्रहर तक का काल रुजार्त्त प्राणियों की सेवा में ही व्यतीत करते हैं। हमारा सौभाग्य है कि राजस्थान में आज भी आप जैसे आयुर्वेद के आधारस्तम्भ हमारे मध्य विराजमान हैं। भगवान् धन्वन्तरि आपको शतायुष्य प्रदान करें, नवीन पीढी का वैद्य समाज आपसे आयुर्वेद निष्ठा की प्रेरणा प्राप्त करता रहे तथा आप हम सबके सर्वदा अभिनन्दनीय बने रहें।

राजवैद्य भट्टारक, श्रद्धेय चाणोद गुरांसा

एक संस्मरण

मङ्गलदास स्वामी, जयपुर

भारतीय जन समुदाय में सर्वदा ही विविध क्षेत्रों में महान् विभूतियों का आविर्भाव होता आया है। उन्हीं विभूतियों में गणनीय है हमारे विविध विरुदावलीविभूषित वैद्याग्रणी पं० श्री उदयचन्द्रजी महाराज। राजस्थान का वैद्य समाज तथा जन समाज उनसे अपरिचित नहीं है। वे दीर्घ काल से रुग्ण जनता की जिस तन्मयता से सेवा में लगे हुए हैं, वह सर्वविदित है।

काल प्रभाव से आयुर्वेद पर पर्याप्त समय से आधार पर आघात लगते आए हैं। देश की परतन्त्रता तथा विदेशी शासकों ने बहुत लम्बे समय से उसकी उपेक्षा ही नहीं की, अपितु उसके महत्व को क्षीण करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। आयुर्वेदीय विविध संहिताओं का निर्ममता से विगत काल में विनाश किया गया, वह भारतीय इतिहासवेत्ताओं से अज्ञात नहीं है। दीर्घकाल से विविध विषमताओं का सामना करते हुए भी आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति ने देश की महान् सेवा की, तथा कर रही है। देश पराधीनता से मुक्त हुआ, भारतीयता की भावना में तीव्रता आई। देश का शासन भारतीयों के हाथ में आया। शताब्दियों से प्रसुप्त भारतीय संस्कृति की समुन्नति की आशायें जागृत हुईं। वैद्य समाज भी आशान्वित हुआ कि दीर्घकाल से उपेक्षित आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को अब तो उचित प्रोत्साहन मिलेगा। तदर्थ वैद्य समाज अपने द्वारा शक्य सभी प्रकार के प्रयासों में लगा हुआ है। किन्तु सफलता अभी दूर है। आयुर्वेद का यह संक्रमण काल है। अनेक विषम विषमताओं के होते हुए भी आयुर्वेद का अस्तित्व सुरक्षित है। इसका श्रेय यदि किसी को है तो उन आयुर्वेद-मनीषियों को ही है जिन्होंने अपनी ज्ञानगरिमा, चिकित्सानैपुण्य, आयर्वेदीय-निष्ठा के द्वारा आयुर्वेद की सेवा में अपने जीवन की आहुतियां प्रदान की। भारत के सभी प्रदेशों में समय २ पर अनेक पीयूषपाणी प्रणाचार्यों ने भारतीय जनता के आयुर्वेदीय विश्वास को अपनी सफल चिकित्सा के द्वारा अक्षुण्ण रूप से बनाए रखा। हमारे श्रद्धेय "गुरांसा" भी वैसी ही एक महान् विभूति हैं।

कालविपर्यय, विदेशी शासन विना सुदृढ़ संबल के आयुर्वेद की गति अवरुद्ध होती जा रही थी। उसका विशाल शास्त्रीय भंडार विनष्ट हो चुका था। बचे हुए साहित्य की भी उपलब्धी सहज साध्य नहीं थी। प्रेस का अभाव था, आवागमन के साधन भी दुरूह थे, अतः संहिता ग्रंथों का प्रचार प्रसार सीमित होता आ रहा था। लोग रामविनोद, वैद्यविनोदादि लघु ग्रंथों के आधार से चिकित्सा करने लगे थे। राजस्थान में भी यह ह्रास की दशा अपर क्षेत्रो से कुछ अधिक ही उग्र होती जा रही थी। ऐसी विषम स्थिति मे इने गिने वैद्य ही शास्त्रीय ज्ञान के ज्ञाता रह गए थे। अधिकांश वैद्य परम्परा व सामान्य ग्रंथों के आधार से ही चिकित्सा करने लग गए थे। औषधियों के योग भी सिमटते जा रहे थे। आयुर्वेद का यह काल था अठारहवीं उन्नीसवीं सदी का। समय ने कुछ पलटा खाया, बीसवीं सदी में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में अनेकों सुपठित विद्वान् वैद्यों का आविर्भाव हुआ। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जयपुर में संस्कृत कालेज की स्थापना हुई। उसी से आयुर्वेद के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था हुई। राजस्थान में विधिवत् पठन पाठन का यहीं से सूत्रपात है। अन्य रियासतों में भी सुशिक्षित राजवैद्य इस क्षेत्र मे आए। इन गणमान्य विभूतियों ने आयुर्वेद की क्षीण दशा को उन्नत करने के लिए अथक आजन्म प्रयास किया, जिससे धीरे २ सुशिक्षित वैद्य दिनों दिन तैयार होने लगे, तथा शास्त्रीय विधि से चिकित्सा का क्षेत्र सम्पन्न होने लगा, इसी संक्रमण काल में माननीय हमारे "गुरांसा" ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया। आपने विधितः संस्कृत का अध्ययन कर आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों का मनन किया। आपकी प्रतिभा विलक्षण है। आपने चिकित्सा क्षेत्र में अपना अन्यतम स्थान बनाया। जिनका सम्पर्क आपसे हुवा है वे जानते हैं कि आपकी बौद्धिक शक्ति कितनी विलक्षण है। आपने अपनी तीक्ष्ण विचारसरणी से चिकित्सा क्षेत्र में पर्याप्त नवीनता का प्रादुर्भाव किया। आपने ही राजस्थान में विधिवत् फार्मेसी की स्थापना की। अपना ही प्रेस स्थापित किया। फार्मेसी में औषधि-निर्माण तथा औषधियों के पैकिंग आदि की इतनी सुन्दर व्यवस्था की कि जिससे देख कर आश्चर्यचकित होना पड़ता है, आपकी फार्मेसी में जाने पर ज्ञात होगा कि किस तरह औषधियों का रख रखाव व उनका पैकिंग उनके व्यवस्थापत्र कितने व्यवस्थित ढंग के हैं। कहना होगा कि आपकी नैपुण्यपूर्ण व्यवस्था से फार्मेसी से सभी तरह से वैद्यों के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया है कि किस तरह एक वैद्य अपने ही प्रयास से आयुर्वेद की रक्षा व प्रगति में कितना उच्च कोटि का सहयोग प्रदान कर सकता है। आपने सैकड़ों ही नहीं सहस्रों असाध्य स्थिति में पहुंचे कठिन

रोगियों को अपनी नैपुण्यमय चिकित्साशैली से आरोग्य व जीवन प्रदान किया है। जोधपुर राज्य के कार्यकाल में आपने जोधपुर के महाराजाधिराज को अपनी चमत्कृत चिकित्सा से प्रभावित किया। जोधपुर के महाराजाधिराज ने आपको सुवर्ण पदकंकण प्रदान कर आपका सर्वोच्च सम्मान प्रदर्शित किया। आप संस्कृत के आयुर्वेद के तो विद्वान् हैं ही आपका अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं पर भी पूरा अधिकार है। आपकी सफल चिकित्सा को मान्यता राजस्थान में ही नहीं गुजरात व बम्बई आदि क्षेत्रों में भी सम्यकृतया व्याप्त है। आपकी चिकित्सा का यह वैशिष्ट्य है कि कैसी भी कठिन अवस्था में पहुँचे हुए रोगों में आपको प्रायः ही साफल्य प्राप्त होता है। जो भी रोगी आपकी सेवा में पहुँच जाता है, उसे उसी समय से अपने रोग को निवृत्ति का विश्वास बन जाता है। आपके प्रेमभरे स्नेहार्द्रता से निकले आश्वासनों के वाक्यों से रोगी में तत्काल स्फूर्ति आने लगती है। आपका कार्यकाल षष्टि से ऊपर आ चुका है। सैंकड़ों वे रोगी जो आज की साधन सामग्री से भरपूर वैज्ञानिक पद्धति से लम्बे समय तक चिकित्सा करा कर निराश हो जाते हैं वे आपकी शरण में आकर आपकी सिद्ध-चिकित्सा से रोगमुक्ति का अलभ्य लाभ प्राप्त करते हैं। आयुर्वेद के साथ ही, ज्योतिष, संगीत, साहित्य, मंत्र, तन्त्र शास्त्र के भी आप मर्मज्ञ जानकार हैं।

राजस्थान में नि० भा० वैद्य सम्मेलन के चार अधिवेशन हुए, जयपुर, फतहपुर, बीकानेर, जोधपुर। इनमें जोधपुर का अन्तिम व जयपुर का प्रथम अधिवेशन था। जिन व्यक्तियों ने जोधपुर सम्मेलन में भाग लिया वे जानते हैं कि वह अधिवेशन कितना भव्य व प्रभावकारी था। सम्मेलन का वह २९ वां अधिवेशन था, उसको सर्वतोभावेन आकर्षित व उत्कृष्ट बनाने के लिए "गुरांसा" का प्रयास सर्वोपरि था। जोधपुर का पूरा राज्य ही सम्मेलन की सफलता में सलग्न था। सम्मेलन का उद्घाटन महामहिम नवकोटि मारवाड़ के मरुधराधीश महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी ने किया था। प्रदर्शनी उद्घाटन प्रधान-मंत्री श्रीमान् कर्नल सर डोनाल्ड फील्ड महोदय ने किया था। वह समय था सन् १९३९ का। महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संग्राम का दौरदौरा चल रहा था। उस समय संघर्षमय काल में एक रियासत में होने वाले इस सम्मेलन का जो भव्य रूप बना वह सब करामात हमारे आदरणीय गुरांसा की ही थी। आपका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा था-राजा तथा प्रजा का जो अनुपम सहयोग इस अवसर पर दृष्टिगोचर हो रहा था उसी से स्पष्ट सिद्ध हो रहा था कि श्री चाणोद "गुरांसा" के चिकित्सानैपुण्य से सारी रियासत के सारे अधिकारी प्रभावित हैं। राजस्थान के गगनमण्डल में आज भी आप आयुर्वेदीय-

क्षेत्र में सूर्यवत् प्रकाशमान हैं। आप आयु के चतुर्थ चरण में चल रहे हैं। फिर भी आप आज भी रोगातुर प्राणियों के लिए महान् आलम्बन है। आज वैद्य समाज अपनी चिकित्सा में आयुर्वेद व ऐलोपैथी दोनों का प्रयोग करते नजर आता है। पर आप विशुद्ध आयुर्वेदीय क्रम को ही पूरी निष्ठा के साथ अपनाए हुए हैं। आप देशी चिकित्सा प्रणाली के मूर्तिमान सफल प्राणाचार्य हैं। आपके कारण आज भी राजस्थान गौरवान्वित है। हमारी परम प्रभु भगवान् धन्वन्तरी से यह ही विनम्र प्रार्थना है कि वह स्वनामधन्य हमारे "चाँणोद गुराँसा" को पूर्ण स्वास्थ्य के साथ शतायुस्य प्रदान करें जिससे कि राजस्थान के इस गौरव-पुंज से आतुर जनता विविध संक्रामक रोगों से त्राण पाती रहे।

—नमः श्री धन्वन्तरये—

Kaviraj

ASHUTOSH MAJUMDAR

Hony. Director M.M.L. Centre for Rheumatic Diseases
Hony. Aurvedic Physician to the President of India
Fellow of Royal Asiatic Society, London
Fellow Accadamaia Dei Templari, Bologna, Italy.

सर्वे वयम आयुर्वेद-विद्या-सेवापरायणा वैद्याः श्रीमदुदयचन्द्र भट्टारक-महानुभावनां हीरक-जयन्ती-समारोहस्य वृत्तं विदित्वा हर्ष-प्रकर्षमनुभवामः।

उदयवेलयां चन्द्रमालोक्य यथा चकोराः भृशं हृष्यन्ति, तथोदयचन्द्र-महोदयं वीक्ष्य विबुधा अपि प्रसीदन्तीत्यत्र न काऽपि कस्याऽपि चिकित्सकस्य चित्ते विचिकित्सा।

चन्द्रः सुधाकर इति कविभिः कीर्त्यते भट्टारकमहाशयोऽपि पीयूष पाणिरिति साम्यमेव चन्द्रोदयचन्द्रयोः। तच्च सहृदयानां हृदयानि सम्यक् आह्लादयति, भट्टारक महोदयानां चिकित्सा-चमत्काराननुभूय समाज-सेवांचालोक्य जनता जन-ताप-हारिणां जयन्तीं समायोजितवतीति नश्चयः सतां संतोषमावहति,

समाना नवतिमतीत्य ततोऽप्युत्तरस्मिन् वयसि प्रचलिष्यन्तोऽमी महात्मानो दीर्घायुष्कामानाकामकामुकानां पुर आदर्शं स्थापयित्वा स्वयशस्ये धवलिम्ना दिगन्तानपि नूनं वलक्षीयस्यंतीतिमयमाशास्महे।

वयसो द्राघिमा गुणानां गरिम्णा सहकृतो प्रशस्यः सञ्जायते, समर्हति च भूयांसि अभिनन्दनानि अहमपि स्वकीयम् अभिनन्दनाञ्जलिम् भट्टारक-महोदयेभ्यः सादरं समर्पयामि।

—श्री आशुतोष मजुमदारः

१०-४-१९६४

पत्रं-शुभाशंसनम्

श्रीमद्भ्यश्चिकित्सक शिरोमणिभ्यो कल्पतरुरिव मरुस्थल्या निदान चिकित्सा छायाफल समन्वितेभ्य: श्रीउदयचन्द्र भट्टारक महोदयेभ्य: स्वस्ति वर्ततेऽद्य समुज्वलेति मंजुलो मनोमलहरोद्दशां सुखकर:। यतिवर सद्मपद्मविकासाय पद्मिनी नाथोदयोत्सव इव भवतां तत्रभवतां जन्मोत्सव:।
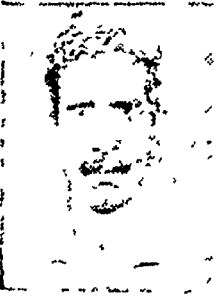
अद्य घनागमे मयूरस्य, वसन्तागमे कोकिलस्य, शरदागमे हंसस्य, रात्र्यागमे जारस्य, कामिन्यामे कामुकस्येव मनोमोमोत्ति सतां मन:। दूरस्थमपि परोक्षमपि चाक्षिलक्षं करोति। श्रीमतां गृहे जातं सर्वमुत्सव समूहं तेषां स्मृतिसंस्कारवाहीमत्तंमन:। बलादुड्डीयते कल्पनापक्षधृक्हृदयह्लदो तेषां मनोमराल:। सर्वैर्विद्वद्वराग्रगण्यैरमितै: बन्धुवर्गै: एकात्मतया ग्रास्वाद्यते जन्मोत्सवजन्य: रस:। अस्मिन्नवसरे दीयते मया वेदोक्त आशीर्वाद:। जीवन् यतेभद्रशतानि पश्य। "भद्रं पश्य, भद्रंश्रृणु, भद्रमाजिघ्र, भद्रं वद, भद्रञ्च स्पृश। आत्मा त्वां सततं पांतु परात्परतरो महान्। यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान्निह। यच्चास्य संततो भाव: स आत्मा त्वां सदावतु।"

वेदाक्ष्यम्बर लोचनै: परिमिते संवत्सरे वैक्रमे
वैशाखे विजयतिथौ भृगुदिने मासे सिते माधवे।
आयुर्वेद वृहस्पते रुदयचन्द्रस्यास्ति जन्मोत्सव:
सस्यात्संतशिरोमणेर्यतिपतेर्नृणां मुदा श्रेयसे ॥१॥

यस्मिन् नोमसमुच्चयावयपुते वेदस्य मुख्याक्षरे,
जाग्रत्स्वप्न सुपुप्तिकं प्रकटितं जन्तोरवस्थात्रयम्।
यत्तारंक समुद्रभेद विदधत् जीवान्व्यसम्मोह यत्,
साच्चिद् ज्ञानसर:सदाऽस्नपयतु ह्योंकार मेवाक्षरम् ॥२॥

कोषा: पंच शरीरिण: शिवतमा: सर्वाव्ववस्थापुते,
वेदाध्यापन संश्रितस्य यमिन: वैद्यस्य विज्ञस्य च।
वर्तन्तां विपयाभिमान जनित: मोक्तुं मनोम्यासजं
संसारे श्रुति सम्मतं सुव्रचर्यं चातुर्विधं चोज्वलम् ॥३॥

वेदोद्यान विलासितः प्रभवति प्रज्ञा परादर्शिनी
याभूत्यै भवतीह भुग्नं तमसः तापत्रयोन्मूलिनी।
शुद्धा हारविहारिणः श्रुति जुषो जीवातवे स्यात्तव
इत्याशीर्मनसा गिरा मधुरया जन्मोत्सवे दीयते।४॥

मीमांसा मननाब्धि मग्नमनसां कर्मार्पितं यत्फलम्,
शम्भोः पादसमर्चनेन सुधियां संदृश्यते यत्फलम्।
तत्त्वं वैद्यकुलावतंसकपते भक्त्या भवे प्राप्नुहि,
षट्सम्पन्ननुसेवतां तवतनुं दासीव सेवारता॥५॥

शुभाशंसी
कृष्णलाल शर्मा, एम०ए०, साहित्याचार्य
रजिस्ट्रार, आयुर्वेद विभागीय परीक्षाएँ, अजमेर (राज.)

वि० सं० २०२४
अक्षय तृतीया
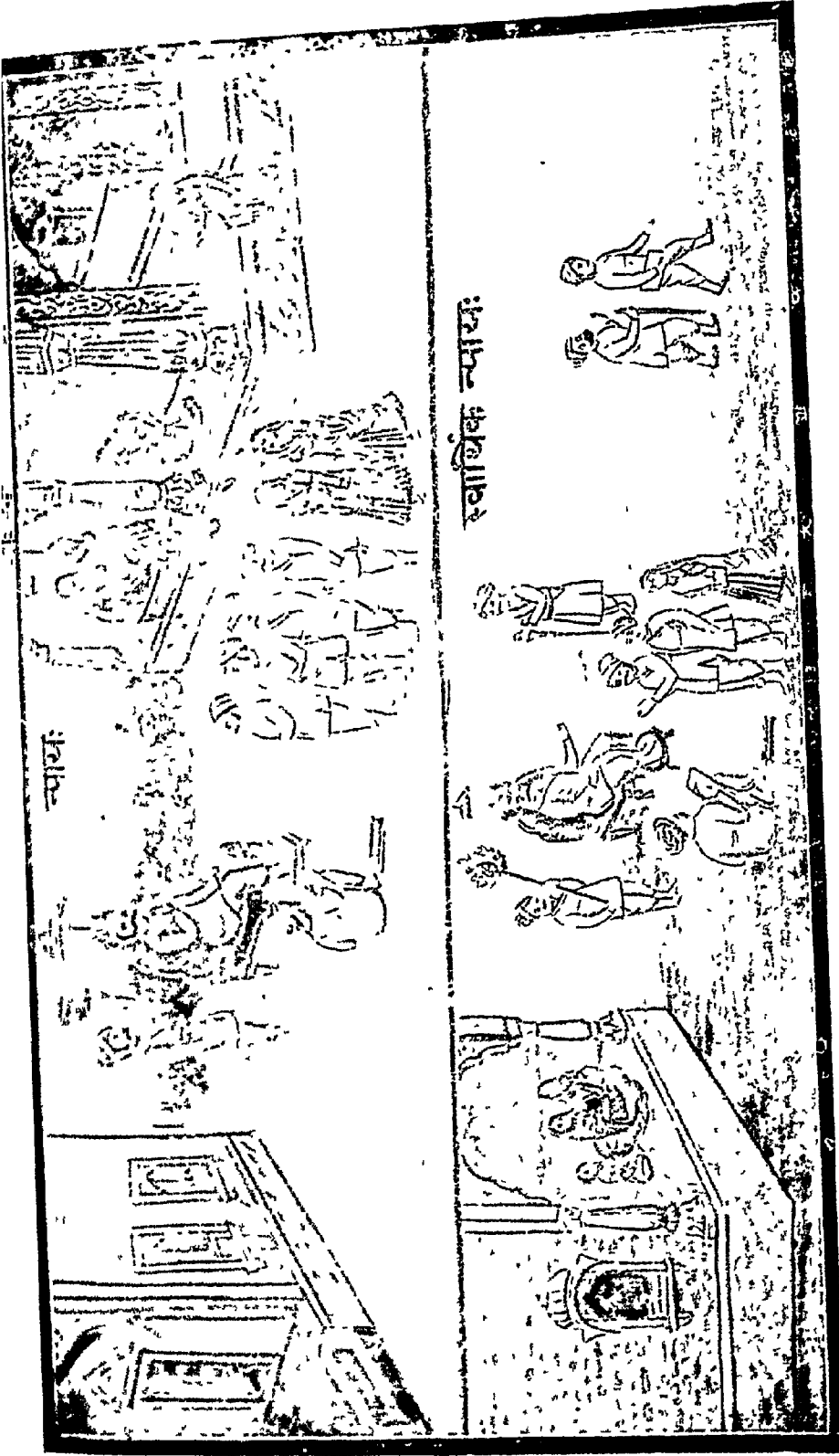
सनातनपन्था

तमसो मा ज्योतिर्गमय

रिसालदार पन्नालालसिंह स्मृति साहित्य प्रकाशक मण्डल एवं शोध संस्थान

(कार्यालय : श्री उम्मेद बहुद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय)

जोधपुर (राजस्थान-भारत)

के

संस्थापक एवं व्यवस्थापक श्री बालमुकुन्दजी अ. खोची द्वारा भिषगाचार्यादि

उपाधियांलण्कृत चांणोद गुरांसा श्री १००८ श्री उदयचन्द्रजी

अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु—

यति के पद पर दीक्षित होकर, निष्क्रिय आप रहे न कदाः
विविध कला प्रवीणता में अग्रिम आसन प्राप्त किया।
प्रखर बुद्धि अरु योगशक्ति का परिचय सतत दिया सदाः
दुखित रोगियों का सेवाव्रत तन मन धन से धार लिया॥

× × ×

तृष्णा लोभ रखा न कभी, इस जन सेवा का लाभ लिया।
राव रङ्क में रखा भेद नहिं, समदृष्टि बर्ताव किया॥

× × ×

चन्द्र के उदय से प्रकाश फैलत जग माहिं;
प्रकाश सो अथिर होत, थिर ना रहत हैं।
उदयचन्द्र ! आपको प्रकाश तो घटत नाहिं:
सुन्दर सुखद जन जन यों कहत हैं॥

विद्यावाचस्पति-भिषगाचार्य

प्राणाचार्य श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी

के

चरित्रनायक के प्रति श्रद्धामय भावना के अंश

सीतावर्डी, नागपुर
ता० १३-१-१९४०

श्रीमान् परम श्रद्धेय धन्वन्तरिक कल्पायुर्वेद मार्तण्ड पण्डित भट्टारक राजवैद्योपाध्याय श्री ६ उदयचन्द्रजी महोदय की सेवा में।

सुहृद्वर गुरां साहब, सप्रेम वन्दना स्वीकार करें। दिल तो चाहता है कि अब फिर निश्चितता में आपको सेवा में आऊं क्योंकि तृप्ति नहीं हुई। एक बार आप मारवाड़ में हम वैद्यों के मुकुटमणि एक आदर्श राजवैद्य आयुर्वेद की शान रखने वाले हैं। मुझे आपके घराने का इतिहास लिखकर प्रकट करना है। कहां कहां आपके संप्रदाय ने रहकर कितनी शास्त्र सेवा की और कर रहा है। यह सब सूर्य की तरह प्रकट होना चाहिये। अब दकियानूसी जमाना नहीं रहा है। मुझे आपके द्वारा कई पट्टावलियां देखने को मिलेंगी ऐसा विश्वास है। परमात्मा आपका हमारा वृद्धिगत करे।

मरुस्थल के दैदीप्यमान नक्षत्र श्री गुरांसा

श्री उदयचन्द्र चांणोद गुरांसा जोधपुर आयुर्वेद जगत् के एक दैदीप्यमान विभूति हैं। मारवाड़ के कई ऐसे रोगियों को जिनको मेडिकल हास्पिटल ने असाध्य घोषित कर दिया था श्री गुरांसाहब ने अपनी चिकित्सा द्वारा निरोग किया है और जीवन से निराश व्यक्तियों को असाध्य रोगों से मुक्ति दिला कर उनको नियमित सुखमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्रदान की है।

आपने सदा ही जनता जनार्दन की चिकित्सा सुश्रूसा करते हुये अपने जीवन को जनता की सेवा का साधन बनाया है तथा "परोपकाराय सतां विभूतयः" इस लोकोक्ति को चरितार्थ किया है।

आपकी सेवाओं से उपकृत्य एवं संतुष्ट होते हुये जोधपुर के महाराजाओं ने आपकी सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और चिकित्सासुश्रुसा के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करते हुये गुरांसाहब को पैरों में सोना बक्षीस किया है।

आप जिस गद्दी पर विराजमान हैं उस गद्दी के अधिकारी मुगल बादशाह औरङ्गजेब के समय से ही मुगल दर्बार के विभिन्न बादशाहों के फरमानों और सनदों से सम्मानित किये गये हैं। प्रत्येक गांव का किसान आपके पूज्य घराने को प्रत्येक फसल पर १) व नारियल देकर सम्मानित करता रहा है। यह सब प्रताप इनके घराने के व्यक्तियों के त्याग निष्ठा, सेवा-परायणता और परोपकार की भावना के प्रति जनता द्वारा प्रदर्शित सम्मान का द्योतक है।

व्यक्तिगत रूप में श्रीगुरांसा एक सरस एवं भावुक व्यक्ति हैं। आपकी संगीतप्रियता, सितारवादन, चित्रकला के प्रति प्रेम तथा साहित्य के प्रति निष्ठा ने आपको संगीतज्ञों, चित्रकारों व साहित्यिक व्यक्तियों की सभा में सदा ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। आप इन गुणों के कारण इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि सदा ही आप गुणीजनों से घिरे हुए रहते हैं। आपका व्यक्तित्व इतना प्रखर व समुज्वल है कि जो भी व्यक्ति एक दफा भी यदि आपके सम्पर्क में आ गया तो वह आप से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता।

आपने अपने जीवन काल में आयुर्वेद जगत की जो सेवायें समय-समय पर की है और रोगों के निवारण हेतु तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य संरक्षण हेतु

जो-जो उपाय अपने उपदेशों, व्याख्यानों एवं भाषणों द्वारा समय-समय पर दिये हैं वे जनहित के लिए परम उपयोगी हैं।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि ऐसे वृद्ध, तपस्वी एवं विद्वान चिकित्सक की सेवाओं के प्रति कृतज्ञता दिखाते हुये जोधपुर की जनता इनको एक अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट कर रही है। मैं भी अपनी भावना रूपी कुसम इस अवसर पर भेंट करते हुये गुरांसा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशन करता हूं और उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

मनोहरलाल श्रीमाली
नाथद्वारा (राज०)

श्रीमतामायुर्वेदमार्तण्ड प्राणाचार्य वैद्यावतंस राजवैद्यादिविविधविरुदभाजां
पण्डितप्रवराणाम् उदयचन्द्रभट्टारकमहोदयानां हीरकजयन्तीमहोत्सवे
पद्यकुसुमाञ्जलिः

नमस्कारः

पीयूषपूर्णं घटमादधानः
पीताम्बरश्चन्दन चर्चिताङ्गः।
प्रसन्नदृक् स्याद् भगवान् सदा नः,
धन्वन्तरिर्नीर निधिप्रसूतिः ॥१

ये ब्रह्मसञ्चिन्तन चेतसोऽपि,
न चक्रिरे भूतदयां परोक्षाम्।
आनिन्युरायुर्वहत वेदमुर्व्यां,
प्रातर्नमस्याः परमर्षयस्ते ॥२

यैः शाश्वतं ज्ञानमिदं त्रिसत्यं,
त्रिस्कन्धमूर्जस्वलवाग्विलासैः।
न्यबन्धि नानाऽमरसंहितासु,
नस्तेऽग्निवेशप्रमुखाः प्रणम्याः ॥३

अन्ये च ये नैकविधान् निबद्धय,
ग्रन्थान् हितानल्पधियां कृतेऽपि।
श्रीवृद्धिमस्य व्यदधुः सुधीन्द्राः,
शास्त्रस्य तेऽपि स्मरणीयवृत्ताः ॥४

विचार्य सृष्टिस्थिततत्त्वंतत्त्वं,
निर्भ्रान्तिसिद्धान्तनितान्ततान्ताम्।
चक्रू रसाविष्कृतिमर्चनीयाः,
सिद्धा समृद्धा यशसा सदा नः ॥५

स्वोपासनासद्मनि सिद्धतन्त्रा-
ण्यनेकरूपाणि भिषग्जितानाम्।
निर्माय निर्मायमुपादधुर्ये
नस्तेऽर्हणीया यतयो विरागाः ॥६

दुःसङ्कटाक्रान्ततमोयुगेऽपि,
म्लेच्छार्दिताः साहसवन्त एके ।
ये पूर्वजानां निधिमाररक्षुः
तेभ्यो नमो नः सततं कृतिभ्यः ॥७

सद्वैद्यप्रशंसा

तेषामहो ! किं परिवर्णयामो
यशांसि शुभ्राणि भिषग्वराणाम् ।
वहन्ति येषां शिरसा निदेशं
भृत्या विधेया इव भेषजानि ॥८

चिकित्सिते रूढरुजां तनूषु
सिद्धाः कियन्तो भिषजो लसन्ति ।
ये सन्ति तेऽनातलोकमार्गाः
स्वेच्छं वने वा भुवने चरन्ति ॥९

श्रीमान् उदयचन्द्रभट्टारक महोदयः

स्मर्तव्यनाम्नां हि भिषग्वरणा-
मेताहगुल्लेख्यपरम्परायाम् ।
युगाग्रणीर्भाति यतीन्द्रपीठे
भट्टारकश्रीरुदयादिचन्द्रः ॥१०

सोयं श्रीमान् यतीन्द्रो भरतवसुमतीप्राज्यराज्यान्तरिक्षे
संराजद्भाभिरामप्रवरगुणभिषग्वृन्दनक्षत्रदीप्ते ।
सम्पूर्णः सत्कलाभिः प्रसृमरसुयशोज्योत्स्नयाशामुखानि-
प्रत्यग्रश्रीणि कुर्वन् अपर इव शशी निष्कलङ्कोऽभ्युदेति ॥११

वाणीलक्ष्मीविलासद्विगुणितविभवे सत्कुले जन्मलब्ध्वा
ज्ञानालोकप्रदीप्त्या विनतसुरगुरोरात्तविद्यो गुरोर्यः ।
कर्माभ्यासेन शास्त्रं करतलबदरीकृत्य धीमांश्चिकित्सा-
क्षेत्रे सोत्साहसम्पद् रसशरनवभूवत्सरे चावतीर्णः ॥१२

दक्षः क्रियासु कुशलो गदनिग्रहेषु
भैषज्यकल्पनकलासु च सिद्धहस्तः ।

रोगार्तसान्त्वनविधासु विचक्षणोऽयं
लोके प्रसिद्धिमभजत् समयेऽल्प एव ॥१३

शिष्यैर्ज्ञानमहार्णवो गुरुजनैर्यो नम्रताशेवधि-
र्नानारोगनिपीडितैः किल जनैः पीयूषपाणिर्भिषक् ।
शिष्टैः सभ्यजनाग्रणीः प्रियसुहृत् साह्यार्थिभिर्याचकैः
कल्पद्रुर्युगपत्प्रबोधि यतिभिः सिद्धो यतात्मा परः ॥१४

पाश्चात्यैरचिकित्स्यतामुपगता मर्त्याश्चिकित्सापथै-
र्जीर्णार्तिव्यथिताः स्वमृत्युदिवसं सङ्ख्यातुमारेभिरे ।
तद्व्याधिक्षपणे त्वदीयपटुतामाश्चर्यदामीर्ष्यया
निध्यायन्ति हृदि स्तुवन्ति भिषजो वैदेशिका देशिका ॥१५

यस्मिन् दृष्टिपथं प्रयाति भिषजामग्रेसरे मानिनां
पौराणामपि जायतेऽञ्जलिलसन्मुद्रा हठान्मूर्धनि ।
किञ्च प्रह्वनरेन्द्रमौलिमुकुटश्रेणीलसद्रत्नभाः
कुर्वन्त्यङ्घ्रिनखच्छटां प्रतिदिनं चित्रां विचित्रां पुनः ॥१६

आगत्यागत्य दूरादगणित विभव श्रेष्ठिसामन्तवर्गं
दृष्ट्वा भवत्यार्पयन्तं प्रचुरतरधनं रोगमुक्तिप्रसङ्गे ।
आधातुं हेममूषां तव पदयुगयोर्मुष्णतो पद्मकान्ति
मन्ये राज्ञामनुज्ञा सुगुण ! गुणविदामात्मसन्तोष हेतुः ॥१७

आयुर्वेदतरोः समूलदलनायापार्ष्णिचूडान्तर-
स्वेदस्राव्करैरशिष्टमतिभिः खृष्टैः प्रदुष्टाशयैः ।
आरब्धं यदकार्यमुल्वणतमं तद्रोद्धुमारेभिरे ।
यत्नं ये भिषजः प्रचण्डमहसां तेषां भवानग्रणीः ॥१८

आयुर्वेदसमुद्धृतेर्नवनवा आविष्कृता योजना
ऐक्यं वैद्यगणेषु भिन्नमतिषु प्राणात्मना स्थापितम् ।
मानः शासकमण्डलस्य हृदये शास्त्रं प्रति स्फोटितः
शास्त्रस्यापरिशीलनाय शतशश्छात्राश्चसम्प्रेरिताः ॥१९

आयुर्वेदसभासु गौरवपदे वैद्यैर्भवान् साग्रहं
वैद्यव्रातहिताय विज्ञ ! कतिचिद्वारं समारोपितः ।
राजस्थानधराधिपैश्च बहुभिर्भूयो भवान् सत्कृतो
दत्वा राज्यभिषक्पदं "गुणिजनः कैर्नात्र तोष्टूयते ॥२०

वार्धक्येऽपि भिषग् ! भवद्हृदि लसत्युत्साहवारां निधिः
स्पर्धाया विषयो विभाति बहुधा यूनामपि स्वात्मनाम् ।
आयुर्वेदममुं स्वगौरवपदे भूयोऽपि वा भारते
नूनं स्थापयितुं बतोद्यम इह न्यूनोऽस्ति कस्मात्तव ॥२१

आत्म प्रत्ययपूरिते सुविमले तेजोमये दर्शने
वाचां स प्रसरो निरस्त कुहकः स्रोतस्विनीसूज्ज्वलः ।
सौजन्यामृतवर्षिणी व्यवहृतिस्ते निश्छला निर्मदाऽऽ-
रङ्कक्ष्मापतिमा च वृद्धतरुणं सर्वं वशीकुर्वते ॥२२

आयुर्वेदस्य वर्तमाना दशा

जातो भारतभूतले सुसमयात् स्वातन्त्र्यसूर्योदयो
विश्वाकाशतटं करिष्यति तथा प्रोद्भासि नः संस्कृतिः ।
आयुर्वेदसरोजमेष्यति पुनर्हासश्रियं शोभना-
मित्याशाशतमप्यधत्त भिषजां हा सर्वकाराम्बुदः ॥२३

आयुर्वेदगतिं निरोद्धुमभितः प्रस्तूयते चौषधी-
निर्माणं च नियन्त्र्यते विनिमयः पाठ्यक्रमे कार्यते ।
वैद्यानामधिकारभूश्च शनकैः सङ्कोचमानीयते
प्राचीनेऽस्य महिम्नि गौरवमये ह्रासः समापाद्यते ॥२४

किन्त्वेतादृशि सङ्कटस्य समये धीधैर्यशौर्यादिकं
त्यक्त्वा सङ्घटनं च हन्त ! भिषजां वृन्दैरनुष्ठीयते ।
अन्योन्यं कलहो निजार्थपरताऽसूया वृथालोचना
स्थाने शास्त्रनिरीक्षणस्य च पद प्राप्तौ मनोधीयते ॥२५

साम्प्रतं यदनुष्ठेयम्

(आर्या) यद्यपि कृतं सुबहुतलम मायुर्वेदस्य गौरवायपुरा ।
सम्प्रति यदनुष्ठेयं तस्मिन्नपि दृष्टि माधे हि ॥२६

यद्यपि वयसा वृद्धस्तथापि तेजोऽतिशायि तरुणानाम् ।
बिभ्राणं त्वां यतिवर ! पश्यति साह्याशया शास्त्रम् ॥२७

त्वं सम्मतोऽसि भिषजां गङ्गात्मज इव पितामहस्थाने ।
तद् विक्रममालम्बय न विलम्बय रण धुराधाने ॥२८

धम शङ्खं गम्भीर-ध्वनिमाशाः पूरिताश्च येन स्युः ।
हर्षं सुहृदां हृदये शोकोऽरीणां च य श्रुत्वा ॥२९

हृत्तन्त्रीझंकृतिदं सूच सङ्गीतं सहस्रवं येन ।
नैराश्यं सालस्यं भिषङ्मनःस्थं निरस्तं स्यात् ॥३०

चित्रय तादृक् चित्रं धिया विचित्रं यते ! जगन्मित्रम् ।
द्रष्टा नन्दतु यस्मिन् स्वंभाव चित्रितं ज्ञात्वा ॥३१

आहिमगिरिर्मा सिन्धोर्भारतराष्ट्रे विशृङ्खला वितते ।
एक पताका यस्ताद् भिषजः सम्भूय चेष्टताम् ॥३२

भिषजो निर्मदलोभा भूतदयां प्रति भवन्तु जागरिताः ।
शाश्वत आयुर्वेदः शाश्वतमानं जगति लभताम् ॥३३

शुभा शंसनम्

जीव त्वं जीवनदः
समाः सहस्रं विराग मुल्लाघः ।
उदयादिचन्द्र यतिवर !
नभो द्विचन्द्रं चरीकुर्वन् ॥३४

कश्चिन्न दुःखभाक् स्यात् सर्वे सर्वत्र चैवनन्दन्तु ।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ॥३५

समर्पयिता
वैद्य सत्यनारायण शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्यः
नेहरस्थ श्रीकामेश्वर औषधालयाध्यक्षः

कुछ प्रेरक प्रसंग

वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा

"कहाँ ठहरे हैं ?"

"होटल में।" मैंने विनम्र उत्तर दिया।

"आपको मालूम है यादवजी महाराज जहाँ कहीं जाते हैं, वहां वैद्य के घर ठहरना पसन्द करते हैं। आपके लिए यह शोभा की बात नहीं कि होटल में ठहरें।"

ये हैं सहृदयता और उदारता-भरे भाव श्रद्धेय चाणोद गुरांसाहब भट्टारक श्री उदयचन्द्रजी के।

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन की कार्यकारिणी के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए इन पंक्तियों का लेखक जोधपुर गया था और होटल में ठहरने के कारण उसे यह स्नेहभरी ताड़ना मिली थी। उसके बाद से गुराँसाहब का घर मेरे लिए निर्बाध आवास-स्थल बन गया। जब कभी जोधपुर गया, वहीं टिका। हां, एक बार व्यक्तिगत कार्य से जाना हुआ तो फिर अन्यत्र ठहर गया था, तब भी बिस्तर उठवा कर वहीं मंगवाने पड़े। आयुर्वेद और आयुर्वेदज्ञों के लिए कितना प्यार, कितनी ममता है इनके निष्कलुष अन्तर में इसे प्रकट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त है।

\+ \+ \+

गुरांसाहब से प्रथम दर्शन मैंने सन् १९३९ में निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन के जोधपुर अधिवेशन में किये थे। वे उसके स्वागताध्यक्ष थे, उस वक्त ढलती उम्र थी उनकी। जोधपुर उस समय राजपूताने की प्रमुख रियासत थी और वहां के महाराजा पर कितना प्रभाव था इनका, इसे जोधपुर अधिवेशन मे भाग लेने वाले वैद्य भली भांति जानते हैं। किसी रियासत के शासक द्वारा किसी अधिवेशन का उद्घाटन करना उन दिनों बड़े महत्व का द्योतक था। आज के शासकों की तरह जन-सम्पर्क नाम की कोई चीज उस वक्त नहीं थी। इसीलिए जोधपुर नरेश का सम्मेलनाधिवेशन में आना अपने आप में बडी गरिमा का द्योतक था। यह सब गुरांसाहब के व्यक्तिगत सम्बन्ध का प्रतीक था।

\+ \+ \+

राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के १३ वें अधिवेशन के लिए अध्यक्ष पद के मतदान में प्रान्तीय कार्यालय की ओर से भयंकर अनियमिततायें की गई थीं। फलतः एक पक्ष को इन अनियमितताओं का शिकार होना पड़ा था। वसे तो स्वर्गीय श्री दीनानाथजी को पराजित घोषित किया गया था लेकिन वास्तव में

इस निरपराध पक्ष से प्रमुखरूपेण संबन्धित व्यक्ति मैं था अतः यह पराजय मेरी थी। परिणाम की घोषणा के पश्चात् मैं रात भर इस चिंतन में ही रहा कि अधिक अच्छा होता यदि मेरे स्वयं के अध्यक्ष पद पर खड़े होने पर यह हार होती।

मतगणना में मुझे कुछ मतपत्र एक ही व्यक्ति के हाथ से लिखे हुए प्रतीत हुए। इन मतपत्रों पर जालोरी गेट जोधपुर से निकलने तथा मुख्य डाकघर जोधपुर से वितरण किए जाने की मुहर अंकित थी। एक मतपत्र मेरे वर्षों से बिछुड़े साथी के नाम भी था जिसका उस समय मुझे कोई अता-पता न था, अतः मेरा सन्देह और भी पक्का हो गया। मैंने ऐसे अनेक मतपत्रों पर कुछ ऐसा लिख दिया कि, "इसे मैं पुनः जांच के लिए सुरक्षित रखवा रहा हूँ।" और इन मतपत्रों की पूर्ण प्रतिलिपि प्रधान मंत्री श्री माधोलालजी जोशी से लिखवा कर अपने पास लेली। मैंने इन मत-पत्रों के मतदाताओं से अविलंब संपर्क स्थापित किया तो कुछ ने मतपत्र न मिलने का उल्लेख किया। अब तथ्य मेरे सामने था। अतः मैंने पूर्ण प्रयास कर कार्यसमिति की बैठक पुनः मतपत्रों की जांच के लिए बुलवाई।

पुनः जांच करने वाली कार्यसमिति की यह बैठक जोधपुर में हुई। मैंने जब स्वहस्ताक्षरित जांच के लिए छाटे गए मतपत्रों को देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। हकीकत यह थी कि मेरे हस्ताक्षरों को ज्यों का त्यों छोड़ कर बाकी सब को मिटा कर बदल दिया था सिवाय प्रिंटेड मैटर के। लेकिन शीघ्रता में कुछ क्रमांक, नाम व पते मुझे दी गई रसीद से भिन्न लिख दिए गए। अब यह एक नई समस्या और उत्पन्न हो गई।। भाई श्री अम्बालालजी जोशी, मुनि श्री देवेन्द्रजी एवं स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायणजी आसोपा जैसे निष्पक्ष व्यक्ति मेरी बात के वजन को समझते थे अतः न्याय की मांग कर रहे थे। श्री स्वामी मगलदासजी भी इस अनियमितता को समझ गए थे पर किसी तरह समझौते के समर्थक थे।

मैं स्वयं यह अनुरोध कर रहा था कि कार्यसमिति निःसंकोच यह प्रस्ताव पास करे कि इस चुनाव में कार्यालय की ओर से अनियमिततायें की गई हैं किन्तु वैद्य समाज का हित इसी मे है कि श्री दीनानाथजी एवं उनके सहयोगी इस प्रसग को उदारता के साथ यहीं समाप्त कर दें। और निःसंदेह हम ऐसा करने को तैयार थे। किंतु पर-पक्ष तथा पदाधिकारी ऐसा प्रस्ताव पास करने को तैयार नही हुए थे। उल्टे वे मतपत्रों की अवैधता से भी इन्कार करने लगे। अतः इस समस्या के समाधान के लिए तीन सदस्यों की एक समिति गठित की

गई, जिससे एक सदस्य श्रद्धेय चाणोद गुरांसाहब नियुक्त किये गये। गुरांसाहब की नियुक्ति उनकी अनुपस्थिति में हुई थी। बाकी दोनों सदस्य जब मेरे द्वारा छांटे गए मतपत्रों को लेकर गुरांसाहब के समक्ष उपस्थित हुए तो गुरासाहब ने इन मत-पत्रों को देख कर स्पष्ट शब्दो मे कहा कि ये अक्षर तो स्पष्टत: मिटा कर लिखे गए हैं अत: समिति का अन्तिम निर्णय कार्यसमिति को मान्य हो तो मैं इसमे रहने को तैयार हूँ अन्यथा मुझे इसकी सदस्यता स्वीकार नही।

अन्त में कार्यसमिति ने मेरे अनुरोध से करीब करीब मिलता जुलता प्रस्ताव पास कर लिखित रूप मे मेरे हाथो में सौंप दिया और हमने उस प्रसग को वही समाप्त कर हार मे भी जीत समझी।

इतना सब कुछ लिखने का आशय यही है कि गुरांसाहब की निष्पक्ष मनोवृत्ति का यह एक ज्वलंत उदाहरण था जो न्यायप्राप्ति मे सहायक सिद्ध हुआ।

\+ \+ \+

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन की पिछले दिनों की स्थिति के प्रति उनके आक्रोश का परिणाम तो सबके समक्ष ही है। वे इसे उस दलगत छिछली राज-नीति से दूर रखना चाहते थे जिसमें आज वह आकण्ठ गोते लगा रहे हैं। फलत: उनके आशीर्वाद से राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (रजिस्टर्ड) जोधपुर की स्थापना हुई और इसके माध्यम से वे विशुद्ध आयुर्वेद विज्ञान का प्रचार प्रसार और राज्य सरक्षण चाहने लगे। फल यह हुआ कि राजस्थान का विचार-शील बुजुर्ग वैद्य समाज और लिप्सारहित युवक वैद्य वर्ग इस सम्मेलन के साथ हो गया। यह सम्मेलन उस विलुप्त नीति को पुन: स्थापित करना चाहता था कि जिसके द्वारा आयुर्वेद विज्ञान को उचित संरक्षण मिल सके और प्रदेश के वैद्य बन्धु भ्रातृत्व की भावना से एक मच पर आ कर दिशा-निर्देश कर सकें। सम्मेलन को इस रीति-नीति के निर्धारण में गुरांसाहब का प्रमुख योग रहा है। लेकिन दुर्भाग्यवश पर-पक्ष न्यायालयों के माध्यम से उसके अस्तित्व को चुनौती देने पर उत्तर आया। आज उच्च न्यायालय में यह सब विचाराधीन है तब इसके सबध में अधिक कह सकना रजिस्टर्ड वैद्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री होने के नाते मेरे लिए सभव नहीं। आज अपने जीवन के संध्याकाल में भी गुरांसाहब निरतर वैद्य वर्ग को प्रेरणा देते रहते हैं। उनमें उत्साह और लगन का संचार देख कर प्रसन्न होते है। ईश्वर करे उनके जीवन का यह संध्याकाल भी हमारे लिए इतना लम्बा हो कि हम उनकी छत्रछाया मे उन्हीं के सद्विचारों को साकार कर सकें।

एक अनुभूति : एक चमत्कार

मैं सम्पतराज सुराणा, राणावास मारवाड़, वर्तमान में हैदराबाद दक्षिण फेवरलूबा कम्पनी के मद्रास व आन्ध्र क्षेत्र का वितरक हूं।

सर्वप्रथम २१ मार्च ६६ को अकस्मात भ्रम हो कर छर्दि हुई तथा बेहोश हो कर मैं गिर गया।

८-१० वर्ष से लाइकर लेता रहता हूं। मैं उसी दिन भ्रमणार्थ सिंगापुर जा कर वापस मद्रास आया था। छर्दि (उल्टी) खट्टी हुई थी। उसके बाद २ माह तक वैसे ही चलता रहा, ५-६ रोज बाद एकाध बार दिन-रात में उल्टी होती थी। चरपरी वस्तुओं का प्रारम्भ से ही प्रेम था। जब तबियत अधिक खराब रहने लगी, डाक्टरी चिकित्सा (अनियमित) रूप से हो रही थी, दूसरे डाक्टरों ने देख कर कहा कि पेट में पानी भर गया है। इसे निकालना आवश्यक है अतः टेपिंग कर २४ पौण्ड माह जनवरी ६७ में प्राइवेट हॉस्पिटल मे डॉ० रमेश पाई द्वारा हैदराबाद में पानी निकाला, तथा ३०० cc. ब्लड (खून) दिया गया। इसके बाद २१ दिन तक तो ठीक रहा। परन्तु इक्कीसवे दिन वापस पेट एक ही दिन में उतना ही बडा हो गया। अतः २३वे दिन फिर उसी क्लीनिक मे उसी डाक्टर द्वारा उतना ही दूसरी बार पानी निकाला गया।

सारा शरीर इजेक्शनो से बिंध गया था और मल मूत्र का अवरोध होने लगा परन्तु द्रवीयांश की कमी की पूर्ति के लिए (फिर) तब इजेक्शन देने की डॉ० की सलाह हुई। लिवर एक्सट्रेक्ट का इजेक्शन दिया जिसे मैं सहन नहीं कर सका। मुझे बेहद पीड़ा हुई, मैं चिल्लाया, मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मेरी मृत्यु सन्निकट है अतः प्राकृतिक चिकित्सालय मे डॉ० वेंकटराव के पास गया। उन्होने केवल मात्र कच्चे नारियल के द्रव के आहार पर रखा, इससे मेरी जो कि मूत्र-त्याग की बड़ी पीडा रहती थी वह साफ हुई। इसलिए मैं ४० दिन वहां रहा, उससे मेरे दर्द आदि मे बडी कमी रही व गैस वगैरह नहीं रहता था। किन्तु डॉ० वेंकटराव को सलाह रही कि मुझे इसी प्रकार के आहार पर छः माह कम से कम रहना होगा। इसी दरम्यान मेरे एक रिश्तेदार ने—जोधपुर के चाणोद गुरां साहब पूना आने वाले हैं—सूचना दी। गुरां साहब का आना कैंसल हो गया, इसलिए स्वयं जोधपुर चैत्र सुदी २ सम्वत् १९२४ को रवाना हो कर चौथ को जोधपुर पहुचा।

जोधपुर में ७ माह रहा। १० दिन के बाद आधा इंच कम हुआ तथा फिर उत्तरोत्तर उदर वृद्धि कम होने लगी।

प्राकृतिक चिकित्सालय मे कुछ अपथ्य लेते ही भर जाते थे, अतः मैंने डॉक्टर को कहा कि मैं चिकित्सा के लिए जोधपुर आऊंगा, तब मैं नमक मिर्च बन्द कर ½ से १ रोटी लेने लगा, जिससे पेट में पानी भरने लगा। मैं ने जोधपुर आया उस समय मेरा पेट ३३ इंच रहा जिसमे लगभग १२ किलो जल था, जो कि चिकित्सा के बाद मेरा वजन १२ किलो कम रह गया।

—सम्पतराज सुराना

राष्ट्र के अग्रगण्य वैद्यगुरु 'गुरांसाहब'

भारत राष्ट्र के इस युग के धन्वन्तरिकल्प "वैद्यो" श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज, श्री श्यामादास वैद्य शास्त्री तथा श्री त्र्यम्बक शास्त्री आदि के बाद सम्प्रति श्रद्धेय चांणोद गुरांसाहब एकमात्र महापुरुष हैं। राजाओं, राजपरिवारों, सर्वोच्च न्यायाधीशों एवं उच्च कोटि के राजनीतिज्ञों एवं विदेशियों पर आपने आयुर्वेद की धाक जमाई है। भारतीय रेल्वे विभाग मे आज तक वैद्यो को मान्यता प्राप्त नही है, किन्तु आप आज से पचास वर्ष पूर्व भी जे. बी. रेल्वे के सम्मान्य चिकित्सक-सलाहकार के रूप में रह चुके हैं। आप और स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी महाराज के प्रभाव से ही राजस्थान में आयुर्वेद को जनता तथा राज्य में गौरवान्वित स्थान प्राप्त हुआ है। ऐसे सर्वमान्य विशिष्ट व्यक्तित्व गुरांसाहब का अभिनन्दन कर वैद्य समाज एवं जनता अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहे हैं या ऋषि-ऋण का मार्जन कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि आपका "अभिनन्दन-ग्रथ" इस युग मे आर्ष सहिता चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट के समान लोकप्रिय तथा लोकोपकारक सिद्ध होगा। क्योकि आपका सारा जीवन जो चिकित्सा मे बीता है उसका नवनीत इसमें होगा। इसमें प्रकाशित अन्य विशिष्ट विद्वानों के लेख केवल मानव-कल्याण-परक ही नही हैं अपितु उनमें "गजायुर्वेद" तथा "वृक्षायुर्वेद" का भी चित्रण है अतः प्राणी एव जड़ पदार्थ तक पृथ्वी पर कल्याण-भागी होगे।

इसके साथ भारत सरकार को भी चाहिए कि राष्ट्र के सर्वांगीण हित में विश्व चिकित्सा पद्धतियो के मूल स्रोत भारत के जीवन-विज्ञान 'आयुर्वेद' को देश के स्वास्थ्य की रक्षा एवं चिकित्सा का माध्यम स्वीकार कर अष्टांगपूर्ण बनावें ताकि एतदर्थ व्यय होने वाले अरबों-खरबों रुपये देश की समृद्धि एव सुरक्षा के काम आ सकें तथा अपने ज्ञान-भण्डार को साथ लेकर निरन्तर कम होते जा रहे वैद्यों का ज्ञान भी कम न होने पावे। जहां तक राजस्थान का प्रश्न है, प्रान्त के वर्तमान मुख्य मंत्री बड़े दूरदर्शी माने जाते हैं। वे आयुर्वेद का मूल्यांकन भी करते हैं तथा इसको बढ़ावा भी दिया है, किन्तु जब तक आयुर्वेद को प्रान्त की राज्य-चिकित्सा-पद्धति के रूप में विकसित कर स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा का अधिकार नही दिया जाता तब तक प्रतिस्पर्धा मे आयुर्वेद एवं वैद्य अपने आपको 'हीन' ही अनुभव करते रहेगे। राजस्थान मे

नये-नये परीक्षण भी चल रहे हैं। 'चुकन्दर' से 'चीनी' बनाने का प्रयोग चालू कर दिया है। पर इस अरावली पर्वत-श्रेणियों से घिरी भूमि मे जो अनेक 'कद' विद्यमान हैं उन्हें भूमि-गर्भ से निकाल कर जनता के उपयोग में नही लाया जा रहा है। आयुर्वेद में अनेक 'दिव्य औषध', 'फलिनी', 'मूलिनी' पदार्थो का वर्णन है। 'मूलिनी' अर्थात 'कद-वर्ग'। इन कद-मूल-फलों से खाद्यान्न मे देश आत्मनिर्भर हो सकता है।

अन्त में मैं आशा करूं कि हमारी पीढ़ी अनादि-अनन्त-शास्वत राष्ट्रीय विज्ञान आयुर्वेद को प्रोत्साहन दे कर अगले शतक को सच्चा मार्ग प्रदर्शित करेगी। यही 'गुरांसाहब' का सही अभिनन्दन होगा।

वैद्य भागीरथ जोशी
मोती चौहटा
उदयपुर (राजस्थान)

माननीय मथुरादासजी माथुर,
गृहमन्त्री,
राजस्थान सरकार,
चांणोद गुरांसाहब भवन,
जोधपुर,
राजस्थान

दिनांक १६-८-६३

मान्यवर महोदय,

परमपूज्य श्री चांणोद गुरांसाहब के हीरक-जयन्ती के अवसर पर श्री उदयाभिनन्दन ग्रथ प्रकाशित करने के आपके निश्चय से अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

आयुर्वेद शास्त्र के अध्येता राजमान्य पण्डित उदयचन्द्रजी महाराज श्री गुरांसाहब के लोकोपकारी एवं कर्मठ जीवन को समग्र आयुर्वेद प्रेमियों के बीच वृहत् पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित करने का संकल्प निर्विवाद रूप में वरेण्य एव समीचीत है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथ के प्रकाशित होने से आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रद्धति के विकास-प्रसार तथा उन्नयन में एक नये पथ का निर्देश होगा और पीड़ित मानवता की सेवा में संलग्न व्यक्तियों को नयी प्रेरणा प्राप्त होगी।

सधन्यवाद,

आपका
रतनचन्द बर्म्मन
प्रबंध निर्देशक,
DABUR (DR. S.K. BURMAN) PVT. LTD.,
CALCUTTA—29, INDIA

Kaviraj
B. N. Sircar
Hony. Ayurvedic Physician
to the President of India
Hony. Magistrate Delhi.

KALLOL
779-780 Nicholson Road,
Kashmere Gate, Delhi

प्रमुख सम्पादक,
श्रीउदयाभिनन्दन ग्रंथ तथा
हीरक जयन्ती समारोह समिति,
चाणोद गुरां साहब भवन,
जोधपुर (राजस्थान)

दिनाङ्क २०-८-६३

श्रीमान् जी,

हमें यह जान कर सातिशय प्रसन्नता हुई कि आपने पण्डित श्रीउदयचन्द्रजी महाराज, लोकप्रसिद्ध श्री चांणोद गुरांसाहब का अभिनन्दन तथा हीरक जयंती मनाने जा रहे हैं।

श्री उदयचन्द्रजी महाराज जैसे आयुर्वेद की विभूति आजकल लगभग विरले हो गये हैं। उन्होंने आयुर्वेद तथा साधारण जन-समाज के लिये जो असाधारण सेवा की है, उसका प्रतिदान करना हमारे जैसे दीन व्यक्तियों के लिये बिल्कुल असम्भव-सा प्रतीत होता है। तब भी उनके प्रति मेरी हार्दिक शुभ कामना तथा कृतज्ञता प्रकट करना मैं सर्वथा उचित समझता हूँ।

यह अधिक आशापूर्ण बात है कि अभी वैद्यराजजी ८५ साल की अवस्था तक आयुर्वेद तथा गरीब रुग्ण देशवासियों की सेवा कर रहे हैं। तथा अपने चिकित्सा-नैपुण्य से आयुर्वेद का झण्डा ऊंचा रख रहे हैं। यह आयुर्वेद-सेवियों के लिये अधिक गुरुत्व का विषय है।

आयुर्वेद के बहुत बड़े-बड़े प्रकाण्ड विद्वान् हो चुके हैं। परन्तु इन मे से किसी ने अपनी अभिज्ञता को कोई प्रभावशाली द्रव्य या औषधि के बारे में कोई उपयोगी ग्रथ आधुनिक काल मे नही लिखा है। अतः आयुर्वेद-जगत ज्यों को त्यों निर्धन वा भाग्यहीन रह रहा है।

मेरी अपनी सम्मति यह है कि श्री स्वामीजी के कृत अनुभूत योगो से आयुर्वेद-जगत लाभवान् होगा। इसलिये वैद्यजी ने अपने अनुभव के आधार पर आयुर्वेद के लिए कुछ तथ्यपूर्ण विषय या लाभकारी औषधि के विषय पर कुछ ग्रथ लिखे। जिससे वैद्य-परम्परा उनके ज्ञान तथा अनुभव से आगे लाभ उठा सके अन्यथा अवर्त्तमान अवस्था में आपकी ज्ञान-परम्परा विलुप्त हो जायेगी।

गुणमुग्ध
श्री वैद्य जयसरकार

श्री भुवनेश्वरी पीठ

गोंडल - सौराष्ट्र (भारत)

॥ श्रीरस्तु ॥

संचालक महोदय,
श्री उदयाभिनन्दन ग्रंथ तथा
हीरक जयन्ती समारोह समिति,
जोधपुर (राजस्थान) दिनाङ्क २८-८-६२

विद्वच्चूडामणि रूप !

आपकी ओर से सकलशास्त्र-पारंगत राजवैद्य पण्डित श्री उदयचन्द्रजी महाराज चांणोद गुरां साहब महाभाग की हीरक जयन्ती का उत्सव मना रहे हैं यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनका सारा आयुष्य प्रजाशास्त्र, धर्म और अधिकतया आयुर्वेद की सेवा में व्यतीत हुआ है। ऐसे भारत-प्रसिद्ध और राजस्थान के अग्रगण्य विद्वान् के नाते उस प्रसंग पर अभिनन्दन ग्रथ प्रगट करने का निश्चय किया है यह ठीक बात है परन्तु इस ग्रथ का लाभ तो एक दो हजार वैद्य लोग या गण्यमान्य व्यक्ति ही ले सकेंगे। ऐसे महापुरुष के चिरस्मरण के लिए शुद्ध आयुर्वेद अस्पताल खोली जाय जहाँ गरीब और श्रीमंत सब रोग-पीड़ित लोग आयुर्वेदीय औषधि से रोगमुक्त होकर आयुर्वेद का और राजवैद्यजी का यावज्जीवन गुणगान करेंगे और इस प्रकार प्रति वर्ष हजारों रोगी उस संस्था का लाभ उठावेंगे।

आगे एक दो विद्वानों के स्मरण-ग्रंथ निकाले गये थे। आज वह ग्रंथ किसी के स्मरण मे भी नही है और जहाँ होगा वहाँ लाइब्रेरी के कबाट की शोभारूप बना होगा। ऐसे ग्रथों से जाहिर जनता को क्या लाभ हुआ, जानते नही। इसलिए ऐसे परम्परागत रवैये को छोड़ कर कुछ रूढ़ काम किया जाय कि जमाना तक उनका नाम प्रजा के स्मरण में रहे और प्रजा का आशीर्वाद सतत मिलता रहे और ग्राम प्रजा मे आयुर्वेद घरेलू बने।

राज वैद्यजी के परिचित, सेवक, स्नेही, मित्र आदि की संख्या बहुत है, उनमें बहुत से श्रीमंत है। वे चाहे जितना धन देने को तैयार होगे। प्रयत्न करने पर १०-१५ लाख रुपया इकट्ठा होना सम्भव है अथवा "उदयचन्द्रजी ग्रन्थमाला"

अथवा "गुरांसाहब ग्रंथमाला" चालू करदी जाय। इस काम के लिये ८ से १० लाख रुपया एकत्र कर आयुर्वेद के और उसके साथ सम्बद्ध रखने वाले शास्त्रों के ग्रंथ क्रमशः प्रगट किये जांय।

वर्तमान काल में प्रसिद्ध वैद्य भोग्य आयुर्वेद के छपे हुए ग्रंथों, हस्तलिखित ग्रंथों से अनुसधान करने से बहुत पाठभेद और अशुद्धियाँ प्रतीत होती है और कई ग्रंथ अमुद्रित पड़ हुए हैं। ऐसे ग्रथों का संशोधन कर प्रसिद्ध करने से आयुर्वेद की बड़ी सेवा होगी।

ऐसे विद्वान् की हीरक जयन्ती का उत्सव मना रहे हैं यह उत्तम बात है। मैं त्रिभुवन माता श्री भुवनेश्वरी माँ से प्रार्थना करता हूं कि श्रीगुरांसाहब १२५ वर्ष तक जीवित रह कर आयुर्वेद का उद्धार देखने को भाग्यशाली बनें।

आप सब का गुणानुरागी

आचार्य श्रीचरणतीर्थ महाराज के वेदोक्त आशीर्वादा:।

अखंड भूमण्डलाचार्य अनन्त श्रीविभूषित

श्री भुवनेश्वरी पीठाधीश रसेशास्त्री

श्री चरणतीर्थ महाराजः

सचित्र आयुर्वेद

सभी वर्गों द्वारा प्रशंसित, आयुर्वेद का प्रतिनिधि मासिक पत्र

प्रकाशक – श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता

१, गुप्ता लेन,
कलकत्ता-६

संख्या : ४०५

दिनांक १६-२ ६३

प्रधान सम्पादकजी,
श्री उदयाभिनन्दन ग्रंथ तथा
हीरक जयन्ती समारोह समिति,
जोधपुर (राजस्थान)

प्रिय महोदय,

आपका कृपापत्र दि० २१-१२-६२ का यथासमय यहाँ आ गया था। किन्तु दो महीने प्रवास के बाद कलकत्ता वापिस आया हूँ अतः पत्रोत्तर में विलम्ब हुआ। कृपया क्षमा करेंगे।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ऋषिकल्प आयुर्वेद के मर्मज्ञ और वयोवृद्ध आयुर्वेद के नेता आदरणीय गुरांसाहब के अभिनन्दन का आयोजन आप लोग कर रहे हैं। आदरणीय गुरांसाहब के इस अभिनन्दन से राजस्थान ही नहीं विश्व के समस्त आयुर्वेदीय चिकित्सक गौरवान्वित होंगे। प्रातःस्मरणीय दिवंगत श्री लक्ष्मीरामजी स्वामी के बाद यदि राजस्थान में आयुर्वेद की सरिता बहा कर या पथप्रदर्शन कर राजस्थान में आयुर्वेद की उर्वरा भूमि बनाने मे दूसरा स्थान इन महापुरुष को दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

अन्त मे भगवान धन्वन्तरि से यही प्रार्थना है कि आदरणीय गुरांसाहब चिरायु हों और यह अभिनन्दन समारोह सानन्द सम्पन्न हो।

आपका

सभाकान्त झा, शास्त्री

विशेष सम्पादक के विचार

अमृतलाल यादव

भारतवर्ष के आयुर्वेद की विश्व को एक अद्भुत देन है। यह विज्ञान जीवन-विज्ञान है और संसार का प्राचीनतम विज्ञान है। इसकी उत्पत्ति वैदिक काल से प्रारम्भ होती है और कनिष्क के समय तक आयुर्वेद संहिताओं का निर्माण हो चुका था तथा नागार्जुन काल में यह विज्ञान अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था और इस के आठों अंग पूर्ण रूप से विकसित हो चुके थे।

परन्तु यवन-साम्राज्य के प्रारम्भ होने के समय से ही इस विज्ञान की ओर शासकों की उपेक्षा दृष्टि होने लगी। ब्रिटिशकाल में इस विज्ञान को किंचित् मात्र भी राज्याश्रय नहीं मिला जिसके कारण इस विज्ञान की अत्यन्त क्षति हुई।

परन्तु इस समय भी जब हम परम उपयोगी विज्ञान को कोई राज्याश्रय नहीं मिल रहा था इस देश के चिकित्सकों की सेवा के कारण उनकी त्याग, निष्ठा, निस्वार्थ सुश्रुषा व परोपकार की भावना से प्रभावित होकर देश के दानी मानी सेठ साहूकारों व देशी राज्यों के राजा महाराजा और उन चिकित्सकों को प्रश्रय दिया और इस विज्ञान को जो अपने स्वयं के देश का विज्ञान है, जीवित रखा।

राजस्थान में रियासतों के राजा-महाराजाओं के तत्वावधान में राज्य-चिकित्सकों ने इस विज्ञान के द्वारा जनता की खूब सेवा की। मारवाड़ में जिन नाथ सम्प्रदाय के तथा जिन सम्प्रदाय के यतियों एवं मुनियों ने इस विज्ञान द्वारा जनता की सेवा करते हुए राजा-महाराजा तथा बादशाहों से फरमान एवं सनदें प्राप्त की हैं। उस यति परम्परा में वर्तमान में चिकित्सकसम्राट्, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस महोपाध्याय भट्टारक, राजवैद्य पं० श्री उदयचन्द्रजी महाराज हैं। ये जोधपुर व आयुर्वेद जगत में चाणोद गुरांसाहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री गुरांसाहब एक कर्मठ अनुभवी, पीयूषपाणि प्रख्यात चिकित्सक है। आपने सन् १८९९ से चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया और उस समय से ही अपने आपको तत्परता से जनताजनार्दन की सेवा में समर्पित कर दिया। राजपूताने में १९०९ में जब प्लेग फैला तो पीपाड़ आदि स्थानों में जहाँ प्लेग का उग्र रूप था, आपने अपने चिकित्सा-कौशल से हजारों जनता के प्राण बचाये और आपकी ख्याति सारे मारवाड़ में फैल गई। आपकी चिकित्सा से मारवाड़ की जनता ही नहीं अपितु तत्कालीन भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग के डाइरेक्टर जनरल R. Charles Mac Watt, M.B.B.S., F.R.C.P. F.R.C.S. भी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इनको जोधपुर, बीकानेर रेल्वे में काय चिकित्सक (Physician) का पद प्रदान किया जिसको आपने ९ वर्ष तक बहुत ही संजीदगी के साथ वहन किया। इतना ही नहीं, मारवाड़ राज्य के महाराजा श्री उम्मेदसिंहजी ने

आपको राजवैद्य की पदवी एवं शिरोपाव के साथ पैरों मे स्वर्ण का विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। आपने आयुर्वेद के प्रचार के साथ प्रसार हेतु अपने आपको सामाजिक कार्यों में जुटा दिया।

जन-मानस को जागृत करने हेतु आपने मारवाड़ वैद्य प्रचारिणी सभा की स्थापना की और कई वर्षों तक इसका सभापतित्व ग्रहण किया।

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन का जो २९वां अधिवेशन जोधपुर में सम्पन्न हुआ और वह आपकी प्रेरणा एवं व्यक्तित्व विशेष के कारण ही हुआ था। आपने उस समय स्वागताध्यक्ष के पद से जो वैद्यों को कार्यक्षेत्र में उतरने का आह्वान किया वह अत्यंत प्रभावपूर्ण था।

इसी तरह सीकर में १९५० में आपने राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन में सभापति के आसन से जो अध्यक्षीय भाषण दिया उसमे आपने आयुर्वेद के प्राचीनता के महत्व के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का उल्लेख करते हुये कतिपय उदाहरण देकर यह बतलाया कि ग्रीक एण्ड यूनानियो को जब सर्जरी का बिल्कुल ज्ञान नही था उस समय भी भारतवर्ष के चिकित्सक शल्य-शाला-कर्म बडी ही सजीदगी से करते थे। जैसा—

"The Indian knew? Practised indiginous operations which always remained unknown to the Greek and which even the Europeons learnt from them with surprise in the History of this country."

—M.A.M.U.

आयु इसी विद्वान ने पुनः लिखा है कि यदि आधुनिक चिकित्सक अपनी वर्तमान चिकित्सा को छोड़कर चरक के सिद्धान्तो के अनुकूल चिकित्सा प्रारम्भ करें तो चिकित्सक के सामने चिकित्सा कार्य का भार संसार में बहुत कम हो जावे और जीर्ण रोग भी कम सख्या में मिलने लगेंगे।"

इस प्रकार के कई उदाहरण देते हुये आपने वैद्यों को अपनी चिकित्सा में अनुसंधानात्मक प्रणाली अपनाने का अनुरोध किया।

एक तरफ तो आपने वैद्य समाज को इस तरह तैयार किया किया और दूसरी तरफ आपने राजस्थान सरकार को भी सन् १९५१-५२ के सत्र में वृहत्तर राजस्थान सरकार द्वारा संगठित आयुर्वेद बोर्ड के सभापति पद से तथा १९६० में स्टैंडिंग बोर्ड के उपसभापति पद से आयुर्वेद चिकित्सा के प्रसार, विकास व समुन्नति के लिए महत्पूर्ण सुझाव दिये। जोधपुर के खांडाफलसा में जो आयुर्वेदिक औषधालय चल रहा है उसकी शुरुआत भी सन् १९५२ में आपकी प्रेरणा से ही हुई है और आपने वहां ऑनरेरी चीफ व्यवस्थापक (फ़िजिशियन) के रूप मे कुछ समय तक कार्य किया। चिकित्सा क्षेत्र के बाहर व्यक्तिगत रूप से आप संगीत, चित्रकारी व यौत्रिक विद्या में भी सिद्धहस्त हैं। ऐसे विद्वान मनीषी के कार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना नागरिकों का परम कर्तव्य हो जाता है।

इसी विचार से प्रेरित होकर माननीय (अर्थमन्त्री) राजस्थान सरकार, श्री मथुरादास माथुर साहब के तत्वावधान में एक सम्पादक-मण्डल का आयोजन किया गया है जिसका एक सेनानी (सम्पापक) मैं भी हूँ। यह सम्पादक-मण्डल माननीय श्री गुरांसाहब का नागरिक अभिनन्दन करता हुआ उनकी सेवा में एक विशाल अभिनन्दन-ग्रन्थ-भेंट करते हुवे उनकी सेवाओं के प्रति कृतज्ञता प्रगट कर रहा है।

इस अभिनन्दन ग्रंथ में श्री गुरांसाहब के चमत्कारिक एवं सिद्ध प्रयोगो के प्रकाशन के साथ-साथ आयुर्वेदमीषियो द्वारा दीर्घायुप्राप्ति के साधन, आयुर्वेदीय त्रिदोष सिद्धान्त एवं कीटाणुवाद, आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सापद्धति आदि महत्वपूर्ण विषयों पर लेख लिखे गये हैं जो आयुर्वेद छात्रो को आलोच्य ग्रथो का कार्य सम्पन्न करने में सक्षम हो सकेंगे। और जनता को रोगों के चमत्कारी प्रयोग जो अब तक जनदृष्टि से बाहर थे, देखने को व अनुभव में लाने को मिल सकेंगे। यदि इस प्रकाशन से अभीष्ट की सिद्धि हुई तो सम्पादक मण्डल अपने को कृतकृत्य समझेगा!

जय आयुर्वेद !!

दो पुष्प

श्री राम चरण विन्द, सदा सुहागे।
उदय भानु अज्ञान सदा ही भागे॥

वे है गुरू जगत गौरव साज् जिनका।
आयु सदा वेदव्य बढ़ाव मनका॥

'उदय' भानु हित महा, मन्त्र का सबल प्रचारक।
'चन्द्र' हृदय से एक एक जन का उपकारक॥

सत्य भाव से विश्व बन्धुता का अनुरागी।
सकल सिद्धि-सर्वस्व सर्व-गत सच्चा त्यागी॥

सच्चा त्यागी एक मार्ग में जुट जावे।
आनन्द ब्रह्म का धार, ज्ञान में आयु बितावे॥

वही वेदों का आधार, धार मन रथ वाणी।
दिव्य ज्ञान परिवार कार्य की कुशलता पाणि॥

हे शरण-दायन देव, करते सब का त्राण है।
भगवन् मातृ भूमि, संतान हम, भगवन् गुरू लघु प्राण है॥१॥

श्याम मनोहर व्यास
रा.ब.ड.मा. विद्या मन्दिर
बाड़मेर
(जोधपुर)

JODHPUR

6th April, 1953.

I have known Ayurvedmartand Pranacharya Vaidyavatans Bhattarak Upadhyaya Raj-Vaidya Pandit Udaya Chandraji (the Chanod Guran Sahib) for some time now. He has also been treating my wife. He is a first-class Ayurvedic physician and enjoys the reputation of being the best man in the profession here.

I had occasion to visit his pharmacy also known as S.J.A. Pharmaceutical Works, Jodhpur. I was very pleased to find that medicines are prepared by upto-date methods with the use of modern machinery.

He is also doing great service to the people of Jodhpur by giving not only free advice but also free medicines to the poor and the needy.

I wish him a long life of service and his Pharmacy all success and prosperity.

K N Wanchoo

(K.N. Wanchoo)
CHIEF JUSTICE,
RAJASTHAN.

I have known Ayurvedmartand, Pranacharya, Vaidyavatans, Bhattarak, Upadhyaya, Raj-Vaidya, Pandit Udaya Chandraji (the Chanod Guran Sahib) for a long time, both as a man and a Vaidya. He is an Ayurvedic physician of the first rank, and truly enjoys the reputation of being almost the best man in the profession here.

More than once I placed myself (and some members of my family) under the treatment, and on all occasions the results were marvellous. I am indeed very greatful to him for all that he did for me. I cannot sufficiently praise his skill in diagnosis or his wonderful prescriptions. He has a pharmacy of his own, and gets all the drugs prepared under his personal supervision, and that too is, probably, one of the reasons why his cures are so effective.

He has done a lot to popularise the Ayurvedic system of treatment here and by his remarkable cures he has convinced the doubting multitudes that the indigenous system is no quackery, and that the method of treatment here can challange the best in the world in its curative effects.

Ayurveda in Marwar owes its popularity mainly to his effects. His election to the Presidentship of the Reception Committee of the 29th ALL INDIA AYURVEDIC CONFERENCE clearly manifests the general confidence he enjoys and the regard in which he is held by the people and Vaidyas of Marwar. His appointment as the physician to the Royal Family of Jodhpur and the conferment of the title of 'RAJ VAIDYA' on him amply show the outstanding merits of Guran Sahib.

But the man is more impressive than the physician. His gentlemanly behaviour and sweet words win everybody who comes in contact with him, and I believe these to be half the secret of his great success. He is generous, and most of the patients receive not only free medical advice but also free medicines. To rich and poor, high and low, without any consideration of caste and creed, his doors are open day and night. Such a man is a boon to the people of Marwar, and I pray that he may live long to benefit the population of Marwar with his advice and treatment.

JODHPUR
10th November, 1940

Diwan Bahadur
MADHO SINGH
HOME MINISTER
Government of Jodhpur

I have known Pandit Udaya Chandra Bhattarak Raj Vaidya since I came to Jodhpur as Principal Medical Officer of the Marwar State, and we have kept in touch with each other ever since I was transferred elsewhere in 1911.

He has always been ready and willing to give me help and was of great assistance in having the people inoculated and treated during the severe out-break of Plague in PIPAR and other places in 1909, when he accompanied me and remained with me.

He displayed much interest in the work at the HEWSON HOSPITAL Jodhpur, and was a frequent attendant there at operations.

He is also a good Photographer, and a pleasent, intelligent and agreeable companion.

On my recommendation he was appointed Vaid to the JODHPUR BIKANER RAILWAY which post he held for about seven years.

I understand he has an extensive practice in the methods of medicine which he professes and in which he displayed much zeal. I am sure he does the best for his patients according to his lights and knowledge, and is held in respect by the citizens of JODHPUR.

I have much pleasure in giving him this testimonial, and shall always be glad to hear of his continued prosperity and success.

R. Charles Mac Watt
M B.B Bc, F.R.C.P. & F.R.C.S.
Major General I M S (Retired)
Director General Medical Department
Government of India

JODHPUR (Rajputana)
20th November, 1929

किला रीवाँ
Rewa Baghel Khand,
६ अक्टूबर, सन् १६४५ ई०

कुछ दिन पहिले कई दिनों से हमारी तबियत अस्वस्थ रहने के कारण चिकित्सा के लिये श्री चाणोद गुरांसाहब को मैंने जोधपुर से बुलवाया। इनके ३ ही ४ रोज के इलाज से हमें काफी लाभ हुआ, किन्तु इसी दरमियान में मलिगनेण्ट मलेरिया का घोर अटैक हुआ।

उस समय आपने विना किसी डाक्टर अथवा वैद्य की सलाह लिये अकेले, जिस दक्षता व मुस्तैदी से हमारा इलाज किये, सर्वथा सराहनीय है।

जिस प्रकार आप आयुर्वेदिक अनुभव से परिपूर्ण हैं उसी प्रकार राजभक्ति, स्वामिभक्ति और परोपकार की मात्रा भी आप में सर्वथा पाई जाती है। हमें इस वात का अत्यन्त गर्व है कि हमारी जन्मभूमि (जोधपुर मारवाड़) में ऐसे रत्न मौजूद हैं। ईश्वर हमेशा आपको यश दे।

Suraj Kunwar
JODHPUR
Maharan (Rewa)

JUDICIAL MINISTER'S HOUSE,
JODHPUR, July 15, 1940

RAJ VAIDYA Pandit UDAY CHANDRAJI has attended several members of my family for various ailments from time to time during the last two years. It gives me great pleasure to testify to his high abilities and wide experience as a physician. He wins the patient's confidence by his attractive personality, charming manners and sweet talk. He studies the idiosyncracies of his-patient and prescribes accordingly. His treatment is, therefore remarkably successful.

He is deservedly popular with the public of Marwar and commands an extensive practice amongst all classes of the people.

He enjoys the patronage of His Highness and is the consulting Vaidya of His Highness household.

Besides being a successful medical practitioner, he is fond of learning and research.

He led the movement for the holding of the 29th Session of the All India Ayurvedic Conference at Jodhpur last winter. The success of this Conference was very largely due to his initiative, perseverance and popularity.

I wish him all success and prosperity.

Rai Bahadur Kanwar Sain
M.A. Barristar-at-law,
Minister for Justice and Reforms,
JODHPUR.

श्री उदयाभिनन्दन-हीरक जयन्ती ग्रन्थ

खण्ड २

पूज्यपाद महोपाध्याय वैद्यावतंस प्राणाचार्य, आयुर्वेद-मार्तण्ड राजमान्य राजवैद्य पं० उदयचन्द्र भट्टारक द्वारा

मूत्र व नाड़ी - परीक्षा

(संशोधित व अनुवादित)

मूत्र - परीक्षा

अतः परं प्रवक्ष्यामियन्मूत्रस्य परीक्षणम् ।
येन विज्ञात मात्रेण सर्व रोगान्प्रलभ्यते ॥१॥

अब हम मूत्र-परीक्षा लिखेंगे जिसे जान लेने पर सब प्रकार के रोग-स्थिति का ज्ञान हो जाता है ॥१

पश्चात्तुरजनीयामे घटिकानां चतुष्ठये ।
उत्थायरोगिणं वैद्यः मूत्रोत्सर्गं च कारयेत् ॥२॥

रात्रि के पिछले पहर चारघड़ी के तड़के रोगीको उठा कर मूत्र करने के लिये कहे ॥२

आद्यधारां परित्यज्य मध्यधारासमुद्भवम् ।
श्वेतकाचमयीस्थाल्यां धृत्वा मूत्रं परीक्षयेत् ॥३॥

मूत्र की पहिली धारा फेंक कर मध्य धारा के मूत्र को सफेद काच के बर्तन में रख कर परीक्षा करे ॥३

भास्करोदयवेलायां प्रकाशेस्थानकेसमे ।
लोऽपित्वा पुनः सम्यक् ततो मूत्रं परीक्षयेत् ॥४॥

सूर्योदय हो जाने पर समस्थान पर बर्तन रख कर बर्तन के मूत्र को खूब हिलाकर मूत्र की परीक्षा करें ॥४

तृणेनादाय तैलस्य विंदुमूत्र प्रपातयेत् ।
जायते वुद्वुदाकारः विकारः सोऽस्ति पित्तजः ॥५॥

तृण से तैल विन्दु लेकर मूत्र में डाले । यदि तैल विन्दु का वुद वुद हो जाय तो विकार पित्त से पैदा हुआ है यह समझो ॥५

श्वेतधारा महावात पीतधारातदाज्वर. ।
रक्तधारा दीर्घ रोगी मरणं कृष्ण धारया ॥६॥

यदि मूत्र का वर्ण (धारा) सफेद रंग की हो तो वात व्याधि से पीड़ित है । यदि धारा पीत हो तो ज्वरवाला है तथा लाल वर्ण की धारा होने से वहुत दिन का बीमार तथा काली धारा होने पर मुमुर्षु समझे ॥६

स्निग्धं च श्यामलं छाया वात मूत्रं परीक्षयेत् ।
तारिकामुपबध्नाति तैलबिन्दुयुर्ततथा ॥७॥
मूत्रे श्लेष्मणि जायेत समंपल्वलवारिणा ।

स्निग्ध (चिकना) श्यामवर्ण वात से, तैल बिन्दु की तारिका पित्त से कफ वृद्धि से मूत्र का वर्ण तालाब के जळ के समान स्वच्छ होता है ॥७

मूत्रे ाशाकमिलित तैलबिन्दू प्रजायते ।
मूत्रं वै पित्तमारुते ॥
उत्क्षिप्ते तैलबिन्दूस्तु चतुर्दिक्षुविसर्पते ॥९॥

जब तैल बिन्दु मूत्र के साथ मिल जाती है, या तैल बिन्दु मूत्र में चारों ओर फैल जाय तो वात पित्त की विशेषता जानें ।

सौवीरेण समं शस्तं मातुलिंग समप्रभम् ।
पानीयस्य समं मूत्रं विपाक रहितं भवेत् ॥१०॥

सुरमा के समान या विजौरे के समान या जल के समान क्रम से काला, पीला, श्वेत वात पित्त कफ से हैं ।

कफात्पल्वलपानीय तुल्यं मूत्रं प्रजायते ।
रक्तवातेनरक्त स्यात् कौसुंमं पित्ततोभवेत् ॥११॥

कफ से मूत्र तालाब के जल के समान तथा रक्त तथा वायु से लाल वर्ण का तथा पित्त से कुसुंभ के फूल के समान होता है ।

गुडूहृत्नतमारक्तं मूत्रमालोक्यते यदा ।
वहतितदमारक्तं चिन्हृतल्लिगवेदना ॥१२॥

वातश्लेष्मवशान्मूत्रं तक्रतुल्यं प्रजायते ।
जलोदरसमुद्भूत मूत्रं घृत कणोपमम् ॥१३॥

यदि छाछ के समान मूत्र हो तो वात कफ से समझें तथा जलोदर रोग में मूत्र घी के समान होता है ॥१३

वात ज्वर समुद्भूतं मूत्रं कुकुमपिंजरम् ।
मलेन पीतवर्णं च बहुलच प्रजायते ॥१४॥

वातज्वरी का मूत्र कुंकुम के समान तथा गाढ़ा मल से पीतवर्ण का होता है ॥१४

निरामेण शरीरेण श्वेत मूत्र प्रजायते ।
आम वात व शान्मूत्र तक्रतुल्य प्रजायते ॥१५॥

आमरहित पुरुष का मूत्र सफेद उतरता है परन्तु आम वात के कारण मूत्र छाछ तुल्य होता है ॥१५

पीत मित्थं प्रजायेत मूत्रं पित्तोद्भवं तथा ।
समघातो: पुनः कूप जल तुल्यं प्रजायते ।।१६।।

पित्त से मूत्र का वर्ण पीला होता है तथा समधातु पुरुष का मूत्र कूए के जल के समान होता है ।।१६

ऊर्ध्वं नीलमधोरक्तं रुधिरेण प्रजायते ।
रक्त श्लेष्म वशान्मूत्रं ससाध्य मूत्र उच्यते ।।१७।।

मूत्र में ऊपर नीली तथा नीचे लाल भाँई रक्त-प्रकोप से होती है तथा रक्त व कफ का मूत्र साध्य कहा है ।।१७

पीतवर्णं यदा पश्येन्मूत्र बुद्बुद सयुतम् ।
तदाप्यसाध्यं माकष्टं मूत्रं वैद्यकवेदिभिः ।।१८।।

पीले रंग का बुदबुदों के साथ मूत्र होने पर उस बीमार की स्थिति असाध्य या कष्ट-साध्य समझें ।।१८

अजीर्णेनभवेन्मूत्रं श्वेतं वा पीत दारुणम् ।
अजा मूत्र सम मूत्रं अजीर्णं ज्वर सन्निमम् ।।१९।।

अजीर्ण से रोगी का मूत्र सफेद, पीला, या अनेक रंग का बकरी के मूत्र के समान होता है ।।१९

मूत्रं च कृष्ण श्वेत च क्षय रोगस्य कथ्यते ।
मूत्रमसाध्यक ज्ञेयं भेषज नैव कारयेत् ।।२०।।

काला और सफेद वर्ण का मूत्र क्षय रोग मे हो जाता है अतः ऐसा मूत्र देख कर इस प्रकार के रोगी को चिकित्सा न करें ।।२०

नीलं स्निग्ध यदा मूत्र भाजने यत्र दृश्यते ।
आहारेच विहारेचोदरवृद्धिमेवत्तदा ।।२१।।

जब पात्र में रखे हुए मूत्र का वर्ण नीला व चिकना दीखे वह रोगी उदर वृद्धि का है यह मानो ।।२१

ऊर्ध्वनीलमधोरक्तं मूत्रं च रोगिणस्तदा ।
पित्तप्रकृति साज्ञेया सनिपातस्यलक्षणम् ।।२२।।

ऊपर नीले रंग का तथा नीचे लाल झाई वाला मूत्र का रोगी पित्त वृद्धितम संनि-पात का जानें ।।२२

य दोक्षुरस संकाशम् आमवातेन जायते ।
रक्तमध्य वशान्मूत्र ज्वराधिक्यस्य लक्षणम् ।।२३।।

आमावात से मूत्र ईख के रस के समान होता है तथा तेज बुखार में लाल रंग का होता है ।।२३

प्रचुर नीलवर्णं च मूत्रं पाणान्तकृद्भवेत् ।
कृष्ण बाहुल्यजानीयात्संन्निपातस्य लक्षण ॥२४॥

गहरे रंग का नीला मूत्र रोगी का मरक बताता है तथा काला अधिक रंग मूत्र का होने पर रोगी को संनिपात समझना चाहिये २४॥

पीतं तथा परिच्छायं कृष्णं बुदबुद संयुतम् ।
मूत्रं प्रसूति दोषेण संशयो नात्र कश्चन ॥२५॥

पीली छाया वाला या काली छाया वाला बुद् बुद युक्त मूत्र प्रसूति रोगों में होता है ॥२५

आपीत रक्त फेनाढयं इक्षुरसरसोपमम् ।
पित्ते कफेऽनले मूत्रे निरामे च ज्वरोभवेत् ॥२६॥

पीला या लाल मूत्र, जिस पर बहुत झाग हो, तथा ईख के रस के समान पित्त. कफ, तथा वायु द्वारा निराम ज्वर में होता है ॥२६

नीलमंत्रुसितः पीतः रुक्षः वायु प्रकोपतः ।
गृहीत्वा रोगिणो मूत्रं सूर्य तापे निधारयेत् ।
तस्य मध्ये क्षिपे त्तैलं तन्मूत्रं च परीक्षयेत् ॥१॥

रोगी के मूत्र को लेकर धूप में रख कर उसमें तैल की बूद डाल कर परीक्षा करें ॥१॥

यदा विकाशमाप्नोति तदासाध्य भविष्यति ।
बिन्दुरूपेण मध्याध्येतु असाध्यचविनिर्दिशेत् ॥२॥

जब तैल मूत्र पर फैल जाय तो रोगी साध्य है और यदि बिन्दु रूप में रह जाय तो असाध्य समझो ॥२॥

पूर्वस्यांवर्द्धते बिन्दू तैल प्रसारतो यदि ।
न चिर वर्द्धते रोगी
दक्षिणे जायते बिन्दु ज्वरभावी भवेत्तदा
दिनैकं जीवित तस्य मृत्युस्तस्य न संशयः ।
वारुणे च यदा बिन्दु प्रसरेत्तु तदा ध्रुवम् ।
रोगिणो रोगहानिः स्यादायुर्वृद्धिमवाप्नुयात् ।
उत्तरस्या यदा बिन्दू तैलस्य प्रसरेत्तदा ।
आरोग्यंचतदानूनं ननुचस्य न संशय ॥

फैलती हुई तैल बिन्दु यदि पूर्व दिशा में बढ़े तो बहुत काल तक रोग बढ़ता रहे ।
,, ,, ,, ,, दक्षिण ,, ,, एक दिन जीवन ।

„ „ „ „ पश्चिम „ „ स्वस्थ होवे।
„ „ „ „ उत्तर „ „ आरोग्य लाभ।

ईशाने तैल प्रसरो जायते यदि रोगिणः।
जीवितं मासमेकं तु पश्चाद्यातियमालये॥
आग्नेयां जायते बिन्दू तैलस्य प्रसरेद्यादि।
तस्यौषधं न कर्त्तव्य निश्चयं तद्विनश्यति।
प्रसरो जायते तैलं नैऋत्या दिशमाश्रितः।
चिर क्रीडा करोतीह
आमयन्परिसर्वत्र दृष्टचा।
न जीवति ध्रुव रोगी यदा सर्वज्ञ भगठीनम्।

यदि तैल ईशान कोण मे फैले तो एक माह का जीवन।
„ „ आग्नेय „ „ „ असाध्य।
„ „ नैऋत्य „ „ „ साध्य।

तैल बिन्दूर्यदा मत्रे चालणी सदृशो भवेत्।
प्रेतव्यंतरतो दोषो ध्रुव ज्ञेयोविचक्षणैः॥

जब तैल की बिन्दु में चालणी के समान छेद हो जाय तो उस रोगी को भूत-प्रेतादि का दोष जानें।

शख चक्रं गदाधारं तोमरं फणसं तथा।
शस्त्रं खड्गं धनुर्दण्ड श्मसान च भवेत्तदा:॥
हंस कारऽसंपूर्णं तडागो दृश्यते यदा।
पद्म रूप फलाकार तैल बिन्दू सुख प्रभम्।

जब मूत्र में तैल बिन्दु की आकृति मे शख, चक्र, गदा, तोमर, त्रिशूल, तलवार, धनुष, दण्ड आदि दीखें तो रोगी की हालत खराब समझनी चाहिये।

परन्तु जब हंस तथा कारंड पक्षियों द्वारा सुशोभित तालाब के समान प्रतीत होवे या कमल की आकृति का हो या फल को आकृति का हो तो साध्य जानें।

सर्वदा सकलं गात्रं प्रासादं गज चामरैं।
छत्रं च तोरणाकारं तैलबिन्दू चिरायुषम्॥

जब तैल बिन्दु मनुष्य की आकृति मे या मकान, हाथी, चवर, छत्र, तोरण-आकार में प्रतीत हो तो रोगी को दीर्घ आयु वाला समझे।

तैल मध्ये त्रिकोणांगे मूत्र संजायते यदा।
शाकिनी गोत्रजा देव्या दोपद्वय समप्रभम्॥

जब तैल बिन्दी के अन्दर त्रिकोण आकृति में हो जाय तो रोगी को इन दोनों देवियों शाकिनी तथा गोत्रजा द्वारा गृहीत समझें।

पूर्वस्या वर्द्धते शृंगं तस्य दोषः कुलोद्भवः।
दक्षिणस्या दिशि शृंगे चडाल व्यंतरो भवेत्।
पश्चिमायांदिशिदोषः विज्ञयो क्षेत्रपालजः।
उत्तारस्यादिशि शृगे गृह पूववु पुद्गलः।

तैल बिन्दु में शिखर की आकृति पूर्व दिशा मे बढ़े तो उसका दोष खानदानी जानें, तथा दक्षिण दिशा की ओर बढ़े तो चाडाल व्यंतर का समझें। पश्चिम दिशा में बढ़े तो क्षेत्रपाल का दोष जानें, उत्तर दिशा की तरफ शिखराकृति बढ़े तो पुद्मल दोष जानें।

अपुज्य कुरुते पूजां ज्ञातव्यं च चिकित्सकैः
ईशान्यां विदिशे शृगे शिधिशोकोतरी भवेत्॥

तथा ईशान की ओर शिखर बढने पर शीकोत्तरी दोष मानें तथा वैद्यों को इनकी पूजा आदि का ज्ञान प्राप्त कर इन्हें प्रसन्न किया जाय।

मूत्र मध्ये यदा तैल मस्तकद्वयसंयुतम्।
द्वयो वितरयो दोषो ध्रुवं ज्ञेयो विचक्षणैः।

जब मूत्र में डाले गये तैल बिन्दु से दो शिर की आकृति मालूम होवे तो दो व्यंतर का दोष समझना।

तैलबिंदूर्यदा मूत्रे मंडल मध्यते ध्रुवम्।
निर्दोषं च तथा ज्ञेयमौषधचं वकारयेत्॥२॥

जब तैल बिंदु में मंडल बधे तो उस रोगी को निर्दोष समझ कर चिकित्सा करे।

तैलबिंदूर्यदा मूत्रे विकाशं कुरुते स्वयम्।
स्वरूपं तस्य वक्ष्यामि शुभाशुभमचिकित्सकैः॥

जब तैल बिन्दु अपने आप ही फैले उसके शुभ अशुभ स्वरूपों को कहता हूँ।

विकसति हलः कूर्मं सुरभि खर जंबुकम।
करभंमडलेष्वन्तः असाध्य चैव लक्षयेत्।

यदि उसमें हल, कच्छप, गाय, गधा, सियार व हाथी आदि की आकृति हो तो असाध्य जानें।

द्विपथं चतुष्पथवा त्रिपथ दृश्यते पुनः।
एक पथ यदा बिंदू मरण कथितो बुधैः॥

अगर उस बिन्दु में दो रास्ते, तीन रास्ते या चार रास्ते अथवा एक ही रास्ता सीधा बना हुआ सा दीखे तो निश्चित मृत्यु जानें।

नरो वा शीर्षहीनो वा गात्रहीनो तथैव च।
एतैरुपविभंदेन ध्रुव मृत्यु विजायते॥

यदि तैल बिन्दु मनुष्य की धड़ शिर रहित या केवल मुण्ड अंग रहित प्रतीत होवे तो उस मनुष्य की अवश्य मृत्यु समझें।

नाड़ी-परीक्षा

उत्तावला तथा लंबा मंदा शुभतरातथा।
स्थूला च कठिना शीघ्रा मृद्वी रौद्रा प्रकीर्तिता: ।।

लम्बमान, मंद, शुभ, स्थूल, कठिन, शीघ्र, मृदु, रौद्र आदि नाड़ी को गतियें होती हैं।

सामा निरामअत्युग्रा ज्ञातव्या नाडी लक्षणैः।
त्रिविधं चिन्तयेत्प्राज्ञः ततः कर्म समाचरेत् ।।

आम लक्षणों वाली, निराम लक्षण, तथा अत्युग्र लक्षणों वाली तीन प्रकार के लक्षणों से नाड़ी का विचार करना चाहिये। उसके पश्चात् ही चिकित्सा कर्म करें।

मंदा स्पन्दति आहारे कफेन परिपूरिता।
बहुदाह करी रक्तात्प्लावयंति विशेषतः ।।

भोजन कर लेने के तुरन्त पश्चात् या देह में कफ दोष की वृद्धि की अवस्था में नाड़ी की गति मंद रहती है। परन्तु रक्त से (रक्त दोष से) बहुत ही दाह करती हुई अधिक उछला करती है।

आदौ च वहते पित्तं मध्ये श्लेष्मा तथैव च।
अंते प्रभजनं प्रोक्तं ज्ञातव्यं तु चिकित्सकैः ।।

नाड़ी के पहले पित्त, मध्य में कफ तथा अन्त मे वायु कहा है, इसका ज्ञान सुचारु रूप से जानें।

वाताधिके वहेद्वाग्रे मध्ये वहति पित्तला।
अते श्लेष्मा भवेन्नाड़ी सन्निपातात्रिदोषजा ।।

पाठान्तर मे यह भी बताया है कि वायु की अधिकता से अग्रे अर्थात् पहले तथा पित्त की मध्य में श्लेष्मा नाड़ी अन्त में तथा सब साथ प्रतीत होने से सन्निपात जानें।

उपरोक्त श्लोक तथा इस श्लोक मे वैपरीत्यता आती है अतः निश्चयात्मकता नहीं मालूम देती तथा विद्यार्थी को संदेहकारक है अतः इसके लिये निर्णायक लक्षणों की आवश्यकता होती है—

वातान्नाडी प्रगल्भाच वहते कफ संयुता।

वात

नाडी— नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौका सर्पयोर्गतिम्।
वाताधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले ।।
वाताद्वक्रगतिर्नाडी

नेत्र— रौद्रे रुक्षे च धूम्रान्ते नयनेतस्य चंचले।
तथाभ्यंतर कृष्णाभे भवति वातरोगिणो ॥
नेत्रे स्यात्पवनाद्रूक्ष धूम्रवर्णे तथारुणम्।
कोटरांतप्रविष्टे च तथातथ्यविलोकने।

मुख— वातकोपे मुखं रुक्षं तथा वक्त्रं गत प्रभम्।

जिह्वा— वातकोपे प्रसुप्ता च स्फुटिता मधुरा भवेत्।
स्रस्तावर्णेनहरिता जिह्वा लाला प्रमुंचति।
शाकपत्रप्रभा रुक्षा स्फुटना रसनानिलात्।

मूत्रं वाते तोयसमं रुक्षं वहुतरं भवेत्।

पारुष्य संकोचनतोद शूलाः श्यामत्वकंपत्वमथांगपीडा।
सुप्तत्वशीतत्व खरत्वशोफा कर्माणिवायोः प्रवदन्तितज्ज्ञा।
न वातेन विना पीड़ा
वातं स्नेहेन मित्रवत्
वात नाशाय मर्द्दनम्

स्निग्धोष्ण स्थिरवृष्यबल्यलवणस्वादाम्लतैलातपः।
स्नानाभ्यंजनबस्ति मांसमदिरा संवाहनैर्मर्दनै।
स्नेहस्वेदनिरुहनश्यशयनास्थानोपनाहादिकैः।
पानाहारविहारभेषजमिदं वायोः प्रशांति नयेत्।

भोजन-पान, बिहार में स्निग्ध, उष्ण, स्थिर, वृष्य, बल्य, लवण, मधुर, अम्ल, रस, तैल, धूप, बस्ति, मांस, सुरा तथा सवाहन मर्दन, स्नेह, स्वेदन, निरुहण, शयन, आस्थापन, उपनाह आदि वायु को शान्त करते है।

वायु—नाड़ी की गति जोंक या सर्प के समान तथा वैद्य की तर्जनी के नीचे टेढी गति से अनुभवित होती है।

नेत्र—भयानक, रूखे, धूम्रवर्ण है अन्त में, लाल वर्ण के, चंचल, अन्दर को धंसे हुए, कालिमा लिये प्रतीत होते हैं।

मुख—रूखा, प्रभाहीन प्रतिभाषित होता है।

जिव्हा—सोई हुई, फटी हुई, मधुर, ढीली, हरे वर्ण की लालाश्राव करने वाली, शाक के पत्ते के समान खर, रूखी होती है।

मूत्र—जल के समान, रूखा तथा बहुत होता है।

वातकर्म—वायु के बिना पीड़ा नहीं होती है।

वात चिकित्साक्रम—मित्र के समान वायु को स्नेह से जीतें। वायु को नष्ट करने के लिए मर्दन करें।

पित्त

कुलिंग काक मंडूक गति. पित्तस्य कोपतः।
पित्ते व्यक्ता मध्यमायां
उत्फुल्ला पित्तगा भवेत्
चपला पित्तवाहिनी

नेत्र— पित्तरोगे तु पीताभे नीले वा रक्तवर्णके।
संतप्ते भवतो दीपं सहते नावलोकितम्।
हरिद्राखडवर्णं च रक्त वा हरितं तथा।
दीपद्वेषि सदाह च नेत्रेस्यात्पित्तकोपतः।

मुख— पित्तकोपे भवेद्रक्तं पीत वा परितप्तकम्।

जिह्वा— पित्तकोपेतुरक्ताभा तिक्ता दग्धेव जायते।
जिह्वा दाहान्विताबद्धा कंटकैरिव सर्वतः।
रक्ताश्यामा भवेत्पित्तात्

मूत्र— रक्तवर्णं भवेत्पित्ते पीतं वा स्वल्पमेव च।

भ्रम मुह मुखशोष स्वेदसंताप मूर्च्छा
मुख नयन खरत्वग् मूत्र विट्पीतता च।
प्रलपनमतिसारश्चारुचिश्च ज्वरश्च।
तृडतिशिशिरतेच्छा पित्तरोगस्य लिंगम्।

शिरोरतिभ्रमोमूर्च्छा प्रलापो रक्तमूत्रता।
मुखे कट्वक्षिदाहश्च पित्तकोपस्य लक्षणम्।
न पित्तेन विना भ्रमः
न पित्तेन विना दाहः

जामात्रावत्सदायोज्यं पित्ते मधुर शीतलम्।
स्नानं च पित्त नाशाय,
तिक्तं स्वादुकषाय चातिपवनच्छाया निशाव्यंजनम्
ज्योत्स्नाभूगृहवास वारि जलज स्त्रीगात्रस्पर्शनम्।
सर्पि क्षीरविरेकसेक रुधिरस्राव प्रदेहादिकम्।
पानाहारविहार भेषजमिदं पित्त प्रशान्ति नयेत्।

पित्त

नाड़ी—कुलिंग, कौए, मंडूक जानवरों के समान उछलती हुई चंचल मध्यमा अंगुली को छूती है।

नेत्र—पीले, नीले, या लाल तपे हुए दीपप्रकाश को नहीं सहन करने वाले जलनयुक्त होते हैं।

मुख—पीला, लाल, तपा हुआ।

जिह्वा—लाल, तिक्तरसा, जलीहुईसी दाहयुक्त, चारों ओर कांटों से व्याप्त श्याम-वर्ण की।

मूत्र—का रंग, लाल, पीला, व थोड़ा श्रम, दाह इसके मुख्य परिचायक हैं।

पित्त के उपक्रम जंवाई के समान मधुर व शीतल प्रयोग में लावे। खासकर के स्नान।

कफ

हंसः पारावत गति धत्ते श्लेष्म प्रकोपतः।
तृतीयांगुलिगाकफे
कफान्मंदगतिर्ज्ञेया
स्थिरा श्लेष्मवती प्रोक्ता

नेत्र— ज्योतिहीने च शुक्लक्ले च जलपूर्णे च गौरवे।
मंदावलोकने नेत्रे भवतः कफ कोपतः।
चक्षुर्वलासबाहुल्यं स्निग्धं स्यात्सलिलप्लुतम्।
तथा धवलवर्णं च ज्योतिहीनं बलान्वितम्।

मुख— कफकोपे गुरु स्निग्धं भवेच्छूनमिवाननम्।

जिह्वा— कफोदये भवेज्जिह्वा स्थूला गुर्वी विलेपनी।
सुस्थूलकटकोपेता क्षारा बहु कफावहा।
लिप्ताद्धि धवला कफात्

मूत्र— कफे श्वेतं घन स्निग्धं मूत्रं संजायते ध्रुवम्।

अंगस्य गौरवमपाटवमंतरग्नेः
उत्क्लेशताच्च हृदयस्य मुखे प्रसेकः।
आलस्यमास्यमधुरत्व मकांडकंस्यु
रापांडुतानयनयोरतिरोमहर्षः।
न च श्लेष्मविनाच्छर्दि
न छर्दि रसवर्जिता
न मृत्युः श्लेष्मवर्जिता

रुक्ष क्षार कषाय तिलकटक व्यायामनिष्ठीवनम् ।
स्त्री सेवाध्वनियुद्धजागर जल क्रीडा पदाघातनम् ।
धूमात्युष्णशिरोविरेक शमनं स्वेदोपवासादिकम् ।
पान हारविहारभेषजमिदं श्लेष्म प्रशान्ति नयेत् ।
कफं दुर्जनवत्तीक्ष्णैः
वमन कफनाशाय

कफ

नाड़ी—हंस व कबूतर के समान बहुमन्द स्थिर तीसरी अंगुली अर्थात् अनामिका को प्रतीत होने वाली ।

नेत्र—सफेद, आभारहित, डबडबाये हुए, भारी । थोड़े देखने वाले ।

मुख—चिकना, शोथयुक्त ।

जिह्वा—मोटी, भारी, सफेद रंग से लिपी हुई, मोटे २ कांटों वाली, क्षाररस वाली, बहुत कफ को रखने वाली, सफेदी से लिपी हुई ।

मूत्र—सफेद, गाढ़ा, चिकना ।

सन्निपात

लावतित्तिरि वर्तीर गमनं संनिपाततः ।
अंगुलीत्रितयेऽपिस्यात् प्रव्यक्ता संनिपाततः ।
सनिपातादतिद्रुताः

नाड़ी—लाव, तीतर, बटेर की गति के समान अति वेग से तीनों अंगुलियों में स्पृष्ठ होने वाली ।

नेत्र— तन्द्रामोहाकुले श्यामे निर्भुग्ने रौक्ष्य रौद्रके ।
रक्तवर्णे च भवतो नेत्रदोषत्रयोदये ।
त्रिदोष दूषितं नेत्रे मत्तमग्ने भृशं भवेत् ।
त्रिलिंगे सलिलस्रावि प्रान्तेनोन्मीलयत्यपि ।

नेत्र—तन्द्रा मोह से व्याप्त श्याम वर्ण के खुले हुए, रूखे भयावने, लाल रंग के मत्त, अश्रुवाही, तथा किनारे पर खुले ।

परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णादोषत्रयाधिके ।

जिह्वा—जली हुई, खुरदरी व काली होती है ।

संनिपातेनस्य

एकं बृहत्याः फलपिप्पलीकं शुण्ठीयुतं चूर्णमिदं प्रशस्तम् ।
प्रध्मापयेद्घ्राण पुटेतिसंज्ञा करोतिसंज्ञा विनिहन्ति मूर्च्छाम् ।

बड़ी कटेरी के फल की पीपर व सोंठ को पीस कर नाक में फूके ।

उद्धूलन

कट्फलं शृंगवेरं च मागधी मरिचानि च।
मातुलानी कणामूलं कुष्टं कौलंजनं तथा।
एतेषां सूक्ष्मचूर्णैश्च सर्वांगमर्दनं कृतम्।
प्रस्वेदं संनिपातं च ज्वर श्लेष्माविनाशनम्।

कायफल, सोंठ, पीपर, काली मिरच,

स्तोकपात कफे नष्टे पित्त वहति दारुणम्।
पित्त प्लावं विजानीयात् भेषजं तस्य कारयेत्॥

कफ के थोड़ा कम या नष्ट हो जाने पर नाड़ी गति दारुण (अति तीव्र) हो जाती है। जिसे पित्तप्लाव नाड़ी संज्ञा कहते हैं उसकी औषधि चिकित्सा करें।

अत्युग्रा वहते वाता त्कफस्य कंठ संयुतः।
नष्टे पित्ते च नाड्यां च संनिपातो विधीयते॥

वायु से जब नाड़ी की गति अति तेज हो जावे, कफयुक्त कंठ हो तथा पित्त कम हो तब नाड़ी संनीपात की हो जाती है।

स्कन्धे च स्पंदने नित्यं पुनर्लगति चांगुलीः।
असाध्या सा विनिर्दिष्टा नाडी दूरेण वर्जयेत्॥

जिस रोग में स्कंध प्रदेश में नाड़ो की फड़कन अंगुली पर लगे ऐसा रोगी असाध्य होता है।

वात पित्त कफाश्चैव यस्यैकत्व समाश्रितः।
तस्य मृत्युर्विजानीयात् इत्येवं नाडी लक्षणम्॥

वात पित्त कफ जिस पुरुष में एक साथ हो गये हों ऐसा सनिपात रोग की नाड़ी असाध्यता बताती है।

स्वभावात्तरला दीर्घा शीघ्रात्पित्त ज्वरो भवेत्।
शीघ्रमाना च नश्यते मालाजीर्णं प्रकीर्तिता॥

तरल स्वभाव की दीर्घा तथा शीघ्रता से चलने वाली पित्त ज्वर को बताती है, तथा शीघ्रता से चलती हुई नष्ट होने पर जीर्ण अजीर्ण रोगी जाने।

इडा च पिंगला पूर्वा सुपुम्णा शंखिनी कुहुः।
गंधारी गज जिह्वा च नाडी स्यादष्ट लक्षणा॥

इडा, पिंगला, सुषुम्णा, शखिनी, कुहु, गंधारी, गजजिह्वा, पूर्वा ये आठ नाड़ी के लक्षण कहे हैं।

इडा च पिंगलाचैव सुषुम्णा च तृतीयका।
त्रयाणां संगमो यस्य नाडी नाम तदुच्यते।

इडा, पिंगला, सुषुम्णा इन तीनों के संयोग को नाड़ी कहते हैं।

इडा वातेन विज्ञेया, पिंगला पित्तमेव च।
सुषुम्णा श्लेष्मलाचैव त्रयो नाडी उदाहृता॥

इडा को वायु, पिंगला को पित्त तथा सुषुम्णा को श्लेष्मा समझे, अर्थात् देह में ये तीनों नाड़ियें वात पित्त कफ के स्थान हैं।

इष्ट नाडी इड़ाचैव मध्यमा पिंगला तथा।
अधमा श्लेष्मलाचैव नाडीनाम त्रिधास्मृता॥

इडा नाड़ी उत्तम, पिंगला मध्यम तथा श्लेष्मला अधम जाने।

वात श्लेष्मा च पित्तं च सा नाडी इष्टमुच्यते।
त्रयो नाडी समाविक्षु स रोगी यम मंदिरे॥

वात, कफ, पित्त एक २ की नाड़ी इष्ट अर्थात् चिकित्स्य है पर तीनों नाड़ियों की एक साथ स्थिति महाप्रयाण को प्रकट करती है।

मध्ये ज्वरे वहेन्नाडी चपला पित्त वाहिनी।
तदा नूनं मनुष्यस्य रुधिरैः पूरिता नला॥

ज्वर की मध्यमावस्था में नाडी की चंचलता पित्त को प्रकट करती है, उस समय मनुष्य की अग्नि रक्त से पूर्ण होती है।

निरतरं स्थिरा सूक्ष्मा अन्नमश्नाति वातलम्।
रुक्षवातो भवेद्यस्य नाडी पित्तस्य संक्रमः॥

लगातार स्थिर व सूक्ष्म जो मनुष्य वायुकारक अन्नपान का सेवन करता है उसकी नाड़ी पित्त की सक्रमित होकर वायु से रुक्ष बन जाती है।

नाडी ततुसमा मन्दा शीतला श्लेष्म दोषजा।
श्लेष्मा शीत स्थिरा नाडी पित्त श्लेष्म समुद्भवा॥

तन्तु के समान मन्द व शीतल कफ दोष से तथा पित्तश्लेष्म की नाड़ी शीत व स्थिर होती है।

स्थूला च चपला दीर्घा कठिनावातपित्तजित्।
ईषच्च दृश्यते दृष्ट्वा मंदस्थान्श्लेष्मवातजा।

स्थूल, चंचल, दीर्घ, कठिन तथा बड़ी मुश्किल से प्रतीत होने वाली नाड़ी कफ वात से होती है।

मंदं मंदं चलति शिथिलं व्याकुलं व्याकुलं च।
स्थित्वा स्थित्वा वहति धमनी यातिनाशं च सूक्ष्मा।
नित्यं स्कंधे स्फुरति पुनरप्यंगुली संस्पृशेद्वा।
भावैरेवं बहुविधतरैः संनिपातादसाध्या।

जो नाड़ी धीरे २ गिरी हुई है, ठहर २ कर चलती है तथा बहुत सूक्ष्म प्रतीत होती है तथा स्कन्ध प्रदेश में अगुली को छूती है तो इन लक्षणों वाली नाड़ी असाध्य कही है। अर्थात् वह रोगी ठीक होने की स्थिति मे नहीं है।

स्थित्वा नाडी मुखे यस्य विद्युज्ज्योति इवेक्षते।
दिनैक जीवित तस्य नाडया विष्णोरदर्शनात्॥

नाड़ी जिसके मुख-मण्डल पर ठहर कर बिजली के प्रकाश के समान दीखती है उस का जीवन एक दिन का है।

मुखे नाडी वहेद्यस्य घ्राणेचैव न दृश्यते।
तस्यरोगीभवेन्मृत्युः निश्चय यमशासने॥

जिस मनुष्य के मुख पर नाड़ी दीखे पर घ्राण प्रदेश पर नहीं वह रोगी निश्चित ही यम के घर जाएगा।

आर्द्रादौमृगशिरस्यां मध्ये मूलप्रतिष्ठितम्।
खेंट्ट नाम नक्षत्र एक नाडयां यदा भवेत्॥

आदि में आर्द्रा, अन्त में मृगशीर, मध्य में मूल नक्षत्र एक नाड़ी में आ जाते हैं।

तदामृत्युर्विजानीयात् इत्येवं नाडी लक्षणम्—

तब मृत्यु हो जाती है।

पुंसो दक्षिण हस्तस्य स्त्रियो वामकरस्य तु।
अगुष्ठ मूलका नाडी परीक्षेत भिषग्वरः॥

पुरुष के दाहिने हाथ की तथा स्त्रियों के बाए हाथ को अगूठे की तरफ की नाड़ी की परीक्षा करे।

अंगुलिभिस्त्रिभिश्चापि नाडीमवहितः स्पृशेत्।
तच्चेष्टया सुख दुःखं जानीयात्कुशलोखिलैः॥

वैद्य को चाहिये कि अपने हाथ की तीनों अंगुलियों से एक-चित्त होकर स्पर्श परीक्षा करे, नाड़ी की चेष्टा से पुरुष के सुख व कष्ट को जाने।

वाताधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले।
पित्ते व्यक्ता मध्यमायां तृतीयागुलिगा कफे॥

वायु की अधिकता से तर्जनी को छूती है तथा बिचली अगुलि को छूने पर पित्त व तीसरी अंगुली को छूने पर कफ की विशेषता जानो।

तर्जनी मध्यमा मध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा ।
अनामिकायां तर्जन्यां व्यक्तः वातकफः भवेत् ॥

तर्जनी मध्यमा से वात पित्त तथा अनामिका तर्जनी वात कफ की प्रचुरता जाने ।

मध्यमानामिकामध्ये स्फुटा पित्त कफाधिके ।
अंगुलि त्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सनिपाततः ॥

मध्यमा व अनामिका को छूने वाली नाड़ी पित्त कफ की व तीनों अंगुलियों को छूने वाली सनिपात (त्रिदोष) की समझे ।

वाताद्वक्रगतिर्नाडी उत्फुल्ला पित्ततो भवेत् ।
कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सनिपातादतिद्रुता ।

वात नाड़ी वक्र गति से पित्त से अधिक उठती हुई, कफ से धीरे गति वाली तथा संनिपात से शीघ्र गति होती है ।

अत्युग्रा वहते वात कफस्य कंठसंयुता ॥
नष्टपित्ते तु नाड्यां तु सनिपातो विधीयते ।

अत्यन्त उग्र नाड़ी वायु का वहन करती है, कफ का स्थान कंठ मे हो गया है, पित्त के नष्ट होने पर संनिपात हो जाता है ।

स्कन्दे च स्पन्दन्ते नित्यं पुनर्लगति चांगुली ।
असाध्यं सा विनिर्दिष्टा नाडी दूरेण वर्जयेत् ॥

स्कन्ध प्रदेश में स्पंदन होता है, तथा अंगुली पर स्पर्श प्रतीत होता है, ऐसे रोगी की नाड़ी असाध्य कही है, ऐसे को दूर से छोड़ दे ।

वातपित्तंकफंश्चैव यस्यैकत्वं समाश्रितम् ।
तस्य मृत्युर्विजानीयादित्येवं नाडी लक्षणम् ॥

जिस पुरुष की नाड़ी में वात पित्त कफ एक स्थान पर प्रतीत होते हों तो ऐसे पुरुष की मृत्यु अवश्य होगी ।

स्तोकं वातं कफं नष्टे पित्त वहति दारुणम् ।
पित्तप्लावं विजानीयाद्भेषजं तस्य कारयेत् ॥

कफ से क्षीण होने से थोड़ा वायु तथा अधिक पित्त है तो ऐसी नाड़ी को पित्तप्लाव कहते हैं, ऐसे रोगी की चिकित्सा करें ।

निष्पन्दा नाडीका हीना शाखा पल्लव शीतला ।
त्यज्यन्ते रोगिणं वैद्यः यमदंडाकितात्मकम् ॥

निश्चल नाड़ी, हीन नाड़ी तथा जिसकी शाखाएं व अंग शीतल हो गए हैं ऐसे रोग को असाध्य जानें ।

अंगुष्ठ मूलतो वाह्य' अगुलाद्यदि नाडिका।
प्रहरार्धाद्बहिर्मृत्युर्जायते नात्र संशयः।

यदि नाड़ी अंगुष्ठ मूल से एक अंगुल बाहिर रहे तो ऐसे रोगी का जीवन आधे प्रहर का जानें।

सार्धद्वय'गुलतोवाह्य' यदि तिष्ठति नाडिका॥
प्रहरैकाद्बहिर्मृत्युर्विजानीयाद्विचक्षणः॥

यदि नाड़ी १॥ अंगुल बाहिर है तो एक प्रहर के बाद मृत्यु हो जाती है।

द्वय'गुलवाह्यतो नाडो मध्यरेखा बहिर्यदा।
सार्द्ध' प्रहरतो मृत्यु रवश्यं जायते नृणाम्॥

यदि नाड़ी दो अंगुल मध्य रेखा से वहन करती है तो १॥ प्रहर से अवश्य मृत्यु हो जाती है।

मध्ये रेखासमानाडी यदि तिष्ठति निश्चितम्।
तस्यैव मरणं सत्यं प्रहरत्रितयाद्बहिः॥

अगर नाड़ो मध्य में रेखा के समान हो तो उसका तीन प्रहर का आयुष्य जानें।

सार्द्धांगुलगता नाडी वक्रतांप्राप्य तिष्ठति।
प्रहरैः पचभिस्तस्य मरणं निर्दिशेद्बुधः॥

यदि नाड़ी डेढ़ अंगुल तक टेढो होकर प्रतीत होती है तो उसकी पांच प्रहर से मृत्यु समझें।

सपादांगुलतो नाडी समा तिष्ठति निश्चला।
षड्भिश्च प्रहरैर्मृत्युर्ज्ञेयं तस्य विचक्षणैः॥

यदि नाड़ी सवा अगुल तक समान व निश्चल रहती है तो छ प्रहर से उसकी मृत्यु हो जाती है।

अंगुलाभ्यन्तरे नाडी वक्रतां यदि तिष्ठति।
मरणं तस्य जानीयात् सप्तभिर्प्रहरैर्बुधः॥

यदि नाड़ी एक अंगुल के अन्दर टेढ़ापन से प्रतीत होती है तो सात प्रहर से उसकी मृत्यु जानें।

अगुलाभ्यन्तरे नाडी मंदस्पन्दा समा यदि।
अष्टभिः प्रहरैर्मृत्यु निर्दिष्ट' मुनिपुंगवैः॥

यदि नाड़ी अंगुली के बीच सम व मंद फड़कन से प्रतीत हो तो आठ प्रहर से उसकी मृत्यु हो जाती है।

अंगुलाभ्यन्तरे नाडी शीतला यदि तिष्ठति।
प्रहरैर्नवभिस्तस्य मरणं निश्चितं मतम् ॥

यदि नाड़ी अंगुली के नीचे ठंडी प्रतीत हो तो नव पहर से मृत्युकारक होती है।

पादोनांगुलमध्ये चेत् नाडी तिष्ठति चंचला।
प्रहरैर्दशभिः प्रोक्तः मृत्युस्तस्य विचक्षणैः॥

यदि नाड़ी पौन अंगुल में चंचल प्रतीत होती है तो दस पहर से रोगी को मार देती है।

पादोनागुलमध्ये चेत् नाडीचोष्णा च जायते।
प्रहरैरुद्रसंख्यैश्च मृत्युस्तस्य विनिर्दिशेत् ॥

पौन अगुल के बीच यदि नाड़ी गर्म होती है तो ग्यारह पहर में रोगी के लिये मारक होती है।

पादोनांगुलमध्ये चेत नाडी शीतवती भवेत्।
प्रहरद्वादशान्मृत्यु र्भवत्येव न संशयः॥

पौन अंगुल के बीच में यदि नाड़ी ठंडी हो तो १२ पहर में मारक हो जाती है।

अर्द्धांगुलगतानाडी शीतला यदि तिष्ठति।
यामत्रयोदशैर्मृत्यु र्भवत्येव न संशयः।

आधे अंगुल में यदि नाड़ी ठंडी रहती है तो १३ पहर से मारक होती है।

अर्द्धांगुलगतानाडी सोष्णा वेगवती भवेत्।
यामश्चतुर्दशैर्मृत्युर्भविष्यति न सशयः॥

आधे अंगुल में यदि नाड़ी गर्म व वेगवन्त हो तो १४ पहर में मारक हो जाती है।

अर्द्धांगुलगता नाडी चचला यदि तिष्ठति।
यामपंचदशैर्मृत्यु र्भवत्येव न सशयः॥

आधे अंगुल मे नाड़ी चचल होने पर १५ पहर से रोगी के प्राण हर लेती है।

पादांगुलिता नाडी सहजा यदि तिष्ठति।
यामषोडशभिर्मृत्यु र्जायते नात्र संशयः॥

पैर की अगुलियों में रहने वाली नाड़ी यदि स्वाभाविक रहती है तो १६ पहर से मारक बनती है।

पादांगुलिगता नाडी चचला यदि तिष्ठति।
त्रिभिश्चदिवसैर्मृत्युर्जायते नात्र संशयः॥

पादांगुलि मे रहने वाली नाड़ी यदि चचल हो गई तो तीन दिन में रोगी के प्राण हर लेगी।

पादांगुलिगता नाडी सोष्णा वेगवती भवेत्।
चतुर्भिर्दिवसैर्मृत्युर्विजानीयाद्विचक्षणः ॥

पादांगुलि में रहने वाली नाड़ी गर्म व वेग वाली होने से ४ दिन में मारक हो जाती है।

पादांगुलगता नाडी मंदस्पन्दा यदा भवेत्।
पचभिर्दिवसैर्मृत्युर्जायते नात्र सशयः ॥

पादांगुलि में रहने वाली नाड़ी मंद फड़कन वाली होने से ५ दिनों में मारक होती है।

निरीक्ष्य दक्षिणे पादे नाडी यस्य न लभ्यते।
मध्ये द्वादश मासानां मृत्युर्भवति निश्चितम ॥

दाहिने पैर में जिसके नाड़ी की प्रतीति न हो तो १२ मास में वह व्यक्ति मरेगा ऐसा जानें।

लक्षं लक्षण लक्षितेन पयसा मानो प्रभामण्डलम्।
हीनं दक्षिण पश्चिमोत्तरपरः षड्द्वित्रिमासाः क्रमात्॥
मध्ये छिद्रगतं भवेद्यदि दिनं घूमाकुल तद्दिनम्।
सर्वज्ञेन प्रमाणितं शिवमते ह्यायु प्रमाणं सदा ॥

स्पदन्ते चंक्रमानेन त्रिंशद्वारं यदा धरा।
स्वस्थाने च तदानूनं रोगी जीवत्यसंशयम्॥

नाड़ी की ३० गति यदि एक प्रकार से बराबर हो तो वह मनुष्य निश्चित जीवित रहेगा ऐसा जानें।

श्री गणेशायनमः । श्री सरस्वत्यै नमः । श्री गुरुभ्यो नमः ।

पूज्यपाद महोपाध्याय वैद्यावतंस प्राणाचार्य, आयुर्वेद-मार्तण्ड राजमान्य राजवैद्य पं० उदयचन्द्र भट्टारक द्वारा
अनुवादित तथा परीक्षित

वैद्यवल्लभ

रुग्णावस्थां ततो नाडी भेषजं पथ्यमेव च ।
देशं कालं च पात्रं च यो जानाति स वैद्यराट् ॥

वैद्यराज वही जो रोगी की स्थिति, नाड़ी, औषधि, पथ्य, देश, काल व पात्र को तत्वतः समझे ।

सरस्वती हृदिध्यात्वा नत्वा श्रीगुरुपंकजम् ।
सद्धस्ति रुचिना वैद्यवल्लभोऽयं विधीयते ॥

हृदय में सरस्वती का ध्यान कर तथा गुरु महाराज के चरण-कमलों में नमस्कार करके सद्धस्ति रुचि नामक चिकित्सक जैन यति द्वारालिखित "वैद्यवल्लभ" नामक संक्षिप्त पुस्तक का कहते हैं ॥१

पूर्वं वैद्येन विधिना विधाय रोग निर्णयम् ।
पश्चात्साध्यं यथा ज्ञात्वा ततो भेषज माचरेत् ॥२॥

वैद्य का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि संपूर्ण परीक्ष्य विषयों को सम्यक्तया परीक्षण कर फिर रोग की साध्यता समझ कर औषधि प्रयोग करे ॥२

यतः सकल रोगेषु प्रोच्यते बलवान्ज्वरः ।
तस्मात्तद्रोग शात्यर्थं प्रोच्यते हितदोषधम् ॥३॥

समग्र रोगों में ज्वर की प्रधानता है अतः सर्वप्रथम ज्वर की चिकित्सा कहते हैं ॥३

अमृता नागरं मुस्ता निशा धन्व समांशकैः ।
वात ज्वरे प्रदातव्यः कृष्णा कल्कः कषायकः ॥४॥

गिलोय, सोंठ, नागरमोथा, हलदी, धमासा का क्वाथ कर पीपल का प्रक्षेप डाल कर वातज्वर में पिलाए ॥५

द्राक्षारग्वधमुस्तानां रेणु पथ्या जलैः समः ।
क्वाथो मधुयुतो हन्ति ध्रुवं पित्त ज्वरं महत् ॥६॥

मुनक्का, अमलतास, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, हरड़ का क्वाथ शहद मिला कर पित्त ज्वर में पिलाए ॥६

वासाग्रन्थिक तिक्तांभोधर धन्व यवासकैः ।
विश्वौषधान्वितः क्वाथो श्लेष्म ज्वर विनाशकृत् ॥७॥

अड़ूसा, पीपरामूल, कुटकी, नेत्रवाला, धमासा का क्वाथ सोंठ डालकर (कफ ज्वर में) पिलाए ॥७

मुस्तामृतानागर धन्व धात्री क्षुद्रायुगं निम्बज भृंगराजैः।
समानभागैः मधुना समेतो वेलाज्वर हन्ति कृतः कषाय ॥८॥

नागरमोथा, नीमगिलोय, सोंठ, धमासा, आंवला, कटेरी दोनों, नीमछाल, भृंगराज समान भाग लेकर मधु के प्रक्षेप से क्वाथ कर विषम ज्वर में पिलाए ॥८

पंचभद्रः क्वाथः

मुस्ता नागर भूनिंब रेणु छिन्नोद्भवैः समैः।
क्वाथोऽयं पंचभद्रोऽसौ वातपित्त ज्वरापहः ॥९॥

नागरमोथा, सोंठ, चिरायता, पित्तपापड़ा, गिलोय का क्वाथ वात पित्त ज्वर में पिलाए ॥९

धान्यकं सलिलं मुस्ता निशापथ्या सुजीरकैः।
कफपित्तज्वरे क्वाथः प्रोक्तोऽयं मुनि हस्तिना ॥१०॥

धाणा, नेत्रवाला, नागरमोथा, हलदी, हरड़, जीरे का क्वाथ कफपित्त ज्वर में पिलाए ॥१०

चक्राह्वामृत दद्रूघ्न वृष निगुंण्डिका समैः।
भृंगराजौषधैः क्वाथो हन्ति वात कफ ज्वरम् ॥११॥

(Tinospara Tomentosa) सुदर्शनलता गिलोय, पंवाड़ के बीज, अडूसा, निगुंण्डी के क्वाथ में सोंठ व जलभांगरा डालकर वातश्लेष्म ज्वर में पिलाए ॥११

जीर्णेन घृतयुक्तेन रामठस्य पुनः पुनः।
नासिकायां कृतं नस्यं हन्ति चातुर्थिक ज्वरः ॥१२॥

पुराने घी में हींग घिसकर चातुर्थिक ज्वर में बार २ नस्य दें ॥ १२

सर्षपानि छपत्राणि हिंगु सर्पस्य कंचुकी।
एषः नस्यः वारिपिष्टः दैव दोष ज्वरापहः ॥१३॥

सरसों, नागकेशर, हीग, सांप की कांचली जल में पीसकर नस्य देने से दैव दोष से उत्पन्न ज्वर को नष्ट करते हैं ॥१३

रसंधत्तूर पत्राणां पलार्द्धं दधिना सह।
पीतो सद्यः प्रमोहति महदेकंतरं ज्वरम् ॥१४॥

धत्तूरे के पत्तों का रस आधी छटाँक दही के साथ पिलाने से एकांतर ज्वर नष्ट होता है ॥१४

भूनिंब निंबा मृतदारु पथ्या कृष्णा निशायुग्म फलत्रय च।
वातारि बीज त्रिकुट प्रियंगु रास्नार्क मूलक्रिमिशत्रु तिक्तैः ॥१५॥

एतेषां विहितः क्वाथो दशमूलयुतो हरेत् ।
मरुत्पित्त कफोद्भूतं सन्निपात ज्वरं महत् ॥१६॥

चिरायता, नीम, नीमगिलोय, देवदारु, हरड़, पीपर, हलदी, दारुहलदी, हरड़, बहड़, आंवला, करंज की मज्जा बीज, सोंठ, काली मिरच, पीपर, प्रियंगु, रास्ना, अर्कमूलत्वक्, वायविडंग, कुटकी, दशमूल से किया हुआ क्वाथ वात, पित्त, कफ, सन्निपात के ज्वर को नष्ट करता है ॥१६

रवौ लात्वा वरीमूलं कन्या सूत्रेण वेष्टितम् ।
स्थितं करे च कठे तु तृतीय ज्वरनाशकृत् ॥१७॥

रविवार के दिन शतावरी ( ) जड़ को लाकर कन्या के द्वारा काते हुए सूत्र में वेष्ठित कर हाथ या गले में बांधने से तृतीयक ज्वर का नाश होता है ॥१७

कृष्णामृता नागर दारु सिंही भार्गी घनग्रन्थिक पुष्कराह्वैः ।
सस्वास कासेन युत ज्वरोऽपि कृतः कषायः पवनापहारी ॥

पीपर, नीमगिलोय, सोंठ, देवदारु, अड्सा, भारंगी, नेत्रवाला, पीपरा मूल, पोहकर मूल के क्वाथ से श्वास, कास युक्त ज्वर का शमन होता है ॥१८

सिता सर्जरसो धात्री धातकी श्रीफलान्वितैः ।
चूर्णं पोस्तोद केनातिसार ज्वरहरं स्मृतम् ॥१९॥

मिश्री, राल, आंवला, धाय के फूल, बिल्व के चूर्ण को पोस्त डोडे के साथ देने से ज्वरातिसार शान्त हो जाता है ॥१९

हीगु निम्बस्य मज्जानि कृष्णा सर्पस्य कंचुकी ।
संघृष्ट खर मूत्रेण अंजनं सर्वं तापजित् ॥२०॥

हीग, निम्ब फल मज्जा, पीपर, सांप की कांचली, गधे के मूत्र से पीस कर अंजन करने से सर्वताप की शान्ति होती है ।

टंकणं मरिचं कृष्णा हंसपाक विषैसमैः ।
आर्द्रोदकेन दातव्या गुटी सर्वं ज्वरापहा ॥२१॥

सुहागा, काली मिरच, पोपर, हिंगुलु, वत्सनाम सम मात्रा अदरख रस से मर्दन कर गोली बनाए तथा सर्व प्रकार के ज्वरों में काम मे ले ॥२१

किरात लवणं शुण्ठी कुष्ठ चंदन वालकैः ।
मर्त्य मौली कृतो लेपो सर्वं ज्वर विनाशकृत् ॥२२॥

चिरायता, सैंधव, सोंठ, कूठ, चन्दन, नेत्रवाला से शिर पर लेप करने से ज्वर का शमन हो जाता है ॥२२

दीप्यामयारामठ वन्हि विश्वा क्षारद्वयं जीरकयुग्म कृष्णा।
फलत्रयं सौवर्चल सैंधवंच कृतंहि चूर्णं ज्वर नाशकारी ॥२३॥

अजवायन, हरड़, हींग, चित्रक, सोंठ, यवक्षार, सज्जी क्षार, सफेद जीरा, स्याह जीरा, पीपर, हरड़, बहड़, आंवला, सौवर्चल, सैंधव नमक सम भाग लेकर चूर्ण करलें व सर्व प्रकार के ज्वर में उपयोग करें ॥२३

छिन्नोद्भवा नागर निंबवासा तिक्ताभयापुष्करभृंगधन्वैः।
कृतः कषायो मधुना विमिश्रः सर्वज्वरान्हन्त्यचिरेण सद्यः ॥२४॥

नीमगिलोय, सोंठ, नीम छाल, अडूसा पंचांग, कुटकी, हरड़, पोहकर मूल भृंगराज, धमासा, इनका क्वाथ बनाकर सहद के प्रक्षेप के साथ देने से सर्व प्रकार के ज्वरों का शमन होता है ॥२४

अथ स्त्री रोग चिकित्सा

सगर्भा महिषीदुग्धमजामूत्रेण या पिबेत्।
सा नारी लभते गर्भं न च तारुण्य संगमे ॥१॥

गर्भिणी भैंस के दूध ऽ भर तथा बकरी का मूत्र एक तोला मिलाकर ऋतुकाल में पीने से गर्भ नहीं रहता है ॥१

नागकेशर संयुक्तं जीरकं गोघृतेन वा।
त्रिदिनं या पिबेत् नारी सागर्भं लभतेध्रुवम् ॥२॥

नागकेसर जीरा गाय के घी के साथ ऋतु समय में तीन दिन पिलाने से अवश्य गर्भ रहता है।

समूलपत्र सर्पाक्षि रविवारे समुद्धरेत्।
एकवर्णगवां क्षीरे कन्या हस्तेन पेषयेत्।
ऋतुकाले पिबेद्वंध्या पलार्द्धं दिनसप्तकम्।
क्षीरशाल्योदनं मुद्गा मिष्टाहार प्रदापयेत् ॥
उद्वेगभय शोकं च दिवानिद्रांतुवर्जयेत्।
नकर्म क्रियते किंचिद्वर्जयेत् शीतमातपः।
एतत्सप्तदिनं कुर्याद्वन्ध्या भवति गर्भिणी ॥

(श्वेता पराजिता) सर्पाक्षी पंचांग रविवार को लाकर इकरंगे गाय के दूध में कंवारी कन्या द्वारा पिषवावें। ऋतुकाल के पहिले दिन से सात दिन तक आधी छटांक मात्रा में वन्ध्या स्त्री को पिलाएँ तथा पथ्य में चावल, दूध, मूंग, मिठाई आदि दे व चित्त पर किसी भी प्रकार का डर बेचैनी दुःख व दिवानिद्रा का त्याग करें व शीत व धूप में न घूमें इस प्रकार सात दिन के प्रयोग के बाद संगम करने से अवश्य गर्भ रह जाता है।

चक्राह्वा वारिणापीता सगर्भा भामिनी भवेत् ।।७।।

चक्राह्वा (सुदर्शन नामक लता) को जल के साथ पिलाने से स्त्री गर्भ धारण कर लेती है ।।७

देवदालीय मूलं तु पुष्ये ग्राह्यं तु निश्चितम् ।
गो दुग्धेः या पिवेन्नित्य सा गर्भं लभतेऽङ्गना ।।८।।

बंदाल डोडे की जड़ को पुष्य नक्षत्र में लाकर गाय के दूध के साथ नित्य सेवन करने से स्त्री गर्भ धारण करती है ।।८

पार्श्वपिप्पलीमूलस्य चूर्णंतु गौघृतेन च ।
या पिवेदृ तुकाले तु सा नारी लभते सुतम् ।।९।।

पारस पीपल के जड़ के चूर्ण को गाय के घी के साथ ऋतुकाल में पिलाने पर वन्ध्या स्त्री के अवश्य पुत्रोत्पत्ति होती है ।।९

वंध्याकर्कोटिकामूलं गौदुग्धेन च या पिबेत् ।
सा नारी नर सगेन सुतं तु लभते ध्रुवम् ।।१०।।

जो स्त्री बांझ ककोड़े की जड़ के चूर्ण २। माशा को गाय दूध से ऋतु काल में लेने पर अवश्य ही पुत्र को उत्पन्न करती है ।

तिलाश्च शर्करा पद्मकंदेन मधुनाविन्ता ।
भक्षिता वारयत्येव पतद्गर्भमसंशयम् ।।११

गिरते हुए गर्भ में तिल, मिश्री, कमलकन्द के सम चूर्ण को शहद के साथ चटाए ।।११

धातकी पुष्प नीरं तु प्रदेयं सितया सह ।
दिनत्रयरवौ नार्या पतद्गर्भं चतिष्ठति ।।१२

ताजे धाय के फूल का फाण्ट बनाकर मिश्री मिलाकर पिलाने से गिरता हुआ गर्भ ठहर जाता है ।।१२

वरी विश्वाजगंधाच मधुकं भृंगराट् समैः ।
अजादुग्धेन पानाच्च नार्या गर्भस्य वृद्धिकृत् ।।१३।।

शतावरी, सोंठ, अजगंधा ( ) मुलहठी भृंगराज के सम मात्रा में चूर्ण बनाकर ३ माशा की मात्रा से बकरी के दूध में पिलाने से स्त्री की छोड़ वृद्धि (गर्भ वृद्धि) हो जाती है ।।१३

शीतोदकेन देयानि जासूलकुसुमानिच ।
तमा द्रूवति नारीणां गर्भ वृद्धि सुनिश्चितम् ।।१४।।

गुड़हल के फूल ठंडे जल के साथ पिलाने से स्त्रियों का छोड़ 'गर्भ बढ़ाने वाली' सुनिश्चित है ।।१४

कटुतुंबी सुपत्राणि रोध्रयुक्तानि मर्दयेत् ।
कारयेद् गुटिका तस्या योनिसंकीर्ण कारिका ॥

कड़वी तुम्बी के पत्ते ताजे पठाणी लोध को पीसकर गोलो बनाए, स्मर मंदिर में रखने से सकोचक है ।

त्रिफला विजया रोध्र सदुग्धा दाडिमत्वचा ।
समांशैः चूर्णयेत्सर्वं तर्कारी रस भावितम् ।
पश्चात्तस्या गुटी कृत्वा नक्तं साधार्यते भगे ।
तस्माद्भवति सुदर्याः संकीर्णं स्मरमंदिरम् ॥

त्रिफला, भांग, लोध पठानी, कच्ची दाडिम फल (गोरखीया) की छाल सममात्रा में लेकर चूर्ण कर तर्कारी (अग्निमन्थ) अरणी के पत्तों को रस की भावना देकर गोली बना कर सायंकाल योनि में रखने से संकोचन करती है ।

धात्री धन्वकनीरं तु शर्करा जीरकेन च ।
भामिनि भगवीर्यस्य बन्ध सृजति सत्वरं ॥

आंवला, मिश्री, जीरा के चूर्ण को धमासे के रस से पिलाने से स्त्री शीघ्र स्खलित होती है ।

मधूकैला मधु पथ्या क्वाथो गोक्षुरकाश्मभिद् ।
प्रतिवाससिता दानाद् सुंदर्याः धातुरोगजिद् ॥

महुआ, इलायची, शहद, हरड़, गोखरु, पाषाणभेद का क्वाथ बना कर मिश्री मिला कर स्त्री को पिलाने से प्रदर मिटता है ।

विश्वौषधात्पंचगुणं रसोनकं उत्क्वाथ्य नार्याः त्रिदिन प्रपाययेत् ।
गर्भस्यपातो प्रभवेत्सुखेन योगोयमेतन्मुनि हस्तिना मतः ॥

सोंठ से पांच गुणा लहसुन लेकर क्वाथ कर तीन दिन पिलाने से सुख से गर्भ निकल जाता है, यह हस्ती मुनि का मत है ।

पिप्पली पिप्पलीमूल क्षुद्रा निर्गुण्डिका समैः ।
गवाक्षीसंयुतः क्वाथः नार्याः गर्भविनाशकृत् ॥

पीपर, पीपरामूल, कटेरी, निर्गुण्डी सममात्रा में लेकर क्वाथ बनाकर गवाक्षी (इन्द्रायण) का प्रक्षेप डाल कर पिलाने से गर्भपातकारक है ।

गुंजाकर्णं समादाय जलेन पलमानतः ।
त्रिदिनं कार्यते नार्याः गर्भपातो भवेद्ध्रुवम् ॥

तीन लाल चिरमी के स्याह भाग को एक छटांक जल के साथ घिसे जिससे कि चिरमी का काला भाग ही घिस कर तीन दिन तक पिलाने से निश्चित गर्भपात हो जाता है ।

चरित्रनायक द्वारा दकोदर चिकित्सा
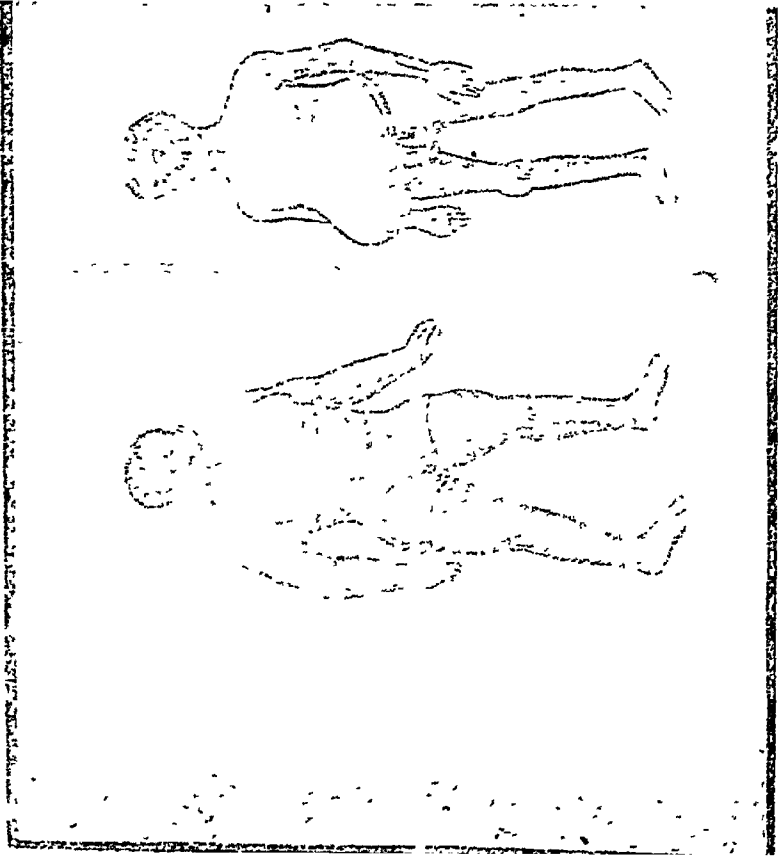
चिकित्सा के पश्चात्–चिकित्सा से पूर्व
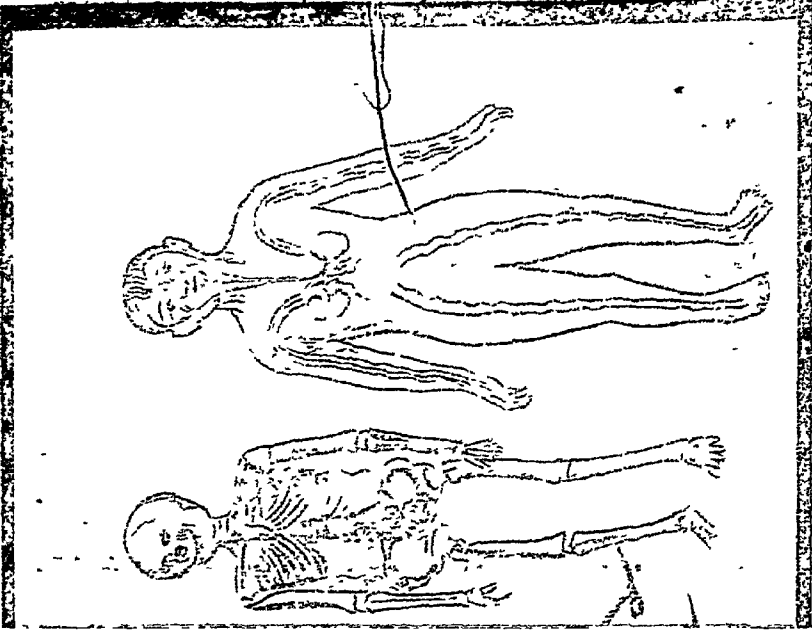
महा भूत का संकेत

अलसीतैलमुत्क्वाथ्य गुडयुक्तेन दापयेत् ।
गर्भपातोहि नारीणां सद्यो भवतिसत्वरम् ।।

गुड़ के साथ अलसी तेल को उकाल कर पिलाने से शीघ्र एवं सुनिश्चित गर्भपात हो जाता है ।

गुग्गुलु पलमात्रं तु तैलेनोत्क्वाथ्य या पिवेत् ।
सा नार्याः निजगर्भस्य सुखेन पतन भवेत् ।।

एक छटांक गुग्गुलु व तेल मिला कर उकाल कर पीने से गर्भपात शीघ्र हो जाता है ।

गवाक्षी मूलमादाय या धत्ते स्मरवेश्मनि ।
गर्भपातो भवेत्तस्याः योगोऽयं हस्तिना मतः ।।

इन्द्रायण कीजड़ कनिष्ठिका अंगुली जितनी मोटी इच लम्बी लेकर योनि में लगाने से गर्भपात कारक है ।

कालिंगातिविष व्योष विल्वमुस्ता सु धातकी ।
चूर्णमेषां कृतं नार्याः रक्तस्राव हरेद्ध्रुवम् ।।

इन्द्रजव, अतीस, कटुत्रिक, बिल्व, नागरमोथा, धाय के फूल इनका चूर्ण कर पिलाने से औरतों का रक्तप्रदर शान्त होता है ।

जलेन केतकी मूलं संघृष्य सितया सह ।
कारितं हस्ति ना नार्याः रक्तप्रवाह निवृत्तये ।।

केतकी की जड़ (छोटा केवड़ा की जाति) को घिस कर मिश्री मिला कर जल के साथ पिलाने से भयंकर रक्तप्रवाह भी स्त्रियों का ठीक होता है ।

शिवाफलस्य मज्जानि पलमात्रादिनत्रयं ।
सितया सह दानाच्च पुष्पं गच्छति सत्वरम् ।।

हरड़ के फल की मीगी एक छटांक लेकर मिश्री बराबर मिला कर स्त्री को ३ दिन सेवन कराने से स्त्रियों की माहवारी चली जाती है ।

दुग्धामूल मजादुग्धे कामिन्यादिवस त्रयम् ।
कारित हस्ती रुचिना फलपुष्पनिवृत्तये ।।

जोगणदूधी को बकरी के दूध के साथ ऋतुमती स्त्री को पिलाने से आर्तव तथा गर्भ धारण शक्ति की रुकावट हो जाती है ।

धतूर मूलं पुष्यार्के गृहीतं कटि संस्थितम् ।
गर्भं न धारयत्येव रंडा वेश्यादि योषिताम् ।।

पुष्य नक्षत्र जब रविवार को हो तो काले धत्तूरे की जड़ लाकर रखले उस जड़ को कमर मे बांधकर संगम कराने से गर्भस्थिति नही रहती ।

पलाश बीज भूतिश्च पीता शीतेन वारिणा।
न गर्भं लभते नारी सद्हस्त रुचिना स्मृतम् ॥

पलाश बीज की राख बनाकर ठंडे जल से ऋतु काल में देने से गर्भ स्थिति रुक जाती है।

उत्क्वाथ्य बदरी लाक्षां तैले न सह सुन्दरी।
द्वि कर्षा कार्यमाणासा न गर्भं लभते ध्रुवम् ॥

बेर की लाख औटाकर तैल मिलाकर दो तोला प्रमाण में ऋतुकाल में पिलाने से गर्भ स्थिति नही रहती।

रामठेन युतं तैलं या पिबेद्दिनपचकम्।
हस्तिना कथितं तस्या: कदा गर्भो न जायते ॥

तैल के साथ हींग पांच दिन तक ऋतु काल से प्रारंभ कर स्त्री को देने से गर्भ-स्थिति कभी नहीं रह सकती।

गुडतैलेन संयुक्त चूर्णं चित्रकसैंधवम्।
त्रिदिनं कारयेन्नार्या: तस्माद्गर्भो न जायते ॥

चित्रक तथा सैंधक नमक के चूर्ण को गुड़ व तैल के साथ देने से गर्भस्थिति रुक जाती है।

कारवेल्लरस: पानात् माषाजीर्णं गुडेन च।
शुष्काजासूल पुष्पाणि त्रिभिर्गर्भो न जायते ॥

जंगली करेले के रस पिलाने से, प्राचीन गुड़ पिलाने से, शुष्क गुड़हल के फूलों के क्वाथ से गर्भस्थिति नही रहती है।

नखद्वयं गर्भिणीनामधेयं तिथि प्रयुक्त सरसंयुतं च।
एकेनहीना नवभागशेषं समे कुमारी विषमे कुमार: ॥

गर्भिणी की नखसंख्या मे प्रश्नदिन की तिथि तथा गर्भिणी का नाम व पांच संख्या जोड़कर एक शेष निकाल बाकी में नव का भाग दे, शेष सम होने हर कन्या तथा विषम होने पर लड़का होगा।

कुष्टाश्वगधेभकणा: नवनीतेन पाययेत्।
लेपाल्लिगस्य वृद्धि:स्यात् कामिन्या: स्तनत गता ॥

कूठ, आसगंध, गजपीपर, मक्खन से चाटने से तथा लिंग पर लेप करने से बढ़ता है तथा कामिनी के स्तनों पर लगाने से उभार आता है।

हिंगु सौवर्चलं व्योष भार्गी चूर्णं समांशकै:।
कोष्णनीरेण नारीणां नष्टपुष्पो लभेत्पुन: ॥

उपयोगी स्वस्थ पालतू प्राणी
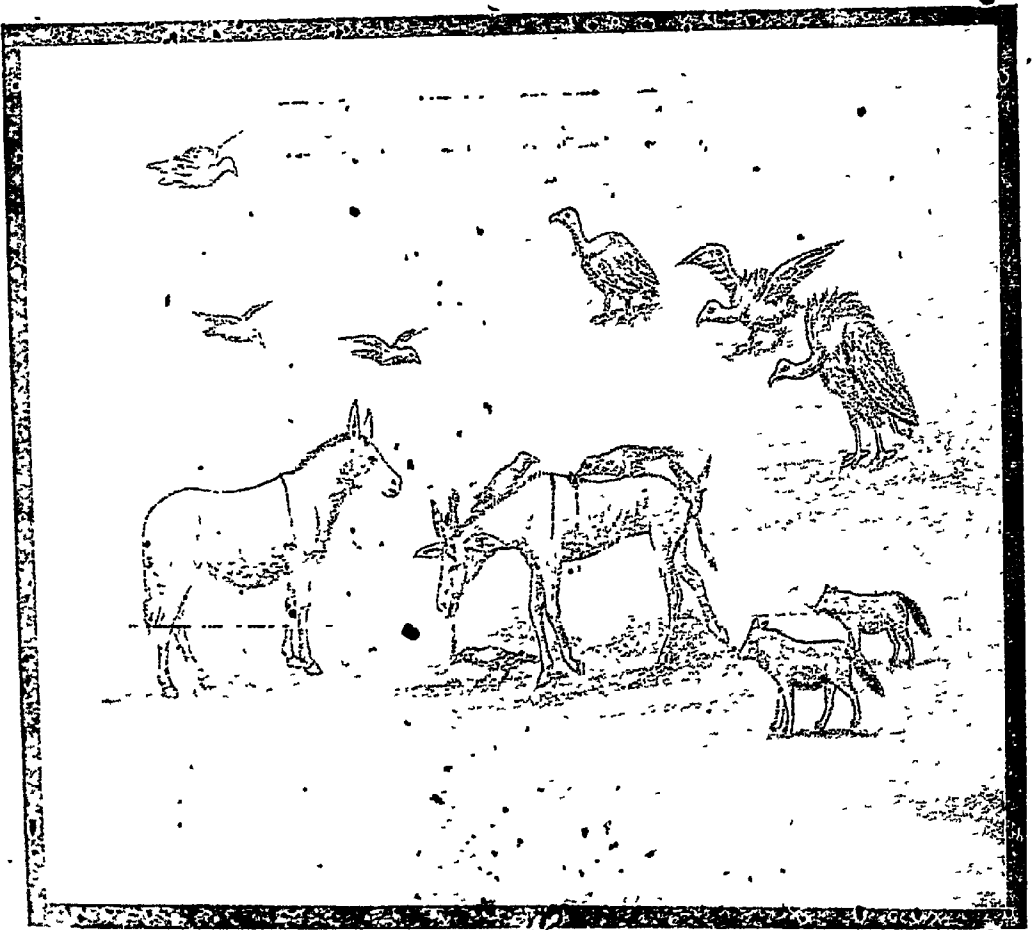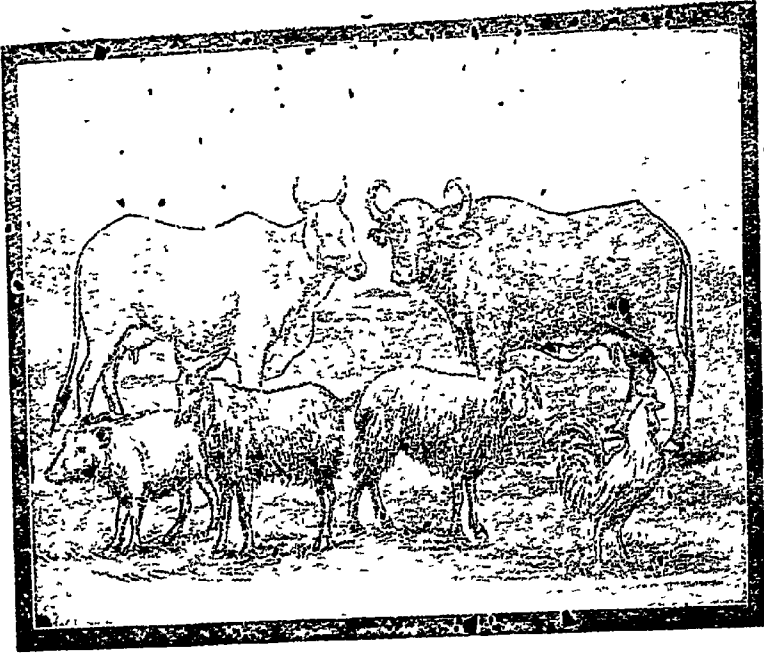
उपयोगी अस्वस्थ पालतू प्राणी

हींग, काला नमक, सोंठ, काली मिरच, पीपर भारंगी इन सबको सम मात्रा में लेकर चूर्ण कर गर्म जल से पिलाने से नष्ट पुष्पा स्त्री के आर्तव आ जाता है।

शुंठी पुनर्नवा मूलं सघृष्ट्वा छागसर्पिषा।
लेपतो नरसंगोत्थ योनिशोफं हरेद्ध्रुवम्॥

सोंठ, पुनर्नवामूल बकरी के दूध में पीसकर लेप करने से मनुष्य के संक्रम से उत्पन्न योनिशेशोथ दूर हो जाता है।

पुनर्नवायाः पत्राणि विमर्द्य कुरु मोदकम्।
तान्स्थितं नाशयेत्पीड़ा योनिप्रसव शूलजाम्॥

पुनर्नवा के पत्तों को घोटकर बड़ी गोली बनाकर योनि में रखने से स्त्री की प्रसव पीड़ा से होने वाले योनि-शूल का शमन होता है।

तिक्ता दारुवचा शिग्रु त्रिकटु रवि मूलकैः।
दशमूलयुतः क्वाथः सूतिकासर्वरोगजित्॥

कुटकी, देवदारु, वच, सहंजनात्वक्, अर्कमूलत्वक्, दशमूल इनका क्वाथ सूतिका के सर्व प्रकार के रोगों को नष्ट करता है।

त्रिकटु पिप्पलीमूलं त्रिजाति इरकाल्लकैः।
सक्षौद्रं एवचा कुर्यात् सूतिका सर्वरोगजित्॥

त्रिकटु, पीपरामूल, दालचीणी, इलायची, तेजपात, अकलकरे के चूर्ण को शहद के साथ चटाने से सूतिका के सर्व रोगों का नाशकारक है।

कासश्वास प्रतिकारः

लवंगत्रिकटु नाग शृंगी क्षुद्रांविभीतकैः।
कन्यारसेन गुटिका कासश्वास निवारणी॥

लोग, सोंठ, काली मीरच, पीपर, वच्छनाग, काकड़ासींगी, कटेरी, बहड़ इनका चूर्ण कर गँवारपाठे के रस में घोट कर गोली बना कर कास तथा श्वास में प्रातः सायं २-२ गोली दे।

पारदं सैन्धवं नाग नाग व्योषानलैः समम्।
शिग्रुरसेन संचूर्ण्य प्रदेया भावना दश।
पुनः पत्ररसैः सम्यक् चार्द्रकस्य रसैस्तथा।
मरिच प्रमाणा मुनिभिः कार्या सा गुटिकोत्तमा।
मंदाग्निकफरोगेषु कासश्वासे विशेषतः।
आध्माने पवनार्त्तो च प्रदेया सुखकारिणी॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), सैंधव नमक, नागभस्म, वच्छनाग, सोंठ, काली मिरच, पीपर, चित्रक सममात्रा में लेकर सहंजने के पत्तों के रस की दस भावना दें। फिर नागरबेल के पान के रस की दस भावना दें। फिर अदरख के रस की दस भावना देकर काली मिरच आकार की गोली बनाए। प्रातः सायं एक से २ गोली तक शहद के साथ दें। अग्निमांद्य, कफ रोगों में कास, श्वास में, आफरा में, वात व्याधि में इसका प्रयोग करने से बहुत अधिक लाभ करने वाली है।

त्रिकटु टंकणं नाग पत्रेण क्रियते गुटी।
मरि प्रमाण कथिता नाम्ना त्रिपुर भैरवी॥

त्रिकटु सुहागा का सूक्ष्म चूर्ण कर नागरबेल के पान के रस में गोली बनाए जिसका नाम त्रिपुर भैरवी है, जिसे कास में प्रयोग करें।

त्रिकटु त्रिफला वेल्ल रास्नादारु बलान्वितैः।
सक्षौद्रेण कृतचूर्णं कासश्वास कफापहम्॥

त्रिकटु, त्रिफला, काली मिरच राठ देवदारु, बला इनके चूर्ण को शहद के साथ कास श्वास में चटाने से लाभ प्राप्त होता है।

लवंग मरिचौ तुल्यौ त्रिफला सार तत्समौ।
बब्बूलस्वरसैकार्या गुटीश्वास कफापहा॥

लोंग, काली मिरच, १-१ तोला त्रिफला, लौहसार २-२ तोला लेकर बब्बूल के पत्तों के रस से गोली बना कर कास श्वास में उपयोग लें।

वासा नागरमुस्ताभिः भार्गीभूनिंब निंबजैः।
समधुः विहितः क्वाथः श्वसन कसन हरेत्॥

अड़ूसा, सोंठ, नागरमोथा, भारंगी, चिरायता, नीमछाल का क्वाथ बनाकर मधुप्रक्षेप से पिलाने से कास तथा श्वास चले जाते हैं।

समधु शृंगवेरस्य रसो नित्यं हि योभजेत्।
कास श्वासौ हरेत्तस्य जंघालवण भक्षणात्॥

शहद के साथ जो व्यक्ति अदरख का रस नित्य सेवन करता है उसके कासश्वास नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जांघी हरड़ व नमक के सेवन से भी नष्ट होते हैं।

फलत्रयं नागर दारु कृष्णा विषामया वेल्ल सुवर्णबीजैः।
दिनत्रयं भृंगरसैः विमर्द्य कार्यागुटी श्वासकफापहारी॥

त्रिफला, सोंठ, देवदारु, पीपर, शु. वच्छनाग, हरड़, स्याह मिरच, शु. धत्तूरे के बीज, जलभांगरे के रस से तीन दिन तक घोट कर गुटिका बना लें। प्रातः साय एक एक गोली कफ श्वास में शहद के साथ दें।

गुडं कट्फल तैलेनावलेहः श्वासकासजित् ।
यथा क्षौद्रान्वितं व्योष चूर्णं सद्धस्तिनास्मृतम् ॥

गुड़, कायफल, तेल मिला कर चटाने से श्वास कास नष्ट होता है वैसे ही कटुत्रिक चूर्ण शहद से चटाने से कास श्वास में शान्ति प्राप्त होती है ।

वासारसयुतं क्षौद्रं यो भजेद्दिनसप्तकः ।
तस्य धातुक्षयं श्वासं क्षयीरोगो विनश्यति ॥१३॥

अड़ूसे के रस में शहद मिला कर ७ दिन तक सेवन करने से धातुक्षय, श्वासक्षय का शमन हो जाता है ।

वचाश्वगंधापामार्ग तिला श्री सर्षपैः समैः ।
क्षयरोग विनाशाय कारितं हस्तिना नृणाम् ॥१४॥

वच, आशकन्द, अपामार्ग के बीज, तिल, सरसों बीज इनका चूर्ण कर सरसों के साथ चटाए इससे क्षय रोग का समूल नाश हो जाता है ।

अश्वगंधामृता भीरु दशमूला बला वृषा ।
पुष्करातिविषैः क्वाथो क्षयीकास विनाशकृत् ॥१५॥

आसकन्द, नीमगिलोय, शतावरी दशमूल, बला अड़ूसा, पुष्करमूल, अतीस, इनके क्वाथ से क्षय तथा कास का शमन होता है ।

पलार्द्धं लवणं लात्वा सूर्यक्षीरेण भावयेत् ।
पाचयेत्तेन चूर्णेन क्षयी रोग विनश्यति ॥१६॥

आधी छटांक सैंधव नमक लेकर अर्क दुग्ध की भावना दें। फिर पुटपाक देकर २-२ रत्ती क्षय मे पान के साथ दे ।

शर्करा पिप्पली द्राक्षा तिलनिवासाकान्वितैः ।
श्वास कासं तथा च्छर्दि क्षयी रोग विनाशकृत् ॥

मिश्री, पीपर, मुनक्का, तिल, अड़ूसा के साथ चटाने से श्वास कास वमन क्षय रोग का नाश होता है ।

सत्वंगुडूच्याः मृत शुल्वविल्वैः चूर्णं हि वासास्वरसेन दत्तम् ।
सदहस्तिना सक्षय रोगकास श्वासोपशांत्यै त्रिदिन यथास्यात् ॥

अमृतासत्व, ताम्रभस्म, बेलगिरी के चूर्ण को मिला कर अड़ूसे के रस के साथ प्रयोग करने से क्षय, कास, श्वास की शान्ति होती है ।

मुखे भवति यः शोफः स्त्रीणां पुसां प्रपादयोः ।
असाध्यौ तावुभौ ज्ञेयो तयोः पुण्य निरर्थकम् ॥

स्त्रियों में मुख से होने वाला तथा पुरुषों में पैरों पर से प्रारंभ होने वाला शोथ असाध्य माना है। इसके हो जाने के बाद किया हुआ चिकित्सा कार्य व्यर्थ हो जाता है।

पुनर्नवामृता शुण्ठी दारुपथ्या समांशकैः।
चूर्णमुष्णाम्बुनापीत शोफं हन्ति सवेगतः॥

पुनर्नवा, नीमगिलोय, सोंठ, देवदारु, हरड़ समान भाग मिलाकर गर्म जल से सेवन कराने से साध्यशोफ ठीक होते हैं।

पुनर्नवा निंबं विश्वा सपटोल जलेन च।
संघृष्य क्रियते लेपो सद्यः शोफ विनाशकृत्॥

पुनर्नवा, नीम की अंतर्छाल, सोठ, परवल के पत्तों को समभाग लेकर पानी में पीस कर शोफ स्थान पर लेप लगाने से शोफ-शान्ति होती है।

सरामठं कोल्लफलं सचूर्णेन चटकणम्।
गुडयुक्तेन संपीतं सद्यः शोफोदरं हरेत्॥

हीग, प्रियंगु, टंकण, गुड़ के साथ गोली बनाकर पिलाने से पेट का शोफ शान्त होता है।

पुनर्नवाभया दारु वातशत्रु समांशकैः।
गोमूत्रेण कृतः क्वाथः शोफजिद्धस्तिना स्मृतः॥

पुनर्नवा, हरड़ बकली, देवदारु, एरंडबीज, समान मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ क्वाथ बना कर पिलाने से शोफ ठीक हो जाती है।

वासामृता रेणुक मुस्त धन्व पटोल शुंठी त्रिफलाभयानि।
भूनिम्ब निम्बैः क्वथितोकषायः विस्फोटकान्हंत्यचिरेण सद्यः॥

अड़ूसा, नीमगिलोय, नागरमोथा, धमासा, परवल, सोंठ, त्रिफला हरड़, चिरायता, नीम की अंतर्छाल आदि से किये हुए क्वाथ के अभ्यास से शरीर पर पैदा हो जाने वाले फोड़े शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

दग्ध्वा मार्तण्ड मूलानि तच्चूर्णं पलमानतः।
मृततालपुटी युक्तं दीपते दिन सप्तकम्॥
तत्पथ्ये चणक योज्याः दुग्धाभावयुतेन च।
विस्फोटवान्प्रकुर्वाणो स शीघ्रं जायते सुखी॥

अर्कमूल को जलाकर बनाई हुई भस्म एक छटांक तथा उसमें बनाई हुई हरिताल भस्म को १-१ रत्ती की मात्रा से सात दिन तक सेवन कराने से तथा पथ्य में चणा व दूध के प्रयोग से विस्फोट ठीक हो जाते हैं।

एला जातीफलं थूथं गोघृतेन च मर्द्दयेत् ।
हस्तिना कथितं हन्ति लेपाद्विस्फोटक व्रणम् ॥

बड़ी इलायची, जायफल, नीलाथोथा के चूर्ण को गाय के घी में मिलाकर लेप लगाने से विस्फोटक ठीक हो जाते हैं ।

सिन्दूरं गन्धकं तुत्थं सूतं धात्री विमर्दयेत् ।
घृतेन च कृतो लेपो पामागच्छति सत्वरम् ॥

सिन्दूर, आंवलासार गन्धक, नीलाथोथा, पारा, आंवले के रस में घोट कर गाय के घी मे मिला कर लेप लगाने से पामा ठीक होती है ।

दद्रुघ्न तंडुला लाक्षा गोतक्रेण च भावयेत् ।
पश्चात्तल्लेपतो हन्ति पामा दद्रुव्रण व्यथा ॥

पंवाड़िये के बीज, लाख को गाय के छाछ में भावना देकर लेप लगाने से दाद, पामा के व्रण ठीक होते हैं ।

अजानलिका संदह्य लेपतो स्फोटक व्रणम् ।
खर्जूं दद्व्रस्थि गंभीरं भगदर व्रणापह ॥

वकरी की नलकास्थि को जला कर गाय के घी में लगाने से विस्फोटक, वीची, दाद, अस्थिगंभीर व्रण तथा भगन्दर ठीक हो जाते हैं ।

मृततालपुटी सप्त सप्ताक्षि रस संयुता ।
पथ्य युक्तेनदातव्या रक्तपित्त प्रणाशकृत् ॥

सात पुटी गोदन्ती हरताल भस्म को सप्ताक्षि ( ) के रस के साथ पथ्य के साथ देने से रक्त पित्त ठीक होता है ।

सशर्करा खरीदुग्ध पानाद्वै दिवसान्दश ।
रक्तपित्त प्रणाशाय सद्धस्तिरुचिना मुदा ॥

गधी का दूध मिश्री मिला कर दस दिन तक पिलाने से रक्तपित्त रोग से छुटकारा हो जाता है ऐसा हस्ती रुचि गुरां ने बताया है ।

अश्वगंधा तिला मापा गुडसर्पि मंहौषधम् ।
मोदको भक्षयेत्प्रातः बलवीर्यस्य वृद्धिकृत् ॥

आसगंध, तिल, उड़द, गुड़, घृत, सोंठ के लड्डू बनाकर खिलाने से बाजीकरण बनता है ।

मर्कटो गोक्षुराभ्यांच शाल्मलि शर्करामलैः ।
आलोड्यमधु दुग्धाभ्यां भक्षणाद्वीर्य वृद्धिकृत् ॥

कौंच बीज, गोखरू, शेमल, मिश्री, शहद, दूध के साथ खिलाने से वाजीकरण होता है ।

> सदुग्धमुच्चटामूलं यो भजेद्दिन सप्तकम् ।
> स पुमान् शतनारीणां भोग सृजति सत्वरम् ॥

उट्टिगण के मूल को दूध के साथ सात दिन तक सेवन करने से पुरुष की शक्ति शत-भोगी हो जाती है ।

उपदेश

बन्द कमरे में रस कपूर को कपास के फूलों के रस में पीस कर उसमें रूई की बत्ती अच्छी तरह भिगो कर शुद्ध गोघृत डाल कर दीपक करना । निर्वात स्थान में नग्न करके बैठा देना । दीपक के सामने ३ घंटे देखते रहे, इस प्रकार ३ दिन करने से व्रण ठीक हो जाता है ।

—परीक्षित

आक के डोडे के बीज १ तोला, हल्दी १ तो. हुक्काबेल १ तो. इन तीनों को पीस कर टिकड़ियां बनाना, छाया शुष्क करना, शुभ दिन को प्रातः १ टिकड़ी कोरी चिलम में डाल कर पीए, उसके बाद घी ऽ पीवे, इस तरह ३ दिन करें । नमक, मिर्च, खटाई आदि का परहेज ।

—परीक्षित

> मेथीपल चतुष्क च कणा द्विपलमानतः ।
> सचूर्ण्य वटदुग्धेन पाचयेन्मृदुवन्हिना ।
> प्रस्थैकखंडमध्येतु कल्कोदेयस्तदाभिषक् ।
> सूतलवंग त्रिकटु लोह केसरमभ्रकम् ।
> शुल्वं जातीफल जातिपत्री नागकुबेरकः ।
> एतेषां पलमानेन सर्वमेकत्र कारयेत् ।
> प्रभाते पलमानेन यो भजे त्प्रतिवासरम् ।
> तस्य सर्वशिरोत्पन्न रोगाः नश्यन्ति तत्क्षणात् ।
> सर्ववातसमूह च भ्रमच्छर्दिकफ व्यथा ।
> मागधी पाक नामोय सद्हस्ति रुचिनास्ममृतः ।

चार छटांक मेथी, दो छटांक पीपर चूर्ण करके वट-दुग्ध मिला कर मन्दाग्नि पर पकाए एक सेर मिश्री मिला कर निम्न कल्क डाले । पारा-भस्म (रस सिंन्दूर) लौंग, त्रिकटु, लौहभस्म, केशर, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, जायफल, जावित्री, नागकेशर आदि एक-एक छटाक का चूर्ण कर मिलाए फिर इसमें से प्रातःकाल एक-एक छटांक की मात्रा में खिलाने से सारे प्रकार के शिर रोग, वात व्याधियां, भ्रम, वमन, श्लेष्म रोगों का नाश होता है ।

ग्रन्थिकाकल्लक मुस्ताजगंधोग्राकणोषणैः
तदोषधसमा विश्वा तत्समेन गुडेन च ।
अक्षप्रमाणगुटिका द्विवारंभक्षयेन्नरः ।
संधिवात ग्रन्थिवातं हरेद्वातव्यथं महत् ॥

पीपरामूल, अकलकरा, नागरमोथा, अजगंधा, वच, पीपर, काली मिरच, एक-एक भाग इन सबके समान सोंठ, सोंठ के समान गुड़ मिला कर एक-एक तोला की गोली बनाएँ। प्रातः सायं दोनों वक्त एक-एक गोली दें, यह गुटिका सन्धिवात, ग्रन्थिवात, वात-व्याधि आदि को दूर करती है ।

सरामठं वचाघृष्ट्वा करबाहू प्रलेपनात् ।
घटसर्पोतदां ग्राह्यो न डस्यति कदापिसः ॥

हीग, वच को पानी में पीस कर हाथों पर लेप कर सर्प को घट की तरह हाथ में ग्रहण करे वह कदापि नही काटेगा ।

लशुनं मरिचं सर्पकंचुकी भस्मकट्फलम् :
हिंग्वरिष्ट त्वचासाबू इंगोटीफलमज्जकैः ।
निंबस्यफलमज्जानां चूर्णं खरस्यमूत्रयुग् ।
नेत्रांजनकृतंसर्वं भूतप्रेतादिदोषजित् ॥

लहसुन, काली मिरच, सर्प की कांचली की भस्म, कायफल, हींग, नीम की अंतर्छाल, सावू, हीगोटी की मीगी, नीबोली की मीगी सबके समभाग चूर्ण को गधे के मूत्र में घोट कर आँख में अंजन करने से भूत प्रेत आदि की पीड़ा को ठीक करता है ।

यथा खलस्य सामीप्यात्पीड़ा तोयातिमज्जतः ।
तथा वचायाः धूपेन गृहं मुक्त्वा व्रजेद्बहिः ॥

जैसे दुष्ट के पास से या जल मे डूबने से अत्यन्त पीड़ा होती है वैसे ही घर में वचा के धूप देने से भूत प्रेतादि घर छोड़ कर चले जाते हैं ।

तुत्थ वचा कामफलं गोदुग्धेन च पाचयेत् ।
तस्मात्मल्ल विषहन्यात् यथा निंबूप्रसेवनात् ॥

नीला थोथा, वच, कामफल गाय के दूध में पचाकर २-२ रत्ती की मात्रा में निंबू के रस के साथ सेवन करने से मल्लविष की शान्ति होती है ।

वृहत्क्षुद्रारसं दुग्धं पलमानंनिषेवणात् ।
नागफेन वियर्याति संजीवति चिरंपुमान् ॥

बड़ी कटेरी का रस १ तोला दूध एक छटांक के साथ पिलाने से अफीम-विष का नाश होता है ।

वृंताकफल बीजस्य रसोहि पलमात्रया ।
भक्षणाद्धूत्त धत्तूर विषं नश्यति निश्चितम् ॥

बेंगन के बीजों का रस एक छटांक की मात्रा में पिलाने से धत्तूरे का विष निश्चित नष्ट हो जाता है ।

छूणिवृक्षस्य पुष्पाणि जलेनोत्क्वाथ्यपानतः ।
धत्तूरस्य विषयाति यथा लवणभक्षणात् ॥

छुइमुई वृक्षों के फूलों को पानी में औटाकर पिलाने से या नमक डालकर पिलाने से धत्तूरे के विष की शान्ति होती है ।

यथा रस विषं हन्याद् गोदुग्धेन च गंधकम् ।
तथा ससितसर्पाक्षिरसोताल विषं पुनः ॥

पारे के भक्षण से पैदा हुए विकार में शुद्ध गन्धक को गाय के दूध के साथ दें तथा हरिताल भक्षण से हुई विकृति में मिश्री मिलाकर सर्पाक्षी के रस के साथ दें ।

स्वानविट् कृष्णमार्जार विष्टा चैव खरस्य च ।
गुग्गुलु सर्षपाः सर्प कंचुकी राजिकासमैः ।
एतेषा युवती योनौ धूपो देयो दिनादश ।
स्वसुरस्य कुले तस्मात्तिष्ठति तरुणीध्रुवम् ॥

कुत्ता, काली बिल्ली, गधे की बिष्टा, गूगल, सरसों, सांप की कांचली, राई, समभाग लेकर स्त्री की योनि में १० दिन धूप दें । इस से स्त्री स्वसुराल में रहने लग जाती है ।

गंधकं पलमानं तु गोदुग्धेनविशोध्यच ।
शर्करासहितोदेयः मरुत्पित्तकफेरुजि ॥

एक छटांक गन्धक को गाय के दूध मे शोधन कर मिश्री मिला कर वात, पित्त, कफ से पैदा हुई पीड़ाओं में प्रयोग करें ।

तुष्टि पुष्टी करोनॄणां रुचिकृत्नेत्ररोगजित् ।
वीर्यंक्षीणं प्रमेहं च कुष्ठरक्तरुजहरेत् ॥

गंधक के सेवन से मानवों में तुष्टी तथा पुष्टि देने वाला है, अरुचि नष्ट होती है, नेत्र-व्याधियें तथा प्रमेह, कुष्ठ, रक्त रोगों का नाश होकर वीर्य पुष्ट होता है ।

मर्कटी मूसलीचाश्वगंधा गोक्षुरकैः समैः ।
पलपंचमितं सर्वं द्रोणदुग्धेविपाच्यते ।
चातुर्जात रसं लोहं कबाब वंशलोचनम् ।
चन्दनं केशरं व्योष साभ्रं शुल्वं फलत्रिकैः ॥

प्रस्थैक खंडेन युतोहिभुक्त्वा प्रातः पिबेत् यश्च पयोथरात्री
दर्प विमर्दयतिसः सुविलासिनीनां सर्वाङ्ग रोगहरणे सुविशेष एव ।

कौंचबीज, स्याह् मूसली, आसगंध, गोखरू ५-५ छटांक का चूर्ण कर १ द्रोण दूध में डाल पचाए। जब मावा बन जाय तब चातुर्जात, पारद भस्म (रस सिन्दूर) लौह् भस्म, कबाब चीनी, वंशलोचन, चंदन, केशर, त्रिकटु, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म, त्रिफला ६-६ माशा तथा एक सेर मिश्री मिला कर प्रातःकाल एक छटांक की मात्रा में दूध के अनुपान से लेने से अत्यन्त पौष्टिक होता है।

रसोनकंप्रस्थमितं विमर्द्यदुग्धेनघृष्टेन विपाच्ययोनरः।
शुल्वाभ्रक लौह् रसं लवंगं कर्पूरमाकल्लक वाजिगंधे।
द्विनिशा नागरंनागकेसरत्रिफला समम्।
जातिपत्रीजातिफल मागधीमरिचेसमे॥

प्रत्यैक षंडसहितं हरते समीर गुल्मव्यथां किषम सर्वं समीरणार्तिम्।
मन्दाग्निशूल कफहृद्गद नाशकारी पाकः स्मृतः सुकविना सुरसोनकाख्यः।

एक सेर लहसुन का कल्क कर के दूध ८ सेर में डाल कर खोवा बनावें, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, रससिन्दूर, लोंग, कपूर, अकलकरा, आसगंध, दोनों हलदी, सोंठ, नागकेशर, त्रिफला, जावित्री, जायफल, काली मिरच, पीपर ६-६ माशा, मिश्री १ सेर डाल कर १-१ छटांक के लड्डू बनाकर प्रातः सायं उपयोग करने से वात व्याधि, गुल्म, अग्निमांद्य शूल कफ रोग हृद्रोग आदि ठीक होते हैं।

पूर्वं संशोध्य नागंच अर्कमूलेनमर्दयेत्।
यामान्तेचभवेद्भस्म सितयासह सेवनात्॥

नागंमृतं हरति पित्तसमीरणार्ति शुक्रस्यदोष शमनं गतकामवृद्धि।
दाह प्रलापशमनं रुचिकृद्विशेष शीर्षव्यथां हरति त्वक्षिरुजनराणाम्।

शीशा को शुद्ध कर कड़ाई मे रखकर गलाकर आक की जड़ से हिलाए। एक प्रहर में भस्म हो जायगी। इस प्रकार की हुई भस्म २ रत्ती की मात्रा में मिश्री के साथ सेवन करने से वात, पित्त-पीड़ा, शुक्रदोष, दाह, प्रलाप, शिरोरोग, नेत्ररोग शांत होकर वीर्य पुष्ट होकर पुंसत्व प्राप्त होता है तथा भोजन में रुचि पैदा होती है।

रसराजयुत नागं ससोध्य सम मेलयेत्।
चक्राह्वया रसेनैव यामतुर्यग्नि दानतः।
सक्षौद्रेनावलेहोऽथ पत्रेण भक्षयेत्सदा।
वातपित्तोद्भवांपीडां प्रणश्यतिप्रसोवनात्।
तदौषध समा जाती पत्री पिप्पली केशरैः।
आकल्लकं देवपुष्पं सर्वं संचूर्ण्य मेलयेत्॥

मंदाग्नि मोहनयनार्तिहरंनराणां कुष्ठव्यथां कृमिरुजा वमन निहन्यात्।
सनष्टकामरुचिकृद् विदधातिवीर्यं वंगेश्वरोहि सुरसो हि विशेष एव।

शुद्ध पारद, शुद्ध शीशे को समभाग लेकर आँच पर रख कर गर्म कर मिलाएँ, चक्राहा रस डाल कर चार पहर तक अग्नि दें, फिर उसमें शहद मिला कर निम्न औषधियों के साथ अवलेह बनाएँ।

जावित्री, पीपर, केशर, अकलकरा, लौंग, उस भस्म के बराबर लेकर मिलाएँ। इसकी १ माशा की मात्रा में प्रातः सायं सेवन करने से अग्निमांद्य, मूर्च्छा, नेत्रव्याधि, कोढ़, क्रिमि, छर्दि आदि नष्ट होकर पुंसत्व की पूर्ण रूप से प्राप्ति होती है तथा बल-वीर्य पुष्ट हो जाता है।

गुंजागोक्षुरयोश्चूर्णं मर्कटीबीज शर्करा।
दुग्धेन मिश्रितं कृत्वा पाचयेत्सुसमाहितः।
तदौषध पलार्द्धंतु यो पुमान्निशि भक्षयेत्।
तस्यवीर्यस्य वृद्धि स्यात् बल रूपं विशेषतः॥

लाल चिरमी की दाल बना कर आठ पहर तक गाडर के मूत्र में भिगोकर रखें तथा फिर गर्म पानी से साफ धोकर अंदर की जीभ निकाल कर सुखाकर गाडर के दूध में आठ पहर तक स्वेदन कर शुद्ध की हुई १ भाग गोखरू चूर्ण, २ भाग कौंचबीज, २ भाग मिश्री, २ भाग मिले हुए चूर्ण में से १ रत्ती लेकर आधा सेर दूध में मिला कर पाक करें। चतुर्थांश दूध रहने पर रात्रि में पीए उससे पुरुष में बलवीर्य की अपार वृद्धि होती है।

गौघृतं शीतलंवारि सुभोज्यं च नवागना।
दुग्धपानं सदास्नानं षडेता वपु पुष्टिदाः॥

गाय का घी, शीतल जल, अच्छा भोजन, षोडशवर्षीया स्त्री, दुग्ध-पान, स्नान ये छ शरीर पुष्ट करने वाले माने गये हैं।

तिल गोक्षुरयोश्चूर्णम् अजा-दुग्धेन पाचितम्।
शीतलं मधु संयुक्त भुक्तं वीर्यस्य वृद्धिकृत्॥

तिल, गोखरू का चूर्ण बकरी के दूध मे पचा कर ठंडा होने पर शहद मिला कर पिलाने से वीर्य पुष्टीकारक है।

कृष्णमुसली कंदस्य चूर्णं तु गोघृतेन च।
नरो नित्यं प्रकुर्वाणो गतकामं लभेत्पुनः॥

काली मूसली के चूर्ण को गाय के घी में मिला कर खिलाने से ध्वजभंग की शान्ति होकर पुरुष पुष्ट होता है।

मूसली कंद चूर्णं तु पलार्द्ध मुच्चटोद्भवम्।
दुग्धेन सहपातव्यं गत धातु प्रमेहजित्॥

स्याह मूसली, उच्चिटंग के चूर्ण को बना कर दूध के साथ पिलाने से पौष्टिक है।

पंचाग गोक्षुरश्चूर्णं शर्करा दुग्धमिश्रितम् ।
कारितं हस्तिना धातु गतदोष विनाशकृत् ॥

गोखरू के पंचांग का चूर्ण कर मिश्री मिला कर दूध के साथ पिलाने से धातुगत दोष की शान्ति होती है ।

ससिता सेव्यमानातु रालकृष्णा समानतः ।
भक्षणात्त्रिदिनं हन्ति सद्योमेहेसु दुस्तरम् ॥

राल, पीपर, मिश्री समभाग मिलाकर तीन दिन तक दूध के साथ देने से वीर्यगत दोष शान्त होता है ।

केसू कुसुमपुष्पोत्थ जलव्यंगेन संयुतम् ।
सितयासह पातव्य पित्तमेहः प्रणाशयेत् ॥

पलाश एवं कुसुम्भ के फूल तथा नील (जल के ऊपर की हरे रंग की काई) का क्वाथ कर शीत होने पर मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तप्रमेह ठीक हो जाता हैं ।

हेमबीज विषवगपारदं हसपाक करहस जालनम् ।
नाग वल्लीदल संयुतंरसः कामद सकलमेह नाशनम् ॥

शुद्ध धतूरे के बीज, शुद्धवत्सनाभ, वंगभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध हिंगलू, नागरवेल के पत्तों के रस में घोट कर आधी रत्ती की गोली बना कर प्रातः सायं एक-एक गोली घी मिले दूध के साथ प्रयोग करने से समग्र प्रकार के प्रमेह रोगों को ठीक करता है ।

वल्लषोडश गुदच सित दुग्धेन कारितम् ।
सर्वप्रमेहे सद्धस्ति रुचिना दिन सप्तकम् ॥

३२ रत्ती सफेद गोद को दूध के साथ ७ दिन तक सेवन कराने से सब प्रमेह ठीक हो जाती है ।

सूर्यक्षारं पलार्द्धं तु सितया सह भक्षणात् ।
उष्णवातं पित्तरोग मूत्रकृच्छ्रं प्रणाशयेत् ॥

सूर्यक्षार २॥ तोला को २-२ रत्ती की मात्रा में मिश्री मिला कर देने से उष्णवात, मूत्रकृच्छ्र, पित्त से हुए मूत्रदोषों की शान्ति हो जाती है ।

त्रिफला कर्कटी बीज सैंधवं समभागतो ।
चूर्णमुष्णाम्बुना पीत मूत्रकृच्छ्रं निवारयेत् ॥

त्रिफला, ककड़ी (खीरा) के बीज सेंधव नमक समभाग का चूर्ण बना कर गर्म जल के साथ पिलाने से मूत्रकृच्छ्र ठीक होता है ।

सशर्करा यवक्षारो गोतक्रेण प्रयोजयेत् ।
तस्योष्णवातं चाश्मर्या पीडां गच्छतिसत्वरम् ॥

मिश्री, यवक्षार छाछ के साथ पिलाने से उष्ण वात तथा अश्मरी की पीड़ा शांत हो जाती है।

नाग फेन विषं सणं बीज जातिफलैः समैः।
गोघृतेन च संमर्द्य लिंगलेपो विधीयते ॥

अफीम, वत्सनाभ, सणबीज, जायफल समान भाग लेकर गाय के घी में घोटकर इन्द्रिय पर लेप करने से—

तस्माद्भवति मर्त्यानां मृतकंदर्प वर्द्धनम्।
प्रोक्तोऽयं हस्तिना सद्यः चमत्कार करं परः ॥

इससे अर्थात् उपरोक्त लेप के प्रयोग से लिंगेन्द्रि मे आई शिथिलता दूर होती है तथा आश्चर्यजनक लाभ ध्वजभंग मे लाभ होता है ऐसा हस्तीरुचि ने बताया है।

वचा कुष्ठाश्वगंधातु गजाकृष्णासमांसकं।
नवनीतयुतं लेपो विशेषालिंगवृद्धिकृत् ॥

वच, कूठ, आसगंध, गजपीपर समान भाग का चूर्ण कर इन्द्रिय पर लेप लगाने से शिथिलता को तो दूर करता ही है पर इन्द्रिय के छोटेपन को दूर कर वृद्धि करता है।

वचाश्वगधा गजपिप्पलीनां चूर्णं महिष्याः नवनीतमेभिः।
विलेपनं तत्पुरुषस्यांलिगं स्यान्मत्तहस्ती खर लिंगतुल्यम् ॥

वच, आसगंध, गजपीपर के चूर्ण को भैंस के मक्खन में घोट कर इन्द्रिय पर लगाने से मतवाले हाथी या गर्दभ की इन्द्रिय के समान कठोर तथा स्थूल हो जाती है।

स्वर्णबीजस्य चूर्णं तु तैलेनोत्क्वाथ्य मर्दयेत्।
लिंगमुत्थापनं तस्मात्प्राणीनां प्रभवेत्परम् ॥

धत्तूरे के बीजों के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध किये हुए तैलों को इन्द्रिय पर लगाने से शिथिलता दूर होकर जागृति प्राप्त हो जाती है।

हंसपाकपलार्द्धं तु वृंता के तव प्रोच्यते।
वल्लमान प्रदानेन हीनकंदर्पवृद्धिकृत् ॥

आधी छटांक हीगलू की डली को बिन्ताक मे डाल कर लघुपुट से पका कर २-२ रत्ती मात्रा में मक्खन के साथ चटाने से ध्वजभंगता दूर होकर जागृति प्राप्त होती है तथा आई हुई स्त्रियों में अरुचि दूर होती है।

श्वेतरक्तकरवीर जटानिलात्वा दारुनिशा गजकणानवसादरेण।
आकल्लकंकार्कसम मर्द्यजलेनर्लिंग संलेपितं प्रकुरुते खलुवीर्यवृद्धिम् ॥

सफेद लाल कनेर की छाल को लाकर दारुहल्दी, गजपीपर, नवसादर आदि सम भाग का चूर्ण अकलकरे के अर्क के साथ घोट कर इन्द्रिय पर लेप करने से शिथिलता दूर हो जाती है।

नाग फेन युता जातीपत्री नागलतारसै।
मर्द्दयेद्यामयुग्मतु कारयेद्गुटिकोत्तमा॥
सुगधैः मिश्रिता देया दुग्धतदनुपाययेत्।
मैथुने दश नारीणा मान मुच्छेदये द्ध्रुवम्॥

अफीम, जावित्री को नागलता के रस के साथ दोपहर घोट कर और भी सुगन्धित पदार्थ जैसे कस्तूरी, कपूर, अम्बर मिला कर गोली बनाए तथा मैथुन के एक प्रहर पहिले दूध के अनुपान से दे तो वह व्यक्ति दश स्त्रियों के मान को खंडन कर संतृप्त कर देता है।

भृंगराज तिला कृष्णा प्रतिवास जलेन तु।
सप्तवासर कुर्वाणो न मूत्रं पतते बहू॥

जल भांगरा तथा काले तिल को सममात्रा मे लेकर चूर्ण करें तथा प्रातःकाल वासी जल के साथ सात दिन तक दें जिससे बहुमूत्र ठीक होता है।

ससिता मृतनाग तुयो भजेद्ध स्तिनामतम्।
तस्य सर्वेन्द्रियोत्पन्नं रोगजालंहरेद्ध्रुवम्॥

मिश्री के साथ नागभस्म का प्रयोग सेवन कराने से इन्द्रिय में उत्पन्न होने वाले सारे रोग-समूह में शान्ति प्राप्त होती है।

आम्रास्थि विश्वा गोशृंगकुरा चाम्ररसेन तु।
मर्दयेत्त्रिदिनं सम्यक्सितया सह भक्षणात्।
तस्य पित्तोद्भवा हन्ति ग्रहणी दुःखकारिणी।
ज्वरातिसार तीव्र च रक्तस्रावं स मूलतः॥

आम की गुठली की मज्जा, सोंठ, गाय के सीग पर पैदा हुए अंकुर आम के रस में घोट कर मिश्री के साथ तीन दिन तक सेवन कराने से पैत्तिक ग्रहणि ज्वर, अतिसार, रक्त पित्त को शान्ति होती है।

मरिच खर्परं नागाफीमतांबूल तण्डुलैः।
मर्द्य तांबूल तोयेन गुटी सर्वातिसारजित्॥

काली मिरच, खपरिया, अफीम पान के रस मे घोट कर १-१ रत्ती की गोली बनाएँ। १-१ गोली चावल के जल के साथ देने से सब अतिसार से शान्ति मिलती है।

जीरकं विजया बिल्व नागफेन समांशकैः।
दधिनीरेण साकार्या गुटी सर्वातिसारजित्॥

सफेद जीरा, भांग, बिल्वगिरि, अफीम समभाग मिलाकर दही के तोड़ के साथ घोट कर गोली बनाएँ। यह गुटिका १-१ रत्ती मात्रा में दही के साथ ही सेवन कराने से सब प्रकार के अतिसार में शान्ति प्राप्त होती है।

भल्लातकं तु प्रस्थार्द्धं जलप्रस्थद्वयेन च।
प्रस्थद्वय तु गोदुग्ध पाचयेद्वन्हिनाततः।
प्रस्थार्द्धं च घृतमुक्त्वा प्रस्थमानातुशर्करा।
तदौषधं पलार्द्धं तु हर्षायाति निषेवणात्॥

आधा सेर शुद्ध भल्लातक को दो सेर जल में औटाएँ, चतुर्थांश शेष रहने पर दो सेर दूध व आधा सेर घृत डाल कर पकाएँ। घृत पाक हो जाने पर छानकर एक सेर पिसी हुई मिश्री मिला कर आधी छटांक याने २॥ तोले की मात्रा मे प्रातःकाल सेवन कराएँ। इससे अग्निमांद्य व अर्श में शान्ति होती है। यदि कदाचित् भल्लातक घृत के सेवन भल्लातक विकार याने कण्डू दाह आदि हो जाय तो—

दारु सर्षपमुस्ताभिः नवनीतेन लेपयेत्।
भल्लातक विकारोऽपं सद्योगच्छति सत्वरम्॥

देवदारु, सरसों, नागरमोथे के समभाग चूर्ण को मक्खन में मिलाकर लेप करने से विष मे शान्ति होती है।

नवनीत तिला दुग्धैः पुनः षंड घृतेन च।
एतद्वय प्रलेपेन हन्तिभल्लातक व्यथा॥

मक्खन, तिल आदि के लेप से तथा दूध, घृत, मिश्री के आभ्यंतर प्रयोग से भिलावे के विष की शान्ति होती है।

सिता निंबूरसः पानाद् धात्रीपत्ररसैस्तथा।
शरीरमर्दनाद्याति भल्लातककृतव्यथा॥

मिश्री तथा नीबू की सिकंजी पिलाने से तथा आंवले के पत्तों के रस का लेप करने के भिलावे की पीड़ा शान्त हो जाती है।

लघुनिम्बस्य पत्राणां रसोहि पलमानतः।
पानात्क्रिमिभवं रोगं हर्षाहन्तिचनिश्चितम्॥

छोटे-छोटे नीम के पत्तों का रस घोंट कर निकाल कर एक छटांक की मात्रा में पिलाने से पेट के क्रिमित्र अर्श में शान्ति होती है।

देवदाली फलबीजं गोमूत्रेण तु पेषयेत्।
वारत्रयंकृतोलेपात् हर्षा पतति मूलतः॥

बंदाल डोडे का फल तथा बीज को गोमूत्र के साथ पीसकर अर्श पर लेप तीन बार लगाने से अर्श शान्त हो जाता है।

गुग्गुलुं लशुनं नीव बीजरामठनागरैः ।
गुटी शीतोदकेनैव अर्शक्रिमि विनाशकृत् ।।

गूगल, लशुन, नीवोली की मज्जा, हींग, सोंठ का चूर्ण कर जल के साथ गोली बनाएँ। ठंडे पानी के साथ १-१ गोली प्रातः सायं ४-४ रत्ती की मात्रा में देने से अर्श व क्रिमी रोग को शान्ति होती है।

लवंगाकल्कोकृष्णा दारु भीरुपुनर्नवा ।
शतपुष्पा वृद्धदारु पुष्करं विजयोषधैः ।।
अश्वगंधा समांशेन सर्वान्संचूर्ण्य मेलयेत् ।
भोजयेत्पलमानेन हंतितस्यमरुद्व्यथाम् ।।

लोंग, अकलकरा, पीपर, देवदारु, शतावरी, पुनर्नवा, सौंफ, बधायरा, पोहकरमूल, भांग, सोंठ, असगंध, समान हिस्से मे लेकर कपड़छाण चूर्ण कर १-१ तोले की मात्रा में खिलाने से नाना प्रकार की वायु की पीड़ाएँ शान्त हो जाती हैं।

नलवृद्धि - श्रोत्रवृद्धि - गुल्मोदर - गुदव्यथा ।
हर्षश्विक्रिमिजाः सर्वे रोगाः नश्यंति निश्चितम् ।।

अन्त्रवृद्धि, कर्णवृद्धि, गुल्म, उदर रोग, गुदरोग, अर्श क्रिमिरोग नष्ट होते हैं ।

सैंधव जीरकं द्वन्द्व रामठाद्विगुणं जलम् ।
तैलेनोत्क्वाथ्य तल्लेपात् श्रोत्रवृद्धिहरेत् ध्रुवम् ।।

सैंधव नमक, दोनों जीरे, हींग आदि २-२ तोले जल एकप्रस्थ तथा तैल एक पाव डाल कर औटाएँ। तैल मात्र शेष रहने पर लेप करने से कर्णवृद्धि ठीक होती है।

चूर्णं कृत्वाम्रपत्राणा खररक्तेनभावयेत् ।
तल्लेपविहितोयाति भगंदरमरुद्व्यथा ।।

आम के पत्तों का चूर्ण कर गधे के रक्त की भावना दें, इस लेप को लगाने से वातिक भगन्दर शान्त हो जाता है ।

प्रस्थ प्रमाणानिलशत्रुबीज सदुग्धप्रस्थाष्टक वन्हिदद्यात् ।
प्रस्थैक खंडेन पलानिपच घृतंहियोज्यं कलकोहिपश्चात् ।।
हरिद्रामृत शुल्वच मरिचं त्रिफलाभया ।
वंशलोचन लवंगंच चातुर्जातामृता तथा ।
भुक्त्वा दुग्धेनपातव्यं सजलेनपुनर्नवा ।
योग दुग्माद् हरेत्स्रोत्रवृद्धिसद् हस्तिना स्मृतम् ।।

एक सेर एरंड बीज को कूट कर ८ सेर दूध में डाल कर पकाएँ। जब खोवा बन जाय तब पांच छटांक घी डालकर पकाएँ। बाद में एक सेर मिश्री की चासणी बना कर डालें। वंशलोचन, लोंग, इलायची, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर के चूर्ण का कल्क १-१

तोला डालें। प्रातः सायं २।। तोले की मात्रा में इसे खिलाएँ तथा भोजन के बाद पुनर्नवा का जल दूध के साथ पिलाने से श्रोत्रवृद्धि ठीक हो जाती है।

चित्रकंच त्रिवृद्दंती त्रिफला त्रिकटुत्रयम्।
तुल्यांशैः चूर्णयेत्सूक्ष्मं द्विगुणंतु स्नुहीपयः।
पक्वं मृद्वग्निना :सम्यक् पंचगुंजाविरेचकृत्।
देयं सर्वोदरार्त्तौच वज्रभेदी मयो रसः॥

चित्रक, निशोत, त्रिफला, त्रिकटु सममात्रा में लेकर कपटछाण चूर्ण कर दो भाग थूहर का दूध मिलाकर मंदाग्नि पर पाक करके बोतल में भर कर रख लें। इसकी ५ रत्ती की मात्रा से उदर रोगों में देने पर अच्छा विरेचन होता है। इसका नाम वज्रभेदी रस है।

जयपालबीज चूर्णं तु स्नुहीक्षीरं घृतंसमम्।
मृद्वग्निना पचेत्पिड पंचगुंजा विरेककृत्॥

शु. जमाल गोटे का चूर्ण १ भाग, थूहर का दूध १ भाग, गाय का घी १ भाग किसी कड़ाही में डालकर मन्दाग्नि से पाक करें, जब चूर्ण रूप में हो जाय तो शीशी में डाल कर रख लेवें। ५ रत्ती की मात्रा में देने से अच्छा विरेचक है।

सर्वकुष्ठहरं स्यातं देयं कोष्णजलेन तु।
गुल्म ज्वर विनाशाय सद्हस्तिरुचिनास्मृतम्॥

उपरोक्त विरेचन सब प्रकार के कुष्ठ रोगों में, गुल्म रोगों में तथा पुराणे ज्वरों में देना चहिये।

पारदंगंधकं व्योष निशापथ्या सुटंकणम्।
तत्समो जयपालोऽथ तत्समेनगुडेनतु।
शीतोदकेन दातव्यो रक्ती चतुष्कमानतः।
विरेकी ज्वरहंतासौ गुल्मशोफोदरापहः।
मंदाग्नि शूलरोगेषु कफरोगे विशेषतः।
प्रोक्तोऽसौ हस्तीरुचिना इछाभेदीमयोरसः॥

शु. पारा, शु. गंधक, कटुत्रिक, हल्दी हरड़, सुहागा, फुलाया हुआ, शुद्ध जयपाल समान भाग लेकर ४-४ रत्ती की गोली बनाकर १ गोली ठंडे जल के साथ देने पर गुल्म, शोफ, उदररोग, अग्निमांध, कफजशूल आदि में इच्छानुकूल विरेचन कराता है।

गुजा भल्लातक वागं निवस्यफलमज्जभिः।
तक्रेण विहितो लेपः कुष्ठाष्टदश नाशकृत्॥

लाल चिरमी, भिलावा, शीशा, नीब की नींबोरी की गिरि छाछ के साथ मिलाकर लेप करने से अठारह प्रकार के कुष्ठ ठीक होते हैं।

क्षुद्राधातकी पुष्पाणि वन्हिनादह्य सत्वरम् ।
कटुतैलेन तल्लेयात् श्वेतकुष्ठ विनाशकृत् ॥

कटेरी तथा धाय के फूल को जलाकर उसकी भस्मी मे सरसों का तेल मिलाकर सफेद कुष्ठ पर लेप करें ।

कलिद्रुमत्वचा नागं नागरचूर्णोदकेनच ।
एतद्द्रव्य प्रलेपेन महत्कुष्ठंहरेद् ध्रुवम् ॥

कलिदारी की छाल, नागभस्म, सोंठ चूर्णोदक के साथ लेप करने से महा कुष्ठ ठीक होता है ।

लवणं भानुदुग्धेन सकृद्भावित कर्षकम् ।
गव्येन पयसा पीत वमिकृद्विष नाशम् ॥

अर्क दुग्ध मे भावना दिये हुए नमक को गौ-दूध के साथ पिलाने से वमन होकर विष शान्त होता है ।

तुंबी बीजमजाक्षीरै भावितैस्तेन पाययेत् ।
वमनात् श्लीपदग्रन्थि कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥

कड़वी तुम्बी के बीजों को बकरी के दूध से पिलाने से वमन से श्लीपद, ग्रन्थि, कुष्ठ, गुल्म उदर रोग शान्त होते हैं ।

सर्पाक्षी मूलतोयेन घृतेनविश्वभृंगराट् ।
वचारामठ तक्रेण नागकीनं विषं हरेत् ।

सर्पाक्षी श्वेतापराजिता के मूल का क्वाथ से साधित घृत में सोंठ, भांगरा, वच, हींग मिलाकर छाछ के अनुपान से देने से सर्प-विष शान्त होता है ।

कर्कोटीकार्कयोश्चूर्णं नागफेनंसनागरम् ।
सूर्यदुग्धेन गुटिका वृश्चिकादि विषापहा ॥

ककोड़ा, अर्कजड़, सोठ के चूर्ण में अफीम व अर्कदुग्ध मिलाकर गोली बना लें । विच्छू आदि के दंशज विष पर लेप लगाएँ ।

क्षारद्वयसमायुक्तं चूर्णं सौवर्चसोद्भवम् ।
निंबूरसैः कृतं हन्ति वरहल्लोद्भवरुजम् ॥

सज्जीक्षार, यवक्षार, काला नमक निंबू रस के साथ घोट कर वर्रे के डंक पर लगाने से शान्ति हो जाती है ।

गुडेन टंकणक्षारं सेव्यमानेनसत्वरम् ।
गुल्मोदर महत्ग्रन्थि सद्योहरति दुस्तराम् ॥

शु. सुहागे को गुड़ के साथ निरंतर सेवन करने से गुल्म, उदर रोग तथा बड़ी ग्रन्थि आदि का नाश होता है ।

हिंगुलु टंकणक्षारं मरिचं मृतरुप्यकः ।
पत्रतोयेन संचूर्ण्य मगमानमिता गुटी ।
कासे श्वासे कफेशीते सन्निपातज्वरे तथा ।
मंदाग्नौ गुल्मवाते च प्रशस्ता गुटीकोत्तमा ।।

शुद्ध हिंगुलू, शु. सुहागा, काली मिरच, चांदीभस्म, नागरवेल के पान के रस में घोटकर २-२ रत्ती की गोली बनाकर, खांसी, श्वास, कफवृद्धि, शीतांग, सन्निपात, अग्निमांद्य, गुल्म रोग, वातव्याधि में दें। यह गुटिका इन सब रोगों में लाभ करती है ।

वासा किरातकं तिक्ता त्रिफलामृत निम्बजैः ।
क्वाथो मधुयुतो हन्ति पाण्डुरोग च कामलाम् ।।

अड़ूसा, चिरायता, कुटकी त्रिफला, नीमगिलोय, नीम की अंतर्छाल इनका क्वाथ बना कर मधु का प्रक्षेप डालकर कामला पांडुरोग में पिलाएँ ।

तिक्ता किरातकं धान्य त्रिफलानागरैः समैः ।
क्वाथो मधुयुतोहन्ति जीर्णज्वरान्तकामला ।।

कुटकी, चिरायता, धनिया, त्रिफला, सोंठ समभाग लेकर क्वाथ बनाकर शहद मिला पिलाएँ ।

खरविट्दधिनीरेण सम्यक्समर्द्यपात्रके ।
महत्पित्तोद्भव रोगं कामलां च प्रणाशयेत् ।।

गधे की कारस लीद १ तोले को दही के तोड़ में घोटकर पिलाने से बड़े भारी पित्त से होनेवाली कामला को ३ दिन में ठीक कर देता है ।

हरिद्रा त्रिफला, विश्वा मृतलोह कटुत्रिकैः ।
समधुघृतयुक्तेनालेहः कामलांहरेत् ।।

हलदी, त्रिफला, सोंठ, लोहभस्म, त्रिकटु घृत तथा शहद के साथ चटाने से कामला नष्ट होती है ।

क्षारद्वयं मरिचरामठनागराह्वं वैदेही पंचलवणैर्विहितंच चूर्णम् ।
निंबूरसेन दिनविंशति संविमर्द्यदत्तासुहस्ति रुचिनोदररोगशांत्यं ।।

साजीखार, यवक्षार, काली मिरच, हींग, सोंठ, पांचों नमक समभाग का चूर्ण कर बीस दिन तक नींबू के रस में घोटकर चणे प्रमाण गोली बनाकर उदररोगों में दे ।

प्रस्थार्द्धं विश्वा द्विगुणंचदुग्धं प्रस्थप्रमाणाज्यगुडं चतद्वत् ।
विपाचयेत्तन्मृदुवन्हिना समं पश्चात्तदभ्यंतरकल्क दीयते ।

चातुर्जातं जातिपत्री वासावन्हिफल त्रयम् ।
देवपुष्पंगजकरणा भारंगी शृंगीकटुत्रयम् ।
श्राकल्लको लोहचूर्णं वंशलोचनकट्फलः ।
दारुविश्वाश्वगंधाच चूर्णमेषांकृत समं ।
पश्चाद्द्विपलमानं तु योभजेद्दिनसप्तकम् ।
तस्य स्वमौलिकर्णाक्षि रोगजालविनाशयेत् ।
सर्ववातान्हरेदाशु कफपित्तोद्भवानपि ।
हस्तिना कथितोसम्यक् विश्वपाकेतिनामतः ॥

श्राधा सेर सोंठ, दो सेर दूध, एक सेर घी, एक सेर गुड़, एक बर्तन में रख कर मन्दाग्नि पर पाक करें, उसमें कल्क की निम्न वस्तुएँ डालें—दालचीनी, इलायची, नेपात, नागकेशर, जावित्री, श्रडूसा, चित्रक, त्रिफला, लौंग, गजपीपर, भारंगी, काकड़ा सींगी, त्रिकटु, श्रकलकरा, लौह-भस्म, प्रालोचन, कायफल, देवदारु, सोंठ, श्रासगंध, इन सबको श्राधा-श्राधा तोले की मात्रा मे लेकर कल्क बनाकर डालें तथा पाक करें। इस घृत को १ छटांक की मात्रा मे प्रातःकाल सेवन कराएँ। इस प्रकार ७ दिन के प्रयोग से शिर, श्रांख, कान, नाक के रोग नष्ट होते हैं तथा उत्तमांग तथा मस्तिष्क पुष्ट होता है।

चन्दनं लवरण शुण्ठी घृष्ट्वा नीरेण लेपयेत् ।
मर्त्यं मौलिसमुत्पन्नां पीड़ा हरनिश्चितम् ॥

लाल चन्दन, नमक, सोठ को जल मे घिसकर ललाट पर लेप करने से मनुष्य के शिर में पैदा हुए दर्द में शान्ति होती है।

चूतकाष्ठकृतो लेपात् महाशीर्ष व्यथांहरत् ।
यथाशीतोदकारिष्ट घृष्ट्वा तस्य प्रदानतः ॥

श्राम की लकड़ी को जल में घिसकर तथा नीम की लकड़ी को ठंडे पानी मे घिस-कर लेप करने से शिरः-शूल मिट जता है।

भृंगराजरसो कुष्ठो नवनीते नपाचयेत् ।
त्रिदिनदीयते तस्य सूर्यवात विनाशयेत् ॥

जलभांगरा, कूठ, ३-३ माशा की मात्रा को मक्खन के साथ पचाकर तीन दिन तक चटाने से सूर्यावर्त ठीक हो जाता है।

श्राम्रास्थि धात्रीलेपोऽथ करणोपरणसिता जलैः ।
रसोनकार्क पत्राणा नस्यो मस्तकरोगहृत् ॥

श्राम्रफलमज्जा तथा श्रांवला, पीपर, काली मिरच, मिश्री को जल में पीस कर शिर पर लेप लगाएँ तथा लहमुन के पत्ते तथा पीले श्राक के पत्तों का रस निकाल कर समभाग में मिला कर नस्य देने से शिरो-रोग ठीक होता है।

कटुककर्कोट पत्राणां रसैं नस्यं प्रदापयेत्।
सद्यो वाग्यतीत्थं च कपालकीटकव्यथा ॥

कड़वे व जंगली ककोड़े के पत्तों का रस का नस्य देने से कपाल में होने वाली क्रिमि पीड़ा शान्त होती है।

निर्गुण्डिका लवणनागरदारुकृष्णा पामार्ग्रतर्षप दिवाकर वृक्षबीजैः।
शीतोदकेन गुटिका प्रविधाय लेपात् प्रोक्तास्तु हस्तिरुचिना शिररोगहन्त्री।

निर्गुण्डी, सैंधव नमक, सोंठ, देवदारु, पीपर, पवाड़िया, सरसों, आक के बीज, ठंडे जल के साथ पीस कर गोली बनालें तथा इस गोली का लेप ललाट पर करने से शिरोरोग शांत होता है।

शखचूर्णं मजादुग्धे तदर्द्धं तु मनःशिला।
छागीदुग्धेनतद्धीनं सैन्धवतु जले न च॥
सुन्दर्यास्तनदुग्धे न मरिचान्मर्दयेद्भिषक्।
शीतोदकेनगुटिका क्षिप्तासर्वाक्षिरोगजित्॥

शंख की नाभि ४ भाग, मन:शिला २ भाग, कालीमिरच १ भाग, सैंधव नमक आधा भाग। शंख की नाभि को बकरी के दूध में ७ दिन तक लगातार घोटें तथा मन.शिला को गाय के दूध मे १ सप्ताह घोटें, कालीमिरच स्त्री के स्तन-दूध में ७ दिन तक घोटें तथा सैंधे नमक को जल के साथ ७ दिन तक घोटे इन चारों को पृथक्-पृथक् उपरोक्त द्रवों में एक-एक सप्ताह अलग-अलग घोट कर इन सब को एकत्रित कर एक दिन जल में घोट कर गोली या वर्ति बनालें। इस वर्ति या गोली को शीतल जल के साथ घिस कर अंजन करें, प्रातः सायं अथवा साम्हर के सींग के साथ शीतल जल से या स्त्री के दूध में मिल सके तो घोट कर अंजन करने से नेत्रों के २७ प्रकार के रोग दूर होते हैं।

अघोवर्षशात यावन्मासमेक च अजयेत्।
छाया, पुष्पं चतिमिरं काचबिन्दुं तथैव च।
पडल पोथकीचैव नेत्ररोगान्विनाशयेत्।

यह उपरोक्त वर्तिका नाम मातंगी वर्ति है जिसका एक माह तक अंजन करने से सौ वर्ष के अंधे को भी दिखने लग जाता है तथा नेत्रों में आयी हुई छाया, फूला, तिमिर, काचबिंदु प्रबाल, पोथकी आदि नेत्र रोगों में पूर्ण लाभ होता है। यह प्रयोग स्वानुभूत है।

सैंधवं त्रिफला कृष्णा रोध्राजन समाशकैः।
निम्बूरसेनतत्कार्या गुटी सर्वाक्षिरोगहृत्॥

सैंधव नमक, त्रिफला, पीपर, लोध, काला सुरमा समभाग लेकर नींबू के रस मे घोंट कर आंख में अंजन करने से नेत्र रोगों को दूर करता है।

शिवामज्जा शिवाचूर्णं निशालवणरोध्रकैः।
शिवापत्ररसैः कार्यो लेपः सर्वाक्षिरोगजित्॥

हरड़ को गुठली की मीगी, हरड़ चूर्ण, हल्दी, नमक, लोध्र इनके समभाग चूर्ण को हरड़ के पत्तों के रस मे घोटकर आँख पर लगाने से नेत्र रोग दूर होता है।

चक्राह्वारजनीयुग्म् कृष्णाकुष्ठसमांशकैः।
निंबूरसेनतत्कार्या गुटीसर्वाक्षिरोगहृत्॥

चक्रमर्द, हलदी, दारुहल्दी, पीपर, कूठ समभाग लेकर नीबू के रस में घोटकर गोली बनावें तथा नेत्र मे लगाने से नेत्र रोगों मे लाभ करती है।

रसरागमिता कृष्णा जातिपुष्पाक्षिसद्गुणैः।
तिलपुष्पव्योमनागोपणषोडेशतुल्यकैः॥

गोदुग्धेन गुटी कार्या तोयेनतिमिरंहरेत्।
रात्र्यंधं छागीदुग्धेन मधुनाहंति पुष्पकम्॥

पीपर ६ भाग, चमेली के फूल २ भाग, तिल के फूल, अभ्रक, शीशा आदि १६-१६ शाण लेकर गाय के दूध मे गोली बनाएँ। इस गोली को आँख में अंजन करने से रात्र्यन्धा आदि को ठीक करती है।

नागफेन रसोधात्री धातकी तुत्थखर्परम्।
गुटी निंबू रसेनोक्ता हस्तिना नेत्ररोगहृत्॥

अफीम, आमले का रस, धाय के फूल, नीलाथोथा, खपरिया, नीबू के रस से घोट कर गोली बना कर अंजन करने से सारे नेत्रों में लाभ करती है।

क्षिप्त कर्णं हरेद्रोगं तैलं धत्तूरसम्भवम्।
यथारविभवं पत्रंतापितं तज्जलेनतु॥

धत्तूरे के पत्र स्वरस से साधित तैल या आक के पत्तों के रस से साधित तैल को खिचे हुए कान में प्रयोग करने से कान ठीक हो जाता है।

रसोनसार्कपत्रतु शिग्रुस्वर्णं रसेनतु।
तैलान्वितेन संमर्द्य कर्णशून्य मृतहरेत्॥

लहसुन के पत्ते, आक के पत्ते डालकर सहजने के रस से साधित तैल की मालिश करने से कान में तैल डालने से कान में आई हुई शून्यता ठीक करती है।

घृतमुत्क्वाथ्य नासयां नस्योदेयोपुनः पुनः।
तस्माघ्रासासमुत्पन्नं संहरेद्रोगसंचयम्॥

गाय के घी को अच्छा गर्म कर नाक मे नस्य देने से नाक में होने वाली बीमारिये शान्त होती है।

घृष्ट्वा माजूफलव्रीही वारिणा कृतलेपनात् ।
नृणां तारुण्यजा हन्ति कटकावदनोद्भवा ॥

माजूफल के छिलके को जव के साथ घोट कर मुंह पर लेप करने से जवानी में पैदा होने वाली पिडिकाएं ठीक हो जाती हैं।

घृष्ट्वा जलेन कम्पिल्लं तल्लेपात् हरते ध्रुवम् ।
नासूर हि यथाकृष्णतिलपिंड प्रबन्धनात् ॥

नासूर पर काले तिल को बांट कर लेप कर के कपीले को पानी में घिस कर लेप लगाने से ठीक होता है।

सैन्धव मरिचक्षौद्रं मातुलिंगरसान्वितम् ।
तालूस्थानेकृतोलेपन्मुखशोषविनश्यति ॥

सैंधा नमक, काली मिरच, शहद, बीजोरे के रस को घोट कर तालू पर लेप लगाने से मुखशोष ठीक होता है।

एलाधात्री रसोपेता गुटी कृत्वा मुखे स्थिता ।
प्रदत्ताहस्तिना सद्यः मुखशोषोपशान्तये ॥

आंवले के रस में इलायची का चूर्ण डाल कर गोली बनाएँ तथा इसे मुंह में रखकर चूसने से मुखशोष ठीक हो जाता है।

दाडिमत्वग्भवचूर्णं घृष्यमाणो नरस्य च ।
मुखपाक हरत्याशु यथा धन्वजलेनवा ॥

दाडिम छाल का चूर्ण करके मुंह में रगड़ने से या धमासे के जल का क्वाथकर कुल्ले करने से मुखपाक ठीक हो जाता है।

माजूफलस्य चूर्णेन घृष्यमाणो नरः सदा ।
तस्माद्वज्रसमादंता चपलापिभवन्तिहि ॥

माजूफल का चूर्ण करके दांतों पर मंजन करने से हिलते हुए दांत भी वज्र के समान मजबूत हो जाते हैं।

आम्रास्थिकुष्मांडरसेन नस्यो पुनर्नवादुग्धसितायुतेन ।
दूर्वारस सप्रमदापयोभिः योगत्रयरक्तरुजहरन्ति ॥

आम की गुठली कोले के रस में घिस कर नस्य दें, या पुनर्नवा दूध में घोट कर मिश्री मिला कर नस्य दें, या स्त्री के दूध के साथ दूर्वास्वरस का नस्य दें, ये तीनों योग रक्तपित्त शांत करते हैं।

इंगुदी मूलसंघृष्य मर्त्यमूत्रेण लेपयेत् ।
बालको हि यथायाति चक्राका भक्षणद्रवै ॥

इंगुदी की जड़ को नर मूत्र में घिसकर लेप करें तथा चन्ना का भक्षण कराने से स्नायुक ठीक होता है।

जवासामूलमादाय वना भक्षयेद्रवे।
नभवेद्वालकोतस्यसद्हस्तिरचिनोदितम् ॥

जवासा की जड़ लाकर रविवार के दिन खिलाने से वाला (स्नायुक) नहीं निकलता है।

मधूकसार पत्राणि वध्यते वालकोपरि।
तस्माद्वालकजापीडा नृणानश्यति तत्क्षणात् ॥

महुआ तथा खैरसार के पत्तों को बाले पर बांधने से स्नायुक पीड़ा नष्ट होकर आराम हो जाता है।

यथार्कक्षीरलेपेन हरयेद्वालकव्याम् ।
तथा स्नुहीक्षीरलेपात् हरेद्द्रव्यथामहत् ॥

आक के दूध लगाने से या थूहर के दूध लगाने से स्नायुक पीड़ा शान्त होती है। यह ढलते सूर्य अर्थात् सायंकाल लगाना चाहिये।

सगुडेन कपोतस्य कुक्कुटस्याथविट् सदा।
नाशोनित्यं प्रकुर्वाणो बालकोयातिसत्वरम् ॥

कबूतर या मुर्गे की बीट में गुड़ मिला कर वाले पर हमेशा लेप करने से बाला ठीक हो जाता है।

मुण्डी पंचांगचूर्णं तु गोमूत्रेण तुलेपयेत्।
तस्मात्स्वानविषयाति ग्रन्थापापप्रभुस्मृतः ॥

मुण्डी के पंचांग का चूर्ण कर गोमूत्र के साथ पीस कर लेप करने से श्वान-विष (कुत्ते के काटे हुए) की शांति होती है। जिस प्रकार प्रभु स्मरण करने से पाप-समूह का नाश हो जाता है।

करभास्थि ककुभाना चूर्णं गोधृत लेपनात्।
गूति हरति तीव्राच दारुणं चप्रदापयेत् ॥

थूही वाले जानवरों की करभास्थि को जला कर गाय के घी में लेप करने से गूति वृण-पीड़ा ठीक होती है।

त्वचामधुक सारश्च घृतेनोत्क्वाथ्य पानतः।
अमवातं हरे धन्व कषाय विहिते यथा ॥

दालचीनी, मुलहठीसत घी में गर्म कर धमासा के क्वाथ के अनुपान देने से अमवात दूर हो जाता है।

अर्श

आमेषु सगुडा शुंठीमजीर्णे गुडपिप्पलीम् ।
कृच्छ्रे जीरगुडां दद्याद् अर्शसु सगुडाभयाम् ।।

सोंठ को गुड़ के साथ आम में अजीर्ण में पीपर को गुड़ के साथ तथा मूत्रकृच्छ्र में जीरा व गुड़ और अर्श में हरड़ के साथ गुड़ दें ।

अर्श धूपन—

गेंडे के सींग का बूरा, हरताल पत्र, आवलासारगंधक तीनों अलग-अलग पीस कर एकत्र करना पुड़ी टंक २ धूम दिन ७ लेणा खड्डा करके, निर्धूम रखकर ऊपर घट्टीका पुड़िया रख कर बंठणा—दही मूलो निषेध ।

मंत्र—

अलीच भलीच कलीच कलीसा ।
अकून बकून शकून चकूना ।।

७ वार शौच-समय पढ़कर सिंचन करें ।

निर्वात सेवनात्स्वेदाल्लंघनादुष्ण वारिणा ।
पीतादामज्वरेष्वन्ते पश्चात्क्वाथः प्रयुज्यते ।।

आम ज्वर में सर्व प्रथम, निर्वात सेवन, स्वेदन, लंघन षडंग पानीय आदि उष्णवारि के पान कराने से आम पाचन हो जाने के बाद क्वाथ का प्रयोग कराएँ ।

ज्वर में पथ्य—

आढक्यान्वित शालिमुक्तमथवा मुद्गाक्तमाज्यं विना
शाकस्यांतर चालिवन्निशितकधात्री पटोलीतिच
पानीयं क्वथितोदकच मधुरतक्रं सनीर नवा
एतत्पथ्यमुवाच सज्वरजल श्रीवैद्यधन्वन्तरिः ।

तूअर को या मूग की दाल के साथ बिना घी के चावल खिलाएँ । परवल, आमला के साथ शालि के समान निशि तक आदि का शाक उकाल कर ठंडा किया जल, मधुरछाछ, जलादि ज्वर में पथ्य कहे हैं ।

अर्श में धूपन—

अर्कमूलं शमीपत्रं नृकेशाः सर्पकंचुकी ।
मार्जारचर्मसर्पिश्च धूपनमर्श नाशनम् ।।

आक की जड़, शमी (खेजड़ो) के पत्ते, पुरुष के बाल, सांप की कांचली, बिल्ली की खाल, घी इनका धूप बनाकर धूनी देवे ।

बीजपूरक नारिंग जंबीरलकुचो रस:
प्रस्थं शिग्रुरसंचैकं द्विप्रस्थमार्द्रकं रसम्
चिचाक्षारं धूमक्षारं रुचक सैंधवोद्भवम् ।
रामठं विजयाव्योष करभं चव्यचित्रकम् ।
सर्वमेकत्र संकृत्वा कूपिकाया विनिक्षिपेत् ।
सप्ताहान्भिरवस्ताये कोष्टागारे तथैव च ।
बीजपूरादिकोरिष्ट हन्तिशीघ्रं विसूचिकाम् ।
अग्निमांद्ये तथा गुल्मे प्लीहे शूले तथोदरे
अन्ये जठरजा रोगा भस्मी भवति नान्यथा ।।

बिजौरे का रस, नारंगीरस, नीबूरस, लीची का रस, सहंजने का रस एक २ सेर, अदरख का रस दो सेर, इमलीरवाट, धुम्रक्षार, विड्नमक, सैंधवनमक, हीग, विजया (हरड़ या भांग) सोठ, काली मिरच, पीपर, गजपीपर, चव्य, चित्रक आदि एक एक छटांक कूट कर वस्त्रपूत चूर्ण बनाकर डालकर एक बरणी में रख देवें तथा सात दिन धूप में रखें या कोष्टागार में रख देवें । इस प्रकार बना हुआ यह बीजपूरकारिष्ट विशूचिका को अग्निमाद्य गुल्म, प्लीहावृद्धि, उदरशूल और जितने भी उदर सम्बन्धी रोग हैं उन्हें नष्ट करने में समर्थ है ।

इन्द्रलुप्त चिकित्सा—

भल्लात रिंगणीमूलं तिला: कृष्णा: समत्रय: ।
वारिपिष्ट शिरोलेपात् इन्द्रलुप्तं निवारयेत् ।।

(अर्थ) इन्द्रलुप्त शिर का रोग है, इसमें शिर के बाल उड़ जाते हैं तथा छोटे-छोटे चकत्थे हो जाते हैं। इस अवस्था में—भिलावा, छोटी कटेरी की जड़, तिल काले, इन्हें समान मात्रा मे लेकर जल से पीस कर शिर पर लेप करने से इन्द्रलुप्त नष्ट हो जाता है ।

अजीर्णाधिकार

आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेष चतुर्थकम् ।
आमे च सद्य उद्गार: विदग्धे उदरव्यथा ।
विष्टब्धे चांगभंग: स्यात् रसशेषे विजृम्भका: ।

अजीर्ण ४ प्रकार की होती है। आम, विदग्ध, विष्टब्ध, रसशेष, आमाजीर्ण में जल्दी-जल्दी उद्गार होती है । विदग्धाजीर्ण में पेट में पीड़ा होती है। विष्टब्धाजीर्ण में शरीर टूटता है । रसशेषाजीर्ण में उबासियें बार-बार आती है ।

आमे चोष्णोदक पेयं विदग्धोदर स्वेदनम् ।
विष्टब्धेरेचनं चैव शयनं रसशेषके ।।

आमाजीर्ण में गर्म जल, विदग्धाजीर्ण में पेट पर स्वेदन करें, विष्टब्धाजीर्ण में विरेचन तथा रसशेषाजीर्ण में रोगी को सुलायें।

द्रव्यभेद से हुई अजीर्ण का दर्पनाशक—

उष्णोदकं घृताजीर्णे तैलाजीर्णे च कांजिकम्॥

घी से हुई अजीर्ण में गर्म जल पिलाएँ तथा तैल से हुई अजीर्ण में कांजिक पिलाएँ।

गोधूमे कर्कटी देया कदल्याम्रफले घृतम्।

गेहूँ से हुई अजीर्ण में ककड़ी तथा आम्र-फल से हुई अजीर्ण में केले को घी से दें।

नारिकेल फलेषु तंदुल मथ क्षीरं रसाले हितम्।
जंबीरोत्थ रसो घृते समुचितः सर्पिस्तु मोचाफले।
गोधूमेषु च कर्कटी हितकरी मांसात्यये कांजिकम्।
नारिंगे गुरुभक्षण प्रकथितं पिंडालके कोद्रवाः॥

नारियल के फल से अजीर्ण मे चावल, आम्र से हुई अजीर्ण में दूध, घृताजीर्ण में जंबीर रस, मोचफल अजीर्ण में घी, गेहू में ककड़ी, मांसात्यय मे कांजिक, नारंगी से हुई अजीर्ण में गुरु-भोजन की तथा पिंडालु से हुई अजीर्ण में कोदों धान्य दे।

पिष्टान्ने सलिलं प्रियालफलजे पथ्याहिता मापजे।
खंड क्षीरभवेत्तुतक्रमुचितम् कोष्णांबु कोलाम्रयोः।
मत्स्ये चूतफल त्वजीर्ण शमन मध्वंबुपानात्यये।
तैल पौष्करजे कटुप्रशमनं शेषांत्र बुध्या जयो॥

पिष्टान्न से हुई अजीर्ण मे जल, प्रियाल फल से हुई अजीर्ण में हरड़, उड़द से हुई अजीर्ण में शर्करा, दूध से हुई में छाछ, बैर, आम्र से हुई अजीर्ण में उष्ण जल, मत्स्य में आम्रफल, पानात्यय में शहद जल, पुष्कर मूल से हुई अजीर्ण में तैल दे।

फणसे कदलं कदले च घृतं घृतपक्वविधावपि जंभरसः।
तदुपद्रव शान्तिकरं लवणं लवणेपु च तन्दुल वारिभवम्॥

फणस मे केला, केले के बाद घी, घृतपक्व भोजन में नींबूरस, नींबूरस में नमक, नमक से हुई अजीर्ण मे चावल का पानी दें।

नारिकेल फल तालबीजयोः पावनंयदि हितंडुलान्वितः।
तैर्वदन्तिमुनयो हितडुलान् क्षीरवारि परिपाचयेदिति॥

नारिकेल फल तालफल की अजीर्ण में चावलों के जल को दें। चावल की अजीर्ण में दूध व जल दे।

दाडिमामलक तालतिंदुकी बीजपूर लवलीफलानिच ।
वाकुलेन च फलेनपाचयेत् पाकमेतिबकुलं स्वमूलनः ।।

अनार, आँवला, ताडफल, तिन्दुक, विजौरा, लवली फल, मौलसिरी के फल से पाचन कराएँ ।

मधूक सालूरफलादलानां परुपरवजूंरक पिच्छकानाम् ।
पाकायपेयं पिचुमंदबीज सिद्धार्थकाहन्ति च बीजपूरकम् ।।

महुआ, सालूरफल या पत्ते, फालसा, खजूर आदि पचने के लिए नीमबीज, सरसों, बीजोरे के रस में गुटिका कर के दें ।

मृणालखजूंरक हारहूरा कशेरु शृंगारक शर्कराणाम् ।
यथा विपाकाय च भद्रमुस्ता तथा रसोनेपु पयः प्रशस्तम् ।।

कमलनाल, खजूर, द्राक्षा, कशेरु, सिंघाड़ा, शर्करा आदि के पाक के लिए नागरमोथा, लहसुन आदि के पचने के लिए दूध उत्तम है ।

आम्रातकोदुंबर पिप्पलीना फलानि तद्वृक्षवटादिकानाम् ।
स्युःशर्मणे पर्युंषितोदकेन सौवर्चलेनाम्रफलप्रपाकः ।।

आंवड़ा, गूलर, पीपर, वट आदि की पिप्पली को पचाने के लिए बासी जल में काला नमक डालकर आम्रपाक दें ।

सौवीर फलमुष्णवारिहन्यात् प्राचीनामलकंचराजिकैका ।
खजूंरंचपरुषकं प्रियालंक्षीर तालफल पचेन्मरीचं ।।

सौवीर फलों से हुई अजीर्ण गर्म जल से, तथा आमले की अजीर्ण को राई तथा खजूर, फालसिया, प्रियाल, दूध, ताडफल आदि में काली मिरच दे ।

नागरं हरितबिल्वजांवला शर्करापचति तिंदुकीफलम् ।
जीरक जीरयतीह वाकुलं पाययेन्मधुरिकाम्लपिच्छकम् ।।

सोंठ, हरे बील की मज्जा को तिन्दुकी फल में शर्करा डाल कर देने से व मौलसिरी में जीरा देने से पचन हो जाता है ।

पनसकामलकीफलपक्तये भजतसर्जतरोरपि बीजकम् ।
सकलमधु दिताफलं प्रपति प्रशूतक कपि तिंदुकम् ।।

पनसक तथा आँवले के परिपाक के लिए शाल के बीज दें ।

आर्द्राम्रबीजं पनसय पक्तय रसालपक्तैश्वनराच मूलम् ।
अपूपपक्तयै सकलावनानि शाकैरिचदुवरवापृथुकल्प पक्तो ।।

कच्चे आम की गुठली, पनस के पाक के लिए तथा आम्राजीर्ण में दें ।

पालंतिका कैमुंक कारवल्ली वार्ताकुवंश्या कुरुमूलकानाम् ।
उपोदिका लावपटोलिकानां सिद्धार्थकोमेघरसस्य पक्त्यै ॥

पालक, करोंदा, करेला, बैंगण, मूली, चंदलिया, परवल आदि के पाक के लिए सरसों के तैल का प्रयोग करें।

पटोल वंशाकुर कारवल्ली फलानि निंबूनि बहूनि जग्ध्वा ।
क्षारोदकं ब्रह्मतरोर्निपीय भोक्तुंपुनः वांछतितावदेव ॥

परवल, बांस के अंकुर, करेले के फल, निंबू आदि के खाने के बाद पलाश क्षारोदक को पीने से उपरोक्त को फिर खाने की इच्छा हो जाती है।

वास्तूक सिद्धार्थ करांबु शाकं प्रयाति सद्यः खदिरेण पाकम् ।
यथागुड़ः सूरण नागरणी तदालुक तंदुलवारि हन्ति ॥

बथुआ, सरसों आदि जैसे खेरसे पकते हैं, वैसे सूरण व नारंग को गुड़ तथा आलू को चावल का पानी पचा देते हैं।

पत्राणि पुष्पानिफलानियानि मूलानि पूर्वं च मयोदितानि ।
शाकानि सर्वाण्युपयातिपाक क्षारेण तान्येव तिलोद्‌भवेन ॥

पत्र, पुष्प, फल, मूल, शाक आदि सारे तिल क्षार से पचन हो जाते हैं।

विसूचिका

अपामार्गस्य पत्राणि मरिचानि समानि च ।
अश्वस्य लालयापिष्ट्वाहृचंजनाद्धन्ति सूचिकाम् ॥

आंधे झाड़े के पत्ते व कालीमिरच की लाला से पीस कर अंजन करने से विशूचिका दोक हो जाती है।

गुडेन शुंठीमथवोपकुल्यां पथ्यां तृतीयामथदाडिमवा ।
आमेषु जीर्णेषुगुदामयेषु वर्चोविबन्धेषु च नित्यमद्यात् ॥

सोंठ, मिरच, हरड़, दाडिम, गुड़ के साथ प्रयोग करने से आमाजीर्ण, अर्श, कोष्ट-बद्धता आदि दूर हो जाते हैं।

क्रिमि-मच्छरादि में धूपन

श्रीवेष्टोशीर भल्लातं चंदनं राल संयुतम् ।
ककुभानि प्रसूतानि विडग हलिनी तथा ।
धूपोऽयं श्रेष्ट गन्धः स्यान्मशकानां विनाशनम् ।
शय्यासु मत्कुणान्हन्ति मूर्द्धं यूका व्यपोहति ॥

बेरजा, खस, भिलावा, चन्दन, राल, अर्जुन, वायविडंग इन सबके द्वारा बनाई हुई औषधियों का धूपन करने से मच्छर, खटमल, जूएँ, लिक्षा आदि नष्ट हो जाते ह‍ै।

हृद्रोग

गोधूमककुभचूर्णंपक्व मजाक्षीरगव्य सर्पिर्भ्याम् ।
मधु शर्करा समेतं शमयति हृद्रोगमुद्धता पुंसाम् ॥

गेहूँ का आटाऽ-व अर्जुनत्वक्चूर्ण ६ माशा को गाय के घृत व बकरी के दूध से बनाये हुये सीरे में शहद व शर्करा मिला कर लेने से भयानक हृद्रोग भी नष्ट हो जाता है।

आनाह (उदररोग)

अर्क क्षीरें पले द्वे च स्नुहीक्षीरपलानिषट् ।
पथ्या कपिल्लकं श्यामा श्यामाकं गिरिकर्णिका ।
नीलिनीनिवृतादन्ती शंखिनी चित्रक तथा,
एतेषां पलिकंर्भागैर्घृतप्रस्थ विपाचयेत् ।
अथास्य मलिनेकोष्टे बिन्दुपात्रं प्रदापयेत् ।
यावतोऽस्य पिवेद्बिन्दू तावद्वेगा विरिच्यते ।
कुष्ठ गुल्मसु वार्वति श्वयथूमभगंदरम् ।
शमयत्युदाराण्यष्टौ वृत्रभिन्द्राशनिर्यथा ।
एतद्बिन्दू घृतं नाम येनसवतो विरिच्यते ।
स्नुह्यर्कपयसापाके हेतुत्वादुपपत्तितः ।
चतुंगुण जलं देयं पाकार्थं बिन्दुसर्पिषः ।

(अर्थ) आक का दूध ऽ=, थूहर का दूध ऽ।= हरड़, कपीला, कालो निशोथ, अपराजिताकाश्री सम्याक, यवतिक्ता नील (भस्मागुश्री) इन सब औषधियों को एक-एक छटांक लेकर एक सेर घी चौगुना अर्थात् ऽ४ जल डाल कर पकाएँ। घृत सिद्ध होने पर इस घृत का क्रूरकोष्ट रोगियों मे प्रयोग करें। इस घृत की जितनी बूंदें दा जायेंगी उतने ही वेग हो जायेंगे। कुष्ठ, गुल्म, श्वयथु, भगंदर, आठो उदर रोग को यह बिन्दुघृत शान्त कर देता है जैसे कि इन्द्र के वज्र ने वृत्तासुर को शान्त किया। इस बिन्दुपाक मे जल का प्रमाण नहीं दिया है किन्तु स्नेहसिद्ध नियम के अनुसार ४ गुणा अर्थात् ऽ४ जल डालें।

दाहे—

विभीतकानां फलमज्जलेपः सर्वेपुदाहार्तिहरः प्रदिष्टः।

सब प्रकार के दाह में बहेड़े के फल की मज्जा का लेप करने से शान्ति प्राप्त होती है।

गलगंड

श्वेतापराजिता मूलं प्रातः पिष्ट्वा पिवेन्नरः ।
सर्पिपुनियताहाराः गलगण्ड प्रशांतये ॥

सफेद क़ोयल की जड़ को प्रातः पीसकर पीने से तथा स्निग्ध भोजन पान करने से गलगण्ड शान्त हो जाता है।

सर्षपारिष्ट पत्राणि शिग्रुबीजातसीयवान्,
मूलिकस्यचबीजानि तक्रेणाम्लेन लेपयेत् ।
गंडानि ग्रन्थयश्चैव गलमाला समुत्थिता,
प्रलेपात्तेन शाम्यन्तिविलयंयांति या चिरात् ।।

सरसों, नीम के पत्ते, सहंजने के बीज, अलसी, जव, मूली बीज, खट्टी छाछ में पीस कर लेप करने से कच्ची पकी गलगण्ड ग्रन्थियें ठीक हो जाती हैं ।

कटुतुंबीफलरसे कटुतैलं विपाचयेत् ।
चिरोत्थमपिनश्यंत्तु गलगण्डं विनाशयेत् ।।

कड़वी तुंबी के रस में सरसों का तेल सिद्ध कर नस्य देने से पुराना गलगण्ड भी शान्त हो जाता है ।

मक्षिका यो सकृत्पीत क्वाथो वरुणमूलजः ।
गंडमालाहरत्याशु चिरकालानुबन्धिनीम् ।।

वरुणा की मूल की जड़ का क्वाथ बना मक्षिका के साथ पिलाने से एक बार में चिरकालीन गंडमाला ठीक हो जाती है ।

पलमर्द्धपलं वापि पिष्ट्वा तडुलवारिणा ।
कांचनारित्वच पीत्वा मुच्यते गडमालया ।।

कचनार की छाल के चूर्ण को चावल के धोवन के साथ पीने से गंडमाला ठीक हो जाती है ।

अण्ड शोथ

फलत्रिकोद्भवं क्वाथं गोमूत्रेण युतं पिबेत् ।
वातश्लेष्मकृत हन्ति शोथं वृषण संभवम् ।।

त्रिफला के क्वाथ में गोमूत्र डाल कर पीने से वात कफ से उत्पन्न वृषण शोथ ठीक हो जाता है ।

लेप—

पुनर्नवादारुशुण्ठी सिद्धार्थं शिग्रुरेव च ।
पिष्ट्वा चैवारनालेन प्रलेपात्सर्वशोथ जित् ।।

पुनर्नवा, दारुहलदी, सोंठ, सरसों, सहंजना इन्हें कांजी के साथ पीस कर लेप करने से शोथ नष्ट हो जाता है ।

हस्तिदन्तं जले घृष्टं बिन्दुमात्रं प्रलेपनात् ।
अत्यत कठिनेचापि शोफे पाचन भेदनम् ।।

हाथी दांत को पानी में पीस कर टीकी लगा देने से अत्यन्त कठिन शोफ का भी पाचन व दारण हो जाता है ।

कण्डू कच्छू—

अवल्गुजं कासमर्दं चक्रमर्दस्य संयुतम्।
मणिमन्थेन तुल्याशं मस्तुकांजिकपेषितम्॥
कच्छूकण्डू जयत्युग्रं सिद्धः पृष्टप्रयोगराट्।
द्विदिने लेपमान तु कच्छू कुष्ट विनाशनम्॥

बावची, कसौदी, चक्रमर्द सेंधव नमक आदि सब समभाग लेकर दही के तोड़ व कांजी के साथ पीसकर कच्छूकण्डू पर लेप करने से दो दिन में ही ठीक हो जाता है।

एडगजं तिल सर्षप कुष्टं मागधिका रजनीद्वयमुस्तम्।
वर्षशत पचितामपिकण्डू नाशयतीह विर्चचिक दद्रू॥

पंवाड़िया, तिल, सरसो, कूठ, पीपर, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा का लेप करने से पुराणे से पुराणी कण्डू भी ठीक हो जाती है।

श्वेत कुष्ट—

गुंजा वन्हि वचाकुष्टं निंबपत्रं सकांजिकम्।
सुपिष्टं चूर्णमेतेषा प्रलेपः श्वेतकुष्टनुत्॥

गुंजा, चित्रक, वच, कूठ, नीम के पत्ते कांजिक के साथ लेप करने से सफेद कुष्ट नष्ट हो जाता है।

नाडीव्रण—

त्वगर्कदुग्धदावर्वी वर्ति कृत्वाप्रपूरयेत्।
एष सर्वशरीरस्थं नाडी हन्यात्प्रयोगराट्॥

दालचीणी, आक का दूध, दारुहल्दी की वत्ती बना कर नाड़ी में डालने से नाड़ीव्रण ठीक हो जाता है।

उदर्द—

सगुडं दीप्यकं यस्तु खादयेत्पथ्यभुग्नरः।
तस्य नश्यति सप्ताहादुदर्द सर्वदेहजित्॥

गुड़ के साथ अजवायन को लेते हुए पथ्यपालन करते रहने पर सब शरीर में होने वाला उदर्द रोग सात दिन में ठीक हो जाता है।

लेप—

सिद्धार्थ रजनीकल्के प्रपुन्नाट तिलैसह।
कटुतैलेन सम्मिश्रमेतदुद्वर्तनं परम्॥

सरसों, हलदी, पंवाड़, तिल इन्हें पीस कर सरसों का तैल मिलाकर पीठी करने से उदर्द शान्त हो जाता है।

आर्द्रकस्य रसो पेयः पुराण गुडसंयुतम्।
शीतपित्त सः पचति रक्त पित्त च नाशयेत्॥

अदरख का रस गुड़ मिला कर पीने से शीतपित्त, रक्तपित्त शान्त हो जाते हैं।

मूल सुषव्या हिंमवारिपिष्टं पानाद्धरेत् स्नायुकरोगमुग्रम्।
शांति नयेत्सव्रणमाशु पुंसा गंधर्व गंधेव घृतेन पीतम्॥

करेले की जड़ को ठंडे जल में पीस कर पीने से स्नायुक रोग में शान्ति प्राप्त हो जाती है, वैसे ही असगंध की जड़ को घी से पीने से स्नायु रोग में शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वटस्य पांडुपत्राणि मालती रक्तचदनम्।
कुष्ट कालीयकं लोध्रमेभिर्लेपः प्रयोजयेत्।
युवान पिडिकानां च व्यंगानां च विनाशनम्।
मुख पद्मनिभा कुर्या नीलिकादि विवर्जितम्॥

बड़ के पीले पत्ते, चमेली, लाल चन्दन, कूठ, कालीयक चंदन, लोध इनका लेप मुख पर करने से मुख पर होने वाली युवान पिडिका, व्यंग आदि ठीक होकर मुंह कमल के समान स्वच्छ हो जाता है।

वायु—

एकोपि सन्क्रियाभेदात् दशधाभिद्यते तनौ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानोदानौ धनजयः।
नागश्च कूर्म कृकरो देवदत्तो दशानिला॥

वायु गति या चल स्वभाव से एक है पर कर्मभेद से शरीर में उसके दश भेद होते हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, धनंजय, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त ये दश नाम हैं।

निःश्वासोच्छ्वासकासैश्च प्राणो जीवसमाश्रित।
मलमूत्राद्यधोयस्मात् अपानयति देहिनाम्।
अपानस्तेन कथितो कारणे नसमीरणः॥

'प्राणवायु' जीव में रहता हुआ उच्छ्वास प्रश्वास कास करता है। 'अपानवायु' मलमूत्रों को नीचे की ओर प्रवृत्त करता है।

रसरक्तादिगात्रेषु समानयति देहिनाम्।
स समानः स्मृतोवायुः वैद्यशास्त्रविशारदैः॥

रस रक्त आदि धातुओं को देह में समान करता है अतः इस प्रकार के कार्य करने वाले वायु को समानवायु कहते हैं।

वदनं नयनं गात्रं यः स्पंदपति देहिनाम् ।
स उदानस्मृतोवायुरुर्द्धमार्गे प्रवर्तते ॥

प्राणियों के मुख, ने, शरीर के ऊर्ध्वभाग में स्पंदन उत्पन्न करने वाले को उदान वायु कहते हैं ।

विकृति विदधत्यगे विद्वेष विषयेषुच ।
व्याधिप्रकोपनश्चाय वार्द्धक्ये व्यानमारुते ॥

शरीर मे विकार पैदा करने वाला, विषयों से द्वेष कर बुढ़ापे में रोगों को कुपित करने वाला व्यानवायु है ।

प्राणोहृदि गुदेऽपान: समानो नाभिमंडले ।
उदान: कंठदेशे च व्यान: सकल संधिपु ॥

प्राणवायु का स्थान हृदय, अपानवायु का स्थान गुद प्रदेश समान नाभिचक्र में, कंठ प्रदेश में उदान, समग्रसन्धियों में व्यानवायु निवास करते है ।

घोषे धनंजयोज्ञेय: क्रंदने कृकरस्तथा ।
जृभायां देवदत्त: स्यात् उद्गारो नागनामत: ॥

शब्द का घोष धनंजय वायु द्वारा, तथा क्रंदन (रोना) कृकर वायु से, देवदत्त से उबासी, उद्गार नाग से उत्पन्न होती है ।

उन्मीलने भवेत्कूर्मो दशैव मारुत: स्थिता: ।

कूर्म वायु द्वारा नेत्रों का उन्मेष निमेष होते हैं । इस प्रकार दश वायु शरीर में रहते शरीर को सुस्थित रखते हैं ।

इड़ाच पिंगलाख्याच सुपुम्ना हस्तिजिह्विका ।
अलावु पायस्ता पूपा गंधारी शंखिनी तथा ।
देहमध्यगताह्येता मुख्या स्यु: दशनाडय: ॥

शरीर में मुख्यत: दश नाड़ियां होती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं- इडा, पिंगला, आख्या, सुपुम्ना, हस्तिजिह्विका, अलावु, पायस्ता, पूषा, गंधारी, शंखिनी ।

धातुगत वात के लक्षण—

त्वग्वाते तु लोमहर्ष: धमन्यां श्वासएव च ।
मांसगे शोफ तोदचं. मेद: संस्थे च कम्पता ॥
भंगतास्थिगते वाते पतनं मज्जगे भवेत् ।
शुक्रे संधिपु शोफ: तस्मात्तं चापि लक्षयेत् ॥

विकृत वायु त्वचा में रहता हुआ रोमहर्ष, धमनी में रहता हुआ श्वास, मांस में रहता हुआ शोफ, तोंद, मेद में रहने पर कम्प, अस्थि में रहता हुआ अस्थिभग, मज्जा में

रहने पर पतनशीलता, शुक्रगत वायु से संधि शोंफ होते हैं। अतः वायु की स्थानसंश्रया ज्ञान प्राप्त करें।

त्वग्रक्त मांसमेदस्थो वायुः सिध्यति भेषजैः।
अन्ये कष्टेनसिद्धयन्ति अथवानैवसिध्यति॥

त्वचा, रक्त, मांस, मेदगत वायु औषधि चिकित्सा से ठीक हो जाता है। दूसरे स्थानों के वायु ठीक होते हैं या नहीं भी ठीक होते हैं।

परीक्ष्यहेत्वामय लक्षणानि चिकित्सितज्ञेन चिकित्सकेन।
निरामदेहस्यहितेषु यानि भवन्त्रियुक्ताप्यमृतो पमानि॥

चिकित्सा करने वाले वैद्य को चाहिये कि रोग के कारण, लक्षण, आमानुबन्ध आदि को समझ कर चिकित्सा में प्रवृत्त हो जिससे उपयोग में ली हुई औषधि अमृत के समान सिद्ध हो।

आलस्य तन्द्रा हृदयाविशुद्धि दोषाप्रवृत्तिर्घनता च मूत्रे।
गुरुदरत्वारुचिसुप्ततानि सामान्वितं व्याधिमुदाहरन्ति॥

आम रोगी पुरुष में आलस्य, जंभाई, दिल में भारीपन, वात, पित्त, कफ दोषों की या मलों की सम्यक् प्रेरणा न होना, मूत्र में गंदलापन, उदर गौरव, अरुचि जाड्यता आदि होने से आमव्याधि समझें।

वातप्रकोप के कारण—

संधारणाध्यशन जागरणाच्चतापैः, व्यायामयान कटुतिक्तकषायरुक्षैः।
चिन्ताव्यवायभयलंघनशोक शीतैः वायुः प्रकोपमुपयाति घनागमे च॥

वेगरोध, भोजन करते ही या दूसरे भुक्तसमय के बीच में बार-बार भोजन करना, रात्रि-जागरण, ताप, व्यायाम, सवारी आदि से कटु, तिक्त, कषाय रस वाले रूक्ष गुण वाले द्रव्यों के चिन्ता, मैथुन, भय, लंघन, शोक, शीत आदि से व वर्षाऋतु में वायु प्रकुपित होता है।

पित्तप्रकोप के कारण—

कट्वम्ल मध्यलवणाम्लविदाहितीक्ष्णैः क्रोधानलातपपरिश्रमशुष्कशाकैः।
क्षारात्यजीर्ण विषमाशनभोजनैश्च पित्तप्रकोपमुपयाति घनात्यये च॥

कटु, अम्ल, लवणाम्ल, विदाहि तीक्ष्ण, द्रव्यों से क्रोध, अग्नि-संताप, परिश्रम शुष्क-सागोसै, क्षार, अजीर्ण, विषमाशन आदि कारणों से कार्यरूप पित्तदोष का प्रकोप होता है शरद् ऋतु में।

कफप्रकोप के कारण—

स्वप्नाद्दिवा मधुरशीतल मत्स्यमांसैः गुर्वम्लपिच्छलतिलेक्षुपयोविकारैः।
स्निग्धाति तृप्ति लवणोदक पानतक्रैःश्लेष्माप्रकोपमुपयाति तथा वसंते ॥

दिन में सोने, मधुर, शीतल रस वाले मत्स्य मांसों से भारी अम्ल, अभिष्यन्दी, तिल, गुड़ शर्करा, स्निग्ध, अति संतर्पण, लवणोदक, तक्रपानादि से तथा वसंत ऋतु में कफ का प्रकोप होता है।

वातप्रकोप के कार्य—

हृत्पार्श्व संकोचनतोदशूला सामत्वमंगेष्वविचेष्ट भंगाः।
सुप्तत्वशीतत्वखरत्वशोफा कर्माणिवायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥

हृत्शूल, तोद, संकोच, पार्श्वशूल, तोद, संकोच, अंगों में आमलक्षण, चेष्टाओं में कमी, अंगो में सुप्तता, शीतता, खरता, शोफ आदि वायु के कर्म कहे गये हैं।

पित्तप्रकोप के कार्य—

परिश्रमस्वेद विदाह रोगा विगंध्यविक्लेद विपाक कोपा।
प्रलापमूर्च्छा भ्रमपीतताच पित्तस्यकर्माणि वदंति तज्ज्ञाः ॥

पित के कर्म—परिश्रम, स्वेदाधिक्य, विदग्धता, सामगन्धता, क्लेदता, प्रलाप, मूर्च्छा, भ्रम, पीत वर्णता, पित्त के कर्म कहे जाते हैं।

कफप्रकोप के कार्य—

श्वेतत्व शीतत्वगुरुत्व कंडू स्निग्धोपदेह स्तिमितत्वलेपाः।
उत्सेध संघात चिरक्रियाच कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥

वर्ण में सफेद, शीत गुरु गुण वाला, देह में लिपलिपापन, निश्चलता, उभार, चिरक्रियत्व आदि कफ के कार्य कहे हैं।

वातशामक—

स्निग्धोष्णस्थिर वृष्य बल्य लवण स्वाद्वम्ल तैलान्वितैः।
स्नानाभ्यजनवस्ति संवाहनोन्मर्दनैः
स्नेहस्वेद निरुहनस्यशयनैः स्वेदोपनाहादिकैः
पानाहारविहारभेषजमिदं वायुप्रशान्ति नयेत्।

स्निग्ध, उष्ण, स्थिर गुण वाले द्रव्य, वृष्य, बल्य शक्ति वाले द्रव्य, लवण, मधुर, अम्ल, रस वाले द्रव्य।

तैलादि स्निग्ध पदार्थ—

स्नान, अभ्यंग, वस्ति संवाहन, उन्मर्दन, स्नेह, स्वेद, निरुह, नस्य शयन, स्वेद, उपनाह, पान, वातप्रशान्ति करते हैं।

जिससे कि गर्भ वहाँ चिपक सके। भ्रूण के पोषण के लिए खटिक की अधिक आवश्यकता रहती है। इसलिये प्रकृति स्त्री शरीर के प्रजनन अंगों को खटिक की मात्रा अधिक पहुंचाती रहती है। मात्राधिक्य हुये खटिक को बाहर निकालने के लिये आर्तव स्राव होता है।

नियतं दिवसेऽतीते। संकुचत्यंबुजो यथा॥
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु। योनिः संवृयते तथा॥
ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंच विंशतिः॥
यद्याधत्ते पुमान् गर्भः। गर्भस्थः स विपद्यते॥
जातोवान चिरंजीवेद्। जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः॥
तस्मादत्यन्त बालायां। गर्भाधानं न कारयेत्॥
शुक्रार्तव समाश्लेषो। यदैव खलु जायते॥
जीवस्तदैव विशति। युक्तः शुक्रार्तवान्तरम्॥

सोलह वर्ष की अवस्था से छोटी अवस्था की स्त्री तथा २५ वर्ष से कम का पुरुष गर्भाधान करे तो वह गर्भ कुक्षि में ही विकार को प्राप्त होकर खण्डित हो जाता है। और यदि पूरा होकर बालक जन्म ले ले तो दीर्घायु नहीं होता और ही भी गया तो दुर्बल इंद्रिय वाला ही रहता है, इसलिए छोटी अवस्था वाली स्त्री में गर्भाधान नहीं करे। जिस समय शुक्र और 'रज' का संयोग होता है, उसी समय मिले हुए शुक्र'रज' में जीव प्रविष्ट हो जाता है।

आहाराचारचेष्टाभिः यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपितादृशः॥

जैसे २ आहार, विहार और चेष्टाओं से युक्त स्त्री पुरुष संगम करते हैं, वैसे ही वैसे गुण वाली सन्तान पैदा होती है।

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादंकुरो यथा॥

भ्रूण की क्रमशः उत्पत्ति (Development of the Foetus)

चार पदार्थों के संयोग से विधिपूर्वक गर्भ रहता है, जैसे निर्दोष ऋतुकाल व गर्भाशय, जल (रस) बीज, (निर्दोष शुक्र) इन चारों सामग्रियों के मिलने से जैसे अंकुर पैदा होता है। वैसे ही गर्भ निश्चित होता है। गर्भाधान के लिए एक ही शुक्र कीट की आवश्यकता होती है। असंख्य शुक्रकीटों में से सबसे प्रबल कीट ही डिम्ब से मिलता है, यह मिलन संयोग डिम्ब प्रणाली के सिरों में होता है, इनके मिलन को फलन कहते हैं।

फलन से भ्रूणकोष या गर्भकोष संज्ञा हो जाती है, इसके बाद दोनों कोषों की मींगी मिलकर एक हो जाती है और विषम विभाजन पद्धति से विभक्त होते रहते हैं।

दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस इस तरह बढ़ते रहते हैं। इस कोष-समूह को कलल कहते हैं।

अब कलल में खोखला स्थान पैदा होता है और उसमें तरल इकट्ठा होने लगता है। जिसके दबाव से बाहर के कोष भीतर के कोषों से अलग (पृथक) हो जाते हैं। इस अवस्था को बुद्बुद कहते हैं।

इसमें लगभग सात दिन लग जाते हैं। अब डिम्ब प्रणाली से भ्रूण-बुद्बुद गर्भाशय में प्रवेश करता है। बुद्बुद के भीतर के कोषों से गर्भ और बाहर के कोषों से झिल्ली बनती है।

अब बुद्बुद के भीतर दो खाली स्थान एक ऊपर और एक नीचे बनते हैं। जहाँ ये दोनों स्थान मिलते हैं भ्रूण वहाँ बनता है। ऊपर के पोले स्थान के बाहर की शैलों से बाह्य त्वचा तथा निचले पोले स्थानों की शैलों से अन्तरीय त्वचा तथा भ्रूणोत्पत्ति के स्थान पर उसके किनारे से मध्य त्वचा बनती है। इन तीनों त्वचाओं से नाड़ी संस्थान, पाचन-संस्थान तथा श्वसन संस्थान बनते हैं।

मध्यत्वचा के भाग शीघ्र ही दो हो जाते हैं। एक से भ्रूण बाह्यावरण दूसरे से दो स्तर बनते हैं जिनमें से एक स्तर के कोष जहाँ जहाँ स्पर्श करते हैं। वहाँ के कोषों को खाते जाते हैं। दूसरे भीतर के स्तर से भिन्न भिन्न कोष बनते हैं, साथ ही बुद्बुद के भीतर के पोले स्थान में गर्भोदक की मात्रा बढती जाती है, तथा अदर की ओर भ्रूण अतरावरण बनता है।

गर्भोदक की मात्रा Amniotic Fluid—गर्भ पूर्ण होने पर गर्भोदक की मात्रा १० से २५ छटांक तक होती है।

(१) गर्भोदक के कार्य—भ्रूण को आघात से बचाना।
(२) भ्रूण की उष्णता स्थिर रखना।
(३) प्रसव के समय गर्भाशय की ग्रीवा को तर करना।
(४) भ्रूण पर चारों ओर समान दबाव रखना।
(५) बालक के जन्म से पूर्व प्रसव मार्ग को धोना।

डिम्ब का गर्भाशय से चिपकना व अपरा बनाना

पीछे बताया गया है कि बुद्बुद के स्तर के कोष जिसे छूते हैं धीरे-धीरे खाते रहते हैं। इसलिए जब भ्रूण कोष समूह गर्भाशय में आता है तो वहाँ को कला से स्पर्श करने से

उनके कोष खाकर गड्ढा खोद लेते हैं। और उसमें चिपक जाता है। और उस पर कला छा जाती है।

गर्भ कला—गर्भ के बाद गर्भाशय कला में परिवर्तन हो जाता है।

(१) कला की ग्रंथियां अधिक लम्बी और मुड़ी हुई हो जाती हैं।

(२) कला के कोष जो पहले छोटे थे वे बड़े बड़े हो जाते हैं, वहाँ की केशिकायें रक्तपूर्ण होजाती हैं, कला पहिले इच थी वह १ इंच हो जाती है, इस तरह भ्रूण के कला में दब जाने से उसकी वृद्धि के साथ साथ कला भी क्रम से पतली हो जाती है।

अपरा या कमल Iacenta)

बुद्बुद के बाहर के कोषों से स्थिर चारों ओर बहुत से छोटे छोटे अंकुर पैदा होते हैं। जिनकी शाखा प्रशाखायें होती रहती हैं, इनमें रक्तवाहिनियां भी पैदा हो जाती हैं। जिनका सम्बन्ध नाल की रक्तवाहिनियों से होकर भ्रूण रक्त संचार होता रहता है।

ये अंकुर भ्रूण के चारों ओर एक जैसे होते हैं, परन्तु गर्भ कला के पतली होने पर धीरे धीरे सिकुड़ कर नष्ट होने लगते हैं। भ्रूण की निचली ओर जहां यह गर्भाशय से लगा रहता है, अंकुर अधिक बढ़ते रहते हैं, और वह स्थान अंकुरमय हो जाता है।

कमल को बनाने वाले अवयव

(१) अंकुरमय स्थान।

(२) भ्रूण के नीचे की गर्भ-कला।

(३) इन दोनों के बीच का पोला स्थान तीसरे माह तक सम्पूर्ण कमल बन जाता है। तब यह गर्भाशय से चौथाई स्थान घेरता है। इसके बाह्यावरण के अंकुर गर्भाशय की दीवार को पकड़े रहते हैं।

तथा ये उप स्नेहन के लिए पोषण पदार्थ लेते रहते हैं। गर्भ की पूर्णता पर कमल का व्यास ९ इंच होता है, और इसकी मोटाई बीच में $\frac{३}{४}$ इंच होती है, इसके केन्द्र के समीप नाल लगी रहती है, इसके दो पृष्ठ होते हैं।

(१) पहला भ्रूण और भ्रूण अन्तरावरण से घिरा हुआ।

(२) दूसरा गर्भाशय की ओर का १४ से २० टुकड़ों में विभक्त होता है। कमल का भार भ्रूण के भार से $\frac{१}{६}$ भाग होता है।

गर्भिणी (Pregnent)

सद्यो गृहीत गर्भा स्त्री स्वयं कुछ थकावट, ग्लानि, तृषा, जांघ में दर्द, योनि-स्फुरण, अनुभव करती है।

पहिले माह में यह अव्यक्त आकृति में उपांग, अंकुरों के रूप में, कफ समान बीज रूप अंगों के साथ कलल आकार में होता है। इस अवस्था में सात्म्य, मधुर, शीत द्रव प्राय आहार दे।

औषधि—मुलहठी, सागवान के बीज, दूधी, देवदारू साधित दूध दें।

द्वितीय माह में शीत, ऊष्मा तथा वायु द्वारा महाभूतों का संगठन कठोर पिण्ड, पेशी तथा अर्बुद की आकृति कलल की बनती है। आहार उसी तरह मधुर, शीत तथा द्रवप्राय दें।

औषधि—अश्मन्तक, तिल, ताम्रवल्ली तथा शतावरी दूध से साधित कर दे।

तीसरे माह मे एक साथ सब इन्द्रियां तथा सारे शरीर के अवयव, उपांग उत्पन्न होते हैं। ये अवयव निम्नानुसार हैं।

आकाश—शब्द, कर्ण हलकापन, सूक्ष्मता, विरेक, वृद्धि, कृष्ण, श्याम, गौर वर्ण।

वायु—स्पर्श, रूखापन, प्रेरण, धातुव्यूहन, चेष्टाएँ, त्वचा, विभजन।

अग्नि—रूप, दर्शन, प्रकाश, पचन, उष्णता, पचन, वर्ण्य।

जल—रस, रसना, शीतता, मृदुता, स्नेह, क्लेद, क्लेदन, गौर वर्ण।

पृथिवी—गन्ध, घ्राण, गुरुता, स्थिरता, मूर्ति, संगठन, कृष्ण वर्ण।

मातृज—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, बस्ति, मलाशय, आमाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, वहदन्त्र, वपा, वपावहन।

पितृज—नख, लोम, दन्त, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र।

आत्मज—सुख, दुःख, ज्ञान, मन, इन्द्रिय, प्राण, अपान, प्रेरण, धारण, आकृति, स्वरवर्णविशेष, इच्छाद्वेष, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, प्रयत्न।

सात्म्यज—आरोग्य, अनालस्य, निर्लोभ, इन्द्रियप्रसाद, स्वरवर्ण, बीजसम्पद्, प्रहर्ष।

रसज—शरीर बनना, शरीरवृद्धि, बल, तृप्ति, पुष्टि, उत्साह।

सत्वज—भक्ति, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, तन्द्रा, उत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, अनवस्थितत्व।

आहार—साठी चावल दूध के साथ दे।

औषधि—वृक्षादनी, दूधी, उत्पलसारिवा, अनन्तमूल, दूध के साथ दें।

चौथे माह मे हृदय बन जाता है, तथा गात्र में गौरव तथा स्थिरता सब प्रत्यंग स्पष्ट हो जाते हैं। इस समय गर्भ की इच्छाएँ माता द्वारा प्रकट होती हैं अतः इस अवस्था में स्त्री को दौहृदनी कहते हैं।

आहार—दूध, मक्खन, साठी चावल दही के साथ जांगल मांसरस दें।

औषधि—अनन्ता, अनन्तमूल, रास्ना, पद्मा मुलहठी का दूध सिद्ध कर दें।

पांचवें माह में गर्भ के मांस, रक्त, धातु बढ़ते हैं तथा मन व्यक्त होता है अतः चेतना आती है।

आहार—साठी चावल दूध से घी से।

औषधि—बड़ी कटेरी, गांभारी, क्षीरिशुंगा, दालचीनी, घी दूध के साथ दें।

छठे माह में भ्रूण बलवर्ण का बढ़ता है तथा गर्भिणी की बलवर्ण हानि होती है। तथा बुद्धि व्यक्त होती है। स्नायु, सिरा, रोम, नख, त्वचा बनते हैं।

आहार—मधुर, दूध, घी आदि दें।

औषधि—श्वदंष्ट्रा सिद्ध घृत, पृश्णिपर्णी, बला, सहंजना, गोखरु, मधुपर्णीसिद्ध, दूध दें।

सातवें माह में—सारे धातु बनते हैं तथा गर्भिणी के धातु निरन्तर कम होते हैं जिससे वह क्लान्त रहती है तथा किक्विस उत्पन्न होते हैं।

पथ्य—मक्खन, कोलजल मधुरद्रव्यों से लघुस्वादुभोजन जिसमें नमक व घृत मिला कर दें।

चन्दन, खस से ऊरु व स्तन पर लेप करें। कनेर के तैल का मर्दन करें। परवल, नीम, मजीठ मरवा के जल से सेचन करें। मधुरौषधि दूध व घृत दें। पृथक्पर्णीसिद्ध जल में घी मिला कर यवागू दें।

सिंघाड़ा, बिस, मुनक्का, कशेरु, मुलहठी, मिश्री-साधित दूध दें।

आठवें माह में गर्भ का माता से तथा माता से गर्भ से बार-बार ओज चलायमान रहता है। इसलिए गर्भिणी बार-बार क्लान्त व प्रसन्नचित्त होती रहती है।

अतः इस समय उत्पन्न हो तो गर्भ व्यापाद् होता है। अर्थात् ओजस्थायी न होने से या तो शिशु नहीं जीता या माता नहीं जीती।

इस समय दुग्ध साधित पेया, घृतयुक्त अन्वासन या सूखी मूली, बेर के कषाय में सौंफ तथा घी या तैल डाल कर निरुह दे।

कैथ, बड़ी कटेरी, बिल्व, परवल, छोटी कटेरी इनके मूल से दूध साधित कर पिलाएँ।

नवमें माह में—स्निग्धमांस रस, या बहुत घी डाली हुई यवागू दे।

योनि में नित्य तैल का पिचु रखें।

अनुवासन, पूर्वोक्त दे। स्नान के लिए निर्गुण्डी सिद्ध क्वाथ जल दें।

मुलहठी, अनन्ता, दूधी अनन्त मूल साधित दूध दें।

नवमें माह के एक दिन निकलने पर सूतिका काल है।

दसमें माह में सोंठ, दूधीसाधित दूध दें। या सोंठ, मुलहठी देवदारु दूध से दें।

कमल के कार्य—(१) रक्त की शुद्धि, (२) पोषण, (३) अनावश्यकीय अनिष्ट पदार्थों की रोकथाम, (४) शर्कराजन का संचय।

नाल (Umblicalcord)—यह छठे सप्ताह के अंत तक बन जाती है। नाल में निम्न अवयव होते हैं—(१) ल्हेसदार पदार्थ (२) नाभि रक्तवाहिनियां (३) भ्रूण के पोले स्थान का शेष भाग (४) अंकुर।

नाल की लम्बाई—नाल की लम्बाई गर्भपूर्णता पर ८ से २२ इंच के लगभग होती है। और मोटाई ½ (आधा) इंच। इसमे नाभिशिरा व धमनियां रहती है।

भ्रूण का वृद्धि क्रम—पहले माह के अंत में लम्बाई एक शतांश मीटर आंख, नाक, कान दिखते हैं। भार ३ से ५ माशे तक दूसरे माह के अंत में लम्बाई चार शतांश मीटर १॥ इंच के लगभग भार ८ से २० माशे तक चारों ओर भ्रूण बाह्यावरण के अंकुर तथा बाह्य जननेन्द्रियां दिखती हैं और हनु अक्षक में अस्थि विकास केन्द्र पैदा हो जाते हैं।

तीसरे माह के अंत में लम्बाई २-३ इंच भार २॥ छटांक शिर बहुत बड़ा होता है। पलक और होठ जुड़े हुए रहते है। कमल पूर्ण बन जाता है। नाल में बल पड़ने लगता है। हाथ पैर की अंगुलियां बन जाती हैं।

चौथे माह के अंत में लम्बाई ४-६ इंच तक। नर या मादा भेद हो जाता है। शिर पर बाल पैदा होने लगते हैं। हाथों और पांवों में कुछ गति होने लगती है। और नाखून बनने लगते हैं।

पाँचवे माह के अन्त मे लम्बाई १० इंच के लगभग भार आधा सेर सब शरीर पर बाह्य बाल उत्पन्न होते हैं। त्वचा का रंग लाल व झुर्रियां युक्त व वसा रहित शुष्क, शिर बड़ा रहता है।

छठे माह के अन्त में लम्बाई १२ इच भार १ किलो के लगभग भ्रू पक्ष्म बनने लगे हैं। सातवें मास के अन्त में लम्बाई १४ इंच भार १½ किलो के लगभग त्वचा के नीचे वसा जमने लगती है। पलक एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। ऐसे बच्चे पैदा होने पर विशेष सावधानो से जीवित रहने सम्भव हैं। परन्तु बहुधा मर जाते हैं। आठवें माह के अन्त में १६-१७ इंच भार २ किलो के लगभग त्वचा में झुर्रियां नहीं रहती हैं। रोम भी

लुप्त होने लगते हैं। इस माह में पैदा होने पर होशियारी से पालने पर जीवित रह सकता है। यह ओज परिवर्तनकाल है।

नवें माह के अन्त में लम्बाई १८ इंच तक भार २$\frac{१}{२}$ किलो के लगभग दसवें महीने के अन्त में लम्बाई २० इच भार ३ से ३$\frac{१}{२}$ किलो तक, शरीर पूरा बन गया है। हाथ की अंगुलियों के नख पोरवों तक रहते है। टटरी के बाल एक इंच लम्बे होते है।

भ्रूण रक्त संचार—

गर्भावस्था का रक्त संचार जन्म लेने से भिन्न होता है क्योंकि इस अवस्था में फुफ्फुस काम नहीं करते। रक्त शुद्धि कमल द्वारा होती है। नाल का एक सिरा भ्रूणनाभि से दूसरा कमल से लगा रहता है। उसमें तीन रक्तवाहिनियाँ जिनमें दो धमनियां व एक शिरा होती है। जिन्हें नाभि धमनियां (नाभि सिरा) कहते हैं। नाभिसिरा द्वारा शुद्ध रक्त भ्रूण के शरीर में जाता है।

महाधमनो की अन्तिम शाखाओं में से हर एक की दो बड़ी शाखायें हो जाती हैं। एक शाखा वस्ति गह्वर वाली धमनियों से दो शाखायें निकलती हैं। ये ही नाभि धमनियाँ हैं। नाभिसिरा कमल से आरम्भ होकर उदर मे यकृत् के अधोभाग में पहुच शाखाओं मे विभक्त हो जाती है। एक शाखा संयुक्तासिरा द्वारा यकृत में जाती है। दूसरी सीधो यकृत मे अधोगा महासिरा में (नाभिसिरा से शुद्ध रक्त तथा यकृत से व अधोशाखाओं से अशुद्ध रक्त यह मिला हुआ रक्त दाहिने ग्राहक कोष्ठ में जाता है। इस समय दोनों ग्राहक कोष्ठों के बीच में छेद होता है।

अधोगा महासिरा का रक्त ऊर्ध्वगा महासिरा के रक्त से बिना मिले इस बीच के छिद्र द्वारा बांयें ग्राहक कोष्ठ में चला जाता है और वहाँ से बांयें क्षेपक कोष्ठ में और बांयें क्षेपक कोष्ठ से महाधमनी में होकर भ्रूण शरीर में पहुंचता है। ऊर्ध्वगा महासिरा का रक्त दाहिने ग्राहक कोष्ठ से दाहिने क्षेपक कोष्ठ मे और वहाँ से फुपफुसीया धमनी द्वारा धमनी संयोजक के माध्यम से महाधमनी की मेहराब में जा मिलता है और भ्रूण शरीर का पोषण करता है। और फिर महाधमनो की वस्ति गह्वर की शाखाओं द्वारा कमल में पहुँचकर शुद्ध और पोषण पदार्थ प्राप्त कर चक्र लगाता रहता है।

(१) यकृत में सबसे शुद्ध रक्त पहुँचता है। युवा पुरुष में यकृत का भार शरीरभार से यौवन में $\frac{१}{४०}$ अंश जब कि शिशु मे $\frac{१}{१६}$ अंश होता है।

(२) शिर और उर्ध्वशाखाओं को यकृत से कम शुद्ध परन्तु शरीर की अपेक्षा शुद्ध रक्त मिलता है।

(३) उदर और अधोशाखाओं को सबसे कम शुद्ध रक्त प्राप्त होता है।

भ्रूण व मनुष्य के रक्त संचार मे भेद :—

(१) दोनों ग्राहक कोष्ठों के बीच मे रहने वाला पर्दा अपूर्ण रहता है। इसमें के छिद्र से ये दोनों ग्राहक कोष्ठ एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं।

(२) फुफ्फुसीया धमनी का महा धमनी से सम्बन्ध होता है। इन दोनों को मिलाने वाली धमनी को धमनी संयोजक कहते हैं।

(३) भ्रूण के शरीर मे दो नाभि धमनियां व एक नाभि सिरा है। नाभि सिरा का संयुक्ता सिरा और अधोगा महासिरा से सम्बन्ध है।

गर्भाशय के परिमाण में परिवर्तन

भ्रूण वृद्धि के साथ साथ गर्भाशय भी बड़ा होता है। प्रारम्भिक तीन माहों में उसका परिमाण वस्ति गह्वर से ऊपर नही जाता। तीसरे माह के अन्त में गर्भाशय का ऊपर का सिरा भगसन्धि से ऊपर उठने लगता है। और उदर की दीवार में स्पर्श किया जा सकता है।

चौथे माह में गर्भाशय का ऊर्ध्वांश भगसन्धि और नाभि के बीच पहुंच जाता है। पाँचवे माह मे नाभि से १॥ इंच नीचे रहता है। छठे माह में उर्ध्वांश नाभि तक पहुच जाता है। सातवे माह में उर्ध्वांश नाभि से तीन अंगुल ऊपर रहता है।

आठवे माह मे नाभि और वक्षोऽस्थि के नीचे के सिरे के बीच में उर्ध्वांश रहता है। नवे माह में वक्षोऽस्थि के नीचे के सिरे तक पहुच जाता है। दसवे माह में गर्भाशय कुछ नीचे सिरक जाता है और आठवे महीने के स्थान पर स्थिर रहता है।

दसवे माह मे गर्भाशय की लम्बाई १० इंच होती है और भ्रूण की लम्बाई २० इच होती है। भ्रूण की स्थिति ऐसी होती है कि वह कम से कम स्थान घेर सके। भ्रूण का शिर आगे को वक्ष पर झुका रहता है। रीढ़ आगे को मुड़ी रहती है। दोनों भुजा वक्ष पर एक दूसरे के ऊपर मुट्ठियां बन्द रहती हैं अर्थात् गर्भ संकुचित अवस्था में अंडाकार आकृति में रहता है।

भ्रूण की गर्भाशय में स्थिति—

जब भ्रूण छोटा होता है तब भ्रूण का शिर ऊपर व धड़ नीचे रहता है। किन्तु पिछले महिनों मे शिर नीचे हो जाता है। यह स्थिति ९६ प्रतिशत भ्रूण में होती है।

आभुग्नोऽभि मुख: शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
सयोनिं शिरसा याति स्वभावात्प्रसव प्रति।

उदय (Presentation) प्रसव के समय गर्भ जिस भाग से जन्म लेता है इसे उदय

कहा जाता है। यह चार प्रकार से है। १ शीर्षोदय, २ मुखोदय, ३ स्फिग् उदय, ४ पार्श्वोदय। इनमें शीर्षोदय अच्छा, दूसरे प्रकार के कष्टदायक होते हैं।

प्रसव—गर्भ का माता के शरीर से बाहर निकल कर आना प्रसव कहलाता है। इस क्रिया मे बहुधा कुछ न कुछ पीड़ा जननी को हुआ करती है। विशेष पीड़ा प्रायः भ्रूण कपाल तथा वास्ति गुहा मार्ग के परस्पर अनुकूल न होने के कारण होती है। प्रायः भ्रूण कपाल के व्यास निम्न प्रकार से रहते हैं :

(१) शिर पश्चाद् व्यास—ब्रह्म रन्ध्र से पश्चिम कपालार्बुद तक ३$\frac{३}{४}$ इच।

(२) ललाट ग्रीवा पश्चिम मध्य भाग

जैसे ललाटास्थि से पश्चिम कपालार्बुद के थोड़ा नीचे तक ४ इंच।

(३) नासा मूल पश्चिम कपालार्बुद मध्य ४$\frac{१}{२}$ इंच।

(४) अधोहनु से अधिपति रंध्र तक ५$\frac{१}{४}$ इंच।

(५) ब्रह्म रंध्र से ग्रीवा मध्य तक ३$\frac{३}{४}$ इंच।

(६) पार्श्विकास्थि मध्य का ३$\frac{१}{४}$ इच।

(७) शंखास्थि मध्य का व्यास ३' इच।

बस्ति गुहा परिमाण—बस्ति गुहा के दो भाग होते हैं—

(१) ऊर्ध्व भाग (२) अधो भाग।

ऊर्ध्व भाग के परिमाण—(१) कूट मध्य व्यास ९$\frac{१}{२}$ इंच तक।

(२) शिखर मध्य व्यास १०$\frac{१}{२}$ इच से ११ इंच तक।

(३) उरु-अर्बुद मध्य व्यास १२ इंच तक।

अधो भाग का व्यास—ये व्यास प्रवेशद्वार बस्ति गह्वर तथा निर्गम द्वार के पृथक् पृथक् नापे जाते हैं।

क (१) प्रवेश द्वार के अग्र पश्चिम—भग सन्धि शिखर से त्रिकार्बुद तक ४ इंच।

ख तिर्यक् व्यास तिरछा—नितम्बास्थि के अन्दर की गांठ से अनामिका त्रिकसन्धि तक ४$\frac{१}{२}$ इंच।

ग वाम दक्षिण व्यास ५ इंच, वस्ति गह्वर के व्यास ४$\frac{१}{२}$ इंच होता है।

निर्गम द्वार के व्यास—

क अग्र पश्चिम व्यास—अनुत्रिकास्थि से निचले सिरे तक ४ इंच परन्तु प्रसव के समय अनुत्रिकास्थि के पीछे की ओर मुड़ जाने से ५ इंच हो जाता है।

ख तिर्यक व्यास ४½ इंच, (ग) वांम दक्षिण व्यास—कर्कुंदरास्थि की गांठों के बीच का व्यास ४ इंच।

शीर्षोदय के चार आसन

(१) वाम सम्मुख पश्चाद् अस्थि आसन।

(२) दक्षिण सम्मुख पश्चाद् अस्थि आसन।

(३) दक्षिण पश्चिम पश्चाद् अस्थि आसन।

(४) वाम पश्चिम पश्चाद् आसन।

उदर परीक्षा—

यह परीक्षा तीन प्रकार से की जाती है:

(१) दर्शन (२) स्पर्शन (३) श्रवण।

दर्शन—से ज्ञात करें कि गर्भाशय की ऊंचाई व चौड़ाई किस प्रकार है।

स्पर्शन—उदर पर थोड़े थोड़े समय पीछे अंगुलियों के सिरों को सहसा गड़ा कर भ्रूण का अंगों का अनुभव करें। इसके चार प्रकार हैं।

(१) गर्भाशय मुण्ड पर (२) दो नाभि की समता में

(३) गर्भाशय के निचले भाग (४) शिर की ओर है।

श्रवण परीक्षा—

नाभि के बांई ओर नितम्बास्थि के पुसेर्ध्व कूट के मध्य में स्पन्दन सुनाई देता है। नाभि के दाहिनी ओर मुखोदय में, वक्ष की ओर, स्फिगुदय में नाभि में ऊपर, पार्श्वोदय में नाभि के समान्तर, स्पन्दन सुनाई देता है।

उदर परीक्षा की तैयारी—

गर्भिणी को सीधा पीठ के वल लेटायें। कंधों के नीचे तकिया रखें। और पैरों को सिकोड़ दें तथा उसके वक्ष पर कुछ कपड़े रख दें। जिससे कि वह आपकी परीक्षा को न जान सके।

योनि परीक्षा—

इससे रोगोत्पादक क्रिमियों के प्रवेश का भय रहता है। अतः इसे प्रयोग में न लायें। किन्तु मूढ़ गर्भ को स्थिति में जब कि इसका प्रयोग आवश्यक हो तो पूर्ण सावधानी के साथ हाथों व नाखूनों को गर्म पानी तथा साबुन से साफ करें। फिर तीन मिनिट तक मरकरी पर क्लोराईड का विलयन (एक हजार) तथा स्प्रीट चार के घोल में हाथों को डुबाये रखें या रवड़ का दस्ताना पहन कर परीक्षा करें।

(१) गर्भाशय मुख कितना खुला है, अंगुली से जाँच करें।

(२) उदय किस प्रकार है, त्रिक के अर्बुद को छुएँ, यदि छूने में आता है तो वस्ति संकुचित है।

(३) भ्रूण आवरण किस प्रकार का आ रहा है। वस्ति गुहा में कोई अर्बुद तो नहीं या शोथ तो नहीं है।

गर्भ (Fertilised Ovum)

शुक्र शोणित जीव संयोगे। तु खलु गर्भ संज्ञा भवति ॥

सद्यो गृहीत गर्भा के लक्षण

निष्ठीविका गौरव मंगसाद। स्तन्द्रा प्रहर्षौ हृदय व्याथ च ॥
तृप्तिश्च वीजग्रहणं च योन्यां। गर्भस्थ सद्योऽनु गतस्य लिंगाम् ॥

गर्भावस्था के पिछले आगे भाग का निर्णय करना अत्यन्त सुगम है परन्तु प्रारम्भिक महिनों में निर्णय दे देना बड़ा कठिन है। फिर भी गर्भवती के निम्न सामान्य लक्षण हैं।

क्षामता गरिमा कुक्षेः। मूर्च्छा छर्दिररोचकाः।
जृम्भा प्रसेकः सदनं। रोम राज्युद्गमस्तथा।
अम्लेष्टता स्तनौ पीनौ। सस्तन्यौ कृष्ण चूचुकौ।
आकाम तश्छर्दं यति। गंधा दुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि। गर्भिण्या लिंग मुच्यते।

पहिले महिने के बाद ऋतु का न आना सन्देह पैदा करता है। साथ ही निर्बलता, स्तनों में वेदना, बहुमूत्रता तथा आनाह रहता है।

दूसरे माह के अन्त में हेगर परीक्षण से गर्भस्थिति निश्चित की जा सकती है। इसमें भी छीर्द बहुमूत्रता, स्तनकुष्टि, स्तनों की शिराओं का दिखना, स्तनमण्डल अधिक श्याम व विस्तृत होना और चूचुक भी श्याम और उठे हुए होत हैं।

गर्भावस्था के प्रारम्भिक तीन माहों में गर्भाशय वस्ति गुहा में कुछ नीचे को हो जाता है। इसलिये गर्भाशय की ग्रीवा को सुगमता से स्पर्श किया जाता है। इसके बाद गर्भाशय के ऊपर उठ जाने से उसकी ग्रीवा भी ऊपर हो जाती है तथा स्पर्श मे अधिक मृदु रहती है।

तृतीय माह के अन्त में स्तन मण्डल पर छोटे छोटे उभार दिखने लगते हैं। इन तीन माहों में गर्भाशय विटप सन्धि के नोचे रहता है। इसलिए गर्भिणी को सीधा लेटाने पर पेड प्रदेश चपटा प्रतीत होता हैं। तथा मूत्र प्रणालो मोटी व टेढ़ी रहती हैं।

चौथे माह के प्रारम्भ में गर्भाशय ग्रीवा विटप सन्धि से ऊपर उठने लगता है। इसके साथ ही ग्रीवा भी ऊपर उठ जाती है।

पाँचवें माह में गर्भाशय नाभि व विटप सन्धि के मध्य में टटोला जा सकता है। और भ्रूण हृदय का शब्द सुना जा सकता है। भ्रूण हृदय १२० से १४० बार प्रति मिनट स्पन्दन करता है। १०० से नीचे तथा १६० से ऊपर होने पर विकृति समझनी चाहिए।

छठे माह के अन्त में गर्भाशय नाभि तक जाता है। और सातवें माह के अन्त में नाभि से तीन अंगुल ऊपर, आठवें माह के अन्त में नाभि तथा वक्षोस्थि निचले सिरे के मध्य में और नवमे माह मे वक्षोस्थि के निचले सिरे तक।

दसवें माह के अन्त में गर्भाशय नीचे तथा आगे को गिर जाता है। इसलिए मूत्राशय पर दबाव पड़ने से बार बार मूत्र आता है।

गर्भ-रेखायें—किक्किष

गर्भाशय वृद्धि के साथ-साथ उदर की दीवार फैल जाती है। जिससे उदर की अन्तस त्वचा फट जाती है। अतः पुनः सिकुड़ने से रेखायें रह जाती हैं।

मानसिक परिवर्तन—गर्भावस्था में वात संस्थान उत्तेजित रहता है। इससे लालास्राव अभक्ष्य बुभुक्षा और चिड़चिड़ापन रहता है।

शंकागर्भ—कई बार गर्भ के न रहने पर भी छर्दि, आर्तव न होना, स्तनपीनता, उदरवृद्धि आदि से गर्भ सन्देह होता है। परन्तु विविध परीक्षा से निश्चित होने पर ही गर्भ निर्णय होता है।

मृत गर्भ—गर्भाशय वृद्धि बन्द हो जाना स्तनपुष्टि से फिर छोटे होना, यदि पांच माह हो गए हों तो (हृदय) स्पन्दन का सुनाई देना, गौरव शीतता, तन्द्रा तथा गर्भाशय से दुर्गन्धयुक्त पोला स्राव निकलता है। मृत्यु के बाद या तो भ्रूण तुरन्त निकल जाता है अथवा कुछ सप्ताह तक गर्भाशय मे रुक कर पूर्णता पर स्राव होता है।

गर्भकाल की अवधि

नवमे दसवे मासे। नारी गर्भ प्रसूयते।
एकादशे द्वादशे वा। ततोऽन्यत्र विकारतः॥

गर्भ काल की अवधि २७३ दिन की होती हैं। अन्तिम आर्तव के पहले दिन की तिथि मे सात जोड़ कर उससे नव मास आगे या तीन माह पहिले की तिथि सम्भव होती है या भ्रूण स्पन्दन से ४॥ माह बाद प्रसूति होती है।

प्रसवारम्भ के निश्चित लक्षण—

(१) गर्भाशय संकोचन से वेदना जो कटि से आरम्भ होकर पेडु और जांघों में जाना और इसी के साथ गर्भाशय ग्रीवा का खुलना तथा गर्भोदक की थैली का नीचे सरकना।

(२) जननेन्द्रि से रक्त मिश्रित श्लेष्मा का निकलना।

(३) वेदनाओं के अन्तर में उदर-परीक्षा की तृतीय विधि के अनुसार परीक्षा करने पर गर्भ का शिर का स्थिर हो जाना प्रतीत होता है।

प्रसव की प्रत्येक अवस्था का उपचार—

प्रथम अवस्था में इच्छानुसार चल-फिर सकती है। परन्तु विषम आसनों की स्थिति तथा संकुचित वस्ति या अन्य विकारों के समय लेटना आवश्यक है। प्रारम्भ में रेचन जैसे स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण दें, तथा तीव्र वेदना में वस्ति प्रयोग करें, मूत्र त्याग को शका होने पर त्यागते रहे, अशक्ति हो जाने पर शलाका यंत्र का प्रयोग करें। क्योंकि मूत्राशय तथा मलाशय भरा होने पर बाधा पहुंचती है।

पूर्व कर्म की तैयारी रखें और पानी उबाल लें व उदर-परीक्षा, ताप-परीक्षण, समय समय पर करते रहें। गर्भोदक की थैली के फटने पर कठोर बिस्तर पर लेटा दें।

द्वितीय अवस्था में नाड़ी परीक्षा करें और अगर थैली नहीं फटी हो तो छेदन कर दें, यदि बालक थैली में हो तो निकाल लें अन्यथा उदय व आसन को परीक्षा कर लें. आसन ठीक है या नहीं वेदना के समय धात्री गर्भाशय मुंह को जब तक हाथ से दबाएँ तब तक गर्भ का शिर न दिखाई दे पीठ के बल लिटाई रखें। शिर दीखने पर बांई करवट से लिटा दें। गर्भिणी का दाहिना पैर को एक परिचारिका उठाए रखें। अब धात्री को चाहिए कि वह प्रसूतिका के पीठ की ओर खड़े होकर बायाँ हाथ उसकी टांग के ऊपर से जननेन्द्रिय को ओर ले जाकर बालक के शिर को विटप संधि की ओर दबाएँ जिससे कि पश्चाद् अस्थि निकल जाय, फिर दाहिने हाथ की मुट्ठी बांध कर अनुत्रिकास्थि व मलद्वार के मध्य दबाएँ इससे बालक का शिर सीधा होकर सुगमता से बाहर आ जाएगा। वेदना के समय प्रवाहण नहीं कर लम्बी लम्बी श्वास लें। इस समय जननेन्द्रिय को निरन्तर लाई-सोल के गर्म घोल से भिगोते रहें जिससे त्वचा चौड़ी होने में सहायता मिलती रहे। बालक के शिर के बाहर आ जाने पर यह देखें कि नाल का फंदा ग्रीवा पर तो नहीं लिपटा है। यदि हो तो नाल को खींच कर शिर के ऊपर से फन्दा निकाल दे और यदि फंदा खींच कर न निकाला जाय तो नाल को कैंची से काट दें।

बालक का शिर निकलते ही स्वच्छ वस्त्र या गीली रूई से बालक की आँखें पोंछें

श्रोर कनिष्टा पर कपड़ा लगाकर मुंह के अन्दर से पोंछ ले। बालक के उत्पन्न होने के बाद फिर पीठ के बल लेटादें और नाड़ी गिनें। बालक पैदा होते ही रोने लगता है जिससे दोनों फुफ्फुसों में वायु प्रविष्ट होकर वे खुल जाते हैं। यदि बालक न रोये तो उसे उल्टा लटकायें और मुख तथा गले को भली प्रकार पोंछ तथा पीठ पर थपथपी करें। या यन्त्र द्वारा श्लेष्मा को चूस लें और उसके मुंह पर ठंडे पानी के छींटे दें। इससे बालक रोने लग जाता है। अब नाभिनाल को हाथ में लेकर देखें कि उसमें स्पंदन अनुभव होता है। जब स्पंदन बहुत मंद हो जाय उस समय बालक की नाभि से २ इंच पर पक्के धागे से बंधन की तरह गांठ लगादें।

ऐसी ही गांठ जननेन्द्रिय से तीन इंच दूरी पर बांधें तथा स्वच्छ कैंची से बालक की ओर की गांठ से आधे इंच पर काट दें और देखें कि वहां से रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है। फिर घृत सेंधा नमक से मुख की शुद्धि करें।

इसके बाद शहद, घृत, अनन्तमूल ब्राह्मीस्वरस, स्वर्णभस्म मिला कर अनामिका से चटावें, बला तैल से अभ्यंग करें। क्षीरी वृक्षों के क्वाथ से स्नान करा कर प्रति दिन बालक के शिर पर तैल पिचु लगावें। रक्षोघ्न धूपों से धूपित करे व गोरोचन आदि लगावें।

यदि नाल में से रक्तस्राव हो तो पहली गांठ के नीचे एक और गांठ लगादें और नाल काटते समय नाल पर स्पन्दन होने पर उठाकर काटें तथा बांधने वाले तागे को पहिले मरकरी आयोडिन के घोल एक : ५००० हजार में रख छोडें।

तृतीय अवस्था के उपचार—

सर्व प्रथम यह देखें कि बालक उत्पन्न होने से सीवन प्रदेश की त्वचा में व्रण तो नहीं हुआ है। यदि हो तो उसी समय सी दे परन्तु गाठ कमल के निकलने के बाद लगावें।

बालक पैदा होने के बाद ४० मिनट में आंवल निकल आती है। यदि न निकले तो गर्भाशय मे हाथ डालकर निकाल लें। गर्भाशय में देखें कि भीतर इसका टुकड़ा तो बचा हुआ नहीं रहा है। इसके बाद एक्सट्रेक्ट अरगट लिक्विड दो ड्राम को एक औंस पानी में मिला कर या दशमूल क्वाथ में यवाक्षार व गुड़ प्रक्षेप देकर पिलावें और प्रसूतिका को नाड़ीगति गिनें।

प्रसूतिका की सफाइयां—

कमल निकलने के आधा घण्टा बाद गर्भाशय को बाहर से पकड़ कर दबाकर जमे हुए रक्त को निकाल दें। फिर जननेन्द्रिय को पोंछ कर १० इंच लम्बी ४ इंच चौड़ी स्वच्छ कपड़े को पट्टी जिसमें चौसट रूई की पट्टी को गर्म कर रख दें। कोष्ठ पर चौड़ी पट्टी बांध दें। इस पट्टी का निचला शिरा उरुअस्थियों के बड़े उभारों से २ इंच नीचे रहे फिर पट्टी को

पिनों से कस दें। इस पट्टी को दो घण्टे बाद खोल कर लाईसोल लोसन से सफाई कर जमे हुए रक्त को निकाल दे और मूत्र त्याग करावें और यह भी देखें कि गर्भाशय ठीक प्रकार से सकुचित हुआ है या नहीं। रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है। इस तरह पट्टी बांध कर दूसरे बिछौने पर लिटादें। पट्टी पर रक्त दिखने पर ७-७ घण्टे में बदलते रहें। रक्त दोष का शेष रहने पर (यवानीयवागू) दशमूल क्वाथ को गुड के साथ दें। स्नेहयुक्त दवाइयों व दूध युक्त यवागू का सेवन करने के बाद स्निग्ध अन्न पान दें। बालक उत्पन्न होने से पहिले डेढ़ महीने तक पुनः ऋतु आने तक स्त्री को प्रसूतिका की संज्ञा होती है।

नवजात शिशु Newly born child—

सर्व प्रथम शिशु के सहज विकारों को देखें, क्या तालु तो चिरा हुआ नहीं है, बद्ध-गुद तो नहीं है। यदि हो तो इनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करें। बालक के शरीर पर जैतून का तैल या बला तैल की मालिश कर साबुन या क्षीरी वृक्षों के क्वाथ से गुनगुने पानी से स्नान करावें। इससे बालक के शरीर पर लगा हुआ जरायु मय श्वेत पदार्थ उतर जाता है। इसके बाद तौलिये से शरीर को सुखावें और नाल को बड़ी सावधानी के साथ पौंछें व देखें कि उसमें से रक्तस्राव तो नहीं होता है। इसके बाद नाल पर डस्टिंग पाउडर चारों ओर छिडक कर बालक को स्तन पर लगा दें। पहिले दिन दूध नहीं आता परन्तु चूसने का अभ्यास हो जाता है। कई धात्रियें प्रसूति के समय प्रसव के लिए क्लोरोफार्म तथा निद्रल औषधियों का प्रयोग करती हैं, परन्तु इनका प्रयोग खतरे से खाली नहीं।

प्रसव में विलम्ब होने पर उपचार

(१) काले सांप की कांचली या मेनफल की धूनी दें।

(२) अपामार्ग, नीम, काकजंघा की जड कमर में बांधें।

(३) सफेद अपराजिता की जड़ जल में पीस सूंघने या पीने व नाभि पर लेप करने से सुख प्रसव होता है।

कमल में विलम्ब होने पर

(१) बालों को अंगुली पर लपेट कर कंठ में घिसें।

(२) कलिहारी की जड़ को पानी में पीस कर गर्भिणी के हाथों पांवों पर लेप करें।

तुंबीपत्रं तथा लोध्रं समभागं तु पेषयेत्।
तेन लेपो भगे कार्यो शीघ्र स्याद्योनिरक्षता॥

दुग्ध पान Feeding

आहार पाक से बने रस के उत्तम भाग स्तनों में पहुंच कर दूध बनाते हैं। पुत्र स्पर्श, दर्शन व स्मरण तथा ग्रहण से स्नेह स्वरूप दूध की उपस्थिति होती है।

दूध बढ़ाने के लिए शाली चावल, गेहूँ का दलिया, लौकी, नारियल आदि दें।

शुद्ध दूध की परीक्षा—

जो दूध पानी में मिल जाय व जिसमें रेखायें न पड़ें तथा रंग में सफेद हो व पतला तथा शीतल हो उसे शुद्ध समझें।

माता के दूध न होने पर आवश्यकतानुसार योग्य धाय को रखा जाय।

योग्य धाय के लक्षण—

अपनी जाति की मध्यम अवस्था की, अच्छे स्वभाव वाली, सदैव प्रसन्न, शुद्ध और बहुत दूध वाली, सन्तानयुक्त, बहुत प्रेममयी, थोड़े से सन्तुष्ट होने वाली, कपटरहित, बच्चे को अपना पुत्र समझने वाली हो।

दूध पिलाने की विधि—

दूध पिलाने के समय स्तन को धोकर कुछ निचोड़ कर धीरे से लेटा कर पिलावें। मां के दूध के अभाव में बकरी या गाय का दूध पिलाया जाय। छठे या आठवें माह में अन्न प्रदान संस्कार कराये। बच्चे को पांचवें वर्ष से ग्रास, ८वें वर्ष से वमन, १६वें वर्ष से विरेचन तथा २० वर्ष बाद शादी करावें।

अवस्था तीन प्रकार की होती है—

(१) बाल्यावस्था (२) युवावस्था और (३) वृद्धावस्था।

बाल्यावस्था के तीन भेद हैं—

(१) स्तनाद्यय (२) दुग्धान्नाद और (३) अन्नाद।

साधारण प्रसूतिका व उसके उपचार—

प्रसव के बाद ६ माह तक प्रसूतिकावस्था होती है। इस समय प्रसव से सूतिका की जननेन्द्रियां पूर्व अवस्था को प्राप्त करती हैं, अर्थात् उनका संकोच होता है। विकृति की स्थिति में सकोचन भलो प्रकार नहीं होता या अधिक संकोच हो जाता है। गर्भावस्था के पूर्व गर्भाशय का व्यास ३ इंच गुणा २ इंच व गर्भावस्था पूर्ण हो जाने पर ९ गुणा ८, प्रसव समाप्त होने पर ६ गुणा ४॥ से ३॥। प्रसव समाप्ति पर गर्भाशय नाभि व विटपसंधि के बीच में रहता है। प्रतिदिन १, १, अंगुलि संकोच कर नीचे हो जाता है; सकोचन की प्रवृत्ति प्रथम प्रसूति मे शीघ्रतर होती है, संकोचन की न्यूनता से जमा रक्त की शुद्धि नही हो पाती जिससे मक्कलशूल हो जाता है। इसमें दशमूलक्वाथ यवाक्षार घृत के प्रक्षेप से देवें।

प्रसूतिकाकालिक स्राव Lochia

प्रसव के बाद गर्भाशय से २-३ सप्ताह तक स्राव होता रहता है। यह प्रारम्भिक ४

दिनों में रक्त (फिर ३ दिन श्लैष्मामिश्रित रक्त) तथा बाद में श्लैष्मा का स्राव होता है। यदि रक्त स्राव अधिक दिनों तक चले तो गर्भाशय का स्थान भ्रंश या सकोच ठीक नही हुआ समझें। इसके लिए गर्म जल का डूश देवें तथा लेटाये रखें।

स्तन—

पहले दो दिनों में इनमें कोई अन्तर नहीं होता। तीसरे दिन वे अधिक भारी और रक्तपूर्ण हो जाते हैं और दूध गाढा व चिपचिपा होता है। इसके बाद शुद्ध निकलता है।

प्रसूतिका के विषय में ध्यान रखने योग्य बातें

सूतिका की इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:—नाड़ी, ताप, गर्भाशय की ऊंचाई, सूतिकावस्था का स्राव, स्तन, मलत्याग का ठीक होना, मूत्र, आहार, निद्रा और कमरे में वायु तथा प्रकाश और बालक की दशा।

ताप—

प्रसव के १ घण्टे बाद तक ताप ९९ डिग्री होता है। दूसरे दिन साधारण हो जाता है। फिर भी ताप बना रहे तो इसकी चिकित्सा करें।

मूत्रत्याग—

योनि क्षत से मूत्रमार्ग की रगड़ द्वारा मूत्रावरोध हो जाता है। यदि अवरोध हो तो उष्ण जल का परिषेचन या सेक करें। १२ घण्टे तक यही स्थिति रहे तो शलाका यन्त्र का प्रयोग करे।

मलबद्धता (आनाह)—

प्रसव के दूसरे दिन तक भी मलबद्धता हो तो २॥ तोला एरण्ड का तैल दें।

आहार—

द्रव्य प्रायः उष्ण स्निग्ध, मधुर आहार दें। प्रसव के बाद ५ दिन तक बिलकुल लेटे रहना चाहिए तथा दिन में १-२ घंटे तक पेट के बल उल्टे लेटना लाभदायक है। इसके बाद कभी कभी बैठा जा सकता है। तीन चार दिन तक पेट पर पट्टी बांधे रहना चाहिए। सूतिकावस्था की समाप्ति पर गर्भाशय की परीक्षा करें। यदि स्थान भ्रंश हो तो प्रेसरी का प्रयोग करें।

नवजात शिशु की परिचर्या

मल त्याग:—एक या दो दिन तक बालक को काले रंग का मल उतरता है जिसमें कोई जीवाणु नहीं होते। इसके बाद पीले रंग का मल उतरता है। बालक दिन रात में ३-४ बार मल व १०-१२ बार मूत्र त्याग करता है। मूत्र त्याग न हो तो गर्म जल से स्नान करावें।

नाल—

यह १०-११ दिन में सूख कर गिर जाती है। इस पर अधिक पानी न लगने दें।

शिर शोथ—

दो चार दिन में शिर का शोथ हट जाता है। यदि वह लम्बा या चपटा हो गया हो तो दो सप्ताह के बाद ठीक हो जाता है। त्वचा जन्म के समय लाल होती है फिर धीरे-धीरे साधारण वर्ण हो जाता है। पहले कुछ दिन तक बच्चे को दूध पीने के लिये जगायें शेष समय सोने दे। प्रारम्भ में बच्चे को स्तन पर लगावें जिससे गर्भाशय संकोच तथा बच्चे को चूसना आता है। प्रारम्भिक गाढे दूध से विरेचन होते हैं, दूध आने पर ३-३ घन्टे बाद दूध पिलावें, दूध बारी बारी से पिलाना चाहिए। बालक को प्रति सप्ताह तोलते रहें, पहले दिन वजन घटता है फिर बढ़ता रहता है ६ माह में दूना व १ वर्ष में तिगुना हो जाता है।

प्रसूता की व्याधियां—

प्रसूता के मिथ्या आहार विहार से जो व्याधियां पीड़ा उत्पन्न करती हैं वह कष्ट साध्य या असाध्य होती है। अतः पथ्य तथा नियम पालन आग्रहपूर्वक करने चाहिए प्रसूति की पीड़ाओं को प्रायः दशमूलक्वाथ, देवदार्व्यादिक्वाथ, तथा दशमूलारिष्ट आदि से ठीक हो जाती हैं।

गर्भावस्था की व्यापत्तियाँ

गर्भाशय तथा गर्भपात—

गर्भ धारण से चार माह तक गर्भस्राव कहलाता है। इसके बाद स्थिर शरीर होने पर ५-६ आदि माहों में गर्भपात कहलाता है। गर्भस्राव या गर्भपात में यही अन्तर है कि कमल बनने से पहले गिरना गर्भस्राव कहलाता है तथा कमल बनने के बाद गिरने को गर्भपात कहते हैं।

कारण—

फिरंगरोग, गर्भाशय स्थान, भ्रंश, अर्बुद अति व्यवाय उपवास, उछलना, छोड़ना आदि।

चिकित्सा—

गर्भस्राव या गर्भपात की आशंका होने पर गर्भिणी को लेटाये रखें तथा चारपाई के पैरों की ओर से ऊँचा रखें, मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार का पूर्ण विश्राम दें।

उपविष्टक—

चार माह की गर्भिणी के जब उष्ण और तीक्ष्ण गुण वाले पदार्थों का सेवन तथा तत्काल काम करना, द्रव्यों के अधिक उपयोग के कारण रजास्राव होने लगता है। इससे

गर्भ पोषक वस्तु के निकल जाने से गर्भ नहीं बढ़ पाता अपितु सूखता जाता है और यह सूखा हुआ गर्भाशय में पड़ा रहता है उसे उपविष्टक कहते हैं।

नागोदर—

उपवास तथा वात प्रकोप तथा कुत्सित (खराब आहार) करने वाली और स्नेह द्वेषिणी (घी से घृणा) करने वाली गर्भिणी का गर्भ सूख जाता है तथा बढ़ता नहीं, यह गर्भ जीवित होता हुआ भी बहुत समय तक बिना फड़के हुवे ही रहता है। इसे नागोदर कहते हैं।

चिकित्सा—

इन दोनों स्थितियों में जीवनीय वृंहणीय द्रव्यों से सिद्धघृत, दूध तथा आम गर्भ का प्रयोग करें तथा बारम्बार स्नान तथा आनन्ददायक सवारी से भ्रमण कर मन को प्रसन्न करने वाले इलाज करें।

लीन—

वात दूषित गर्भाशय में जब गर्भ स्पंदन नहीं करता तब उसे लीन कहते हैं।

चिकित्सा—

इसमें मछली, मांस रस, उड़द की दाल, मूली का यूष, घृत आदि दें और बला तैल से उदर वक्षण उरु कटि पर अभ्यंग करें।

गर्भिणी की मूर्च्छा—

यदि आठवें माह में उदावर्त सम्बन्धी विकार हो जाये तो गर्भिणी व गर्भ के लिये घातक होता है। ऐसी अवस्था में निरुहण बस्ति का प्रयोग करें।

मृतगर्भा—

ऊकड़ू बैठना, टेढा बैठना, कड़े आसन पर बैठना, वायु, मूत्र और मल के वेगों को रोकना, क्रूर व्यायाम का सेवन करना तथा कम भोजन करने से गर्भकुक्षि में मर जाता है। या गर्भस्राव हो जाता है या गर्भ शोष हो जाता है।

लक्षण—

अन्तर्मृत गर्भ से गर्भिणी का उदर जकड़ा हुआ, तना हुआ, पेट में ठंडा पत्थर रखा हुआ के समान भारी होता है। फड़कन नहीं होती, शूल बढ़ता रहता है। आवी नहीं होती, योनिस्राव नहीं होता, दोनों आंखें ठंडी हो जाती हैं। आँखों के सामने अंधेरा आ जाता है। चक्कर आते हैं। मूर्छा श्वासकृच्छता, पूतिगंध, श्वेतवर्णता, तालुशोष, जिव्हाशोष, कम्प आदि होते है।

चिकित्सा—

गर्भ शल्य की चिकित्सा द्वारा पातन करा देना चाहिये।

विकृत गर्भ—

गर्भ की विकृति बीज दोष से, गर्भाशय दोष से, काल दोष से, पूर्व जन्म के दोष से, व अशुभ कर्मों से तथा माता के आहार-विहार के दोषों से गर्भ की आकृति वर्ण और इन्द्रियों में विकृति हो जाती है।

मूढगर्भ—

मिथ्या आहार-विहार तथा गर्भ गिराने वाले द्रव्यों के सेवन से गर्भ अपने बन्धन (कमल) से छूट कर मर्यादा अतिक्रमण कर यकृत प्लीहा अन्त्र आदि स्रोतों से लटकता हुआ कोष्ठ मे क्षोभकर आपान वायु को विगुण कर देता है। गर्भ को अपथ्य-पथ्य से नहीं निकलने देता है। इसके निम्नलिखित चार भेद हैं:—

(१) कीलक (२) प्रतिखुर (३) बीजक (४) परिघ

(१) कीलक—हाथ पैर ऊपर और सिर नीचे।
(२) प्रतिखुर—हाथ पैर और सिर नीचे।
(३) बीजक—सिर के साथ एक हाथ का बाहर आना।
(४) परिघ—आड़ा।

मूढ गर्भ के आठ भेद—

(१) स्फिगपादोदय (२) पादोदय (३) स्फिग उदय (४) पार्श्वावितीर्ण
(५) अंश हस्तस्कंधोदय (६) जटिलोदय सिर को टेढ़ा कर बाहुओं से
(७) प्रति खुर जटिलोदय (८) पाद जानूदय।

इनमें अन्तिम दो असाध्य हैं।

असाध्य मूढ गर्भ के लक्षण—

जो स्त्री सिर को अधिक हिलाती हो और हाथ पैर ठंडे पड़ गये हों तथा बेहोशी से लज्जा का भान न रहा हो और शिरायें नीली व उभरी हुई हो गई हों और आक्षेपक भी आने लगे तो असाध्य समझें।

गर्भ स्थिति—

शुक्र और डिम्ब का संयोग या मिलन होने से गर्भ स्थिति बनती है और प्रत्येक महिने डिम्ब प्रणाली में से एक डिम्ब परिपक्व हो कर आता है। अगर उस समय शुक्र और डिम्ब का संयोग हो गया तो गर्भ रह जाता है। असंख्य शुक्रकीटों में से जो बलवान कीट होगा उसी का डिम्ब के साथ संयोग होता है।

लड़की क्यों होती है—

आर्तवाधिक्य होने से लड़की पैदा होती है अथवा ५-७-९-११-१३-१५वीं रात्रियों में ऋतुकाल के दिनों में आर्तवाधिक्य से फलन होने पर लड़की पैदा होती है।

लड़का क्यों पैदा होता है—

शुक्राधिक्य होने से लड़का पैदा होता है। अतः ६-८-१०-१२-१६वीं रात्रियों में शुक्राधिक्य रहता है। इसलिए लड़का पैदा होता है।

एक लड़की तथा एक लड़का पैदा होने का कारण—

कभी-कभी ईश्वर की कुदरत से दोनों डिम्ब प्रणालियों से डिम्ब एक साथ परिपक्व हो कर आने से और उसके साथ शुक्र कीटों का संयोग होने से एक समान जब दोनों हो जाते हैं तब एक लड़की व एक लड़का दो पैदा होते हैं।

दो लड़के तथा दो लड़की पैदा होने के कारण—

दो शुक्र कीटों के साथ दो डिम्ब का संयोग होने से दो लड़के पैदा होते हैं तथा दो डिम्ब एक साथ प्रणाली से छूटने पर लड़की पैदा होती है।

वायु से शुक्र के जितने विभाग होते हैं, १-२-३ इत्यादि उतनी ही संतान पैदा होती है।

प्रसव विलम्ब के कारण—

गर्भगत शिशु का पोषण माता के आहार पर निर्भर है। अतः जो स्त्री स्निग्धपदार्थों से द्वेष करती है या कोई केन्सर या रक्त गुल्म आदि की भयानक बिमारी होने के कारण शिशु का पोषण ठीक न होने के कारण प्रसव में विलम्ब होता है और गर्भ सूखने लग जाता है। फिर बाद में फलघृत आदि स्निग्ध व सुयोग्य चिकित्सा मिलने पर चिर काल के बाद बढ़ कर प्रसव होता है।

यमल गर्भ में एक का बढ़ना तथा दूसरे का सूखना—

प्रथम बात यह है कि एक तो बीज पक्व होता है और दूसरा बीज अपक्व होता है। इसलिये उसकी वृद्धि नहीं हो पाती, फिर उस बालक के यानि भ्रूण के भाग्य भी अच्छे नही होते हैं। ऐसी स्थिति में वह गर्भ तो सूख जाता है तथा दूसरा फिर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

रजो विकृति—

यह आठ प्रकार से होती है :—

१. वायु २. पित्त ३. कफ ४. रक्त (कुणप गंधी और अनलप) ५. वात पित्त (क्षीण) ६. वात कफ (गंथिमूत) ७. कफ पित्त ८. सन्निपात (मूत्र पूरीष गंधी)।

इनमें उपरोक्त एक दोषज साध्य है। जिनमें दोष विपरीत औषधियों के कल्क, पिचु तथा प्रक्षालन का उपयोग करें शेष असाध्यता को प्रकट करते हैं। अर्थात गर्भाशय ग्रीवा मे अथवा अपत्य पथ मे अर्बुद आदि के कारण से इस प्रकार की स्थिति बना देते हैं।

असृग्दर—

अति प्रसंग आदि कारणों से ऋतुकाल के बिना भी आर्तव प्रवृति हो जाना असृग्दर कहलाता है।

लक्षण—

अंगमर्द वेदना, दुर्बलता, श्रम मूर्च्छा, आंखों के सामने अंधेरी आना, प्यास अधिक लगना, शरीर में जलन होना, पाण्डुता, तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

रुग्णा को विश्राम देवें तथा नागकेशर, योग, लाक्षादि चूर्ण, प्रवालपिष्टी, द्राक्षावलेह, कपर्दभस्म, स्फटिक भस्म तथा कहरवापिष्टी उादि उपयोगी है।

नष्टार्तव—

वात, पित्त, कफ, आदि दोषों से आर्तवही स्रोतों में अवरोध पैदा कर आर्तव नष्ट कर देते हैं। ऐसी स्थिति में कुलथी, तिल, उड़द तथा सुराओं का प्रयोग करें।

उपदंश, आतसक, फिरंग, गर्मी, सिफलिस

परिचय—

यह चिरस्थाई सांसर्गिक रोग हैं जिसमें जननेन्द्रिय पर व्रण बनता है वहीं से कीटाणु रक्त में फैलते हैं।

कारण—

स्फाइरोचिटम पैलीडम कीटाणु हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में मैथुन द्वारा जाता है, जिनमें प्रथमावस्था मुख्य कारण है।

सम्प्राप्ति—

प्रथमावस्था :—जीवाणु पृष्ठ स्थान पर व्रण शोथ तथा लसीका ग्रंथियों को बढ़ा देते हैं।

द्वितीय अवस्था :—६ माह में जीवाणु रक्त में पहुंच कर स्थान दो पर व्रण तथा लसीका ग्रंथि वृद्धि कर देता है।

तृतीय अवस्था :—दो वर्ष बाद होती है।

परिपक्व काल—

१ से ३ सप्ताह सीमा १० से ९० दिन।

लक्षण—

संक्रम स्थान पर छोटा दाना बना कर अंडाकार व्रण बटन जैसा होता है। पीड़ा नहीं होती, समीप की लसीका ग्रन्थि बढ़ जाती है।

(२) द्वितीय लक्षण—

४ से १० सप्ताह बाद उदर पर सूक्ष्म गुलाबी रंग की पिड़िकायें बन कर ताम्र वर्ण की हो जाती हैं। मन्द अनियमित ज्वर कठ, पाक, इन्द्रलुप्त, स्फोट (फाला) रक्त न्यूनता बढ जाती है। धमनियां दृढ़, रज्जुवत तथा हृदय।

(३) यकृत प्लीहा फुफ्फुस आदि में ग्रंथियां हो जाती हैं।

(४) मस्तिष्क धमनियों में सौत्रिक तन्तु बढ़ कर अवरोध पैदा करते हैं जिससे पक्षाघात अपस्मार मूर्च्छा उन्माद स्त्रियों में गर्भपात होता है।

योनि व्यापद—

कारण—मिथ्या विहार, आर्तव दोष, बीजदो" अथवा दुर्भाग्य से बीस प्रकार के योनि रोग होते हैं।

(१) उदावर्ता—भाग के सहित कष्टार्तव का होना।

(२) बन्ध्या—आर्तव नाश होना।

(३) विप्लुता—व्यवाय में अधिक पीड़ा होना।

(४) परिप्लुता—स्पर्श में कठोर स्तब्ध शूल तोद होना।

(५) वातला—दाह के साथ आर्तव प्रवृत्ति।

(६) लोहितक्षया—पुंजीव व स्त्री बीज का वमन करने वाली।

(७) प्रस्रंसिनी—इसमें क्षुब्ध हुआ गर्भाशय का स्थान भ्रंश हो जाता है। अतः यह दुखप्रदायनी है।

(८) वामिनी—पुंवीज व स्त्री बीज का वमन करने वाली।

(९) पुत्रघ्नी—जिनमें बार बार गर्भस्राव होता रहता है।

(१०) पित्तला—इसमें दाह, पाक, ज्वर आदि रहता है।

(११) अत्यानन्दा—व्यवाय से संतुष्ट न होना।

(१२) कर्णिका—कफ रक्त से मांस की किनार हो जाना।

(१३) अचरणा—शीघ्रस्खलन होना।

(१४) अतिचरणा—स्खलन न होना।

(१५) कफजा—पिच्छिल कण्डू युक्त तथा अति शीतल होना।

(१६) षंडी—अनार्तवा अस्तनी तथा खरस्पर्शा।
(१७) अंडली—फल का बाहर आ जाना।
(१८) सूचिवक्त्रा— संकुचित मुख वाली।
(१९) विवृता—महामुखी यानी बड़े मुख वाली।
(२०) सन्निपात—इसमें सब लक्षण होते हैं।

रक्तज गुल्म—

कारण—वातल द्रव्य गुण कर्मो का ऋतुकाल में नव प्रसव में योनि रोगों में सेवन करना।

सम्प्राप्ति—

इससे वायु कुपित हो गर्भाशय में आर्तव को रोक कर गर्भ लक्षण के समान हल्लास, दौर्हृद, स्तन्य दर्शन क्षमता के समान कुक्षि वृद्धि होती है। इसकी चिकित्सा १० माह बाद करनी चाहिए।

हिस्टीरिया योषापस्मार—

मष्तिष्क की संज्ञावह तथा चेष्टा वह सूत्रों से सम्बन्ध टूट जाता है।

कारण—

पेलव प्रकृति अदृढ संकल्प सहनशीलता की कमी रक्तक्षय, अजीर्ण, शोक, उद्वेग, गर्भाशय विकार, निष्ठुर व्यवहार।

संप्राप्ति—

वात संस्थान विकृति मनोक्षेत्र में सम्बन्ध टूट जाना।

पूर्वरूप—

हृत् पीड़ा जृम्भण मनः साद।

लक्षण—

(रूप) क्रन्दन रोदन प्रलाप, भ्रम, कंठ पीड़ापुर पीड़ा श्वास कृच्छ्रता मिथ्या गुल्म प्रतीति।

सोमरोग—

कारण—मधुर रस का अति उपयोग श्रम का अभाव दिवास्वप्न आदि कफकारी द्रव्यों का सेवन

सम्प्राप्ति—

शरीर में कफ के द्रवत्व गुण की वृद्धि हो जाती है। और वृक्कों द्वारा यह अधिक द्रवत्व बाहर निकाल दिया जाता है।

लक्षण—

बहुमूत्रता दुर्बलता तृष्णा अधिक भूख लगना मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं।

गर्भाशय अर्बुद—

केन्सर का पर्यायवाची शब्द केकड़ा है। जिन अर्बुदों का प्रसार केकड़े की तरह हो उन्हें केन्सरक ह. जाता ह।

अर्बुद—

शरीर में किसी भी स्थान पर हुई कठोर वेदनारहित धीरे धीरे बढ़ने वाली अचल शोथ को अर्बुद कहते हैं।

अर्बुद की सूक्ष्म रचना—

गर्भस्थ शिशु की वृद्धि के समान अर्बुद कोषों में भी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। परन्तु अर्बुद के कोषों में विलक्षणता होती है।

१. कोषों की मिंगी बढ जाती है।

२. कोषांम्बु घट जाता है।

३. इसके निर्मित तन्तु अधोभूति के होते हैं।

४. इसका उपयोग देह के लिए उपयोगी न होकर अनुपयोगी होता है।

५. ये समीपस्थ तन्तुओं का आहार छीनते रहते हैं और स्वयं बढ़ते जाते हैं, इससे पास के तन्तु छीजते जाते हैं।

अर्बुद दो प्रकार के होते हैं—

१. साधारण २. घातक

साधारण अर्बुदों में आवरण होता है किन्तु घातक अर्बुद में आवरण नहीं होता, और यह केकड़े के पंजे के समान समीपवर्ती तन्तुओं में प्रसार करते रहते हैं। केन्सर प्रायः दो स्थानों में होता है। गर्भाशय ग्रीवा और गर्भाशय गात्र।

यह रोग प्राय: ४० से ५५ वर्ष की आयु के मध्य में होता है और प्राय: उन स्त्रियों के अधिक होता है जिनके अधिक गर्भपात हुए हों।

प्रथमावस्था—

प्रारम्भ में एक ग्रन्थि सी होती है और प्राय: अनियमित आर्तवस्राव होता रहता है।

द्वितीयावस्था—

इस अवस्था में ग्रंथि बढ़ कर ग्रंथि में क्षत हो जाता है। जिससे मूत्रपूरिपगंधि या पूति पूयनिभ योनिस्राव होता रहता है और निरन्तर अर्बुद बढ़ता जाता है।

तृतीयावस्था—

इस अवस्था में अर्बुद में शीर्णता हो जाती है। अंगुली परीक्षा से स्पर्शन करने से स्रावाधिक्य तथा अर्बुद के टुकड़े निकलने लगते हैं और यह बढ़ता हुआ अर्बुद मलाशयादि में क्षत पैदा कर देता है और साथ ही लसीका वाहिनियों द्वारा यकृत फुफ्फुस आदि में अध्यर्बुद उत्पन्न कर रोगी की ईह लीला समाप्त कर देता है।

श्वेत प्रदर की सफल चिकित्सा

लेखिका—वैद्या मनोरमा आचार्य, जोधपुर

[श्री मनोरमा देवी वैद्या चरित्रनायक की आयुर्वेदीय शिष्यों में से हैं। आप अपने प... श्री बुद्धिप्रकाशजी आचार्य के साथ आचार्य आयुर्वेदाश्रम की रसायनशाला तथा महिलाविभाग की प्रधान चिकित्सिका का कार्य कर रही है। आपने अपने कार्यक्षेत्र में आने वाले बहुप्रचलित श्वेत प्रदर पर पठनीय लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी संपादक]

भूमिका—

हमारे देश में चिरकाल से ही स्त्री जाति के प्रति उपेक्षा तथा आलस्य बरतने की कुप्रथा चली आ रही है, जिसके फलस्वरूप हमारी अनेक बहिनें घोर रोगों का घर बनी पाई जाती हैं। अशिक्षा, पिछड़ापन, लज्जा, (अनावश्यक) तथा दरिद्रता आदि कारणों से बहिनें जीवनपर्यंत अपने गुप्त रोगों को प्रकट नहीं करतीं; यहां तक कि वे अल्पकाल में अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर बैठती हैं। श्वेत प्रदर ऐसा ही एक गुप्त रोग है। लगभग ६० प्रतिशत बहिनें इस रोग से ग्रसित पाई जाती हैं; किन्तु अधिकतर यही देखा जाता है कि वे वर्षों तक इस रोग को नहीं बताती व जब रोग असाध्य प्रायः हो जाता है तो चिकित्सा करवाने का विचार करती हैं। अस्तु; महिला जगत की जानकारी व लाभार्थ मैं इस रोग का परिचय एव सफल चिकित्सा अपने अनुभवानुसार प्रकाशित करती हूँ।

श्वेत प्रदर क्या है—

आयुर्वेद के आचार्यों के वचनानुसार जिसमें महिला के शरीर की शक्ति व पोषक तत्व अधिकता से बाहर निकलते जांय, उसे 'प्रदर' कहते हैं। योनि मार्ग से होने वाला यह असंक्रमक स्राव 'सफेदा' नाम से लोक में प्रसिद्ध है।

कारण—

(१) शोक, अतिचिन्तन, गरम, दाहकारक, नमकीन, चरपरे, खट्टे पदार्थों का अधिक सेवन, अधिक व्रत करना, अजीर्ण, संयोग व मात्राविरुद्ध भोजन, बार-बार गर्भ-

पात, मद्यपान, आनाह, अतिव्यवाय क्रोध, मासिक समय से पूर्व ही श्रोण अधिरक्तता, भार उठाना, चोट लगना, दिन में सोना, मन को उत्तेजनादायक चलचित्र, (सिनेमा) अश्लील गीत व उपन्यास आदि कारणों से दोषानुसार यह रोग कफ, पित्त, वात व सन्निपात भेदों से चार प्रकार का होता है।

(२) गर्भवर्त्म, गुप्तांग व गर्भाशय के बीच में एक पतली सी झिल्ली होती है और उसके ऊपर अनेक पतली-पतली गिल्टियां होती हैं जिनमें से उक्त भागों को स्वस्थ रखने के लिए ३ प्रभवों से पानी रिसता है।

(क) गर्भाशय को रेखांकित करने वाली ऊति परकी अन्तः गिल्टियों से। ये मासिक धर्म के समय में बनती हैं व शुद्धि पर बिखर जाती हैं।

(ख) गर्भाशय से गुप्ताङ्ग मार्ग की ओर के ग्रैवेय भाग की गिल्टियों से। ये सकड़े रंध्रों को घेरने वाली मोटी पेशियों से बनी होती हैं।

(ग) योनि अधिच्छदीय भाग से।

प्रथम प्रभव से थोड़ा व तरल स्राव होता है; द्वितीय से गाढ़ा व अंडे की सफेदी जैसा; व तृतीय से जल सदृश प्रवाह होता है। स्वस्थावस्था में ऐसे स्राव केवल उन अंगों के स्नेहनयोग्य मात्रा तक मर्यादित रहते हैं किन्तु रुग्णावस्था में पूर्वोक्त आवरण में शोथ हो जाती है व रिसने वाले पदार्थ की मात्रा बढ़ जाती है।

वैज्ञानिकों ने केवल स्राव परीक्षा से ही इस रोग के सम्बन्ध में बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उनके अनुसार डोडरलीन दण्डाणुओं की विद्यमानता से साधारणतया योनिस्राव अम्लीय होता है, किन्तु वह अम्लता उपरोक्त एवं आगे बताये जाने वाले कारणों से घट जाती है व स्राव की मात्रा व प्रकृति में अंतर आ जाता है। ऐसी दशा में pH भी ४.४ डेटर से ५.६ या उससे भी अधिक बढ जाता है व वही रोग का कारण हो जाता है।

उनके मतानुसार गर्भनिरोधक कृत्रिम उपकरणों के विजातीय द्रव्यों के अन्दर रह जाने से, गर्भाशय व योनि के मध्य भाग में शल्यक्रिया, व प्रसव के समय हुए आघात, हारमोन्स का तीव्र उत्सर्जन, अस्वच्छता, आंतों के संक्रमण, प्रजनन-प्रदेश में ट्राइकोमोनस नामक जीवाणुओं के संक्रमण, उपदंश, फिरंग व क्षयादि रोगों के संक्रमण, कर्कटार्बुद, गर्भाशय की ग्रीवा की भित्ति व मृदु गिल्टियों को क्षति पहुंचाने, ऊतिज-गिल्टियों में अनावश्यक वृद्धि व जननेन्द्रिय में अधिरक्तता आदि, एवं पूर्वोक्त कारणों से अशक्ति, रक्ताल्पता व पोषक तत्वों की कमी आ जाती है तथा स्राव की अम्लता घटती है व pH बढ कर यह रोग उत्पन्न होता है। कभी-कभी पूयस्राव भी होने लगता है।

राष्ट्रीय रोग "मिलावट" (खाद्य पदार्थों में) तथा दम्पति स्वभाववैषम्य भी इस रोग के कारण होते हैं।

लक्षण—

श्वेत प्रदर निरुपद्रव एवं सोपद्रव दोनों ही प्रकार का पाया जाता है। प्रारम्भ में गुप्ताङ्ग मार्ग से पानी सा पतला और सफेद स्राव होता है किन्तु रोग जीर्ण हो जाने पर यही स्राव गाढा व एक विशेष दुर्गंधयुक्त हो जाता है। स्राव के रङ्ग, रूप व गंध की परीक्षा के अतिरिक्त इसकी विशेष पहिचान यही है कि रुग्णा में प्रातःकाल फुर्ती के स्थान पर निर्बलता पाई जाती है व वह दुर्बल देखी जाती है। सोपद्रव प्रकार में पीठ का दर्द, अग्निमांद्य, हृदय की धड़कन का जब चाहे बढ जाना, गात्र में दर्द, बंध्यता, अनियमित मासिक, मुंह का पीला पड़ जाना, आंखों के चारों ओर काले रंग का घेरा सा दिखलाई देना, पिंडलियों में दर्द, अल्परजस्राव, दद्रु, श्वास लेने में कठिनाई, मूत्र रुक रुक कर आना, अनिद्रा, मस्तिष्क में दर्द, स्नायुमण्डल की दुर्बलता व तज्जन्य शिरः शूल व तन्द्रा, कान्तिहीन मुखमण्डल, योषापस्मार व चिड़चिड़ा स्वभाव आदि स्पष्ट लक्षण इस रोग में मिलते हैं।

चिकित्सा—

रोग की निश्चित अवस्था का ज्ञान होने पर ही वास्तविक निदान सम्भव होता है व मिथ्या निदान व गलत चिकित्सा से यह रोग संकरता को प्राप्त हो जाता है व अपर्याप्त चिकित्सा से रोग की पुनरावृत्ति हो जाती है। वर्तमान में प्रचलित पाश्चात्य चिकित्सा इस रोग के निवारणार्थ अत्यन्त दीर्घकालीन, अति व्ययशील व मन्थरगति की होने के कारण साधारण वर्ग की जनता के लिए उपयोगी नहीं है व साथ ही यदि निश्चित कारण ज्ञात न हो पावे तो अधिक लाभप्रद भी नहीं है। इस रोग पर मेरे आयुर्वेदीय परीक्षित प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत करती हूं।

सिद्ध चिकित्सा व्यवस्था संख्या १

दो वर्षों मे निरुपद्रव प्रदर से पीड़ित ७० रुग्णाओं पर निम्न लिखित चिकित्सा व्यवस्था प्रयुक्त की गई, जिनमे १३ से २१ वर्ष तक की आयु की ३३, २२ से ४५ वर्ष तक की ३० और ४६ व उससे अधिक आयु की ७ रुग्णाएं थीं। प्रथम वर्ग में अविवाहित २५ व विवाहित ८, जिनमें १ विधवा भी थी, द्वितीय वर्ग में सभी विवाहित किन्तु ४ विधवाए, १० वंध्याएं व २ से अधिक सन्तानों वाली १६ थी, तृतीय वर्ग में २ विधवाएं व १ वन्ध्या व ४ अधिक सन्तान वाली महिलाएँ थीं। इसी प्रथम प्रकार वर्ग में १८ पढाई करने वाली १०, गृह कार्य करने वाली, २ अध्यापिकाएं एवं ३ मजदूर थीं। द्वितीय वर्ग में २० गृह कार्य करने वाली, १ अध्यापिका, व २ दुकानदार, व ७ मजदूर थी। तृतीय वर्ग में ५ मजदूर व २ गृह कार्य करने वाली महिलाएं थीं।

इन्हें चाय, काफी का व्यसन धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ने, प्रातः नित्य घूमने, चक्की चलाने व सूर्य नमस्कार आदि व्यायाम करने व तत्पश्चात् नित्य ही महाचन्दनादि

तैल की मालिश करने व एक घण्टे बाद स्नान करने की सलाह दी गई और निम्नलिखित चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य चिकित्सा या उपचार बन्द करवा दिये गये।

नित्य पेट में ली जाने वाली औषध व्यवस्था—

(१) प्रातः ७ बजे—असली नागकेशर चूर्ण १॥ माशा तक्र के साथ।

(२) प्रातः ८ बजे—प्रदरतरुकुठार[1] अवलेह १॥ तोला चाटना।

(३) भोजन के बाद दोनों समय लोध्रासव १॥-१॥ तोला तथा अशोकारिष्ट १॥-१॥ तोला, पानी ३ तोला के साथ २-२ गोली चन्द्रप्रभा वटी लें।

(४) सायं ७ बजे—कपास की जड़ १॥ माशा चावलों के धोवन[2] के साथ लें।

(५) सोते वक्त—जिस दिन कब्ज हो—स्वादिष्ट विरेचन ४ माशा, दूध से।

आवश्यकतानुसार प्रक्षालनार्थ

लोध्र १। तोला, अशोक १। तोला इन्हें दरदरा कर १ सेर पानी में औटावें। ३-४ उफान आने पर टकण पुष्प (बोरिक) ४ रत्ती का प्रक्षेप करें व छान कर उपयुक्त पिचकारी द्वारा धोवें।

तत्पश्चात्

माजूफल १ तोले का वस्त्रपूत चूर्ण कर उसमें १॥ रत्ती कपूर मिलावें व इस मिश्रण को घी में मिला कर मरहम बनालें। इसमें साफ़ रूई का फाहा भिगो कर योनि के अन्दर रखा जाय।

उक्त चिकित्सा व्यवस्था से ८० प्रतिशत रुग्णाएं रोगमुक्त हुई हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होगा।

---

(१) प्रदरतरुकुठार—

सालम, अशोक छाल, श्वेत मूसली व शतावर इनका वस्त्रपूत चूर्ण १-१ तोला, विदारीकंद, माजूफल, चूनियागोंद, कपास की जड़, प्रत्येक का वस्त्रपूत चूर्ण आधा-आधा तोला व सीतोपलादि चूर्ण ३ तोला। इन्हें मिलाकर १ दिन शुष्क मर्दन कर ३० खुराकें बनालें। नित्य १ मात्रा में २ तोला शहद, आधा तोला असली घी, २ तोला मिश्री व १ केला पका हुआ मिलाकर अवलेह बनावें। नित्य ताजा ही अवलेह बनाया जाय।

(२) चावलों का धोवन—

चावल कुचले हुए २ तोला को १६ तोला पानी में भिगोवें तथा दो घण्टे बाद मसल छान कर वह पानी काम में लें।

परिणाम तालिका

परिणाम	प्रथम सप्ताह मे	द्वितीय सप्ताह मे	तृतीय सप्ताह में	चतुर्थ सप्ताह में	पंचम से नवम् सप्ताह में	कुल	प्रतिशत	कुल योग प्रतिशत में
उत्तम	६	१८	१५	२	५	४६	६७%	
मध्यम	×	×	५	२	२	९	१३%	
								८०%

किसी भी रुग्णा में कोई भी उपद्रव या अन्य दर्प आदि नहीं देखे गये।

सिद्ध चिकित्सा व्यवस्था संख्या २

उक्त दो वर्षों के समय में ५० सोपद्रव श्वेतप्रदर से पीड़ित विभिन्न रुग्णाओं पर निम्न ('क' से 'च' तक) ६ प्रयोग सफलतापूर्वक किए गये। इनमें से,

(क) १४ रुग्णायें अतिव्यवायजन्य जननेन्द्रिय निर्बलता के उपद्रव सहित थीं, जिनके सीने चिपके हुए मालुम देते थे व मासिक कम होता था।

(ख) ४ रुग्णायें उक्त उपद्रवों के साथ ही कास व ज्वरपीड़ित थीं।

(ग) ४ रुग्णायें गर्भपात से हुई जननेन्द्रिय निर्बलता व सचिक्कणस्राव उपद्रवों से युक्त थीं।

(घ) ४ रुग्णायें श्लैष्मिक कला द्वारा होने वाले स्राव व जहाँ वह स्राव लगे फुन्सियां हो जाना व खुजली चलना आदि उपद्रवों युक्त थीं।

(ङ) ५ रुग्णायें मानसआघात जन्य क्षोभ से दाह, क्रोधी स्वभाव वाली व हिस्टीरिया आदि उपद्रवो वाली थीं।

(च) १९ रुग्णायें जीर्ण प्रदर से पीड़ित थीं।

इन में १३ से २१ वर्ष की आयु वाली १५, २० से ४५ वर्ष वाली ३०, व ४५ वर्ष से अधिक आयु वाली ५ रुग्णायें थी। प्रथम वर्ग में अविवाहित १० व विवाहित ५ थीं, द्वितीय वर्ग में १ अविवाहित, ३ विधवाएं व २६ दो से अधिक संतान वाली सौभाग्यवती बहिनें थी व तृतीय वर्ग में १ विधवा, १ वंध्या व ३ दो से अधिक बच्चों वाली थीं। इसी तरह प्रथम वर्ग में १० पढ़ने वाली व ५ गृह कार्य करने वाली थीं, द्वितीय वर्ग में २८ गृह कार्य करने वाली व २ मजदूरी करने वाली थी।

द्रव्यशक्ति

लेखक : द्रोणाचार्य, वैद्यवाचस्पति, M. Sc. A.

[वैद्यराज श्री द्रोणाचार्य, वैद्यवाचस्पति स्वर्गीय आयुर्वेदबृहस्पति भारतभूषणजी वर्मा के उत्तराधिकारी हैं। महाराजा आयुर्वैदिक महौषधालय, जोधपुर के आप प्रधान चिकित्सक हैं। मारवाड़ आयुर्वेद प्रचार-सभा, जिसका कि मारवाड़ की प्राचीन संस्थाओं में अग्रणी स्थान है, के आप अध्यक्ष हैं। आपके द्वारा मारवाड़ की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं का संचालन होता रहा है और हो रहा है। अनेकों वर्ष तक आप जिला कांग्रेस के प्रधान मंत्री रहे है। चरित्रनायक के आप आयुर्वेदीय शिष्य हैं। आपके द्वारा लिखित 'द्रव्य-शक्ति' नामक लेख पठनीय एवं मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
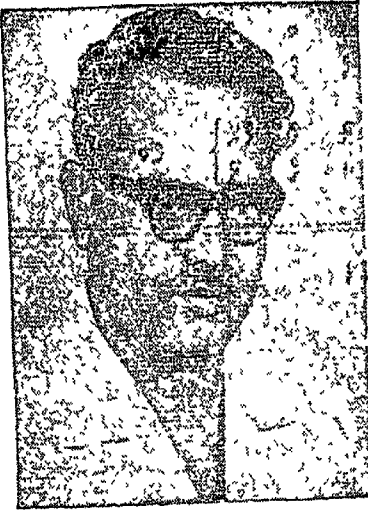
आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा की दृष्टि से रोगों के दो भेद किए हैं जिनमें (१) शस्त्र साध्य तथा दूसरे स्नेहादि क्रिया साध्य—इनमें प्रथम प्रकार के रोगों की चिकित्सा आज वैद्य जगत में से सर्वथा विलुप्त हो ही चुकी है। रही दूसरे प्रकार के रोगों की चिकित्सा जिसमे अभी बहुत कुछ कार्य करना अवशिष्ट हैं, यह आवश्यक है कि इसके बारे में आयुर्वेद के आचार्यो ने अपने जीवन में अनुभूत व परीक्षित सूत्र हमें थाती के रूप में दिए हैं। यह भी आवश्यक है कि हम आलस्य या अकर्मण्यता के वश में तथा आधुनिक युग की चकाचौंध के कारण दिशा-भ्रम में बहने लग गए हैं परन्तु शाश्वत आयुर्वेद की प्रतिज्ञा का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों ने भाव स्वभावनित्य तथा स्वभाव संसिद्ध लक्षण का ऐसा पाठ हमें दिया कि हम चाहे कितने ही भ्रान्त या पथभ्रष्ट हो जांय परन्तु समय अवश्य ही आएगा अथवा हमें समय वहां पहुचा देगा कि इसके बिना गति सम्भव नहीं क्योंकि आज हमारी स्थिति कालिदास के शब्दों में पर प्रत्ययनेय बुद्धि हो जाने से जो भी शब्द या वाक्य इंग्लैंड अथवा अमेरिका से प्राप्त होते हैं वे हमारे लिए बाबा वाक्य प्रमाणम् हो रहे हैं—यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती क्योंकि हमने हमारे रोग-निदान तथा चिकित्सा को ही नहीं विस्तृत करते जा रहे हैं परन्तु अब तो द्रव्यगुण शास्त्र भी पाश्चात्यों के लिखने अनुसार निर्माण करते जा रहे हैं जब कि आचार्य ने स्वभाव संसिद्ध

लक्षण कर द्रव्य को व ही शक्तियां जिन पर बहुत विचार तथा शास्त्रार्थ किया जाकर निर्णीत हुई। उन्हे उस समय सर्व सम्मति से मान्य सिद्धांतों के रूप में प्रतिपादन किया। द्रव्य को समझनेव समझाने अथवा प्रयोग करने के लिए द्रव्य की शक्तियों का ज्ञान करना निहायत जरूरी होता है। इसमें प्रथम शक्ति है रस रस्यते आस्वाद्यते अथवा तर्क संग्रह में बताए गए 'रसना ग्राह्यो गुणो रसः' जो हमारी जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय द्वारा आस्वादन किया जाय उसे रस कहते हैं। ये छः हैं। इनका विश्लेषण भी बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से किया है अर्थात् इनकी उत्पत्ति यद्यपि जल महाभूत की विशेषता से पृथ्वी के अधिष्ठान में होती है परन्तु दो दो महाभूतों के मिश्रण छ रसों की उत्पत्ति कहते हुए यह वैज्ञानिक तथ्य और बताया कि सूर्य अथवा यो कहिए कि पृथ्वी की परिक्रमा से आदान तथा विसर्ग काल की छः ऋतु बनती हैं और इनमे से एक एक ऋतु एक एक रस वाले द्रव्यों की प्रधान जनयित्री है। अभिप्राय यह हुआ कि छः ऋतुओं से छः रस बनते हैं। इनमें न कम हो सकते हैं न अधिक क्योंकि हमारे भारतवर्ष मे ऋतुएं छः हैं।

दूसरी द्रव्य की शक्ति है गुण। गुण तीन प्रकार के होते हैं—सामान्य गुण, वैशेषिक गुण तथा आत्मगुण—इनकी संख्या २०, २४ तथा ४० भी हो सकती है—ये गुण यद्यपि रसो के बताए हैं फिर भी गुणाः गुणाश्रयाः नोक्ताः—अतः रसगुणान् भिषक् विद्याद् द्रव्यगुणान् वाक्य के अनुसार द्रव्य की द्वितीय शक्ति जो द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहती है तथा एक गुण दूसरे गुण की वृद्धि या ह्रास में कारण बन जाता है परन्तु क्रिया इसमें नहीं।

तद् द्रव्यमात्मना किंचित्किंचिद्वीर्येणसेवितम्।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषहन्ति करोतिवा॥

द्रव्य, द्रव्य प्रभाव से वीर्य प्रभाव से रस-प्रभाव से अथवा विपाक प्रभाव से, गुण प्रभाव से क्रियाएं करता रहता है।

वीर्य दो हैं: शीत तथा उष्ण क्योंकि यह जगत् अग्निसोमीय है अथवा प्रकृति पुरुष-मय इस संसार में जिस प्रकार दृश्य जगत् द्वैध से अतिरिक्त नहीं हो सकता इसी तरह शक्ति प्रधानता को आदान व विसर्गकाल इस भूमण्डल पर सूर्य के द्वारा बनता है तद्वत् दो ही शक्ति स्वरूप वीर्य बताया गया है।

नावीर्यं कुरुतेकिंचित्सर्वा वीर्यं कृता क्रिया।

विपाक मधुर, अम्ल कटु तीन या मधुर तथा कटु दो प्रकार का पक्वीकरण की प्रक्रिया से द्रव्यों के विशेष दो गुणों से विपाक लक्षण की उत्तमता, मध्यमता तथा निकृष्टता जानो जाती है।

द्रव्यों के रस गुण वीर्य विपाक को बता कर इनके विचित्र प्रभावों को देखकर इनके दो भेद किये जाते हैं :—

(१) प्रकृति सम समवायारब्ध

(२) विकृति विषम समवायारब्ध

द्रव्य अपने स्वभाव से प्रसिद्ध है तथा शास्त्र में जिनके व्यवहार करने का वर्णन कर दिया है अतः उनके हेतुओं पर मीमांसा करना संगत नहीं ।

इन बातों को समझाने वाली प्रयोगशाला आज आयुर्वेद के छात्र तथा आयुर्वेद के अहंमानियों में नहीं रही है, नहीं इनके विवेचन व विश्लेष तथा प्रतिपादन का पन्था अवलोकित रहता है यद्यपि इनके बारे में द्रव्यों के निपात अर्थात् जिह्वा संयोग से रस का तथा वीर्य, विपाक, गुण तथा प्रभाव के बारे में कहा परन्तु अब उनकी इस प्रयोगशाला को जिसका कि उन्होंने अन्वेषण किया वह आज लुप्त सी होती जा रही है तथा हम मार्ग से विमार्ग की ओर बढ़ रहे हैं । उनके लिए इस प्रयोगशाला की रूपरेखा को खोज निकाल सर्व प्रथम तथा आयुर्वेद कल्याण का पन्था होगा । जो इसे खोज कर देगा वही आयुर्वेद विज्ञान का सच्चा मार्गदर्शक होगा । इसमें दो राय नहीं हो सकती ।

गुण ज्ञान

१	गुरु	Heavy	बृंहण करने वाले द्रव्य	गौरव, निद्राधिक्य	पार्थिव	कफ	
२	मन्द	Slow	शमन ,, ,, ,,	आलस्य, चिरकारिता		कफ	
३	शीत	Cold	स्तम्भन ,, ,, ,,	वल्यः, सुप्ति स्तम्भ संकोच		वात	यंत्रों की गति नियमन करता है।
४	स्निग्ध	Slight	क्लेदन ,, ,, ,,	स्नेह, बन्ध	आप्य	कफ	
५	श्लक्ष्ण	Smooth	रोपन ,, ,, ,,			कफ	
६	सान्द्र	Dense	प्रसादन ,, ,, ,,				
७	मृदु	Soft	श्लथन ,, ,, ,,	शिथिलता	आप्य	कफ	
८	स्थिर	Stabil	धारण ,, ,, ,,	स्तैमित्य		कफ	
९	सूक्ष्म	Subtle	विवरण ,, ,, ,,	अवकाशकर, सौषिर्य		वात	
१०	विशद	Clear	क्षालन ,, ,, ,,	वैशद्य			
११	चल	Labillty	प्रेरण ,, ,, ,,	गत्युत्पादक, कम्प		वात	
१२	शीघ्र	Rapid					
१३	बहु	Acceler					
१४	गति	Motion					
१५	कटु	Pungent					
१६	विस्र	Fluid		पूतिमुखता			

१७	अम्ल	Acid				
१८	मधु	Sweet				
१९	स्तिमित	Rigid				
२०	सार	Solid				
२१	लघु	Light	लंघन करने वाले द्रव्य	चलन, स्पंदन, भ्रम, अस्वप्न ।	अग्निवायु रव	वात
२२	तीक्ष्ण	Rancid	शोधन ,, ,, ,,	पाक, संघातभेदनः	आग्नेय	पित्त
२३	उष्ण	Hot	स्वेदन ,, ,, ,,	ऊष्माधिक्य, अतिस्वेद	आग्नेय	पित्त
२४	रूक्ष	Dry	शोषण ,, ,, ,,	वायव्य, आग्नेय	आकाशीय	
२५	खर	Rough	लेखन ,, ,, ,,	खर, परुषता		
२६	द्रव	Liquid	विलोडन ,, ,, ,,	क्लेद, कोथ	पित्त	
२७	कठिन	Hard	दृढन ,, ,, ,,	दृढता कर		
२८	सर			अतिसरण से	पित्त	
२९	स्थूल		संवरण ,, ,, ,,	अवरोधक		
३०	पिच्छिल	Viscid	लेपन ,, ,, ,,	हृदयलेप, कंठलेप		

आरोग्य और दीर्घायु

लेखक—कविराज मनसाराम शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, जोधपुर

[कविराज श्री मनसाराम जी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य भू० पू० नगर परिषद् के सदस्य एवं मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री रहे हैं। शास्त्री जी ने स्वास्थ्य तथा आरोग्य सम्बन्धी कई चार्ट प्रकाशित किये हैं। शास्त्री जी के साहित्यिक शिष्य अनेक है। आप श्री नारायण आयुर्वेद विद्यालय जोधपुर में प्रवक्ता के रूप में आयुर्वेद की सेवा कर रहे है। आपके कई पत्रिकाओं में उच्च कोटि के लेख प्रकाशित होते है। शास्त्रीजी का 'आरोग्य और दीर्घायु' नामक लेख बड़ा ही उपयोगी और सारगर्भित है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आरोग्य के पर्यायवाची शब्द—स्वस्थ, नीरोग, निरामय इत्यादि। जगत् स्रष्टा को सृष्टि इस लोक और परलोक में हित चाहने वाले पुरुषों को तीन इषणाएँ (इच्छाएं) होती है। १ प्राणैषणा (जीवन की इच्छा) २ धनैषणा (धन की इच्छा ३ परलोकैषणा (परलोक की इच्छा) इन सब में प्राणैषणा मुख्य है क्योंकि प्राण छूट जाने पर सब छूट जाती हैं। जीवन की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अपने स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगी होने पर रोग को शान्त करने का प्रमादरहित होकर प्रयत्न करना चाहिए। उसीसे मनुष्य अपने प्राणों की रक्षा करते हुए दीर्घायु प्राप्त करते हैं। यथा श्री चरकाचार्य ने सूत्र स्थान अध्याय १० में वर्णन किया है।

इह खलु पुरुषेणानुपहत सत्व बुद्धि पौरुष पराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्रः एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति ॥३॥

आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत् पूर्वतरमापद्यते। कस्मात्, प्राणपरित्यागे हि सर्वपरित्यागः। तस्यानुपालनं—स्वस्थस्य स्वास्थ्यवृत्तिरातुरस्य विकार प्रशमनेऽप्रमादः, तदुभयमेतदुक्तं लभ्यते च, तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुराप्नोतीति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति ॥४॥

तत्र निरुक्तिः (व्युत्पत्तिः)

प्राणाः सन्त्यस्यास्मिन् वेति प्राणी। शरीरत्वाच्छरीरी। देहत्वाद्देही। जीवनत्वाज्जीवी। चेतनत्वाच्च चेतनेति शब्दाः॥

प्राणियों की मूल इन्द्रियें हैं—

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्तीत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे। च०सू० ८।३

ता०—इस संसार में कर्म कर पांच इन्द्रिये हैं, पांच इन्द्रियों के पदार्थ हैं, पांच उनके अधिकरण हैं, पाच उनके विषय हैं और पांच उनके ज्ञान हैं।

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्व सज्ञकं चेत इत्यादुरेके, तदर्थात्म संयत्तदायत्त चेष्ठं चेष्ठाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्॥ च० सू० ८।४

ता०—मन अतीन्द्रिय है। वही सत्वसंज्ञक चित्त कहा जाता है, जिसके द्वारा आत्मा सुख दुखादि का चिन्तन करता है इसलिए इच्छा, द्वेष, सुख दुखादि मन के आश्रित है। इन्द्रियों की चेष्टाओं, व्यापार वा प्रतीति का कारण मन ही है।

मनः पुरः सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति॥ च० सू० ८।७

ता०—सब इन्द्रियें मन को अग्रसर करके ही अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

तत्र चक्षुः, श्रोत्रं, घ्राणं, रसनं, स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि॥ च० सू० ८।८

ता०—नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा ये पांच इन्द्रियें हैं।

पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि—खं वायुर्ज्योतिरापोभूरिति॥ च० सू० ८।९

ता०—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच इन्द्रियों के ग्राह्य द्रव्य (पदार्थ) हैं।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति॥ च० सू० ८।१०

ता०—पांच इन्द्रियों के अधिष्ठान (स्थान) हैं। दोनों अक्षि गोलक, दोनों कान के बाहिर के भाग, दोनों नासा फलक, जीभ और त्वचा।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्द स्पर्श रूप रस गन्धाः॥ च० सू० ८।११

ता०—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच इन्द्रियों के अर्थ विषय है। इंद्रियों का ज्ञान भी पांच प्रकार का कहा है—चक्षुर्ज्ञान, श्रोत्र ज्ञान, गन्ध ज्ञान, रस ज्ञान, स्पर्शज्ञान इन्द्रियों में विकृति और प्रकृति कैसे उत्पन्न होती है।

यदर्थातियोगायोगा मिथ्या योगात्समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय संपद्यते, समयोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति॥ च०सू०८।१६

ता० मन के साथ इन्द्रियों का विषयों में अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग होने से विकृति (रोग) उत्पन्न होता है जिससे बुद्धि का नाश हो जाता है, फिर सम (उचित) योग से इन्द्रियें अपनी प्रकृति को प्राप्त कर लेती हैं; बुद्धि-बुद्धि हो जाती है।

अन्यच्च—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनो नु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ गीता० अ० २।६७

ता० जो मनुष्य इन्द्रियों (विषयों) के अनुसार आचरण करते हैं उनका मन उन इन्द्रियों के विषयों का अनुगामी हो जाता है। वह मन मनुष्यों की बुद्धि को हरण कर लेता है। जैसे जल में वायु नाव को हरण कर लेता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धि-नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ गीता० २।६२,६३

ता०—इन्द्रियों के विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति भ्रमित हो जाने से बुद्धि (ज्ञान) का नाश होता है, बुद्धि के नाश होने से पुरुष अपनी श्रेयस्कर साधना से गिर जाता है, नाश हो जाता है। स्वस्थता अस्वस्थता में हेतु क्या है ?

मनस्तु चिन्त्यमर्थः, तत्र मनसो बुद्धेश्च त एव समानाति हीन मिथ्या योगाः प्रकृति विकृति हेतवो भवन्ति ॥ च० सू० ८।१७

ता०—मन का विषय सुख-दुःखादि चिन्तन है। वहां मन और बुद्धि का समान योग स्वस्थता का हेतु है। मन एवं बुद्धि का अति, हीन, मिथ्या योग विकृति (अस्वस्थता) का हेतु है।

सद् स्वस्थ वृत्त की आवश्यकता—

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्य मेभिर्हेतुभिः तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थ संयोगेन, बुद्धया सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन, देश कालात्मगुण विपरीतोपसेवनेन चेति। तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् संपादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रिय विजयं चेति ॥ च० सू० ८।१८

ता०—उपर्युक्त कारणों से अनुपतप्त मन सहित इन्द्रियों के अनुतापन करने के

लिए नीरोगावस्था में रहने की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। जैसे—उचित, अनुकूल इन्द्रिय और विषय के संयोग से एवं बुद्धि द्वारा अच्छी तरह देख देख कर उचित रूप से कर्म करने से, और देश, काल, आत्म गुण के अविपरीत हितकर पदार्थों के सेवन से इंद्रियें उपतप्त (विकृत) न होकर समावस्था में रहती हैं। इसलिए अपना हित करना चाहने वाले सब पुरुषों को सदा सब कार्य याद रख कर इन्द्रियों को मन के साथ मिला कर सद् (स्वस्थ) वृत्त का पालन करना चाहिए। सद्वृत्त पालन से आरोग्य और दीर्घायु दोनों एक साथ सफल होते है, सद् (स्वस्थ) वृत्त को निम्न प्रकार से संपूर्ण रूप से कहा है—

तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामः। तद्यथा-देव गो ब्राह्मण गुरु वृद्ध सिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपभुंजीत, मलायनेस्वभीक्ष्णं पादयो श्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिः पक्षस्य केश श्मश्रु लोभ नखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासा सुमनाः सुगन्धिः स्यात् ॥च०सू०८।१९

ता०—देव (ईश्वर), गौ, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता), वृद्ध, सिद्ध और आचार्यो की पूजा (सेवा) करनी चाहिए, अग्निहोत्र करना चाहिए, दोष (रोग) नाशक वनस्पतियें धारण करनी चाहिएँ। दो समय (प्रातः सायं) भोजन करना चाहिए, मल के स्थानों को बार-बार साफ करना चाहिए, पांवों को सदा पवित्र रखना चाहिए। बाल, दाढो-मूँछ, लोम, नखों को पक्ष में तीन बार कटवाना चाहिए। प्रतिदिन शुद्ध (धुला हुआ) वस्त्र धारण करना चाहिए। सदा प्रसन्न मन रहना चाहिए, सुगंध द्रव्य धारण अथवा प्रलेप करना चाहिए।

सद्वृत्तयुक्त पुरुष कैसा होना चाहिए ?

साधुवेशः प्रसाधित केशों, मूर्धश्रोत्रघ्राणपाद तैल नित्यो, धूमप्रः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखो, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिंडदः, काले हितमित मधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्षु, फलेने निश्चितो, निर्भीको, धीमान्, ह्रीमान्, महोत्साहो, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजन वयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्रो, दण्डी, मौली, सोपानत्को, युगमात्रदृग्विचेरत्, मङ्गलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्याकेशसुषोतंकरभस्म कपालस्नान वाले भूमीनां परिहर्त्ता, प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात् सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामा श्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसधः, सामप्रधानः, परपरुषवचन सहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता। च० सू० ८।२०

ता०—साधारण वेष वाला, केश संवरा हुआ, नित्य शिर, कान, नाक, पांव में तैल लगाने वाला, प्रयोग के साथ धूप (वाष्प) पान करने वाला, अतिथि आदि को पहिले कुशल पूछने वाला, सुमुख, कठिनाई में सोच कर काम करने वाला, हवन करने वाला, पंचमहायज्ञ करने

वाला, दान देने वाला, चौराहों को नमस्कार करने वाला, बलि देने वाला, अतिथिपूजक, पितृओं को पिण्डदान देने वाला, समय पर हितकारी-सीमित-मधुर-अर्थयुक्त वाणी बोलने वाला, वश्यी, धर्मात्मा, दूसरों की उन्नति से ईर्षा रख अपनी उन्नति करने वाला, फल में ईर्षारहित, निश्चिन्त, निर्भय, बुद्धिमान्, लज्जायुक्त, बड़ा उत्साही, चतुर, क्षमावान्, धर्मात्मा, आस्तिक, नम्रता-बुद्धि-विद्या-कुटुम्बी-वयोवृद्ध-सिद्ध, आचार्यों की सेवा करने वाला, छतरी, छड़ी, पगड़ी (साफादि), जूती धारण करने वाला, चारों ओर देखकर चलने वाला, शुभ कार्य करने वाला, मलीनवस्त्र-हड्डी-मांस, कोरे, अशुद्ध, केश, तुष, कंकड, भस्म, खोपड़ी-युक्त (श्मशानादि) और स्नान, बलि आदि की भूमि को छोड़ने वाला, श्रम से पूर्व व्यायाम न करने वाला, प्राणीमात्र में बन्धुत्व रखने वाला, क्रुद्धों को मनाने वाला, डरे हुओं को आश्वासन देने वाला, गरीबों का उपकार करने वाला, सत्य प्रतिज्ञा वाला, शान्तिमुख्य, अन्यों के कठोर वचनों को सहने वाला, अक्रोधी, शान्ति वाला, रागद्वेष के कारणों का नाश करने वाला—ऐसा सद् (स्वस्थ) वृत्त युक्त पुरुष होना चाहिए ॥

सद्वृत्त युक्त पुरुष के कर्त्तव्य—

नानृतंब्रूयात्, नान्यस्वमाद्द्यात्, नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियं, न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापं, न पापेऽपि पापीस्यात्, नान्यदोषात् ब्रूयात्, नान्य रहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत, नोन्मत्तैर्नपतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्नदुष्टैः, न दुष्टयानान्यारोहेत्, नजानुसमं कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरि विषममस्तकेष्वनु चरेत्, न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत्, कूलच्छायां नोपासीत, नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्, नोच्चैर्हसेत्, न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्,, नासंवृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्, न नासिका कुष्णीयात्, न दन्तान् विघट्टयेत्, न नखान् वादयेत्, नास्थीन्यभिहन्यात्, न भूमि विलिखेत्, न छिन्द्यात्तृणं, न लोष्ठं मृद्नीयात्, न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यग्निमेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत, न हुंकार्याच्छवं, न चैत्यध्वज गुरुपूज्याशस्तच्छायाक्रामेत्, न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथो पवन श्मशानाघातनान्यासेवेत, नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्, न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत, नोत्तमैविरुद्ध्येत्, नावरानुपासीत, न जिह्मं रोचयेत्, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत्, न साहसातिस्वप्न-प्रजागरस्नान पानाशनान्यासेवेत, नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्, न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिन; पुरोवातातपावश्यायाति प्रवातान् जह्यात्, कलिं नारभेत, नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत, नोच्छिष्टो नाधः कृत्वा प्रतापयेत्, नाविगतक्लमो नाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्, न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गं, न केशाग्राण्यभिन्यात्, नोपस्पृश्यतएव वाससी बिभृयात्, नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गल सुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, न पूज्य मंगलान्यप सव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ॥ च० सू० ८।२१

ता०—असत्य नहीं बोलना, दूसरे के धन को न हरना, दूसरे की स्त्री-सम्पत्ति को न हरना, दूसरे के दोषों को न कहना, दूसरों के भेद को न जानना, अधार्मिक एवं राजा (नेताओं) से द्वेष करने वाले, उन्मत्त-पतित-भ्रूण हत्या करने वाले-क्षुद्र-दुष्ट आदि के साथ न बैठना, बिना अभ्यास सवारी पर न बैठना, घुटने खड़े कर अधिक देर तक न बैठना, बिछौना-तकियारहित, ओछे, ऊंचे-नीचे स्थान पर न सोना, पर्वतों के नीचे स्थान-शिखर पर न घूमना, वृक्षों पर न चढ़ना, जल के भयंकर वेग में स्नान न करना, नदी तटवर्ती, वृक्ष की छाया में न बैठना, अग्निकांड के चारों ओर न घूमना, जोर से न हंसना, शब्द के साथ अपान वायु न छोड़ना, मुंह बिना ढके जंभाई-छींक-हंसी न करना, नाक को न कुचरना, दांतों को न पीसना, नखों को न घिसना, हड्डियों को न बजाना, भूमि को न कुचरना, तिनखे को न तोड़ना, मिट्टी के ढेले को न फोड़ना, वृथा अंगों को न मरोड़ना, तेज प्रकाश, अग्नि-चितादि को न देखना, शव को देख कर हुंकार न करना, चैत्य ग्राम देवता, ध्वजा, गुरु, पूज्य, कल्याणकारी वस्तुओं की छाया को न लांघना, रात्रि के समय देवालय, चैत्य-ग्राम देवता, मैदान, चौराहा, बगीचा, श्मशान, वध्य स्थान में न रहना, शून्य-गृह-जंगल में अकेला प्रवेश न करना, पापाचारी स्त्री-मित्र सेवक के साथ न रहना, उत्तम पुरुषों के साथ विरोध न करना, अपने से छोटों के साथ न बैठना, कुटिलता में रुचि न रखना, अश्रेष्ठों का आश्रय न लेना, आतंक उत्पन्न न करना, अति साहस सोना-जागना-स्नान पीना-भोजन न करना, घुटने उठा कर बहुत समय न बैठना, विषैले भयंकर (सर्पादि), दाढ वाले (सिंहादि), सींग वाले (बैल आदि) के पास न जाना, सन्मुख की वायु-धूप-ओस तेज हवा को छोड़ देना, व्यर्थ कलह न करना, असावधान होकर अग्नि की पूजा न करना, झूठे भोजन को पुन: न तपाना, थकान बिना दूर हुए-बिना मुखादि धोए-नंगा स्नान न करना, धोती से सिर को न पोंछना, केशों के अग्र भाग को न तोड़ना, स्नान किए हुए वस्त्र को निचोड कर पुन: न पहिनना, रत्न-घृत-पूज्य परमेश्वर-मंगल वस्तु का स्पर्श किए बिना घर से बाहर न निकलना, पूज्य-मंगलकारी पदार्थों के वाम भाग से अपूज्य अमंगलकारी पदार्थों के दक्षिण (दायें) भाग से न जाना चाहिए।

मनुष्य मात्र को निम्न अवस्थाओं में भोजन नहीं करना चाहिए—

वि० शा०—श्री चरकाचार्यने 'द्विज' शब्द का उल्लेख किया है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य लगाया जाता है, किन्तु यह मनुष्य मात्र के लिए प्रयोग करना अनुपयुक्त नहीं।

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगंधो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपाद-वदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टा शुचि क्षुधिच परिचरो नापात्रीष्वमे-

प्याप्नु नादेजे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं कुत्सयन् न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितशुष्कशाकफल भक्ष्येभ्यः । नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवण सक्तु सर्पिभ्यः । न नक्तं दधि भुञ्जीत, न सक्तूनेकानेकाम् श्नीयात्, न निशि न भुक्त्वा न बहून् न द्विर्नोदकान्तरितान् न छित्वा द्विजैर्भक्षयेत् ॥ च० सू० ८।२२

ता०—रत्न को हाथ में धारण किए विना, बिना वस्त्र पहिने, बिना जप किये, बिना हवन, देवताओं के लिए कुछ निरूपण किए विना, पितादि को बिना दिये, बड़े पुरुष अतिथि-आश्रितों को बिना दिए (खिलाये), न अशुभ गन्ध, विना पुष्पहार धारण किए, बिना हाथ-पांव-मुख धोए, झूठे मुंह से, न उत्तर की ओर मुंह करके, न उदासीन मन, बिना भक्ति, बिना पवित्रता से दिया हुआ, भूखे के हाथ से परोसा हुआ, बिना पात्र, मलिन पात्रों में, अदेश-अकाल-अस्थान-संकुचित स्थान, वैश्वदेव बिना किए, प्रोक्षणोदक से प्रोक्षण (पवित्र) किये विना, बिना वेद मंत्रों से अभिमंत्रित किये, निन्दा करते हुए, निन्दित मन के प्रतिकूल पुरुषों के साथ बैठ कर भोजन नहीं करना चाहिए। बासी भोजन नहीं खाना चाहिए, मांस-हरे-सूखे साग-फल बासी खाये जा सकते हैं। दही, शहद, नमक, सत्तु, घृत इन सब को खा जाना चाहिए (झूठा नहीं छोड़ना चाहिए)। अन्य भोजन कुछ पात्र में शेष रखना चाहिए जो चींटी आदि के भक्षणार्थ उपयोग किया जा सके। रात्रि में दही नहीं खाना चाहिए। केवल, रात्रि में, भोजन के पश्चात्, दिन मे दो बार, पानी में अथवा अधिक पानी मे घोला हुआ सत्तू नही खाना चाहिए। सत्तू दांतों से काटकर नहीं खाना चाहिए (निगल जाना चाहिए)।

सद्वृत्त के लिये शुद्धि का उपदेश:—

नानृजुः क्षुया न्नाद्यान्नशयीत । न वेगितोऽन्य कार्यः स्यात् । न वाय्वग्नि सलिल-सोमार्कद्विज गुरु प्रतिमुखं निष्ठीविका वातवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्, न पंथानमवमूत्रयेत् । न जन-वति नान्नकाले न जपहोमध्ययनबलिमङ्गल क्रियासु श्लेष्म सिङ्घाणकं मुञ्चेत् ॥ च० सू० ८।२३

ता०—बिना नीचे झुके छींकना, खाना और सोना नहीं चाहिए। मल-मूत्रादि का वेग आ जाने पर अन्य कार्य नही करना चाहिए। वायु-अग्नि-जल-चन्द्रमा-सूर्य-ब्राह्मण-गुरु (माता-पितादि) के सन्मुख मुंह करके थूकना, अपान वायु छोड़ना, मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए। जन-विश्राम स्थान में, भोजन के समय मल-मूत्र नहीं त्यागना चाहिए। जप-हवन, पठन-बलि एवं शुभ क्रियाके स्थान पर नाक का मल नहीं फेंकना चाहिए।

सद्वृत्त के लिए त्याज्य:—

न सतो न गुरून् परिवदेत्, नाशुचिरभिचारकर्म चैत्यपूज्यपूजाध्ययन मभिनिर्वर्तयेत् । च० सू० ८।२५

ता०—सज्जन अथवा गुरुजनों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। अथवा गुरुजनों की अपवित्र, अभिचार (हिंसादि) करके ग्रामदेवता की पूजा, अन्य देवता-भगवान का पूजा, अध्ययन आदि नहीं करने चाहिए।

अध्ययन के लिये ध्यानगम्य:—

न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लवे न भूमिकंपे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ कौ न संध्ययोर्नामुखाद् गुरो र्नाव पतितं नातिमात्रं न तान्तं न विस्वरं नानवस्थित पदं नातिद्रुतं न विलंबितं नातिल्कीबं नात्युच्चै र्नातिनीचैः स्वरैरययनमभ्यसेत् ।। च० सू० ८।२६

ता०—ऋतु बिजली चमकने पर, दिशाओं के जलने पर, अग्नि से नगरादि के जल जाने पर, भूकम्प आ जाने पर, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी, अमावस्या, प्रतिपदा को, संध्या समयों में, बिना गुरुमुख के, न अक्षर छोड़कर, अत्यधिक-रूखा-स्वरहीन पदव्यवस्था रहित बहुत जल्दी-रुक रुककर-अतिदुर्बल-उच्च-अतिनीचे स्वर से पठन-पाठन नहीं करना चाहिए।

सद्वृत्त के लिये स्मरणीय—

नाति समयं जह्यात्। न नियमंभिन्द्यात्। न नक्तं नादेशे चरेत। न संध्यास्व भ्यवहाराध्ययन स्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्। न बालवृद्धलुब्ध मूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्। न मद्यद्यूतवेश्या प्रसंगरुचिः स्यात्। गुह्यं विवृणुयात्। न कञ्चिदवजानीयात्। नाहंमानी स्हात्ता-दशो ना दक्षिणो नासूयकः। न ब्राह्मणात् परिवदेत् न गवां दण्डमुद्यच्छेत्। न वृद्धान् न गुरून् न गणान् व नृपान् न वाऽधिक्षिपेत्। चातिब्रूयात्। न बान्धनानुरक्तकृच्छ्र द्वितीयगुह्यज्ञान् बहिः कुर्यात् ।। च० सू० ८।२७

ता०—समय को व्यर्थ न खोना। नियमों का उल्लंघन न करना। रात्रि के समय वनादि में न घूमना। संध्या समयों में—भोजन, पठन, मैथुन, नींद नहीं करनी चाहिए। बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, कुष्ठादि रोगी, अनुत्साही, नपुंसक के साथ मित्रता नहीं करनी चाहिए। मद्य, जुआ वेश्यागमन में रुचि नहीं रखनी चाहिए। किसी के गुप्त रहस्य को नहीं खोलना चाहिए। किसी को अपमानित नहीं करना चाहिए। अभिमानी, कार्यमूढ़ दोषदर्शी, ईर्षालु, ब्राह्मणों का निन्दक नहीं होना चाहिए। गायों की ओर डंडा नहीं उठाना चाहिए। वृद्ध, गुरुजन, जनसमूह एवं राजा (नेता) की निन्दा नहीं करनी चाहिए। अधिक बोलना नही चाहिए। भाई, बन्धु, स्नेही, संकट में सहायता करने वाले, और जानने वाले इनका बहिष्कार नही करना चाहिए।

सद्वृत्त के लिये चिन्तनीय—

नाभीरो नात्युच्छ्रितसत्वः स्यात्। नाभृतभृत्यो, नाविश्रब्धस्वजनो, नैकः सुखी, न

दुःखशीलाचारोपचारो, न सर्वविश्रम्भी, नसर्वाभिशङ्की, न सर्वकाल विचारी। न कार्यकाल-मतिपातयेत्। नापरीक्षितमभिनिविशेत्। नेन्द्रियवशगः स्यात्। न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्। न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्। न चातिदीर्घसूत्री स्यात्। न क्रोध हर्षायतु विदध्यात्। न शोकमनुवसेत्। न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छन्नासिद्धौ दैन्यम्। प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत् हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् हेत्वारम्भनित्यश्च। न कृतमित्याश्वसेत्, न वीर्यं जह्यात्। नापवाद मनुस्मरेत्।

च० सू० ८।२८

ता०—अति अधीर, उच्छृङ्खल न हो। नौकरादि का पोषण करना चाहिए। अपने लोगों में अविश्वास नही करना चाहिए। अकेला सुखोपभोक्ता नहीं होना चाहिए। स्वभाव, आचरण, उपचार में हीन नहीं रहना चाहिए। सब पर सर्वत्र-विश्वासी, सन्देह करने वाला, सवलमय विचारवान् नही होना चाहिए। समय को व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। अपरीक्षित स्थान पर नहीं बैठना चाहिए। इन्द्रियों के वश में नहीं रहना चाहिए। चंचल मन को भ्रमित नही करना चाहिए। बुद्धि-ज्ञान-इन्द्रियों पर अतिभार नहीं डालना चाहिए। बहुत आलसी नहीं होना चाहिए। क्रोध हर्ष में अति नही करना चाहिए। शोकवश नहीं होना चाहिए। कार्यसिद्ध हो जाने पर अति प्रसन्न और असफल हो जाने पर अति दीन न हो। बार-बार प्रकृति का स्मरण करना चाहिए। किसी कार्य-कारण और प्रभाव को निश्चय करके तदनुसार नित्य कर्म करना चाहिए। किये हुये का विचार नहीं करना चाहिए। पराक्रम का त्याग नहीं करना चाहिए। अपवाद (निन्दा) का स्मरण नहीं करना चाहिए।

दीर्घ आयु के लिए कर्त्तव्य और प्रार्थना—

नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयादात्मानमाशीर्भिरा शासानः, अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीराद् वायुर्मे प्राणानादधातु विष्णुर्मे बलमादधातु इन्द्रो मे वीर्यं शिवा मां प्रविशन्त्वाप 'आपोहिष्ठेत्यपः' स्पृशेत्, द्विः परिमृज्योष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खानि चोपस्पृशेत्द्भिरात्मानं हृदयंशिरश्च, ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्री कारुण्यहर्षोपेक्षा प्रशमपरश्चस्यादिति ॥

च० सू० ८।२९

ता०—अपवित्र अवस्था में—शुद्ध घी, अक्षत, तिल, दर्भ, सरसों से अग्नि में हवन, प्रार्थना—हे अग्नि! मेरे शरीर से बाहर न जाय। वायु मेरे प्राणों को धारण करे, विष्णु मेरे बल का संचार करे। इन्द्र मेरे वीर्य की वृद्धि करे। कल्याणकारी जल मेरे में प्रवेश करे।

आपो हिष्ठामयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन।
महेरणायचक्षसे यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयते हनः।
उषतीरिवमातरस्तस्माऽरङ्ग मामवो यस्य क्षयाय जिन्वत।

ता०—इस मंत्र से जल का शरीर पर स्पर्श करना चाहिए। शिर, आँख, कान, नाक,

हृदय, इन्द्रियों को जल से स्पर्श करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान मैत्री, दया, प्रसन्नता, अपरिग्रह, बुद्धि, शान्तचित्त युक्त बनना चाहिए।

इस प्रकार श्रीचरकाचार्य ने अपनी संहिता में स्वस्थवृत्त (आरोग्य) का वर्णन करते हुए दीर्घायु प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शन किया है :—

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठिति।
स समाः शतमव्याधिशयुषा न विपुज्येत ॥३१॥

ता०—जो मनुष्य उक्त प्रकार से स्वस्थवृत्त का आचरण करता है वह सौ वर्षों तक नीरोग रहता हुआ जीवित रहता है।

वेदों में आरोग्य और दीर्घायु होने के उपाय

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाप कमज्ञात यक्ष्माहुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रयुयुक्तमेनम् ॥ ऋ० १०।६१।१

ता०—हे बालक ! मैं गृहपति तुमको सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए हविष्यान्न के द्वारा यक्ष्मा (शोष) रोग से सुरक्षित रखूं। यदि इस बालक को पकड़ने वाला (शीत-वातादि) रोग भी ग्रहण करले तो भी इन्द्राग्नि = शुद्ध वायु, सूर्य की धूप और होमाग्नि सेक ये दोनों बालक को उस रोग से मुक्त करे।

वि० ज्ञा०—प्रभात-वायु, सूर्यप्रभा, सेक और होम की अग्नि बालक के लिए रोग-मुक्त करने वाली प्रदर्शित की है।

यदि क्षितायुर्यदि वापरे तो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋते रुपस्थादस्यार्षमेने शत शारदाय ॥ ऋ० १०।१६१।२

ता०—यदि यह बालक क्षीणायु हो गया हो, यदि वह निराशोत्पादक स्थिति को पहुंच गया हो, यदि मृत्यु के समीप पहुच गया हो तो भी मैं उपायज्ञ पुरुष उस बालक को रोग अथवा मृत्यु के हेतुओं से पुनः लौटा लेता हूं और शतायु के लिए पुनः बलवान् बना देता हूँ।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा हार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्पति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ऋ० ।१६१।३

ता०—मैं उपायज्ञ-सहस्रवीर्या-शतवीर्या नामक औषधि से इस बालक को मृत्यु के चंगुल से छुड़ा कर ले आऊं। जिससे वह परमेश्वर इस जीव को सौ वर्ष तक दुष्कर्मों के कुफल से पार कर दे (नीरोग कर दे)।

वि० ज्ञा —शतवीर्या औषधि बालकों के लिए पुष्टिकर प्रदर्शित की है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ऋ० १११६१४

ता०—मैं शतायु देने वाली हविरूप औषधि अथवा अन्न से इस बालक को मृत्यु के मुह से लौटा लाता हूँ। सब विद्वान् लोग बालक को आशीर्वाद दें। हे बालक! तू निरन्तर बढ़ता हुआ सौ सरद्-हेमन्त-वसंत पर्यन्त जीवित रह। ज्ञानवान् सब का उत्पादक, महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा तुझे शतायु करे।

प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ अथर्व० ८।१।२०

ता०—जिस प्रकार रथ के दोनों बैल अपनी वृषशाला में प्रवेश होते हैं उसी प्रकार हे प्राण-अपान वायु, श्वास-प्रश्वास तुम दोनों इस बालक में प्रवेश करो और अन्य जो सैकड़ों मृत्यु के कारण बताये जाते हैं वे भी दूर हो जायें।

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ अ० ८।१।२१

ता०—हे प्राण अपान वायु! तुम दोनों इस देह में ही रहो। तुम दोनों इस देह को छोड़ कर मत जाओ। तुम इस बालक के शरीर और अंगों को भी बराबर वृद्धावस्था तक पहुँचा दो।

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ अथ० ८।१।२२

ता०—हे बालक! तुझे वृद्धावस्था तक पहुँचाता हूँ और तब तक तेरी रक्षा करता तुझको वृद्धावस्था तक व्यवहारकुशल बनाये रखता हूँ। यह वार्धक दशा भी सुखों को प्राप्त कराये (रोगमुक्त रखें)। मृत्यु के जो सौ कारण बताते हैं वे भी दूर हों।

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥

ता०—हे बालक! तुझे वृद्धावस्था ने भी इस प्रकार बांध लिया है जिस प्रकार रस्सी से बैल को बांध देते हैं। और बाल्यकाल की जिस अकाल मृत्यु ने भी तुझे उत्पन्न होते, इस फंदे से बांध दिया है। तेरे उस फंदे को विश्वपति सत्य हाथों से आत्मा के दोष पुण्य कर्मों को खोल दे। वह वाचस्पति वैद्य सत्य औषधि प्रयोग से तेरे दोषज रोगों को दूर करदे।

सन्तत ज्वर-दोष, अपने समान दूष्य, देश, प्रकृति तथा ऋतु के अनु-गुण होने से बलिष्ट तथा गौरवशाली बन जाता है। इस प्रकार की स्थिति में जब आद्य रस धातु के साथ दोष संमूर्च्छित हो जाता है। इससे देह के धातुओं में, विसर्ग संस्थान के स्रोतों से बाहिर किया जाने वाला मल क्षिप्त हो जाता है—अर्थात् मल जब धातुओं में होने से धातुपाकी, तथा केवल मलों में होने से मलपाकी कहलाता है।

धातुपाक की अवस्था भयानक अवस्था होती है, इसमें ज्वर कम नही होता, क्रम से बढ़ता ही रहता है तथा रोगी की स्थिति बिगड़ती जाती है।

अभिप्राय यह हुआ कि दूष्य, देश, काल, का दोषों के साथ विरोध न होने से बली तथा विशेष कष्टप्रद होता है। और इसमें दोष सभी कफ स्थानों (पांचों) में व्यवस्थित रहता है।

ज्वर का संताप मलों तथा धातुओं को शीघ्र नष्ट कर देता है। यदि मलों के नष्ट होने से रसादि धातु शुद्ध हो जाते हैं तो वात बहुल ज्वर की मर्यादा ७ दिन, पित्त बहुल जन्य ज्वर की मर्यादा १० दिन तथा कफ बहुल ज्वर की मर्यादा २ दिन की होती है। अर्थात् इस अवधि में मलों का पाक हो कर ज्वर उतर जाता है।

यदि ज्वर संताप से धातुओं का पाक अर्थात् धातुपाकी ज्वर होता है तो धातुओं का शोधन इतना शीघ्र नहीं हो सकता अतः उपरोक्त अवधि में रोगी अपने प्राण त्याग देता है। यह मत ऋषि अग्निवेश का है—परन्तु हारीत ऋषि का कहना है कि उपरोक्त बताई हुई अवधि को उपरोक्त दोषानुसार स्थितियों में दूना अर्थात् १४, १८, २२ समझना चाहिये।

अभिप्राय यह हुआ कि सन्तत ज्वर में किसी भी स्थिति का प्रतिपक्ष न होने से वेगशील तथा चिरस्थायी होता है। तथा ज्वर की ऊष्मा धातुओं का या मल का नाश करती है। मलपाक या दोषपाक साध्य तथा धातुपाक असाध्य होता है। लम्बी बीमारी या साधारण ज्वर के बाद यदि व्यक्ति कुपथ्य सेवा में लीन हो जाय तो दोष देह के किसी धातु में स्थान संश्रय कर विषमज्वर को बना देता है। विषमज्वर का अर्थ है बुखार का उतर कर आना, अर्थात् सब काल में एक स्थिति न रहना, तथा ज्वर भी एक सदृश न होना, जैसे कभी शीत लगना तो कभी गर्मी होना, कभी हल्का तथा कभी भारी, फिर उतर जाता है व चढ़ जाता है।

जिस प्रकार जमीन में बीज के रहने पर भी कुछ वनस्पतियें या पौधे ऋतु विशेष मे ही अंकुरित होते हैं ठीक इसी तरह दोष धातुओं में या धातु विशेष में लीन रहते हैं। तथा अपने नियत समय पर ज्वरकारक बन जाते हैं।

पूर्वोक्त ज्वर "सन्तत" में कोई भी विरोधी नही होता परन्तु इन भेदों मे दूष्य देश ऋतु आदि में से किसी भी एक के बल से प्रतिद्वन्द्वीयुक्त ज्वरकारक होता है।

जब दोष को दूष्य आदि में से किसी एक का बल प्राप्त होता है तब सन्ताप वृद्धि कर ज्वर बना देता है लेकिन साथ ही विरोधियों के होने से जब विरोधियों की शक्ति बढती है तो प्रत्यनीक बल के बढ़ जाने से दोषनिवृत्ति होकर रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करता है।

इसमें भी यदि दोष क्षीण होता है तो वह दोष धातुओं में लीन रहता हुआ कृश (दुबलापन), विवर्णता (रंग बदलना), जड़ता (किंकर्त्तव्यविमूढ़ता) आदि बनाता रहता है।

इन विषमज्वरों में दूर तथा सामीप्य के अनुसार अर्थात् जो दोष रसवाही स्रोतों के जितना अधिक निकट है जैसे सन्तत तथा सतत में ज्वर निरन्तर बना रहता है। इसके विपरीत होने से अर्थात् रक्त वह स्रोतों के मुख दूर छोटे मुख वाले अतिसूक्ष्म होने से विलम्ब से शरीर में फैलता है। इससे हमेशा नही रहने वाला ज्वर बनता है।

मांस स्रोत और भी अधिक दूर है तथा अति सूक्ष्म है अतः इनमें दोष अधिक देर में पहुँचता है। इसी कारण से मांस वह स्रोतों में केवल एक बार आश्रित दोष से अन्येद्युः ज्वर बनता है। जो कि सतत से अधिक विलम्ब से ज्वरकारी होता है। इसका दोष वक्ष मे रहता है।

मेदों वह स्रोत इससे भी सूक्ष्म तथा संवृत मुख वाले हैं अतः इनमें स्थान बनाया हुआ दोष विलम्ब से देह में व्याप्त होता है अतः ज्वर एक दिन छोड़ कर तीसरे दिन ज्वर होता है जिसे तृतीयक कहते हैं। इसका दोष कंठस्थान में रहता है।

अस्थि वा मज्जा में रहने वाले दोष अत्यधिक विलंब से व्याप्त होता है अतः दो दिन छोड़कर चौथे दिन आने वाले ज्वर को चतुर्थक कहते हैं।

	ज्वर नाम	आश्रय	काल	स्थानी दोष
	सतत	रक्तवहा नाड़ी	दो बार	आमाशय
	अन्येद्युः	मांसवहा नाड़ी	एक बार	वक्ष
वाताधिक्य	तृतीयक	मेदोवहा नाड़ी	एकान्तर	कंठ
वाताधिक्य	चतुर्थक	मेदमज्जा अस्थि	दो दिन छोड़ कर	शिर
कफाधिक्य	प्रलेपक	मज्जा	नित्य	सन्धि

तृतीयक के भेद

पित्तवात — शिरोग्राही

कफपित्त	—	त्रिकग्राही
वातकफ	—	पृष्ठग्राही

चतुर्थक

कफ	—	जंघा से शुरू
वायु	—	शिर से शुरू

सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषुच ।
दोषोरक्तादिमार्गेण शनैरल्पश्चिरेण यत् ॥

उर:स्थित दोष आमाशय में जाकर अन्येद्युष्क (दूसरे दिन) तथा कंठस्थित दो अहो-रात्रि से, एकान्तर (तीसरे दिन) शिर:स्थित दोष तीन स्थानों को लांघकर चतुर्थक (चौथे दिन आने वाले) तथा संधियों में रहने वाला दोष प्रतिदिन प्रलेपक ज्वर को करता है। दोष को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में अहोरात्र का समय लगता है।

स्थान नाम	नाम ज्वर	समय
उर आमाशय	अन्येद्युविपर्यय	पूर्वाह्न छोड़ कर दिनरात रहना
कंठ, उर, आमाशय	तृतीयकविपर्यय	तीसरे दिन नहीं रहता
शिर, कंठ, उर, आमाशय	चतुर्थकविपर्यय	चौथे दिन नहीं रहता

वातेनोदीर्यमाणाश्च ह्रीयमाणाश्च सर्वतः ।
वातेनोदीरितास्तद्वद्दोषाः कुर्वन्तिवैज्वरान् ॥ सु० उ० ३९

कृच्छ्रसाध्य

संतत	काल	दूष्य	प्रकृति से तुल्य	ज्वर	निर्विरोधी
	वसन्त	मेद	कफ	कफ	
	शरद्	रक्त	पित्त	पित्त	
	वर्षा	अस्थि	वात	वात	

उपरिनिर्दिष्ट किसी एक के विरोधी होने से समय समय पर बढ़ने व घटने के लक्षण वाला संतत बन जाता है। अर्थात् दोष के विपरीत समय आ जाने से ज्वर नष्ट हो जाता है और जब अनुकूल समय आता है तो ज्वर बढ़ जाता है। उपरोक्त में से किसी एक का बल होने पर अन्येद्यु बनता है।

शरीर की उपादेयता

लेखक : श्री अम्बादत्त व्यास 'लाडजो', जोधपुर

[जोधपुर निवासी श्री 'व्यास' वृद्धिचन्द्र जी व्यास मंडप वालों के सुपुत्र है। विद्वद्वरेण्य वृद्धिचन्द्र जी महर्षि दधीचि के समान त्यागमयी भावना से ओतप्रोत तथा परंपरागत माथुर जाति के धर्म-गुरु थे। आप चरित्रनायक के कृपापात्र शिष्यों में से है। लोक परिषद के आन्दोलन के समय इन्हें जो सेवा दी जाती थी उसे आपने बड़ी दक्षता से वहन किया था। आप भूतकालीन जोधपुर राज्य के आयुर्वेदिक बोर्ड के सदस्य भी रहे। राजस्थान की आयुर्वेद की गतिविधियों में आपकी बड़ी जागरूकता रहती है व वर्तमान में आप मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रचार मंत्री भी है। साथ ही दधिमथी शक्ति औषधालय के मुख्य चिकित्सक हैं व अभिनन्दन ग्रन्थ के कार्यालय सचिव । आपने शरीर की उपादेयता पर प्रकाश डाला है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
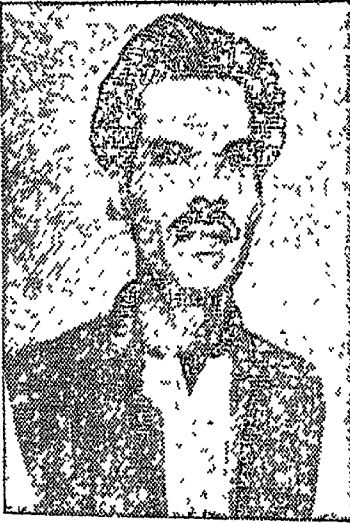
सृष्टि को हम सजीव तथा निर्जीव दो भागों में बांट सकते हैं। सजीव सृष्टि के प्राणी वर्ग तथा वनस्पति वर्ग दो विभाग होते हैं।

प्राणी वर्ग—

ये भी हमें सूक्ष्म (छोटे) तथा स्थूल (बड़े) दो विभागों में दिखाई देते हैं। अतिसूक्ष्म जो कि एक मात्र कोश से बने होते हैं उन्हें एककोशीय जीवधारी, तथा बहुत कोशों से बने प्राणियों के बहुकोशीय जीवधारी कहते हैं। जीवधारियों के शरीर की बनावट मकान की बनावट के समान कही जा सकती है। मकान जिस प्रकार ईंट आदि के समूह से बनता है, या मकान की इकाई ईंट है, इसी प्रकार जीवधारियों के शरीर की इकाई को कोश या Cell कहते हैं। यह कोश अति सूक्ष्म होने से आंखों से नहीं दीखता अतः इसे देखने के यन्त्र को अणुवीक्षण या सूक्ष्मदर्शक यन्त्र कहते हैं। इसके माध्यम से वस्तु कई हजार गुनी बड़ी दिखाई जा सकती है।

सजीव या चैतन्य के लक्षण—

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिःस्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः॥

(१) उत्तेजन—सुख के प्रति इच्छा तथा दुःख के प्रति द्वेष।

(२) समीकरण—बाहरी पंच महाभूतों से देह के पंचभूत बनाने का प्रयत्न (आहार से धातु निर्माण)।

(३) वर्द्धन—आहार रस से देहधातुओं की उत्तरोत्तर वृद्धि - जिससे अवस्थाएँ बनती हैं (बाल्य, युवा)।

(४) उत्पादन—अपने समान दूसरे व्यक्ति को बनाना।

(५) मलोत्सर्जन—समीकरण में बने दूषित पदार्थों का शरीर से बाहर फेंकना।

उपरोक्त पांचों क्रियाएँ जीवित अवस्था में होने के कारण से जीवन या चैतन्यता के लक्षण कही जाती है। ये लक्षण निर्जीव या अचेतन में नहीं मिलते।

शरीर ज्ञान की आवश्यकता—

"शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूत विकारसमुदायत्मकं समयोगवाहि।"

शरीर संख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक्।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते॥

चिकित्सा शिक्षा में शारीर प्रारम्भिक विषय है। इसमें सभी अवयवों के साथ शरीरसंख्या (अवयव समूह) को जानना होता है क्योंकि सर्वप्रथम प्रकृति से परीक्षण करना होता है। जिस प्रकार किसी भी बड़े राज्य को चलाने के लिए उसके बड़े-बड़े विभाग किए जाते हैं वे विभाग ही अपने-अपने कार्य के लिये उत्तरदायी होते हैं। ये एक-एक विभाग कई अंगों से मिल कर बनते हैं, इस प्रकार शरीर में बनाये गये इस विभाग को सस्थान कहते हैं। इनकी संख्या नव मानी गई हैं।

(१) अस्थि, (२) रक्तवाहक, (३) श्वसन, (४) मांस,
(५) पाचन, (६) प्रजनन, (७) विसर्ग, (८) नाड़ी,
(९) अन्तर्ग्रन्थि ।

शरीर विज्ञान के दो भेद—

(१) शरीर रचना, (२) शरीर क्रिया।

शरीर रचना—

जिस विद्या से हम शरीर की बनावट का ज्ञान प्राप्त कर सकें उसे शरीर रचना कहते हैं।

शरीर क्रिया—

जिस विद्या से हम शरीर के अंगों का कार्य जान सकें उससे शरीर-क्रिया-विज्ञान कहते हैं।

शरीर रचना के भेद—

जिस बनावट को हम हमारी आंखों से देख सकें उसे स्थूल रचना कहते हैं। जिस बनावट को देखने के लिए यन्त्र (अणुवीक्षण) की आवश्यकता पड़े उसे सूक्ष्म रचना कहते हैं। शरीर में पाई जाने वाली वस्तुओं को हम चार भागों में बांट सकते हैं।

(१) कोश, (२) मसाला, (३) सूत्र, (४) तरल।

कोश—

इसे जितना बढ़ाकर देखा जायगा उतनी ही इसकी विशेषतायें मालूम देंगी। इसकी बनावट जीवोज से होती है। जीवोज के भीतर एक मींगी होती है, मींगी में एक अणुमींगी (चैतन्य केन्द्र) होता है। जोवोज में मींगी से भिन्न एक विन्दु दिखाई देता है जिसे आकर्षण गोला कहते है। कोशों की आकृति, परिमाण, मृदुता, कठोरता आदि उनके कार्य के अनुसार पृथक-पृथक विभिन्नता पाई जाती है। कार्यविभाग तथा रचनाविभाग से शरीर में कई प्रकार के कोश पाये जाते हैं।

(१) चपटे—इन्हें सपाट कोश कहते हैं।

(२) स्तम्भाकार—यह घनाकार और बेलनाकार होती है।

(३) लोमस्—जिनमें से तन्तु निकले हुए रहते हैं।

(४) तरकु आकार—अर्धचन्द्र की आकृति की।

(५) मर्कटी आकार—मकड़ी के आकार को।

(६) गोल—

(७) सूची आकार—सुई की तरह लम्बी।

इनके अतिरिक्त भी कई प्रकार की आकृति के कोश होते हैं।

मसाला—

कोशों को मिलाने वाली वस्तु को मसाला कहते हैं।

सूत्र—

शरीर में बारीक-बारीक सूत्र होते हैं जिनके मिलने से जाली व चादर सी बन जाती है जिनमें कोश फसे रहते है। सूत्र पीले व सफेद रंग के होते हैं। पीले सूत्र अधिक स्थिति-स्थापक होते हैं।

तरल—

शरीर में स्थान स्थान पर कई प्रकार का तरल रहता है।

शरीर के अंग उपांगों का विवरण—

(१) शिर—चक्षु Eye, नासिका Nose, भंवे Eyebrow, ललाट Forehead, मुंह Mouth, कपोल Cheek, ऊर्ध्व ओष्ठ Upper lip, अधरोष्ठ Lower lip, ऊर्ध्वहनु Upper jaw, निम्नहनु Lower jaw, दांत Tooth, ठुड्डी (चिबुक) Chin, दाढ़ी (कूर्च) Bread, मसूढे Gums, तालु Palate, अधिजिह्वा (शुण्डिका) Uvulva, जिह्वा Toung, गला (कंठ) Pharynx throat, नकने Nares, स्वर यन्त्र Larynx, स्वरयंत्रच्छद Epiglottis, कान Ear, कनपुटी (शंख) Temple, गुद्दी (मन्या) Nape of neck,] शीर्ष Top of head, मस्तिष्क Brain, कठिकास्थि Hyoid bone, टेंटुवा Trachea, अन्नप्रणाली Oesophagus gullet, कृकाटिका Back of neck, वक्षस्थल Thorax, भुजा Arm, हंसली (अक्षक) Clavicle, स्तन Breasts mamma, स्तनवृन्त Nipple, पीठ Back, खवे Shoulder blade regions, फुफ्फुस Lung, हृदय Heart लसीका ग्रंथियां Lymph glands, उदर Abdomen, वक्षोदरमध्यस्था (महाप्राचीरा) Diphragm, कौड़ी देश Epigastric region, नाभि Navel, भगसन्धि Syphysis pubis, मूत्राशय Bladder, गर्भाशय Uterns, कमर Loins, शिश्न Penis, अण्डकोष वृषण Scrotum, अण्ड Testicle, भग Vulva, योनिद्वार Veginal opening, आमाशय Stomach, अन्त्र Intestine, यकृत Liver, अग्न्याशय Pancreas, प्लीहा Spleen, वृक्क Kidney, डिम्बग्रंथियां Ovaries, बस्तिगह्वर Pelvic cavity, मलद्वार Anus स्कन्ध Shoulder, कक्षा Axilla, कक्षतल Armpit axilla, कूर्पर Elbow, अग्रबाहु (प्रकोष्ठ) Fore arm, कलई Wrist, हाथ Hand, हस्ततल Palm, अंगुष्ठ Thumb, कनिष्ठा Little finger, प्रदेशिनी (तर्जनी) Index, अनामिका Ring finger, मध्यमा Middle, पर्व Phalanges, नख Nail, करभ Back of hand।

शरीर के घटक

लेखक : दाऊलाल जोशी, जोधपुर

["जोशी" मगनलाल जी जोशी के सुपुत्र हैं। परंपरा से आप वल्लभकुल संप्रदाय के आचार्य हैं। आपका चिकित्सा क्षेत्र जोधपुर के अतिरिक्त उज्जैन मालवा भी है। यहाँ आप कौण्डिन्य औषधालय के मुख्य चिकित्सक तथा चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य हैं। औषधि-निर्माण में आप विशेष कौशल रखते हैं तथा चतुर चिकित्सा तथा स्वभाव से मृदु प्रकृति के हैं। वर्तमान में आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रधान मंत्री हैं। 'शरीर के घटक' नामक लेख पठनीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

बाहू की स्थूल रचना—

सबसे ऊपर बालों वाली त्वचा रहती है। त्वचा फल के छिलके के समान जुड़ी रहती है। त्वचा के नीचे चिकनाईदार पीली वसा रहती है, वसा के टुकड़े सूत्रों के बीच में फंसे रहते हैं। सूत्रों के मेल से जाली बन जाती है, जिसे झिल्ली कहते हैं। इस वसामय झिल्ली को ध्यान से काटने से सफ़ेद रंग के पतले सूत्र दिखाई देंगे। ये वात नाड़ियां हैं, जो मस्तिष्क से त्वचा की ओर जा रही हैं। इनकी सूक्ष्म शाखाऐं त्वचा से लगी रहती हैं। त्वचा और वसा के बीच रक्त की नालियां रहती हैं। इस झिल्ली को हटाने पर लाल चमकदार मांस दिखता है। मांस पर भी सूत्रों से निर्मित मांसावरण (मांसधरा) चढ़ा रहता है। शरीर में मांस छोटे-छोटे बंडलों में रहता है। ये बंडल सौत्रिक तंतुओं द्वारा जुड़े रहते हैं।

मांस-पेशी—

मांस का एक टुकड़ा जो बिना काटे पृथक कर लिया जाय मांस-पेशी कहलाता है। मांस-पेशियों का परिमाण भिन्न भिन्न होता है। पेशियों के बीच में की कला में वसा होती है। मांस हटाने पर कठोर चीज मिलती है जिसे अस्थि कहते हैं। अस्थि पर भी एक पतली झल्ली अस्थ्यावरक (अस्थिधराकला) या अस्थिवेष्ट रहता है। अस्थि को काटने पर अस्थि में गुलाबी मायल पीला सा गूदा भरा रहता है जिसे मज्जा कहते हैं।

क्रिया शरीर की दृष्टि से देह में चार प्रकार के धातु (तन्तु) Tissues होते हैं।

(१) **मांस तन्तु**—इनका कार्य गति करना व स्थितिस्थापकता करना।

(२) वात तन्तु—इसकी क्रिया संज्ञा तथा चेष्टाओं को वहन करना।

(३) बन्धक तन्तु—अंगों को आपस में जोड़ना और कोमल अंगों का रक्षा करना है। इसके कई विभेद हैं।

सौत्रिक तन्तु (झिल्लियें बनाना) वसामय सौत्रिक तन्तु (वसा को जोड़े रखना) अस्थि तन्तु (अस्थियें बनाना) तरुणास्थितन्तु (नई अस्थि बनाना) रक्ततन्तु (रक्तसंवहन)

(४) आवरक या पृष्टाच्छादकतन्तु—त्वचा तथा कला बनाना।

कंकाल—अस्थियों के सम्पूर्ण ढांचे को कंकाल या अस्थिपंजर कहते हैं। शरीर में अस्थियें १६ प्रतिशत होती हैं।

अस्थि के कार्य—

अस्थियों से शरीर में दृढ़ता आती है। तथा कोमल अंगों को सहारा देकर उनकी रक्षा करती है। अस्थियों से शरीर में कोष्ठ बनते हैं जिनमें कोमल अंग सुरक्षित रहते हैं। मांश-पेशियां अस्थियों से लगी व बंधी रहती हैं और उन्हीं के सहारे संकोच प्रसार कर गतियां उत्पन्न करती हैं।

अस्थियों के बारे में ज्ञातव्य—

जीवित अवस्था में रक्त के कारण अस्थियों का रंग कुछ लाल होता है। रंग साफ करने पर अस्थियों का वर्ण कुछ कुछ श्वेत हो जाता है। सब अस्थियों की आकृति व परिमाण एक-सा नहीं होता है। कोई लम्बी जैसे : (जंघा व बाहु की), कोई छोटी (कलई की), कुछ सपाट व चौड़ी (करोटिकी), कुछ विरुप (पृष्टवंश की)।

अस्थियों के नामकरण की विधि—

(१) देशानुसार—जंघा, ऊरु, नितम्ब, नासा आदि।

(२) आकृति के अनुसार—मटराकार, जतूकाकार आदि।

(३) दिशा के अनुसार—पश्चाद अस्थि, पार्श्विक आदि।

(४) विशेषता के अनुसार—बहुच्छिद्रक।

(५) अन्य कारणों से—अक्षक, कशेरुका आदि।

अस्थियों के पारिभाषिक शब्द—

प्रवर्द्धन—अस्थि का बाहर को निकला हुआ भाग। कंटक—नुकीला प्रवर्द्धन। तिरणिका—उभरी हुई रेखा।

अर्बुद—अस्थि का उभरा भाग। खात—गड्ढा। ऊलूखल—गहरा गड्ढा।

परिखा—दो उभरी रेखाओं के बीच की नली।

स्थालक—कम गहरा गड्ढा जहां दूसरी अस्थियों का सिरा आकर मिलता है।

शिर—अस्थि का गोल भाग। ग्रीवा—शिर के नीचे का कुछ दबा हुआ भाग।

गात्र—लम्बी अस्थियों का बीच का लम्बा भाग। छोटी अस्थियों का मोटा या स्थूल भाग।

अधोभाग—अस्थि की तली। धारा—किनारा। कोण—कोना।

तुंड—चोंच जैसा उभार। कोटर—अस्थियों का खोखला और वायुपूर्ण भाग।

आनुगा—ओरका। आन्तरिक—बीच में रहने वाली।

तरुणास्थि—

शरीर में कई स्थानों में सफेद पीले रङ्ग की चिकनी चमकदार लचकदार वस्तु पाई जाती है जिसे तरुणास्थि कहते हैं। यह वस्तु अस्थि जितनी दृढ़ नहीं होती, किन्तु शरीर मे इनसे अस्थि का ही काम लिया जाता है। तरुणास्थि से कई अंगों के ढांचे बनते हैं जिन पर मांस और त्वचा लगी रहती है जैसे—कान, नाक का ऊर्द्ध्वभाग स्वरयत्र टेंटुवा आदि। कोष्ट बनने में भी तरुणास्थि से सहायता मिलती है। लम्बी अस्थियों के सिरों पर जहाँ पर एक अस्थि दूसरी अस्थि से मिलती है वहां तरुणास्थि की एक पतली तह चढ़ी रहती है। ५-६ सप्ताह के गर्भ मे अस्थियो के स्थान पर यही वस्तु प्राप्त होती है। गर्भवृद्धि के साथ-साथ इसमें परिवर्तन होता है और कठोरता होने लगती है।

अस्थि की स्थूल रचना—

जीवित अवस्था में अस्थि का रंग रक्त के कारण गुलाबी होता है, जब इसे साफ किया जाय तो इसका रंग सफेद हो जाता है। यदि किसी लम्बी अस्थि को मोटाई के रुख में काटे तो वह भीतर से खोखली मिलेगी। लम्बी अस्थियों के भीतर एक नाली रहती है, जिसमें मज्जा रहती है। मज्जा के चारों ओर रहने वाली अस्थि स्पंज जैसी होती है। पतले-पतले अस्थिसूत्रों से एक जाल सा बन जाता है, जिसमें मज्जा फंसी रहती है। लम्बी अस्थियों के सिरों में तथा छोटी छोटी अस्थियों में नाली नहीं होती है। उनकी भीतरी बनावट स्पंज जैसी होती है जिसमें मज्जा भरी रहती है। खोपड़ी की अस्थियों की बनावट बादाम के छिलके जैसी होती है। इसमे अन्तरीय व बाह्य पटल होता है। बीच में अंतर है जिसमें जाली होती है।

अस्थि का रसायनिक संगफन—

इसमें २ प्रकार के पदार्थ होते हैं।

(१) सजीव (सौत्रिक तन्तु कोश वसा)

(२) निर्जीव या खनिज (चूने के संयोजित लवण)

जल मिश्रित तेजाब में अस्थि को कुछ देर भिगोने से अस्थि में के निर्जीव पदार्थ घुल जाएंगे तथा सजीव पदार्थ बचे रहेंगे। अस्थि जो पहिले कठोर थी वह अब मुलायम हो गई है। यह खनिज पदार्थ रहित सौत्रिक तन्तु व कोशों से निर्मित अस्थि शेष रही है।

यदि अस्थि को भिगोने के बजाय भट्टी में जलायें तो उसकी आकृति वही रहेगी परन्तु अब भुरभुरी इतनी हो गई कि इसे दबाने से चूरा हो जाता है। इसकी शकल सूखी तोरुं के समान खनिज पदार्थ से बनी जाली सदृश हो जाती है। अस्थि में सजीव व खनिज पदार्थ निम्न अनुपात से होते हैं। सजीव पदार्थ ३३·३० । खनिज पदार्थ ६६·७० होते हैं।

केल्शियम फोस्फेट ५१-४, कैल्शियम कार्बेनेट ११·३० कैल्शियम क्लोराइड २·००, अन्य लवण २·३६ खनिज पदार्थों से अस्थि में दृढ़ता तथा सजीव पदार्थ से लचक होती है।

अस्थि की सूक्ष्म रचना—

अस्थि को मृदु बनाकर पन्ना काट कर यंत्रों द्वारा देखने से सौत्रिक तन्तुओं के घेरे में मकड़ी के आकार के कोश तथा गोल च्छिद्र जिनमें रक्तवाहिनियां आती जाती हैं, दिखाई देते हैं।

तरुणास्थि की सूक्ष्म रचना—

तरुणास्थि के पतले पन्नों को अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखने से इसके २ भेद दिखाई देते हैं।

(१) सूत्रमय तरुणास्थि (२) सूत्रविहीन तरुणास्थि- (सन्धिस्थानों में)

सूत्रमय तरुणास्थि २ तरह की होती है—

(१) श्वेत सूत्रमय (कशेसका के गात्रों के बीच) (२) पीत सूत्रमय (कर्णशष्कुली, स्वरयंत्रच्छद) पीत सूत्रमय अधिक लचकदार होते हैं।

श्वसन संस्थान

लेखक : रमेशचन्द्र जैन, आयुर्वेदरत्न, जैसलमेर

[वैद्य "जैन" श्री लक्ष्मीचन्द्र जी यति जैसलमेर-निवासी के शिष्य हैं जो चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य होने के नाते श्री "जैन" प्रशिष्य हैं तथा चरित्रनायक की सेवा-शुश्रूषा में रह कर अध्ययन प्राप्त किया है। आपने श्वसन संस्थान के बारे में छात्रोपयोगी लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

केशिकाओं के रक्त में शरीर के कोषाणु कार्बन डाइ-ओक्साइड गैस आदि मिला देते हैं जिससे रक्त का वर्ण स्याही मॉयल हो जाता है। शरीर में ऐसे भी कई अवयव हैं जो हानिकारक पदार्थ रक्त में मिलाते रहते हैं। उन्हें शरीर से बाहर निकालने के मुख्य अवयव वृक्क, यकृत, प्लीहा व त्वचा है।

फुफ्फुस द्वारा रक्त शुद्धि—

फुफ्फुस से ओक्सीजन या प्राण वायु ग्रहण की जाती है तथा तीन पदार्थ निकाले जाते हैं।

(१) कार्बन डाइ ओक्साइड गैस,

(२) उड़नशील हानिकारक पदार्थ,

(३) जलीय वाष्प।

फुफ्फुस या फेफड़ा

ये दो होते हैं उरोगुहा में हृदय के दाहिनी व बांई ओर रहते हैं। दाहिना बांए की अपेक्षा अधिक चौड़ा व भारी होता है। इसका आकार शकु के समान एक ओर पतला व कम चौड़ा जिसे शिखर कहते हैं। यह अक्षकास्थि के पीछे रहता है। दूसरा मोटा व चौड़ा भाग तली या अधोभाग है। जो नीचे को वक्षोदर मध्यस्था पेशी पर रखा रहता है। फुफ्फुसों की तलियां नतोदर हैं। दाहिनी तली बांए से अधिक गहरी है, वक्ष की दीवार से मिला रहने वाला भाग उन्नतोदर है। हृदय के पास वाला नतोदर है, दाहिना फुफ्फुस बांए की अपेक्षा अधिक चौड़ा भारी परन्तु ऊंचा कम होता है। यह दो दरारों से तीन खन्ड में विभक्त रहता है। बांए में एक दरार होती है अतः इसके दो खण्ड होते हैं। प्रौढ़ावस्था में इसका रंग कुछ नीलाहट लिए भूरा स्लेट का सा होता है तथा गर्भ में गहरा लाल व नवजात

शिशु में गुलाबी होता है। ये ऊपर से चमकीले चित्तियांदार स्पर्श में मृदु मरमर शब्द करते हैं। इनका भार लगभग एक सेर होता है स्वस्थ फुफ्फुस जल में तैरते हैं मृत पैदा हुए बालक के फुफ्फुस जल में डूब जाते हैं। प्रत्येक फुफ्फुस पर एक पतला सौत्रिक तन्तु का दोहरा आवरण चढ़ा रहता है जिसे फुफ्फुसावरण या परिफुफ्फुसीया कला कहते हैं।

श्वास मार्ग—

नाक से लेकर फुफ्फुस तक वायु के आने जाने के मार्ग को श्वास मार्ग कहते हैं। इसके पांच भाग हैं। (१) नाक की सुरंग (२) गला या कंठ (३) स्वर यंत्र (४) टेंटुआ (५) वायु प्रणाली।

टेंटुआ—

ग्रीवा में सामने की तरफ जो बड़ी व लम्बी नली है जिसके ऊपर के मोटे व चौड़े भाग को स्वरयंत्र कहते हैं तथा नीचे का शेष भाग टेंटुए की लम्बाई ४॥ इंच तथा व्यास १ इंच से कम है। इसका पीछे का भाग सपाट होता है जहां अन्तप्रणाली लगी होती है।

टेंटुए की दीवार तरुणास्थि के छल्लों द्वारा बनती है। छल्ले एक दूसरे के ऊपर पड़े रहते हैं जिनकी संख्या १६ से २० होती है। पीछे की दीवार सौत्रिक तन्तु से बनी रहती है इसके भीतरी पृष्ठ पर कला लगी होती है इसमें दांई व बांई ओर ग्रीवा की धमनिएं तथा सामने चुल्लिका ग्रंथि लगी होती है। वक्ष के चौथे या या पांचवें गशेरुका के गात्र के सामने इसकी दो शाखाएं हो जाती हैं। ये वायु प्रणालियां हैं।

वायु प्रणालियां—

इनकी दीवारे भी सौत्रिक तन्तु और कला से बनी होती हैं। दाहिनी प्रणाली की लम्बाई १ इंच और बांई को २ इंच होती है।

फुफ्फुस की रचना—

फुफ्फुस में अनेक छोटे २ कोष्ठ होते हैं जिन्हें वायु मन्दिर कहते हैं। इनकी संख्या अनुमान से १६ से १८ करोड़ तक है।

श्वास कर्म—

वायु का भीतर जाना उच्छवास या अंतः श्वसन, वायु का बाहर आना प्रस्वास या बाहि श्वसन कहलाता है। एक उच्छ्वास व प्रस्वास से श्वास-कर्म पूर्ण होता है।

श्वास संख्या—

युवा पुरुष एक मिनट में १६ से १७ बार श्वास लेता है। नवजात बालक की संख्या ४४ तक होती है तथा ५ से ६ वर्ष के शिशु की संख्या २५ से २६ तक है।

वायु का संगठन

	अवयव	उच्छ्वास वायु प्रति सौ भाग	प्रश्वास वायु प्रति सौ भाग
१.	ओक्सीजन	२०.८	१६.०
२.	कार्बन	०.०४	४.०
३.	नाइट्रोजन	७८.८७	७८.८७
४.	जलीय वाष्प	अंशमात्र	अधिक
५.	हानिकारक पदार्थ	स्वच्छ वायु में नहीं	होते हैं।

उच्छ्वास वायु में ओक्सीजन अधिक, तथा कार्बन $\frac{४}{१००००}$ है जब कि प्रश्वास वायु में ४ भाग कार्बन के हैं।

पाचन-संस्थान (Digestive System)

लेखक : वैद्य मुरलीधर वैष्णव

[वैद्यराज श्री वैष्णव लालदासजी वैद्यराज के सुपुत्र हैं। वैद्य लालदासजी अपने समय में जोधपुर की गली-गली व मुहल्ले में जाकर आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार कया करते थे। आप चरित्रनायक के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। इसी कारण वैद्यराज श्री वैष्णव को चरित्रनायक द्वारा लघुत्रयी व बृहत्रयी का अध्ययन करवाया। अभी भी आप एस. जे. एस. औषधालय में चिकित्सक का कार्य कर रहे है। आपका "पाचन-संस्थान" नामक ले बड़ा उपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इसमें आहार-ग्रहण, चर्वण, क्लेदन, निगिरण, आचूषण, परिणमन आदि क्रियायें होती हैं।

मुख गुहा Oral Cavity—

इसका आकार छोटे नारियल के समान है, जिसमें जिह्वा और दांत रहते हैं। इसकी छत कठिन व कोमल तालु से बनी है, नीचे जिह्वा और हनुमण्डल है। इस गुहा के द्वारपाल ओष्ठ हैं। इसमें निम्न दस भाग हैं—

१. ओष्ठ दो, २. कपोल दो, ३. दन्तवेष्ट बत्तीस, ४. दन्त बत्तीस, ५. जिह्वा, ६. तालु-पटल, ७. गल तोरणिकाएं दो, ८. उपजिह्विकाएं दो, ९. अधिजिह्वा, १०. लाला ग्रंथियां छः। सब जगह सूक्ष्म कला लगी रहती है।

१. ओष्ठ Lip—

ये मुख के दो मेदो बहुल कपाट हैं जो मुख मुद्रणी पेशी से बनते हैं। इनके बाहरी पृष्ठ पर त्वचा और भीतरी पृष्ठ पर कला रहती है। इनका संधिकोण सृक्किणी कहलाता है। मध्य रेखा में स्नायुसूत्र की ओष्ठ सेवनी है।

२. कपोल Cheek—

इनकी रचना भी बाहर त्वचा और भीतर कला से है। इनमें दन्तवेष्ट और दोनों ओर कर्णमूलिक लाला स्रावी ग्रंथियों के दो स्रोत दिखते हैं।

३. दन्तवेष्ट Gum—

ये भीतर अस्थिधरा कला से और ऊपर श्लैष्मिक कला से ढके हैं। इनमें दांतों के लिए उलूखल होते हैं।

४. दांत Tooth—

दांत बत्तीस होते हैं। दांतों के तीन भाग होते हैं। १. दन्तशिखर, २. दन्तग्रीवा ३. दन्तमूल। इनके नाम इस प्रकार हैं :

छेदक दो, भेदक एक, अग्र चर्वणक दो, पश्चिम चर्वणक तीन—इस प्रकार दांए और बांए सोलह तथा नीचे और ऊपर बत्तीस।

५. जिव्हा Tounge—

स्वाद ग्रहण, चर्वण और निगलने का काम करती है। यह पेशियों से बनी और कला से ढकी है। इसमें स्वादांकुर रहते हैं तथा यह गले में कंठिकास्थि से वंधी है, इसके पीछे मध्य मे अधिजिव्हिका रहती है।

७. तालु पटल Palate—

"क" कठिन तालु Hard Palate अस्थि से बना है। "ख" कोमल तालु Soft Palate मांस तन्तुओं से बना कला से ढका होता है। निगलने के समय यह ऊपर होकर गल छिद्र के आयतन को चौड़ा बना देता है। कोमल तालु में पीछे एक लटकती हुई सूण्डाकार पेशी है जिसे गल सुण्डी Uvulva कहते है।

७. गल तोरणिकाएं The Palatine Arches of fauces—

गल छिद्र के दोनों ओर तोरणाकार भाग गल तोरणीका कहलाता है।

८. उपजिह्विका Tonsils—

गल छिद्र के दोनों ओर बेर की गुठली के आकार की दो ग्रन्थियां उपजिह्विका हैं।

९. अधिजिह्विका Epiglottis—

यह श्वास मार्ग को ढकने का पर्दा है।

१०. लाला ग्रन्थियां Salivary glands—

छः हैं, दो कर्णाग्रवती, दो जिह्वाधो वर्ती, दो हनु अधो वर्ती, इस प्रकार ये छः लाला रस बनाती हैं जो अन्न के साथ मिलकर अन्न के संगठन श्वेतसार को शर्करा बनाने में सहायक होता है।

ग्रसनिका Pharynx—

अन्न प्रणाली के द्वार को ग्रसनिका कहते हैं।

अन्न प्रणाली Oesophagus—

यह १ बालीस्थ लम्बी और दो अंगुल मांस की नली है, ग्रसनिका से निगला गया आहार आमाशय तक इसी मार्ग से पहुंचता है।

उदर गुहा Abdominal cavity—

उदर गुहा उरो गुहा से महा प्राचीरा द्वारा विभक्त होती है और नीचे श्रोणी गुहा से मिली हुई है। इसमें बहुत से पंत्र यंत्र रहते हैं। इनको ठीक प्रकार से जानने के लिए उदर पर दो खड़ी और दो पड़ी रेखाऐं खेंची जाती हैं।

१. खड़ी रेखा पूरोर्ध्व कूट से चूचुक तक दोनों ओर खेंची जाती हैं।

२. पड़ी रेखा 'क' पर्शुकाधोरेखा—दशवीं पसली के नीचे सीधी खेंची जाती है।

'ख' अर्बुदान्तरिक रेखा—यह जघन चूडों के उभारों में से गुजरती है।

दाहिना यकृत प्रदेश	कौडी प्रदेश	आमाशय प्रदेश
यकृत, पित्ताशय, बृहदन्त्र का दाहिना मोड़।	यकृत, आमाशय, अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, उदर्याकला, अग्न्याशय, वृक्क, उपवृक्क, महा धमनी, महा शिरा, मणिपूर।	यकृत, आमाशय, वृहदन्त्र का बांया मोड़, प्लीहा, अग्न्याशय की पुच्छवाम, वृक्क।
दाहिना कटि प्रदेश	**नाभि प्रदेश**	**बांया कटि प्रदेश**
आरोही वृहदन्त्र, क्षुद्रान्त्र, दाहिना वृक्क।	आमाशय, पक्वाशय, अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, क्षुद्रान्त्र, वृक्क, महाधमनी, महा शिरा, लसीका ग्रंथियां।	अवरोही वृहदन्त्र, क्षुद्रान्त्र, बांया वृक्क।
दाहिना श्रोणी प्रदेश	**पेडू प्रदेश**	**बांया श्रोणी प्रदेश**
वृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग (उण्डुक) उण्डुक पुच्छ (अन्त्र परिशिष्ट) लसीका ग्रंथिया।	क्षुद्रान्त्र, वृहदन्त्र, मूत्राशय, गर्भाशय।	वृहदन्त्र. वाममूत्र प्रणाली (गवीनि) वृषण, धमनी।

उदर कला—

यह दो स्तर वाली कला है, एक स्तर सम्पूर्ण गुहा परिसरको तथा दूसरा यंत्रों पर ढका रहता है, जलोदर रोग में जल संचय इसी में होता है।

वपा—

उदर्या कला का चार स्तर वाला भाग वपा है। यह मोटी उजली कला आँतों को सामने से ढकती है, पेदस्वी पुरुषों मे मेद का संचय इसी कला में होता है।

आमाशय स्टमक (Stomach)

भुक्त आहार का आधार मशक के आकार का कोड़ी व आमाशय प्रदेश में तिरछा रहता है। इसके ऊपर का मुख जो अन्न प्रणाली से मिलता है हार्दिक द्वार तथा दूसरा ग्रहणी से मिलने वाला नीचे की ओर का मुद्रिका द्वार कहलाता है। इसमें कपाट लगा होता है जिसे मुद्रा कपाटिका कहते हैं। इसकी दो धारायें हैं—ऊर्ध्व व अधो, दो तल सामने का व पीछे का, इसके तीन भाग हैं। सबसे अधिक फैला हुआ भाग (आमाशय स्कन्ध) अन्नपान को धारण करने वाला (आमाशय मध्य) तथा अन्तिम छोटा भाग (आमाशय प्रणालिका) कहलाता है। इसकी लम्बाई १२ से १३ इंच चौड़ाई ४" के और समाई १॥ सेर के लगभग है।

आमाशय की सूक्ष्म रचना—

आमाशय की दीवार चार तहों से बनी है, १. सबसे बाहर, उदर्या कला, २ मांस सूत्रों से, ३ सयोजक तन्तुओं से जिसमें पाचक रस बनाने वाली छोटी-छोटी ग्रन्थियां रहती हैं, ४. भीतरी जो शिथिल बलियोंमय होती है। इसमें पाचक रस तथा क्लेदक कफ के आने के छोटे छोटे मुख हैं। इसका प्राणदा नाड़ी तथा मणिपूर चक्र से सन्बन्ध है।

क्षुद्रान्त्र (Small intestine)—

यह कोमल मांस से बनी बहुत लम्बी नली है जो नाभि के चारों ओर इकट्ठी रहती है। इसे पच्यमानाशय भी कहते हैं। इसका ऊपर का मुख आमाशय से तथा नीचे का बृहदन्त्र के उण्डुक से मिला रहता है। इसकी लम्बाई लगभग २२ फुट और व्यास १$\frac{१}{४}$ से १$\frac{१}{३}$ इञ्च तक होता है।

ग्रहणी Duodenum—

क्षुद्रान्त्र का प्रारम्भिक १२ अंगुल भाग ग्रहणी है। इसमें पित्त कोष से पाचक पित्त तथा अग्न्याशय से आग्नेय रस, दो श्रोतों से चूता है। आमाशय व ग्रहणी के बीच मुद्रिका द्वार है, ग्रहणी में आहार द्रव रुक कर पचता है। ग्रहणी के आगे क्षुद्रान्त्र के दो भाग हैं। ऊपर का ऊर्ध्व तथा नीचे का अधर क्षुदांत्र कहलाता है।

क्षुद्रांत्र की सूक्ष्य रचना—

इसकी सूक्ष्म रचना चार भागों में विभक्त है १. उदर्याकला २. मांस तन्तुओं से

३. स्नायु सूत्रों से इसमें श्लेष्मा तथा क्षार रस पैदा होता है ४. मृदु कला—इसमें ग्राहकांकुर रहते हैं। इन ग्राहकांकुरों से संगृहीत रस उदर की लसीकावाहिनियों में संचरण करता हुआ ग्रन्थियों से शोधित हो रस प्रपा में जाता है।

उण्डुक Coecum—

वृहदंत्र और क्षुद्रान्त्र का सन्धिस्थान उण्डुक कहलाता है।

उडुक पुच्छ Appendix—

(अंत्र परिशिष्ट) उण्डुक के नीचे चार अंगुल लम्बी छोटी पतली नली रहती है जिसे अंत्र परिशिष्ट कहते हैं।

वृहदंत्र Colon—

इसकी लम्बाई ५ फुट के लगभग और मोटाई पैर के अंगुष्ठ के बराबर है। यह दाहिने श्रोणी प्रदेश से उठता है, वामावर्त से क्षुन्द्रान्त्र की प्रदक्षिणा कर वाम श्रोणी प्रदेश में पहुँच कुन्डलिका बनाकर गुदनलिका में बदल जाता है इसे पक्वाशय भी कहते हैं। यहां पचे हुए अन्न का जलीय अंश शोषित होता है। इसमें अंकुर नहीं होते हैं। इसका ऊपर जाने वाला भाग आरोही कहलाता है और यह यकृत के तल तक पहुंच कर आड़ा हो जाता है जो कि प्लीहा के तली तक जाता है इसे अनुप्रस्थ वृहदन्त्र, प्लीहा से वाम श्रोणि की तरफ नीचे जाने वाला अवरोहि वृहदन्त्र कहलाता है।

गुदनलिका (Rectum)—

यह एक बालिस्त लम्बा बृहदन्त्र का आखरी छोर है जो कि कुन्डलिका से प्रारम्भ होकर पायु द्वार से मिला रहता है इसके सामने पुरुषों में बस्ति, स्त्रियों में गर्भाशय व योनि है। इसके तीन भाग हैं (१) उत्तर गुद (२) मध्य गुद (३) अधर गुद।

(१) उत्तर गुद—यह थैली के समान ४॥ अंगुल का है।

(२) मध्य गुद—यह दो अंगुल का संकुचित बस्तिद्वार के पीछे रहता है।

(३) अधर गुद—यह अधिक संकुचित १॥ से दो अंगुल लम्बा होता है।

इस नलिका में आडे रूप में कला से ढकी व मांस तन्तुओं से बनी तीन-चार बलियें होती हैं। इनके संकोच से मल रुकता है, व प्रसार से मल विसर्ग होता है। प्रवाहिणी, विसर्जनी, व संकोचनी इनके नाम हैं।

पायुद्वार (Anus)—

अधर गुद का अधः प्रान्त पायु कहलाता है। इसके चारों ओर पतली त्वचा और बलीराजियां रहती हैं जो भीतरी श्लैष्मिक कला से जुड़ी है। गुदा के चारों ओर मेद से

भरा स्थान भगन्दर का आयतन है। गुद नलिका के चारों ओर का शिराचक्र अधिक रक्त पूर्ण हो जाने पर शिराओं के बीच के शिरे फूल जाते है जिससे तीव्र शूल व रक्तस्राव होने लगता है। ये रक्तार्श हैं। गुदा के चारों ओर की श्लैष्मिक कला व त्वचा के ढीले हो जाने पर शुष्कार्श हो जाते हैं।

अन्त्र बन्धनियां—

उदयीकला के दोहरे बंधन से क्षुद्रान्त्र व वृहदन्त्र बंधे रहते हैं।

यकृत (Liver)—

यह यकृत प्रदेश कौड़ी और आमाशय प्रदेश में रहने वाली सब से बड़ी और थोड़ी खोखली ग्रथि है। इसके बाहर उदर्या कला के पतले स्तर को यकृत कोश कहते हैं। इसकी लम्बाई एक बालिस्त और चौड़ाई बीच में से ६ अंगुल और इसका भार डेढ़ से दो सेर तक होता है। इसके दो तल हैं एक ऊपर का जो कछुए की पीठ के समान (२) नीचे का जिसमें ५ सीताएं होती हैं और इसकी दो धाराएं सामने व पीछे की तथा दो पिण्ड होते हैं। दाहिना बड़ा व बांया छोटा इस प्रकार (यकृत में ५ सीताएं ५ प्रवन्धनियां तथा ५ आशयों का सम्बन्ध रहता है।

पित्त स्रोत Biliary eapillaries—

यकृत में असंख्य पित्तस्रोत होते हैं। जिनमें पित्त बनता है जो याकृत पित्त नलिका से सम्बन्धित है।

पित्त कोश Gall bladder—

यह छोटी तुम्बी के आकार की एक थैली है जो यकृत के नीचे के पृष्ठ के एक गढ़े में रहतो है। इसकी लम्बाई ५-६, चौड़ाई २-३ अंगुल और समाई ३-४ तोला है। इसकी नलिका यकृत पित्त नलिका से जुड़कर ग्रहणो में खुलती है।

अग्न्याशय Pancreas—

यह १० अंगुल लम्बा और ३-४ अंगुल चौड़ा है। आमाशय के पीछे पृष्ठ कटि कशेरुका के सामने अर्गला की भांति रहता है। इसके दाहिनी ओर का मोटा भाग शिरग्रहमी की गोद में रहता है और वांई ओर का पतला पुच्छ भाग प्लीहा की गोद में रहता है। यह ग्रंथि पित्त प्रणाली अधरा महा शिरा महा धमनी वांया वृक्क व अधिवृक्क से मिला रहता है। इसमें अग्नि रस बनता है जिसकी मात्रा दिन रात में प्राय: एक सेर होती है। यह रस एक नलो द्वारा ग्रहणी में श्रुत होता रहता है। अग्न्याशय में आग्नेय रस के साथ साथ एक रस

और बनता है जो रक्त के प्रवाह में मिलकर सर्करा का परिणमन करता है। इसका नाम इन्स्यूलिन है। इसके अभाव से मधुमेह उत्पन्न हो जाता है।

प्लीहा (Spleen)

यह अंतः स्रावी ग्रंथियों में से सब से बड़ी उदर गुहा में आमाशय प्रदेश में रहती है। यह ७ से ८ अंगुल लम्बी, ४ अंगुल चौड़ी तथा २ अंगुल मोटी। इसका रंग पक्के जामुन के समान तथा इसका भार १५ तोला के लगभग होता है। यह भी रक्त-शुद्धि करती है।

अस्थिसार

लेखक : कविराज गणेशीलाल रंगा

[कविराज श्री रंगा पं० देवीलालजी वैद्यराज के सुपुत्र है । आपके पितामह दैवज्ञ श्री अमृतलालजी अपने समय के आयुर्वेदीय यशस्वी चिकित्सक चरित्रनायक के अभिन्न सुहृत् थे। श्री गणेशीलालजी रंगा पठित चिकित्सक है। चरित्रनायक द्वारा आयुर्वेदाध्ययन के समय से आपको एकौषधि-चिकित्सा सरणी एवं अन्वेषण की प्रवृत्ति प्राप्त हुई है। जिसका आप कर्मक्षेत्र में प्रयोग कर रहे हैं। आपका 'अस्थिसार' नामक लेख पठनीय है।

— वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

प्राणियों के देह में अस्थि या सार रूप है। क्योंकि दूसरी वस्तुऐ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं परन्तु ये दीर्घकाल तक स्थिर रहती हैं। ये कपाल, रुचक, तरुण, वलय तथा नलक अपनी आकृति के अनुसार कहलाती हैं।

अस्थियों की संख्या—

प्रौढ़ मनुष्य व स्त्री के अस्थिपंजर में २०६ दो सौ छः अस्थियां होती हैं।

(१) कर्पर करोटि या खोपड़ी में २२ बाईस अस्थियां होती है।

(२) पृष्ठवंश, मेरुदण्ड, कशेरू या रीढ़ में २६ अस्थियां होती हैं।

(३) उर्ध्व शाखाएं (दोनों हाथों में) ३२×२ = ६४ चौसठ अस्थियां हैं।

(४) निम्न शाखाएं (दोनों पैरों में) ३१×२ = ६२ बासठ अस्थियां होती हैं।

(५) वक्षस्थल में २५ पच्चीस अस्थियां होती हैं।

(६) कान में तीन तीन ६ छः अस्थियां होती हैं।

(७) कण्ठ में एक १ अस्थि होती है।

अक्षक अस्थि—

इसके दो सिरे होते है।

(१) एक सिरा वक्षोऽस्थि के ऊपर के भाग से

(२) दूसरा स्कन्धास्थि के अंशकूट नामक भाग से बन्धा रहता है। इसके नीचे पहली पसली रहती है। इसकी लम्बाई ६ से ७ इंच की है। नीचे के तल पर शंकु प्रवर्धन नाम का एक उभार—जिससे एक तिरणिका आरम्भ होती है।

स्कन्धास्थि—

इसका चौड़ा भाग खवे में तथा मोटा भाग कन्धे में रहता है। मोटे भाग में एक गड्ढा होता है जिसे अंशपीठ कहते हैं। यहां बाहू की अस्थिका शिर मिला और बन्धा रहता है। चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं।

(१) एक सामने का जो पसलियों के पास में रहता है।

(२) दूसरा पिछला जो स्पर्श किया जा सकता है।

पिछले पृष्ठ पर के उभार को अंशप्रचीरक कहते हैं। अंशप्रचीरक कन्धों की ओर जाकर प्रवर्धन की शकल में हो गया है। इसे अंशकूट कहते हैं। इसके तीन किनारे होते हैं।

(१) ऊपर का उर्ध्वधारा सबसे छोटा।

(२) पृष्ठवंश की ओर का सबसे लम्बा वंशानुगाधाट।

(३) कक्षतल की ओर वाला कक्षानुगा धारा कहलाता है जो सबसे मोटा होता है। ऊपर के किनारे के पास अंशतुण्ड नामक मुड़ा हुआ उभार होता है। इस अस्थि से सोलह मांस पेशियां लगी रहती हैं।

प्रगण्डास्थि—

इसके दो सिरे होते हैं। ऊपर का सिरा स्कन्धास्थि की ओर रहता है। नीचे का सिरा कोहनी में जिससे प्रकोष्ठ की दोनों अस्थियां मिली रहती हैं। दोनों सिरों के बीच के भाग को गात्र कहते हैं। ऊपर के सिरेका प्रारम्भिक भाग अर्धगोलाकार होता है जिसे शिर कहते हैं जो अंश पीठ से मिला रहता है शिर के नीचे दबा हुआ भाग ग्रीवा है। ग्रीवा के नीचे दो उभार (१) एक बड़ा महापिण्ड, (२) छोटा लघुपिण्ड। इन दोनों के बीच नाली जैसे अन्तर को पिण्डकान्तरिका परिखा कहते हैं। गात्र का ऊपर का भाग वेलनाकार और नीचे का कुछ, कुछ, त्रिपार्श्विक होता है। नीचे के सिरे पर दो उभार होते हैं जो कुहनी में टटोल कर स्पर्श किये जा सकते हैं। (१) भीतर की ओर का अन्तरार्वुद (२) बाहर का वाह्यार्वुद कहलाता है। अन्तरा:र्वुद-वाह्यार्वुद की अपेक्षा बड़ा और कुछ मुड़ा हुआ रहता है। अन्तरार्वुद के पीछे एक परिखा होती है जहां अन्तरा:प्रकोष्ठिका नाड़ी रहती है। नीचे का सिरा प्रकोष्ठ की दोनों अस्थियों से मिला रहता है। मेल के लिए उस पर गड्ढे और उभार है। अन्तरार्वुद के पास सामने की ओर खांचा है उसे डमरुक कहते हैं। जहां अन्त:प्रकोष्ठास्थि का सिर मिला रहता है।

बाह्यार्बुद के पास जो उभरा हुआ भाग है उसे कंदली कहते हैं। यह बहि प्रकोष्ठास्थि से मिलता है। सामने की ओर डमरुक के ऊपर चंचुखात नामक एक गड्ढा होता है। जब कोहनी मुड़ती है तो चंचुप्रवर्धन यहां पर टिकता है। पीछे की ओर डमरुक के ऊपर जो बड़ा खात है उसे कूर्परखात कहते हैं। कोहनी सीधी करने पर कूर्परकूट यहां लगता है। गात्र के मध्य में बाहर की ओर असार्बुद नामक उभार होता है। गात्र के अग्र मध्य बाह्य धारा तीन किनाई व तीन पृष्ठ होते हैं।

प्रकोष्ठास्थियाँ—

प्रकोष्ठ या अग्र बाहु में दो अस्थियां होती हैं।

(१) मध्य रेखा के अन्दर कनिष्ठा की तरफ अन्तःप्रकोष्ठा।

(२) मध्य रेखा के बाहर अंगुष्ठ की ओर वाली बहिःप्रकोष्ठास्थि कहलाती है।

बहिप्रकोष्ठास्थि—

इसके दो सिरे होते हैं ऊपर का सिरा शिर कहलाता है। उसके नीचे ग्रीवा है। इसका नीचे का सिरा चौड़ा तथा करभ अस्थियों से मिला रहता है। दोनों सिरों के मध्य का भाग गात्र है। यह नलकास्थियों में है।

अन्तःप्रकोष्ठास्थि—

इसके भी दो सिरे व दोनों सिरों के बीच का मध्य भाग गात्र कहलाता है। ऊपर का सिरा मोटा व दृढ़ है जिसमें दो प्रवर्धन हैं।

(१) बड़ा कूर्परकूट है जो कि प्रगण्डास्थि के डमरुक नामक भाग से मिलता है।

(२) चंचु के आकार का प्रवर्धन चंचुप्रवर्धन कहलाता है। इसका अधःप्रान्त पतला होता चला गया है और नीचे गोल होने से शिर कहलाता है।

मणिबन्ध की अस्थियें—

कलई में आठ अस्थियां दो पंक्तियों में रहती हैं। (१) पहली पंक्ति में नौ निभ, अर्ध चन्द्राकार, त्रिकोणक और मटराकार तथा (२) दूसरी पंक्ति मे पर्याणक, कूटक, मध्य कूटक और फणधर होती हैं। इन्हें कूर्चास्थियां भी कहते हैं।

करभास्थियाँ—

ये पांच होती हैं इनमें कनिष्ठा की ओर की छोटी व पतली तथा अंगूठे की ओर की छोटी व मोटी होती है। इनके दो सिरे व बीच में का भाग गात्र कहलाता है।

अंगुलीस्थियां—

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार अंगुलियों के पर्वों में तीन तीन अस्थियां तथा अंगूठे में दो होने से कुल चौदह अंगुल्यस्थियां होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक उर्ध्व शाखा में बत्तीस अस्थियों का वर्णन किया गया है।

निम्न शाखा या अधो शाखा—

चार अस्थियों के मिलने से बस्तिगह्वर बनता है, बस्तिगुहा पुरुषों में गहरी और कम चौड़ी होती है। स्त्रियों में उथली, बड़ी एवं चौड़ी होती है। इन चारों अस्थियों में दो का नाम नितम्बास्थि है।

नितम्बास्थि—

इसी का नाम श्रोणी फलक है। यह विरूपास्थि है जो कि तिरछी लगी रहती है। यह सामने आपस में मिलती है तथा पीछे त्रिकास्थि से मिलती है। यौवन के प्रारम्भ में यह तीन भागों में विभक्त रहती है। (१) जघन (२) ककुन्दर (३) भग। परन्तु युवावस्था में तीनों मिल कर एक हो जाती हैं। इन तीनों अस्थियों के सन्धि स्थान पर गहरा गड्डा होता है जिसे वंक्षणोलूखल कहते हैं। उरू अस्थि का शिर स्नायुओं द्वारा इसीमें बन्धा रहता है। इसके ऊपर का भाग जघन चूड़ा कहलाता है। इसके सामने दो उभार हैं।

(१) एक ऊपर का (२) दूसरा नीचे। ऊपर वाला पुरोर्ध्वकूट, नीचे वाला पुराधकूट कहलाते हैं। इसी प्रकार पीछे की तरफ के उभारों का पश्चिमोर्ध्वकूट तथा पश्चिमाधकूट कहते हैं।

बैठने पर जहां मनुष्य का वजन रहता है उसे ककुन्दर पिण्ड कहते हैं। ककुन्दर पिण्ड के ऊपर शृंग है। वह ककुन्दरकण्टक कहलाता है। सामने का भाग जहां दोनों अस्थियें आपस में मिलती हैं वह भगसन्धि कहलाती है। प्रजनन अवयवों का सम्बन्ध इसी से है। वंक्षणोलूखल के सामने एक बड़ा छेद होता है जिसे गवाक्ष कहते हैं।

उरूअस्थि—

यह शरीर की सबसे लम्बी और दृढ़ अस्थि है। इसका ऊपर का सिरा शिर कहलाता है। शिर के नीचे ग्रीवा है। शिर का ग्रीवा के साथ कोण बनता है। ग्रीवा जहां गात्र से मिलती है वहां उभार होते हैं। बड़ा महा शिखरक छोटा लघु शिखरक कहलाता है। इस का नीचे का सिरा अत्यन्त दृढ और मोटा है। इस पर दो उभार होते हैं।

(१) बड़ा महार्बुद (२) छोटा उपार्बुद है। इनके बीच के भाग को अर्बुदान्तराल

कहते हैं। अस्थि का गात्र लम्बा है। सामने की ओर चिकना, पिछे की ओर खुरदरा होता है।

जानुस्थि—

यह गोल आकार की जानु के सामने रहने वाली कपालास्थि है। इसकी किसी अस्थि के साथ सन्धि नहीं रहती। यह ऊपर रहती है।

जङ्घास्थियां—

टांग में दो अस्थियां होती हैं। एक बड़ी व दूसरी छोटी। बड़ी को जंघास्थि तथा छोटी को अनुजंघास्थि कहते हैं।

जङ्घास्थि—

यह भी लम्बी अस्थि है। इसके दो सिरे होते हैं। ऊपर के सिरे पर दो उभार होते हैं। इनके ऊपर दो स्थालक होते हैं जो उरून्दों अस्थि के अधोभाग के कन्दों के साथ जुड़ने के लिए हैं। इन दोनों चिन्हों के बीच दो मुख वाला कण्टक जंघा कण्टक है। नीचे का सिरा ऊपर के सिरे से छोटा होता है तथा उसमें स्थालक होता है। जो कि टखने की कुर्चास्थि से जुड़ा रहता है। और इसमें नीचे की तरफ प्रबर्धन होता है। जो अन्तर्गुल्फ बनता है। इस अस्थि का गात्र थोड़ा सा टेढ़ा और बाहर की ओर खातोदर होता है। इसके गात्र पर तीन धाराएें होती हैं।

अनुजङ्घास्थि—

यह जंघास्थि से पतली अस्थि है। इसके दो सिरे व मध्य का गात्र कहलाता है। ऊपर का सिरा जंघास्थि से मिला रहता है तथा नीचे के सिरे से बहिर्गुल्फ बनता है। इसका गात्र मरोड़ा हुआ तीन धार वाला होता है।

पैर की कूर्चास्थियां—

इनसे पैर के पीछे का भाग बनता है। यह छोटी स्थूल व विषम आकृति की होती है। इनकी संख्या ७ है। इन्हें शलाकाधिष्ठान भी कहते हैं। इनके नाम कूर्चशिर, पार्ष्णि, नौकाकृति, घन, अन्त: कोणक, मध्य कोणक, बहि कोणक है।

पादांगुल्यस्थियां—

हाथ की तरह पैर में भी पांच शलाकास्थियां तथा चौदह पर्वास्थियां होती हैं।

वक्षोऽस्थि—

(उर: फलक) यह वक्ष के बीच में सामने रहती है। यह तीन खण्डों से बनता है।

उपर का पहिला खण्ड षट्कोण, बीच का चपटा तथा तीसरा त्रिकोणाकार है। जो तरूणास्थि से बना है। परन्तु वृद्धावस्था में यह भी अस्थिमय हो जाता है।

(१) प्रथम खण्ड में दोनों ओर तीन तीन स्थालक होते हैं। एक अक्षक से मिलने के लिए तथा दूसरा प्रथम पर्शुका से व नीचे के स्थालक पर दूसरी उपपर्सुका का आधा हिस्सा जुड़ता है।

(२) द्वितीय खण्ड या मध्य फलक—

इसके बाल्यावस्था में चार भाग होते हैं। युवावस्था में एक हो जाता है। इसके प्रत्येक ओर छः छः उपपर्सुकाओं से मिलने के लिए स्थालक होते हैं।

(३) तृतीय खण्ड या अग्रपत्र—

यह तरूणास्थिमय तीसरा खण्ड है।

पर्शुकायें—

वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर बारह बारह पर्शुकाऐं होतीं हैं। ये सब पीछे कशेरू से मिली रहती हैं तथा सामने की ओर उप पर्सुका से मिलली है। उनमें (१ से ७) एक से सात तक उत्तरोत्तर बड़ी होती चली गई हैं। तथा नीचे की पांच फिर यथाक्रम से छोटी होती चली गई हैं। आठवीं, नवमीं, दसवीं उपपर्सुकाऐं अपने से ऊपर वाली उपपर्सुका से जुड़ी रहती है। तथा ग्यारहवीं और बारहवीं खुली रहती है। जिन्हें कमर पर दबा कर छुआ जा सकता है।

पर्शुका वर्णन—

प्रत्येक पर्शुका में मुण्ड, अर्बुद, ग्रीवा, कौण, गात्र तथा अग्रकोटि, छ अवयव होते हैं। कशेरू से मिलने वाला पर्शुका सिरा मुण्ड कहलाता है। मुण्ड के नीचे का उभार अर्बुद और मुण्ड के बीच का भाग ग्रोवा। अर्बुद के सामने जहां अस्थि मुड़ती है कोण कहलाता है। मुड़ा हुआ टेढा पर्शुका मध्य भाग काण्ड या गात्र कहलाता है। उपपर्शुका से मिलने वाला खुरदरा सिरा अग्रकोटि कहा जाता है। प्रथम पर्शुका सबसे छोटी तथा ग्यारहवीं व बारहवीं में अर्बुद नहीं होता।

पृष्ठवंश—

मध्य शरीर, शाखाऐं तथा शिर का आश्रय मेरुदण्ड है। सुषुम्ना नाड़ी इसीमें रहती है। यह दण्ड चौबीस अस्थि के टुकड़ों से बनता है। तथा यह खोखला होता है। यह ऊपर सिर से तथा नीचे त्रिकास्थि से जुड़ा रहता है। इसमें तीन स्थानों पर टेढापन होता है। ग्रीवा के सात पृष्ठ में बारह और कमर के चार काण्ड होते हैं।

कशेरुका—

पृष्ठवंश को बनाने वाले अस्थि खण्ड को कशेरुका कहते हैं। इसकी आकृति अंगूठी से कुछ कुछ मिलती है। कशेरुका के दो भाग होते हैं। (१) गात्र (२) चक्र। इसका गात्र पिण्डाकार व कम ठोस होता है। और चक्रके मध्य में एक बड़ा छिद्र होता है। उसे सुषुम्ना छिद्र कहते हैं। चक्र में और भी चार छोटे छोटे आधे छिद्र होते हैं। जो कि दो कशेरुकाओं के मिल जाने पर पूर्ण छिद्र बन जाते हैं जिनमें सुषुम्ना की शाखाएँ निकलती हैं। इसके पीछे की ओर का प्रवर्धन पृष्टकंटक तथा पार्श्व के प्रवर्धन कशेरु बाहु कहलाते हैं। कशेरु बाहु के प्रारम्भ में दो सन्धि के प्रवर्धन को सन्धिप्रवर्धन कहते हैं।

ग्रीवा के कशेरु—

इनका गात्र छोटा; अधिक ठोस, तथा सुषुम्ना—छिद्र त्रिकोण। पृष्ट कटक छोटा व आगे से दो भागों में विभक्त ऊपर से नीचे की ओर के कशेरुकों के पृष्ट कंटक लम्बे होते चले गये हैं। पार्श्वप्रवर्धन में दोनों ओर छिद्र होते हैं जिन्हें मातृका छिद्र कहते हैं। जिनमें मातृका धमनी रहती है। दूसरे ग्रीवा कशेरुका में दांत के समान दन्त प्रवंधन विशेष होता है। तथा सातवें का—पृष्ठ कंटक गोल, तथा लम्बा होता है।

पृष्ठ कशेरु—

इन कशेरुकाओं के गात्र मध्यम आकृत्ति के होते हैं और उनमें दो सन्धि चिन्ह पशुका के गात्र के मूल के मिलने के लिये होते हैं। इनके बाहुप्रवर्धन पर भी एक एक स्थालक होता है। जहां पर पशुका का अर्बुद मिलता है। पृष्टकंटक उतरोत्तर बड़े व गोल मुख वाले होते हैं।

कटिकशेरु—

इनके गात्र सबसे बड़े व चौड़े होते हैं। पार्श्व प्रवर्धन छोटे और तीन मुखवाले होते हैं। पृष्टकंटक मोटे व पतले होते हैं।

त्रिकास्थि—

पृष्ठ वंश के नीचे दोनों नितम्बास्थियों के बीच त्रिकोणाकार अस्थि है। यह भी प्रारम्भ में पांच कशेरुकाओं से मिलकर बनी है। इसके सामने चार रेखाओं से मिले हुए २ छिद्र होते हैं। इसके ऊपर के सिरे पर दो त्रिकशृंग हैं जिनसे कटि कशेरुका के नीचे के सन्धिप्रवंन जुड़े रहते हैं। इसके पीछे की ओर पांच कटक हैं। नितम्बास्थियों से मिलने के सन्धि चिन्ह त्रिक पक्ष कहलाते हैं अनुत्रिकास्थि के ऊपर रहने वाले इसका नीचे का सिरा त्रिकमूल कहलाता है। त्रिकास्थि के बीच मे रहने वाला रिक्त स्थान, त्रिकगुहा कहलाता है जिसमें सुषुम्ना का अन्तिम भाग रहता है।

अनुत्रिकास्थि—

यह मुडी हुई छोटी छोटी चार कशेरूकाओं से मिली अस्थि है। इसके ऊपर के शृंग त्रिकमूल से मिले रहते हैं। इसे गुदास्थि कहते हैं।

शिर

समस्त ज्ञानेन्द्रियों का आधार व प्राणों का आश्रय उत्तमांग शिर है। यह पृष्ठ वंश पर टिका रहता है। शिर की २२ अस्थियों में से चेहरे में १४, करोटी को बनाने वाली, ८ अस्थियाँ होती हैं। इनमे से ललाटास्थि १, पार्श्विकास्थि दो, शंखास्थि दो, पाश्चात्यस्थि १, यह ६ तो करोटी में बाहर से देखी जा सकती हैं। जतूकास्थि, झर्झरास्थि ये दो अस्थियां करोटी की तली में रहतो हैं। पाश्चात्यास्थि या पश्चिम कपाल—

यह कपाल की पिछली अस्थि हैं। यह शिर की गोलाई के अनुसार मुडी हुई होती है। इससे कपाल की छत का पिछला भाग तली तथा फर्श बनते हैं। जहां यह मुडती है वहां एक बड़ा छिद्र सुषुम्ना छिद्र है। छिद्र के सामने का भाग समस्थ है या पड़ा है और पीछे का भाग खड़ा है। छिद्र के इधर उधर दो उभार हैं जो कि ग्रीवा के प्रथम कशेरुका के संधि प्रवर्धनों के ऊपर टिकते हैं। इन्हें आलम्बकूट कहते हैं।

उर्ध्व भाग का अगला किनारा दोनों पार्श्विकास्थियों के पिछले किनारे से तथा समस्थ भाग के किनारे शखास्थियों के किनारे से और समस्थ भाग का सिरा जतूकास्थि से जुड़ा रहता है। दो माह के बालकों में जहां पार्श्विकास्थि से मेल होता है वहां एक गढा होता है। यहां भी छूने से फड़कन मालूम होती है। इसे अधिपतिरन्ध्र कहते हैं। इसीके ऊपर हिन्दुओं में चोटी रखने का रिवाज है।

पृष्ठ तल—

यह शिर सम्पुट के बाहर रहता है। इसका कपाल भाग कछुए की पीठ के समान उन्नतोदार होता है। इस उभार को पश्चिमार्बुद कहते हैं। मूल भाग के दोनों ओर छोटे-छोटे उभार हैं जिन्हें मूलकोटि कहते हैं जो प्रथम ग्रीवा कशेरुका के स्थालकों से मिलते हैं। यह अस्थि ६ अस्थियों से मिलती है।

ललाटास्थि—

(पुर: कपाल)—शिर के कोष्ट की अगले भाग की अस्थि को ललाटास्थि कहते हैं इसमें दो भाग होते है (१) भ्रूवों के ऊपर का (ऊर्ध्व या खड़ा भाग) (२) उसके नीचे (समस्थ या पड़ा भाग)

भ्रुवों के स्थान में अस्थि मुड़ गई है। इसके ऊपर का भाग चोटी की ओर जाता है और नीचे का भाग नीचे पीछे को जाता है।

समस्थ या पड़ा—

मध्य रेखा में कटा रहता है। इस कटी हुई घाई में झर्झरास्थि का एक अंश फसा रहता है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। (१) पहला ऊपर का (२) दूसरा नीचे का (ऊपर के पृष्ठ से कपाल की तली का अगला भाग बनता है और उस पर मस्तिष्क का अगला भाग रखा रहता है। नीचे के पृष्ठ से अक्षि गुहा की छतें बनती हैं।

खड़ा भाग—

खड़े भाग के अगले पृष्ठ से माथा व पिछले पृष्ठ से कपाल की अगली दीवार तथा कुछ छत बनती है। नवजात बालकों में इसके दायें बायें दो भाग होते हैं और उनके बीच झिल्ली रहती है।

पार्श्विकास्थि (पार्श्वकपाल)—

ललाटास्थि के पीछे कपाल की छत में दो चौड़ी और चपटी अस्थियां हैं इनसे शिरो गुहा का बीच का कुछ पार्श्व का भाग बनता है। एक दाहिनी ओर व दूसरी बायीं ओर रहती है। यह अस्थि चौकोर है अतः इसमें चार कोण व चार किनारे होते हैं। यह शिर की गोलाई के अनुसार बीच में से मुड़ी रहती है। इसका अगला किनारा ललाटास्थि के ऊर्ध्व भाग के पिछले किनारे से तथा ऊपर का किनारा दूसरी पार्श्विकास्थि से, पिछला पाश्चात्यस्थि के अगले किनारे से व नीचे का टेढ़ा किनारा शंखास्थि के किनारे से मिला रहता है। इसमें दो पृष्ठ आभ्यन्तर व बाहर का होता है।

इन चारों अस्थियों के जोड़ के स्थान पर नवजात बालकों में एक गड्ढा होता है जहां छूने पर फडकन मालूम देती है। यहां अस्थि नही बनी है केवल मृदु झिल्ली है। यह स्थान ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। दो वर्ष की आयु मे यह गढ़ा बन्द हो जाता है।

शंखास्थि—

पार्श्विकास्थि के नीचे के किनारे से एक बेडोल (विरूप) अस्थि लगी रहती है जिस पर कान लगा रहता है और इसी छिद्र में श्रवणेन्द्रिय भी रहती है। इसके बाहरी पृष्ठ पर मध्य मे एक छिद्र होता है जो कि कान का बाहरी छिद्र है। इसके ठीक पीछे एक बड़ा उभार होता है जिसे शिफा प्रवर्धन कहते हैं। छिद्र के आगे और कुछ उसके नीचे एक गड्ढा होता है जिसे हनुसन्धि स्थालक कहते हैं। इस गड्ढे के ऊपर छिद्र के आगे एक लम्बा प्रवर्धन गण्ड प्रवर्धन रहता है। छिद्र और प्रवर्धन के ऊपर का भाग शंख चक्र कहलाता है। शंखस्थि के भीतरी पृष्ठ पर एक मोटा त्रिपार्श्विक भाग जो कि पत्थर जैसा सख्त होता है अश्मकूट कहलाता है। इसके तीन पृष्ठ सामने का व पीछे का और नीचे का। नीचे का पृष्ठ कपाल की तली को देखने से दिखता है। जिसमें कई गड्ढे छिद्र तथा एक कील जैसा उभार शिफा

प्रवर्धन रहता है। पिछले पृष्ठ पर एक छिद्र होता है। जिसे कर्णद्वार कहते हैं। अगला पृष्ठ कपाल के भीतर रहता है जिस पर मस्तिष्क रखा रहता है।

इसके चौडे भाग का ऊपर का किनारा पार्श्विकास्थि से और पिछला किनारा पश्चात् अस्थि से तथा त्रिपार्श्विक भाग पाश्चात्यास्थि के समस्थ भाग से मिला रहता है।

जतूकास्थि—

इसकी आकृति पर फैलाए तितली के आकार की है। यह कपाल की तली में पश्चादस्थि के समस्थ भाग के आगे ललाटास्थि के समस्थ भाग के पीछे दोनों शखास्थियों के बीच फँसी रहती है। इसका तितली के धड़ जैसा मोटा भाग गात्र कहलाता है जिसमें दोनों ओर दो पंख हैं (१) पतला व छोटा (२) मोटा और चौड़ा। इसमें कई छिद्र होते हैं। गात्र के नीचे के पृष्ठ से दो प्रवर्धन निकले हुए हैं जिन्हें जतूकाचरण कहते हैं। गात्र का पिछला पृष्ठ पश्चात् अस्थि से व अगला बहु छिद्रस्थि से जुड़ा रहता है। इसका गात्र खोखला है जिसमें वायु भरी रहती है।

झर्झरास्थि (बहु छिद्रास्थि)—

यह अस्थि खोखली और हल्की होती है। कपाल की तली में इसका वही भाग दिखाई देता है जो कि ललाटास्थि की घाई में फंसा रहता है। यह पतरे के समान पतला और बहुत छेद वाला होता है। इसे चालनी पटल भी कहते हैं। इससे नासिका की दीवार बनने में भी मदद मिलती है। इस प्रकार शिरो गुहा को बनाने वाली आठ अस्थियों का वर्णन हो चुका है।

चेहरे की अस्थियां

(१) अधोहनुअस्थि—

यह चेहरे की अस्थियों में सबसे बड़ी व मजबूत है। सब से नीचे के भाग में रह कर ठुड्डी बनाती है। यह नाल की तरह मुड़ी हुई है। इसके समस्थ भाग हनु मंडल कहलाता है। जन्म के समय हनुकोण का परिमाण १७५° डिग्री होता है। जो जवानी में ११० से १२० तक रह जाता है। बुढापे में फिर बढकर १४० तक हो जाता है। समस्थ भाग के दो पृष्ठ होते हैं। बाहर का व भीतर का बाहर के पृष्ठ अधरोष्ठ को गति देने वाली मांस-पेशियें तथा भीतर के पृष्ठ से जिह्वा चालनी पेशियां लगी रहती हैं। इसके दो किनारे होते हैं। एक नीचे का जो टटोला जा सकता है दूसरा ऊपर का जहां १६ दांत लगे रहते हैं। उर्ध्व भाग ऊपर जाकर दो भागों में विभक्त है। इसका पतला भाग हनुकुन्त तथा मोटा सिरा हनुमुण्ड कहलाता है।

ऊर्ध्वहनुअस्थि—

ऊपर के जबड़े में दायीं व बायीं ओर दो विरूपास्थियां होती हैं जो मध्य में एक दूसरी से जुडी रहती हैं। एक अस्थि में आठ दांत जुड़े रहते हैं। इससे मुखगुहा की छत अगला भाग तथा नासिका की फर्श बनती है। गात्र चोपहल होता है। एक पृष्ठ से नासिका का की बाहरी दीवार बनती है और यह खोखली होने से वायु से भरी रहती है। दूसरा पृष्ठ गाल में रहता है। तीसरे से अक्षि गुहा की फर्श बनती है। और चौथा पृष्ठ पीछे रहता है। यह ललाटास्थि से, नासास्थि से, अश्रुअस्थि से तथा गण्डास्थि से लगी रहती है।

नासास्थि—

नासिका के ऊपर ललाटास्थि के नीचे मध्य रेखा में दायीं ओर व बायीं ओर छोटी छोटी दो अस्थियां होती हैं। जिन पर ऐनक टिकी रहती है। इन्हें नासास्थि कहते हैं। इन दोनों अस्थिओं के मिलने से बीच में जो पुल बनता है वह नासा वंश कहलाता है। यह अस्थि कुछ २ चौकोर है। जिसमें चार किनारे व दो पृष्ठ होते हैं। अगला किनारा दूसरी ओर की नासास्थि से, पिछला उर्ध्वहनुअस्थि से और ऊपर का किनारा ललाटास्थि से मिला रहता है। नीचे तरूणाअस्थि जुड़ी रहती है।

अश्रुअस्थि—

यह अस्थि कुछ चौकोर और मुडी हुई होने से एक नाली सी बन जाती है। जिसका नासिका से सम्बन्ध रहता है। यहां अश्रुग्रंथि रहती है। यह कागज जैसी पतली और कोमल होती है। यह अक्षिगुहा की दीवार में रहती है।

अधोशुक्तिकास्थि (अधोसीपाकृति)—

नासिका की दिवार पर तीन मुडी हुई अस्थियां दिखाई देती हैं। ऊपर की दोनों झर्झरा अस्थि के नीचे के अंश हैं। नीचे वाली सबसे बड़ी और पृथक अस्थि है। यह सीप जैसी शक्ल में जिसका एक पृष्ठ उभरा हुआ दूसरा गहरा रहता है।

नासाफलकास्थि (नासाप्राचीर)—

यह अस्थि सपाट और चौकोर होती है। इसके किनारे दो बड़े व दो छोटे होते हैं। एक किनारा फर्श से जुड़ा रहता है, दूसरा जतूकास्थि के गात्र से व झर्झरास्थि के अंश से व तरूणास्थि से मिला रहता है। तीसरा व चौथा किसी से नहीं मिलता है।

तालुअस्थि—

इसके दो भाग होते हैं (१) खड़ा (२) पड़ा। इसकी आकृति ∟ से कुछ मिलती

है। पड़ा भाग खड़े से कुछ कम लम्बा होता है। इसका एक किनारा मध्य रेखा में दूसरी ओर की तालुअस्थि से अगला किनारा उर्ध्वहनुअस्थि के पिछले किनारे से कोमल तालु लगा रहता है ऊपर के पृष्ठ से नासागुहा की फर्श का पिछला भाग नीचे के पृष्ठ से कठिन तालु का पिछला भाग बनता है।

कपोलास्थि (गण्डास्थि)—

यह अस्थि सामने ऊर्ध्व हनुअस्थि, पीछे शंखास्थि के गण्ड प्रवर्धन से जुड़ी रहती है। इन दोनों के मिलने से एक मेहराब बनती है जहां मांसपेशियां लगी रहती हैं। यह अक्षि-गुहा के फर्श व दीवार बनाने में भी सहायक होती है।

कान की अस्थियां—

शंखास्थि के अश्म कूट नामक भाग में तीन छोटी छोटी अस्थियां रहती हैं जिनका नाम सहित वर्णन ये हैं।

मुद्‌गर—

इसका मोटा भाग सिर, शिर के नीचे ग्रीवा, ग्रीवा के नीचे तीन प्रवर्धन होते हैं जिन्हें मद्‌गर दंड कहते हैं।

नेहाई—

इसका एक भाग नेहाई के समान मोटा जिससे दो प्रवर्धन निकलते हैं (१) बड़ा व दूसरा छोटा। इसके गात्र पर एक स्थालक होता है जहां मुद्‌गर शिर लगा रहता है।

रकाब—

यह रकाब की आकृति की है। इसका पादान भाग कर्ण के एक छिद्र में फंसा रहता है। मेहराब के दोनों शिर जहां आपस में मिलते हैं वहां एक उभार होता है, इसे शिर कहते हैं। शिर पर एक स्थालक होता है जहां नेहाई का बृहद् प्रवर्धन मिला रहता है। शिर के नीचे ग्रीवा होती है।

ये तीनों अस्थियां आपस में जुड़ी होती हैं। इनकी संधियों के विकृत हो जाने से बधिरता आ जाती है।

कंठिकास्थि—

यह ग्रीवा में ठोडी के नीचे स्वरयंत्र के ऊपर के किनारे रहती है। यह बीच में सामने से मोटी होती है और इसके किनारे पतले होते हैं। मोटा भाग गात्र कहलाता है।

देह में मांस धातु

लेखिका: रतनदेवी जैन, जोधपुर

[श्रीमती रतनदेवी जैन वैद्यराज श्री दवेन्द्रचन्द्रजी जैन की सहचारिणी हैं। आप पाकशास्त्र में श्री जैन की तरह अति कुशल तथा चरित्रनायक के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं निष्ठा रखती हैं। आपका 'देह में मांस धातु' लेख छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

पंच पेशी शतानि भवंति। पेशियां लगभग ५१९ जिनमें ४५१ अस्थियों की गतियों के काम मे आती हैं। ६९ आंख स्वर यंत्र, जीभ, कंठ, तालु, कान में लगी रहती है। प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा में ५९×४=२३६ धड़ में ६७, शिर ग्रीवा में ४० कुल १०७×२=२१४

६८

१

५१९ कुल

महाप्राचीरा

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः।
पंच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति।
यथार्थमूष्मणायुक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत्।
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तदा।

रक्त व कफ का पर प्रसाद पित्त के द्वारा पचन होने से, तथा वायु की गति होने से विभाग हो पेशियाँ बन जाती हैं।

पेशियां की नामकरण विधि—

आकृति अनुसार—त्रिकोण, चतुर्भुज, चतुरस्रा
देश अनुसार—अंसाच्छादनी, उरःश्छादनी
दिशा अनुसार—सरला ऊर्ध्व नेत्रचालनी
कार्य के अनुसार—नमनी, प्रसारणी,
अन्य कारणों से—उरकर्ण मूलिका, शिफारसनिका
इन की आकृति पतली, लम्बी, चौकोर, तिकोनी, मृदु, कठोर होती है।

पेशियों के कार्य—

शिरा स्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्ति हि॥

पेशियों के द्वारा शरीर का संगठन सुदृढ़ रहता है तथा इनके संकोच प्रसार से गतियां उत्पन्न होती हैं। संकोच से इनकी लम्बाई छोटी हो जाती है व मोटाई बढ़ जाती है। पेशियें किसी न किसी संधि को या संधियों को पार करती हैं। पेशियों का रंग सब जगह एक जैसा नहीं होता। कहीं इनका रंग गुलाबी कहीं सफेद रंग होता है। सफेद रंग को चीमटी से नोंच कर देखने से मालूम होगा कि यह भाग लाल से अधिक कठोर है। नोचने से उसमें पतले पतले तार निकल आते हैं। सफेद भाग सौत्रिक तन्तु से व लाल भाग मांस तन्तु से बनता है। सौत्रिक तन्तु से निर्मित भाग को कंडरा कहते हैं। सब पेशियों की कंडराएं एक जैसी नहीं होतीं। चौड़ी पेशियों की कंडराएं चादर के समान तथा बहुत सी रज्जु (डोरी) वत् कुछ मोटी व चपटी चादरवत् होती हैं।

पेशी का वर्णन—

(१) पेशी का आरम्भ कहां से होता है (२) पेशी का अन्त कहां है। (३) पेशी का कार्य क्या है। (४) पेशी किस नाड़ी से सम्बन्धित है। (५) पेशी के आसपास की किन पेशियों से सम्बन्ध है।

मांसपेशियों की गतियां—

मांसपेशियों में दो प्रकार की गतियां होती हैं। (१) ऐच्छिक (२) अनैच्छिक, गति भेद के प्रकार से मांस कोश भी २ प्रकार के होते हैं।

स्नायु—

वसा के स्नेह भाग से सिराएं व स्नायु बन जाती है। मृदुपाक वाली सिराएं तथा इससे खर प्रपाक से स्नायु हो जाते हैं। इनकी संख्या शरीर में ९०० है। प्रत्येक शाखा में १५० इसलिए चारों शाखाओं में ६०० धड़ में २३० तथा शिर ग्रीवा में ७० होती है। आकृति के अनुसार इनके ४ भेद हैं। (१) प्रतान (ताने के रूप में) सन्धियों के बन्धन (२) वृत्त (गोल) कंडरायें (३) पृथुल (मोटी) छाती, पीठ, शिर में, (४) सुषिर (पोले) आशयों में—

यः स्नायूर्प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
सः गूढशल्य माहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम्॥

मांसपेशियां स्त्रियों में २० अधिक होती हैं। स्तनों में १० अपत्य पथ में ४ गर्भाशय में ३ गर्भाशय से ऊपर ३।

देह की सन्धियाँ

लेखिका : सुमन देवी जैन

[श्रीमती सुमनदेवी जैन चरित्रनायक के उत्तराधिकारी शिष्य श्री कान्तिचन्द्रजी जैन की धर्मपत्नी हैं। आप गृह-कार्य में बडी निपुण एव गुरुजनों के प्रति अतीव श्रद्धावान् तथा निष्ठावान् है। आपने देह की सन्धियों पर छात्रोपयोगी पठनीय लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

सन्धि—

दो या बहुत सी अस्थियों के आपस में मिलने को संधि कहते हैं। ये २ प्रकार की हैं।

(१) चल या चेष्टावंत—जहाँ गति होती है।

(२) अचल या स्थिर—जहाँ गति नहीं होती।

अचल सन्धि—

इनमें या तो एक अस्थि के किनारों के ऊपर दूसरी अस्थि का किनारा चढ़ा रहता है या दांते होते हैं वे एक दूसरे में फसे रहते हैं। जैसे कपाल की सन्धियों में।

चल सन्धि—

गति के अनुसार इनके दो भेद होते हैं। अल्पचेष्टावन्त, बहुचेष्टावन्त। चल सन्धियों में अस्थियों के सिरे एक दूसरे के साथ सौत्रिक तन्तुओं द्वारा बंधे रहते है कई बन्धनों को स्नायु कहते हैं। कई बन्धन थैली की आकृति के होते हैं। यह थैली दोनों अस्थियों से जुड़ी रहती है। ऐसी थैली को सन्धिकोष कहते हैं। बन्धन अस्थियों को अपने अपने स्थान पर स्थिर रखते हैं। सन्धि कोष के भीतरी पृष्ठ पर एक पतली चमकदार कला लगी रहती है। उस कला के कोष चिकनाई वाला तरल बनाते हैं जिससे सन्धियां स्निग्ध रहती हैं। इसे स्नेहन कफ भी कहते हैं। बन्धन के टूट जाने पर अस्थियां अपना २ स्थान छोड़ देती है जिसे सन्धिभग्न या सन्धिच्युति कहते हैं। अस्थि सन्धियों की सख्या लगभग ३०० हैं।

कोरोदूखल सामुद्ग प्रतरस्तुन्न सेवनी।
काकतुण्ड मण्डलं च शंखावर्ताष्ट संधय:।

कोर—अंगुली, मणिबन्ध, गुल्फ, जानु कूर्पर में
उलूखल—कक्षा, वंक्षण, दांतों में
सामुद्ग—अंसपीठ, गुदा, भग, नितंब में
प्रतर—ग्रीवा, पृष्टवंश,
तुन्नसेवनी—शिर, कटी, कपाल में
काकतुण्ड—हनु के दोनों ओर
मंडल—कंठ, हृदय, क्लोम नाड़ियों में
शखावर्त—श्रोत्र, शृंगांटक में

ये सन्धियां अस्थियों की हैं—

> अस्थ्नां तु सन्धयोहत्रते केवला। परिकीर्तिता: ।
> पेशीस्नायु सिराणांतु सन्धिसंख्या न विद्यते ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन

लेखक : वैद्य ठाकुरप्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य, बीकानेर

[वैद्यराज श्री ठाकुरप्रसादजी शर्मा भूतपूर्व इण्डियन मेडिसिन बोर्ड, राजस्थान के उपाध्यक्ष, वर्तमान में राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीकृत) के प्रधान मन्त्री तथा स्वामी श्री केवलराम सेवानिकेतन (बीकानेर) के प्रधान चिकित्सक होने के नाते लोकप्रिय गणनायक हैं। आप राजस्थान में हर एक आयुर्वेद की गतिविधियों से परिचित तथा वैद्य-जगत् के हितों के बारे में जागरूक व उदयाभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मंडल में होने के नाते सर्वविध सहयोगी है। आपका 'प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन' नामक लेख बड़ा उपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

हमारे शरीर में संज्ञा को ग्रहण करने वाले यन्त्र को इंद्रियाधिष्ठान कहते हैं। इन्द्र शब्द का अर्थ है ज्ञान, ज्ञान की प्राप्ति का साधन इंद्रियाधिष्ठान द्वारा होता है।

	इन्द्रियाधिष्ठान	विषय	इन्द्रिय	इन्द्रिय बुद्धि	द्रव्य
१	कान	शब्द	श्रोत्र	शब्द ज्ञान	आकाश
२	त्वचा	स्पर्श	स्पर्शन	स्पर्श ज्ञान	वायु
३	नेत्र	रूप	चक्षु	रूप ज्ञान	तेज
४	जिह्वा	रस	रसन	रस ज्ञान	जल
५	नासा	गंध	घ्राण	गन्ध ज्ञान	पृथिवी

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति उपरोक्त पांच इन्द्रियाधिष्ठान द्वारा होती है। ये इन्द्रिय अपने स्वामी मन के साथ रहने पर ही संज्ञा ग्रहण करते हैं। इनके अधिष्ठान दो प्रकार के हैं।

(१) बाह्य तथा (२) आभ्यंतर

बाह्य इन्द्रियाधिष्ठान, तथा आभ्यन्तर मस्तिष्क के प्रत्येक गोलार्द्ध में उसकी विपरीत दिशा में रहने वाले तत्तद् इन्द्रिय के केन्द्र को उसी नाम से सम्बोधित करते हैं जहां कि इन्द्रिय बुद्धि बनती है। इन्द्रियाधिष्ठान से इन्द्रिय बुद्धि तक का वर्त्म इन्द्रिय कहलाती है।

शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रिय परंमनः।
तत्रस्थं तद्धिविषयानिन्द्रियाणांरसादिकान्॥

समीपस्थान् विजानाति—

श्रवणेन्द्रिय—

शब्द संज्ञा को ग्रहण करने वाली श्रवणेन्द्रिय श्रोत्र है। इसका बाह्य अधिष्ठान कर्ण—शिर के पार्श्व मे शंखास्थि के बाहर व भीतर रहता है। इसके ३ भाग हैं। बाह्य, मध्य तथा अन्त। बाह्य भाग तरुणास्थि से बना त्वचा से ढंका है, जिसके कर्णशष्कुली व कर्ण कुहर दो भाग होते हैं।

कर्ण शष्कुली Pinna of the ear)

इसमें २ कर्णपालियां (बाह्य, आभ्यंतर) कर्णरवात ३ (त्रिकोण, मध्य, पालिसीता) कर्णपुत्रिका २ (अग्रिम, पश्चिम) कर्ण चूचुक १ होता है। कर्ण कुहर (Auditory Meatus) दोनों कर्ण पुत्रिकाओं के मध्य से प्रारम्भ होकर कर्णपटह तक टेढ़ी १॥ अंगुल गुहा है।

मध्य कर्ण (Middle Ear)

यह शंखास्थि के अश्मकूट भाग में छोटी और टेढ़ी एक अंगुल लम्बी गुहा है। इसके मध्य व पटल २ भाग होते हैं। मध्य भाग वायु पूर्ण तथा गलच्छिद्र से सम्बन्धित है। पटल भाग अस्थि पत्रिका से बना होता है जहां कान की तीनों अस्थियें रहती हैं।

कर्ण पटह (Tympanic membrane)

यह बाह्य व मध्य कर्ण के बीच में गोल आकार की कला तरुणास्थि से बंधी रहती है। वायु वाहित शब्द तरङ्गों को तीनों कान की अस्थियों की प्रेरणापूर्वक अंतःकर्ण में भेजती रहती है। पटहकला में ३ स्तर होते हैं। बाह्य-पतली त्वचा का, मध्य-स्नायु सूत्रों से बना आभ्यंतर, श्लेष्म स्रावी पतली कला से बना होता है।

कान की अस्थियों के नाम मुग्द्रर, नेहाई तथा रकाब हैं। ये आपस में मिल कर उन्नमन यन्त्र बना कर रहती हैं। पटह के कम्पन से उत्पन्न तरङ्गों को अंतःकर्ण श्रुति यन्त्रों के पास भेजती रहती हैं।

मध्यकर्ण में पटहोत्तंसिनी व पर्याणिका २ पेशियां लगी होती हैं। गलच्छिद्र में गया हुआ तिरछा कर्णगुहा के सामने का भाग पटह पूरणिका कहलाता है।

अंतःकर्ण (Internal ear) कान्तारक, कोकिला

यह श्रवणेन्द्रिय का भीतरी भाग है जहां मुख्य श्रुति यन्त्र रहते हैं। यह शंखास्थि के अश्मकूट नामक भाग में जहां श्रावणी नाड़ी के सूत्र रहते है। इसके २ भाग हैं अस्थि-कृत, कलाकृत। अस्थिकृत आधार है तथा कलाकृत आधेय, अस्थिमय कान्तारक में कलामय जलपूर्ण कान्तारक तैरता रहता है। इसके तीन भाग होते हैं—मध्य तुम्बी के आकार का, सामने का शंखाकृति, पीछे का तीन शुण्डिक वाला। तुम्बी का आकृति व कन्दुक में श्रुति नाडियें रहती हैं, तथा इनके अंतर्जल का परस्पर सम्बन्ध रहता है।

श्रुति यन्त्रिका (Organ of Corti)

इनका आकार सूक्ष्म रोमयुक्त दंडवत् होता है। जो जल तरंगों से स्वर ज्ञान लेती रहती हैं।

शब्द ग्रहण—

पांच भौतिक वस्तुओं के प्रतिघात से विविध प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं जो कि कर्ण गुहास्थित पटह कला पर आघात करते हैं इससे पटह मे कम्पन होकर अस्थि कान्तारक के माध्यम से कलामय कान्तारक स्थित जल में तरङ्ग उत्पन्न होती है। वहां के श्रुतियन्त्र उन्हें ग्रहण कर श्रुति नाड़ियों द्वारा सातों स्वरों को केन्द्र की ओर ले जाकर श्रवण केन्द्र में इसकी प्रतीति कराती रहती हैं।

त्वचा

शुक्र शोणित संयोगज भ्रूण कोश के परिपाक से शरीर पर सात त्वचायें होती हैं।

(१) अवभासिनी, (२) लोहिता, (३) श्वेता, (४) ताम्रा, (५) वेदिनी, (६) रोहिणी, (८) मांसधरा।

स्प इन्द्रियर्श—

स्पर्श मुख्य व गौण भेद से दो प्रकार का होता है—मुख्य त्वचा द्वारा—शीत, उष्ण खर, श्लक्ष्ण, मृदु कठिन आदि तथा गौण मांसपेशियों के माध्यम से अस्थि सन्धियों में चेष्टा उत्पन्न की जाती है। इसका बाह्य स्थान समस्त शरीर को ढंकने वाली त्वचा जिसके बहिस्त्वग् (उपचर्म) अंतस्त्वग् (चर्म) २ भेद होते हैं। बहिस्त्वग् जिसका नाम उदकधरा व अवभासिनी है, के ५ भाग हैं। इसीमें स्वेद वह स्रोतों व रोमों के मुख रहते हैं।

अंतस्त्वक् (चर्म) यह कहीं मोटी व कहीं पतली होती है। यह मुख्य स्पर्शनेन्द्रिय है। इसमें स्वेदग्रन्थियां, स्नेहग्रन्थियां लोमकूप शिरा धमनी प्रतान, स्पर्शांकुरिकाए, रसायनियें तथा वसाग्रथियें रहती हैं।

त्वचा का वर्ण—

सब व्यक्तियों में त्वचा का वर्ण एक जैसा नहीं होता, शीतप्रधान देशवासियों का वर्ण ग्रीष्मप्रधान देशवासियों के वर्ण से उजला होता है।

त्वचा के कार्य—

त्वचा से शरीर ढंका रहता है। इससे इसके नीचे रहने वाले अंगों की सुरक्षा होती है। स्वेद द्वारा मल इससे बाहिर निकलते रहते हैं। इससे रक्तशोधन की प्रक्रिया होती है तथा यह तापक्रम को स्थिर रखती है।

नख—

बहिस्त्वक् के खर भाग को नख कहते हैं। नख के नीचे की अतस्त्वक् नख क्षेत्र कहलाती है।

कला—

मुख नासा आदि स्रोतों के भीतर के बाहर का आवरण कला से बना है। इसमें स्वेद व वसा ग्रंथियें तथा रोम नहीं होते।

गौण स्पर्श—

इसकी यन्त्रिकायें पेशी व कंडरा में रहती है।

दर्शनेन्द्रिय—

रूप को प्रत्यक्ष करने वाली दर्शनेन्द्रिय कहलाती है। इसका आभ्यंतर अधिष्ठान मस्तिष्कतल में आज्ञा केन्द्र में है। इनके बाह्य स्थान नेत्रगोलक हैं जो कि दृष्टिनाड़ी के आगे लगे रहते हैं। प्रत्येक दृष्टिनाड़ी नेत्रगोलक में जाकर फैल जाती है, जिसमें नाना प्रकार के रूपों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दोनों नेत्रगोलकों से एक ही रूप दिखाई देता है।

नेत्रगोलक Bulb of the eye—

ये बाहिर से कठिन तथा भीतर से कोमल, कबूतर के अण्डे के समान गोल जिनके कि मूल में दृष्टि नाड़ी जुड़ी रहती है। ये नेत्रगुहा के सामने के भाग में रहते हैं। इनके चारों ओर छः पेशियें जो कि इनमें गति व इनका धारण करती रहती हैं। इनके पीछे मद की गद्दी लगी रहती है और चारों ओर नेत्रधरा कला लगी रहती है जिसके बाह्य व आभ्यंतर २ स्तर होते हैं तथा इन दोनों के बीच में लसीका रहती है। जो नेत्रचालनी पेशियों को सर्वदा तर बनाये रखती हैं।

नेत्रगोलक में बाह्य, मध्यम तथा अन्तर तीन स्तर होते हैं।

बाह्य—

यह दृढ स्नायुसूत्रों से कठिन व मोटा होता है इसके भी दो भाग (१) स्वच्छमंडल आगे का ⅙ भाग, तथा (२) शुक्लवृति पीछे का भाग है।

स्वच्छमंडल (Cornea)—

यह काच के समान स्वच्छ है परन्तु कृष्ण भाग के ऊपर रहने से कृष्ण या पिंगल वर्ण का दिखाई देता है, स्वच्छमण्डल और शुक्लवृति की गोल आकार की सन्धि स्वच्छ शुक्ल सन्धि (Sclero-Coneal junction) कहलाती है। इसके चारों ओर सिरा धमनीचक्र दिखाई देता है।

शुक्लवृति (Sclera)—

स्वच्छ शुक्ल सन्धि से प्रारंभ होकर पीछे से समस्त नेत्रगोलक को घेरे रहती है। पीछे का भाग दृष्टि नाड़ी व सिरा धमनी से पृथक् हो जाता है। शुक्लवृति के चारों ओर नेत्रपेशियें लगी रहती हैं, तथा इसके भीतरी स्तर में कलाकोश रहता है। जहां सूक्ष्मसीताएं व नाड़ीसूत्र रहते हैं। शुक्लवृति की म ¼ जव और स्वच्छमण्डल की मोटाई ¹⁄₁₀ जव है।

मध्यवृत्ति (Vasculartunic of eye ball)—

नेत्रगोलक के बीच में रहने वाला स्तर जिसके तीन विभाग (१) तारामंडल (२) सन्धनमण्डल (३) कृष्णमण्डल हैं। तारामंडल (Iris) यह पतले सूत्रों का गोल पर्दा है जो स्वच्छमंडल के पीछे के जल में तैरता रहता है जिसकी मोटाई १ जव—इसमें संकोच प्रसार होता है। तारामडल के मध्य में दैवकृत छिद्र कनीनिका (pupil) है जिसके द्वारा प्रकाश की किरणे प्रविष्ट होती हैं। तारामंडल के अवकाश में तनुजल भरा रहता है। इसके २ भाग हो जाते हैं (१) अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) तथा पीछे की पश्चिमा जलधानी (Posterior chamber) कहलाती हैं। इन दोनों का सम्बन्ध कनीनिका राह से रहता है। तनुजल को आलोचक पित्त या (Aqueous Humour) कहते हैं।

सन्धानमण्डल (Ciliary body)—

तारामंडल व कृष्णमंडल के बीच का मंडल सन्धान मंडल है।

कृष्णमंडल Choroid coat)—

मध्य पटल का कर्बुर रंग का पीछे का भाग जिसके दो विभाग (१) बाह्य सिरागुल्मिका (२) आभ्यंतर जहां तीसरी, पांचवीं शीर्षण्य नाड़ियों के सूत्र रहते हैं।

अंतर्वृत्ति (Retina)—

दृष्टिवितान यह नेत्रगोलक का भीतरी स्तर है। अगले ' भाग को छोड़कर शेष इसी का है, इसी में दृष्टि नाड़ी के सूत्रों के प्रतान रहते हैं इसीलिये इसे दृष्टिवितान कहते हैं। नाड़ी का प्रवेश स्थान अंतर्वीक्षण द्वारा देखने से चारों ओर से लाल शुभ्रचिन्ह दिखाई देता है जिसे पीतबिम्ब, जिसके बीच में तीक्ष्णतम दृष्टि शक्ति दृष्टिकेन्द्र Fovea (Centralis) कहते हैं। दृष्टिवितान के सामने फैली हुई धारा करपत्र के समान गोल दन्तुर, जहां दृष्टि शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। दृष्टिवितान में कोशों के दस स्तर होते हैं। नेत्रगोलक में तीन स्वच्छ वस्तुएं (१) तनुजल (२) दृष्टिमंडल (३) सान्द्रजल इन्हीं तीनों में से कोनीनिका मार्ग से तेज की किरणें प्रविष्ट होती हैं। इनमें स्वच्छमंडल प्रथम तथा तनुजल दूसरा जिसका कि कार्य पोषण भी है तीसरा है। दृष्टिमंडल जो कि दोनों ओर उन्नतोदर होता है सान्द्रजल पारदर्शक तथा स्वच्छ है जो नेत्रगोलक की आकृति को स्थिर बनाये रखता है। तनुजल साफ, तरल, कुछ क्षारीय व नमकीन तोल मे दो रत्ती तक होता है।

दृष्टि मंडल (Lens)

यह चपटे मोती के समान पारदर्शक तारामंडल के पीछे नेत्रगोलक के बीच में लटकता है। इसके आगे कनीनिका, पीछे सान्द्रजल रहता है—वृद्धावस्था में इसकी स्वच्छता कम हो जाती है- जिससे रूप ग्रहण शक्ति कम होती जाती है जिसे मोतिया बिन्द कहते हैं।

सान्द्रजल (Vitreous body)

यह घनद्रव जिससे नेत्रगोलक के पीछे का ४ भाग भरा रहता है।

रूप ग्रहण का प्रकार—

नेत्रगोलक की रचना कैमरे के समान है। इसका तारामंडल भाग छोटा बड़ा होकर तेज की किरणों को ग्रहण करता है। कृष्णमंडल यंत्र के भीतर लगी कालिमा के समान है। दृष्टिवितान परछाई पड़ने वाली पट्टी के समान होता है। नेत्रगोलक में परछाई उल्टी पड़ती है किन्तु वह मस्तिष्क तक पहुँचने पर सीधी ग्रहण होती है।

नेत्र के उपांग—

नेत्रच्छद, नेत्रवर्त्म, अश्रुग्रन्थि, अश्रुमार्ग, दूषिका ग्रंथि, नेत्रपेशियां।

नेत्रच्छद (Eye lid)

ये दो होते हैं। ऊपर का बड़ा व अधिक गतिशील, दूसरा नीचे का छोटा व कम गतिशील है।

नेत्रवर्त्म (Conjunctiva)

पलकों का भीतरी भाग नेत्रवर्त्म कहलाता है।

अश्रुग्रंथि (Lacrimal Gland)

इनमें आँसू बनते हैं—इनके ८ या १० स्रोत होते हैं जिनका कार्य आंख को तर रखना, धूलि धूम आदि से रक्षा करना है। हर्ष व शोकावस्था में अधिक स्राव होता है।

अश्रुमार्ग (Lacrimal Sac)

यह अश्रुकुल्या द्वारा नासा सुरंगों से सम्बन्धित होती है।

दूषिकाग्रन्थि (Meibomian Gland)

इनमें नेत्रमल बनता है। नेत्रपेशियां ६ हैं—सरलाऊर्ध्व नेत्र चालनी, सरला बहिर्नेत्र चालनी, सरला अंतर्नेत्र चालनी, वक्राऊर्ध्व नेत्र चालनी, वक्रा अधो नेत्र चालनी।

रसनेन्द्रिय (The Organ of taste)

स्वाद बताने वाली इन्द्रिय को रसना कहते हैं। यह स्वाद ग्रहण करने के साथ चर्वण, अशन, भाषण का साधन यन्त्र भी है। रसना मुखगुहा में पीछे की ओर स्नायुसूत्रों से बन्धी है। यह मांस से बनी कला से आवृत्त जिसमें स्वादांकुर रहते हैं तथा पेशी चेष्टाओं से परिवर्तनशील है, इसके दक्षिण व वाम दो भाग तथा ऊर्ध्व व अधः दो तल होते हैं।

ऊर्ध्व तल—

चोड़ा, व विशेष स्वादांकुर वाला, बीच में अंधविवर खात वाला, जिसके पीछे अधिजिह्विका लगी होती है।

अधस्तल—

इसमें पतली व त्रिकोण कलामय सेवनी तथा हनुअधरीय तथा जिह्वा अधरीय लाला ग्रंथियों के स्रोत होते हैं। इसमें राशनी धमनी तथा शिरा भी दिखाई देती है। इसकी वाम तथा दक्षिण दो धाराएँ जो कि सामने आकर मिल कर फूंग बनाती हैं जहां स्वादांकुरों की प्रचुरता रहती है। इसका पीछे का भाग, अधिजिह्विका, शिफारसानिका, गलस्तम्भिका, कोमलतालु, चिबुक, जिह्वाकंठिका पेशियों से सम्बन्धित रहता है।

स्वादांकुर (Lingul papill)

इनकी आकृति के तीन प्रकार हैं (१) कूर्च अग्रिम $\frac{२}{३}$ भाग में (२) शिलीन्ध्र अग्र भाग व पार्श्व भाग में (३) द्वीप पीछे के $\frac{१}{३}$ भाग में रहते हैं।

रस ग्रहण प्रकार—

द्रव्य निपात से सर्वप्रथम द्रव्य का बोधक कफ में द्रवीभूत होकर—स्वादांकुरों द्वारा

स्वादकोरकों को उत्तेजित करते हैं—इनकी उत्तेजनाएं नाड़ी सूत्रों द्वारा स्वाद ग्रहण केन्द्र में पहुंचाई जाती हैं। रस ६ हैं। इसमें ७, ९, ५, १२वीं नाड़ियों के सूत्र रहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय (Organ of smell)

आभ्यंतर अधिष्ठान, अंकुशकर्णिका, बाह्य नासा स्थित गन्धादानिका व घ्राण नाड़ी सूत्र हैं।

नासा (Nose)

चेहरे के मध्य में बाहिर उठा हुआ, तथा भीतर गहरा है। यह त्वचा, मांस, अस्थि, तरुणास्थिकला से बना बीच में प्राचीरक से विभक्त है। इसके दो भाग हैं (१) बहिर्नासा, (नासा वंश) (२) अंतर्नासा (नासागुहा)।

बहिर्नासा (Outer nose)

इसके आठ उपांग हैं—मूल पृष्ठ, पक्ष, अग्र, पुट, विवर, पालीका, वंश गुहा।

(१) नासामूल (Root)

दोनों भावों के बीच का नीचा प्रदेश (२) पृष्ठ (Dorsum) मूल से अग्र भाग तक (३) पक्ष (Sides) दोनों ओर (४) अग्र (Tip) आगे का नीचे का सिरा (५) पुट (Nostrils) दोनों ओर (६) विवर (Anterior Nares) नासापुट का भीतरी भाग (७) नासा-पालिका (Alae Nasi) प्रत्येक नासापुट का चौड़ा (८) भाग वंशगुहा (Anterior Nasalcanal) दो अंगुल तक का भीतरी भाग इसके बाद का भीतरी भाग अतर्नासा (Inner Nose) जहां नाड़ी सूत्र फैले रहते हैं। नासागुहा का निर्माण चवदह अस्थियों से होता है। अतर्नासा के ६ भाग हैं—(१) गुहाच्छदि, (२) गुहाभूमि, (३) अन्तः प्राचीर, (४) बहिः प्राचीर, (५) गुहापुट द्वार, (६) गुहा पश्चिम द्वार।

नासाभ्यन्तरीयाकला—

यह कला समस्त नासिका में लगी होती है जिससे निरन्तर पतले स्राव वाला कफ निकलता है। इसमें शुक्तिकाओं के पास में अत्यंत रक्त के स्रोत रहते हैं। यह कला गल-च्छिद्र, पटह पूरणिका, ग्रसनिका, नेत्रवर्त्म में रहती है, इसमें गन्ध ग्राही कोशाणु रहते हैं।

गंध ज्ञान प्रकार—

गन्धग्राही कोश रोमराजीयुक्त पतले स्तर में होते हैं। ये वायु में रहने वाली गंध को तर्पक कफ से आर्द्रकर ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुचाते हैं।

गंध के भेद—

गन्ध तीन प्रकार की होती है—मृदु, मध्य, तीक्ष्ण, प्रकारान्तर से प्रिय (सुगन्ध) अप्रिय (दुर्गंध)।

वात संस्थान Nervous System

लेखक : कविराज विष्णुदत्त पुरोहित, जोधपुर

[कविराज श्री पुरोहित प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् महर्षिकल्प श्री बद्रीदास जी पुरोहित के सुपुत्र है । आप कलकत्ता की श्री गोविन्द सुन्दरी आयुर्वेदिक कॉलेज से A.M B. (आयुर्वेदाचार्य) की उपाधि प्राप्त कर बद्री ज्योतिष आयुर्वेद भवन में मुख्यचिकित्सक का कार्य कर रहे है । आप जय आयुर्वेद (जोधपुर), स्वास्थ्य, कालेड़ा कृष्णगोपाल तथा विधायक साप्ताहिक के सपादक के साथ २ अभिनन्दन ग्रन्थ के संपादक मडल में है । मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी के प्रधानमत्री भी रह चुके है । श्री पुरोहित चरित्रनायक के नाड़ी विज्ञान में आयुर्वेदीय शिष्य है। आपने वात संस्थान पर सारगर्भित लेख लिखा है ।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इस संस्थान का मुख्य यन्त्र शिरोगुहा में रहता है। शिर को उत्तमांग भी कहते हैं । अतिन्द्रिय, मन, चित्त व बुद्धि यहीं से इन्द्रियार्थों को ग्रहण करती है तथा समस्त क्रियाएं कराती है । इसे मस्तिष्क कहते हैं । देह की प्रत्येक क्रिया का नियन्त्रण मस्तिष्क द्वारा होता है। इस पर तीन आवरण रहते हैं ।

(१) बाह्यावरण (वराशिका) यह कठोर होता है और कपाल की अस्थियों के भीतरी पृष्ठ पर लगा रहता है।

(२) मध्यमावरण (नीशारिका) इसमें रक्त कोशिकाओं का जाल रहता है। बाह्य व मध्यम आवरण के बीच के अवकाश को अंतर्वराशिक कहते हैं ।

(३) अन्तरावरण (चीनांशुक) इनके बीच के अवकाश में ब्रह्मोदक जिसका प्रमाण पूर्ण युवावस्था में पांच तोला के लगभग होता है। जिसे ही तर्पक कफ कहते है। यह मस्तिष्क व सुषुम्ना में रहता हुआ पोषण तथा रक्षा करता है ।

मस्तिष्क के भाग—

मस्तिष्क के ४ भाग होते हैं :—

(१) बृहद् मस्तिष्क (२) लघु मस्तिष्क (धमिल्लक)

(३) मध्य मस्तिष्क (४) सुषुम्ना शीर्षक

वृहद् मस्तिष्क Cerebrum—

यह ऊपर से दो भागों में दिखाई देता है तथा तली में महा संयोजक द्वारा जुड़ा होता है। गोलार्द्धो का रंग ऊपर से धूसर, मटमैला तथा काटने पर भीतर से श्वेत दिखाई देता है। मस्तिष्क इन्हीं दो पदार्थों से बनता है। धूसर पदार्थ नाड़ी कोशों से तथा श्वेत पदार्थ नाडी कोशों से निकलने-वाले सूत्रों से-बनता है। ये कोश समूह बाहर से आने वाली संज्ञाओं को ग्रहण करते हैं, तथा इन्हीं के सूत्रों द्वारा चेष्टाएँ कराई जाती हैं। मस्तिष्क के सारे कोश समूह सूत्रों द्वारा आपस में सम्बन्धित रहते हैं। इसके बाद फिर सूत्र सुषुम्ना में आते हैं।

प्रत्येक गोलार्द्ध के अग्रिम, पार्श्विक, पश्चिम व शांखिक चार पिण्ड तथा तीन तल बहि, अंतः तथा अधर होते हैं, इन सब तलों में बहुत सी छोटी तथा बड़ी सीताएँ व कर्णिकायें होती हैं। प्रत्येक गोलार्द्ध में ८-८ सीताएँ व कर्णिकाएँ तथा एक दोनों गोलार्द्धो का विभाग करने वाली इस प्रकार कुल १७ सीताऐं होती हैं। सीतिकायें बहुत हैं।

नामपिण्ड	सीतिका	कर्णिका	पिण्डिका
अग्रिम	३	४	१
पार्श्विक	२	३	२
पश्चिम	२	२	२
शांखिक	३	३	२

शरीर की विभिन्न क्रियाओं के लिए उपरोक्त सीताओं कर्णिकाओं द्वारा विभिन्न केन्द्र बन जाते हैं, जो अपनी निश्चित क्रियाएँ करते हैं जैसे श्वसन, रक्त संवहन, भोजन ग्रहण, पाचन दर्शन आदि। इन्हें इन्हीं नामों से पुकारा जाता है।

वृहद् मस्तिष्क का कार्य—

संज्ञा ग्रहण, मेधा (Intelligence) इच्छा (Will) चिन्तन (Thinking) तथा चेष्टा आदि का प्रधान आश्रय है।

मध्य मस्तिष्क (Mid brain)—

लघु मस्तिष्क के सामने सेतु तथा मस्तिष्क स्तम्भ दिखाए गए हैं। इन पर चतुष्पिण्ड व पीनियल पिण्ड रहते हैं। यह सारा दण्ड के समान भाग वृहद् मस्तिष्क के मूल में प्रविष्ट हो जाता है। इस दण्डाकार भाग को मध्य मस्तिष्क कहते हैं। इसके भीतर एक कुल्या होती है जो ऊपर तृतीय कोष्ट से व नीचे चतुर्थ कोष्ट से जुड़ी रहती है। ब्रह्मोदक इसीसे सुषुम्ना तक पहुंचता है।

मध्य मस्तिष्क का कार्य—

संज्ञा तथा चेष्टा वह सूत्र इसीके माध्यम से प्रसार करते हैं।

लघुमस्तिष्क (धमिल्लक) (Cerebellum)

इसके भी दो गोलार्द्ध होते हैं। इसका वजन वृहद् मस्तिष्क का १/८ अंश होता है। यह शिरोगुहा के पीछे के भाग में रहता है। इसकी सीताऐं अत्यन्त सूक्ष्म तथा समानान्तर में होती हैं। यह भी बाहर से मटमैला तथा भीतर सफेद होता है। इसके तीन भाग होते हैं।

(१) पार्श्व भाग—जिन्हें पक्ष पिण्ड (Hemispheres) कहते हैं।

(२) मध्य भाग—जहां सीतायें होती हैं उसे शलभिका (Vermis) कहते हैं।

(३) यह शलभिका उत्तर तथा अधर दो भेद से होती है।

यह भी मटमैला तथा श्वेत दो वर्ण का होता है। मटमैले भाग में ३ स्तर होते हैं बाह्य, मध्य तथा आभ्यन्तर—

प्राणगुहा (Fourth Ventricle)

लघु मस्तिष्क से ढका रहता है।

लघु मस्तिष्क का कार्य—

चलने के समय समस्त मांसपेशियों को संतुलित रख कर उनको सहकार में लाना है।

सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongata)

यह गोल आकार का अङ्ग है—सुषुम्ना नली इसी में से होकर निकलती है। यह नली ऊपर अधिक चौडी होती है तथा चतुर्थ कोष्ठ का रूप धारण करती है। मस्तिष्क सूत्रों का यह वेणीबन्ध न्याय से वाम दक्षिण भाग को जाते हैं। श्वसन केन्द्र तथा हृदय-स्पन्दन केन्द्र इसी में है। तथा प्रतिसङ्क्रमित क्रियाऐं भी इससे होती हैं।

शिरोगुहा में रहने वाले अन्य अवयव—

सेतु १ नाड़ी स्तम्भ २ वृत्ताकार पिण्ड २ पोषणिका १ दृष्टि नाडीयोजिका, चतुष्पिण्ड पीनियलपिण्ड—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते॥

सुषुम्नाकाण्ड (Spinalcod)

सुषुम्ना कशेरुका से बनी नली में रहती है। इसका प्रारम्भ प्रथम ग्रीवाकशेरुका से होकर कटी के दूसरे कशेरुका तक रहता है। इसका वर्ण मस्तिष्क के वर्ण के विपरीत

अर्थात् ऊपर श्वेत तथा भीतर मटमैला होता है। इसका धूसर पदार्थ अंग्रेजी अक्षर H से मिलता-जुलता है। यह नाड़ी कोशों से बनता है। इसके अग्रिम भाग पूर्व शृंग तथा पीछे के पश्चिम शृंग कहलाते हैं। इसके बीच में एक नली होती है—पूर्व तथा पश्चिम शृंगों में रहने वाली कोशिकाओं से निकलने वाले सूत्र नाड़ी के पूर्व तथा पश्चिम मूल बनाते हैं। इन दोनों मूलों के मिलने से एक नाड़ी बन जाती है। धूसर भाग के बाहिर के भाग सूत्रों से बने हैं—ये सूत्र मस्तिष्क को जाते आते हैं। पूर्व शृंग के कोश चालक तथा पश्चिम शृग के कोश संवेदनाएं ग्रहण करते हैं। सुषुम्ना से ३१ जोड़े नाड़ियों के निकलते हैं जो समस्त शरीर में फैल जाते हैं। सुषुम्ना से निकलने वाली नाड़ियां सौषुम्निक नाड़ियां कहलाती हैं।

सुषुम्ना के कार्य—

संज्ञाओं तथा चेष्टाओं के वेगों को वहन करना, तथा परावर्त (प्रतिसंक्रमित) क्रिया कराना है।

शीर्षण्य नाड़ियां (Cranial nerves)

बारह नाड़ियों के जोड़े शिर से सीधे निकलते हैं। इन्हें शीर्षण्य नाड़ियां कहते हैं। (१) घ्राण (२) (दृष्टि) (३) (४) (६) नेत्र चालनी (५) त्रिधारा (७) वक्त्र (८) श्रुति (९) कण्ठराशनी (१०) प्राणदा (११) ग्रीवा पृष्ठगा (१२) जिह्वा-तलीया ह।

स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान Autonomic nervous System

लेखक : मुनि देवेन्द्रचन्द्र जैन, जोधपुर

[चिकित्सकरत्न श्री जैन, 'एस. जे. ए. फार्मेसी के मैनेजर तथा चरित्रनायक के औषधि निर्माण की विशिष्ट प्रक्रियाओं के ज्ञाता, अति विश्वस्त एवं सेवाभावी शिष्य है। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीकृत) के आद्य अध्यक्ष तथा मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा जोधपुर के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा उदयाभिनन्दन ग्रन्थ समिति के व्यवस्थापक हैं। आपका 'स्वतंत्र नाड़ी संस्थान' खोजपूर्ण लेख मनन करने योग्य है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर में जो क्रियाएं हमारी इच्छा के आधीन नहीं अर्थात् जिन चलने वाली क्रियाओं को हम नही रोक सकते और रुक जाय तो कर नही सकते ऐसी क्रियाओं के नियामक नाड़ी सूत्रों को स्वतंत्र नाड़ी सूत्र कहते हैं। शरीर में ऐसे नाड़ी सूत्रों के विभागों का दो प्रकार है जो एक दूसरे के विरोधी हैं। (१) मध्य स्वतंत्र पैत्तिक (आग्नेय) (२) परिस्वतंत्र सौम्य जिनका नियन्त्रण मस्तिष्क के मूल मे स्थित आज्ञाकन्द Thalamus द्वारा होता है।

मध्यस्वतत्र Sympathatic—

पृष्ठवंश के दोनों ओर नाड़ी गण्डों की शृंखला होती है, बांई ओर की शृंखला को इड़ा तथा दाहिनी ओर की शृंखला को पिंगला कहते हैं। इनसे निकलने वा नाड़ी सूत्र मध्य स्वतंत्र नाड़ीसूत्र कहलाते हैं।

परिस्वतंत्र Para Sympathetic—

इनके २ भेद हैं (१) उत्तर परिस्वतंत्र—जो कि तीसरी, सातवीं, नवमीं, दशमीं व एकादश शीर्षण्य नाड़ियों के सूत्रों से मिलकर प्रसार पाने वाले उत्तर परिस्वतत्र, तथा सुषुम्ना के अनुत्रिक नाड़ी सूत्रों से सम्बन्धित हो बस्ति आदि स्थानों में फैलने वाले सूत्र समूह को अधर परिस्वतंत्र कहते हैं। ये सौम्यगुणातिरेक वाले होते हैं।

मध्यस्वतंत्र के कार्य—

रोमांच, स्वेदस्राव, पुतली का विकास, चुल्लिकास्राव, हृद्वेग बढ़ना, रक्तभाराधिक्य, पाकक्रिया, बास्तिकिया को शिथिल करना होता है।

परिस्वतंत्र सूत्रों का कार्य—

पुतली संकोच, लालावृद्धि, हृद्वेग की मन्दता, पाचकरसों की प्रवृत्ति, आदि कार्य करते हैं।

प्रत्येक अवयव में दोनों नाड़ी संस्थानों के सूत्र रहते हैं। परिस्थिति के अनुसार समयोचित कार्य करते हैं।

इन नाड़ी सूत्रों के प्रतान उन उन भागों में जाल बन जाते हैं जिन्हें चक्र नाम से संबोधित करते हैं। इनका संचालन नाड़ीगंडों से होता है, इस प्रकार देह में ६ चक्र बन जाते हैं।

(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत
(५) विशुद्ध (६) आज्ञाचक्र—

स्वतंत्र नाड़ीगंडों का सुषुम्ना नाड़ियों तथा शीर्षण्य नाड़ियों से परंपरा से संबन्ध रहता है परन्तु इनकी क्रिया स्वतन्त्र होती है।

देह के ६ चक्र

क्र० सं०	नाम चक्र	उत्पत्ति स्थान	बाह्य जाल	सम्बन्ध
१	मूलाधार	सुषुम्ना का अनुकटिक अंश	परिबस्तिक अधरगुदक, पर्युपस्थ	तन्वी आशयिकी
२	स्वाधिष्ठान	,, ,, उत्तरखंडिका	अधरान्त्रिक	महती आशयिकी
३	मणिपूर	,, अधरानुपृष्ठिक	सौर मण्डल	लव्वी आशयिकी
४	अनाहत	,, अनुपृष्ठ की प्रथम ४	हार्दिक	मध्यमनुग्रीविक अधरानुग्रीविक
५	विशुद्ध	सुषुम्ना शीर्षक	परिग्रसनिक	उत्तरानुग्रीविक (अंतर्मातृक, बहिर्मातृक)
६	आज्ञा	आज्ञाकंद		

अंतः स्रोत ग्रन्थियाँ (Endocrine Glands)

लेखक : देवीलाल रंगा

[वयोवृद्ध वैद्य श्री देवीलालजी रंगा चिकित्सकशिरोमणि दैवज्ञ श्री अमृतलालजी रंगा वैद्यराज के ज्येष्ठ सुपुत्र है। आप नाड़ीविशेषज्ञ व सिद्धहस्त चिकित्सक हैं। आप चरितनायक के आयुर्वेदीय शिष्य हैं। आपने 'अन्तः स्रोत ग्रन्थियां' पर पठनीय लेख प्रस्तुत किया है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर में कुछ ग्रंथियां रहस्यमय वस्तु बना कर रक्त में मिलाती रहती हैं। इन ग्रंथियों में कोई नली नहीं होती अतः ऐसी ग्रथियों को प्रणालीविहीन या अंतः स्रोत ग्रंथियां कहते हैं। इनमें विशिष्ट प्रकार का रासायनिक द्रव्य बन कर रक्त में मिलता रहता है।

ग्रन्थियों के सामान्य कर्म—

(१) स्वास्थ्य को स्थिर बनाए रखना, (२) पुष्टि का नियन्त्रण, (३) नाड़ी संस्थान के कर्म में सहयोग देना।

चुल्लिका ग्रंथि (Thyroid)

यह वायु प्रणाली के ऊपर के भाग के निकट रहती है।

कर्म—

(१) धातु पाक के दर का नियमन (२) शरीर पुष्टि (३) मनः पुष्टि बनाए रखना है।

अयोग या हीन योग—

वामनत्व, रूखे और पतनशील रोम, मांसपेशियों में कमजोरी, हड्डियें टेढी हो जाना, जीभ मोटी होना, नाक मोटा होना।

अतियोग से—

शरीर और मन की चेष्टाएँ बढ़ जाना, हृदय प्रति मिनट १५०, कमजोरी, चिड़चिड़ापन, आँखें बाहर आ जाना।

चुल्लिका स्राव को थायरोक्सिन कहते हैं। इसमें आयोडीन का मिश्रण होता है।

परिचुल्लिका (Para Thyroid)

कण्ठ में दोनों ओर मटर के आकार की दो ग्रन्थियां रहती हैं, जो चुल्लिका के ऊपर लगी रहती हैं। इसका कार्य रक्त में तथा धातुओं के द्रव में सुधा के आयनों की साम्यता रखना है।

परिचुल्लिका स्राव के हीन योग से मांस में आवेष्टन, श्वासावरोध, अतियोग से रक्त में सुधा के आयनों की संख्या बढ़ जाती है—इससे मांसपेशियों में मृदुता होकर नाड़ी संस्थान में अवसादकता आ जाती है तथा अन्त में मृत्यु हो जाती है।

अधिवृक्क (Suprarenal)

दोनों वृक्कों के ऊपर टोपी जैसी लगी दो ग्रन्थियां हैं, इनका स्राव रक्त में नमक तथा जल की मात्रा को नियंत्रित रखना है, तथा मानसिक भावों को तीव्र या उत्तेजित करता है।

अधिवृक्क स्राव के हीन योग से क्षुधा नाश, उत्साह हानि, धमनी शैथिल्य, तथा अन्त में मृत्यु हो जाती है।

अधिवृक्क स्राव के अतियोग से पुरुषों में कोई लक्षण नहीं होता परन्तु स्त्रियों में स्वर भारी होना, मुंह पर श्मश्रु की उत्पत्ति होने लगती है।

अग्न्याशय (Pancreas)

यह ग्रन्थि पाचन रस के साथ साथ एक अंतस्राव बनाती है जिसे इन्स्यूलिन कहते हैं, इसका अन्तःस्राव द्राक्षाशर्करा का दहन, शक्ति उत्पादन, संचय मे कार्यकारी है। रक्त में शर्करा की मात्रा ०.०८ से ०·१ प्रतिशत से न्यून रहनी चाहिए। इसकी मात्रा बढ़ने पर वृक्क इसे शरीर से बाहिर निकाल देते हैं। मधुमेह इन्स्यूलिन के हीनयोग या अयोग से उदकमेह, तृषा, क्षुधा, दुर्बलता स्नेहों का अपूर्ण पाक, मूर्च्छा, मृत्यु हो जाती है।

इन्स्यूलिन के अतियोग से शर्करा क्षय से मूर्च्छा मृत्यु आदि।

वृषण (Testicle)

इसके अंतस्राव को अंतः शुक्र कहते हैं। इसकी सम्यक् मात्रा से जनन अवयवों की पुष्टि एवं कर्म सामर्थ्य, केश, रोम, मेदो ग्रन्थियां, त्वचा, स्वर, अस्थि आदि की सम्यक् स्थिति।

अंतफलया डिम्ब ग्रंथि (Ovary)

इसका अंतःस्राव गर्भाशय को गर्भ धारण के लिए तैयार करता है, और गर्भ स्थिति

उपकार

छाया केन निवार्यते

नहीं रहने पर आर्तव प्रवृत्ति कराता है। इसका कार्य आर्तव प्रवृत्ति चक्र, उत्कण्ठा चक्र, जनन अवयवों की पुष्टि तथा तारुण्योदय है।

युवावस्था में स्त्री बीज प्रति माह परिपक्व होता है। इनके विभाजन में पूर्णपक्वता एक को प्राप्त होती है शेष क्षीण हो जाते हैं। बीज कोष के आवरण को बीजपुट कहते हैं। बीजपुट का अंतःस्राव इस्ट्रीन कहलाता है। जिससे गर्भाशय, योनि, स्तन ग्रन्थियां पुष्ट होती हैं।

अपरा (Placenta)

इसका कार्य दुग्धग्रन्थियों को पुष्ट करना है।

थायमस (Thymous)—

यह वक्षोस्थि के पीछे रहती है। इसका कार्य स्त्री पुरुषों के बीजग्रन्थियों के विकास को रोकना है। षण्ढी करण से ये आजीवन बनी रहती हैं। इनके निकाल देने से बीज ग्रन्थियां शीघ्र पुष्ट होती हैं। जवानी के बाद प्रायः ये नहीं रहतीं।

पोषाणिका पोयूष (Pituitary)—

यह सब ग्रन्थियों की अधिकारी है। इसकी आकृति मटर के समान मस्तिष्क के नीचे कनपटी में रहती है। इसके दो खंड होते हैं। अग्रिम, तथा पाश्चिम—
अग्रिमखंड के अंतः स्त्राव के कार्य (१) बृहंण या वृद्धि, (२) बीजग्रन्थि प्रवर्तन (३) दुग्ध प्रवर्तन (४) चुल्लिका स्राव प्रवर्तन, (५) अधिवृक्क वल्क प्रवर्तन, (६) परिचुल्लिका प्रवर्तन (७) धातु पाक प्रवर्तन (८) मूत्रल, और पश्चिम खंड का अंतस्राव, रक्त भारवर्द्धक, मूत्रसंग्रहणीय, गर्भप्रवर्तक, मांससूत्रों पर संकोचन, रंजक कोशों पर प्रभावी, स्वेद, रस आदि के धातु पाक पर प्रभावी होता है। पोषणिका स्राव के हीन तथा अयोग से अतितृषा, उदकमेह, मधुमेह आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतियोग से दानवकाय, शाखाओं व जबड़े की अस्थियों की अतिवृद्धि होती है।

रक्त BLOOD

लेखक : वैद्य मदनलाल रंगा

[वैद्य श्री मदनलाल जी रंगा आयुर्वेदविशारद दैवज्ञ श्री अमृतलालजी रंगा वैद्यराज के मझले पुत्र हैं व स्थानीय यशस्वी चिकित्सकों में से हैं। आप चरितनायक के आयुर्वेदीय शिष्य है। 'रक्त' शीर्षक आपका लेख जिज्ञासुओं के रञ्जनार्थ उत्तम है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

रक्त से शरीर का पोषण होता है। इसका गुरुत्व १०५५ है, यह अपार दर्शक होता है। तथा इसका स्वाद कुछ नमकीन होता है। शरीर के भीतर का ताप १०० डिग्री फहरनहीट या ३७° सेन्टीग्रेड होता है। ज्वरों में १०६° या १०७° या इससे भी अधिक हो जाता है। शरीर में से निकलने के बाद रक्त जम जाता है।

इसे कुछ देर बाद देखने से मालूम होगा कि पीले पानी पर एक छिछड़ा तैर रहा है। इस पीले पानी को सीरम या रक्त रस कहते हैं। छिछड़े को निकाल कर पानी से धोने पर इसका रंग धुल कर सफेद वस्तु सी प्रतीत होती है। जिसके सूक्ष्म अंश को सूक्ष्म दर्शक में देखने से मालूम होगा कि छिछड़ा अति सूक्ष्म तारों से बना है। जिसमें गोल २ चीजें फसी रहती हैं। यह गोल चीजें रक्त कण हैं। इन तारों का निर्माण फाईब्रीन नामक प्रोटीन से होता है।

रक्त का संगठन—

रक्त के दो भाग होते हैं। तरल भाग—जिसे रक्तवारि या प्लाजमा कहते हैं। रक्त-कोष रक्त के १०० भागों में ६० से ६५ भाग रक्तवारि के, और ३५ से ४० भाग कोषों के होते हैं।

रक्तवारि—

विशेष साधनों से रक्त कणों को पृथक कर लेने पर रक्तवारि प्राप्त होता है इसका गुरुत्व १०२६ से १०२९ तक होता है। रक्तवारि के १०० भागों में ९० भाग जल के तथा १० भाग रासायनिक वस्तुओं के रहते हैं। जिनके नाम निम्न हैं।

(१) प्रोटिन (२) वसा (३) द्राक्षोज (ग्लुकोज) (४) साधारण लवण (५) आक्सीजन कार्बन हाइड्रोजन गैसें। (६) यूरिया, यूरिक ऐसिड (७) अनेक प्रकार के उपविष।

रक्तवारि और रक्त रस में भेद—

रक्त से केवल रक्त कणों को पृथक करने पर रक्तवारि रहता है। किन्तु फायब्रीन व रक्त कणों के पृथक् हो जाने पर रक्त रस रहता है।

रक्त को शीघ्र जमाने वाले कारण—

(१) अधिक उष्णता ५६° या ५७° सन्ताप (२) चूना खड़िया मिट्टी के मैल से (३) रक्त वाले बर्तन को खूब अधिक हिलाने से (४) न्यूक्लिओप्रोटीन (५) सर्प विष (६) आंत्रिक ज्वर की कुछ अवस्थायें।

रक्त को जमाने में विलम्ब करने वाले कारण—

(१) शीत के प्रभाव से (२) सोडियम साईट्रेट नामक लवण (३) चिकना बर्तन (४) जौक की लाला।

मृत्यु के पश्चात रक्त की अवस्था

मृत्यु के चार घन्टे पश्चात रक्त जमना प्रारम्भ होता है। रक्त की धमनियां खाली मिलती हैं। तथा रक्त का रक्त रस गुरुत्वाकर्षण से नीचे के भागों मे इकट्ठा हो जाता है। तथा वे स्थान पिलपिले हो जाते हैं।

रक्त का परिमाण—

रक्त का भार शरीर के भार का $\frac{१}{२०}$ अंश के लगभग होता है।

रक्त कण—

रक्त में तीन प्रकार के कण पाए जाते हैं।

लाल रक्त कण (रक्ताणु)

(२) श्वेत रक्त कण (श्वेताणु) (३) सूक्ष्म रक्त कण (चक्रीकाएं)

लाल रक्त कण—

लाल रक्त कणों की आकृति पिचकी हुई गेंद के समान गोल् होती है। लाल कण की मोटाई $\frac{१}{१२०००}$ लम्बाई $\frac{१}{३२००}$ होती है। इन्ही कणों के कारण रक्त का रंग लाल होता है। १ घन सहस्रांश मीटर में (१ बूंद के ६० वें अंश के बराबर) इनकी संख्या पुरुषों में ५०,००००० पचास लाख, स्त्रियों में ४५,००० पैंतालीस लाख तथा नव

जात शिशुओं में ६०,०००००० साठ लाख होती है। रक्ताणु का रंग पीला सा होता है। किन्तु, बहुत इकट्ठे होने पर लाल रंग दिखाई देता है—स्तनधारी प्राणियों के रक्त कणों में मींगी दिखाई नहीं देती। भ्रूण के चौथे माह तक जितने भी लाल कण बनते हैं उनमें मींगी होती है। इसके बाद बनने वाले रक्त—लाल कणों में मींगी नहीं होती और जिनमें होती है वह भी जाती रहती है। लाल कणों के रंग को कण-रंजक कहते हैं।

श्वेत कण—

इन कणों में मींगी भिन्न-भिन्न आकृति की होती है। एक घन सहस्रांश मीटर रक्त में इनकी संख्या ७००० से १०,००० तक होती है। अर्थात् ५०० या ६०० रक्त कणों के पीछे १ श्वेत कण होता है। इनको लम्बाई १/२५०० के लगभग होती है। जीवित कणों में आकृति सदा एक सी नहीं रहती, कभी गोल कभी त्रिकोण, कभी पूर्ण दशा में बन जाती है। ये चार प्रकार के होते हैं।

(क) क्षुद्र लसीकाणु (Small Lympho Cyte)

इनमें एक बड़ी गोल मींगी, और मींगी के चारों ओर जीवोज रहता है। ये २० से २५ प्रतिशत तक होते हैं।

(ख) वृहत् लसी काणु (Meno Lympho Cyte)

इनका परिमाण लाल कणों से दुगना तिगुना होता है। किसी में मींगी गोल अण्डाकार और वृक्काकार और मींगी के चारों तरफ बहुत सा जीवोज रहता है। ये ३ से ५ प्रतिशत तक रहते हैं।

(ग) बहुरूपी मींगीयुक्त श्वेताणु (Poli morpho Nuclear Lympho Cyte)

इन कणों की मींगी अंग्रेजी अक्षर (E V S U Z) के आकार की होती है। इनके जीवोज में छोटे छोटे दाने पाए जाते हैं। इनकी संख्या ६७ प्रतिशत से ७० प्रतिशत तक होती है।

अम्ल रंगेच्छु श्वेताणु (Eosinofile Lympho Cyte)

इनकी मींगी या तो गोल या नाल के समान मुड़ी हुई होती है। इनके जीवोज में मोटे मोटे दाने होते हैं। Eosine आदि अम्ल रंगों से रंगने पर गहरा रंग लेते हैं। इनकी संख्या २ से ४ होती है।

रक्त परीक्षा विधि

अंगुली या कर्ण की लौर से सुई चुभो कर रक्त निकाल कर स्वच्छ काँच की पट्टी पर लगा कर दूसरी पट्टी के किनारे से पतली तह फैला देते हैं। जब यह तह सूख जाती है

तो विशेष प्रकार के रंगों से यथाविधि रंग कर पट्टी को धोकर सुखा कर सूक्ष्म दर्शक यंत्र के द्वारा देखा जाता है।

रक्त परीक्षा—

रक्त परीक्षा से रोग ज्ञान में पूर्ण सहायता मिलती है।

(१) रक्त का रंग, गुरुत्व, जमने का समय।

(२) रक्त की प्रतिक्रिया कम क्षारीय अथवा अधिक क्षारीय।

(३) लाल अथवा श्वेत कणों की संख्या।

(४) लाल कण टूटे हुए तो नहीं अथवा उनमें रोग उत्पादक जन्तु तो नहीं।

(५) रक्तवाहिनियों में रक्त रोग उत्पादक जन्तु तो नहीं और इसका संगठन और शर्करा की मात्रा क्या है।

वसा

लेखक : वैद्य किशनलाल रंगा

[वैद्य श्री किशनलालजी रंगा दैवज्ञ श्री अमृतलालजी रंगा वैद्यराज के कनिष्ट पुत्र हैं व परम्परागत वैद्य हैं। आप एक कुशल औषधिनिर्माता है। आपका लेख छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शुद्ध मांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिताः।

त्वचा के नीचे शुद्ध मांस का चिकनाई वाला भाग वसा कहलाता है। यह मांस के ऊपर पीली चिकनाई वाली वस्तु की तह रहती है उसे वसा समझें।

(१) वसा के कार्य—

वसा उष्णता की संचालक न होने से शरीर के ताप परिमाण को स्थिर रखती है। जिससे अधिक शीत और गर्मी से रक्षा होती है।

(२) शरीर के कोमल अङ्गों के चारों ओर वसा की गद्दियें लगी रहती हैं। जैसे अक्षि गोलक के चारों ओर, तथा वृक्क वसा की तह पर रखे रहते हैं। पौष्टिक आहार को करने वालों में तथा शारीरिक श्रम को न करने वालों में इसका विशेष सञ्चय हो जाता है।

प्रारम्भ में त्वचा के नीचे उदर तथा नितम्ब और कपोलों में सञ्चय होता है। अधिक वसा वाले को अति स्थूल कहते हैं। अति स्थूल निंदित माना गया है। यह वसा शरीर में १८ प्रतिशत है।

त्वचा

लेखक : ओमप्रकाश जैन

[श्री ओमप्रकाश जैन चिकित्सकरत्न श्री मुनि देवेन्द्रचन्द्रजी जैन के उत्तराधिकारी शिष्य तथा चरित्रनायक के सेवाभावी एवं अति प्रिय प्रशिष्य है। आपने श्री उदयाभिनन्दन ग्रन्थ में मनोयोग से रुचिपूर्वक कार्य किया है। आपका 'त्वचा' सम्बन्धी विषय छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

त्वचा शरीर का बाह्य परिधान है। शुक्र शोणित संयोग के परिपाक से दूध की मलाई की तरह गर्भ शरीर में त्वचा की सात तहे बनती हैं। इससे त्वचा के नीचे रहने वाले अंगों की सुरक्षा होती है। इसमें बालों की जड़ों में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ रहती हैं। और इसमें कई छिद्र रहते हैं। एक वर्ग इन्च में ३५०० छिद्र होते हैं। त्वचा का रंग सब में एक प्रकार का नहीं रहता। शीतप्रधान देशवासियों का रंग ग्रीष्मप्रधान देशवासियों के रंग से उजला होता है।

त्वचा के भेद—चर्म तथा उपचर्म।

उपचर्म—

इसमें कोष कई स्तरों में रहते हैं, जिनमें भी ऊपर के सख्त तथा नीचे के मुलायम होते हैं। इन मुलायम कोषों में मनुष्य के वर्ण का रंग रहता है। हथेली पाद के तले तथा पीठ की उपचर्म अधिक मोटी होती है। अण्ड कोष पर तथा पलकों पर सबसे पतली होती हैं। उपचर्म के कोषों का पोषण लसीका द्वारा होता है।

चर्म—

यह अधिक मोटी तथा मजबूत होती है। इसमें वात सूत्र स्वेद ग्रन्थियाँ, स्नेह ग्रन्थियाँ तथा बालों की जड़ें होती हैं।

स्नेह ग्रन्थियाँ—

यह नन्हीं थैलियाँ हैं, जिसमे चिकनाईदार वस्तु बनती है। जो छोटी नाली से बालों की जड़ों से मिली रहती हैं। ये त्वचा और बालों को चिकना बनाये रखती हैं।
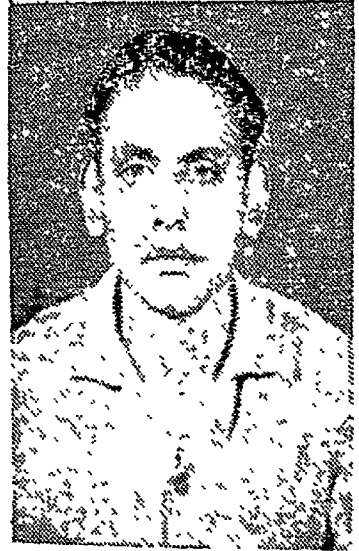
स्वेद ग्रन्थियाँ—

यह चर्म के नीचे के भाग में रहती है तथा इसमें बनने वाले तरल पदार्थ त्वचा से बाहर निकलता रहता है जिसे पसीना कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर में लगभग चौबीस लाख ग्रन्थियां हैं।

स्वेद या पसीना—

इसमें वही पदार्थ होते हैं जो मूत्र में रहते हैं। जिसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है। और गुरुत्व एक हजार पांच तथा स्वाद नमकीन होता है। शीत ऋतु में मूत्र अधिक होता है। तथा ग्रीष्म ऋतु में स्वेद अधिक होता है।

लोम या बाल—

हथेली, तलवे तथा शिश्न के अग्र भाग को छोड़कर शरीर में सब स्थानों की त्वचा में बाल होते हैं। बाल के दो भाग होते हैं।

१ मध्यस्थ भाग—जो कि गोलाकार कोषों से बना है।

२ बहिस्थ भाग जिसमें सूत्राकार कोष होते हैं। कोषों में रंग भरा होता है। स्वेत बालों में रंग नहीं होता है।

नख—

नख भी वास्तव में उपचर्म है। परन्तु इसमें कोष अधिक सख्त होते हैं।

त्वचा के कार्य—

(१) यह अपने नीचे के कोमल अंगों की रक्षा करती है।

(२) स्पर्शेन्द्रिय है। उष्ण, शीत और वेदना की प्रतीति इसीके द्वारा होती है।

(३) स्वेद के साथ मल तथा विष को बाहिर निकालती है।

(४) रक्तशोधक कार्य भी करती है।

कला या श्लैष्मिक झिल्ली

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्ना संततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणावेष्ठितां श्चापि कला भागांस्तुतान् विदुः॥
धात्वाशयान्तर्मर्यादा कला।

अर्थात्—योजक पदार्थ की सहायता से चमकदार कोषों द्वारा कला का निर्माण होता है। यह धातु और आशयों के भीतरी पृष्ठ पर रहती है। इसमें एक प्रकार का तरल बनता है। जिसे स्नेहन कफ कहते हैं। यह सात होती हैं।

(१) मांसधरा कला—

जिसमें शिरा स्नायु धमनियें फैली रहती हैं।

(२) रक्तधरा—

शिरा यकृत प्लीहा और हृदय आदि अङ्गों में।

(३) मेदोधरा—

उदर, अणु अस्थियों में या लम्बी हड्डियों के सिरों में।

(४) श्लेष्मधरा—

सब सन्धियों में।

(५) पुरीष धरा—

पक्वाशय में मल का विभाजन करने वाली।

(६) पित्तधरा—

आमाशय से पक्वाशय को जाने वाले आहार द्रव्य को रोकने वाली ग्रहणी।

(७) शुक्रधारा—

सर्व शरीरव्यापी (समस्त शरीर में रहती है।)

त्वचा और कला में भेद

(१) कला त्वचा से कोमल होती है।

(२) कला के कोषों में कोई रंग नहीं होता।

(३) कला में श्लेष्मा बनता है।

(४) कला में बाल नहीं हैं, न ही स्वेद ग्रंथियां होती हैं।

मूत्रवाहक संस्थान (Urinary System)

लेखक : श्री हरिशंकर आचार्य, वैद्यविशारद, साहित्यसुधाकर, जोधपुर

[श्री आचार्य, दैवज्ञ श्री गङ्गाशङ्करजी आचार्य के सुपुत्र हैं। आप चरितनायक के आयुर्वेदीय प्रशिष्य हैं। आपने मूत्रवाहक संस्थान पर छात्रोपयोगी लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

इस संस्थान में निम्न ४ अङ्ग होते हैं:—

(१) वृक्क (Kidneys)२, (२) मूत्रप्रणाली (Ureter) 2, मूत्राशय (Bladder)१ और (४) मूत्रमार्ग (Urethra) १।

वृक्क—

मूत्र बनाने वाले अङ्ग का नाम वृक्क है। ये उदर की पिछली दीवार में रीढ के दाहिनी व बांई ओर रहते हैं। इनके सामने आन्त्र की गेंडलियां रहती हैं। प्रत्येक गुर्दे के पीछे बारहवीं पसली रहती है। वृक्क का आकार लोबिया (चंवले) सदृश होता है। इसकी लम्बाई ४ इन्च, चौड़ाई २॥ इन्च व मोटाई १ इन्च होती है। इसका भार २ छटांक व रंग बैंगनी होता है। इसके दो पृष्ठ, एक सामने का व दूसरा पीछे का, व दो किनारे एक रीढ़ के पास का (नतोदर) व दूसरा रीढ़ के परे (उन्नतोदर होते हैं। इसमें वृक्कीयाधमनी और वृक्कीयाशिरा लगी रहती हैं व पास ही मूत्र प्रणाली का खुला हुआ प्रारम्भिक भाग जुडा रहता है। वृक्क पर सौत्रिक तन्तु वृक्ककोष रहता है। इसके चारों ओर वसा की तहें लगी रहती हैं। वृक्कों के ऊपर उपवृक (Suprarenal) होते हैं।

वृक्क की सूक्ष्म रचना—

वृक्क अनेक पतली पतली नलियों का समूह है। ये नलियां लम्बाई में अधिक किन्तु चौड़ाई में कम होती हैं। इनका प्रारम्भिक भाग फूला हुआ तथा पिचका हुआ होता है। पीछे के भाग में केशिका जाल रहता है। इन नलियों के आपस में मिलने से किनारे बन जाते हैं। किनारों के शिखरों में जो छिद्र होते हैं वे बड़ी बड़ी नलियों के मुख हैं। मूत्र इन्ही छिद्रों से निकल कर मूत्र प्रणाली में पहुँचता है।

वृक्क द्वारा रक्त शुद्धि—

वृहत् धमनी की दो शाखाओं द्वारा रक्त दोनों वृक्कों में पहुँचता है और नलियों द्वारा रक्त का कुछ जलीय अंश छन जाता है। वृक्क के छानने में यह विशेषता है कि रक्त के वे सब पदार्थ जो जीवित देह में स्वस्थावस्था के लिए आवश्यक हैं वे नहीं छनते। रक्त में का यूरिया, यूरिक अम्ल आदि पदार्थ छन जाते हैं।

मूत्र प्रणाली—

ये दो होती हैं (१) दाहिने वृक्क से मूत्राशय तक व (२) बांये वृक्क से मूत्राशय तक। ये अनैच्छिक मांस से बनी नालियां हैं जिनका ऊपरी सिरा चौड़ा व नीचे का पतला होता है जो कि मूत्राशय से जुड़ा रहता है।

मूत्राशय या बस्ति—

यह अङ्ग बस्तिगह्वर में विटपसंधि (या भग संधि) के पीछे रहता है। पुरुषों में इसके पीछे दो शुक्राशय रहते हैं और उनके पीछे वृहद् अंत्र का अंतिम भाग मलाशय रहता हैं। स्त्रियो में मूत्राशय के पीछे गर्भाशय और गर्भाशय के पीछे मलाशय रहता है। मूत्राशय स्वाधीन मास का बना है। इसके भीतरी पृष्ट पर कला होती है। इसकी आकृति रिक्त अवस्था में तिकोनिया तथा भर जाने पर गोल होती हैं।

मूत्रमार्ग—

मूत्राशय से एक नली प्रारम्भ होती है जिसकी लम्बाई पुरुषों में ७ से ८ इन्च होती हैं। इसके प्रथम एक इन्च के चारों ओर अष्ठीला (Prostrate) नामक ग्रन्थी रहती है और आगे यह शिश्न के भिद्र से जुड़ी रहती है। इस छिद्र का नाम मूत्र बहिर्द्वार है। स्त्रियों में इस नली की लम्बाई १॥ इन्च होती है जो योनि की अगली दीवार से जुड़ी रहती है। मूत्र बहिर्द्वार-छिद्र, योनिछिद्र से १॥ इन्च ऊपर होता है। मूत्र मार्ग के आरम्भ स्थान पर मूत्राशय की दीवार का मांस संकोच कर छिद्र को हर समय बंद रखता है। मूत्र-त्याग की इच्छा होने पर यह द्वार खुलता है।

मूत्र—

एक स्वस्थ मनुष्य अहोरात्र में १½ सेर से २½ सेर तक मूत्र त्याग करता है।

मूत्र-परीक्षा—

इसमें मूत्र के रंग, गंध, गाढ़ा-या-पतला, स्वच्छ, या अस्वच्छ, मात्रा, प्रतिक्रिया, लवणों की मात्रा, प्रोभूजिन (Protein), शर्करा, रक्त, पित्त, पूय, विशेष पदार्थ, रोगाणु व विशिष्ट गुरुत्व आदि की परीक्षा की जाती है।

साधारणतया मूत्र का रंग गेहूं की डांडी के रंग के समान होता है, गंध विशेष प्रकार की, पतला, स्वच्छ अम्ल प्रतिक्रियात्मक, व गुरुत्व १०१५ से १०२५ तक होता है। १॥ सेर मूत्र में २३ छटांक जल व शेष एक छटांक रसायनिक पदार्थ होते हैं जिनमें २ से३ तोला तक यूरिया और शेष यूरिक एसिड आदि होते हैं।

मर्मस्थान (Vital weak spots)

लेखक : शिवनारायण व्यास, गोटन (घनापा)

[वैद्यराज पंडित शिवनारायणजी व्यास, घनापा (गोटन) निवासी श्री हजारीमलजी व्यास के सुपुत्र हैं। आप परम्परागत अनुभवी चिकित्सक है व चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य है। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत) की कार्यसमिति के सदस्य रहे हैं। आपका मर्म विषयक मार्मिक लेख पठनीय है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

मर्म स्थानों में अग्नि सोम, वायु सत्व, रज, तम पञ्चेन्द्रियां व भूतात्मा का निवास रहता है अतः ये जीवनाधार हैं। मर्म विघात से मृत्यु हो जाती है अतः चिकित्सक को इन स्थानों का ज्ञान रहना आवश्यक है। ये पांच प्रकार के हैं मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, तथा सन्धि अधिष्ठान भेद से पांच प्रकार, तथा इनके अभिघात का परिणाम भी कालांतर प्राणहर, रुजाकर, विशल्यघ्नसद्यः प्राणहर, वैकल्यकर भेद से भी पांच प्रकार होते हैं। यह भी मत है कि मांस आदि पांचों के एकत्र संयोग से सद्यः प्राणहर तथा एक रचना के कम से कालान्तर प्राणहर दो कम से विशल्यघ्न, तीन कम से वैकल्यकर तथा खाली एक ही प्रकार की रचना से रुजाकर होते हैं। तथा इन मर्मों के भी ठीक स्थान के पास विद्ध होने पर हीन प्रभाव से प्रकारांतर बन जाते हैं। चिकित्सक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि रोगी के दोषों का स्थान संश्रय मर्मों में है या नहीं इसका विनिश्चय तथा शल्य विद्ध का भी विनिश्चय कर चिकित्सा करें।

नाम अधिष्ठान	सद्यः प्राणहर (आग्नेय) १९ अवधि ७ रात्रि	कालांतरप्राणहर (सौम्याग्नेय) ३३ पक्ष या माह	विशल्यघ्न (वायव्य) ३	वैकल्यकर (सौम्य) ४४	रुजाकर ८ (अग्निवायु भूयिष्ठ)
मासमर्म ११	गुदा १ (बृहदंत्र का अन्तिम (सिरा)	स्तनरोहित २ (चूचुक से ऊपर) तलहृदय ४ (मध्यमा के सामने बीचतल मे) इन्द्रबस्ति ४ (पार्ष्णि व जंघा के मध्य)			
सिरामर्म ४१	शृंगाटक ४ (घ्राण अक्षि, श्रोत, जिह्वाधमनी)	स्तनमूल २ (स्तनों से २ अंगुली नीचे)	स्थपनी १ (भवों के मध्य)	लोहिताक्ष ४ (ऊर्वी से ऊपर वंक्षण के नीचे)	
	मातृका ८ (ग्रीवा के दोनों ओर)	अपलाप २ अंसकूट के नीचे पार्श्व में)		ऊर्वी ४ (ऊरुमध्यमें)	
	हृदय १ (सत्वरजतम का स्थान)	अपस्तंभ २ (छाती के दोनों ओर)		अपांग २ (अक्षिका बाह्य भाग)	
	नाभि १ (पक्वामाशयमध्य)	पार्श्वसन्धि २ (जघन के ऊपर तिरछे)		नीला ४ (कंठ के दोनों ओर)	
		बृहती २ (पमेंठी चूचुक की सीध में)		फण २ (घ्राणमार्ग के दोनों ओर)	
नायुमर्म २७	बस्ति १ (मूत्राशय)	क्षिप्र ४ (अंगूठा-कनिष्ठा के बीच)	उत्क्षेप २ (शखो के ऊपर बालो के पास)	आणि ४ (जानु से ऊपर दोनो ओर)	कूर्चशिर ४ (गुल्फसधि के नीचे दोनो ओर)
				कूर्च ४ (क्षिप्र के ऊपर दोनों ओर)	
				विटप २ (वक्षण-वृषण के मध्य)	
				कक्षधर २ (कक्षा भुजा के मध्य)	

		अंस २ (ग्रीवा कंधे के बीच)	
		विधुर २ (कानों के पीछे नीचे)	
अस्थिमर्म ८ शंख २ (भवों के अन्त में कान ललाट के बीच)	कटीकतरुण २ (श्रोणि के दोनों ओर पार्श्व में)		
	नितम्ब २	अंसफलक २ (पृष्ठ वंश के दोनों ओर)	
सन्धिमर्म २० अधिपति १	सीमन्त ५ (शिर-सन्धियां)	जानु २ (जंघा-ऊरुसंधि)	गुल्फ २ (पैर-जघासन्धि)
		कूर्पर २	
		ककुन्दर २ (जघन के बाह्य भाग में)	मणिबन्ध २
		कृकाटिका २ (शिरग्रीवासन्धि)	
		आवर्त २ (भौंहों के ऊपर)	

रक्तवाहक संस्थान

लेखक : कान्तिचन्द्र जैन, साहित्यसुधाकर, जोधपुर

[श्री कान्तिचन्द्रजी जैन, श्री जिनदत्त सूरि आयुर्वेदिक चिकित्सालय के वरिष्ट चिकित्सक तथा चिकित्सक सम्राट् आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस, राजमान्य राज्यवैद्य, महोपाध्याय पण्डित उदयचन्द्रजी भट्टारक महाभाग के उत्तराधिकारी व अतिप्रिय शिष्य हैं। श्री जैन अल्प वय से ही गुरुचरणों में रहकर आयुर्वेदिक विज्ञान में निष्णात हो अपनी कुशल बुद्धि एवं तत्परता से चिकित्सा के साथ ही रसायन शाला की व्यवस्था आदि का कार्यभार भी वहन करते हैं। आप मधुरभाषी व मिलनसार व्यक्तित्व के साथ मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी के कोषाध्यक्ष भी है। आपका 'रक्तवाहक संस्थान' पर पठनीय लेख है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर में रक्त नलियों में रहता है। रक्त की नलियाँ दो प्रकार की होती हैं।

१. धमनियां—प्रायः ये शुद्ध रक्तवहा हैं।

२. शिराएं —जिनमें प्रायः अशुद्ध रक्त बहता है।

रक्त परिचालक यंत्र का नाम हृदय है। यह अनैच्छिक माँस का बना होता है। और दोनों फुप्फुसों के बीच वक्ष में रहता है। युवा पुरुष का हृदय ४॥ इन्च लम्बा ३॥ इन्च चौड़ा और २॥ इन्च मोटा होता है। इसका भार ३॥ छटांक होता हैं। हृदय बन्द मुट्ठी के आकार का होता है। इसका अधिक अंश मध्य रेखा के बायीं ओर अवस्थित है। मध्य रेखा के दाहिनी ओर दाहिना भाग, तथा बायीं ओर बायां भाग स्थित है। हृदय के दाहिनी ओर दायाँ फुप्फुस, और बायी ओर बायां फुप्फुस रहता है। हृदय के सामने वक्षोस्थि और बायी ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवी उपपर्शुका रहती है। और पीछे पीठ का पांचवां, छठा, सातवां, आठवां मोहरों का गात्र और उनके बीच की चक्रिकाएँ रहती हैं। इन मोहरों और हृदय के बीच महाधमनी व अन्न प्रणाली पड़ी रहती है।

हृदय एक सौत्रिक तन्तु से बने आवरण से ढ़का रहता है। यह आवरण एक थैली के समान होता है। जिसमें हृदय रहता है। इसे हृदय कोष या हृदयावरण कहते हैं।

हृदय मांस का बना एक कोष्ठ है, जिसमें रक्त भरा रहता है। यह कोष्ठ भीतर से खड़े मांस के परदे द्वारा दाहिने और बांये दो कोठरियों में विभक्त रहता है। इन दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। प्रत्येक कोठरी के बीच कपाट लगे रहते हैं। जिससे दो मंजिल बन जाती हैं। ऊपर की मंजिल को ग्राहक कोष्ठ या अलिन्द कहते हैं। तथा नीचे की मंजिल को क्षेपक कोष्ठ (निलय) कहते हैं। नीचे की मंजिल के बीच में सौत्रिक तन्तु द्वारा बने कपाट होते हैं जो नीचे की तरफ खुलते हैं। दाहिनी ओर तीन त्रिकोनिये किवाड़ बायीं ओर केवल दो किंवाड़। ग्राहक कोष्ठों की दीवारें क्षेपक कोष्ठों की दीवारों से कुछ पतली होती हैं। क्षेपक कोष्ठ की समायी १। से १॥ छटांक तक की होती है। ग्राहक कोष्ठों की कुछ कम।

दाहिने ग्राहक कोष्ठ में दो नलियें लगी रहती हैं। एक ऊपर के भाग में (ऊर्ध्वगा महा शिरा) दूसरी नीचे के भाग में (अधोगा महा शिरा) ऊर्ध्वगा महाशिरा शरीर के ऊपर के भाग का अशुद्ध रक्त लाती है। तथा अधोगा महाशिरा शरीर के निम्न भाग का अशुद्ध रक्त लाती है।

दाहिने क्षेपक कोष्ठ से एक नली निकलती है जिसकी दो शाखायें हो जाती हैं। एक दाहिने फुप्फुस को तथा दूसरी बायें फुप्फुस को जाती है। इस धमनी के प्रारम्भिक भाग में तीन अर्द्ध चन्द्राकार किंवाड़ों से बना कपाट रहता है।

दाहिने ग्राहक कोष्ठ मे चार नलियां रहती हैं। इसमें दो दाहिने फुप्फुस से और दो बांये फुप्फुस से आती हैं। जिन्हें फुप्फुसीया शिरायें कहते हैं।

बायें क्षेपक कोष्ठ के पिछले भाग से एक बड़ी मोटी नली निकलती है। यह महा-धमनी है। इसके प्रारम्भिक भाग में तीन चर्द्ध चन्द्राकार किवाड़ों से निर्मित एक कपाट रहता है।

हृदय के कपाट—

हृदय में चार स्थानों पर कपाट रहते हैं (१) दाहिने ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच में (२) बायें ग्राहक और बायें क्षेपक कोष्ठ के बीच में (३) फुप्फुसीया धमनी में। (४) महा धमनी में।

हृदय का कार्य—

हृदय कभी संकोच करता है तथा कभी प्रसार करता है। इस संकोच तथा प्रसार से हृदय की धारण शक्ति घटती बढ़ती रहती है। शरीर के सब अंगों को आवश्यक वस्तुएँ देकर रक्त दो महाशिराओं द्वारा हृदय के दाहिने ग्राहक कोष्ठ में आता है। ज्योंही यह कोष्ठ भरता है संकोच करने लगता है। संकोच से इसकी समाई कम हो जाती है अतः इस कोष्ठ के कपाट खुलने से रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ में चला जाता है। जब रक्त क्षेपक

कोष्ठ में पहुँचता है तो ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ के बीच का कपाट बन्द हो जाता है। और क्षेपक कोष्ठ के सकोच के समय कपाट बिल्कुल बन्द हो जाते हैं। फिर दाहिने क्षेपक कोष्ठ के संकोच से फुप्फुसीया धमनी द्वारा रक्त दोनों फुप्फुसों में चला जाता है।

फुप्फुस रक्त को शुद्ध करने वाले अंग हैं, वहाँ से चार नलियों द्वारा शुद्ध रक्त बांयें ग्राहक कोष्ठ में लौट आता है। यह भी भर जाने पर सिकुड़ता है। तथा वहां से रक्त बायें क्षेपक कोष्ठ में चला जाता है। इस कोष्ठ में भी रक्त पहुँच जाने पर बीच के कपाट बन्द हो जाते हैं।

बांये क्षेपक कोष्ठ से रक्त महा धमनी में जाता है। तथा महा धमनी से बहुत सी शाखाओं द्वारा समस्त शरीर में पहुँच जाता है।

हृदय के कोष्ठ रक्त को आगे धकेल कर फ़ैलने लगते हैं और शीघ्र ही पूर्व दशा को प्राप्त कर भरने लगते है तथा संकोच करते है। यह संकोच तथा प्रसार का सिलसिला जीवन भर चलता रहता है। दोनों ग्राहक कोष्ठ साथ ही सिकुड़ते हैं और साथ ही फैलते हैं। ऐसे ही क्षेपक कोष्ठ भी साथ ही आंकुचन और प्रसार करते हैं। इसमें ७॥ मिनट के लगभग समय लगता है।

हृदय शब्द—

सकोच और प्रसार से ध्वनि पैदा होती है। जो "लूब् डप्" जैसी सुनाई देती है। इसके सुनने के कई स्थान हैं। बायें स्तन से १" या १¼ नीचे अपना कान लगाये, तथा एकाग्रचित होकर सुने। आपको दो आवाजें सुनाई देंगी, जिनके बीच में थोड़ासा अन्तर रहता है। लूब्, थोडासा अन्तर डप्, लूब व डूप के बीच में थोड़ा सा अन्तर रहता है परन्तु डप् और लूब के बीच में अधिक अन्तर रहता है, लूब को हृदय का पहिला शब्द और डप् को हृदय का दूसरा शब्द कहते हैं।

शब्द श्रवण के स्थान—

दाहिने ओर की दूसरी, और बायें ओर की तीसरी उपर्शुका पर वक्षों अस्थि के अग्रिम खण्ड के ऊपर कोड़ी प्रदेश के गढ़े में। हृदय की परीक्षा करते समय चिकित्सक इन शब्दों को शब्द परीक्षक यंत्र द्वारा सुना करते हैं।

हृदय के धड़कने की संख्या—

प्रौढ़ मनुष्य में सामान्यतया हृदय की धड़कन १ मिनट में ७० से ७५ तक होती है। बाल्यावस्था में शीघ्र तथा जन्मकाल में १४० तक होती है।

६ से १२ माह तक के बच्चों में १०५ से ११५ प्रति मिनट
२ से ६ वर्ष तक के बच्चों में ९० से १०५ „ „

७ से १० वर्ष तक के बच्चों में ८० से ९० ,, ,,

११ से १४ वर्ष तक के व्यक्तियों में ७५ से ८५ ,, ,,

१५ वर्ष से ऊपर वाले समस्त व्यक्तियों में ७० से ७५,तक प्रति मिनट ।

धमनी और शिरा—

हृदय से रक्त को ले जाने वाली नलियों को धमनियां कहते हैं। फुफ्फुसीया धमनी को छोड कर शेष शुद्ध रक्तवहा हैं। हृदय में रक्त लाने वाली नलियों को शिरायें कहते हैं। फुफ्फुसीया शिराओं को छोड़कर शेष अशुद्ध रक्तवहा हैं।

केशिकाऐं—

रक्त की वे सूक्ष्म नलियें जिनमें केवल एक ही रक्त कण की गति सम्भव है। तथा जिनकी दीवारों में मांस नहीं है ये अति सूक्ष्म केशिकायें कहलाती हैं। केशिका की दीवारें कोषों के पास पास पड़े रहने से बनती हैं। केशिकाओं से शरीर के कोष ओषजन ग्रहण करते हैं। व कार्बनडाइअक्साइड गैस केशिकाओं के रक्त में छोड़ते रहते हैं। इस गैस के द्वारा रक्त का रंग स्याही मायल हो जाता है।

इन स्याही मायल केशिका के सहयोग से शिरायें व बड़ी शिरायें बनती हैं।

रक्त परिभ्रमण—

रक्त को चक्कर करने में १५ सैकण्ड के लगभग समय लगता है।

धमनी की फड़क—

धमनियों की दीवारें अधिकतर मांस और पीले सौत्रिक तन्तुओं से बनी रहती है। धमनियां रक्त से भरी रहती है। भरी हुई महा धमनी में बायें क्षेपक कोष्ट से १½ छटांक रक्त धकेला जाता है। स्थिति स्थापकता के कारण धमनी अधिक चौड़ी हो जाती है। जिससे उसकी समाई बढ़ जाती है। क्षेपक कोष्ठ के प्रसार के समय धमनी का यह भाग पूर्व दशा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह लहरें एक के बाद दूसरी आती रहती हैं। इसे ही धमनी या नब्ज की फडकन कहते हैं। जब रक्त सूक्ष्म धमनियों में पहुंचता है तो यह लहरें कम हो जाती हैं। और केशिकाओं में बिल्कुल ही नहीं रहती हैं।

"आदावलिन्द संकोचो, निलय द्वय पूरणः।
ततो निलय संकोचो, धमनीद्वयपूरणः॥
शेषेतु स्फारता तेन सिराभिर्पूर्यंते हिहृत्॥

रक्त भार—

धमनियें स्थितिस्थापक नलियें हैं। इन नलियों में रक्त बहता हुआ अपना दबाव डालता है। जिसे अंगुली से दबाकर मालूम किया जा सकता है। इसे रक्त भार कहते हैं।

इन नलियों का पम्प हृदय है। हृदय का वेग भी अधिक होने पर रक्त भार भी अधिक हो जाता है।

रक्त भार को ठीक प्रकार से मालूम करने के लिए एक यंत्र आता है। जिसे रक्तभारमापक यंत्र अथवा (स्फिग्मो मीनोंमीटर) कहते हैं। धमनी का रक्तभार दो प्रकार का होता है।

(१) संकोच रक्त भार जो हृदय के संकोच के समय होता है।

(२) प्रसार रक्त भार जो हृदय के प्रसार के समय होता है।

रक्तभार का अधिक या कम होना दोनों ही बुरे हैं। रक्तभार की अधिकता से छोटी-छोटी धमनिकाओ के फटने का डर रहता है। तथा रक्तभार की न्यूनता से दूरस्थ कोषाणुओं का पोषण नही हो पाता है।

संकोच रक्त भार—

रक्त भार निम्न आयु में इस प्रकार रहता है।

१० से १५ वर्ष तक १०० से ११० मिलीमीटर।
१५ से २५ ,, ,, ११० से १२० ,,
२५ से ४० ,, ,, १३० से १४० ,,
४० से ५० ,, ,, १४० से १५० ,,
१५० से ऊपर किसी भी उम्र में अधिक होना ठीक नही है।

लसिका—(शुक्ला) Lymph

केशिका के कोशों से रक्तवाहि का तरल भाग चूकर बाहिर निकल जाता है। इस चुये हुए तरल को लसीका कहते हैं। इसमें शर्करा, प्रोटीन, वसा, लवण, आदि कोशों के आवश्यक पदार्थ घुले रहते है—और इस तरल में कोश स्नान करते हैं। कोशों का मल लसीका मे मिल जाता है। इस प्रकार लसीका से लसीका केशिकाए बनकर उनसे पतली पतली लसीकावाहिनियां और फिर बड़ी लसीकावाहिनी बन जाती है। महा लसीका-वाहिनी का प्रारभ उदर के भीतर कमर के दूसरे कशेरुका के गात्र के सामने होता है। उदर से यह वक्ष मे पहुचकर गलमूलिका शिरा द्वारा ऊर्ध्वगा महाशिरा में मिल जाती है।

लसीका ग्रन्थियां—कक्षा-वंक्षण-ग्रीवा में छोटी छोटी गुठली की आकार की ग्रन्थियां होती हैं जो स्वस्थावस्था में टटोलने से स्पर्श नही की जा सकतीं—परन्तु रोगों के कारण बढ़ कर सख्त हो जाती हैं—इन्हें लसीका ग्रन्थियां कहते हैं। लसीका की नलियां इन ग्रन्थियों से जुड़ी रहती हैं—और वहा समाप्त होकर ग्रन्थि के दूसरे सिरे से नई वाहिनी की शुरुआत

हो जाती है। इन ग्रन्थियों में क्षुद्र व वृहद् लसीकाणु बनते हैं, और कुछ विषनाशक वस्तुएँ भी इनमें बनती हैं।

महाधमनी—वाम क्षेपक कोष्ठ से प्रारंभ होकर ऊपर जाकर बांई ओर को मुड़कर नीचे की ओर हृदय के पीछे से जाती है। उदर में इसके पीछे पृष्ठवंश रहती है। कटि के चतुर्थ कशेरुका के गात्र के सामने इसकी २ बड़ी शाखाएं हो जाती है। धमनियों के नाम जिस प्रदेश में वह रहती है—उसे उसी नाम से पुकारा जाता है। शिरोधीया-कक्षीया-प्रगण्डीया-बहि-प्रकोष्ठीया-अन्तःप्रकोष्ठीया-करतलीया, अंगुलीया-याकृती, आमाशयिकी, प्लैहिकी, वृक्कीया, श्रोणिगा, और्वी, जान्वीकी, जंघापूर्वगा, जंघापार्श्वगा, पादतलीया आदि।

इस प्रकार रोग प्रकृति का सामान्य संप्राप्ति द्वारा निर्माण होता है जब कि विकृति विशेष संप्राप्ति द्वारा बनती है। प्रथम को संयोग संप्राप्ति तथा दूसरी मूर्च्छना संप्राप्ति है। संयोग का अर्थ है मिश्रण तथा मूर्च्छना का अर्थ है तादात्म्य। इनमें पहिली प्रक्रिया संयोग होती है बाद में दोष दूष्याग्नि से पाक होता है और उस पाक से दोष लक्षणा तीत ज्वर आदि रोग बन जाते हैं। और रुपांतरापत्ति, रसान्तरापत्ति, गोधान्तरापत्ति, स्पर्शान्तिरापत्ति आदि होते हैं।

ज्वरादि रोग जब दोष दूष्य संयोग रुप में रहते हैं तब उनमें दोष और दूष्य इनकी वृद्धि क्षय के लक्षण स्पष्ट प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे रोग की प्रकृति या रोगी की कोई भी प्रकृति बने वह संमूर्च्छना से ही बनती है। विकृतावस्था संमिश्रणजन्य होती है।

प्राकृत अवस्था में दोष दूष्य संयोग मात्र रहता है। इसीसे हम वातज, पित्तज, कफज, रसाश्रित, मांसाश्रित आदि भेद करते हैं। साम या निराम अवस्था प्रतीत कर सकते है। कारण संयोग भेद से प्रकार कायम होते हैं। परन्तु संमूर्च्छना में भेद नहीं रहता वस्तु का एकीकरण या तादात्म्य होता है, संयोग और संमूर्च्छना में यही भिन्नता है।

दोष संमूर्च्छना

लेखक : वैद्य ओम्प्रकाश शर्मा, भिषगाचार्य, एच्. पी. ए., उदयपुर

[वैद्यराज श्री ओमप्रकाश शर्मा भारत के ख्यातिप्राप्त विद्वान् आयुर्वेद विभाग राजस्थान के निदेशक राजवैद्य पंडित प्रेमशंकरजी शर्मा भिषगाचार्य के सुपुत्र हैं। आपने भिषगाचार्य उपाधि प्राप्त कर स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर में 'क्रिमि' विषय पर गवेषणात्मक प्रबन्ध लिख कर एच् पी. ए. (आयुर्विद्यापारगत) उपाधि प्राप्त की है। आप अपने पितामह की तरह सिद्धहस्तभिषग् तथा प्रतिभाशाली उदीयमान चिकित्सक रत्न हैं। आपका 'दोष संमूर्च्छना' नामक गवेषणात्मक लेख मनन करने के योग्य है। वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतिश्च
च. वि. अ. ८-९४

चिकित्सा करने के लिये रोगी का बल तथा रोग का बल दोषों का विचार करते हुए प्रकृति से तथा विकृति से परीक्षण किया जाय इसके लिये आचार्य वाग्भट ने उपक्रमों की शीघ्रता करने मे—

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणिच
बुद्धा हेतुविशेषांश्च शीघ्रंकुर्यादुपक्रमम् अ. हृ. सू. १२

टीकाकार ने उपरोक्त पद्य पर भाष्य करते हुए "विकारस्य ज्वरांदेः प्रकृतयः उपादान कारणानि वातादि दोषाः" इस प्रकार प्रकृति का अभिप्राय उपादान या समवायी कारण बताया है। प्रकृति शब्द के प्रयोग से यह अर्थापत्ति बताती है कि विकृति की भी कुछ विशेषताएं अवश्य ही होती हैं, यही कल्पना हमें प्रत्येक रोग के लिए प्रकृति तथा विकृति का ज्ञान करने के लिये बाध्य करती है, या सफल चिकित्सक वही हो सकता है जो इसका सम्यक् विचार करे।

उपादान कारण—

कारणद्रव्य से कार्यद्रव्य बनता है, अब इस बने कार्यद्रव्य में उपादान या समवायी कारण अनवच्छेदक रूप से रहता है जैसे आभूषण का उपादान सुवर्ण है। इन बने आभूषणों का चाहे जो रूप हो जाय, परन्तु उसका उपादान कारण सुवर्ण ही रहता है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। चरक ने बताया है कि उपादान कारण के अधिष्ठान भेद से नाना प्रकार की

विकृति बन जाती है जैसे कि उसी सुवर्ण से नाना आकृति के आभूषण बन जाते हैं। विकृति या कार्य का रूप उपाधि विभेद से हमारे सामने निरंतर आता रहता है। अतः हमें रोगी की प्रकृति क्या है? विकृति क्या है? इसका स्पष्टीकरण का प्रयत्न करना चाहिये।

ज्वर आदि रोगों में वातपित्त कफादि साम-निराम अवस्था में, दोष जिस स्वरूप में अखंड रूप से विद्यमान है वह उस रोग की प्रकृति तथा उसके प्रकार भेद या अवस्था भेद से जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह स्थिति स्थिर नही रहती है इसे रोग विकृति कही जाती है।

रोग का प्राकृतिक स्वरूप—

कोई भी ज्वर हो उन सब में संताप (ऊष्मावृद्धि) लक्षण सब प्रकार के ज्वरों में समान रूप से रहता है वैसे ही वातज, पित्तज, साम, निराम कोई भी अतिसार हो उस प्रत्येक में बराबर पतले मल का निःसरण होता है तथा किसी भी प्रकार का गुल्मरोग हो उन सबमें "कुर्वते शूलपूर्वकम् स्पर्शोपलभ्यम्, उप्लुतम्, ग्रन्थिरूपिणम्" यह रूप सब प्रकार के गुल्मरोगों में एक सदृश होता है, इसी प्रकार प्रत्येक रोग में सर्वत्र अनुगत होने वाले वे साधारण लक्षण जिस जिस विशिष्ट दोष द्वारा बनते हैं वह दोष इस रोग का प्रकृति स्वरूप समझना चाहिये। इनके उदाहरण जैसे—

रोग	रोगप्रकृति	प्रमाण-वाक्य
ज्वर	पित्त	ऊष्मापित्तादृतेनास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणाविना, रुक्षहि तेजो ज्वरकृत्।
रक्तपित्त	पित्त	कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च
प्रमेह	कफ	बहुद्रवश्लेष्मादोषविशेषः, मेदोमूत्र कफावहम् अन्नपानक्रियाजात यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम्।
अश्मरी	कफ	श्लेष्माश्रया च सर्वास्यात्
गुल्म	वात	सर्वेष्वप्येषु गुल्मेषु प्रायेण पवनः प्रभुः। न काकश्चिद्वातादृते सभवति गुल्मः।
कुष्ठ	संनिपात	न च किंचिदस्ति कुष्ठमेकदोष प्रकोपनिमित्तम्

उपरोक्त से स्पष्ट है कि रोगों की सब अवस्थाओं में उस रोग के सामान्य लक्षण किसी भी विशिष्ट दोष द्वारा बनते हैं यह विशिष्ट दोष उस रोग की प्रकृति कहलाता है— तथा संख्या विकल्प प्राधान्य आदि सम्प्राप्ति की अवस्था मे रहने वाला दोष रोगों की विकृति स्वरूप समझा जाता है। इस प्रकार ज्वर आदि प्राकृत अवस्था तथा उस प्राकृत अवस्था मे रहने वाला दोष तथा विकृत अवस्था तथा उस विकृत अवस्था मे रहने वाला दोष परस्पर

भिन्न तथा स्वतंत्र (कार्य की दृष्टि से) सिद्ध होते हैं। इनकी भिन्नता इन के मूल में रहने वाली कारण परंपरा से पृथक सिद्ध होती है।

कारण सामग्री से कार्य—

कार्य की निष्पत्ति-समवायी, असमवायी, निमित्त तीन कारणों से होती है। ये ही तीनों रोग रूपी कार्य बनने में भी आवश्यक होते हैं जैसे दोष-प्रकोप (समवायी) तथा उस दोष का विशिष्ट स्थान में होने वाला संयोग-सम्प्राप्ति रूप (असमवायी) और दोषों को प्रकोपक कारण मिथ्याहार-विहारादि निमित्त कारण होते हैं।

निमित्त कारण के भेद—

निमित्त कारण सामान्य तथा विशेष भेद से २ प्रकार के हैं। जैसे केवल मात्र वातादि दोषो को कुपित करने वाले कारणों को सामान्य निमित्त कारण कहा जाता है। क्योंकि ये वायु, पित्त, कफ आदि दोषों को समान रूप से कुपित करने वाले कारण हैं अतः इन्हें सामान्य निमित्त कारण नाम से सम्बोधित किए जाते हैं।

वात प्रकोप के कारण	पित्त प्रकोप के कारण	कफ प्रकोप के कारण
रूक्ष गुण वाली ठंडी वस्तुओं का	क्रोध	दिन में सोना
सेवन अल्प मात्रा में लघु अन्न	शोक	श्रम-व्यायाम न करना
का सेवन अधिक मैथुन	भय	आलस्य
अधिक रात्रि जागरण	परिश्रम	मधुर, अम्ल, लवण, रस,
पंच कर्मों का अनुचित प्रयोग	विदग्ध पदार्थों का सेवन	शीत, स्निग्ध, गुरु गुण
विरुद्ध आहार का प्रयोग	मैथुन	चिपचिपे अभिष्यन्दी
दोष और रक्त का अधिक स्राव	कड़वे, खट्टे, नमकीन	जौ, इरकट, उडद
लंघन अधिक	तीक्ष्ण उष्ण दाहोत्पादक	गेहूँ, तिल, महीन आटा
तैरना अधिक	वस्तुओं का सेवन	दही, दूध, खीर
चलना अधिक	तिल तैल	खिचड़ी
व्यायाम ,,	खली	गुड़, खाड
धातु क्षय	कुलथी	आनूप प्राणियो का मांस
चिन्ता	सरसों, अलसी तैल	जलीय ,, ,,
शोक	हरे साक	चरबी
क्रोध	गोधा, मछली	कमल नाल
लम्बी बीमारी	बकरी भेड़ का मांस	कसेरु
सोने का कष्ट	दही, मट्ठा	सिंघाड़ा
बैठने का कष्ट	कूर्चिका, कांजी	नारियल
दिन मे सोना	सुरा	वल्ली फल
भय	खट्टे फल	लौकी

मल मूत्रादि वेगों को रोकना	कट्वर	अध्यशन
आम दोष	उष्ण पदार्थ	शीत द्रव्य
चोट लगना	गर्मी के दिनों में	शीतकाल
भोजन न करना	शरद ऋतु	वसंत ऋतु
मर्म स्थानों का अभिघात	मध्याह्न	पूर्वाह्न
शीघ्र गति वाली सवारी से गिरना	अर्द्धरात्रि	प्रदोष
कटु कषाय तिक्त रसो का प्रयोग	अन्न पचन काल	भोजन करते ही
शुष्क-साग, मांस		
जङ्गली कोदो, श्यामा, मटर, चंवला		
ठंडा, मेघों का समय, अधिक हवा चलना		
वर्षा ऋतु, प्रातः काल, अपराह्न		
अन्न जीर्णकाल		

विशेष निमित्तकारण—कुछ निमित्त कारण ऐसे भी होते हैं जिनसे केवलमात्र दोषप्रकोप ही नहीं होता अपितु उस दोषप्रकोप के साथ स्रोतो दुष्टी होकर स्थानवैगुण्य भी बन जाता है तत्पश्चाद् यह स्थान रसदिधातु, पुरीषादिमल, आशय, स्रोत आदि मे बन जाता है इन्हे हेतु-विशेष, या समुत्थान विशेष नाम दिया जाता है।

स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।

बुद्धाहेतुविशेषांश्च—

विशिष्ट रोगोत्पादक रूप स्थानदुष्टी करना। यह किन्हीं द्रव्यों का विशिष्ट प्रभाव होता है वाग्भट, चरक, सुश्रुत आदि आर्ष ग्रन्थों में रोगनिदान प्रकरण में प्रत्येक रोग के साथ इन रोगोत्पादक हेतुविशेषों की सारणी दी हुई है। चिकित्सा की दृष्टि से इन हेतुविशेषों का बड़ा महत्व है 'संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्' जिन रोगों के हेतुविशेषो का निर्णय नहीं हो सका वे रोग आज भी वैज्ञानिकों के लिये पहेली बने हुए हैं जैसे केन्सर, यह सर्वविदित है। बीजदुष्टी जिससे कि स्रोतोवैगुण्य बनता है का अंतर्भाव भी विशेषनिमित्त-कारण में होता है कारण शुक्र व रज में नाना प्रकार के शरीर के अवयवों को बनाने वाले बीजभूत परमाणु रहते हैं उनमें जिस अवयव का बीजभूत परमाणु वहां रहने वाले दोषों से दूषित या उपतप्त हो जाता है उस स्थान की दुष्टी हो जाती है। कभी कभी बिना कारणों के ही भयंकर रोगोत्पत्ति हो जाती है जब कि ऐसे रोग मातृवंश या पितृवंश में किसी को नहीं होते अतः इनके लिये 'पापकर्म च दुष्कृतम्' या काश्चित्पूर्वापराधजः'। इस प्रकार बीज दुष्टी या पापकर्म अथवा रोगोत्पादक विशेष आहारविहार इन कारणों से कुपित दोष इतने बलवान् तथा प्रभावी हो जाते हैं कि उनसे विशिष्ट रोग को पैदा करने वाला स्रोतोवैगुण्य बन जाता है अतः इन्हे प्रकृत्यारभक दोष कहते हैं। हेतु विशष से कुपित हुए ये प्रकृत्यारंभक दोष खले कपोतन्याय से अकस्मात् विशिष्ट स्थान पर आघात कर शरीर की धातुसाम्यता को नष्ट कर देते है, जो कि अभिव्यक्त हो दोष विशिष्ट स्थानों में धावन करने लगते हैं।

विकृत्यारंभक दोषों की स्थिति उपरोक्त से भिन्न होती है। इसी के अनुसार लक्षण भी दोषलक्षण, रोगलक्षण भेद से दो प्रकार के हैं। जिनसे केवल मात्र दोष का ज्ञान हो उन्हें दोषलक्षण कहते हैं। तथा रोगलक्षण प्रतिरोग के साथ बतलाया गया है। दोषलक्षण—

वायु लक्षण	पित्त लक्षण	कफ लक्षण
स्रंस (अंग का अपने स्थान से थोड़ा हट जाना)	शरीर में जलन	स्नेहपन (चिकना)
भ्रंश (,, ,, ,, दूर हट जाना	ताप वृद्धि	शीतपन (ठंडा)
व्यास(,, ,, ,, विस्तार हो जाना)	व्रण आदि का पकना	श्वेतपन (सफेदी)
सङ्ग (मलमूत्रावरोध)	स्वेदाधिक्य	भारीपन
भेद (चीरने के समान पीड़ा)	क्लेद	मीठापन
अवसाद शरीर में	सड़न	स्थिरपन
हर्ष (रोमांच होना)	खुजली	पिच्छिलपन
प्यास लगना	स्राव	मसृणपन
शरीर कांपना	लालिया	खुजली
वर्त (मल का गोला बनना)	पीला वर्ण	शून्यता
चाल (स्पंदन होना)	उष्णता	क्लेद
सुई चुभना	तीक्ष्णता	मल लिपटा हुआ
दबाने की सी पीड़ा	सरता	बंध
देह में चंचलता	द्रवाधिक्य	मीठापन
खरदरा	कच्चे मांस के समान गंध	चिरकारी रोग
टेढ़ामेढ़ा	कटु अम्ल रस	
विशद		
छेदवाला (सुषिर)		
गुलाबी रंग		
कषाय रस		
मुखवैरस्य		
मुखशोष		
शरीर में शूल		
शून्यता		
संकोच		
जकड़ाहट		
लंगड़ापन		

इत्यशेषामव्यापी यदुक्तं दोष लक्षणम्।

इस प्रकार जब सामान्य दोष का स्थान संश्रय हो जाता है तो संचय, प्रकोप, प्रसर स्थान संश्रय केदार कुल्या न्याय से होकर एक धातु से दूसरे धातु तक या एक स्रोत से

दूसरे स्रोत तक प्रवेश व संचार होकर ख वैगुण्य बनाता है। परन्तु जब तक अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक रोग नहीं होता है केवल भिन्न-भिन्न दोष लक्षण होते हैं और हेतु विशेष से यदि दोष को स्रोतों वैगुण्य मिल जाता है तो वही स्थान संश्रय कर वातज, पित्तज, कफज आदि भेद अवस्था बना कर रोग की अवस्था रूप विकृति नाम से पुकारा जाता है। अतः इन्हें विकृत्यारंभक नाम देना सार्थक प्रतीत होता है। इनका नामकरण का यह भेद तत्व से न होकर औपाधिक है।

रोग निर्माण की प्रक्रिया में केवल मात्र दोष को कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोष दूष्य संमूर्च्छना ही रुजा लक्षण वाले रोग को बनाती है।

> कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
> यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।
> व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा।
> क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।

इस प्रक्रिया में खवैगुण्यता का महत्व बताया गया है—अपने अपने कारणों से कुपित हुए दोष प्रकृत्यारम्भक मार्गों से बने मार्ग से उसी स्थान में प्रवेश करते हैं इस कारण दोष भेद या अवस्था भेद से रोग के सामान्य रूप में परिवर्तन होना विकृति कहलाता है।

आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति-विज्ञान

लेखक : कविराज राजेन्द्रप्रकाश आ. भटनागर, भिषगाचार्य (स्वर्णपदक प्राप्त) एच्.पी.ए. (जाम.)
उदयपुर

[श्रीयुत भटनागर मुसावल (महाराष्ट्र) के परंपरागत सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय शल्यचिकित्सक चक्षुर्मनीषी श्रीयुत वैद्य आसराजजी सु० भटनागर के सुपुत्र है, जिनका वहाँ नेत्र चिकित्सा संबंधी आतुरालय भी है। आप बी.ए. एवं 'साहित्यरत्न' हैं। आपने 'भिषगाचार्य' में 'स्वर्णपदक' प्राप्त किया है। आपने स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर में 'स्रोतोऽनुसारी निदान-चिकित्सा' विषय पर गवेषणात्मक प्रवन्ध लिखा है एवं एच्.पी.ए. (आयुर्विद्यापारंगत) उपाधि प्रथम स्थान में प्राप्त की है।

चरित्रनायक के प्रति आपकी अपूर्व श्रद्धा है। आपका आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति विज्ञान पर प्रस्तुत लेख वस्तुतः मननीय और पठनीय है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक

रोगनिदान एवं चिकित्सा—दोनों ही दृष्टियों से सम्प्राप्ति ज्ञान की आवश्यकता होती है। वस्तुतः रोगविशेष का सम्पूर्ण ज्ञान सम्प्राप्ति की अभिव्यक्ति से ही प्राप्त होता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आयुर्वेदीय चिकित्सापद्धति के मूलाधारों का अध्ययन सम्प्राप्तिविज्ञान का पर्याय है।

निरुक्ति—

सामान्यतया 'सम्यक् प्राप्तिः' सम्प्राप्ति (सम्यक् अशेषविशेषेण, प्राप्तिः—रोगज्ञानम् येन भवति सा सम्प्राप्तिः)—जिससे रोग का सम्पूर्ण ज्ञान या निश्चय हो उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं।

पर्याय—

सम्प्राप्ति के जाति और आगति पर्याय हैं।[1] अतएव शास्त्रकारों ने सम्प्राप्ति लक्षण-सूचन करते हुए आगति आदि पर्यायो से अभिज्ञात अर्थ को सम्प्राप्ति कहते हैं—ऐसा बताया

है।[२] यहाँ यह द्रष्टव्य होगा कि 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से 'जाति' शब्द और 'आ' उपसर्ग-पूर्वक 'गम्' धातु से 'आगति' शब्द व्युत्पन्न होता है।

परिभाषा—

आचार्य वाग्भट ने सम्प्राप्ति की परिभाषा करते हुए स्पष्ट किया है कि विविध-निदानों से दोष जिस प्रकार 'दूषित' होकर और जिस प्रकार 'विसर्पण' करते हुए (दूष्यों के दूषण पूर्वक) व्याधि को उत्पन्न करता है उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं।[३] इस संदर्भ पर टीका करते हुए अरुणदत्त और मधुकोषकार के वचन संग्रहणीय हैं।[४]

जाति और आगतिपदों के विश्लेषण में आचार्यों का मतवैभिन्य प्रकट होता है। जाति पद जन्म का वाचक है।[५] भट्टार हरिश्चन्द्र ने व्याधिजन्म की भी ज्ञानकारणता स्वीकार की है क्योंकि अनुत्पन्न वस्तु का ज्ञान नहीं किया जा सकता। उनके मत में व्याधिजन्म को ज्ञानकारण मानना निदानादि के समान बोधकत्व की दृष्टि से न होकर बोधविषय की दृष्टि से है। किन्तु इस मत को खण्डना मधुकोषकार ने की है। जिस प्रकार आलोक और चक्षु आदि चिकित्सा में अनुपयोगी हैं, उसी प्रकार जन्मरूपा सम्प्राप्ति का चिकित्सा के अभिप्राय से कोई महत्व नहीं। साथ ही, यह भी कोई नियम नहीं है कि उत्पन्न हुई वस्तु का ही बोध होता हो, क्योंकि जिस प्रकार मेघ आदि से भावी वृष्टि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार निदान और पूर्व रूप से अनुत्पन्न भावी व्याधि का ज्ञान होता है।

'जात' पद का जन्मावच्छिन्न (जो जन्म ग्रहण करेगा) ऐसा अर्थ किया जा सकता है, मेघदर्शन से वृष्टि आदि (भावी जन्म को ग्रहण करने वाली ही) ज्ञात होतो है, जिसका त्रिकाल में जन्म नहीं होता उसका ज्ञान भी नही किया जा सकता। किन्तु इस अभिप्राय से व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति नही कहा जा सकता, क्योंकि जन्म के समान प्रकाश, चक्षु आदि को भी व्याधिज्ञान के प्रति कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि उनसे व्याधि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतएव सक्षेप में—व्याधिजनक दोष के व्यापार विशेष से युक्त व्याधि जन्म को सम्प्राप्ति शब्द से समझना चाहिए।[६]

'आगति' शब्द से 'उत्पादक कारण का व्याधि-उत्पत्ति तक गमन' यह अर्थ प्राप्त होता है।[७]

सम्प्राप्ति ज्ञान की आवश्यकता—

मधुकोषकार लिखते हैं—'यदि सम्प्राप्ति का ज्ञान नहीं किया जाय, पूर्वरूपादि के रूप में ज्ञात व्याधि के चिकित्सा में उपयोगी अशांशविकल्पना, काल, बल, आदि न समझे जांय तो चिकित्सा संबंधी वैशिष्ट्य प्राप्त नही हो सकता।'[८]

चक्रपाणिदत्त की मान्यता है कि—सम्प्राप्ति से व्याधि विशेष का ज्ञान होता ही है।

जिस प्रकार—ज्वर में—'स: यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम्' से प्रारंभ करके 'तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति' तक जो सम्पूर्ण सम्प्राप्ति कही गई है उससे ज्वर में आमाशयदूषकत्व, अग्न्युपघातकत्व, रसदूषकत्व आदि धर्म ज्ञात होते हैं।[६]

वस्तुत: इस प्रकार के ज्ञान का भी उपयोग चिकित्सा हेतु ही है। यथा ज्वर में आमाशयदूषण, अग्निहनन आदि के ज्ञान होने पर लंघन, पाचन, स्वेद आदि का करना अभीष्ट होता है।

इसके अतिरिक्त सम्प्राप्ति ज्ञान की उपयोगिता निम्न अभिप्राय से सार्थक है—

१. निदान परिवर्जन[१०]
२. संचयकाल में दोषनिर्हरण[११]
३. विपरीत द्रव्य सेवन (हेतु-व्याधि विपरीत)
४. रोगमार्ग एवं दोषगति का ज्ञान
५, क्रियाकाल की प्राप्ति
६. सध्यासाध्य-सूचन
७. व्याधिक्षमत्व का ज्ञान

इन समस्त तथ्यों पर प्रकाश डालना विषयविस्तार की दृष्टि से आवश्यक होने पर भी लेखविस्तारभय से अनुपयुक्त होगा।

इस प्रकार सम्प्राप्ति विषयक सामान्य परिचय प्राप्त होता है। संक्षेप में निदान सेवन के अनन्तर व्याध्युत्पत्ति पर्यन्त शरीर में होने वाली विशिष्ट क्रम-परम्परा का नाम सम्प्राप्ति है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे पेथोजेनसिस (Pathogenesis) के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी आधार पर व्याधि को 'एक अवस्था' या 'एक परम्परा या पद्धति' कहा गया है (Disease is a state, (2) Disease is a process.

सप्राप्ति संघटना—

यहां संप्राप्ति संघटन से तात्पर्य है सम्प्राप्ति निर्माण की पद्धति। इसमें सम्प्राप्ति निर्माण होने में भाग लेने वाले घटकों का एवं सम्प्राप्ति बनने में होने वाले क्रमपरंपरा इन दोनों हो का ग्रहण होता है।

सम्प्राप्तिघटक—

निम्न घटकों का संप्राप्ति निर्माण में योगदान रहता है।

(१) दोष
(२) दूष्य
(३) आम

(४) अग्निमांद्य
(५) स्रोत

(१) दोष—

दूषण स्वभाव होने से इन्हें दोष कहते हैं[१२]। ये शरीर और मानस भेद से द्विविध हैं। वात, पित्त और कफ शरीरदोष हैं, रज और तम मानसदोष हैं।[१३] शरीर और मानस दोषों का अनुबंधानुवंध्य पाया जाता है। परस्पर विरुद्ध गुण होते हुए भी ये सहज सात्म्य होने से परस्पर का उपहनन (नाश) नहीं करते, जिस प्रकार विषधर सर्प में विष रहने पर भी वह उससे नष्ट नहीं होता।

वातादि दोषों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आयुर्वेदज्ञों की निम्न मान्यता है।

वातोत्पत्ति—

चरक लिखते हैं पक्वाशय में आए हुए अग्नि द्वारा शोषित होते हुए परिपिण्डित होकर पक्व हुए आहार के कटु भाव से वायु की उत्पत्ति होती है। वृद्ध वाग्भट का भी मन्तव्य यही है—पांच स्वरूप वाली वायु कोष्ठ में प्रादुर्भूत होती है।[१४]

कफोत्पत्ति—

आमाशय में आहार के मधुर पाक से फेनभूत कफ उत्पन्न होता है। पुनश्च आहार रस पर रसाग्नि की क्रिया होकर त्रिविध् संघात भेद होने पर किट्टरूप में कफ की उत्पत्ति होती है[१५]।

पित्तोत्पत्ति—

आहार के द्वितीय अम्ल पाक के अवसर पर अच्छ पित्त की उत्पत्ति होती है। पुनः रक्तपोषक धातु पर रक्ताग्नि की क्रिया से त्रिविध संघात भेद में किट्ट स्वरूप पित्त उत्पन्न होता है।[१६]

उपर्युक्त उत्पत्ति निर्देश में दोषों के दो भेद स्पष्ट होते हैं स्थायी या पोष्य तथा अस्थायी या पोषक। स्थायी दोषों के पन्द्रह भेद हैं, वह स्वस्वस्थान में रहते हुए स्वस्वकर्म करते हैं। पोषक दोष-आहार परिणाम काल मे एवं धातु-अग्नि क्रिया काल मे कोष्ठ मे वात रस से कफ और रक्त से पित्त उत्पन्न होते हैं और ये सर्व शरीरचारी होते हैं।

भौतिक संघटन की दृष्टि से वायु और आकाश से वात, अग्नि और जल से पित्त, जल और पृथ्वी से कफ की उत्पत्ति होती है।

(२) दूष्य

दोषों से दूषित होने का स्वभाव होने से इन्हं दूष्य कहते हैं। ये दो प्रकार के निर्दिष्ट हैं—धातु और मल। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये पारिभाषिक

धातुएं हैं और प्रीणन जीवन, लेपन, स्नेहन, धारण, पूरण और गर्भोत्पत्ति इनके श्रेष्ठ कर्म हैं। मल, मूत्र और स्वेद ये प्रमुख मल हैं और अवष्टभन, क्लेदवाहन और क्लेदविधारण ये इनके कर्म हैं। चरकीय दृष्टिकोण से विचार करने पर आहाररस से धातुओं का और आहारकिट्ट से मलों का पोषण और उत्पादन होता है।[17] वैसे, इनकी उत्पत्ति एक विशिष्ट क्रमपरम्परा के आधार पर ही होना सूचित है। धातु पौषक धातु पर धात्वग्नि की क्रिया होकर त्रिविधसंघात भेद से धातु और मलों की उत्पत्ति होती है यह इनकी सूक्ष्म उत्पत्ति है। स्थूल भाग- पूर्व धातु, सूक्ष्मभाग-उत्तर धातु पोषक धातु और किट्टभाग मल। दोषों से दूष्यों को दुष्टि होने पर इनके प्रकृति गुणकर्मों की हानि और दोष के लक्षणों का आविर्भाव ये विशेष द्रष्टव्य होते हैं। प्राय: सभी रोगों में दोष का संचार रस द्वारा होता है।

अग्निमांद्य—

अग्नि का शरीर में पृथक्त्वेन अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता। पित्त के अंतर्गत ही अग्नि रहती है।[18] इस प्रकार पित्त का एक धर्म अग्नि है। सम्पूर्ण शरीर में तेरह प्रकार की अग्नियाँ व्याप्त हैं—जठराग्नि, पंच भूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियाँ।

अग्नियों में जठराग्नि सर्वश्रेष्ठ है। वह पंचभूतात्मक होकर भी तेजसगुणप्रधान होती है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में रहती हुई अन्नपाचन, सारकिट विभाजन और स्वस्थान में रहते हुए अन्य अग्नियों को बल प्रदान करके पोषण-धारण करना - कार्य करती है।[19] अत: इसे समस्त अग्नियों का राजा कहा गया है। और इसकी व्यवस्थिति पर आयु और बल की स्थिति होने से इसे पर्यायत्वेन 'कायाग्नि' भी कहा गया है। वृद्धभोज लिखते हैं जठर प्रदेश में रहने वाली अग्नि कायाग्नि कहलाती है, उसकी विकृति होने पर यथायोग्यतया संस्थापन हेतु चिकित्सा करने वाला 'कायचिकित्सक' कहलाता है।[20]

जठराग्नि द्वारा प्रथम किये गये संघात भेद के अनंतर, पांच भूताग्नियाँ स्व-स्व द्रव्य का पाचन करती हैं। अग्निक्रिया से गुणों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु नवीन द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। वस्तुत: भूताग्नियाँ पृथक अस्तित्व नहीं रखती अपितु जठराग्नि और धात्वग्नियों में अनुस्यूत रहकर भौतिकपाक का कारण बनती है।[21]

धात्वग्नियाँ स्वस्व धात्वाशयों में रहती हुई धातुपोषण के अभिप्राय से किट्ट—और प्रसाद रूप विभजन का सम्पादन करती हैं।[22] इस प्रकार जठराग्नि और धात्वग्नियाँ संघात भेद का कार्य करती हैं। शरीर द्रव्यो के पोषण का सूक्ष्म कार्य समीकरण और सात्म्यीकण की प्रक्रीया द्वारा भूताग्नियाँ सम्पन्न करती हैं। सुश्रुत सूत्रस्थानीय पंचदशाध्याय के १० वें सूत्र पर व्याख्यान करते हुए चक्रपाणि ने भानुमतीटीका में एवं डल्हण ने निबंध-संग्रह टीका में धातुओं के भौतिक संघटन विषयक पाठों का उद्धरण किया है—

धातु	चक्रपाणिमत	डल्हणमत
१. रस	—	सौम्य
२. रक्त	तेज+जल	अग्नि
३. मांस	पृथ्वि	पृथिवी
४. मेद	जल+पृथ्वि	जल+पृथ्वि
५. अस्थि	पृथ्वि+वायु	पृथ्वि+वायु+अग्नि
६. मज्जा	आप्य	सोम
७. शुक्र	आप्य	सोम

अपने स्थान में रहती हुई कायाग्नि के अंश धातुओं में रहते हैं। उनके मन्द होने पर धातु वृद्धि और प्रदीप्त होने पर धातु क्षय होता है। इसी प्रकार पोषण क्रमानुसार पूर्व धातु उत्तर धातु की वृद्धि या क्षय करता है।[२३]

आम—

पाक की अपूर्ण क्रिया से उत्पन्न द्रव्य को 'आम' कहते है। सामान्य भाषा में आम से तात्पर्य है कच्चा। तत् तत् अग्नि मांद्य से तत् तत् अग्नि सम्बन्धी आम की उत्पत्ति होती है। जठराग्नि मांद्य से आम आहार रस की उत्पत्ति होती है। इसे चरक ने 'घोर-अन्न विष' कहा है।[२४] धात्वाग्नि के मांद्य से धातु वृद्धि होती है किन्तु वह सामस्वरूप की होती है।

जिस स्थान पर आम प्रादुर्भूत होता है या अवस्थान करता है उस स्थान पर वह अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर पीड़ा पहुंचाता है। उस समय दोष की अवस्थिति साम होती है।[२५]

आम सेयुक्त दोष धातु और मल 'साम' कहलाते हैं।[२६] साम शब्द आम या साम दोष दूष्यों से उत्पन्न व्याधियों के लिए भी व्यवहृत होता है।

इस प्रकार आम प्रत्येक रोग की सामान्य सम्प्राप्ति का महत्वपूर्ण घटक है, किन्तु जब यह विशिष्ट सम्प्राप्ति का भी कारण बनता है तब उस रोग का नाम निर्देश आम-पूर्वक किया जाता है यथा—आमातीसावर आमज्वर, आमाजीर्ण, आमवात आदि।

अग्नि और आम के प्रसंग में दोषाग्नि संबंधी चर्चा भी आवश्यक है। वाग्भट्ट ने आत्रेय मत में दोषाग्नि का पार्थक्य स्पष्ट किया है। च. चि. ३। पर चरक चतुरानन चक्र-पाणि ने 'स्वेन तेनोष्मणा' की व्याख्या में 'स्वेनोष्मणा इति दोषोष्मणा' अर्थ ग्रहण किया है। दोषाग्नि मांद्यजनित साम दोषों को 'साम मल' ही कहा गया है। और उनके लक्षण स्रोतोरोध, बल भ्रंश, गौरव, अनिल मूढता, आलस्य आपत्ति, निष्ठीवन, मलसंग, अरुचि

और क्लम बताए गए हैं। इसी प्रकार साम, वात, पित्त और कफ के विशिष्ट लक्षण भी निर्दिष्ट हैं।[२८]

स्रोत—

सामान्यतया आकाशीय (छिद्र या पोलयुक्त) शरीर रचनाओं का नाम स्रोत है[२९], इससे शारीर धातुओं के पोषण, विनाश, स्रवण और परिवहन रूप क्रियाओं का सम्पादन होता है।[३०] हेतु भेद से स्रोतो विकृति के तीन स्वरूप स्पष्ट होते हैं—

(१) स्रोतो दुष्टि—मिथ्या आहार विहारादि से प्रकुपित दोषों द्वारा।

(२) स्रोतोरोध—आमोत्पत्ति के कारण।

(३) स्रोतो वैगुण्य—स्थान संश्रित दोष द्वारा। यही रोग का अधिष्ठान होता है।

स्रोतो वैगुण्य मे निम्न चार प्रकार के कारण होते हैं—

(१) मिथ्या आहारविहार द्वारा दोष प्रकोप।

(२) आगन्तुक कारण—अभिघात आदि।

(३) जन्मजात या आनुवंशिकता।

(४) व्याध्यक्षमत्व।

स्रोतोदुष्टि के चार प्रकार के लक्षण चरक ने बताये हैं—[३१]

१. अतिप्रवृत्ति—अतिसार, प्रमेह, प्रदर, रक्तपित्त।

२. सग—विबन्ध, मूत्रावरोध, रक्तस्कन्दन।

३. सिराग्रन्थि—श्लीपद, गलगण्ड, गंडमाला, ग्रंथिकज्वर।

४. विमार्गगमन—रक्तपित्त में रक्त का विभागमिन होता है।

प्रत्येक रोग मे प्रकुपित दोष का सर्वशरीर संचरण एवं विगुण स्थान में स्थानसंश्रय होने में स्त्रोतोरूप मार्ग आवश्यक घटक है।

सम्प्राप्तिक्रमपरम्परा—

सम्प्राप्तिक्रम के अध्ययन हेतु निम्न शास्त्र वचन विचारणीय हैं।

(१) आचार्य वाग्भट लिखते हैं—प्रत्येक रोग की उत्पत्ति होने में रस द्वारा प्रथम दूष्टियुक्त हुए दोष अनंतर धातुओं और मलो को दूषित करते है।[३२]

(२) प्रकुपित हुए दोप रोग के अधिष्ठान गमन करने वाली रसायनी (स्रोतों) द्वारा देह में प्रसृत होकर रोग उत्पन्न करते हैं। दोषों का संचरण रसमार्ग से होता है।[३३]

(३) व्यानधातु की क्रिया से युगपत् निरतर शरीर में रसानुधावन होता रहता है। जब वह स्रोतों वैगुण्य के स्थान मे अनरुद्ध हो जाता है तो वही रोग उत्पन्न करता है। रस की भांति दोप का गमन और एकदेशीय प्रकोपण—रोगोत्पत्ति होती है।[३४]

सम्प्राप्ति संबन्धी उपर्युक्त विचारणाओं से प्रत्येक रोग में निम्न तीन विशेषताओं का ज्ञान अपेक्षित होता है—

१. उद्भवस्थान—जिस स्थान से पोष्य दोषच्युत होकर विमार्गगमन करते हैं।

२. संचार—प्रायः दोष का संचरण रसमार्ग से होता है। सुश्रुत ने वातवह, पित्तवह, और कफवह शिराओं का वर्णन किया है।

३. अधिष्ठान—स्रोतोवैगुण्य के स्थान में रस और दोष विकृति उत्पन्न करते हैं। इसे ही स्थानसंश्रय भी कहते हैं। एक ही दोष से वस्तुतः अधिष्ठान भेद से अनेक रोगों की उत्पत्ति है।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति परम्परा का अवस्थानुसार वर्णन भी शास्त्रोपलब्ध है। इस विषय में सम्प्रदाय भेद से दो मत स्पष्ट द्रष्टव्य हैं—

(१) आत्रेयसम्प्रदाय में

चरक पाठ संवादी वाग्भट ने निम्न पद्य में सम्प्राप्ति की तीन क्रमागत अवस्थाओं का वर्णन किया है—

"यथादुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (अ. हृ. नि. १)

इस आधार पर—सम्प्राप्ति की निम्न तीन अवस्थाएं हैं—

(१) दोष दुष्टि—(यथा दुष्टेन दोषेण)

(२) दोष विसर्पण—(यथा चानुविसर्पता)

(३) रोग निर्वृत्ति—(निर्वृत्तिरामयस्यासौ)

(२) धन्वन्तरी सम्प्रदाय में—

सुश्रुत संहिता में दोषों की छः अवस्थाओं का वर्णन समुपलब्ध होता है—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम्।
व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥ सु. सू. २१।३६)

१ संचय, २ प्रकोप, ३. प्रसर, स्थान संश्रय ५ व्यक्ति और ६ भेद। इन अवस्थाओं को 'क्रियाकाल' भी कहते हैं। डल्हण ने क्रियाकाल पद का 'कर्मावसर' और 'चिकित्सावसर' ये अर्थ किए हैं। ये विभिन्न क्रियाकाल सम्प्राप्ति की विशिष्ट अवस्थाएं हैं। इनमें प्रादुर्भूत होने वाले लक्षणों का सम्यक् ज्ञान करते हुए आवश्यक चिकित्सा का प्रतिपादन इनमें किया जाना अभिप्रेत होता है; जैसे कहा गया है—'संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतिः।' अर्थात् संचय काल में दोषों का निर्हरण कर देने पर उनकी अग्रिम अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं। इसका विस्तार वर्णन मूल ग्रंथ में देखना चाहिए।

समन्वय—

अवस्था	सुश्रुत	वाग्भट
(१) दोष दुष्टि —	१ सचय २ प्रकोप	चय (चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव)
(२) दोष विसर्पण —	३ प्रसर	कोप (कोपस्तून्मार्गगामिता)
(३) रोग निर्वृत्ति—	४ स्थान संश्रय	कोप (लिंगाना दर्शनं षाम् अस्वास्थ्यं रोग संभवः)

सम्प्राप्ति भेद—

चरक और वाग्भट ने सम्प्राप्ति के ५ भेद बताए हैं। किन्तु नाम निर्देश में आंशिक अंतर है—

	चरक	वाग्भट
(१)	संख्या	संख्या
(२)	विकल्प	विकल्प
(३)	प्राधान्य	प्राधान्य
(४)	बलकाल	बल
(५)	विधि	काल

वाग्भट ने विधि का संख्या में अन्तर्भाव किया है और बल व काल का पृथक् पाठ दिया है। चरक ने विधि को पृथक् पढा है और बल काल को एक साथ पढ़ा है।

(१) सम्प्राप्ति—

गणना को संख्या कहते हैं। रोग विशेष की विशिष्ट सम्प्राप्ति के भेदों की गणना को सख्या संप्राप्ति कहा जाता है। यथा आठ ज्वर आदि।[३५]

(२) विकल्प सम्प्राप्ति—

समवेत दोषों के अंशांशबल की विकल्पना को विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं।[३१] अंशांशबल कल्पना से तात्पर्य है दोष प्रकोपक गुणों के अंशों का ज्ञान।[३०] यथा वात के प्रकुपित होने पर कभी वात के शीतांश की कभी लघु अंश की, कभी रूक्ष गुण की तो कभी लघु-रूक्ष गुणो की विशेषता प्रदर्शित होती है। इसका कारण निदान की भिन्नता है। क्योंकि समस्त रोगों में समान प्रकोप का कारण नही होता। विशिष्ट आहार से एक ही प्रकार के दोष का प्रकोप होने पर भी व्याधि मे भिन्नता देखी जाती है यथा वातल आहार से गुल्म और श्वास दोनों की ही उत्पत्ति होती है। इसका यह भी कारण है कि विभिन्न द्रव्यों के एक ही दोष के प्रकोपक होने पर भी प्रत्येक द्रव्य उस दोष के कतिपय विशिष्ट गुणों को

हो प्रकुपित करता है। व्याधि की साध्यता के ज्ञान के लिए अंशांशकल्पना सर्वथा उपयोगी व आवश्यक है।

(३) प्राधान्य सम्प्राप्ति—

इसके दो दृष्टिकोण हैं—

प्रथम—दोषों का तरतम भेद के विचार।

द्वितीय—(१) रोगसांकर्य में अनुबन्ध—अनुबन्ध्य का विचार।
(२) दोषसांकर्य में अनुबन्ध—अनुबन्ध्य का विचार।

(४) बल सम्प्राप्ति—

निदानादि के तारतम्य के आधार पर व्याधि की बलवत्ता का निर्धारण 'बल-सम्प्राप्ति' कहलाता है।[३६] निदान, पूर्वरूप और रूपों की अधिकता होने पर उत्पन्न व्याधि बलवान होती है, इनकी आंशिक रूप से उपस्थिति होने पर व्याधि को अल्प बलवान समझना चाहिए। बल सम्प्राप्ति की यह व्याख्या वाग्भटसम्मत है।

(५) काल सम्प्राप्ति—

रात्रि, दिवस, ऋतु और भोजन के विशिष्ट अंशों (आदि, मध्य और अन्त) मे व्याधि के उत्पत्ति वृद्धि, या शमकाल को देख कर दोष विशेष का निर्धारण करना काल-सम्प्राप्ति के अंतर्गत आता है।[४०] काल विशेष से सम्बन्धित होने के कारण इसे काल-सम्प्राप्ति कहते हैं। यह विवेचन वाग्भटसम्मत है।

(६) विधि सम्प्राप्ति—

चरक ने इसका पृथक् वर्णन किया है। वाग्भट ने इसका संख्यासम्प्राप्ति में अंतर्भाव माना है।[४१] चरक ने विधि सम्प्राप्ति में रोग प्रकार का उल्लेख किया है यथा विविध व्याधियां निज और आगन्तु भेद से, त्रिदोष भेद से, त्रिविध और साध्य असाध्य मृदु दारुण भेद से चतुर्विध।

विधि और संख्या में आंशिक भेद ही है क्योंकि विधि भी एक प्रकार से संख्यावाची शब्दों द्वारा अभिधेय है। विधि और संख्या का भेद—इस प्रकार विधि प्रकार को कहते हैं और वह अभिन्न जातियों में ही किसी धर्मान्तर के अन्वय से होता है यथा-रक्तपित्त सामान्य होने पर भी उसके ऊर्ध्वग-अधोग आदि भेद हैं। संख्या का व्यवहार भिन्न जातियों में भी किया जाता है तथा आठ ज्वर, चार घड़े आदि। अभिप्राय यह है कि विशेषण या धर्म-विशेष के आधार पर भेद करने को विधि कहते हैं, किन्तु केवल गणना की आवश्यकता हो वहाँ संख्या प्रयुक्त होती है।[४२]

सामान्य-विशिष्ट-सम्प्राप्ति—

सम्प्राप्तिविषयक उपर्युक्त भेद विवेचन के उपरान्त शास्त्रनिगूढ़ द्विविध सम्प्राप्ति सबंधी संदर्भ भी उपलब्ध होते हैं। सामान्य सम्प्राप्ति और विशिष्ट सम्प्राप्ति। प्रत्येक रोग मे यह द्विविध सम्प्राप्ति पायी जाती है।

सामान्य सम्प्राप्ति से तात्पर्य है दोष विशेष का प्रकुपित होकर अधिष्ठान विशेष में स्थानसंश्रय कर रोगोत्पत्ति करना। प्रायः रोगनामकरण इसी आधार पर किया जाता है उदाहरण हेतु ज्वर मे पित्त, गुल्म में वात, श्वासहिक्का में वातकफ सामान्य सम्प्राप्ति निर्माण करते हैं।[४३]

विशिष्ट सम्प्राप्ति से अभिप्राय है वातपित्त कफ आदि के आधार पर रोग विशेष के भेद करना। जिस व्याधि में जिस दोष के लक्षण विशेष मिलेंगे उसी के अनुसार उसका भेदनिर्णय किया जायेगा।

इस प्रकार शास्त्रीय वचनों के आधार पर आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति विज्ञान का पर्यालोचन करते हुए तत्सम्बन्धित मुख्य तथ्यों के प्रकाशोद्घाटन करने का प्रस्तुत लेख में प्रयास किया गया है। अन्त मे गुणग्राही पाठकों की सम्मति प्राप्त करने हेतु महर्षि चरक के निम्न वचन का उद्धरण करते हुए विषयोपसंहार करता हूँ।

"कृत्स्नो हिलोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।" (च. वि. ८)

संदर्भ सूची

१. सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः। च॰ नि॰ १।११

२, सम्प्राप्त्यागतिजातिशब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते सा व्याधेः सम्प्राप्तिरित्यर्थः।
(चक्रपाणिदत्त, च॰ नि॰ १।११ पर)

३. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः॥
(अ॰ हृ॰ नि॰ १।)

४. अरुणदत्तटीकायाम्—'येन प्रकारेण दुष्टः कुपितो वातान्यतमो दोषो यथा दुष्टस्तेन यथादुष्टेन दोषेण, यथा चानुविसर्पता देहमनुधावता सन्निवेशविशेषेण गच्छता, प्रत्यामयं वा निर्वृत्तिनिष्पत्ति-रुद्भव इति यावन्निर्दिष्टा सा सम्प्राप्तिः'।

मधुकोषटीकायाम्—'नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः प्राकृती वैकृती वा, अनुबन्ध्यरूपा वा एकशोद्विशो वा समस्ता वा, रौक्ष्यादिभिः सर्वैर्भागैरल्पैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्यरोगस्यनिर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा सम्प्राप्तिरुच्यते। यथा चानुविसर्पतेति। अनेकधा दोषाणां विसर्पणंगतिरूर्ध्वास्तिर्यगादिभेदेन, तया विसर्पता।'

५. जातिः जन्म। (चक्रपाणि)

६. (अ तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्त व्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिः।
(चक्रः)
(आ) तस्माद् दोषेतिकर्त्तव्योपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिः।
(मधुकोषः)

७. आगतिर्हि उत्पादकारणस्य व्याधिजननपर्यन्तं गमनम्। (चक्रः)

८. असत्यां च संप्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोऽशांशविकल्पना-बलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्। (मधुकोष)

९. इयं च सम्प्राप्ति र्व्याधिविशेषं बोधयत्येव। (चक्रः)

१०. संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्।

११. संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरागतिः।

१२. दूषणाद्दोषाः (शार्ङ्गधर)

१३. वायुः पित्त कफश्चोक्तः शारीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ (च० सू० १।५७)

१४. (अ) पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः॥ (च०चि० १५।११)
(आ) पंचात्मा वायुः कोष्ठे प्रादुर्भवति। (अ० सं० शा० ५)

१५. (अ) अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफोभावात् फेनभूत उदीर्यते॥ (च० चि० १५।६)
(आ) रसस्य तु कफो (च० चि० १५।१८)

१६. (अ) परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ (च० चि० १५ १०)
(आ) असृजः पित्तं (च० चि० १५।१८)

१७. च० सू० २८।४

१८. अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः (च० सू० १३।११)

१९. .... पक्वामाशयमध्यस्थम्।
पंचभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयात्॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलसंज्ञितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक्तथा॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेव पाचकं नाय तत्स्मृतम्॥ (अ० ह० सू० १२।१०-१२)

२०. जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभीयते।
यस्तं चिकित्सेत सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥ (वृद्ध भोज)

२१. (अ) भौमाप्याग्नेयवायव्याः पंचोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान् पार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥
यथास्वं स्व च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥ (च० चि० १५।१३-१४)

(आ) जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद्भूताग्नयः पच स्व स्व द्रव्यं पचन्ति' इति । अय च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पंचभूतानि सन्ति, तत्रापि धात्वाग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जठराग्निक्रमेणोक्तो ज्ञेयः । (चक्रपाणिदत्त)

२२. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभि पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ (च० चि० १५।१५)

२३. स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः ।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम् ॥ (अ० हृ० सू० ११)

२४. घोरं अन्नविषं च तत् । (च० चि० १५।४६)

२५. यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।
दोषेण येनावतत शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ (मा० नि०)

२६. आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ (अ० हृ० सू० १३।१७)

२७. दोषधातुमलादीनामूष्मा इत्यात्रेयशासनम् । (अ० हृ० शा० ३)

२८. मधुकोष, मा० नि० १।५)

२९. स्रोतांसि...लक्ष्यालक्ष्याणां शारीरधात्ववकाशानां नामानि भवन्ति ।
(च० वि० ५।६)

३०. सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति ।
स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ।
(चि० वि० ५।३)

३१. अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रंथयोऽपि वा ।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ (च० वि० ५।२४)

३२. दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये उभये मलान् । (अ० हृ० सू० ११)

३३. प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनोः ।
रसायनीः प्रपाद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ (अ० हृ० नि० १।२४)

३४. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः ।

करोति विकृतिं तत्र रेव वर्षमिव तोयदः ॥
दोषाणामपि चैवम् स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ (च० चि० १५।३६-३८)

३५. सख्या स्याद् गणितम् (च० सू० २५)

३६. दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना। (वा०)

३७. १. अंशं अंशं प्रति बलमंशांशबलं, तस्य विकल्प उत्कर्षापकर्षरूपोंऽशांशबल विकल्पः (चक्रपाणिः)

२. दोषाणां समवेतानां एकस्मिन् व्याधौ संघट्टितानां या अंशांशकल्पना भागे भागेन कार्यानुमेयेन निरूपणा, स विकल्पः। अंशश्चांशश्च अंशांशे, ताभ्यां कल्पनाऽनेकविधो विकल्पः। (अरुणदत्त)

३. अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः। तैरेकद्वयादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणं कल्पना (मधुकोषः)

३८. १. स्वातंत्र्यपारतन्त्र्याभ्या व्यधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ (वा०)

२. प्राधान्य पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते। तत्र द्वयोस्तरः त्रिषु तम इति। (च० नि० १)

३९. हेत्वादिकात्स्न्यावियवैर्बलाबलविशेषणम्। (वा०)

४०. नक्तदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ (वा०)

४१. विधिर्नाम—द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुण भेदेन। (च० नि० १।१२)

४२. विधिसंख्ययोश्चयं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयनामेव कस्यचिद्धमन्तिरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेप्यूर्ध्वगादिप्रकाशो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि यथा—चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वरा इति। (वाप्यचन्द्रः)

४३. च० चि० ४।११ की टीका में चक्रपाणि का मत।

आयुर्वेदीय निदान सरणी

लेखक : आयुर्वेदाचार्य श्री कृष्णदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य, मकराना (राज.)

[स्वनामधन्य दाधीच (ब्राह्मण) पण्डित कृष्णदत्तजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य, विद्यार्णव राजस्थान के प्रमुख विद्वानों में हैं। मानवीय करुणा, स्वभाव में शौकीनपन और सादगी का एक विचित्र समन्वय विद्यमान है। श्री शास्त्रीजी का आयुर्वेदीय निदान सरणी मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आरोग्यपूर्ण जीवन प्राणी जगत् की प्रथमेषणा है। जीवन की साधना का एकमात्र कारण आरोग्य ही है। 'धर्मार्थ काम मोक्षाणा मारोग्यमूलमुत्तमम्' (चरक सू०) जिस राष्ट्र का आरोग्य पक्ष उन्नत होता है वह राष्ट्र ही जीवित राष्ट्र कहलाने का अधिकारी है। यही कारण है कि सृष्टिसर्गारंभ से ही आज तक धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी पक्ष एक स्वर से स्वस्थ जीवन का महत्व स्वीकार करते आये है।

आरोग्य रक्षा के उपाय एवं विकृत स्वास्थ्य की चिकित्सा तथा आजीवन स्वस्थ बने रहने के तत्वों का निर्देशन ही चिकित्सा शास्त्र का मूल विषय है।

हमारे देश में प्रचलित अन्य चिकित्सा पद्धतियों में रोगी होने के बाद रोगी जीवन आराम से कैसे बिताया जा सकता है इसका व्याख्यान जितना विस्तृत हुआ है उसके विपरीत रोगी जीवन के कारणों को जान कर उनको निर्मूल करके जीवन को सदा के लिये स्वस्थ और सुखमय कैसे बनाया जा सकता है इसकी व्याख्या हमको आयुर्वेद में ही मिलती है। इस शास्त्र में उन मूलभूत रोगों के कारणों पर विचार किया गया है—जिनको जान लेने के बाद रोग मुक्ति या चिकित्सा सफलता निश्चित रहती है। रोग के मूलभूत कारणों का बिना ज्ञान किये चिकित्सा करने की प्रथा को पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली से बहुत प्रश्रय प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि आज के चिकित्सकों का एक बड़ा भाग निदानज्ञता से दूर हटता जा रहा है और वह उस बागवान की तरह रोगो के उपद्रवों की केवल लाक्षणिक चिकित्सा द्वारा कलम करके उनको दृढमूल करने का दोषी बन रहा है।

आज की निरंतर बढ़ती हुई रोगी संख्या क्या इस दोषपूर्ण चिकित्सा पद्धत्ति की परिचायिका नही है? महान दुख का विषय है कि 'कामये दुःख तप्तानाम् प्राणिनामार्ति

नाशनम्' की निष्काम भावना से प्राणी जगत को स्वास्थ्य समर्पण करने के पवित्र कर्तव्य को आज पेइन्ग बिजनेस (Paying Business) यानी संपन्न व्यवसाय का रूप दिया जा रहा है।

आज की चिकित्सा की असफलता का मूल कारण रोगों के कारणों की अनभिज्ञता ही है। रोगों के कारणों को जाने बिना उनका निर्मूलन संभव नहीं। इसीलिये 'लिन्ग ज्ञान पूर्विका ही चिकित्सा साध्या भवतीति' चक्रपाणी का मत माननीय है।

रोग परिचय के लिए विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में अलग अलग मार्ग प्रचलित है। पर आयुर्वेद का रोग परिचय मार्ग पूर्ण प्रशस्त और सभी पद्धतियों के रोग परिचय मार्ग की उद्गम भूमि है, इसमें दो मत नहीं। यह अवश्य है कि कुछ पद्धतियों ने इस मार्ग के एक भाग को लेकर मार्ग को विकृत बना दिया है।

आयुर्वेद में रोग विनिश्चय के विषय भेद से कई मार्ग निश्चित किये गये हैं, जिनमें ये पांच प्रकार मुख्य हैं। तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरुपलिन्गोपशयसंप्राप्तितः (च नि.छ.) के अनुसार निदान पूर्वरूप, रूप उपशय और संप्राप्ति शीर्षकों में विभक्त किये गये हैं। यह प्रकृति सिद्ध तथ्य हैं कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार रोगोत्पत्ति में भी यह मानकर चलना ही होगा कि बिना किन्हीं कारणों के रोगरूपी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। यह केवल आयुर्वेदिक विचार ही नहीं वरन् संसार की सारी पद्धत्तियाँ एक-मत से इसे स्वीकार करती हैं। आयुर्वेद में जहाँ दोष प्रकोप से रोगोत्पत्ति मानी है वहां अेलोपैथी मे रोगोत्पत्ति की हेतुता जीवाणु एवं जीवनीय तत्वों की कमी को तथा बायोकेमिक पद्धत्ति में शरीर में लवण की अनियमितता को मानी गई है। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति और युनानी चिकित्सा पद्धतियां आयुर्वेद की अंगभूत होने के कारण पथ्य विकार और दोष विकृति को ही रोगोत्पत्ति का कारण मानती हैं। आशय यह है कि सभी पद्धत्तियां रोग रूप कार्य में किसी न किसी कारण को अवश्य अंगीकार करतो हैं। अेलोपैथी पद्धत्ति में जिस रोग की हेतुता से अभी तक अपरिचित है वहां यह स्पष्ट उल्लेख है कि (Aetiology is unknown) अर्थात कारण ज्ञात नहीं है। यदि वे कारण के बिना भी रोगोत्पत्ति के पक्ष में होते तो यहां यह लिखा होता कि (There is no Aetiology of this disease) अर्थात कारण हीन रोगोत्पन्न।

'निदानंत्वादि कारणं' सर्वेषांमेवरोगाणां निदानं कुपिता मलाः।' के अनुसार चरक निदान को रोग विनिश्चय का प्रथम प्रकार मानता है। इसी निदान के प्रकारान्तर से संन्निकृष्ट (समीपवर्ती) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) व्यभिचारी (दुर्बल हेतुता) और प्राधानिक (त्वरित प्रभावी) भेद से निदान के चार भेद किये गये हैं।

चरक मुनि ने इसी निदान को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम श्चेति भेदों से इन्द्रियों के हीन, अति और मिथ्या प्रयोग से, तथा मानसिक व्यापार की दूषित गति

से प्रज्ञापराध एवं ऋतुओं के स्वाभाविक शीत, उष्णादि गुणों की हीन और अति तथा मिथ्या योजना से तीन प्रकार स्वीकार किये हैं। इसी तरह दोषव्याधि, उभय हेतु, तथा उत्पादक, व्यंजक और व्याध्यारंभक आदि भेद, रोग निश्चय करने में सहायक होने के कारण बताये गये है।

पूर्वरूप

भविष्य में होने वाली व्याधि के चिन्हों का दर्शन पूर्वरूप नाम से व्यवहृत है। "पूर्वरूप प्रागुत्पत्ति लक्षणम् व्याधेः" स्थान संश्रयिणः क्रुद्धाः भावी व्याधि प्रबोधकम् लिंगं कुर्वन्ति यद्दोषाः पूर्वरूपं तदुच्यते" से भी स्पष्ट है कि होने वाली व्याधि का ज्ञान पूर्वरूप ज्ञान से सरल हो जाता है इस प्रकार के सामान्य और विशेष ये दो प्रकार व्याधि के साधारण और विशेष निर्देशों से उसकी साधारण और विशेष स्थिति की जानकारी के लिये किये गये हैं। इनके द्वारा भावी रोग का उग्र प्रकोप ज्ञान चिकित्सक और रोगी दोनों के लिये ही अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान भी "पूर्वरूप को प्रोड्रोमा" (Prodrome) और उसके भेद आरा (Aura) नाम से स्थान दिये हुये हैं। अपस्मृति आदि अभिशाप प्रधान रोगों के भावी प्रभाव की जानकारी कर लेना इसी प्रकार विशेष का विषय है।

रूप—

"तदेव व्यक्ततां यातंरूप मित्यभिधीयते" पूर्वरूप ही व्यक्त होकर रूपशीर्षक बना लेता है। अर्थात् पूर्वरूप की दशा रोग चिन्ह, जब अपना प्रकट रूप धारण करते हैं तो उस स्थिति का नाम आयुर्वेदीय रोग निश्चय सरणी में रूप कहा जाता है। प्रादुर्भूत लक्षणं पुनिर्लिन्गम्" इसीका पाश्चात्य चिकित्सक क्लिनिक पिक्चर (Clinic Picture) के नाम से स्वीकार करते हैं। संप्राप्ति की स्थिति से ज्वर ज्ञान, और अतिसार रोग का ज्ञान ज्वर और अतिसार रोग का रूपज्ञान होगा। रूपज्ञान से रोग की साध्यासाध्य स्थिति का ज्ञान हो जाने के कारण यह प्रकार रोग विनिश्चय में महत्ता रखता है।

उपशय—

कभी २ कुछ व्याधियां अपने लक्षणों की गूढता से निदान से निदान पूर्वरूप एवं रूप से भी जब ज्ञेय नही हो पाती ऐसी दशा में रोगज्ञता के लिए उपयश नामक रोग विनिश्चय प्रकार का अवलंबन होता है। "गूढलिन्गम् व्याधिपुपशयानुपशयाभ्यांपरीक्षेत" च वि० अ० सं० ४) हेतु और व्याधि के विपरीत स्वभाव वाले औषध अन्न तथा विहार का सुखकर प्रयोग ही उपशय कहलाता है। पाश्चात्य जगत भी रोग की सफल चिकित्सा से, रोग के कारण ज्ञान को महत्त्व देता है। क्विनाइन से ठीक होने वाले ज्वर को शीत ज्वर की संज्ञा देना इस ज्वर के कारण ज्ञान में उपशय है। (Response to any particular Specific

Treatment may be indicating to diagnosis) उपशय की तरह अनुपशय भी रोग-विनिश्चय में इस प्रकार है।

संप्राप्ति

कुपित दोष शरीर में किस प्रकार के देह के कौन से भाग में, किस व्याधि को उत्पन्न करेंगे, इसका ज्ञान हम संप्राप्ति नामक रोग विनिश्चय प्रकार से जान सकते हैं। यह संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषताओं से ५ प्रकार की होती है।

व्याधि भेद से आगंतुक जनपदोध्वंशी व्याधियों के मूल हेतु भी हमारे महर्षियों की दृष्टि से ओझल नहीं रहे हैं। "सर्वेषामप्यग्निवेश? वाय्वादिनावैगुण्यमूलम् तस्यमूलमधर्मः।" (च० वि० ३) यह लिखकर जनपदोध्वंसादि व्याधियों के मूल कारण अधर्माचरणों को माना है। रोग विनिश्चय में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, और अनुमान इन ३ प्रमाणों का भी मूल्यवान् स्थान है। प्रत्यक्ष प्रमाण से चिकित्सक श्रवणादि इन्द्रियों द्वारा रोग का ज्ञान कर सकता है। इसी तरह मुखस्वारस्यादिका ज्ञान भी किया जाता है। जिसका निर्देश "प्रत्यक्षत स्तुखलु रोग तत्वं बुभूत्सुः सर्वेन्द्रियैसर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरी रगान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात् च० वि ४४) अति स्पष्ट है।

रोग विनिश्चय के लिए आधुनिक विज्ञान आयुर्वेद के "पंचभिः श्रवणादिभिः प्रश्ने न च" के प्रकार का पूर्णतः अवलंबन लिए हुए है परन्तु दोष, धातु, मात्रादि के स्तर एवं संचय प्रकोप प्रसारादि के सम्यक ज्ञान के बिना वह पूर्ण लाभ उठाने में असमर्थ रहा है। श्रवणादि इन्द्रयों से विषयों की जानकारी की परिवृद्धि के लिए इस विज्ञान ने सहयोगी यंत्रों का आविष्कार किया है, जिनसे रोगों की अंशांश स्थिति की जानकारी हो सके। इनका किसी न किसी रूप में हमारे पूर्वज भी रोग निश्चय के लिये प्रयोग करते रहे हैं या उनकी इन्द्रियातीत शक्ति ने इनकी आवश्यकता ही नहीं समझी हो पर यह प्रकट सत्य है कि इनसे भी कहीं उत्कृष्ट रोग विनिश्चय के साधन भारतीय चिकित्सकों के पास रहे हैं जिनसे साधन-संपन्न माने जाने वाले इस विज्ञान से भी जिन रोगों का निश्चय अभी तक नहीं हो पाया है उनको वे वर्षों पूर्व ही कर सके। आज का श्रवण यंत्र (Sthethiscope) हमारे आचार्यो द्वारा व्यवहार में ली जाने वाली उन कनक नलिकाओं का ही परिष्कृत रूप है जो रोगी के हृदय तथा ध्वनिपूर्ण स्थान की अवगति के लिए उपयोग में लाई जाती थी। अणुवीक्षण (Microscope) एक्सरे (X ray) आदि का आविष्कार आचार्यो की सूक्ष्मदर्शन शक्ति, जो आज मानव जगत में क्षीण हो चुकी है "की पूर्ति के लिये नितांत आवश्यक सिद्ध हो रहा है। मानवकृत आविष्कारों से परीक्षित रोगों के विषय अभी भी कई बार सदेहास्पद सिद्ध हो चुके हैं अतः हमें आर्यो के निर्णीत मतों को भुलाकर केवल नवीन आविष्कारों की चकाचौंध में नही पड़ कर इनको आवश्यक सहयोगी उपकरणों के रूप में अंगीकार करना चाहिये।

मलमूत्ररस रक्तादि धातुओं की शुद्धाशुद्ध स्थितिज्ञता के लिये आज की परीक्षण पद्धति हमारे यहां मिलने वाली पद्धत्तियों से भिन्न है। परन्तु इनमें से वे भाग जो यहां लुप्त हैं अथवा हमारी पद्धत्ति को प्रगति का रूप दे सकते हों स्वीकार किये जाने चाहियें।

रोग विनिश्चय में आयुर्वेद का नाड़ी विज्ञान अपना विशेष महत्व रखता है। नाड़ी की गति से रक्त परिभ्रमण व हृदय के दुष्प्रभावों का ज्ञान करना, आज का विज्ञान वैसा ही मानता है जैसा हमारे पूर्वज मानते आये हैं—'पंचभिश्रवणादिभिप्रश्नेन च' के द्वारा रोग विज्ञता में आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान, आयुर्वेद से सहमत होते हुये भी वास्तविक रोग की जानकारी प्राप्त करने की पद्धत्ति में बहुत भिन्नता रखता है। उपरोक्त परीक्षण मार्ग से पाश्चात्य चिकित्सक जहाँ केवल कीटाणु स्थिति एवं शरीर के जीवनीय तत्वों के ह्रास वृद्धि-मत्ता का ज्ञान कर पाते हैं, वहां आयुर्वेदिक प्रणाली से शरीर के प्रत्येक अंश के विकारा-विकार, आंगिक विकारविमर्श तथा शरीर-निर्मापक मूलभूत तत्वो के विकृति ज्ञान को भी कर लेते हैं। दोष धातु मलादिक के परिवर्तन की अंशांश कल्पना से रोग के मूल तक पहुँचने में सफल होना ही, रोग को निर्मूल करने मे सफलता प्राप्त करना है। पाश्चात्य चिकित्सक दोष ज्ञान के अभाव में केवल निदान तक पहुचकर रोगों के लक्षण मात्र की चिकित्सा कर पाता है, रोगों को मूलतः निर्मूल कर देना इस पद्धति के सामर्थ्य के बाहर है।

इस प्रकार रोग विनिश्चय के उत्तम प्रकार, जो कभी चिकित्सा पद्धतियों को किसी न किसी रूप में आयुर्वेद से ही प्राप्त हुये हैं यह हमारे ऋषि मुनियों की संसार को अमर देन है। इसका विकास, इसकी नवीनतम व्याख्यायें करके संसार को रोग मुक्ति दिलवाने में आयुर्वेद को प्राथमिकता दिलवाना, आयुर्वेद शास्त्रियों का मुख्य कर्तव्य है।

आज वैज्ञानिक परीक्षणों से प्रकृति में जो विकार हो रहे हैं और उनको हमारे आहार विहार पर होने वाले दुष्प्रभावों से जिन रूपान्तरित रोगों की उत्पत्ति हो रही है, उसके उन्मूलन के लिये हमारे निदान के प्रकारों की व्याख्यायें भी स्पष्ट व परिष्कृत करने की आवश्यकता है। मलमूत्र, रक्त, एवं अंतर्व्रणो के परीक्षण हेतु हमें या तो हमारे पुरातन साधनों को प्रवृद्ध करना होगा या हम आधुनिक इन साधनों की स्वीकृति के लिये तैयार हों।

प्रति संस्कार की दृष्टि से आज के प्रचलित कीटाणुवाद के सिद्धान्त के सत्यांशों का रोग विनिश्चति प्रकार में स्वीकार किया जाना बुरा नहीं है। क्योंकि यह सब हमारे उस अगाध आयुर्वेद शास्त्र का ही एक श्रोत है जो एक दिशा मे अपना प्रवाह बनाये हुये हैं।

इस प्रकार आयुर्वेदीय रोगविनश्चय सरणी के उक्त प्रकारों को रोगों की हेतुजता के लिए आधारभूत तत्व मानकर किये गये हमारे नवीन प्रयत्न अवश्य सफल होंगे।

शिशु जन्म

लेखिका : शकुन्तला आचार्य, वैद्यविशारद, विद्याविनोदिनी, भाषारत्न

[सौ० श्रीमती शकुन्तला आचार्य श्री हरिशङ्करजी आचार्य की सहधर्मिणी है। आप चरित्रनायक की आयुर्वेदीय प्रशिष्या हैं। आपने 'शिशु जन्म' पर छात्रोपयोगी लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

जन्म के पश्चात् शिशु का पालन, धात्री के गुणदोष, तथा धात्री का क्षीर परीक्षण। यदि क्षीरदोष हो तो संशोधन, दूषित दूध के पीने से कौन २ से रोग हो जाते हैं, तथा उनकी चिकित्सा इसके साथ ही ग्रहदोषों से पैदा होने वाले विकार और चिकित्सा तथा बालरोग आदि का वर्णन जहां किया जाय उसे कौमार भृत्य कहते हैं। आयुर्वेद के आठ अंगों में एक अंग यह भी है।

शिशु के जन्म होते ही उसके कान के पास शब्द करना, शीतोदक या उष्णोदक से परिषेक कर नाड़ी संस्थान को क्रियाशील बनाए जिससे कि उसका जीवन व्यापार प्रारम्भ हो जाय। फिर रूई का प्लोत लेकर जीभ, कण्ठ, ओष्ठ व देह का शोधन करे।

जातमात्रं विशोध्योल्बाद् बाल सेंधव सर्पिषा।
प्रसूतिक्लेशित चानु बलातैलेन सेचयेत्।

बलातैल से सेचन तथा क्षीरी वृक्ष कषाय सर्वगन्धोदक, रुप्य हेम प्रतप्त जल से स्नान अवगाहन कराए। फिर नर्म तौलिये से सुखा नर्म शय्या पर पूर्व दिशा में सिर कर सुला कर रक्षोघ्न द्रव्यों से धूपित तथा कुछ द्रव्य वज, तिल, अलसी, सरसों चारों ओर बिखेर दे, सूतिकागार को उष्ण रखे तथा शिर पर तैलपिचु प्रतिदिन रखे।

घर में स्तुति, शान्तिपाठ, गीत आदि मंगलाचार करें। कि दुग्धवह स्रोतों का मुख प्रजाता के तीन या चार दिन बाद खुलने से दूध प्रवृति होती है अतः प्रथम दिन मधुसर्पि-मन्त्र पवित्रित, दूसरे दिन लक्ष्मणासिद्धसर्पि, ऐसे ही तृतीय दिन; इसके बाद प्रथम दूध को निकाल कर बाद में स्तन पान कराए।

दस रात्रि बीतने पर ग्यारहवें दिन सर्वगंधौषध व गौरसर्षप सिद्ध जल से शिशु सहित प्रसूता को स्नान करा पवित्र वस्त्र तथा पवित्र आभूषण धारण कर शिशु के नक्षत्र देवता की पूजा कर शिशु को भी पवित्र वस्त्र पहिना स्वस्तिवाचन मंगलाचरण कराने के बाद नक्षत्र नाम तथा अभिप्रायिक नामकरण की योजना करे। फिर शरीर अवयव तथा उपांगों से शिशु की आयु-परीक्षा कर कुमारागार में सुखकारी मृदु शुद्ध शय्या पर सुला कर रक्षा विधान करे। मणि, शृंग का अग्र भाग जीवक ऋषभक आदि द्रव्य तथा घोषवन्त सुन्दर, लघु मुख में नहीं आने योग्य सौम्य खिलौने रखे।

शिशुपालन–

बच्चे को नहीं डराए, न झिड़के, अचानक न जगाए, अचानक न ले, न फेंके, न बैठाए, अपितु वात्सल्य के साथ सैंकड़ों प्रिय वस्तुओं से प्रसन्न मन बनाए रखे। अधिक वायु, धूप बिजली की रोशनी, वृक्ष, लता, शून्य स्थान, निम्नस्थान ग्रहच्छाया आदि से रक्षा करे। छठे माह मे अच्छा दिन देख कर पवित्र स्थान में उपवेशन (बैठाना) शुरू करे। बैठाना शनैः २ बढ़ाए तथा मिट्टी से ध्यान रखा जाए।

धात्री–

समानवर्ण, जवान विनीत, नीरोग व्यंग, व्यसन, रहित, समान देश की, न लम्बी, न हो ठिगणी, पुत्रवती, अधिक दूध वाली, क्रियाशील, चरित्रवान्, दक्ष, पवित्र, अच्छे स्तन व दूध वाली रखे।

मातुरेवपिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये।
रक्षत्येव सुतं माता नान्य पोष्टा विधानतः॥

स्तनसपत्–

जो न लम्बे, न कृश, न मोटे, न ऊँचे, युक्तचूचुक हों, बच्चे को स्तन देने के पूर्व थोड़ा दूध निकाल ले। यदि उन पर स्वेद व मल हो तो धोकर पिलाए।

दुग्ध की अधिकता होने पर दुग्धाकर्षकयन्त्र से निर्दोहन करे तथा इमली के पत्ते (पुटपत्र) तथा ताम्बूलपत्र कपूर लगा कर बाधे। ½ रत्ती की अल्पमात्रा में उदर में भी प्रयाग करना चाहिये।

शिशु के मनोविज्ञान को जानना, स्वच्छताप्रिय, स्वास्थ्य रक्षा का ज्ञान, आहारव औषधिद्रव्यों का संक्षिप्त ज्ञान, प्रत्युत्पन्नमतित्व, मर्यादित प्रेमवाली व ब्रह्मचारिणी धात्री के गुण हैं।

स्तन्यनाश-दूध की कमी–

क्रोध, शोक, वात्सल्य की न्यूनता, रुक्ष अन्नपान, अपतर्पण काम, आयास, भय तथा गर्भधारण से दूध कम हो जाता है।

उपाय—

सौमनस्य बनाए रखना, तथा उशीर, दर्भ, शालि, कुश, षष्टिक, काश, इक्षु, गुन्द्रा, शर आदि के मूल से सिद्ध दूध पिलाए। खिचड़ी, दलिया तथा सौभाग्य शुण्ठी पाक आदि का प्रयोग करे।

दुग्ध परीक्षा—

जो दूध पानी में सत्वर मिल जाए तथा उसमें किसी भी प्रकार का वर्ण न रहे तथा मधुर रस वाला उत्तम है।

स्त्री दुग्ध के गुण—

जीवन, बृहण, सात्म्य, स्निग्ध, स्थैर्यकर, शीतल, चक्षुष्य, बल्य, लघु, दीपन, पथ्य, पाचन रोचन गुण वाला है। स्त्री दुग्ध के अभाव में बकरी का या गाय का दूध दें।

क्षीर-दोष आठ है—

विवर्णता, विगन्धता (पित्त), विरसता, फेनाधिक्य, रुक्षता (वायु), गुरुता, अतिस्निग्धता, पिच्छिलता (कफ)।

क्षीरदोष के कारण—

गुरु, विषम आदि मिथ्याहार विहार से दोष कुपित होकर दूध को दूषित करते है।

वात दुष्ट दुग्ध से—

कृश, दुर्बलस्वर, मलबद्धता: आध्मान बलह्रास रहता है।

पित्त दुष्ट दुग्ध से—

बच्चे की विवर्णता, तृषाधिक्य, मलभेद, उष्णशरीर होता है।

कफ दुष्ट दुग्ध से—

वमन, लालास्त्राव, निद्राक्लम, श्वास, कास, कफ प्रसेक रहता है।

स्तन्य दोषों का विनिश्चय कर वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन आदि उपकर्मो से संशोधन कर पाठा, सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रजव, कुटक, चिरायता, अनन्तमूल का कषाय या वचादिगण व हरिद्रादिगण, मुस्तादिगण का कषाय पिलाये। पथ्य आहार दें।

पथ्य—

शालि, षष्टि चावल, श्यामा, प्रियंगु, जव।

शाक—

वंश, वेत्र, कलाय, दाल, मूंग, मसूर।

कुलत्थ, मांस

शश, कपिंजल, एण आदि दें।

इनके अभाव में या अत्यावश्यक होने पर परिशुष्क दुग्ध Dried Milk या वधनीकृत condensed Milk का प्रयोग किया जा सकता है।

स्तन कीलक—

यह रोग स्तन्यवहस्त्रोतों में (वज्र द्रव्यों के निक्षेप से स्तम्भ, संरम्भ शोथ, शूल दाह पाकादि उत्पन्न कर देते हैं—इसमें स्नेहन, निर्दोहन, मर्दन, सेक, प्रलेप रेचनादि क्रियाएं अपक्वावस्था में तथा पाक होने पर विद्रधिवत् पाटन शोधन रोपण करे।

स्तन की रचना में बताया गया है कि ग्रन्थियों से दुग्धहारिणी चूचुक में आती है, इन अवकाशों में यौवनागम में वसा संचित होती है जिसमे ऋतु चक्र भी प्रभावी होता है परन्तु गर्भावस्था में डिम्बग्रन्थि, पीताण्ड व पोषणिका के अंत स्रावों से इनकी विशेष पुष्टि हो जाती है जो कि प्रसवोपरान्त दुग्ध की प्रवृत्तिकर होता है।

शिशु के जन्म के बाद कुछ थोड़ा भार घटता है परन्तु १५ दिन में उसका भार ७ पौन्ड हो जाता है। इसके बाद ४' से ६ औन्स प्रति सप्ताह के हिसाब से ६ माह तक बढ़ता है। यह उसके आहार के पचन होने में निर्भर है।

जन्म के ६ से ८ घन्टे बाद स्तनपान कराए फिर प्रति तीन घन्टे से, पहले दिन १-१ मिनट परन्तु एक सप्ताह में १० मिनट व प्रति तीन घन्टे से रात्रि में २ बार तथा यह ध्यान रखे दूध पीने में शिशु को कष्ट न होवे, तथा नासा मार्ग खुला रहे, साथ ही शिशु को ३-४ बार थपाथपा दें जिससे उसकी उद्गार शुद्धि हो जाय

दुग्ध की मात्राधिक्य से उदरशूल अतिसार, रात्रि मे बेचैनी, वमन आदि लक्षण हो जाते हैं तथा स्वल्पता से निबन्ध, भार की कमी, होती जाती है। ऐसी स्थिति में ऊपर का दूध दें। यदि गौ दुग्ध देना हो तो दूध ३ औन्स जल १ औन्स शर्करा १½ चम्मच इसे एक मुखी या दुमुखी बोतल में डाल चूषणी लगा कर प्रयोग करें। इसे प्रति दिन स्वच्छ रखें। ब्रुस से साफ करे। चूषणी बड़ी रखें। इसका छिद्र छोटा हो जिससे कि चूसने में १० मिनिट का समय लग सके। ऋतु के अनुसार दूध की उष्णता रखे। या सर्वदा गर्म किया दूध ही प्रयोग मे लाएं।

अन्नप्राशन—

छः माह के बाद दूध के साथ दिन मे १ बार दलिया, यूष आदि दें।

शिशु का भार—

जिन शिशुओ का भ्रूणावस्था मे सम्यक् पोषण नही होता या जिनका प्रसव समय से पूर्व हो जाता है अथवा बीज दोष है तो उनका भार ठीक नही होता अर्थात् २½ किलो

भार से कम का शिशु अपूर्ण शिशु तथा इससे अधिक भार होने पर व लम्बाई २० इन्च हो तो पूर्ण शिशु कहलाता है।

अपूर्ण शिशु The premature ingant में लम्बाई कम, उपत्वचागत स्नेह की न्यूनता से झुर्रियांयुक्त प्रारम्भ में लाल परन्तु कुछ दिन बाद पीलीसी रोमयुक्त, दुर्बल स्वर, तापन न्यून, शोथयुक्त होते हैं।

असाध्यावस्था-

भारालपता, अस्थाई, तापक्रम, श्यामवर्णता, गर्भविषमयता, से उत्पन्न अपूर्ण शिशु असाध्य है।

साध्यता-

बड़ी आकृति, स्थाई तापक्रम पर्याप्त दूध पीने में समर्थता, स्वास्थ्य में सुधार होते रहने पर साध्यता कही जाती है।

अपूर्ण शिशु की चिकित्सा के बारे में याद रखने योग्य—

(१) शिशु को जन्म स्थान पर ही रखा जाय, (२) अत्यावश्यक होने पर मातृ मन्दिर भेज दिया जाय, (३) शीत से रक्षा, तथा शिशु के उष्णता को जांच, तथा द्रव की पूर्ति बनाये रखना, तथा धीरे २ स्नान तथा प्रत्येक उपसर्ग से बचाव करना। तथा ऐसे शिशुओं को बोतल पर लगी चूषणी (ब्रेक फीडर) द्वारा दूध का प्रयोग करें। यदि निगलने की भी शक्ति का अभाव हो तो नलिका पोषण का आश्रय लें। साथ ही दुग्ध मे जल मिलाकर दें तथा इसकी मात्रा का निर्धारण करे। $\frac{1}{2}$ ड्राम से $1\frac{1}{4}$ तोले तक प्रति घंटे या २ घंटे बाद दिया जा सकता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर मात्रा आवश्यकतानुसार बढ़ाते रहें।

बच्चों के ग्रह

ले० वैद्य प्रेमसुन्दर यति

[स्वनामधन्य वैद्यरत्न, आयुर्वेदकेशरी श्री प्रेमसुन्दरजी फलोदी निवासी, जीवन के प्रत्येक पहलू से सांसारिक पदार्थों का रसास्वादन करते हुए, जल में कमलवत् रहने वाले, यतिवर्य वैद्यराज श्री चरित्रनायक के आयुर्वेदीय शिष्य है। आपने 'बच्चों के ग्रह' पर पठनीय लेख लिखा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

भगवान् शंकर ने कार्तिकेय की रक्षा के लिए स्त्रीविग्रह ७ तथा पुरुष-विग्रह ५ ग्रह बनाये जो माता या धात्री के अपथ्य उपचार के सेवन से तथा मूत्र पुरीष आदि मलों की शुद्धि न करने से स्वस्तिक तथा मंगलाचार, रक्षा विधान आदि के न करने से ये ग्रह शिशु तथा शिशु के अभिभावकों को उद्विग्न, विभोषिका तथा अपनी पूजा के लिये कुमार या कन्याओं पर आक्रमण करते है।

ग्रहोपसृष्ट शिशु में सतत रोदन ज्वर, रुपमुन्त्रास, जृम्भा, भवें गिरना दीनता, फेनवमन, ऊर्ध्वदृष्टि, ओष्ठ-दंशन, निद्रानाश, स्तन्यद्वेष, स्वर-विकार, क्षण क्षण मे उद्वेजन व रोदन, क्षाम, शूनता, विड्भेद, रक्त-मांस मत्स्य, खटमल की तरह गन्ध, दुर्बलता तथा संज्ञानाश आदि रहते हैं। इनका पृथक २ ज्ञान के लिए—

नामग्रह	लक्षण		परिषेचन	अभ्यंग	क्षीर, सर्पि	धूपन	औषधिधारण	रक्तमाला	लेप
१ स्कन्द	रक्त वसा-गन्धी, स्वेदस्राव, मुखवक्रता, स्तनद्वेष उद्विग्नता, दन्तरवादन, विस्वर, गाढवर्च, शिरोविक्षेप, अङ्गस्तब्धता, कम्पन	In & antile Hemiplegia	एरडपत्र, बिल्व रास्ना पत्र से	बला, नारायण, प्रसारिणी-तैल	देवदारु, रास्ना मधुक महुआ खिरणी	सर्षप सर्पनिर्मोक वचा, उष्ट्र, अजा रोम घृत	गुडूची, दूर्वा शमी, इन्द्रायण-मूल	स्वस्त्ययन	
२ स्कन्दा-पस्मार (विशाख)	संज्ञानाश, फेनवमन, अतिरोदन, पूय-रक्तगन्धि, केशलुचन, विनतकन्ध, स्तन-जिह्वादंश	Epilepsy	बिल्व, दूर्वा शिरीष, सुरसादि	सर्वगन्ध सिद्धतैल वचा हिंगु		गीध, उल्लू केशविट् हस्तीनख वृषभरोम	अनन्ता, बिम्बी कपिकच्छु	पक्वापक्व-मांस रुधिर, पय गर्त में रखना	
३ शकुनि	पक्षीगन्धी, भय, चकित, मुख में स्रावीव्रण, स्फोट अतिसार ज्वर, सन्धिशूल, गुदपाक	Inglammatory con: dition of the Buco-gastrointestinal tract	वेतस आम्र कपित्थ पत्र	काकोल्यादि क्षीरी, कषाय सिद्धतैल					मधुयष्टि उशीर ह्रीबेर, सारिवा
४ रेवती	मुखरक्ता, पाण्डुता, (पीत, श्याम, हरा) सव्रणजिह्वा शूल-वमन, अतिसार, प्लीहोदर, स्तब्ध नेत्रता, श्वास कास, ज्वरातीसार, विसर्प, आनाह, निद्रानाश	(Pellagra) Pernicious Anaemia	अश्वगन्धा शृंगी सारिवा, पुनर्नवा कंटकारी, विदारी	कुष्ठ-सर्ज-रस सिद्ध-तैल	धातकी, धव, दाडिम, मधुयष्टी, काकोल्या दिगण	उल्लू-गीध-पुरीष रोम यव, घृत कटुका, अलाबू	वरुण, निम्ब पुत्रजीवक चित्रक	बलि होम नदी संगम में स्नान	पद्मक, रोध्र एलादिसर्व गन्धद्रव्य
५ पूतना	वमन, मलभेद तृष्णा, तन्द्रा कम्प, रोमहर्ष, बेचैनी, मूत्रनिग्रह	Epidemic Diarrhoea	श्योनाक, वरुण	वचा, ब्राह्मी दूर्वा, शाल	काकोल्यादि खैर, चन्दन,	देवदारु, वचा, हींग	इन्द्रवारुणी, बिम्बी गुंजा	कृशरा, मत्स्यौदन	

			n children	शोभांजन सारिवा, करज	कुष्ठ मनः शिला सिद्धतैल	अर्जुन	कुष्ठ, एला		बलि चतुष्पथ में कच्चा मांस
६	अन्ध-पूतना	अल्लगधता, मज्वरच्छर्दि, कास, हिक्का, तीक्ष्ण स्वर मे रोदन, अतिसार, कण्डू, पोथकी, स्तन्यद्वेष	Bacilary Dysentry	निम्बादिति कद्रव्य पत्र सर्वगन्ध	सुरा, हरिताल शिलारस सिद्धतैल	मृद्वीका, दुग्धी मधूक नागकेश	कुक्कुट-पुरीषिरोम चर्म, सर्प निर्मोक	शिम्बी, अनन्त अजमोद	
७	शीतपूतना	उद्विग्नता से कपन, तन्द्रायुक्त, आंखे चढाना, वसागन्धो, अतिसार, अन्त्रकूजन, कास	Choleric Diarrhoea	काकजंघा बिम्बी, बिल्व	मुस्ता, देवदारु कुष्ठ, सर्वगध	रोहिणी, खदिर अर्जुन पंचकोल	गृध्र, उल्लू पुरीष निम्बपत्र, अहिस्त्वचा	गुंजा, कटुतुम्बी	मूंग, रुधिर
८	मुखमण्डिका	दुर्बलता, रमणीयता, बहु आशी, उदर पर सिरा दर्शन, उद्विग्न, गोमूत्रगन्धी	Parenchymatous. Nephritis	कपित्थ, बिल्व, अरणी एरड पत्र	बिल्व, अश्व गंधासिद्धवसा	काकोल्यादि गण	वचा, राल, कुठ घृतयुक्त	सर्प चाप जिह्वा	पारा, शिला रसांजन आटे में मिला बलि
९	नैगमेष	फेनवमन. सोद्वेग क्रन्दन, दांतों से ओष्ट काटना, ज्वर वैवर्ण्य, वसा—आम गन्धी मूर्छित, आध्मान, अन्त्रकूजन, स्पंदन, कास, हिक्का, निद्रानाश, एक नेत्र में शोथ, शोष	De hydration	बिल्व, अरणी पूतिकरंज पत्र क्वाथ, तेल सुरासौवीरयुक्त	प्रियंगु, सौफ गोमूत्र दधि कांजिकसिद्ध	दशमूल मधुर द्रव्यसिद्ध	सर्षप, वचा, हींग कुष्ठ, अजमोद, उलूक, बन्दरमल	वचा, क्षीरकाकोली जटामासी	तिल, चावल, पुष्प भक्ष्यद्रव्य बड के नीचे रखे
१०	नन्दिनी	ज्वर गात्रशोष, स्वेद, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, कम्प, विस्वर	Vomiting with & ever						

दांतों की उत्पत्ति

लेखक : व्यास मूलराज, जोधपुर

[वैद्यराज श्री मूलराज पुष्टिकर, चरित्रनायक के आयुर्वेदीय सेवाभावी शिष्य है। आपका 'दांतों की उत्पत्ति' पर लेख छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

बाल—अवस्था तीन प्रकार की है (१) क्षीरप एक वर्ष तक (२) क्षीरान्नाद दो वर्ष तक (३) अन्नाद दो वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक। आठवें माह से बच्चों में दन्तोद्भव होने लगते हैं—इनकी उत्पत्ति में अस्थि तथा मज्जा कारण हैं। ये काल परिणाम के साथ दन्ताशय मे आकर हनु में ऊपर व नीचे उत्सेधकर दंत मांस में संघट्टन होता है। इससे शिशु मे रोमहर्ष लालास्राव, कंडू तथा काटने की सी चेष्टाये होती हैं। 'दन्तोद्भेदश्च सर्व रोगायतनम्' इस अवस्था में बच्चों के नाना वेदनायें होती हैं। अत: इनका आठ मास के बाद निकलना अधिक अच्छा है। इनमें जितना विलम्ब होता है उतना ही कष्टप्रद है। क्योंकि कफयुक्त वायु जब हनुमूल में स्थान संश्रय कर दन्त प्रदेश में संकोच कर दन्तोद्भेद में विलम्ब कर देता है। इस समय ज्वर, शिरःशूल, तृष्णा, भ्रम, अभिष्यन्द, कुकूणक, पोथकी वमथु, कास, श्वास, अतिसार, विसर्प आदि हो जाते है।

दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्।
विशेषाज्ज्वरविड्भेद कासच्छर्दि शिरोरुजाम्॥

पूर्ण युवावस्था में ३२ दांत होते हैं। उनमें ८ एक बार पैदा होने से स्व-रूढ-दन्त तथा २४ दो बार होने से द्विज कहलाते है।

मध्य के राज दन्त	Central Incisors	२
पार्श्व के बस्त ,,	Lateral maisors	२
दंष्ट्रा ,,	Canines	२
स्वरूढ़दन्त	Pre molars	२

प्राय: कन्याओं में दांत सुषिर होने से बिना पीड़ा के परन्तु कुमारों में घन होने से पीड़ा के साथ उत्पन्न होते है। दांतों का निषेक, आकृति, उद्भेद, वृद्धि, पतन, पुनर्भाव,

निवृत्ति, स्थिति, क्षय, चलन, दृढ़ता, दुर्बलता आदि जन्म विशेष से, माता पिता के अनुसार या अपने कर्म विशेष के अनुसार अथवा देह के उपचय तथा अपचय आदि पर निर्भर है।

दन्तोद्भेदकाल	परिणाम
चौथा माह	दुर्बल, क्षययुक्त, रोगयुक्त
पांचवां माह	फड़कन तथा हर्षयुक्त
छठा माह	मलयुक्त, विवर्ण, टढे-मेढे
सातवां माह	स्फोटयुक्त, रेखायुक्त, रुक्ष, विषम
आठवां माह	सर्वगुण सम्पद्

दन्त सम्पद—पूर्णता, समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, दन्त बन्धनों का ठीक होना, अरुणीय, स्निग्धताघन एवं स्थिरमूलता, दन्त-सम्पद् है।

दन्त बन्धन (मसूड़ों के) दोष, हीनोल्बण, श्वेतता, अश्वेतता आदि दन्त बन्धन, के दोष हैं।

कुछ लोगों की मान्यता है कि दन्तोद्भेदकाल में मसूढों में शस्त्र क्रिया करालें परन्तु इससे दन्त विकृति हो जाती है। अतः इस काल में कठोर खिलौने दे। यवक्षार मधु का मर्दन करे। तथा माता के आहार में सुधा तथा जीवनीय डो की प्रचुरता रहे।

दन्तोद्भेदगदान्तक रस, पचामृत वटी आदि दें। बच्चों में चार वर्ष की आयु से दन्त धावन का प्रयोग करें। दन्त धावन—ऋतु, दोष, रस, वीर्य को ध्यान में रखते हुए नीम, बबूल, महुआ या करंज का। इनके अभाव में मंजनों का प्रयोग करे।

बच्चों की रोग-परीक्षा

लेखक : वैद्य रामलाल जोशी

[श्री जोशी एस. जे. ए. विद्यालय के स्नातक है। आप आयुर्वेदरत्न होने के साथ चरित्रनायक के शिष्य हैं। इस समय राजकीय सेवा में कार्यरत हैं। आपके लेख कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है। श्री जोशी का 'बच्चों की रोग-परीक्षा' नामक लेख छात्रोपयोगी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

बालकों की परीक्षा में विशेष सावधानी बरतना आवश्यक है। इनके आहार, वृद्धि, पारिवारिक वृत्त, पूर्व रोग वृत्त तथा वर्तमान रोगवृत्त के बारे में जानकारी प्राप्त करे। दर्शन परीक्षा में शिशु की आकृति, उदरवृद्धि, वक्ष की रचना, शीर्ष वृद्धि, नाड़ी तथा श्वासगति को देख कर, स्पर्शन परीक्षा नातिशीतोष्ण मृदु हाथ से पहिले ब्रह्मरन्ध्र कपालास्थियों के उभार, ग्रैविक ग्रन्थियां व श्वसन की तरंगों का, हृद्गतिका, उदर पर यकृत, प्लीहा, आध्मान व वेदना आदि को समझे। श्रवणपरीक्षा भी सुखोष्णपाणि से उद्श्वास, निःश्वास, वायुग्रहण, मर्यादा, कठोरता, तथा हृदय के शब्दों का श्रवण करें। वात संस्थान की परीक्षा में पेशीकाठिन्य, पादतल की प्रत्यावर्तन क्रिया, मल-मूत्रादि वेदना की परीक्षा करे।

	वेदना	लक्षण
१	शिरोरोग	शिरः स्पन्दन, चक्षुनिमीलन, अवकूजन (सोते २)
२	कर्णशूल	शिर को घुमाना, कान को छूना, अरति, अरुचि, निद्रा
३	मुखामय	लालास्राव, स्तनद्वेष, वमन, नासाश्वासी
४	कठपीड़ा अर्दित	स्तनपान में क्षीर इतस्ततः बिखेरना, सन्ताप, अरुचि, ग्लानि, विष्टंभ
५	अधिजिह्विका	लालास्राव, अरुचि, ग्लानि, कपोल में शोथ, मुख विवृति
६	गलग्रह	ज्वर, अरुचि, लालास्राव, निष्ठीवन,
७	कठशोथ	ज्वर, अरुचि, शिरः शूल
८	ज्वर	सन्ताप, जृंभा, कास, स्तनद्वेष
९	अतिसार	वैवर्ण्य, ग्लानि, अनिद्रा,

१०	उदरशूल	उत्तान सुलाने से रोना, स्तनपान स्तब्धता, शैत्य, स्वेद, Peritonitis
११	छर्दि	विना कारण के उद्गार, निद्रा, जृंभा,
१२	श्वास	निष्ठीवन, वक्ष की उष्णता,
१३	हिक्का	श्वास के साथ उद्गार,
१४	तृष्णा	अत्यधिक स्तनपान से भी रोदन, ओष्ठशुष्कता दौर्बल्य,
१५	आनाह	आंखे फैली हुई, स्तब्धता, पर्वभेद: अरति, क्लम, मूत्रावरोध, मलावरोध, वातावरोध,
१६	अपस्मार	अचानक अट्टहास
१७	उन्माद	प्रलाप, अरति, वैचित्र्य,
१८	मूत्रत्याग में शूल	मूत्रप्रवृत्ति के समय रोमहर्ष,
१९	मूत्रकृच्छ्र	वस्तिस्पर्शन, मूत्र त्याग के समय ओष्ट दंशन,
२०	प्रमेह	मूत्र में गुरुत्वाधिक्य, मक्षिका, वर्णश्वेत, घन,
२१	अर्श	मलबद्धता, रक्तदर्शन, गुदकण्डू
२२	अश्मरी	मूत्र त्याग में शूल, कष्ट, बच्चे का रोना,
२३	विसर्प	रक्तमण्डलोत्पत्ति, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति
२४	विशूचिका	निष्ठीवन, हृच्छूल, सूचीभेद नवत् पीड़ा
२५	अलसक	शिरोलोठन, जृंभण, स्तनद्वेष, वमन, विषाद, आध्मान, अरुचि
२६	चक्षु रोग	दृष्टिव्याकुलता, तोद, शोथ, शूल, अश्रुप्रवृत्ति, सोनेपर उपलेप,
२७	शुष्ककण्डू	अंगघर्षण, खरता—
२८	आर्द्रकण्डू	शोथ, स्राव दाह, शूलयुक्त
२९	पाण्डु	नाभी के चारों ओर शोथ, मुख, नाक, आंख - श्वेतता, अग्निसाद, अक्षिकूट शोथ,
३०	कामला	चक्षु, नख, मुख, विण्मूत्र पीतता, निरुत्साह, अग्निमांद्य,
३१	पीनस	स्तनपान के समय मुख से श्वास ले, नासा-मुख स्राव संतप्तललाट, श्वासाधिक्य—

शिशु की प्रकृति, रोगोत्पत्ति का कारण पूर्वरूप, रूप उपशय, आदि से परीक्षा करे।

चिकित्सा—

बच्चों की औषधि मधुर प्राय, लघु, अच्छी गंधवाली, शीतगुण, शामक औषधियों का प्रयोग करें। क्षीर के साथ देकर ऊपर स्तनपान कराए। अथवा रोग हर द्रव्य का कल्क कर स्तन लेप कर बच्चे को स्तनपान कराए।

क्षीरप की मात्रा	२ रत्ती
क्षीरान्नाद	४ रत्ती
अन्नाद	८ रत्ती

आयुर्वेदीय अनुसंधानपद्धति

लेखक- आचार्य श्री हनुमत्प्रसाद शास्त्री

[स्वर्गीय शास्त्रीजी भारत के पंडितमार्त्तण्ड, विद्याभूषण, विद्यावागीश रहे। आपने अध्ययन के बाद हरनन्दराय रूइया संस्कृत विद्यालय रामगढ़ में प्राचार्य पद कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया। उसी पद पर रहते हुए आपने आयुर्वेदाध्ययन किया। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर की स्थापना के उपरान्त भारत के उच्चकोटि के विद्वानों के आह्वान पर आप जामनगर में पधारे। आपके कार्यकाल में जामनगर में संस्कृत के विद्वानों में आपकी वाणी का सर्वत्र आदर किया जाता रहा। वहां की सेवा से निवर्तमान होकर आप संस्कृत सम्मेलन के कार्यवाहक प्रधान संपादक दिल्ली रहे। आप अच्छे विद्वान, वक्ता तथा लेखक रहे हैं। आपका आयुर्वेदीय अनुसंधान पद्धति नामक लेख अनुसंधान करने वाले व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन करेगा—ऐसी आशा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद में अनुसन्धान, गवेषणा, अन्वेषण, खोज, ऋष्यर्चा (रिसर्च) आदि शब्दों का प्रयोग कुछ ही वर्षों में होने लगा है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त चोपड़ा कमेटी की रिपोर्ट के पूर्व तो आयुर्वेद की वैज्ञानिकता पर ही सन्देह था। यदि कोई पद्धति वैज्ञानिक ही नहीं है तो, उसमें अनुसन्धान कैसा और उसका लाभ भी क्या? पहले यदि 'सर्च' हो गई है तो, फिर उस पर 'रिसर्च' हो सकती है। उक्त रिपोर्ट में आयुर्वेद को पर्याप्त समर्थन मिलने पर अनुसन्धान का उपक्रम चला और सर्वप्रथम जामनगर में 'केन्द्रीय आयुर्वेदानुसन्धान संस्था' खुली और अनन्तर 'आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र' खुला। राज्यों में तथा दूसरी संस्थाओं में भी इस दिशा में पादप्रक्रम हुआ।

जहां जो कुछ हुआ या हो रहा है, वह सब उत्तम है। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि अनुसन्धान की इन व्यवहृत पद्धतियों से वैद्यबुभूषु छात्रों को क्रमबद्ध रूप से आयुर्वेदीय रोगविज्ञान, भेषजपरिचय, भेषजनिर्माण, चिकित्सारीति आदि के पदार्थविज्ञान-युत आर्ष साहित्य के संकलन करने की परिपाटी ज्ञात हुई, निबंध लिखने आये और शास्त्रीय विमर्शों को कुछ व्यवस्थित रूप देने की योग्यता प्राप्त हुई। धीरे-धीरे अन्य विज्ञान भी बढ़ते जाने की आशा करनी चाहिए।

परंतु यह सब कुछ हुआ है ऐलोपैथ डाक्टरों के निर्देश पर। यह सर्वविदित है कि आज तक किसी भी भारतीय ऐलोपैथ डाक्टर ने नव्यचिकित्सा विज्ञान में किसी भी प्रकार की गवेषणा का कोई चमत्कार नहीं दिखाया। वे ही सब विदेशों से आये हुए विविध शस्त्र, यन्त्र, उपकरण, औषधियां आदि उनके पास हैं जिनके शिल्पाभ्यास से वे तद्रूप होकर भारतीयता को विस्मृत कर चुके हैं। जिस प्रकार ऐलोपैथी में एक बार किसी असत् सिद्धान्त को अपनाया गया और कालान्तर में उसमें त्रुटि प्रतीत हुई तो उसे छोड़ कर दूसरा सिद्धांत पकड़ लिया गया, बस ! इसी प्रकार की पद्धति आयुर्वेद के क्षेत्र में भी गवेषणा के नाम से प्रचारित करने का उद्योग हो रहा है और हो सके तो आयुर्वेद के कतिपय सिद्ध प्रयोगों को ऐलोपैथी में सम्मिलित कर आयुर्वेद को धत्ता बता देने की भी नीति चल रही है।

जो कार्य सहस्राब्दियों से वैद्यों द्वारा सुचारु रूप से किया जा रहा है, उसमें पुनः पुनः घर्षण से समय, धन आदि का अपव्यय समुचित नहीं कहा जा सकता। अच्छा तो यह है कि इस प्रकार के गवेषणों को अन्तर्द्वारिक या बहिर्द्वारिक चिकित्सालयों और दातव्य वा व्यक्तिगत औषधालयों को सौंप कर यह आदेश दे दिया जाय कि वे व्यवह्रियमाण औषधियों का प्रतिशतक निकाला करें कि एक ही रोग से ग्रस्त इतने रोगियों पर अमुक औषधि ने प्रतिशत इतना लाभ पहुँचाया और अमुक ने इतना। इस प्रक्रिया से प्राप्त परिणामों को सामयिक पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित कर सर्वसाधारण के लाभार्थ निहित कर दिया जाय। यदि विफलता मिले तो उसकी भी घोषणा कर दी जाय। एक पंथ कई काज।

इस प्रकार के परीक्षण पहले न हुए हों और उनकी व्यर्थता न घोषित की गई हो, सो बात नहीं है। इस विषय का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। देखिए—

अस्मिन् लोकेऽथवाऽमुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये॥
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥ (श्रीमद्भागवत ४, १८, ३-५)

ये वचन आदिराज पृथु के प्रति पृथ्वी के हैं जब कि वे ऋषियों द्वारा गवेषित उपायों को छोड़ कर पृथ्वी को दण्डित करते हुए नए ही रूप में अन्नादि की उत्पत्ति के उपायों का अवलम्बन करना चाहते थे। उन्हें बतलाया गया कि भूमंडल पर ब्रह्मादि लोकव्यवस्थापकों द्वारा जिन औषधि, वनस्पति आदि का आविष्कार हुआ था कृषि द्वारा उनके परिवर्तन का तो कुछ उपाय हुआ नहीं; किन्तु लफंगे लोग उन्हें बिना परिश्रम किए बैठे बैठे खा गए। जब वैज्ञानिक पद्धति का अनादर कर मनमाने अपरीक्षित ढंग से जमीन में

बीज फेंक दिए गए तो वे सड़ गल कर व्यर्थ ही चले गए। बार-बार ऐसी विफलता प्रजा को मिल रही है। यदि आप सफलता चाहते हैं तो जो वैज्ञानिक मार्ग निश्चित हो चुके हैं उन्हें अपनाइये और आगे गवेषणा कोजिए। यही बात विज्ञान के सभी क्षेत्रों के लिए लागू होती है। सब में देश काल आदि का विचार करना पड़ता है।

आयुर्वेदानुरूप उनमें औषधियों के निश्चित प्रयोगों में केवल यही अपेक्षित है कि एक-एक रोग पर पचास-पचास जो प्रयोग लिखे गए हैं वे किस किस अवस्था को लक्ष्य रख कर लिखे गए हैं। आरम्भ से लेकर पूर्ण रूप लेने तक रोगों में अनेक परिवर्तन आते हैं और उनमे भेषज प्रयोग भी भिन्न ही होते हैं। अतः उनके सम्बन्ध मे एक निश्चिति अवश्य हो जानी चाहिए। यही उनकी गवेषणा है। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि भेषज कल्पना मे कुछ नवीन प्रकार चालू किए जायं। इसमे आयुर्वेद की भी आज्ञा है। भस्म आदि बनाने के लिए जमीन में गड्ढा खोद कर उसमें वन्य उपलों की आंच दी जाती थी, परन्तु शहरों मे रहने वाले वैद्यों को उनकी सुलभता आज अधिक व्यय करने पर भी नही मिल रही। फलतः गोबर से थापी हुई थेपडियों, रेल कोयलों और बिजली के द्वारा भस्म बनाने का प्रकार चल पड़ा। इन सब में परस्पर क्या भिन्नता आती है तथा गुणावगुण में कैसे परिवर्तन हो जाते हैं। इस विषय में कुछ भी निश्चित नहीं हो सका और इस विषय मे मनमाने ढङ्ग से प्रचार होता रहा। अतः इस दिशा मे निश्चित मार्ग का गवेषण आवश्यक है जिससे औषध प्रभाव सुव्यवस्थित रह सके।

जब से पाश्चात्य पद्धति में कुछ द्रव्यों के सत्व आदि निकाल कर विभिन्न आकर्षक नामों से उन्हें बाजार में लाया गया और कम्पनियां धन कमाने लगीं, तो यहां के लोग भी बिना ही साधन और प्रक्रिया को जाने उधर आगे बढने लगे। इंजेक्शन तैयार हुए और पेकिंग आदि की नकलें कर उसी रूप में प्रचार किया जाने लगा। परन्तु परिणाम क्या निकला ? आज वे ही एलोपैथिक इन्जेक्शन्स चालू हैं। वैद्य लोगों के इन्जैक्शन केवल वे ही वैद्य मंगाते हैं, जो कि उनकी ओट में फीस न देने वाले मुफ्तखोर लोगों से भी कुछ ले ही लेते हैं। अन्य सब के लिए वे व्यर्थ। कोई भी ऐलोपैथ उन्हें नही लेता और आयुर्वेदीय नाम देख कर तो दस गालियां और भी सुनाता है।

एक एक द्रव्यों के प्रयोग का भी पर्याप्त कोलाहल मचा। एक प्रसिद्ध सरकारी संस्था में उसके प्रधान ने अपने एक सम्बन्धी को आगे बढाने के लिए एक स्पेशल डिपार्टमेंट और खोला। दस-बारह कुटकी, कुष्ठ, हरमल आदि के अलग अलग चूर्ण में कज्जली अथवा हिंगुल मिला कर उनका प्रयोग चलाया और अनभिज्ञ डाक्टर अधिकारियों जो सरकार की ओर से नियुक्त थे, चकमा दिया। परन्तु सब व्यर्थ। कई हजार रुपए सरकारी खजाने के स्वाहा कर वह काम बन्द कर दिया गया। खुदा के बन्दों को यह तो सोचना

चाहिए था कि जो महाशय इन प्रयोगों के आविष्कारक बन रहे हैं उन से यह तो पूछे कि जब किसी औषधि में पारद गन्धक की कज्जली जैसी प्रभावकारी दूसरी वस्तु मिला दी गई तो वह एकौषधि प्रयोग कैसे बना रह गया और रस शास्त्र के अनेक ग्रन्थों में क्या इस प्रकार के भी परीक्षण आज तक नही किए गए थे।

एक नही अनेक झगडे आज गवेषण के नाम से अथवा अन्यान्य प्रकार से आयुर्वेद की प्रगति के शकट को पीछे ढकेल रहे हैं। इन सब का उपाय एक ही है कि आयुर्वेद के विद्वानों द्वारा अनुसन्धान की शैली निश्चित की जानी चाहिए। सरकार के तन्त्र में तो वे ही आदमी घुस पाते हैं जिनके कोई सम्बन्धी, मित्र अथवा प्रान्तवासी पहिले से ही पैर जमाए होते हैं। अतः समाजों, समितियों और सम्मेलनों को इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। अनेक प्रकार जब निश्चित होकर पदों में प्रकाशित हो जाय तो सब के सार से एक पूर्णतया निश्चित तथा प्रगतिकारक पद्धति का निर्माण होना चाहिए। काम तो कठिन है फिर भी उद्योग का आरम्भ होना ही चाहिए। गवेषण की दिशा में एक और भी विपत्ति है जिससे कि आयुर्वेद को पर्याप्त हानि पहुँचाती है तथा सघटन टूट गया।

आयुर्वेद के शुद्ध मिश्र पाठ्य क्रम का विवाद चिरकाल से चालू है और पत्र-पत्रिकाओं मे उसके विषय मे नए नए दृष्टिकोण देखने को मिल रहे हैं। इसके विचारार्थ जो कमेटियां अब तक बनी उन पर कितना व्यय हुआ तथा कितना समय व्यर्थ गया यह भी तो आंकड़ा जानने वाले ही बता सकते हैं, किन्तु साधारण जनों को तो अब भी यह विश्वास नही है कि यह झगड़ा शीघ्र समाप्त हो जायगा अथवा इसका कोई सुफल सामने आयगा। तब जिस राजनैतिक विषय मे अपनी पहुँच नहीं, उसमें व्यर्थ कुछ कहना उचित नही। हमें तो वही कुछ कहना है जिसे सर्वथा उचित समझ कर अब तक हृदयंगम किया गया है।

दिवंगत पं० श्री हेमराजजी ने काश्यपसंहिता की भूमिका में पृष्ठ २२८ पर जो विचार प्रकट किए थे, उन्हें हमने निम्नलिखित चार आर्याओं मे व्यक्त किया है—

निरकासिष्यन्त नवा, सिद्धान्तश्चेद् विमर्शैः स्वैः।
सामयिकैरुपयोगैः प्रत्नाः पर्यष्करिष्यन्त ॥१॥
येऽपूर्णाशास्तेऽपि व्यपूरयिष्यन्त यत्नेन।
अनुभवजाः संस्काराः समुपादेक्ष्यन्त चेत् केऽपि ॥२॥
उच्चविचारसमृद्धया प्रौढानि निबन्धरत्नानि।
निरमास्यन्त च कैश्चिद् विपश्चिदग्रेसरैर्बुद्धया ॥३॥
आयुर्वेदस्यैतत् सेवार्यं सर्वमभविष्यत्।
स्वोचितमनुष्ठित च प्रतिनिधिमूर्तैः स्वसमयस्य ॥४॥

श्लोकों का अर्थ सरल ही है। इसमें समस्त अनुसंधान पद्धति के सूत्र उपलब्ध होते हैं। हमारा विचार है कि इनमें निहित भावों के अनुसार अनेक मनीषियों के चित्तों मे इस प्रकार का आन्दोलन हुआ होगा, परंतु इस दिशा में क्या कुछ हुआ यह देखने को लालायित ही रहना पड़ा। आज अपने को आयुर्वेद सेवक न कह कर उसके उद्धारक कहने वालों की भी कमी नहीं है, परंतु आयुर्वेद के उद्धार में कठिनाइयों का भी पार नहीं है। कह देना सरल है, किन्तु व्यवहार में पता चल जाता है कि उद्धारक का स्वयं बल-बूता क्या है? कठिनाइयों का अन्तस्तल तो वह चतुर अध्यापक जान सकता है, जिसे चिरविलुप्त पद्धतियों को समझाते समय अस्पष्ट और संदिग्ध टीकाओं की शरण लेनी पड़ती है। वह सब भी केवल शाब्दिक चित्रण मात्र होता है, जो कुछ तो समझा हुआ और कुछ न समझा हुआ ही छात्रों के सामने हाथों के इशारों से व्यक्त किया जाता है तथा जो स्वयं कभी अनुभूत किया हुआ शायद ही होता है। इस विषय में आगे कुछ उदाहरण ऐसे दिए जाते हैं, जिनमें परीक्षण, स्पष्टीकरण और नवाविष्करण की सदा ही आवश्यकता रही है।

(१) हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्।
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्॥ (च. चि. १४-१८१)

अर्थात् अर्शोरोग में रक्त बह रहा हो तो उसे बहने देना चाहिये। वैद्य को चाहिए कि वह रोग के हेतु, लक्षण और काल का परिज्ञान प्राप्त कर रोगी के बल और रक्त के वर्ण का परीक्षण या वेदन करें और उस समय तक रक्तपात की उपेक्षा करें, जब तक कि रोगी मरणासन्न न हो जाय[1]।

इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त पर प्रश्न उपस्थित किए जायं कि अर्श के रक्त निर्गम की उपेक्षा में हेतु, लक्षण और काल के ज्ञान का उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए? बल के परिज्ञान का क्या साधन है? तथा शोणित के वर्ण कितने प्रकार के हो सकते हैं? और उनमें से उपेक्ष्यमाण शोणित का वर्ण कैसा होना चाहिए? रोगी मरे नहीं किन्तु मरणासन्न हो जाय इतने काल तक की उपेक्षा में काल के परिमाण को जानने का क्या उपाय है और मरणासन्नता की जांच क्या है? इस प्रकार की उपेक्षा चिकित्सा कहलाएगी या रोगी को घुल घुल कर मरने देने का भयंभर अपराध? क्या इस प्रकार की चिकित्सा कराने के लिए कोई भी उस यमराज सहोदर वैद्य के पास आने का साहस करेगा और क्या इससे आयुर्वेद की निन्दा न होगी? तो इन प्रश्नों का उत्तर देना सरल नहीं है। जिन व्याकरणादि शास्त्रान्तरों के विद्वान् वैद्यों को कुछ पहुचे हुए महानुभाव अपना शत्रु समझते हैं, वे यदि जोर मारें तो यह अर्थ भी कर सकते हैं कि 'तावत् = आदौ, कालं = कालवर्णम्,

१ क्षमा करें—'अत्यय' शब्द का 'मरणासन्न' अर्थ वैद्यों का आलस्य-त्याग कराने के लिये एक चुटकी के रूप में किया गया है।

अर्शोभ्यः प्रवृत्त रक्तं, यावत्पर्यन्तमत्ययं – नाशं, कालतानिवृत्तिमिति यावत्, न आप्नुयात्, तावत्पर्यन्तमुपेक्षेत, तस्य प्रवाहं नावरुन्ध्यादित्यर्थः' । परन्तु ऐसा अर्थ चक्रपाणि, गंगाधर आदि किस टीकाकार ने किया है, उनसे अनुगृहीत हुए बिना इस अर्थ को मानेगा कौन ? दूसरे अर्श से स्रुत होने वाले रक्त का वर्ण काला होता है कि नहीं ? यह भी तो देखना होगा । दो प्रकार के अर्श चरक ने लिखे हैं—शुष्कार्श और स्रावी अर्श । इनमें से शुष्कार्शों में भी यदि पैत्तिक हो तो स्राव होता है, स्रावी अर्शों में से तो निश्चित ही होता है । पैत्तिकों का स्राव पीत और रक्त होता है और स्रावी अर्श तो रुधिर का ही स्राव होता है जो वातानुबन्ध से अरुण तथा श्लेष्मानुबन्ध से पाण्डु होता है । काल वर्ण का तो इन स्रावों में कही भी उल्लेख नही है । इस प्रकार इस प्रकरण का समाधान कठिन हो रहा है तो क्या इसे यों ही लटकता छोड देना और निन्दकों के लिए एक उदाहरण निन्दा का और छोड़ देना उचित होगा ? हमारी विनीत सम्मति में इसका उत्तर नही में होना चाहिए । करना यह चाहिये कि रक्त परीक्षा की आयुर्वेदीय पद्धति नए रूप से स्थिर की जाय । पाश्चात्य पद्धति से रक्त का विश्लेषण करके उसके रक्ताणु, श्वेताणु, चक्रिका आदि घटकों का नानाविध परीक्षण किया जाता है और उसके द्वारा विकृतियो का पता लगाया जाता है । आयुर्वेदीय पद्धति में प्रत्यक्ष के साधन इन्द्रियों से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का परीक्षण किया जाता है । इनमें से प्रत्येक का परीक्षण विधान निम्नलिखित होना चाहिए ।

(क) रूप परीक्षा

आहारजन्य रस से रक्त के निर्माण मे श्वेत, कपोत, हरित, हारिद्र, पद्म, किंशुक, और अलक्तक इन सात प्रकार के क्रमिक वर्ण परिवर्तनों का वर्णन हारीत ने बतलाया है, जिसका उद्धरण सुश्रुत सहिता की टीका भानुमति में किया गया है तथा चरक संहिता की टिप्पणी मे भी किया गया है । आयुर्वेद के समर्थ गवेषकों वाले आतुरालयों में मानवादि प्राणियों की आहार पाक की प्रक्रिया को देखना चाहिए कि उपर्युक्त वर्ण परिवर्तन शरीर के कौन से स्राव के मिलने से किस रासायनिक प्रक्रिया द्वारा निष्पन्न होते हैं और उन पर मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन छः रसों का पृथक् पृथक् क्याप्रभाव पड़ता है ? इसी प्रकार पांच पांच भेदों वाले वात, पित्त और कफ इनका भी यथासभव मेल कर उनके प्रभावों का भी परीक्षण किया जाय ।

वात, पित्त और कफ विवाद यद्यपि जटिल है, तथापि एक बार क्षारीय और अम्लीय प्रतिक्रिया वाले शरीरावयवों के विभिन्न स्रावों का पित्त वर्ग में मान कर तथा मधुर और लवण प्रतिक्रिया वाले स्रावों को कफ वर्ग में मान कर एवं गति, प्राप्ति और अवगति कराने वाले विभिन्न वायव्यों को वात वर्ग में मान कर हमें काम चलाना चाहिए ।

यदि आगे जाकर इसमें कुछ परिवर्तन उचित प्रतीत हो तो वह यथासमय पीछे कर लिया जाय। ध्यान रहे कि ये स्राव आदि वे ही हैं, जो पाश्चात्य विज्ञान में विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। आयुर्वेद में वे ऊपरि लिखित रीति से वात वर्ग, पित्त वर्ग और कफ वर्ग में निर्भय होकर मान लिए जायं। गवेषकों को एक बार समालोचनाओं और निन्दाओं को चुपचाप उसी प्रकार सहन कर लेना चाहिए, जिस प्रकार आयुर्वेद पर होने वाले आक्षेपों को अब तक सहन किया जाता रहा है।

यह परीक्षण १०० स्वस्थ व्यक्तियों के रक्तों पर और १०० रुग्ण व्यक्तियों के रक्तों पर किया जाय। प्रतिशत अमुक परिणाम में एक ही प्रकार का जब फल प्राप्त हो जाय तो फिर अपने सिद्धान्तों का परिष्कार किया जाय। यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हो जायगा। देखने में तो यह रक्त के वर्ण की परीक्षा है, परन्तु इससे साथ ही साथ द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म आदि के सिद्धान्तों का तथा त्रिदोष सिद्धान्त का भी परीक्षण हो जाएगा। इस परीक्षण के आधार पेपर लिटमस पर जैसे पेपरों वा घोलने मिलाने के कतिपय द्रव्यों एवं विभिन्न मीटरों का आविष्कार करना चाहिए, जो स्थायी रूप से आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के साधक बन जायं और इस विज्ञान की शाश्वतता अक्षुण्ण रह जाय। अन्यथा हमारे देखते देखते यह विलुप्त हुआ जा रहा है।

उपर्युक्त गवेषण कुछ भी कठिन नहीं है। यदि एक ही संस्था इसे न कर सके तो दस पांच संस्थाएं मिल कर निश्चित कार्यक्रम के अनुसार इस दिशा में प्रवृत्त हो सकती हैं। औषधियों का व्यवसाय करने वाली फार्मेसियां और कम्पनियां भी इस कार्य को आसानी से कर सकती हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि यदि ऐसा आविष्कार हो जाय तो औषधियों, साधनों, यन्त्रों आदि के विक्रय से उनकी आय कितनी बढ जायगी और कितनी उनकी प्रतिष्ठा होगी।

(ख) रस परीक्षा—

रक्त के रस की परीक्षा किसी मनस्वी परीक्षक की जिह्वा से होनी तो अत्यन्त कठिन है। उसे यह घृणास्पद कर्म राक्षसी प्रतीत होगा और स्वास्थ्य के लिये हानिप्रदत्व की आशंका वाला भी। अपने कॉलेज में एक पार्टटाइम टीचर ने 'पिपेट' नामक नलिका को मुंह में लेकर रक्त को खीचते समय हमसे कहा था कि "रक्त परीक्षण की इस विधि में श्वास के साथ रक्त के दूषित परमाणुओं का भीतर चले जाना परीक्षक के स्वास्थ्य के लिये सदैव खतरा बना रहता है।" अतएव पाश्चात्य पद्धति में भी सुधार की अपेक्षा बनी हुई है। हमारी संमति में रक्त 'सिरिंज' द्वारा सिरा में से लेना चाहिये। जिस प्रकार आधुनिक रक्तदान में वह लिया जाता है, उस विधि से भी लिया जा सकता है, फिर उसका उपर्युक्त षड्रस मिश्रण तथा दोषादि के मिश्रण की पद्धति से ही परीक्षण कर अपने सिद्धान्तों का

परिष्कार करना चाहिये। यदि मधुर, अम्ल और कटु इन आयुर्वेदीय विपाकों का भी परीक्षण रक्तगत ही किया जाय तो, रक्तरस परीक्षा मे बडी सरलता रहेगी। उसमें (ग्लुकोज) गुडकोज या शर्करा जातीय पदार्थो को मधुर रस या मधुर विपाक माना जा सकता है। लवण रस का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को मुख में निर्गत रक्त में हो सकता है, परन्तु परकीय शरीर के रक्त में वह कितनी मात्रा में है इसके परिज्ञान के लिये अन्य प्रक्रिया खोजनी चाहिये। इसी प्रकार अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय के लिये भी समझना चाहिये।

एक शका हो सकती है कि नवीन पद्धति से जो किसी द्रव्य से कार्यकारी तत्त्व पृथक् किये जाते हैं, वे द्रव्य रूप होते हैं और उनका व्यवहार भी पर्याप्त हो रहा है, परन्तु नये रूप मे सुझाई जा रही आयुर्वेदिक पद्धति में यह कैसे संभव होगा, क्योंकि आयुर्वेद मे तो गुण-गुणों के अपृथग्भाव का सिद्धान्त है। इसका समाधान यह किया जा सकता है कि—ऐसे स्थलों में आयुर्वेद के "गुणकूटो द्रव्यम्" इस सिद्धान्त का आश्रयण किया जाना चाहिए। (इस पर अधिक प्रकाश किसी अन्य समय डाला जायगा) अत: अनेक गुणसमूहात्मक द्रव्य मे से किसी कार्यकारी तत्त्व का पृथक्करण आयुर्वेदिक दृष्टि से भी असंमत या असंभव नही है।

(ग) गन्ध परीक्षा—

रक्त के गन्ध की परीक्षा का भी आयुर्वेद में कम महत्त्व नहीं है। रक्त के गन्ध से मूर्च्छित होने का वर्णन मिलता है। यह गन्ध विस्र पित्त के सम्पर्क के कारण विस्र ही कही जा सकती है। इसके परीक्षण के लिये किसी साधन के खोजने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नासिका से ही उसका प्रत्यक्षानुभव हो जाता है।

(घ) स्पर्श परीक्षा—

रक्त में नियत परिमाण से रहने वाली उष्ण-शीतता का परिज्ञान उसके स्कन्दन के समय और दुष्टिविशेष से उत्पन्न अधिक उष्णता-आदि के परीक्षणार्थ आवश्यक है और इसके लिये भी किसी यन्त्रादि भौतिक साधन का आविष्कार होना चाहिये। इस सम्बन्ध में 'ट्रान्सफ्यूजन' की विधियों का तथा एक के रक्त से मिलान करने की विधि का भी साक्षात्कार आवश्यक है, जिससे आयुर्वेदीय चिकित्सक किसी आत्ययिकी अवस्था मे किंकर्तव्यविमूढ न बने रह जांय। 'थर्मामीटर' के समान किसी 'मीटर' का निर्माण इसके लिये अधिक कठिन नही होगा।

(ङ) शब्द परीक्षा—

शास्त्र मे रक्त के सशब्द निर्गम का वर्णन मिलता है। फरसे से काट डाले गये एक व्यक्ति के घाव से 'फुर-फुर' शब्दो के साथ निकलते हुए रक्त का अवलोकन हमने स्वयं

किया है। यह रक्त में शब्द का परीक्षण कई रोगों के निदानविशेष में उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्टीकरण, नवाविष्करण आदि के योग्य एक विषय का विवेचन हुआ। अन्य भी देखिए—

(२) "काले चानवसेचनात्" (चरक० सू० २४।६)।

इस वाक्य के प्रकरण में कहा गया है कि अमुक-अमुक हेतुओं से और यथासमय शरदृतु में रक्तावसेचन न करने से वह दूषित हो जाता है परन्तु इस अवसेचन या निर्हरण का क्या प्रकार था? रक्तदुष्टि से बचने के लिये क्या आज भी किसी को इस रक्तनिर्हरण के लिये आकृष्ट किया जा सकता है? यदि नहीं तो एकमात्र अवशिष्ट कायचिकित्सा में भी इस प्रकार की अनेक महत्त्वपूण प्रक्रियाओं के लुप्त होते रहने से आयुर्वेद में बचेगा क्या? इस विधि का पुन: वैज्ञानिक रूप से प्रचार होना चाहिये।

(३) "स्रावणं शोणितस्य च" (चरक० सू० २४।१८)।

यह भी पूर्व जैसा ही प्रकरण है। यह शोणित का स्रावण भी सर्वथा विस्मृत है। सुश्रुतोक्त सिरावेध ही इसका प्रकार हो सकता है। परन्तु परिहार्य सिराओं के प्रायोगिक परिचय कराने के साथ उनके वेद्य की विधियों का उपदेश कितने वैद्य दे सकते हैं? इसी वाक्य के आगे यह श्लोक है—

बलदोषप्रमाणाद् वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तो राशयप्रसमीक्ष्य च ॥ (चरक० सू० २४।१९)।

इस श्लोक में उक्त बल और दोष के प्रमाण, रुधिर की विशुद्धि तथा आशय के प्रसमीक्षण का कोई भी यन्त्रादि भौतिक आधार नहीं है। रुधिर के आशय का परिचय भी बड़ा जटिल हो सकता है। अक्षरार्थ कर देने के सिवाय किसी में ऐसा अनुभव भी दुर्लभ होगा कि जिससे भिषग्बुभूषु व्यक्तियों को इस विषय का सम्यक् उपदेश दिया जा सकता। इस विषय में गवेषणा की जानी चाहिऐ। इस प्रसंग में श्री चक्रपाणिजी ने लिखा है कि— "रक्तावसेकविधानं चेह पराधिकारत्वान्नोक्तम्, तच्च सुश्रुते ज्ञेयम्" (च० चि० २१।७०)। यदि आज श्री चक्रपाणिजी विद्यमान होते तो उनसे पूछा जा सकता था कि यदि रक्तविस्रावण का कार्य चरकोक्त होने पर भी पराधिकार की वस्तु है, तो, आपको केवल चरकसंहिता की टीका पर ही शान्ति धारण करनी चाहिए थी, सुश्रुतसंहिता की 'भानुमती' टीका लिखने में आपको हाथ नहीं डालना चाहिए था। हम श्री चक्रपाणि की कृतियों के प्रति अनादर नहीं दिखाना चाहते। प्राय: एक हजार वर्ष से चरक के सिद्धान्तों की रक्षा उन्हीं की व्याख्या से हो रही है। परन्तु उनके निर्देशानुसार यदि आज चरक का अध्येता सुश्रुतादि में इस विधि को देखना चाहे तो वहां से कौनसा प्रायोगिक प्राप्त करेगा? परिणाम यह

होगा कि कायचिकित्सक एक ओर छात्र के सामने लज्जित होगा और दूसरी ओर आयुर्वेद पर होने वाले आक्षेपों को जहर की घूंट बना कर पीता रहेगा। अतः रक्तावसेक की इस विधि को पुनरुज्जीवित करना चाहिए और बल-दोष के प्रमाणार्थ एवं रक्तविशुद्धि के परीक्षणार्थ किसी यन्त्र का भी आविष्कार करना चाहिए।

(४) अरुणाभं भवेद् वाताद् विशदं फेनिलं तनु।
पित्तात् पीतासित रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च॥
ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद् घनम्। (च०सू०२४,२०-२१

यह है दुष्ट शोणित के स्रावणार्थ आयुर्वेद के प्राचीन लक्षण। इनमें शोणित के वास्तविक रंग और वात दुष्ट के 'अरुणाभ' रंग में भेद बतला देना असंभव नहीं तो कम कठिन भी नही है। कोशों में 'अव्यक्तरागस्त्वरुणः" (अमर० १,५,१५) यह अरुण का लक्षण किया गया है। परन्तु रक्त शोणित में राग की अव्यक्तता सिद्ध करना सरल नही है। विशदता, फेनिलता, पीतता, असितता और ईषत्पाण्डुता सिद्ध करना भी अत्यन्त कठिन है। "पैत्तिक रक्त उष्ण होने से चिरकाल से जमता है"– इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी यह निर्णय होना चाहिए कि शरीर से निर्गत रक्त साधारणतया इतने समय में जम जाता है, इससे अधिक समय लगने पर वह पैत्तिक या पित्तदूषित होता है। विभिन्न दोषों की कालमर्यादा निश्चित न होने से कितने समय के अनन्तर 'चिर' होता है– इसका परिज्ञान साधारण वैद्य को नही हो सकता।

यह सब रक्तसम्बन्धी ही विचार हुआ है। अब थोड़ा सा शास्त्रों के सन्दिग्ध स्थलों का भी विचार कर लेना आवश्यक है। यहां निदर्शनार्थ कतिपय विषय दिए जा रहे हैं—

(१) चरक चि० ५,९४ मे लिखित 'रसोनसुरा' पर श्री चक्रपाणि ने लिखा है– "क्षीर रसोनयोर्व्याधिमहिम्ना सहोपयोगः, ऋषिवचनाद् वा" यहां व्याधिमहिमा का स्वरूप क्या है और क्षीर तथा लशुन इन दो संयोगविरुद्ध पदार्थो का सहोपयोग उसमें क्यों अनुकूल हो जाता है। ऋषिवचन आप्तवाक्य होने से यद्यपि आँख मूंद कर श्रद्धेय है, तथापि जो ऋषि एक स्थान में इन दो पदार्थों को संयोगविरुद्ध कहता है, वही स्थानान्तर में रोगविशेष की चिकित्सा के लिए इनका सहोपयोग बतलाता है, तो, द्रव्यगुणशास्त्र की दृष्टि से रोग और औषध इन दोनो का सम्बन्ध तथा अनुकूलता का कारण अवश्य विचारणीय हो जाता है। ऐसे स्थलों मे निश्चित बात लिखनी आवश्यक है। अन्यथा वह अवैज्ञानिकता के आक्षेप को प्रश्रय देता है और चिकित्सक को भी संदेहदोलायित रखता है।

(२) चरक चि० ५,९७ मे 'पञ्चमूली' के प्रयोग पर श्री चक्रपाणि का लेख है– "प्रथम कल्पनया शालपर्ण्यादिपञ्चमूली" यहा प्रथम कल्पना यदि लघुपञ्चमूल के रूप मे समझी

जाय तो भी वातिक गुल्म के नाशन में 'लघुपञ्चमूल' श्रेष्ठ है अथवा 'बृहत् पञ्चमूल' इस बात का सहेतुक विवेचन आवश्यक है।

(३) चरक चि० ५,११२ में यह श्लोक देखिये—

रसेनामलकेक्षूणां घृतपाद विपाचयेत्।
पथ्यापादं पिबेत् सर्पिस्तत्सिद्ध पित्तगुल्मनुत्॥

यहां 'घृतपादं' के स्थान में टीका में दिए हुए 'घृतप्रस्थमिति' प्रतीक के अनुसार तथा टिप्पणी में दिखाए गए पाठान्तर के अनुसार यही पाठ होना चाहिए, परन्तु कल्क रूप में दीयमान हरीतकी के प्रमाण के विषय में सन्देह की निवृत्ति मतभेद के कारण नहीं हो सकती। इससे चिकित्सक कौनसा प्रमाण ग्रहण करे? ऐसे स्थल निश्चित होने चाहिए।

(४) चरक चि० २,२,३ में श्री चक्रपाणि का लेख है– "अत्र च प्रयोगमहिम्नैव मधुयुक्त-स्यापि प्रयोगस्य भर्जनक्रियायामग्निसँयोगो न विरोधमावहति, तथा हि सश्रुतेऽपि त्रिफलाय-स्कृतौ मधुनोऽग्निसम्बन्धो भवत्येव'। यहां सामान्य सिद्धांत का अपवाद क्यों किया गया? यह गवेषणीय है। मधु का अग्निसंयोग विरुद्ध है यह सामान्य सिद्धांत है।

(५) चरक चि० ८,१३७ गुल्म में 'घटीयन्त्र का प्रयोग और उसकी सफलता परीक्षणीय है। इसी प्रकरण में 'विमार्ग', 'अजपद' और 'आदर्श' इनका प्रयोग किस प्रकार होता था? यह तो पता ही नहीं है, किन्तु इन्हें पढ़ाते समय छात्र भी कह बैठते हैं कि यह चिकित्सा विषय में प्रारम्भिक काल की अपरिष्कृत शैली का सूचक है। इसमे या तो यह किया जाय कि टीकाकारों को व्याख्याओं को बदल कर आयुर्वेद के लिए उसे गौरववर्धक बनाया जाय और या उन पाठों को ही निकाल डाला जाय, जिससे आयुर्वेद भक्तों को आयुर्वेद की निन्दा न सुननी पड़े। इस विकल्प में अर्थ बदल कर उपयुक्त चिकित्सा का उसे रूप दिया जाय यही उचित प्रतीत होता है।

(६) चरक चि० ५,१६३ यहां गुल्म में "दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते" यह वचन है, जिसका अर्थ है कि यदि गुल्म में क्रियान्तर की असिद्धि हो तो दाह करना चाहिए। यह दाह कैसा है और किस विधि से दिया जाता है? यदि बाहर दिया जाता है तो अंतः स्थित गुल्म पर उसका प्रभाव कैसे पड़ता है? यह वैज्ञानिक ढग से तथा अनुभूत रूप में चिकित्सक जगत् के सामने आना चाहिए। अन्यथा इसका महत्व छात्रों को कैसे समझाया जाय और किसी पूछने वाले को क्या उत्तर दिया जाय? प्रत्येक स्थल में "हमे मालूम नही है" यह कहते रहने से तो आजकल अध्यापक की प्रतिष्ठा जाते देर ही नहीं लगती।

(७) अष्टाङ्गहृदय चि० ७,३३ पर "अशाम्यति रसैस्तृप्ते रोहिणी व्यधयेत् सिराम्" यह

वय मिलना है। यहां यह रोहिणी सिरा कौनसी है, किस स्थान की है और इसके वेधन का प्रकार क्या है ? यह सब गवेषणीय विषय है तथा प्रायोगिक रूप में छात्रों को सिखाने की वस्तु है।

(८) अष्टाङ्गहृदय शा० ४,१३ पर "द्वारमामाशयस्य च" इस वचन की व्याख्या करते समय अरुणदत्त ने लिखा है कि 'तेन हि द्वारेणान्नपानमामाशये प्रविशति" सर्वांगसुन्दरा टीका का यह लेख शरीर रचना और शरीर क्रियाविज्ञान की दृष्टि से कितना सङ्गत है ? यह गवेषणा होनी चाहिये।

(९) अष्टाङ्ग हृदय सू० ७, २८ पर एक वाक्य है—'शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्' इसमें सुवर्ण चूर्ण या 'सुवर्ण भस्म की 'माषैश्चतुर्भिः शाणः स्यात्' इस प्रकार के ४ माशे शाण की मात्रा का क्या औचित्य है ? यह परीक्षणीय है।

कहां तक लिखा जाय सैकड़ों ऐसे स्थल हैं जिन पर शताब्दियों से न तो कोई शोधन का कार्य हुआ है और न गवेषणा ही की हुई दिखाई देती है। चक्रपाणि की निर्णय सागर में मुद्रित टीका और जल्प कल्पतरु के साथ मुद्रित टीका इन दोनों में इतना पाठ भेद है कि पाठान्तरों में दिए गए पाठों से भी उनकी गतार्थता नहीं होती। कहीं कहीं तो ऐसे भ्रष्ट पाठ मिलते हैं कि उन्हें बदले बिना काम ही नहीं चलता। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा चरक० चि० अ० ८ श्लोक ५८ की टीका है 'विवद्ध मार्गत्वादिति रक्तस्य मांसाद्यभिगमे यो मार्गस्तन्निरोधान्मांसादमिगच्छद्रक्तं मांसाशये एव कृताधिष्ठानं प्रस्रवणजलमिव विवद्धमार्गत्वाद बहु भवति' क्या इस पाठ की कोई संगति बैठाई जा सकती है ? हमारे विचार से तो कभी नही ! यदि इस पाठ के थोड़े से अंश को 'मांसादीनमिगच्छद्रक्त मामशये एव' इस प्रकार बदल दिया जाय तो पाठ की सङ्गति ठीक बैठ जाती है। सारांश यह है कि आयुर्वेद के नामलेवा महानुभावों को आयुर्वेद की सेवा में कुछ तो अपने समय का प्रतिनिधित्व करना चाहिए था। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ और आज तो दशा यहां तक पहुच गयी है कि प्रजा पक्ष से उपेक्षित तथा सत्ता पक्ष से हतोत्साह अथवा दलित आयुर्वेद का बचाखुचा अंश भी हमारे हाथों से निकला जा रहा है। अब तो बृहत्रयी की तीनों ही संहिताओं के निर्णयसागरीय संस्करण जो कि अपने सौष्ठव के लिये सर्व प्रथम गणनीय सैकड़ों रुपए व्यय करने पर भी उपलब्ध नहीं हो सकते। लेखनकला भी आज केवल जैन समाज में ही प्रचलित रह गई है, हम सब सर्वथा शून्य हैं। यदि अब इस प्रकार के संस्करण न हों तो क्या हम इन आर्ष संहिताओं की किस प्रकार रक्षा कर सकेंगे ? कभी नहीं। जिनके पास पुरानी पुस्तकें हैं वे ही उनकी सन्तानों के एक बार भी हाथ पड़ गई तो गली सड़ी होने से चूरमूर हुए बिना हाथ नहीं आयेंगी। अतः हमारे प्रयत्नों और विशेषतः गवेषणाओं के प्रकारों में नया मोड़ लाना चाहिए। उसके लिए कतिपय सुझाव देना अनुपयोगी न होगा—

(१) वर्तमान में कुछ खास रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य को संकलित कर तथा रुग्णालय में तद्विषयक रोगियों को भर्ती कर उनके निदान चिकित्सा आदि के प्रयोगों का परीक्षण होता है। यह क्रम चालू रखा जाय तो कोई आपत्ति नहीं।

(२) आयुर्वेद के उपलब्ध वाङ्मय का संग्रह कर अधिकारी विद्वानों द्वारा उसका संशोधन करवाया जाय और अपने सिद्धान्तों की सुनिश्चितता को उस वाङ्मय में सुरक्षित रखा जाय।

(३) संसार भर के समस्त पुस्तकालयों में से अप्रकाशित साहित्य को खोज निकाल कर उसका सम्पादन तथा प्रकाशन कराया जाय।

(४) जिन व्यक्तियों के पास कोई अनुभूत तथा सिद्ध प्रयोग हो तो उनके संग्रह, सम्पादन तथा प्रकाशन का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(५) शास्त्रों में लिखे औषधियों के गुणावगुणों का पुनः आकलन होना चाहिए और जो परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरें उन्हें ही रखा जाय। परन्तु मूल पुस्तकों में वे जिस रूप में हैं, उसी रूप में रहने दिए जायं तथा कालान्तर में कोई उपयोग हो इस दृष्टि से उन्हें लुप्त न होने दिया जाय।

(६) समस्त विलुप्त तन्त्रों का पुनरुद्धार किया जाय और इस समय किसी भी देश में जो चिकित्सा पद्धति चल रही है उसे आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों से समन्वित कर संस्कृत भाषा के माध्यम से गद्यों या पद्यों में निबद्ध कर उन तन्त्रों की पूर्ति की जाय। भगवत्कृपा से अब भी बहुत से विद्वान् इस कार्य में क्षमता रखते हैं। उनका उपयोग नहीं हुआ तो अगली पीढ़ी में उनके दर्शन भी नहीं होंगे।

(७) कुछ ऐसे भी रोग हैं कि जो साध्य सम्मत हैं परन्तु शास्त्रानुसार निदान चिकित्सा होने पर भी उनमें सिद्धि नहीं मिलती। उन पर नवीन गवेषणाएं होनी चाहिए।

(८) समय-समय पर जो चिकित्सा विज्ञान में नई बातें देखने सुनने को मिलती हैं, उन पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विचार किया जाकर प्रकाशित करना चाहिए और आयुर्वेद में उनकी उपलब्धि न हो तो उन्हें उसी संस्कृति के माध्यम से आत्मसात् कर आयुर्वेद में सम्मिलित कर लिया जाय। केवल भारतीय संस्कृति की विनाशक बातों को छोड़ दिया जाय। जैसे-रक्त परीक्षण की एक विधि 'काहन टेस्ट' गोहत्या सम्बद्ध है, उसका स्पर्श भी न किया जाय।

(९) आधुनिक सर्जरी के शस्त्र यंत्रों में और आयुर्वेदीय शस्त्र यंत्रों में बहुत से अंशों में समानता है। अतः भारत राष्ट्र में आयुर्वेदीय ढंग से उन्हें बनाने की क्षमता आवे,

तब तक प्रचलित शस्त्र यंत्रों को ही लेकर आयुर्वेदीय शल्य यंत्रों को पुनरुज्जीवित किया जाय और निपुण चिकित्सक तैयार किए जायं।

(१०) औषध निर्माण आदि के नए नए कल्पों के ग्रहण की आयुर्वेद में स्पष्ट आज्ञा है। अतः अपनी औषध निर्माण प्रक्रिया में औचित्य एवं लाभ की दृष्टि से उनके ग्रहण का निषेध नहीं होना चाहिए।

सारांश यह है कि प्राचीन शास्त्रों का एक अक्षर भी लुप्त न होने देना चाहिए और नवीन के उपादान तथा आत्मसात् करने में प्रतिरोध भी न होना चाहिए। गवेषणा का यह भी एक प्रकार है जो 'आयुर्वेदीय अनुसन्धान पद्धति' कहा जाता है। आज नहीं तो कल इसे अपनाना ही होगा। तथास्तु।

आयुर्वेदीय चिकित्सा के चारों पाद की वर्तमानावस्था

लेखक : आचार्य विनायक जयानन्द ठाकर

शास्त्री, काव्यतीर्थ, ए. एम. (बी. एच्. यू.) जामनगर

[शास्त्रीजी का जन्मस्थान जोडीया नवानगर है। प्रारमिक शिक्षा अपने ग्राम में ही प्राप्त कर सर्वोच्च शिक्षा हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस से प्राप्त की। शिक्षा के बाद सन् ४६ से गुलाब कुवर बा आयुर्वेदिक सोसायटी द्वारा संचालित आयुर्वेदिक महाविद्यालय में आचार्य पद पर आसीन होकर चरक संहिता प्रकाशन में सहयोग दिया। भारत सरकार द्वारा स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र (आयुर्वेद) की स्थापना सन् ५६ से हुई तमी से मौलिक सिद्धान्त एवं चरक सहिता विभाग के प्राचार्य पद के कार्य के साथ वहां से प्रकाशित होने वाले प्रमुख पत्र 'आयुर्वेदालोक' की सपादकता व आयुर्वेदीय शब्द कोष के निर्माण में सतत संलग्न हैं।

आप सौराष्ट्र और गुजरात राज्य के आयुर्वेदिक बोर्ड के सदस्य भी है, तथा वर्तमान में गुजरात आयुर्वेद विश्व विद्यालय के सर्वप्रथम उपकुलपति हैं। आपने 'उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए आयुर्वेदीय चिकत्सा के चारों पाद की वर्तमान व्यवस्था पर सामयिक विचार भेजे हैं जो हृदयंगम करने लायक हैं।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

वर्तमान समय में आयुर्वेद के अनुयायी चाहे व्यवसायी चिकित्सक हों चाहे विद्यार्जनरत छात्र हों कोई भी आयुर्वेद की स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हैं। समाज और सरकार दोनों तरफ से उपेक्षितसा और अपने लिये उचित स्थान तथा सम्मान से वञ्चितसा अपने को महसूस करता है। इस विषय में वैद्य समुदाय के किसी भी वर्ग की कोई विमति नहीं है। वैज्ञानिक विकास के इस युग में समाज में आयुर्वेदावलम्बी जनता एवं आयुर्वेदोपासक वैद्यों का दिनों दिन ह्रास होता जाता है अत: वैद्यों की मांग है कि राज्याश्रय एवं राज्य द्वारा वैद्यों को निश्चित स्थान देकर सेवा का अवसर देने से एवं इस प्रकार वैद्यों की उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा स्थापित होने से वैद्यों का उत्साह एवं जनता में गौरव बढेगा अतः राज्य को वैद्यों का स्थान-मान देकर उनकी सेवा का उपयोग करना चाहिए तथा आयुर्वेद को इस प्रकार सम्मानित एवं पुनः प्रतिष्ठित करना चाहिए। सरकारी रवैया ऐसा रहा है कि आयुर्वेद समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होने पर समाज ही उसका आश्रयदाता बनेगा और उसको प्रतिष्ठा गौरव देगा। सरकार का इस दिशा में कोई कर्त्तव्य रहता ही

नहीं। हां व्यवसाय का नियन्त्रण औषध नियन्त्रण इत्यादि के द्वारा वह जनता के हितों की देखभाल करने से कभी न चूकेगी। साथ साथ शिक्षालयों को अनुदान देते समय क्या पढ़ाना क्या न पढ़ाना इसके निर्देश भी शर्तों के रूप में रख कर संस्थाओं के दैन्य एव अपने अधिकार का परिचय भी दिखाना अपना कर्त्तव्य समझती है। इस तरह समाज एव राज्य दोनों तरफ से उपेक्षित वैद्य समाज असंतुष्ट एवं दुःखी होकर अपने अभ्युत्थान के लिये अपने अपर्याप्त साधनों से उद्योग एवं उद्घोष करता रहता है। इस स्थिति को सुधारने के लिये तथा अपने पूर्वकालीन गौरव के स्थान में समाज एवं राज्य द्वारा पुनः प्रतिष्ठित होने के लिए उद्योग करने की आवश्यकता के विषय में भी वैद्य समाज में दो मत नहीं हैं। उन्नति को प्राप्त करने के लिए जिसने जो मार्ग उचित समझा उस मार्ग से प्रयत्न करना भी शुरू कर दिया है किन्तु, स्थिति वैसी या कभी बिगड़ती हुई भी दीखती है। हां एक और बात भी है—कभी कभी ये मार्ग परस्पर विपरीतगामी होते हैं अतएव परिणामतः लक्ष्य प्राप्ति में दोनों के लिए बाधक सिद्ध होते हैं। यथा शुद्ध सम्प्रदाय एवं मिश्र सम्प्रदायक मार्ग।

प्राचीन काल में तथा अभी के कुछ वर्षो पूर्व तक समाज में वैद्यों की प्रतिष्ठा चिकित्सा सफलता के आधार पर बहुत थी। वैद्य आदर एवं सम्मान के अधिकारी समझे जाते थे। समाज के लिए अत्युपकारक समझे जाते थे। वैद्यों के आचरण एवं विक्रम (कर्म-चमत्कार) की ऐसी धाक थी कि देवेन्द्र हो चाहे मानवेन्द्र हो या जन सामान्य हो सबके लिए वैद्य पूजा है एवं आदर सम्मान का अधिकारी था। इन्द्र के प्रत्येक आपत्काल एवं उत्सव के अवसरों मे देवभिषक अश्विनीकुमारों को आदर के साथ सम्मिलित किया जाता था। राजाओं के युद्ध एवं शांतिकाल में वैद्यों का निवास स्थान राज प्रासाद के समीप ही रहता था; वैद्यो का अधिकार जीवन रक्षा के समस्त व्यवहारों का अधीक्षण करना था तथा वैद्यों को नित्यजागरुक एवं सतत सावध और सज्ज होकर नित्यसुलभ होना पड़ता था। जनसमाज के लिए भी वैद्य पिता या बन्धु के समान विश्वसनीय, रक्षणदाता, एवं आश्वासन का स्रोत माना जाता था। अतएव हम देखते हैं कि जनसामान्य के लिए हितोपदेश देते हुए हितोपदेश में कहा गया है कि उस ग्राम में वास न करना चाहिए जहां वैद्य न हो। विगत कुछ दशाब्दियों के पहले तक यह स्थिति थी। इसका आभास कहीं कहीं विरल रूप में अभी भी मिलता है।

इतना आदर, इतना महत्व और समाज के लिये इतना उपयोगी अंग समझे जाने पर भी वैद्य अपनी उस स्थिति को कैसे खो बैठा? वह एक अनावश्यक नहीं तो नगण्य या उपेक्षार्ह कैसे समझा जाने लगा? क्या अमृत स्वरूप आयुर्वेद अब अमृत नहीं रहा या क्या वैद्य की आयुर्वेदोपासना शिथिल हो गई या क्या वह वस्तुतः शरीर रक्षा, सुखायु एवं

दीर्घायु देने में असमर्थ एवं विफल सिद्ध हुआ है ? अगर इसका उत्तर हां है तो इस स्थिति के उत्पन्न होने मे क्या परिस्थितियां निमित्त भूत हैं। इनका उत्तर निषेधात्मक होने पर समर्थ होते हुए भी उपेक्षा और अनादर के जनक अन्य क्या कारण हो सकते हैं इनका विचार करना चाहिए।

इस परिस्थिति में आयुर्वेद को अपने न्याय स्थान में पुनः प्रतिष्ठित होने के लिये समाज मे अपनो सफलता दिखा कर सेवा की श्रेष्ठता दिखाना जरूरी हो जाता है। जन-सेवा के द्वारा उपयोगिता सिद्ध होने पर ही आयुर्वेद अपने गौरव और सम्मान के स्थान को प्राप्त कर सकता है। तब जाकर सरकार इसके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल कर उदार-बर्ताव करे यह आशा की जा सकती है। जनता को यह विश्वास होने पर कि आयुर्वेद के हाथो में उनके प्राण सुरक्षित हैं वह आयुर्वेद का सम्मान अवश्य करेगी और तब जनता की सरकार भी जनता की राय की उपेक्षा नहीं कर सकेगी।

क्या यह स्थिति प्राप्त हो सकती है ? क्या आयुर्वेद इस प्रकार के विक्रम चमत्कार दिखा सकता है जिससे श्रद्धालु की श्रद्धा में वृद्धि हो और प्रतिपक्षी एवं अश्रद्धालु वर्ग भी इसके लोहे को स्वीकार करे ?

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिये अर्थात् जनता का प्राणाभिसर वैद्य और सरकार का राजाई भिषक् बनने के लिए उपाय किन किन दिशा में करने चाहिए इसका सुझाव तथा शास्त्रीय विचार क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

आयुर्वेद चिकित्सा को सफल सिद्ध होना हो तो चार बातों की स्थिति सुधारना ही नहीं अपितु उत्कृष्ट करना परम आवश्यक समझा गया है। ये चार वस्तुएं हैं—वैद्य, औषध-परिचारक, और रोगी स्वयम्। व्याधिनिबर्हण या विकार प्रशमन रूपक्रिया इनमें से किसी एक के ही ऊपर निर्भर नहीं है किन्तु अनेक अथवा पूरे समुदाय के व्यवस्थित सहयोग या योजनापूर्वक प्रवर्तन जिसको युक्ति कहा गया है—पर निर्भर है। इन चारों के परस्पर सह-योग या असहयोग अथवा अनुकूलता वा प्रतिकूलता पर ही रोगनाशन रूप कार्य की सफ-लता वा विफलता आधारित है। यह बात किसी से छिपी नहीं है किन्तु इतनी सामान्य है कि प्रायः लोगों का ख्याल इस तथ्य की ओर जाता ही नहीं अतएव वैद्य को ही चिकित्सा कर्म की सफलता निष्फलता के लिये जिम्मेवार माना जाता है। वस्तुतः ये चारों संयुक्त रूप से जिम्मेवार हैं अतएव इनको चिकित्सा का पाद कहा गया है। चारों पादों के सम्पूर्ण और पुष्ट होने पर ही चिकित्सा उन्नत हो सकती है। एक के भी विकल होने पर उसकी अवनति होती है।

वर्तमान स्थिति के साथ इन पदों का क्या सम्बन्ध है इसका विवरण अब पृथक् पृथक् प्रस्तुत किया जाता है।

पाद १ भिषक—वैद्य चिकित्सा का एक अन्यतम पाद है। किन्तु यह तीन पादों से प्रधान पाद है क्योंकि अन्य पाद इसके अधीन है। अन्य पादों के अभाव व .. गुण युक्त होने पर यह उनकी पूर्ति करने में कुछ अंश तक समर्थ होता है किन्तु वैद्य के ही न रहने पर या अल्प गुण होने पर अन्य पाद कुछ नहीं कर सकते वे स्वयं भी विकल ही रहते हैं। वैद्य की प्रधानता इसमें है कि वह (अ) विज्ञाता है—रोग और भषज का अवस्थानुसार प्रयोग करने का ज्ञान उसी को होता है। (ब) शासिता है—परिचारक और रोगी को कर्तव्य-अकर्तव्य, हित अहित का निर्देश करना वैद्य का ही काम है। (स) योक्ता है—मात्रा काल, द्रव्य, देह, रोगावस्था आदि के अनुसार भेषज की योजना वैद्य ही कर सकता है। अतएव कहा गया है कि वह इस प्रकार से अपने गुणों को बढाने के लिए प्रयत्नशील रहे जिससे कि वह प्राणद मनुष्यों की जीवन की रक्षा करने में समर्थ हो। ऐसे गुणवान् वैद्य सर्वदा वंदनीय आदर सम्मान पूजा के पात्र होते हैं।

अन्य पादों में वैद्य को प्रधानता देने वाले गुण पूर्वोक्त विज्ञान शासन और योजना की शक्ति हैं जो कि वैद्यक के व्यवहार में सफलता के लिए आवश्यक हैं। तथापि जीवन सार सम्बन्धी सारी योग्यता प्राप्त करने के लिए अन्य निम्नगुण भी आवश्यक हैं। यथा—

(१) श्रुते पर्यवदातत्वम्—

वैद्य को अधीत शास्त्रों में निःसन्देह ज्ञान होना चाहिए। इतना ही नहीं वह सम्बन्धित सब शाखाओं का भी सम्पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए (शास्त्रपारगः, वेदपारगः तत्वा धगत शास्त्रार्थः)। शास्त्र का मर्मज्ञ पण्डित होना चाहिए। शास्त्र के प्रत्येक विषय का यहां तक कि प्रत्येक वाक्य और पद तक का सम्यग् एवं निभ्रान्त ज्ञान होना परम आवश्यक है। आर्ष तन्त्र मे इस तरह पद वाक्य प्रश्न सब के अर्थ रहस्य या तात्पर्य को समझने पर ही तंत्रकार आचार्य का अभिप्राय सही रूप में जाना जा सकता है। तंत्र के अर्थ को समझने के लिए तन्त्रयुक्तियों का ज्ञान आवश्यक है और तंत्र युक्तियों को ज्ञान किसका कहां कैसे उपयोग करना यह गुरु परम्परा से ही प्राप्त होता है। अतएव वाग्भट 'तीर्थान्तिशास्त्रार्थो' और चरक ने अनुपस्कृत विद्य आचार्य से विद्या प्राप्ति का उपदेश देकर शास्त्र ज्ञान का महत्व और परम्परा प्राप्त रहस्य का महत्व दिखाया है।

हम देखते हैं कि अनेक चिकित्सा प्रक्रियाओं का आजकल परम्परा छूट जाने मे लोप हो गया है। अनेक औषधियां सन्देहग्रस्त हैं। सिरावेध, अग्नि कर्म, क्षारपातन तथा शस्त्र कर्म आदि का व्यवहारिक कौशल एवं शरीरावयव परिचय भी परम्परा भग होने से विलकुल व्यवहार क्षेत्र से लुप्त हो गए हैं। भेषज चिकित्सा के क्षेत्र मे भी अनेक योग होते हुए भी अवस्थानुसार किसका कहां उपयोग होना चाहिए इसके निर्देशक के अभाव में फलोक्त द्रव्य भी निर्गुण ही प्रतीत होने लगे हैं। यह स्थिति 'श्रुतेपर्यवदातत्वम्' तथा बहुशो

'दृष्टि कर्मता' के विपरीत 'श्रुते सन्देहवत्ता' तथा 'कर्मा प्रवर्तन' ही बढाती है। इस स्थिति को तब ही दूर किया जा सकता है जब स्नातक एवं अनुस्नातक श्रेणी की शिक्षाओं में छात्रों की प्रवेश योग्यता में सुधार हो तथा अध्यापक वर्ग प्रयोग ज्ञान-विज्ञान सिद्धि सिद्ध हों।

(२) बहुशो दृष्ट कर्मता—

शास्त्र ज्ञान के साथ साथ उस ज्ञान को व्यवहार में चरितार्थ होते देखा जाय (दृस्ट कर्मा) यह शास्त्र में श्रद्धा के हठीकरणार्थ तथा आत्मविश्वास एवं साहस की वृद्धि के लिये आवश्यक है। सुश्रुत ने योग को ही योग्यता सम्पादन करने वाला बतलाया है और योग्या विभिन्न कर्मों का अपने हाथों से अभ्यास है (स्वयं कृती) निदान पद्धतियों का प्रयोग करके रोग-निर्णय का अभ्यास; चिकित्सा कर्मों का विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रोगियों में अनेक बार सफल प्रयोग का दर्शन तथा स्वय प्रयोग करके अव्यर्थता का अनुभव करना; तथा औषध परिचय संग्रह, संरक्षण एवं कल्पना निर्माण-योजना तथा वितरण आदि का समस्त विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव एवं स्वहस्त से क्रियान्वय; शल्यापनयन, शस्त्र-कर्म, व्यापत् (Emergency) का ज्ञान एवं व्यापत्साधन ये सब ऐसे विषय हैं जहां पर प्राप्त अनुभव ही मनुष्य को यथार्थ रूप में वैद्य बनाते हैं जो कि आत्मनिर्भर, स्वशास्त्र में श्रद्धावान् तथा स्वकर्म में साहसपूर्ण होता हैं। क्रियान्वय रहित का शास्त्र ज्ञान केवल भारवाहन समान हैं। वर्तमान काल में हमारे विद्यालयों की साधन एवं व्यवस्था सम्बन्धी स्थिति क्या पूर्वोक्त परमावश्यक दोनों बातों को पूर्व रूप से वा आंशिक रूप से भी निर्वाह करने में समर्थ है ? आयुर्वेद की संकटकालीन इस स्थिति में प्रत्येक आयुर्वेदानुरागी वैद्य एवं विशेषतया आयुर्वेद के नेतागण एवं आयुर्वेद-हितैषी राजनेतागण को आत्मनिरीक्षण करके इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना चाहिए। अगर कोई कमी है, विफलता का अगर कोई कारण है तो इन दो बातों की पूर्ति का अभाव ही हैं। आगे के आयोजन में भी शास्त्राभ्यास एव कर्माभ्यास दोनों के लिये अधिक से अधिक सुविधा बढाना यही एक सही उपाय हैं। इनके अभाव में छात्रों का झुकाव अन्यत्र हो या जिससे वे जिससे दृष्टकर्मा बन सकते थे उनमें बने और उनके लिये आग्रही बने तो यह दोष न मान कर परिस्थितिजन्य अनपेक्षित परिणाम ही मानना चाहिए।

(३) दाक्ष्यम्—

दक्ष वही कहा जाता है जो किसी भी परिस्थिति में विचलित न होकर बिना किसी घबराहट के, शांति किन्तु शीघ्रता के साथ अवस्थानुरूप कर्म करने का चातुर्य दिखाता हो। इसी को युक्तिमान्, प्रतिपक्तिमान् तथा प्रत्युत्पन्नमति भी कहा जाता है। कोई भी अनपेक्षित आत्ययिक परिस्थिति होने पर तुरन्त ठीक निर्णय पर पहुचना, तदनुरूप कार्यकलाप

नियमित किंतु शीघ्रता से करके स्थिति को सम्हालने का ज्ञान या सूझबूझ चिकित्सा में परमावश्यक है। इसी के ऊपर अनेक जिंदगियों के बचने या नष्ट होने का आधार है। इस प्रकार की सूझबूझ प्रत्येक में एक समान और स्वभावसिद्ध नहीं होती परन्तु शिक्षा एवं अनुभव के द्वारा (पूर्वोक्त योग्य गुरु द्वारा शास्त्र एवं कर्म पथ का ज्ञान प्राप्त होने पर तथा स्वयं कृती होने पर) इसका विकास किया जा सकता है। पूर्वोक्त दो साधनों के अभाव में स्वाभाविक गुण रहते हुए भी उसका विकास अवरुद्ध रह जाता है। इस प्रकार अनेक होनहार और आशास्पद नवयुवकों की शक्ति समुचित अवसर के अभाव में ही कुण्ठित एवं अविकसित रह गई है और अकर्मण्यता तथा हताशा का बोझ वहन कर रही है। अवसर प्राप्त होने पर इनके शक्ति-स्रोत का प्रवाह किसी से भी कम नहीं है। इसके भी उदाहरण मौजूद हैं।

जितहस्तत, प्रकृतिज्ञ एवं क्लेशक्षम ये गुण भी दक्षता के अंग हैं और चातुर्य के विशिष्ट पहलुओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

(४) शौच—

शुचिता अर्थात निर्मलता वैद्य का परमावश्यक गुण है। वैद्यक व्यवसाय के लिए यह अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों दृष्टि से आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अन्तरंग शौच मानसिक पवित्रता है इसका संकेत—मैत्री, करुणा, प्रीति और उपेक्षा वैद्य के व्यवहार के ये चार गुण होने चाहिए तथा इनमें भी वैद्य की विशेष रूप से सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री या बन्धु-भाव का विकास करना चाहिए, इस उपदेश में है। वैद्य सर्व का मित्र ही है अथवा निष्पक्ष और तटस्थ वृत्ति वाला है, यह प्रतिष्ठा वैद्य के लिए परमावश्यक है। राजा से रंक और स्वजन से वैरी तक सब के प्रति समान रूप से चिकित्सार्थ तत्परता दिखाना वैद्य का धर्म है। इसी के साथ सम्बन्धित अन्य गुण निर्लोभ वृत्ति है और अनुकम्पा या भूत-दया है—चिकित्सा का पण्य विक्रय करने का निषेध इस बात को सूचित करता है। जितात्मा—इन्द्रिय-निग्रह और मर्यादा-पालन भी मानस-शुचिता के आवश्यक अंग हैं—किसी के घर में जाने पर रोगी के हित को छोड़ कर अन्य बातों में या अन्य प्रलोभनों में मन को उलझने न देना तथा गृह-स्वामी के साथ और उसकी उपस्थिति में ही स्त्री वर्ग की चिकित्सा एवं वस्तुओं का आदान-प्रदान करना इत्यादि नियम वैद्य के आचार स्तर को उठाने के लिए हैं। इनके अतिरिक्त अनसूयक, अकोपन, अनहंकृत, शीलवान आदि गुण भी वैद्य के साफल्य के लिए आवश्यक एवं व्यक्तित्व की उदात्तता के सूचक हैं। वाह्य शुद्धि का भी बड़ा महत्त्व है—वैद्य की वाह्य शुद्धि इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिससे जनसमाज में शुचिता के लिए वह उदाहरणरूप बने और जनसमाज को अपने रहन-सहन एवं दर्शन मात्र से प्रभावित करे। इसलिए सुवेश सुसंवीत, अनुद्धत वेश, प्रसाधित केश, कीर्तित नख आदि होना वैद्य के लिए परमावश्यक

समझा गया है। मलिन पदार्थों से दूषित होने पर हस्त-पाद आदि की पुनः पुनः शुद्धि, सलिलादि द्रव्यों का चौक्ष्य, पात्रियों का भी अमेध्यन होना, तथा शस्त्रादि उपकरणों एवं समस्त द्रव्यों का मल सम्पर्क से परिहार करने मे सतर्कतापूर्वक आयोजन वैद्य का परम कर्त्तव्य हो जाता है। बाह्य शुद्धि आत्म-रक्षा और संक्रमण तथा उपसर्ग के परिहार के लिए यह नितान्त आवश्यक है। आधुनिक काल में डाक्टरों में बाह्य शौच की इस कला का सर्वतो-भावेन विकास हुआ है और उसका दृढ़ता से पालन किया जाता है जो अनुकरणीय है।

(५) चिकित्सा प्राभृत (उपकरणवान्)—

वैद्य को हरेक प्रकार की आकस्मिक एवं आत्ययिक अवस्थाओं मे काम दे सके ऐसे औषध तथा साधन-सज्जा से सुसज्ज रहना चाहिए। तथा इन सब सामग्री की पर्याप्त मात्रा में सुविधा रखनी चाहिये। "सज्जोपस्कर भेषज" यह वैद्य के लिए दिया गया आवश्यक विशेषण है। हरेक प्रकार के उपस्कर—उपकरण—साधन-सामग्री तथा हरेक प्रकार के भेषज भी नित्य सज्ज होने चाहिए। न केवल सज्ज किन्तु प्रभूत-प्रचुर मात्रा में भी होना चाहिए। अतएव वैद्य को 'चिकित्सा = चिकित्सा साधनानि प्रभृता = प्रकर्षेणभृता येन, प्रभूतकल्पा विद्यते यस्य वा सः चिकित्सा प्राभृतः इति' कहा गया है। साधनहीन वैद्य कुछ भी क्रिया करने में समर्थ नहीं होता तथा जरूरत के अवसर पर साधनों का संग्रह करना सम्भव नहीं होता अतः पूर्व से ही आवश्यक उपयोगी साधनों एवं औषधों से सुसज्ज रहना ही सफलता के लिए अनिवार्य होता है। किन-किन उद्देश्यों से किन-किन द्रव्यों का एवं साधनों का सर्वदा संग्रह होना चाहिए इसका वर्णन करने के लिए चरक ने उपकल्पनीया-ध्याय ही स्वतंत्र रूप से उपदेश किया है। वह इस बात का महत्त्व एवं हमारे आचार्यों की दूरदर्शिता को सूचित करता है।

(६) धीमान् (प्राज्ञः)—

वैद्य के लिए बुद्धिमान और स्मृतिमान होना परमावश्यक है। इन दोनों गुणों से हीनता वैद्य बनने में बाधक होती है तथा कर्म-साफल्य में भी बाधक होती है। वैद्य को ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होना आवश्यक बताया गया है और बुद्धि तथा स्मृति की मन्दता से यह नहीं हो सकता। प्राप्त ज्ञान को मननपूर्वक (मति) समझना और वितर्क के द्वारा उसकी कसौटी करने के लिए कहा गया है। शास्त्र तो केवल दिशासूचन-दिग्दर्शन करता है किन्तु उससे ऊहापोह—अनुमान—युक्ति के आधार पर अनुक्तार्थ का ज्ञान करना और प्रसंगानुरूप निर्णय करना बुद्धि का काम है यही विज्ञान है। तर्क को छोड़ कर केवल रूढ़ परिपाटी के अनुसरण से होने वाली सिद्धि की आयुर्वेद में निन्दा की गई है। उत्तम बुद्धि वाले छात्र के ऊपर ही यह जिम्मेवारी तथा अधिकार दिया गया है कि वह ऊहापोह के द्वारा शास्त्र में परिष्कार, परिवृद्धि, परिवर्तन करे। अतएव कहा गया है कि शास्त्र में चाहे जैसा

कोई नियम बना दिया गया हो उसको एकान्तिक-अपरिवर्तनीय न मान कर तर्क के द्वारा जो अवस्थानुरूप कर्त्तव्य प्रतीत हो वही करना चाहिए। शास्त्र में वमन आदि का निषेध किया गया है फिर भी बुद्धि से विचार करने पर किसी अवस्था में उनका प्रयोग आवश्यक समझा जाए तो वही करना चाहिए। अपने तर्क की कसौटी से जो मार्ग प्रशस्त मालूम पड़े उसी का अनुसरण करना चाहिए। शास्त्र का अन्धानुकरण या हठवादिता नहीं होनी चाहिए। यह छूट स्वयं शास्त्रकार ने दे कर उदारता का प्रदर्शन किया है। इसीलिए वैद्य को सर्वदा अपनी बुद्धि-प्रज्ञा का शोधन करते रहने का उपदेश दिया गया है। तथा बहुश्रुत हो कर शास्त्रान्तर और प्रतिपक्षियों से भी ज्ञान लेने का उपदेश दिया है। सम्यक शास्त्र-ज्ञान जितना आवश्यक है उतना ही सम्यग् बुद्धि-योग भी गलती से बचने के लिए आवश्यक समझा गया है। शास्त्रज्ञान एवं बुद्धि की तीक्ष्णता दोनों के संयोग से ही चिकित्सा-कर्म में गलतियों से बचा जा सकता है। बुद्धिविहीन शास्त्रज्ञान अंधे के हाथ में दीपक के समान है। इसी स्वतंत्रता एवं उदारता के कारण ही हमारे शास्त्रों में उत्तरकाल में आविष्कृत रसशास्त्र से लेकर विदेशों से प्राप्त रोगों तथा औषधों के ज्ञान का यथासमय समावेश किया गया था। तथा वाग्भट्ट जैसे क्रान्तिकारी ने "युगानुरूप सन्दर्भ" निर्माण करने का साहस किया था।

(७) वैद्य को व्यवसायी, कर्माभ्यासरत, क्रियारत अथवा प्रवृत्तिशील होने का आदेश दिया गया है। अर्थात् अर्जित विद्या में दोष न आए इसलिए तथा प्राप्त हस्तकौशल का लोप न हो एवं नवीन प्रयोगों के द्वारा ज्ञान-वृद्धि हो इसलिए पुनः पुनः विविध क्रियाओं को दोहराते रहना चाहिए। इसके लिए दृढ़निश्चयी, अप्रमादी तथा अश्रान्त हो कर क्रिया-शील—प्रयोगशील रहना चाहिए।

(८) परमावश्यक चतुष्टय ज्ञान सम्पन्न—

चरक ने कहा है कि राजार्ह भिषक बनाने के लिए अर्थात् राजमान्यता प्राप्त करने के लिए कम से कम चिकित्सा विज्ञान के निम्न चारों विभागों का परिपूर्ण होना परमावश्यक है। (१) रोगहेतुज्ञान, (२) रोगलिङ्गज्ञान, (३) रोगप्रशमनज्ञान, (४) रोग के अपुनर्भव का ज्ञान। सफल चिकित्सक बनने के लिए रोगी के उत्पादक कारणों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। रोगों के लिङ्गज्ञान अर्थात् रोगों के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान तथा रोगों के विशिष्ट हेतु और विशिष्ट स्वरूप के आधार पर विशिष्ट चिकित्सा का ज्ञान होना परमावश्यक है। किन्तु रोग के प्रशम के बाद उसकी पुनरुत्पत्ति न हो, रोग के आक्रमण से पूर्व ही रोगी को सुरक्षित बचाने के उपाय भी वैद्य को मालूम होने चाहिएं। यह प्रत्येक राजार्ह वैद्य की कसौटी है। हमारी समझ में वर्तमान काल में भी राज्य किसी भी चिकित्सक समुदाय से यही न्यूनतम अपेक्षा रखता है। प्रत्येक अध्यापन-मन्दिर का लक्ष्य भी अपने

अन्तेवासियों को इन जिम्मेवारियों के लिए सक्षम बना कर निकालने का होना चाहिए। इस आवश्यकता को पूरा करने में विविध शिक्षा-प्रयोग कहां तक सफल हुए हैं यह उनके पुरस्कर्ताओं, नीति-निर्धारकों और अधिकारियों से ओझल नहीं है। हमारे साधन और शक्ति का अपव्यय परस्पर विरोधी मतों के संघर्ष में न करके पूर्वोक्त योग्यता जिस तरह से प्राप्त हो वैसे कार्यक्रम का ऐकमत्य से निर्माण करने में ही हमारे लिए सामाजिक प्रतिष्ठा या राजआश्रय की कुछ आशा की किरण प्राप्त हो सकती है। अन्यथा "अन्धंतमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।"

इस प्रकार से वैद्य पूर्व निर्दिष्ट अपने गुणों की वृद्धि के लिए नित्ययत्नवान् रहने पर चिकित्सा का प्रधानपाद गुणवान् एवं सबल होगा अतः वह अन्य पादों का अधिक कुशलता तथा समझपूर्वक उपयोग करके सिद्धि प्राप्त करने में सफल होता है। तथापि अन्य पाद भी सिद्धि के लिए आवश्यक हैं ही।

पाद २—द्रव्याणि:—

वैद्य अगर चिकित्सासिद्धि का कर्त्ता बन कर प्रधान कारण है तो द्रव्य भी चिकित्सासिद्धि का उतना ही आवश्यक अग है क्योंकि वह सिद्धि का करण है। भेषज द्रव्य वैद्य को अपना लक्ष्य सिद्ध करने में ठीक उसी तरह आवश्यक उपकरण है जैसे लकड़ी काटने के लिए कुल्हाडी अथवा लक्ष्य वेध करने के लिए तीर या गोली। कर्त्ता और करण के महत्व मे अन्तर केवल इतना ही है कि कर्त्ता के बगैर करण स्वयं कुछ नहीं कर सकते, इनका प्रयोग करने वाला, प्रवृत्ति कराने वाला कर्त्ता होना ही चाहिए, कर्त्ता चाहे जिस उपकरण से अपनी कार्यसिद्धि कर सकता है। वह उपकरणों की पसदगी में स्वतन्त्र है। द्रव्यों के सिद्धि देने वाले गुणों के विषय में शास्त्रों में कहा है कि:—

(१) द्रव्य में सम्पत् होनी चाहिए। सम्पत् शब्द प्रशस्ततासूचक है जो स्वाभाविक गुणों की पर्याप्त उपस्थिति से अभिलक्षित होती है। अर्थात द्रव्य के निर्दिष्ट कार्य कर गुणों एवं तत्वों को उपस्थिति यथावश्यक मात्रा में होनी चाहिए। दूध जीवनीय द्रव्य है किन्तु वह स्निग्ध, मधुर आदि ओज के समान गुणों की उपस्थिति होने पर ही जीवनीय होता है। जब वह इन गुणों से हीन केवल श्वेत द्रव होता है तो अभीष्ट कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार समस्त द्रव्यों में अपने स्वाभाविक गुणों की यथावद् उपस्थिति ही द्रव्य सम्पत् है। और वही सिद्धि का प्रमुख आधार है। आयुर्वेदीय औषध द्रव्यों की वर्तमान स्थिति का विचार करने पर इस प्रकार के गुणसम्पद्युक्त औषधों की दुष्प्राप्तता ही प्रमुख रूप से नजर आती है। कार्य कर और कीमती औषधियों में मिलावट, सूखी औषधियों में पुराणता और जन्तुजग्धता के कारण निःसारता सन्दिग्ध औषधियों में रूप या गुणसाम्य वाली किन्तु भिन्नकर्मा प्रतिनिधि द्रव्यों की भरमार, ताजे औषधी की प्राप्ति एवं संचय की कठिनाइयां,

नामरूपज्ञ भिषग् एवं वनवासियों का भी क्रमशः ह्रास हमारी द्रव्य सम्पत् को घटा कर परम्परा या कार्यक्षमता के निरन्तर प्रतिबंधक हैं जिनके निवारण के उपाय अभी तक नहीं ढूंढे गए हैं।

(२) तत्रयोग्यत्वम्

तत्र तत्तद् रोगे रोगिणि च योग्यत्वम् व्याधि हरत्वेन सम्यक् कर्म कर्तात्वम्। अर्थात् रोग की अवस्था और रोगी की अवस्था - मृदुमध्य तीक्ष्ण व्यक्ति तथा बालवृद्ध, तरुण, क्षीण बलवान आदि अवस्था भेद के अनुसार जिसका प्रयोग हो सके और सम्यग् योग होकर फल अभीष्ट हो वह योग्य औषध है। इस प्रकार प्रत्येक रोग की विभिन्न अवस्थाओं और रोगी की विभिन्न शरीर स्थिति के अनुसार प्रयोग हो सके इस प्रकार की द्रव्यों का सुलभ होना भी अत्यावश्यक है। बाल में तीक्ष्ण औषध और बलवान् में मृदु औषध का प्रयोग तथा तीव्र व्यक्ति में मृदु औषध और मृदु व्यक्ति में तीक्ष्ण औषध का प्रयोग अहितकर होता है। अतः अवस्थानुरूप समुचित औषध का सुलभ होना परमावश्यक है। हमारे विशाल औषध समूह में इस प्रकार के औषधों की सुलभता अवश्य है किन्तु सबके लिए यथोक्त रूप में सज्ज भेषज होना आर्थिक दृष्टया साध्य नहीं हो सकता।

(३) बहुता—

पर्याप्त राशि में औषध प्राप्त होना चिकित्सा की सिद्धि में इस तरह आवश्यक है कि ठीक मौके पर दुर्लभ औषध की प्राप्ति कठिन होती है अतः प्रत्येक औषध का पर्याप्त मात्रा में पहले से ही सुलभ हो इस प्रकार से संग्रह कर लेना चाहिये। संगृहीत या असंगृहीत किसी भी औषध की किसी भी मौसम में यथेच्छ मात्रा में प्राप्ति हो यही चिकित्सा की प्रथम आवश्यकता है। योग्य औषध भी अप्राप्य हो या अल्प राशि में होने से प्रयोगकाल में ही निःशेष समाप्त हो जाय तो इससे फल नहीं मिल सकता। अतएव उपकल्पनीयाध्याय में पूर्व से ही आवश्यक संचार को तैयार रखने का उपदेश दिया गया है। एक कर्म के लिये अनेक औषध हों यह भी बहुता का तात्पर्य जैसे हमारे यहां ज्वरघ्न कासघ्न आदि के गुण बताये गये हैं जिनमें से जो सुलभ हो उनका एक या अनेक का प्रयोग किया जा सकता है।

अनेक विध कल्पना—

औषध द्रव्य ऐसा हो जिसके विविध प्रकार के निर्माण बनाये जा सकें। रोगी की रुचि एवं कोष्ठादि की अवस्था के अनुसार तथा प्रयोगमार्गों की विविधता के अनुसार तथा सर्वकाल के लिए औषध की सुरक्षितता तथा कार्यक्षमता बनी रहे इस दृष्टि से औषध के ऐसे निर्माण-विविधयोग-कल्पनायें बनाई जा सकें जिससे उन विविध उद्देश्यों की पूर्ति हो। हमारे आचार्यों ने निर्माण विकल्पों का उपदेश करने के लिए कल्प स्थान का अलग विभाग रखा है, तो आधुनिक विज्ञान ने इसको एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में ही विकसित किया है।

उसको नाक-भौंह सिकोड़ना तथा अन्य घृणा के भाव को प्रदर्शन करना त्यागना होगा। अन्यथा वह परिचर्या नहीं कर सकेगा और स्वयं भी दुःखी होगा। घृणा करने से रोगी के और वैद्य के रोष का भी भाजन बनेगा। अतः इन परिस्थितियों से अभ्यस्त बनना और जुगुप्सा के भाव को छोड़ना ही परिचारक का प्रथम कर्त्तव्य होता है। (६) व्याधित रक्षणे युक्तः तथा

(७) अश्रान्तः—सर्वदा रोगी की सेवा करके उसको रोग-मुक्त करने के उद्देश्य से और उसके हर कष्ट को कम करने के लिए तत्पर रहना तथा इस क्रिया में थकान-श्रम का अनुभव न करना। अपने देह को इस प्रकार अभ्यस्त करे कि सेवा-कार्य में घण्टों व्यस्त रहने पर भी श्रम का अनुभव न करे।

(८) बलवान—श्रम सहन कर सके इसलिए परिचारक को बलवान् होना चाहिए। स्वयं पूर्ण स्वस्थ और बलवान् न होने पर शुश्रूषा के श्रम से तथा संक्रमण आदि से वह स्वयं रोगी हो जाएगा। बल यहां शरीर-शक्ति के साथ रोग प्रतिबंधन शक्ति के अर्थ में भी समझना अधिक संगत होगा। शस्त्र कर्मादि के अवसर पर सहायता के लिए भी बलवान परिचारक की आवश्यकता होती है जो रोगियों के स्थानान्तरण कराने का तथा उठाने का कार्य अविश्रान्त रूप से कर सके।

(९) वैद्यवाक्यकृत अथवा आज्ञाकारी—परिचारक का यह अन्तिम गुण अन्य गुणों से भी अधिक आवश्यक है। वैद्य की आज्ञा का पूर्णतया पालन करना परिचारक का मुख्य कर्त्तव्य है। वैद्य की आज्ञा का अनादर करके मनमाना व्यवहार करने वाला परिचारक अन्य गुणयुक्त होने पर भी अनुपादेय रहता है। क्योंकि वैद्य की सारी प्रतिष्ठा एव सफलता-विफलता का तथा रोगी के जीवन-मरण का आधार उसके बर्ताव पर है। आज्ञालोपी परिचारक से वैद्य क्या आशा रख सकता है।

वर्तमान काल के चिकित्सकों वैद्य डॉक्टरों के समान परिचारकों का भी एक व्यवसायी वर्ग बन गया है और उनके शिक्षा-दीक्षा आदि के प्रबन्ध चिकित्सक वर्ग के समान ही अलग रूप से किये गए हैं। वर्तमान समाज में इस वर्ग का बड़ा महत्त्व माना गया है। हमारे यहां आयुर्वेद के अनुसार सेवा-कार्य के लिए कोई परिचारक वर्ग उपलब्ध नहीं होता। प्राचीन काल में कोई खास वर्ग नहीं था या नहीं यह जान नहीं पड़ता। परिचर्या का कार्य प्रायः परिवार के लोग विशेषतया माता, बहिन, पत्नी तथा इतर सम्बन्धी या दास वर्ग किया करते थे। परिचर्या में रोगी के प्रति स्नेह तथा वैद्य वाक्यवर्तित्व प्रमुख गुण है। किन्तु परिचर्या की कला—उपचारज्ञता, दाक्ष्य, शौच, अजुगुप्सा, अश्रान्तत्व इन गुणों के आधार पर ही विकसित हुई है जिनका हमारे आचार्यों ने पूर्वोक्त रूप में निर्देश किया है। वैद्य और परिचारक का सहयोग हो तो चिकित्सा-कर्म रोगी की व्यथा कम करने में अवश्य

इन दोनों के कार्यों को सफलता तक पहुंचाने वाला तीसरा पाद परिचारक उतना महत्त्व न रखते हुए भी उपेक्षणीय भी नहीं है। परिचारक के गुणों में (१) दाक्ष्य और (२) शौच उतने ही आवश्यक हैं जितने कि वैद्य में। प्रत्येक परिस्थिति में बिना घबड़ाये रोगी के हित में अवस्थानुसार जो आवश्यक हो वह करने की सूझबूझ और तत्परता परिचारक में भी नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार गम्भीर परिस्थिति में भी हिम्मत से शुश्रूषा करते रहना एवं अपनी दृढ़ता से रोगी तथा उसके सम्बन्धियों को धैर्य बंधाना भी दाक्ष्य का आवश्यक अंग है। चिकित्सक की सफलता परिचारक के दाक्ष्य पर इस प्रकार महदंश से अवलम्बित है। शौच भी हाथ-वस्त्र-नख-केशादिक का बाह्य तथा मानसिक शौच परिचर्या के गुणों में आवश्यक अंग हैं। इनके अतिरिक्त—

(३) **उपचारज्ञता**—अर्थात् शुश्रूषा की कला को जानना। शुश्रूषा के विविध तरीकों का यथा—स्वेद, अभ्यंग-बस्ति, लेप, अवगाहन आदि का तथा कषायपेया, मण्ड आदि पथ्य तथा स्वरस, शीत, फांट, क्वाथ आदि औषध प्रयोगों के तरीकों को जानना परिचारक के लिए आवश्यक है। औषधों का मिश्रण एवं वितरण भी इसमें आ जाते हैं। उपचार में रोगी के साथ बर्ताव भी निहित है। रोगी के मन की प्रसन्नता रखते हुए भी नियमित समय पर औषध-पथ्यादि के व्यवहार में उसके विरोध को दूर करते हुए मधुरता एवं मृदुता के साथ दृढ़ता से औषधादि का आज्ञानुसार सेवन कराना यह भी उपचारज्ञता है। इसमें बड़ी बुद्धिमानी, युक्ति, सहिष्णुता एवं दृढ़ता तथा मिष्टभाषिता आदि गुणों के संयोग की आवश्यकता होती है: क्रोध, कटु-भाषिता, आलस्य तथा प्रमाद या अतिमृदुता और दीर्घसूत्रता सम्यगुपचार में बाधक दोष होते हैं।

(४) **भर्तरि अनुराग**—सेवा का कार्य सेवा-भावना से कर्त्तव्य के रूप में किया जाय, या पैसे के बदले में किया जाय या स्नेह आदि सम्बन्ध विशेष से किया जाय इन सब में बड़ा अन्तर होता है। कर्त्तव्य भावना से या स्नेह-भक्ति सम्बन्धवश होने वाली सेवा बोझ रूप नहीं बनती और बिना प्रत्युपकार की आशा से बड़े कष्ट को झेल कर भी अथक रूप से की जाती है। द्रव्यक्रीत सेवा में यह भावना नहीं आ सकती। तथापि किसी भी प्रकार के रोगी की सेवा करने वाले में रुग्ण के प्रति समभाव और सहृदयता होना नितान्त आवश्यक है। इस गुण का सेवा-वृत्ति करने वाले वैद्य और परिचारक में विकास होने पर ही उनकी सफलता निर्भर करती है।

(५) **अजुगुप्सु**—परिचारक के इतर गुणों में यह गुण भी अवश्य होना चाहिए। रोगी की सेवा करने वाले को पहले से ही यह जान लेना चाहिए कि उसको कराहते हुए, बिलखते हुए तथा लाला, मल, मूत्र, शोणित, पूय आदि घृणित एवं बीभत्स एवं दुर्गन्धित पदार्थों से लिप्त रोगी तथा उसके सामानों का ही सामना करना होगा और इस कार्य को करते समय

(४) ज्ञापकत्व—यह भी रोगी का परमावश्यक गुण है। अपनी सब व्यथाओं को एवं कारणों को बिना छिपाए यथार्थ रूप में यदि रोगी बताता है तो इससे निदान में सहायता तथा सही चिकित्सा निर्धारण में सहायक होता है। रोग के विषय में लज्जा या अन्य कारणवश छिपाने वाले रोगी का ठीक उपचार करना वैद्य के लिए दुष्कर बन जाता है। अपथ्य सेवा या उपद्रव होने पर भी न बताना या विकृत करके बताना ये सब वैद्य को और अपने स्वयं को धोखा देना ही है जिसका दुष्परिणाम वैद्य की यशोहानि और रोगी की व्यथा का अप्रशम ही होता है। छिपाने के समान ही अपनी व्यथाओं को बढ़ा चढ़ा कर कहने की प्रवृत्ति निन्दनीय होती है जो रोगी को वैद्य के लिए अनाप्त बनाती है। यथार्थ कथन ही ज्ञापकत्व गुण बनता है। रोगी की छिपाने की या बढ़ा चढ़ा कर कहने को प्रवृत्ति से सत्यान्वेषण करने के लिए ही वैद्य को ऊहापोहवितर्क एवं विज्ञानकुशल होने की आवश्यकता होती है।

(५) आस्तिक—वैद्य के तथा उसके औषधोपचार में अथवा जिस चिकित्सा पद्धति से चिकित्सा करवाता हो उसमें रोगी की श्रद्धा होना भी आवश्यक है। श्रद्धाहीन तथा दोषदर्शी या विरुद्ध मत रखने वाले में चिकित्सा से अभीष्ट लाभ नहीं हो सकता। ईश्वर में तथा देवादि में श्रद्धा भी आस्तिकत्व कही जाती है। इसके रहने पर देवादि की श्रद्धा से धैर्य तथा मनोबल की वृद्धि होती है तथा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा प्रार्थना आदि का भी सहयोग मिलता है।

(६) आत्मवान्—रोगी संयमी होना चाहिए तभी उसकी चिकित्सा में यश मिलता है। मन एव इन्द्रियों की लोलुपता रोगवृद्धि में सहायक तथा औषध-सेवन तथा पथ्य के नियमों के पालन में बाधक होती है। आत्मवान् रोगी ही वैद्य वाक्यस्थ रह सकता है। तथा यह गुण धैर्य-क्लेशक्षमत्व आदि सत्वबल को भी सूचित करता है। अनात्मवान्-हीनसत्व को सूचित करता है।

(७) द्रव्यवान्—द्रव्य चिकित्सा का अंग है: द्रव्य शब्द यहां मुख्यतया धन के अर्थ में है किन्तु अन्य द्रव्य उपकरणादि भी तन्मूलक होने से इसके द्वारा अर्थापत्ति द्वारा प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्य रहने पर औषध एवं आवश्यक उपकरणों-संभारों का भरण पूर्व से हो या आवश्यकता पड़ने पर तत्काल जुटाना आसान रहता है। किन्तु दरिद्र के लिए द्रव्य साध्य औषध उपकरणादि के अभाव में जो कुछ अन्यथा उपलब्ध हो उसी से काम चलाने के सिवाय और कोई चारा नहीं होता। अतः द्रव्य को गुण माना है।

(८) आयुष्मान तथा रोग साध्य हो। अल्पायु या अरिष्टग्रस्त में अथवा असाध्य रोगग्रस्त में चिकित्सा का कोई फल नहीं मिलता क्योंकि आयु ही समाप्त हो चुका होता है या रोग

चिकित्सा की सीमा पर पहुँच चुका होता है। ये सब भेषज के कर्म को विफल कर देते हैं। अतः आयु और साध्य रोग रोगी के गुणों में गिनाये हैं।

इन चार पादों में रोगी और परिचारक आयुर्वेद तथा इतर चिकित्सा-पद्धतियों के लिए तथा पूर्वकाल में एवं वर्तमान काल में एकसे ही हैं। इनके विषय में स्थिति में विशेष अन्तर नहीं मालूम होता। किन्तु भिषक् और भेषज इन दोनों की स्थिति में महदन्तर—पूर्वकाल में तथा वर्तमान काल में एवं आयुर्वेदानुयायी तथा इतर पद्धति के अनुयायी चिकित्सकों में आ गया है। वैद्य के जिन अभीष्ट गुणों की आवश्यता समझी जाती है और शास्त्रों में जिनके आधान पर बड़ा जोर दिया है उनके विकास के लिए जो जो साधन-शास्त्र ज्ञान के या कर्माभ्यास के होने चाहिए वे सब अपर्याप्त हैं। यह अभी तक के शिक्षा प्रयोगों के परिणामों तथा अनुभवों से स्पष्ट हो गया है। इस स्थिति को सुधारने के लिए परस्पर विरोधी दलों में विभक्त होकर स्वबन्धु तथा स्वजातीय विरोध में जो शक्ति एवं साधन का दुर्व्यय होता है तथा इससे प्रतिपक्षियों की इष्ट सिद्धि में साधन बन जाता है, उससे बचना प्रथम कर्त्तव्य है। तथा अखिल भारत स्तर पर शिक्षा एवं कर्माभ्यास की एक-रूपता लाने में और एतदर्थ धन-साधन का समान रूप से विनियोग करने में एकमत्य होना दूसरा कर्त्तव्य है। इसके लिए Indian medical Council के समकक्ष आयुर्वेद के लिए भी उच्च सत्ता प्राप्त अभिकरण या समिति का गठन परमावश्यक है। ओजस्वी और कर्मकोविद वैद्य के निर्माण के लिए एकरूपता तथा विपुल साधन स्रोतों का चयन आवश्यक है जो आयुर्वेद को भी उज्वल भावि की ओर लेजा सके।

भेषज की स्थिति को सुधारने के लिए भी वैद्यों के परामर्श से ही ताजे एवं सूखे कच्चे द्रव्यों की प्राप्ति का प्रबन्ध, औषध निर्माण कला का विकास, तथा मिलावटों की रोकथाम आदि के लिए शासन एवं व्यावसायिक वर्ग के सहयोग से कुछ स्थिति सुधार कर प्रयत्न होना चाहिए जिससे कि जनता के स्वास्थ्य सुधार में आवश्यक औषधें ताजा, पूर्ण शक्तिसम्पन्न तथा सरलता से सर्वत्र सुलभ हों।

इस प्रकार ज्ञान एवं साधनों से सुसज्ज वैद्य ही रोगों के उत्पादक कारणों को, रोगों के स्वरूप की विशेषताओं को तथा उनके विशेष उपचारों को भली भांति से समझता हुआ रोग निवारण तथा उसके पुनराक्रमण की रोकथाम में सक्षम तथा सफल बनेगा तब राजाई-राज्य से सम्मान प्राप्त भी अवश्य बनेगा।

रक्तचाप

लेखक - वैद्य प. रामप्रसाद दीक्षित

[वैद्यराज श्री रामप्रसादजी दीक्षित, पीयूषपाणि सफल चिकित्सक होने से 'प्राणाचार्य', तथा आयुर्वेद विज्ञान के तात्विक विद्वान् होने से 'आयुर्वेद महोदधि पारंगत' रसायन शास्त्र की मार्मिकता को समझाने वाले ज्ञान वयोवृद्ध श्री धन्वन्तरि फार्मेसी (सरदारशहर) के द्वारा भल्लातक (जिसके कि प्रयोगों से आज चिकित्सक जगत् उदासीन व भयभीत है) के आशुफलप्रद प्रयोग से रुग्ण जनजीवन का उपकार कर रहे है। आपकी इस अवस्था में भी अन्वेषण की ओर सतत रुचि रहती है। आपने इस सारगर्भित लेख में अपने जीवन के चिरसंचित अनुभवों के निचोड़ से आधुनिक विज्ञान को चुनौती दी है। तथा अपना वातरोग पर एक अनुभूत एवं सर्वसुलभ सस्ता प्रयोग लिखकर प्रकाशनार्थ भेज कर महान् उपकार किया है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आधुनिक युग का अति प्रचलित रक्तचाप (Blood presser) जो कि वर्तमान युग के अति प्रक्षुब्ध जीवन में बहुधा देखा जाता है। यह आयुर्वेदीय ग्रन्थों में नानात्मज रोगों में बताया गया रोग लक्षण जैसे श्लेष्म नानात्मज रोगों मे बताया गया 'धमनी प्रतिचय' जिसका अर्थ होता है धमनियों की अतिपूर्ति—रस रक्त के अति पोषण से धमनियों की परिधि का अधिक हो जाना, और उनमें रस रक्त की गति का मन्द और गुरु होना। यह धमनियों का विस्तार वात नानात्मज से भी होता है परन्तु उसमें धमनी गुरु तथा मन्द नहीं होती किन्तु वायु के वैषम्य से कठिन, चल, तीक्ष्ण तथा कभी मन्द व क्षीण हो जाती है। इसे काश्यप ने धमनी उपलेप नाम दिया है और योगीन्द्रनाथ ने इसका अर्थ अति पूरण लिखा है।
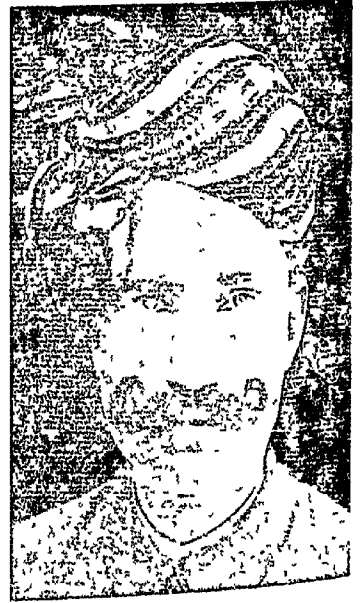
कोई भी द्रव नलियों मे बहता हुआ अपना वजन उन नलियों पर डालता है, रक्त भी बहता हुआ अपना भार रक्तवाहिनियों पर डालता है जिसे रक्त चाप या रक्त भार कहते है। इसका बढ़ जाना अर्थात् प्रतिचय, उपलेप या पूरण में तम, शिरोरोग, रक्तपित्त, भ्रम, मद, बुद्धिवैकल्य, तथा मूर्च्छा, संन्यास, पक्षाघात में परिणति जिसमें रक्तांगता, रक्तनेत्रता,

सिरापूर्णता आदि द्वारा प्रकट किया है जिसे हाई ब्लड प्रेसर कहा जाता है। यह रक्ता-धिक्यता के लक्षणों में प्रकट किया है।

रक्तक्षय के लक्षणों में बताया गया सिरा शैथिल्य आधुनिक युग के लो ब्लड प्रेसर की ओर संकेत है, जिसका परिणाम मांसक्षय, जिससे मांस धातु के बने हृदय तथा सिरा-धमनियों मे दुर्बलता होने लगती है। क्योंकि सिरा धमनियों का निर्माण मांस सूत्रों से होता है—जब कि मांस क्षय हो जाने से उनका संकोच प्रसार की प्राकृत क्रिया नहीं हो पाती।

सिरा पूरण वात तथा पित्त दोनों दोषों के प्रकोप से हो सकता है। पित्त के प्रकोप से तीक्ष्ण गुण बढ़कर वेगाधिक्य हो जाता है। तथा वात प्रकोप से उन मे संकोच व स्तम्भ होकर उनकी प्राकृतिक क्रिया में बाधा पैदा कर देते हैं। तथा कफ से मन्द गुण होकर वेग-वहन की मन्दता हो जाती है।

रक्तभारवृद्धि High Blood presser के कारण

(१) स्वतंत्रकारण—आनुवंशिकता, विष, वृद्धावस्था, मिथ्याविहार।

(२) परतंत्रकारण—राजयक्ष्मा, आमवात, वातरत, अर्बुद, मधुमेह, हृद्रोग और संसर्गज व्याधियां—

यह लक्षण सामान्यतया वृद्धावस्था की परिहाणि अवस्था में धातुओं का सम्यक् प्रीणन नहीं हो पाता तथा रस का योग्य विनियोग नहीं होने से रसधातु की वृद्धि होती है और वह हृदय तथा धमनी इनमे संचित होता रहता है। इस क्रिया में मद्यपान, चाय, कॉफी, तम्बाकू आदि मादक और उत्तेजक पदार्थ मांस मसाले आदि का सेवन रक्तभार को अत्युच्च करते हैं। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के समय अर्थात् चालीस वर्ष से ऊपर, तथा मानसिक चिन्तन, उद्वेग, चिन्ता, मनस्संताप से भी रक्तभार वृद्धि होती है।

रक्तभाराधिक्य के लक्षण

मस्तकशूल, चक्कर आना, कर्णनाद, निद्रानाश, चिड़चिड़ापन, वमन, थकावट, घर्घरश्वास, हृदयावसाद, हृद्द्रव, उरोरुक् श्वासोच्छ्वास में त्रास, मूत्र की अधिक प्रवृत्ति विशेषतया रात्रि में, पैरों में पीड़ा, हृत्प्रदेश में भार, आदि लक्षण होते हैं।

रक्तभाराधिक्य रोगी की परीक्षा के समय इसके कारणों की जानकारी करते हुए जीर्ण उपदंश, मधुमेह, आनाह, मूत्ररोग जैसे निदानार्थ कर रोग देखना आवश्यक है। क्योंकि इसकी चिकित्सा निदान को ध्यान में रख कर की जाय।

न्यून रक्तचाप (Hypotension)

रक्त का कार्य जीवन व प्रीणन है। यह समस्त शरीर में भ्रमण कर ये क्रियाएं

करता है, इसके भ्रमण में सर्वशरीर धातुव्यूहकर है। इसकी धातुव्यूहन की प्रक्रिया में संकोच तथा विकास जो कि हृदय की क्रियाएं प्रतिक्षण होती हैं कारणभूत हैं। उसी आधार से रक्त भार संकोच (सिस्टोलिक) तथा विकास (डायस्टोलिक प्रसर) कहलाता है। इसको न्यूनता से धातु व्यूहन की शिथिलता हो जाती है।

रक्तभारन्यूनता के लक्षण

हाथ पैर ठंडा होना, अशक्ति, निरुत्साहिता, थकावट, चक्कर आना, बेसुधता (मोह मूर्छा)

चिकित्सा के लिये जानने योग्य बातें—

सर्व प्रथम कारण ज्ञान प्राप्त कर रोगी के दांतों की परीक्षा करे। यदि पूयदन्त या शीताद का रोगी हो तो पहिले इनकी चिकित्सा की ओर ध्यान दें यदि अधिक विकृत है तो निकलवा दिये जांय। रक्तभारपादक यन्त्र (स्फीग्मोमीनोमीटर) का प्रयोग भी रोगी के दिल पर बुरा असर डालने वाला हो जाता है। यदि रोगी मेदस्वी हो तो अपतर्पण की ओर ध्यान दिया जाय। तथा मल शुद्धि व देह शुद्धि, तथा निद्रा की ओर विशेष सतर्कता रखी जाय। यदि अनिद्रा की कोई शिकायत न हो तो रक्त चाप घटाने का प्रयत्न कभी नहीं करे। वृक्क या मूत्रपिंड विकार न हो तथा मस्तिष्क धमनियां कठोर न हुई हों तो प्रकृति स्वयं अपना कार्य यथावत् कर लेगी। रोगी अधिक श्रम न करे, नींद लाने तथा थकावट को कम करने के लिये द्राक्षासव, सारस्वतारिष्ट अश्वगंधारिष्ट तीनों का मिश्रण कर सेवन करे। मलशुद्धि के लिये मृदुरेचन या बस्ति प्रयोग करे।

रक्त के दवाव को कम करने के लिये प्रवाही भोजन जैसे मौसंबीरस, संतरा, नारियल का पानी, मधुर तक्र, यववारि, आदि का प्रयोग करें। नमक, मिठाई, तले पदार्थ को सर्वथा परित्याग करे। यदि अत्यावश्यक हो तो सैंधव ले। २-३ दस्त हो जाने से रक्त दवाव कम हो जाता है।

अभ्यंग—समस्त शरीर में तिल तैल, नारायण तैल का मालिश किया जाय।

हरा या सूखा लहसुन शाक, सब्जी चटनी आदि में प्रयोग करे। कच्चे रसोन का प्रयोग रक्तभाराधिक्य में तथा संस्कृत (छोंका हुआ घी में) रक्तभारन्यूनता में दिया जाय।

विस्रावण—

अत्यधिक बढ़े रक्तभार को कम करने के लिये रक्त विस्रावण द्वारा शोधन करे। मुख्यतया तीन उपक्रम (१) रेचन लंघन (३) रक्तमोक्षण प्राच्य पाश्चात्य दोनों चिकित्सा-पेथियों द्वारा साहश्यता प्रकट करते हैं।

कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्तपित्त हरी क्रियाम्।
विरेकमुपवासं वा स्रावणं शोणितस्यच।

जलौका प्रयोग नेत्र के पास २ और शंखास्थि के पास २ इस प्रकार ४ जलौका के प्रयोग से रक्तविस्रावण करे। उच्च रक्तचाप वातपित्तात्मक व्याधि है अतः जलौका, तथा विरेचन अत्युत्तम प्रयोग है। उपद्रवस्वरूप रक्तपित्त हो तो एरंड स्नेह तथा रुद्रहरीतकी, तथा तीव्रावस्था में अश्वकञ्चुकी या इच्छाभेदी का प्रयोग किया जाय।

शमन चिकित्सा—

रोगी दो प्रकार के होते हैं स्थूल, व कृश, स्थूलों मे अपतर्पण तथा कृशों मे सतर्पण करे। अत्यधिक रक्त चाप की वृद्धि पक्षाघात की कारण भी बन जाती है।

अनुभूताचिकित्सा—

(१) सर्पगंधा मूलत्वक् २½ से ५ रत्ती शतपत्र्यादिचूर्ण ३ माशा ऐसी एक एक मात्रा दूध और मिश्री के साथ दे।

रात्रि में त्रिफला चूर्ण ६ माशा गोघृत डालकर गुलकंद गुलाब मिला दस तोला जल के साथ दे।

(२) चन्द्रप्रभा ४ रत्ती, आरोग्यवर्धिन   रत्ती। ऐसी एक मात्र पुनर्नवाष्टक क्वाथ में शिलाजतु ६ रत्ती मिला कर सवेरे दें।

दिन मे २ बार द्राक्षारिष्ट, सारस्वतारिष्ट १¼ तोला मिला कर दें। रात्रि में पुनर्नवाष्टक क्वाथ में एरण्डस्नेह १¼ तोला मिला कर दें।

(३) सर्वप्रथम इच्छाभेदी दे कर राजरेचन ३ से ६ माशे जल के साथ दें।

प्रातःकाल सर्पगंधामूलत्वक् ३ रत्ती, शिलाजीत ६ रत्ती दूध के साथ दें।

दिन में २ बजे चन्द्रावलेह ६ माशे से १ तोला तक दूध के साथ दें। सायंकाल कृष्णचतुर्मुख १ रत्ती दूध से दें। रात्रि में शयन के समय सर्पगंधा ३ रत्ती, शिलाजीत ६ रत्ती थोड़े से दूध के साथ दें।

यदि हृत्स्पन्दन (Palpitation of Heart) अधिक हो तो—सगेयशव १ रत्ती, अकीकपिष्टी १ रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती आंवला के मुरब्बा के साथ दें।

(४) मनस्विनी २-२ रत्ती की मात्रा में २-२ गोली दें। अनुपान दूध-मिश्री, इससे रक्तभाराधिक्य, चित्तभ्रम, अनिद्रा, मनोविभ्रम, मानसिक दौर्बल्य आदि रोग दूर हो कर शान्त निद्रा आने लगती है, और दिल और दिमाग में शान्ति प्राप्त होती है।

विशेष—लेखक की 'रामानुभवमञ्जूषा' नामक पुस्तक प्रेस में छप रही है। विस्तारभय से इसका प्रयोग इसमें नही लिखा जा रहा है, यह वहीं देखें।

आधुनिक चिकित्सकों के पास इसकी समुचित चिकित्सा नही है किन्तु निम्न उपाय से दौरे सर्वथा बन्द हो जाते हैं।

(५) चिन्तामणि रस (सृ. घ.) १-१ गुंजा की मात्रा में अनुपान कुष्माण्ड स्वरस १० से २० तोला के साथ दें। इससे रक्त-चाप कम हो जाने पर फिर कभी रक्त-चाप नहीं बढ़ेगा।

न्यून रक्त-चाप (Low Blood-pressure)

शारीरिक और मानसिक दुर्बलता से रक्तभ्रमण धीमा हो जाता है जिससे रोगी अनमना, चिन्ताशील उद्विग्न रहता है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है रोगी अधिक निःसत्व हो जाता है तथा क्षुधामांद्य, शिरःशूल, निद्रानाश आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

आरोग्यवर्धिनी ४ गुंजा, सुवर्णमाक्षिकभस्म २ गुंजा, प्रातः-सायं १ मात्रा दूध-मिश्री के साथ दें।

भोजन के बाद अग्नितुण्डी २-२ गोली पानी के साथ दे। ४ बजे ताप्यादिलौह ४ गुंजा, मुक्ताभस्म १ गुंजा, च्यवनप्राश १ तोला के साथ दें। रात्रि में शयन-काल में कृष्ण-चतुर्मुख १ गुंजा दूध के साथ दें। अभ्यंग नारायण तैल से करें।

(२) प्रातःकाल सिद्धमकरध्वज १ रत्ती, विषमुष्टिक १ रत्ती, लौहभस्म १ रत्ती, प्रवालभस्म १ रत्ती आंवला के मुरब्बा के साथ दें।

भोजन के बाद—द्राक्षारिष्ट १ तोला, लोहासव १ तोला, अश्वगन्धारिष्ट १ तोला दुगुना जल मिला कर दोनों समय दें।

रात्रि में रसराज १ रत्ती, शिलाजीत ६ रत्ती दूध के साथ दें।

शिवागुडिका—आयुर्वेद में जीर्ण और कठिन व्याधियों में रसायन-प्रयोग का विधान है—"यज्जराव्याधि विध्वंसी भेषजं तद्रसायनम्"।

जो वृद्धावस्था और रोगों को दूर करे उसे रसायन कहते हैं। परिहाणि की स्थिति की निष्क्रियता, शिथिलता आदि को दूर करने वाले प्रयोगों को रसायन कहते हैं। इससे रक्त-वृद्धि होती है तथा शक्ति, स्फूर्ति, बल-वृद्धि हो स्वस्थ शरीर बनता है। इसका प्रधान द्रव्य शिलाजतु है "नसोऽस्ति रोगो भुवि साध्य रूपो शिलाह्वय यन्न जयेत्प्रसह्य" धरातल पर ऐसा कोई रोग नहीं जिसे उचित अनुपान एव संस्कार के साथ शिलाजीत नष्ट न करे। इसके सेवन से उच्च रक्त-चाप, हीन रक्त-चाप इन दोनों लक्षणों में आशातीत लाभ प्राप्त होता है। ऐसा कई वर्षो का अनुभव है। इसका प्रयोग धैर्यपूर्वक निरंतर चलना चाहिए।

विशेष महत्व की सूचना—

१ मनःक्षोभ हो, ऐसी स्थिति बार-बार हो, उससे ही रक्त-चाप का विकार होना सम्भव होता है। इसलिए शीघ्र-कोपी मनुष्य को विवेकी बनना चाहिए।

२ सुख-दुःख समेकृत्वा लाभालाभौ जया जयौ। यह गीता की शिक्षा सदैव आंखों के सामने रख कर स्थितप्रज्ञ बनना चाहिए। फिर रक्त-चाप का विकार कभी नहीं होगा।

३ शारीरिक और मानसिक श्रम बन्द करके सम्पूर्ण विश्रांति लेना चाहिए। यह रक्त-चाप की अव्यर्थ महौषधि है।

४ संयम से रहने और आहार-विहार में पथ्यापथ्य का पालन करते रहने से ब्लडप्रेशर (रक्त-चाप) का रोग होने पर भी अनेक वर्षों तक जीवन व्यतीत कर सकेंगे। इससे भय करने की आवश्यकता नहीं है।

५ सुवर्ण के तन्तु में पिरोई हुई रुद्राक्ष की १०८ मणका की माला अंगूठे, तर्जनी और मध्यमा अंगुली की सहायता से माला नित्य नियमित फेरने से एवं इष्टदेव का नाम स्मरण करते रहने से शरीर में इलेक्ट्रोसिटी जागृत होकर जीवन में शांति और सुख प्रदान करने में सहायक है। माला गले में धारण करते रहना चाहिए जिससे इसका स्पर्श अंग पर होता रहे। रुद्राक्ष असली हो, भद्राक्ष नहीं।

६ मन को शान्त और स्वस्थ रखना सीखो, रत्तियों की चञ्चलता कम करो, वासनाओं पर संयम रखो, महत्वाकांक्षाओं को मर्यादित करो, लोभ और क्रोध पर अंकुश रखो। गीता का यह प्रवचन सदैव याद रखो—दुःखे ष्वनु द्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतराग भयक्रोधः स्थितधीः मुनि रुच्यते।

'जो मनुष्य हितकारी आहार-विहार का सेवन करता है, बुद्धिपूर्वक देख-विचार कर काम करता है, विषयों में प्रवृत्त नही है, समय पर पात्र को दान देता है, वैर-विरोध न रख कर सबमे समभाव रखता है, सत्य बोलता है, क्षमा वाला स्वभाव हो, प्रामाणिक भद्र पुरुषों की सेवा तथा आज्ञा-पालन करने वाला सदा निरोग रहता है। चरक का यह प्रवचन सदैव अपने सामने रखो—नित्य हिताहार विहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः। दातासमः सत्यपरःक्षमावानाप्तोयसेवो च भक्त्यरोगः।

सर्वे सतु निरामयाः।

वातरोगों पर अनुभूत

लेखक : पं० रामप्रसाद दीक्षित

पुराग्निवज्र—

अशुद्ध (अरुष्कर) भिलावे (वृन्तरहित) १ किलो, अशुद्ध कण गूगल (अशोधित पुर) ½ किलो, अशोधित वज्र (थूहर) ¼ किलो।

प्रथम एक कपड़मिट्टी की हुई मजबूत मिट्टी की हांडी ले कर उसके अधोभाग पर अशुद्ध भिलावे आधे रख कर उस पर अशुद्ध गूगल आधा रख दें। फिर उस पर अशुद्ध वज्र संपूर्ण रख कर उस पर शेष आधा भिलावा रख उस पर गूगल रख दें। हांडी के मुख पर मजबूत ढक्कन लगा तीन कपड़मिट्टी कर सुखा कर गजपुट में फूंक दें। स्वांग शीतल होने पर निकाल निःस्नेह काली भस्म को पीस कर मजबूत कार्क वाली शीशी में रखें।

मात्रा ३ से ६ रत्ती अनुपान घृत, घृतमिश्री, मलाई, गुड़ का हलवा।

उपयोग—अभिघातजन्य पीड़ा, अस्थि-भंग, चोट से खून का जम जाना, हड्डी का खिसक जाना, लचक जाना, वातव्याधि, अर्दित, पक्षाघात (लकवा), संधिवस कुष्ठ, रक्त-विकार, कटिशूल, अर्श आदि अनेक विकारों में अत्यन्त लाभप्रद है। अनुपान भेद से अनेक रोगों को दूर कर शक्ति प्रदान करता है। कुछ संक्षिप्त रोगों के अनुपान इस प्रकार हैं—

१ अभिघातयन्य पीड़ा—गुड़ के हलुवे में लपेट कर निगल जावें और ऊपर थोड़ा हलुवा और खा लेवें। भयकर चोट की कैसी भी पीड़ा क्यों न हो, २४ घण्टे के अन्दर दूर हो जाएगी। रोगी बड़ी शान्ति का अनुभव करता है।

२ अस्थिभग(Fracture)—हड्डी के टूट जाने पर, हड्डी के लचक-मुड़ जाने पर, चोट से खून का जम जाना, सूजन पर इसका अच्छा उपयोग होता है।

हड्डी को जोड़ कर भली प्रकार ऊपर मजबूत पट्टी बांध दें और १५ दिन तक न खोलें। इससे टूटी हुई हड्डी जुड़ कर वह स्थान अत्यन्त मजबूत हो जाएगा। इस पर प्लास्टिक का पक्का पट्टा बांधने की भी आवश्यकता नही है। यह ऐसी चमत्कारिक आयुर्वेदिक महौषधि है। व्यवहार कर देखें। जहां डाक्टर लोग महीने दो महीने बाद पट्टी खोलते हैं, इससे १५-२० दिन में ही हड्डी जुड़ कर अत्यन्त मजबूत हो जाती है। अनुपान—गुड़ का हलुआ।

३ वातव्याधि—प्रत्येक प्रकार की वायु के रोगी को कृष्णा चूर्ण और शहद के साथ सवेरे, शाम दें।

४ पक्षाघात, अर्दित, गृध्रसी, कटिशूल आदि में घृत-मिश्री के साथ दे कर ऊपर महारास्नादि क्वाथ पिला दें। शीघ्र लाभ होगा।

रक्तार्श और वातार्श में रोगी को घृत के साथ दें। कैसा ही खून क्यों न गिरता हो तीन-चार दिन देने से खून बन्द हो जाएगा और अर्शमस्से सिकुड़ जायेंगे।

६ अर्दित पक्षाघात आदि में अद्रख तथा पुदीना के रस और मधु के साथ दें।

७ सब प्रकार की अन्य वातव्याधि में रास्नादि क्वाथ के साथ दें।

८ कम्मर का दर्द, सड़क चलना—शूल शरीर के किसी भाग में हो, पीड़ा हो और अशक्ति आदि में गुड़ का हलुआ (सीरा) के साथ दें।

९ पशु—गाय, भैंस, अश्व आदि के चोट लग जाने पर इसको ६ माशे से १ तोला तक घी १०-१५ तोले में मिला कर पिला दें। इसके ५-७ दिन भयंकर पीड़ा दूर हो जायेगी और पशु के शरीर में अच्छी शक्ति आ जाएगी। पशु को अग्नि और धूप से बचाना।

विशेष वक्तव्य—औषधि सेवन करने से पहले तोला आध तोला भर घृत मुख में डाल कर थोड़ी देर रख कर निगल कर फिर औषधि सेवन कर लें। मेरे यहां यह औषधि सेरों औषधालय में सेवन होती है, आप निस्संकोच व्यवहार करें। सद्यफलप्रद चमत्कारिक महौषधि है।

बाल पक्षाघात एवम् आयुर्वेद

लेखक : वैद्य प्रभुदत्त शास्त्री, भिषगाचार्य

[पण्डित प्रभुदत्तजी, भिषगाचार्य, शास्त्री सर्वप्रथम सीकर आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर आसीन रहते हुए प्राचीन ग्रन्थों में कहां कहां 'वैमत्य' पर खोज की थी। श्री शास्त्रीजी की विद्वत्ता, भाषाज्ञान, सौजन्य एवं सरल स्वभाव के विषय में आयुर्वेद जगत भली भांति परिचित ही है।

आप अभी श्री मदनमोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महा विद्यालय के प्राचार्य हैं। आपने 'बाल पक्षाघात एवम् आयुर्वेद' पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण, खोजपूर्ण एव सरल भाषा में निबन्ध लिखा है। आशा है पाठक इस पर मनन करेंगे।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

प्रकृति, अधिष्ठान, लिंग, आयतन, विकल्प विशेषों के कारण रोगों में असंख्य अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं, तथाऽपि, संक्षेप में विवेक करने पर प्रकृति—(१) आगन्तुक और २ निज-भेद से द्विविध हैं। अधिष्ठान भी दोषी है। (१) मन और (२) शरीर। उक्त दोनों अधिष्ठानों में उत्पन्न होने वाले आगन्तुक और निज दोनों प्रकार के रोगों के प्रत्येक के बाह्य प्रकोपक हेतु (निदान) भी असंख्य हैं जिन्हें संक्षेप में तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। (१) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, (२) प्रज्ञापराध, (३) परिणाम।

शरीर या मन में किसी भी हेतु से उत्पन्न कोई भी विकार प्रतीत होने पर तत्काल उसके नाम की परिकल्पना न भी की जा सके तो आयुर्वेद की दृष्टि में यह कोई लज्जास्पद नहीं है। क्योंकि, असंख्य विकृति विशेषों में सभी में रोग विशेषों के नामों के अनुसार स्थिर अवस्थाएं नहीं देखी जाती हैं। वात, पित्त अथवा कफ इन तीनों में किसी एक दोष के प्रकुपित होने पर भी वह भिन्न-भिन्न प्रकोप के हेतु विशेषों के कारण पृथक्-पृथक् अधिष्ठान विशेषों में पहुंच कर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है। अतएव, प्रकृति, अधिष्ठान और समुत्थान आदि के विभेदों को ज्ञात करके ही चिकित्साक्रम निर्धारित करना अपेक्षित होता है ताकि, चिकित्सा में व्युत्क्रम अथवा असावधानी न हो सके।

चरक संहिता, सूत्र स्थान, अध्याय १८ में वर्णित उपदेशामृत का पान करके तदनुसार रोग परीक्षा, औषध परीक्षा तथा ज्ञानपूर्वक चिकित्साक्रम निर्धारित कर लेना आवश्यक हो जाता है।

बालपक्षाघात नाम की सार्थकता:—

आयुर्वेद के मूल संहिता ग्रन्थों में "बालपक्षाघात" इस नाम से कोई स्वतन्त्र व्याधि

वर्णित नही है। वात-व्याधि प्रकरण मे पक्षाघात वर्ग में एकाङ्ग रोग (वात), अर्द्धाङ्ग रोग (वात), सर्वाङ्ग रोग (वात) का स्पष्टतया उल्लेख अवश्य है परन्तु बाल, युवा, वृद्ध का कोई विशेष भेद निर्दिष्ट नही है। नूतन समझे जाने वाले इस प्रकार के आकस्मिक आगन्तुक या सङ्क्रामक रोगों का पूर्ववर्ती आचार्यो ने दोष-दुष्यादि-विवेक करके उन्हें आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों की परिभाषा में गुम्फित कर दिया है।

चूकि, यह रोग विश्व के सभी भागों में १६ वर्ष तक की आयु के बालकों को ही ग्रसित करता है। आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार १६ वर्ष तक बाल्यावस्था होती है। बालकों के एक अग, पक्ष अथवा किसी कर्मेन्द्रिय मे क्रियानाशघात (Paralyse) कर देता है अतएव इसकी संज्ञा 'बालपक्षाघात' निश्चित की गई है।

"आषोडशवर्षं बाल:, बालस्य बालानाम्वा पक्षस्य एक देशस्य, पार्श्वस्य, द्वयोरनेकानाम्वा वाम-दक्षिणसक्थि-बाहुकरा दिशारीरावयवानाम्, ऊर्ध्वाधः शाखा नाम्वा मध्ये अन्यतरस्य आघात:-कार्य विनाश: चेष्टा हानिः, अस्मिन् रोगे भवतीति "बालपक्षाघात:" इत्युच्यते। "अर्द्धनारी नटेश्वर न्यायेन" 'नारसिंह न्यायेन वा। तात्स्थ्यात्, तात्सादृश्यात्, ताद्धर्म्याद्वा आधिक्येन व्यपदेशा: भवन्तीति न्यायात्। "गङ्गायां घोष:" इतिवल्लक्षणया वा।

कई चिकित्सक इसे शैशवीय अङ्गघात या पक्षाघात, अन्त: सौषुम्न शोथ या ज्वर भी कहते हैं। एलोपेथी मे इसके अनेक नाम प्रचलित हैं, यथा:— 1. Infantile Paralysis, 2. Acute Anterior Poliomylitis, 3. Acute Polio encephalitis, 4. Infantile Hemiplegia, 5. Paraplegia आदि इन सब से एक ही लोक प्रसिद्ध 'पोलियो' नामक व्याधि का अवबोध होताहै।

ग्रीक शब्द 'पोलियोस्' तथा 'म्यूलोस्' के सयोग से पोलियोमाइलाइटिस् संयुक्त शब्द की उत्पत्ति होती है, जिसका तात्पर्य है:- हमारे शरीर में मस्तिष्क भाग में स्थित सुषुम्ना नाड़ी के अन्त:स्थ धूसर या भूरे रंग के पदार्थ (Gray matter) का शोथ। यह धूसर पदार्थ वातनाडी सस्थान का मूलकोष एव जीवित भाग होता है।

कुछ चिकित्सको की राय है कि, दीर्घकाल के पश्चात् रोगी को स्वत: इस रोग से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु प्रत्यक्षत: ऐसा नही देखा गया है। हां, यदि कुछ होता ही है तो वह केवल यही है कि, ऊपर वाले अङ्गों से अल्पमात्रा में प्रभाव हटता है।

आधुनिक वैज्ञानिक इस रोग का मुख्य कारण एक प्रकार का नि:ष्यन्दनशील वायरस (Filterable Virus) नामक विषाणु बतलाते हैं, जो कि, सूक्ष्मदर्शकातीत होने से केवल वैद्युत् अणुवीक्षण यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं। इनका शरीर में प्रवेश ग्रैसनिषीय लसीकाम धातु से होता है, किन्तु रोगी के मल आदि मे भी उसकी विद्यमानता का पता चलने पर आमाशय आदि महास्रोतो अवयवों से भी नासा या मुखमार्ग से इसका शरीर में उत्तरो-

त्तर प्रसार होने का अनुमान किया जाता है। अमेरिका आदि समृद्ध देशों की प्रयोगशालाओं में प्राणियों मे कृत्रिम रूप से भी इस रोग को उत्पन्न करने में सफलता मिली है।

बालपक्षाघात में रोग परीक्षा पद्धति:-

आयुर्वेद में प्रत्येक रोग की परीक्षा निम्नांकित तीन प्रमाणों के आधार पर सम्पन्न की जाती है:-

१. आप्तोपदेश, २. प्रत्यक्ष, ३. अनुमान

चरक संहिता विमान स्थान अध्याय ४ के संदर्भ के अनुसार प्रत्येक परिज्ञात अथवा अपरिज्ञात रोग विशेष में निम्नांकित १५ ज्ञेय विषयों का परिज्ञान सर्व प्रथम आत्मोपदेश द्वारा ही प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। अनन्तर प्रत्यक्ष एवं युक्तिपूर्वक तर्क या अनुमान की कसौटी पर कस कर उसे सुदृढ़ कर लेना आवश्यक है।

आप्तोपदेश द्वारा रोग परीक्षा में ज्ञेय भाव विशेष:-

१- प्रकोपण हेतु (निमित्त कारण), २- योनि-(समवायी कारण), ३- उत्थान (सम्प्राप्तिः), ४- आत्मा (स्वलक्षण), ५- वेदना (आतुर वैद्य दुःखानुभव), ६- अधिष्ठान (स्थान विशेष), ७- संस्थान (चिकित्सक वैद्य पूर्व रूप-रूपादि लक्षण समुदाय), ८- शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध (व्याधि विशेष में पृथक २ आतुर वैद्य तथा चिकित्सक द्वारा परीक्षणीय भाव, अथवा अष्टविध परीक्षा द्वारा ज्ञातव्य विशिष्ट लक्षण (नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र, आकृति-परीक्षा) ९- उपद्रव, १०- दोषों का साम्य-वैषम्य (वृद्धि-स्थान-क्षमावस्था), ११- उदर्क (परिणाम-साध्य, याप्य, प्रत्याखेद आदि), १२- नाम (सार्थक संज्ञा), १३- योग (दोष-दुष्य-बल-काल-अनल-प्रकृति-वय-सत्व-सातय-आहार आदि के संयोग विशेष का ज्ञान), १४- प्रतीकारार्थ प्रवृत्तिः (उपक्षयः), १५- प्रतीकारार्था निवृत्तिः (अनुपक्षयः)।

उपर्युक्त १५ विषयों का ज्ञान आत्मोपदेश द्वारा प्राप्त करके अनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान के सहचर्य से परीक्षय भावों की पूर्ण परीक्षा (विशद विश्लेषण) कर लेने पर प्राप्त रोग विनिश्चय के अनुसार ही सफल चिकित्सा की जा सकती है। वह द्रव्यभूत हो या अद्रव्यभूत, एक द्रव्य से हो या विविध प्रकार के अनेकों द्रव्यों की कल्पना विधियो और आहार-विहारादि के संयोग विशेषों से जैसे भी हो रोगी के लिए आरोग्यप्रद हो। यही आयुर्वेद में वैज्ञानिक चिकित्सकों के लिए प्रशस्त राजमार्ग निर्दिष्ट है। और अनुसन्धान या अन्वेषण की सफल पद्धति भी यही कही जा सकती है।

बाल पक्षाघात में उक्त भावों का विश्लेषण—

(१) प्रकोपक हेतु या निमित्त कारण—

१ आहार अथवा क्षीर-दोष।

२ समुचित प्रकार से पोषण का अभाव ।

३ दन्तोद्भेद के समय उत्पन्न विकृति या दौर्बल्य।

५ निदानार्थकारी रोग विशेष—जैसे वातश्लैष्मिक ज्वर, मसूरिका, रोमान्तिका, मौक्तिक ज्वर, सान्निपातिक अन्य ज्वरों के पश्चात् उपद्रवात्मक रूप से बाल पक्षाघात।

५ पैतृक वंशपरम्परागत विकृति या बीज-दोष ।

६ मर्माभिघातज व्यथा ।

७ प्रपतनादिजन्य व्यथा ।

८ मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना के बाह्य प्रदेश पर विष-प्रभाव या वृश्चिकादि कीटदश ।

९ गलग्रथियाँ और नासार्शो के शस्त्रकर्मप्रभृति ।

१० १ से ५ वर्ष तक की आयु की काल सहायता।

११ विशेषतया वर्षा ऋतु अथवा वसन्त ऋतु ।

१२ रजोधूमाकुल सघन आबादी, आनूप या आर्द्र प्रदेश ।

१३ वात और कफ तथा वातिक एवं श्लैष्मिक ज्वरों के प्रकोपक अन्य निदान।

उपर्युक्त बाह्य निदानों से बालकों में दुर्बलता अथवा बालपक्षाघात के अनुकूल क्षेत्रता उत्पन्न हो जाने पर ही वायुरसाख्य विषाणु अपना रोगकारक प्रभाव प्रकट कर सकते हैं। अन्यथा सब बालकों मे सहिष्णुता होने पर नही प्रकट कर सकते हैं।

(२) योनि (समवायी कारण) (३) शारीर दोष

सन्निकृष्ट निदानानि

१ वायु—१ व्यान—वृद्धतम
२ प्राण—वृद्धतर
३ समान—वृद्ध
४ समान वृद्ध
५ अपान—वृद्ध

विप्रकृष्ट निदानानि

१ वायु के १ रसरक्तादि धातुक्षय
२ प्रमिताशन
३ निदानार्थकर रोग
४ गर्भावस्था में पोषण का अभाव
५ माता की क्षीर दुष्टि
६ श्लेष्मावरण

वायु में तर्पक श्लेष्मा से आवृत साम व्यान एवं प्राण का प्रकोप ही होता है।

२ कफ—१ स्नेहन या तर्पक —वृद्धतम
२ रसक या बोधक—वृद्धतर
३ क्लेदक—वृद्ध

२ कफ के—१ कदली किलाटादिसेवन
२ मधुरातियोग
३ स्निग्धातियोग

४ अवलम्बक—क्षीण	४ पर्युषितातियोग
५ श्लेषक—क्षीण	५ दिवास्वाप
३ पित्तम्—१ पाचक—क्षीण	३ पित्तक्षय के—१ अजीर्ण
२ रंजक—क्षीण	२ अध्यशन
३ भ्राजक—क्षीण	३ विषमाशन
४ आलोचक—प्राकृत	४ कफकारक हेतु
५ साधक—प्राकृत	

ख—दूष्य—रस, रक्त, मांस, मेदो धातु (प्रारम्भ में), अन्त में क्रमशः सप्तधातु।

ग—मानसदोष—

बालकों में मानसिक दोषों का अध्ययन करना बहुत कठिन होता है। इस रोग में मानसिक विकृति कदाचित् अन्य कारणों से ही पाई जाती है अन्यथा बालकों में बौद्धिक विकास अधिक होता है। प्रारम्भ में बालकों के मानस केन्द्र अविकसित होने से प्रज्ञापराध होना स्वाभाविक ही है इसलिए परिचर्या आदि की असावधानता से उनमें असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग भी स्वाभाविक रूप से होता है। वे उसका निराकरण पूर्णतया नहीं कर पाते हैं। जनपदोध्वंस के समय बालकों के शरीर पर काल परिणाम भी विशेष होता है क्योंकि, वे अल्पसहिष्णु होते हैं। उक्त तीनों बाह्य हेतुओं से क्षेत्रीकृत शरीर में आगन्तुक कारणवशात् वायु बलवान होकर श्लेष्म धातु के संसर्ग और आवरण से इस रोग की उत्पत्ति करता है।

(३) उत्थानम् (संप्राप्तिः)—

पूर्वप्रदर्शित षिप्रकृष्ट एवं बाह्य हेतुओं से दुर्बल एवं क्षेत्रीकृत बालकों के शरीर मे वायुवाहित दूषित विषाभिसंग से अथवा अन्य रोगाक्रांत व्यक्ति या संक्रमवाहक के ससर्ग से उसके मल या श्लेष्म, सिंघाणकादि से निकल कर वायुरसाख्य विषाणु रोगी मे नासा या मुखमार्ग से प्रविष्ट हो कर नासा, शिर, उर, आमाशयादि श्लेष्म स्थानों में सक्षोभ उत्पन्न कर देता है। उनमें श्लेष्मा का सञ्चय एवं तरल आस्राव होता है जिससे अग्नि मन्द हो कर साम रस की उत्पत्ति होती है। पाचक एवं स्वात्वग्नि की दुर्बलता से उक्त साम श्लेष्मा से वायु आवृत होता है। वात-वह सूक्ष्म स्रोतों के सहारे उक्त सामविष सुषुम्ना नाड़ी के प्रारंभिक अग्रिम शृंगों तक जा पहुंचता है। वहां की रस-रक्त-वहाओं में सक्षोभ, उत्सेध और शोथ उत्पन्न करता है। वातवहाओं के उत्तेजित होने से उनके इतस्ततः धूसर रग के कोषाणु भी शोथाक्रान्त (दोषाक्रान्त) हो जाते हैं। यदि दोष प्रकोप निरन्तर बढता ही जाय तो वे कोषाणु गल कर नष्ट हो जाते हैं तथा शोथ भी सुषुम्ना के अग्रिम शृंगों से पश्चिम शृंगों तक पहुच जाता है। शोथ का प्रसर कभी नीचे से ऊपर या कभी ऊपर से नीचे की ओर होता है। कभी-कभी सुषुम्ना शीर्ष में या मस्तिष्क में भी प्रारम्भ होता है। उक्त अधिष्ठानगत

साम दोषो का यदि स्वात्वग्नियां निष्ठापाक और पाचकाग्नि प्रबल हो कर स्वेद-मूत्र-पुरीषादि प्रवृत्ति द्वारा संशोधन एवं संशमन कर देती है तब तो तीव्र या तरुण अथवा समावस्था की निवृत्ति होकर रोगी स्वतः स्वस्थ भी हो जाता है। इसमें अच्छे-अच्छे चिकित्सकों को इस रोग का पता भी नही चलने पाता है।

अन्यथा यही अवस्था बढती जाय तो पक्षाघात का प्रभाव अंगों पर हो जाता है। प्रारम्भ में तर्पक कफ से आवृत हो कर व्यानवायु विशेष प्रकुपित होता है। वही साम हो कर "खले कपोत" न्याय से चेष्टावह नाड़ियों के कार्य को नष्ट करता है। साम रस को चरक ने घोर अन्न विष बतलाया है। यह एक प्रकार का दूषी विष के तुल्य पदार्थ है जो कि, वातनाड़ियों पर उक्त विपरिणाम उत्पन्न करता है।

बालपक्षाघात–सम्प्राप्ति
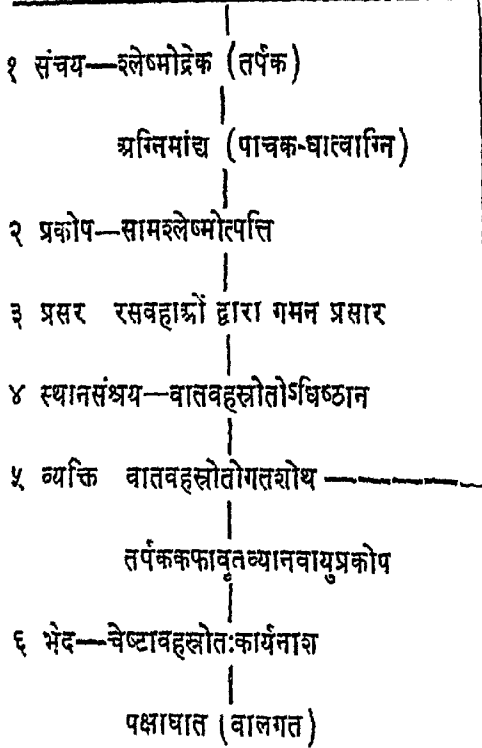
पञ्चम क्रियाकाल व्याधि व्यक्ति की अवस्था में अङ्गों में पक्षाघात हो जाता है जो कि, प्रायशः ज्वर निवृत्ति के पश्चात् स्पष्टतया ज्ञात होता है। अङ्गघात से पूर्व तथा अङ्ग-घातावस्था मे सामरस द्वारा अङ्गस्तम्भन या आमवात जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं। चेष्टा-वहावो में अवरोध उत्पन्न होता है इसे ही साम अवस्था कही जाती है। निराम अवस्था उत्पन्न होने पर भी जो विपरिणाम मास वह स्रोतों पर पड़ता है उससे प्रायशः सक्थियों में

किसी एक की मांस पेशियां प्राय: निष्क्रिय, दुर्बल होकर शिथिल होती जाती हैं। उस अवयव में कृशता होती जाती है। क्रियानाश होता ही है।

आवरण तथा सामता:–

श्लेष्मस्थानगत वायु के प्रकोप से श्लेष्मा द्वारा वायु का मार्गावरण होता है अतः प्रारम्भ में ही मार्गविरोध को समाप्त करने का उपाय करना अभीष्ट होता है। दोष सामता में आमाशयगत श्लेष्मावृत वात की वृद्धि से अग्निमान्द्य के कारण आमविष की उत्पत्ति होती है। इसी से ज्वरादिलक्षणों का आविर्भाव होता है। 'ज्वरों की आमाशय समुत्थ"। ज्वर पूर्वक होने से यह रोग भी आमाशय समुत्थ माना गया है।

यदि संक्रमणकाल में उक्त प्रकार की सम्प्राप्ति हो तब भी शास्त्रीय वचनानुसार रोगाधिष्ठानगत दोषों की अतिशय दुष्टि से भी सामविष जैसी प्रतिक्रिया शरीर में उत्पन्न होती है जैसे– किण्व के सम्मिश्रण से खमीर उठता है। अथवा प्रसूता के नव ज्वर में गर्भाशयगत दोष दूष्य सम्मूर्च्छना विशेष से सामता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार दोष दुष्टि सुषुम्ना या मस्तिष्क में होने पर भी सामता उत्पन्न होती है। विषाभिषङ्ग और दोष प्रकोप जितना ही तीव्र होगा उतना ही सत्वर प्रभाव मस्तिष्क या सुषुम्ना के नाड़ी केन्द्रों पर होगा। और उन केन्द्रों से सम्बन्धित चेष्टावहनाडियों के आघात से व्यान वह स्रोतों वैगुण्य के कारण तत्तदंगों का आघात शीघ्र हो जाता है। बालपक्षाघात में दोष कोष्ठ से मध्यममार्गानुसारी होते हैं।

(४) बालपक्षाघात का आत्मरूप:–

यह एक आगन्तुज, दारुण, शीघ्रपाकी, आशुकारी, मुहुश्चारी, सामश्लेष्मावृतवात के प्रकोप से उत्पन्न मध्यममार्गाश्रित शिरोमर्मगत ज्वरपूर्वक होने वाला कृच्छ्रसाध्य वात व्याधि वर्ग के अन्तर्गत पक्षाघात नामक विकार है जो कि, प्रायः बालकों में ही उत्पन्न होता है। अध: शाखा ही इससे अधिकतर प्रभावित होती है। उर्ध्व शाखा इससे कम और अन्य अङ्ग बहुत कम आशातीत होते हैं।

(५) वेदना विशेष:– (प्राय: आतुर वेद्य)

(क) तरुणावस्था में–		(ख) जीर्णावस्था में–
१ प्रतिश्याय	१२ मन्यास्तम्भ	१ सिरा संकोच (विशेष)
२ शिर:शूल	१३ मोह	२ स्नायु " " "
३ कण्ठपाक	१४ आक्षेपक	३ मांस " " "
४ नेत्रदाह	१५ स्पर्शासहिष्णुता	४ सन्धिबन्ध विमोक्ष
५ अरति	१६ शाखागतिस्तम्भ	५ अङ्गवक्रता

६ अंगमर्द	१७ अर्दित	६ काठिन्य
७ सक्थिसाद	१८ सक्थिशूल	७ खञ्जता
८ मध्यवेगज्वर	१९ सन्धिशूल	८ पंगुता
९ कास	२० अस्थिशूल	९ कुब्जता
१० वमन	२१ विड्बद्धता	१० कलायखञ्जता
११ हृल्लास	२२ क्वचित् अतीसार	११ अङ्गवैकल्य

(६) अधिष्ठानानि:—

आभ्यन्तर- (मध्यममार्ग)	बाह्य- (आघातित)
१- सुषुम्ना	१ अधः शाखा (सक्थि) वाम या दक्षिण
२- सौषुम्नशीर्ष	२ ऊर्ध्व शाखा (बाहू) " " "
३- लघुमस्तिष्क	३ मुखार्द्ध " " "
४- मस्तिष्क	४ अन्य अवयव
५- वातनाड़ी मण्डल	५ इन्द्रियां " " "
६- आमाशय	
७- पक्वाशय	

(७) संस्थानानि (लक्षणानि):—

"अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।"

स्थूलतया इसकी ३ अवस्थाएँ होती हैं।

१- तरुणावस्था,	२- मध्यावस्था और	३- जीर्णावस्था
(एक मास तक)	(तीन मास तक)	(तीन मास के बाद)

तरुण, साम या तीव्र रोगावस्था के भी तीन विभेद करते हैं यही बालपक्षाघात की ३ मुख्य अवस्थाएँ हैं।

१- प्रथमतरुणावस्था— अव्यक्त या ईषद् व्यक्त लक्षण (पूर्वरूप)

२- द्वितीय तरुणावस्था— आत्मरूप या व्यक्त लक्षणावस्था

३- तृतीय तरुणावस्था— उपद्रवावस्था अथवा अपाय या लाघवावस्था।

१ प्रथम तरुणावस्था के लक्षण	२ द्वितीय तरुणावस्था के लक्षण	३ तृतीय तरुणावस्था के लक्षण
१ प्रतिश्याय	सामान्य :—	१ अर्दित
२ गलशोथ	१ ज्वर, २ ग्लानि, ३ भय,	२ पक्षाघात
३ उत्क्लेश	४ अस्थि, सन्धि, सक्थि शूल,	३ एकांग रोग
४ वमन	५ मांसस्पर्शासहिष्णुता ६ सन्धि-स्पर्शासहिष्णुता	४ अर्द्धांगवध
५ शिरःशूल		५ सर्वाङ्गवध
६ कास	स्थानिक :—	६ अधरांगवध
७ साधारण ज्वर	१ शिरःशूल, २ प्रतिश्याय,	७ इन्द्रियोपरोध
८ अंगगौरव	३ अश्रुपूर्णाक्षिता, ४ गलग्रन्थिशोथ,	८ मूर्च्छा
९ अंगावसाद	५ मन्दाग्निता, ६ वमन, ७ अतीसार, अजीर्ण	९ अपतानक
१० क्लम		१० श्वासरोध
११ स्वेदोद्गम	गम्भीर लक्षण :—	११ हृद्रव
१२ आरक्तमुखता	१ तीव्र शिरःशूल	१२ हृत्साद
	२ रोमहर्ष, ३ कम्प, ४ मन्या-स्तम्भ, ५ मोरु, ६ हनुग्रह,	१३ मृत्यु:
	७ पृष्ठ वेदना, ८ अंगमर्द	
	९ शाखाओं में तीव्र वेदना	

मध्यावस्था—

तीन या चार सप्ताह के अनन्तर तरुणावस्था के लक्षणों की तीव्रता क्षीण होने के साथ-साथ यह अवस्था प्रारम्भ होती है। इसमें उत्तरोत्तर श्लेष्मा का आवरण और सामता के लक्षण नष्ट होते जाते हैं। इस उपावस्था में दोषों के लक्षणानुसार चिकित्सा करने पर रोग-निवृत्ति की संभावना अधिक रहती है। अन्यथा उपेक्षा करने पर रोग जीर्णावस्था में परिणत हो जाता है। और वह याप्य अथवा कृच्छ्रसाध्य समझा जाता है। मध्यावस्था ३ मास तक समझी गई है।

जीर्णावस्था—

इस अवस्था में रोगी की सक्थि या बाहू पूर्णतया आघात हो जाने से रोगी कोई क्रिया नहीं कर सकता है। प्रतिसंक्रामित क्रिया तथा उत्क्षेपणापक्षेपणादि का अभाव हो जाता है। अतएव मांसपेशियों में अक्रियाजन्य रसरक्तादि धातुओं के संवहन में मन्दता हो जाती है। उस अवयव की पुष्टि न होने से उत्तरोत्तर मांसापचय होने के कारण सिरा-

स्नायुसंकोच तथा सन्धि-बन्ध शैथिल्य उत्पन्न होता है। आघातित सक्थि प्रायः कृश, दुर्बल, ह्रस्व तथा चेष्टारहित हो जाती है। वह सर्वदा के लिए क्षीण, संकुचित और वक्र होती जाती है।

(८) शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध परीक्षा

(केवल तरुणावस्था में)

क्रम संख्या	१ शब्द श्रवण द्वारा	२ स्पर्श त्वचा द्वारा	३ रूप नेत्रों द्वारा	४ रस रसना द्वारा	५ गन्ध नासा द्वारा
१	स्वरभेद	ज्वर	अंगसकोच	वैरस्य	वसागन्धित्वम्
२	आयेप (गुड़-गुड़ीयन)	दाह	अर्दितम	—	असृग्न्धित्वम्
३	दन्तचालन (किटकिटायन)	स्पर्शासहिष्णुता	नेत्राविलता	—	पूयगन्धित्वम्
४	दीनावाक्	आध्मान	मुखरक्तता		
५	अव्यक्तावाक्	संकोच	मन्याग्रह		
६	मूकत्व	शोष	हनुग्रह		
७	मिन्मिनत्व	सुप्ति	पक्षाघात		
८	गद्गद्त्व	सन्धिश्लथता	वेपथु		
९	वाक्स्तम्भ	वेपथुः	श्वेतावभासता		
१०	हृद्व	शैत्य	अगघात		
११	श्वासकृच्छता	त्वक्स्वापः	शोष		
१२	—	—	जिह्वावैषण्यंम्		

(९) उपद्रवाः—

१ विसर्प, २ दाह, ३ रुजा, ४ संग, ५ मूर्च्छा, ६ अरुचि, ७ अग्निमान्द्य, ८ अतीसार, ९ मांसक्षय, १० बलाक्षय, ११ शोथ, १२ त्वक्स्वाप, १३ भग्न, १४ सन्धिबन्ध विमोक्ष, १५ कम्प, १६ आध्मान, १७ अर्तिः, १८ शरीरार्द्ध अकर्मण्यम्, १९ शरीरार्द्ध विभतेनता, २० शय्याव्रण।

(१०) दोषों की वृद्धि स्थान अभावस्था— (पूर्ववत्)

१ वायुः— वृद्धतमः प्राणव्यान संज्ञकः, सामः कफावृतश्च
२ पित्तं क्षीणम्,
३ कफः— वृद्धः आवरकः केवलं, तर्पक संज्ञकः।

(११) उदकर्म:— साध्यासाध्य लक्षण।

साध्यलक्षणानि	याप्य, कृच्छ्र साध्यलक्षणानि	प्रत्याख्येय, असाध्य लक्षणानि
१ रोगस्यनवत्वम्	१ रोगस्यसम्वत्सरोत्थत्वम्	१ सन्धिन्मुतिः
२ निरूपद्रवत्वम्	२ केवलवातजत्वम्	२ हनुस्तम्भः
३ आतुरस्य बलवत्वम्	३ सोप द्रवत्वम्	३ कुञ्चनम्
४ श्लेष्मावृतत्वम्	४ आतुरस्य अबलवत्वम्	४ कुब्जता
५ पित्तावृतत्वम्		५ अर्दितम्
~~६ सामत्वम्~~		६ पक्षाघात
७ युवावस्थोत्थितम्		७ अंगसंशोष
८ वायोरूहाहतत्वम्		८ पंगुत्वम्
९ वायोः स्थानस्यत्वम्		९ खुडवातत्वम्
१० वायोः प्राकृतिस्थत्वम्		१० स्तम्भनम्
		११ आढ्यवातता
		१२ मज्जगवातता
		१३ अस्थिगतवातता
		१४ गम्भीरश्यातुगतता
		१५ श्वातुक्षयत्वम्
		१६ क्षीणत्वम्
		१७ अनिभिषाक्षात्वम्
		१८ प्रसक्तभाषित्वम्
		१९ अव्यक्तभाषित्वम्
		२० गाठमुअर्दितम्
		२१ त्रिवर्षारूढत्वम्
		२२ वेपनत्वम्
		२३ आक्षेपकयुतम्
		२४ अपतानकयुतम्
		२५ गर्भिण्याः पक्षाघातः
		२६ सूतिकायाः ” ”
		२७ बालानां ” ”
		२८ वृद्धानां ” ”
		२९ क्षीणानां ” ”
		३० अण्टस्य सुतोपक्षघातः
		३१ वेदनाराहित्यम्

(१२) नाम:- बालपक्षाघात (असाध्य)।

(१३) योग:-

पूर्व में प्रदर्शित दोषदूष्यसम्मूर्च्छनानुसार यह रोग तर्पक श्लेष्मा से संसृष्ट या आवृत प्राण तथा व्यान वायु के प्रकोप से उत्पन्न होता है।

नासिका या मुखमार्ग द्वारा इसके बाह्य आगन्तुक कारण "वायरसाख्य" विषाणु-विशेष के विष का उपसर्ग होने पर दोष वैषम्य उत्पन्न होता है।

"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति। निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्य व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति॥

(च० सू० अ० २०।८)।

(१४) प्रतिकारार्था प्रवृत्ति:-

(१) प्रतिबन्धक चिकित्सा:-

१ वायु की शुद्धि— धूपन— हवनादि द्वारा।
२ भूमिशोधन — कर्षणलेपनादि द्वारा, प्रक्षालन द्वारा।
३ स्थानपरित्याग— महामारी के स्थान से दूर एकान्त विजनवास
४ जलशोधन — उत्क्वथन, पटपावनादि द्वारा।
५ कालशुद्धि — दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या द्वारा।
६ पूर्णविश्राम
७ नासासिंघाणकादि के वस्त्रों को जला कर नष्ट करना।
८ प्रतिमर्शनस्य— प्रतिदिन देना।
९ सैंश्ववोदक नस्य तथा गण्डूष प्रतिदिन कराना।
१० एकप्रतिशत यशदद्रावनस्यदान।
११ दशमूलादिक्वाथपान।
१२ माता के आहारविहार का नियन्त्रण।
१३ बालकों की परिचर्या का पूर्णतया पालन।
१४ बालक की प्रवात से सुरक्षा।
१५ बालक की शीत से सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
१६ कुमार कल्याण रस जैसे योगों का सेवन कराना।

(२) चिकित्सा प्रकार:-

१ दैवव्यपाश्रय (मणिमंगल वल्युपहार पूजा प्रभृति:)
२ युक्तिव्यपाश्रय (हेतुव्याधिविपरीत एवं विपरीतार्थकारी औषधाभविहारदेशकाल आदि का उपयोग)

३ सत्त्वावजयः—

प्रयुज्यमान युक्ति व्यपाश्रय चिकित्साक्रम—

१ तरुणावस्था में:— श्लेष्मावृत एवं सामवात का उपक्रम (लंघन अथवा अपतर्पण चिकित्सा)

१ अन्तःपरिमार्जनम्	२ बहिःपरिमार्जनम्	३ शस्त्रप्रणिधानम्
१ वमनम्	१ अभ्यंग	१ छेदनम्
२ विरेचनम्	२ स्वेदास्त्रयोदश	२ भेदनम्
३ निरूहणम्	३ प्रदेह	३ वेधनम्
४ अनुवासनम्	४ परिषेक	४ उत्पाटनम्
५ नस्यम्	५ उन्मार्दनम्	५ प्रच्छनम्
६ स्वेदनम्(अवगाह-कुटी,कर्षू, प्रस्तर, संकर, कुंभीकः)	६ उपनाह	६ सीवनम्
७ पिपासा	७ उद्वर्त्तनम्	७ एषणम्
८ पाचनानि	८ उष्णमारुतः	८ लेखनम्
९ उपवासः (क्षुधा)	९ आतपसेवनम्	९ आहरणम्
१० दीपनानि	१० उष्णजलप्रतरणम्	१० विस्रावणम्
११ उष्णसलिलपानम्	११ व्यायामः	११ क्षारकर्म
१२ स्नेहपानम् (क्वचित्)	१२ अनन्तरविश्रामः	१२ अग्निकर्म
	१३ धाराकल्पः	१३ शिरामोक्षः
		१४ जलौकावचारण
		१५ शृंगी
		१६ अलाबु

२ जीर्णावस्था में:— केवल वातनाशक बृंहण या संतर्पण चिकित्सा

१ स्नेहनपानम्
२ स्नेहनस्यम्
३ स्नेहाभ्यंग
४ स्नेहेन कर्णपूरणम्
५ स्नेहेन शिरस्तर्पणम् (शिरोबस्तिः)
६ अनुवासनबस्तिः
७ स्नेहेनाक्षितर्पणम्
१३ सैंधवपिण्डधारणम्
१४ बृंहणानि औषधानि
१५ वृष्याणि औषधानि
१६ जीवनीयानि „ „
१७ रसायनानि „ „
१८ बृंहणाश्चाहारविशेषाः
१९ बृंहणाश्च विहाराः

८ स्नेहगण्डूषा:	२० विश्राम:
९ स्नेहकवला:	२१ उष्णोदकस्नानम्
१० बन्धनम् (क्षौमकाषायकौर्णिकैः)	२२ अचिन्तनम्
११ चर्मद्रोणी प्रवेश:	२३ हर्षणाति:
१२ सिक्थपिण्डधारणम्	२४ निद्रा (सुखा)

"तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवास्थितौ"। गीता

"सर्वो रूक्ष: क्रम: कार्य: तत्रादौ कफनाशन:।
पश्चाद्वातविनाशाय शस्यते स्नैहिको विधि: ॥
श्लेष्मण: क्षपणं यत्स्यान्न च मारुतकोपनम्।
तत्सर्वं सर्वदा कार्यम्। .... ॥"

"बालो मृदुभेषजीयानाम्। बस्तिर्वातहराणाम्। स्वेदो मार्दवकराणाम्। व्यायाम: स्थैर्यकराणाम्।" (चरक)

"आमप्रदोष जानाम्पुनर्विकाराणाम पतर्पणे नैवोपरमो भवति। सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानाम् व्याधोनां निग्रह निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्कविपरीतमेवाऽवचारयेद् यथास्वम्।

"सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधि विपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशला:। तदर्थकारि वा।

विमुक्तामप्रदोषस्य पुन: परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाऽग्नौ अभ्यंगास्थापनानुवासनं विधिवत् स्नेहपानञ्च युक्त्या प्रयोज्यम् प्रसमीक्ष्य दोषभेषज-देश-काल-बल-शरीरा-हार सात्म्यसत्व प्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति। (चरक विमान अ० २)

प्रायो भेषजानि चाऽऽमाशय समुत्थानां विकाराणाम्पाचनवमनापतर्पणसशमनान्येव भवन्ति। (चरक वि० अ० ३)

(३) संशमनि चिकित्सा:— (हेतुव्याधिविपरीत औषध प्रयोग)

तरुणावस्था में	जीर्णावस्था में
१ शोभांजनमूलत्वक्स्वरस:।	१ अश्वगंधा (चूर्णम, सर्पि:)
२ अर्धा गवातारिरस:।	२ अर्धांगवातारिरस:।

(४) आहार एव पथ्य:—

"क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाज गव्यमथापि वा।
दद्यादास्तन्य पर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥

शोधनार्थम् :— विरेकबस्तिवमनानृते कुर्याच्च नात्ययात् ।

बलाधानार्थम्— यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च ।

बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत् ॥ (अ० हृ० उ० तं०)

बालपक्षाघाते पथ्यानि:—

बालपक्षाघाते पथ्यानि:

१ क्षीरम् (आजं, गव्यं, मातृजम् वा)

२ मांसरसा: (आज, कौक्कुट, मायूर, तैत्तिर, क्रौञ्च, वार्तक, कापोत, जाम्बूक प्रभृतयो रसा:)

३ सर्पि: (गव्यम्)

४ तैलम् (तिलानां एरण्डजञ्च)

५ वसा (सिंहादीनां मत्स्यानाम्वा)

६ मज्जा (हरिणादीनाम्)

७ मधुररसा:

८ अम्लरसा:

९ लवणरसा:

१० दीपनानि

११ पाचनानि

१२ गोधूमा:

१३ मुद्गा:

१४ माषा:

१५ यवा:

१६ वज्रान्नम्

१७ शालय: (घृतक्षीरयुक्ता:)

१८ चणका: (घृतसयुक्ता:)

१९ गांभारीफलम्

२० वृन्ताकम्

२१ मेथिका

२२ प्रसारणी

२३ घृतकुमारी

२४ वास्तूकम्

२५ आर्द्रकम्

२६ हरिद्राशाकम्

२७ रसोन:

२८ ब्राह्मी

२९ मंडूकपर्णी

३० शंखपुष्पी

३१ अश्वगंधापत्राणि

३२ शोभांजनपुष्पाणि

३३ शोभाजनफलिकाश्च

३४ द्राक्षाफलानि शुष्काणि

३५ सेवफलानि

३६ चीकूफलानि

३७ एरण्डपपीताफलानि

३८ वातादफलानि

३९ अभिषुकाणि

४० प्रियाला:

४१ काजूफलानि

४२ अखरोटफलानि

४३ नारिकेलम्

४४ तन्दुलियम्

४५ आमलकफलानि

४६ काम्बलिकयूष

४७ खडयूष

४८ सक्तव:

४९ तिलपिष्टम्

५० मद्यम्

५१ आसवा:

५२ लेहा:

५३ स्निग्धा: स्वेदा:

५४ निवातं स्थानम्

५५ गुरुप्रावरणानि

(१५) प्रतिकारार्था निवृत्तिः

बालपक्षाघाते अपथ्यानिः—

(क) सामावस्थायाम्

१ दिवास्वप्नः
२ स्नानम्
३ अभ्यंगः
४ मैथुनम्
५ क्रोधः
६ प्रवातः
७ व्यायामाः
८ कषायरसः
९ चक्रमणानि
१० गुरवो भक्ष्याः
११ स्निग्धा भक्ष्याः
१२ असात्म्यानि

(ख) निरामावस्थायाम्

१ कटु
२ तिक्त
३ कषाय
४ रूक्ष
५ विदाहीनि
६ क्षाराः
७ अतिव्यायामः
८ अतियानम्
९ व्यवायः
१० प्रवातसेवनम्
११ शोकातिशयः
१२ दैन्यम्
१३ भयः
१४ चिन्ता
१५ प्रजागरः
१६ लघनम्
१७ वेगसधारणम्
१८ शीतम्
१९ अतिभाषणम्
२० क्षोभः

प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति के आधार पर उक्त सिद्धांतों को केन्द्रिय आयुर्वेदिक अनुसंधानशाला, उदयपुर की 'बालपक्षाघात शाखा' में अनुसंधान के लिए विशेषज्ञ-चिकित्सक पद पर नियुक्त रहते हुए जिस प्रकार व्यवहृत किया गया है, तथा जो परिणाम सम्प्राप्त हुए हैं उनको उक्त संस्था द्वारा ही पृथक प्रकाशित किया गया है। कृपया पाठक तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य उक्त विवर्णिका के अध्ययन से प्राप्त कर सकेंगे।

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता

लेखक : डा० विद्यासागर थापर

[कविराज थापर वैद्यवाचस्पति (पंजाब) तथा एल्. सी. पी. एस् (बम्बई) व एम्. बी. बी. एस्. (लखनऊ) के साथ आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि देहली से हैं। इस प्रकार आप प्राच्य पाश्चात्य दोनों प्रकार के आयुर्वेदविज्ञान के सिद्धान्तों के मार्मिक तत्ववेत्ता हैं, तथा राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय पटियाला (पंजाब) में आचार्य पद पर आसीन होकर चिकित्सा विज्ञान की सेवा कर रहे है। आपने 'आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता' शीर्षक निबन्ध द्वारा गूढ़तम क्लिष्ट सिद्धान्तों को जन-साधारण के हृदयगम के लिए समुचित प्रयास में साफल्य प्राप्त किया है। आपका लेख रुचिकर एवं बड़ा उपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत (Fundamental Principles) वैज्ञानिक (Scientific) हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। आयुर्वेद के सिद्धान्तों का मुझे लगभग ३७ वर्षो के अनुभव के कारण आयुर्वेद का मैं भक्त बन चुका हूं। वास्तव में मुझे आयुर्वेद के सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास हो चुका है और निसदेह आयुर्वेद के सिद्धान्तों का स्तर उच्च कोटि तक पहुचा हुआ है। जितना अधिक समय में आयुर्वेद के अध्ययन, उसके स्वाध्याय, एवं उसके अभ्यास में व्यतीत करता हूँ उतना ही मुझे आयुर्वेद अपार, अगाध एवं अनमोल प्रतीत होता जा रहा है। मेरे अपने विचार में अभी भी आयुर्वेद के अन्दर इतना भण्डार भरा पड़ा है कि वह संसार को बहुत कुछ दे सकता है।

आयुर्वेदिक प्रयोगावलि—

आयुर्वेदिक ऋषियों एव वैज्ञानिकों ने चिकित्सा क्षेत्र में विश्व को अद्भुत देन अनेक रूप में दी है। उन्होने प्रत्येक औषधि को अथवा औषधियों के सम्मिश्रण को अति सूक्ष्म रूप से निरीक्षण किया है जिससे औषधि का प्रभाव रोग पर एवं रोगी के स्वास्थ्य पर उत्कृष्ट रूप से होता है। परिणामस्वरूप रोग की निवृत्ति हो कर रोगी पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करता है एवं उसकी आयु की वृद्धि में भी अवश्य सहायता मिलती है।

रोगी एव रोगपरीक्षा पद्धति:—

रोगपरीक्षा विज्ञान मे आयुर्वेद विज्ञान शरीर के पारस्परिक प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए, अति उपयोगी व्याख्या एवं अर्थ का मनन करते हुए, तर्क एवं अनुमान द्वारा पूर्णरूप से विचार करके अति सूक्ष्म एवं यथार्थ ज्ञान के प्रदृष्टा एवं ज्ञाता होते थे। आयुर्वेद पण्डितों एवं अध्यापकों में प्रायोगिक, सम्बन्धित ज्ञान शक्ति अत्यधिक होती थी इसलिए रोगी को आभ्यन्तरिक गम्भीर अवस्था का सम्पूर्ण ज्ञान उनके लिए अति सुगम होता था अतएव वे रोगी के आचार, व्यवहार एवं आकृत्यादि स्वरूप को देख कर सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपान्तर को भी भली भांति समझ सकते थे।

आयुर्वेद अनेक समय प्रमाणित एवं अनेक बार परीक्षित प्राचीन भारत की स्वास्थ्य-कर, आरोग्यकारक, व्याधिनिवारक एवं आयुष्प्रदाता सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा पद्धति है। कई हजार वर्षों से आयुर्वेदिक औषधियो द्वारा रोग की निवृति में एवं रोगी के स्वास्थ्य में पूर्णरूप से सफलता हो रही है क्योंकि आयुर्वेद का लक्ष्य द्विगुण होता है। एक "रोग चिकित्सा" और दूसरा "स्वास्थ्य परिरक्षण"। अतएव आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता में तनिक भी सन्देह नही हो सकता।

आयुर्वेद का मूलाधार त्रिदोषवाद:—

चिकित्सा क्षेत्र में आयुर्वेदज्ञों के लिए बहुमूल्य, परमावश्यक, अनमोल एव अनिवार्य्य वस्तु वास्तव मे त्रिदोष विज्ञान है। त्रिदोष विज्ञान का जितना अधिक अध्ययन, स्वाध्याय एव अभ्यास किया जाय उतना ही अधिक। वह बहुमूल्य एव अनिवार्य प्रतीत होता जाता है।

दो रोगी एक ही रोग से रुग्ण हों तथापि उन में से एक रोगी के लिए आयुर्वेद चिकित्सक द्वारा वातनाशक एव उष्ण प्रभावयुक्त औषधियें एव पथ्यापथ्य प्रयुक्त होंगे परन्तु दूसरे रोगी के लिए पित्तनाशक एवं शीत प्रभावयुक्त औषधिए एव पथ्य:पथ्य प्रयुक्त होंगे अर्थात् आयुर्वेद चिकित्सक को केवल मात्र रोग का ही ध्यान नही रखना होता है साथ मे रोगी के स्वास्थ्य का ध्यान रखना भी परम आवश्यक होता है। अतएव आयुर्वेद चिकित्सा से निसन्देह अद्भुत एवं विशेष सफलता अवश्यम्भावी है।

इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि किसी भी रोग की चिकित्सा का प्रारम्भ करने के समय यदि रोगनिर्णय में कठिनता हो रही हो तो ऐसी अवस्था में चिकित्सा का प्रारम्भ करने के लिए आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति पाश्चात्य से अति सुगम है क्योंकि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत विशेष रूप से त्रिदोप सिद्धांत अधिक वैज्ञानिक हैं, वास्तव में वे अधिक श्रेष्ठ एव उच्चतर है और निसन्देह इस विपय में पाश्चात्य सिद्धांत अभी बहुत पीछे हैं। क्योंकि कठिन रोग मे पाश्चात्य विज्ञान को रोग निर्णय के लिए अनेक प्रयोगशाला परीक्षाओं

एवं क्षकिरण आदि अनेक परीक्षाओं के लिए एक अथवा दो मास अथवा इससे भी अधिक समय रोग विनिश्चय के लिए चाहिए परन्तु दूसरी ओर आयुर्वेदज्ञ कठिन से कठिन रोग में भी वात पित्त कफ दोष की प्रधानता का निर्णय करके तुरन्त एवं तत्क्षण चिकित्सा प्रारम्भ कर सकता है और सम्भव है कि आयुर्वेद चिकित्सक उस समय तक रोग की निवृत्ति भी कर डालेगा अथवा रोग की तीव्र वृद्धि को पूर्ण रूप से रोक सकेगा जब तक कि पाश्चात्य चिकित्सक अभी तक रोग का निर्णय ही कर रहा होगा। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि त्रिदोष विज्ञान आयुर्वेद का एक अमूल्य रत्न है एवं विश्व के लिए आयुर्वेद की एक अद्भुत देन है क्योंकि आयुर्वेदज्ञ द्वारा प्रयुक्त हुई वही चिकित्सा अमृत एवं अपूर्व वस्तु होगी जो कि अनभिज्ञ द्वारा प्रयुक्त हुई निरर्थक एवं हानिकारक भी हो सकती है। यहां हम पूर्ण निश्चय से कह सकते हैं कि पाश्चात्य औषध भी यदि आयुर्वेदज्ञ द्वारा इस त्रिदोष सिद्धांत के अनुसार प्रयुक्त की जाय तो वह औषध निसन्देह अधिक उपयोगी एवं विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। इसीलिए हम आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों को अधिक वैज्ञानिक कहते हैं।

शारीरिक क्रिया विज्ञान के लिए वात पित्त कफ ये त्रिधातु हैं। मानसिक क्रिया विज्ञान के लिए वैसे ही सत्व रज तम त्रिगुण हैं। वास्तव में वात पित्त कफ इन तत्वों से शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं को तथा शरीर की विकृत अवस्थाओं की क्रियाओं को एवं चिकित्सा में भेषज प्रयोग में जो अपूर्व नियम बान्धे गए हैं उन नियमों को एक बार समझने से महर्षियों का दिव्य ज्ञान देख कर हमें विस्मय एवं मुग्ध होना पड़ता है। वात पित्त कफ केवल शरीर के ही तीन स्तम्भ रूप नही हैं परन्तु समग्र आयुर्वेद के हेतु, लक्षण, औषध स्कन्ध के तीन प्रधान स्कन्ध रूप त्रिदोष हैं। मनुष्य का वय: क्रम, अहोरात्र, षड्ऋतु, अन्नविपाक आदि सभी में वात पित्त कफ का प्रभाव महर्षियों ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है जिससे चिकित्सा कार्य में हर प्रकार की एवं पूर्णरूप से सहायता मिलती है। यही नहीं आयुर्वेद का पंचभूत विज्ञान, आत्मा, मन एवं चेतना का ज्ञान भी आयुर्वेदिक त्रिदोष विज्ञान में सहायक होता है। इससे अधिक आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता की पुष्टि क्या हो सकती है।

आयुर्वेदीय पथ्य व्यवस्था:—

आयुर्वेद में प्रत्येक भोज्य पदार्थ का विस्तृत वर्णन, ऋतु अनुसार पृथक २ भोजन का महत्वपूर्ण वर्णन एव परस्पर विरुद्ध भोजन का वैज्ञानिक वर्णन आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता का द्योतक है।

द्रव्यगुण सिद्धांत:—

आयुर्वेदोक्त द्रव्य गुण से भी आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता स्पष्ट प्रगट होती

है क्योंकि इसमें अन्योपेक्षा विशेषता यह है कि महर्षि लोग पहिले मनुष्य शरीर पर भेषजों की क्रियाओं को देख कर सूक्ष्म विचार एवं अतीन्द्रिय ज्ञान से भेषज गुणों को लिखते थे इसलिए उनके कथित द्रव्यों के गुण, रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव अपूर्व हैं।

आयुर्वेदीय रस-चिकित्सा:—

रस एवं पारद की योगवाहिता अर्थात् जिन धातुओं के साथ तैय्यार किया जाय उनके गुणों के ग्रहण की शक्ति आयुर्वेद का ही आविष्कार है जिससे आयुर्वेद की वैज्ञानिकता स्पष्ट प्रगट होती है। उदाहरणार्थ स्वर्णघटित मकरध्वज में स्वर्ण के न बढ़ने पर भी स्वर्ण के अपूर्व गुण उसमें आ जाते हैं। और केवल यही नहीं भिन्न २ अनुपात से मकरध्वज के गुण भिन्न २ रूप मे प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार रसौषधि में इस गन्धक अथवा हिंगुल का व्यवहार आयुर्वेद में उपदिष्ट है।

आयुर्वेदोक्त कोटाणुवाद:—

यह आश्चर्य का विषय है कि जीवाणु कारणवाद (Germ Theory) जिसके विषय मे पाश्चात्य विज्ञान ने उन्नति की है जो उनके गर्व का कारण है वह भी आयुर्वेद का ही आविष्कार है। आयुर्वेद में स्थान २ पर अति सूक्ष्म एवं अदृश्य कृमियों का वर्णन है। महर्षि लोग यह भी जानते थे कि विषम ज्वर, प्लेग, श्वसनक ज्वर, विसर्प, कुष्ठ आदि रोग कृमिजन्य हैं। इस विषय में भी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता की पुष्टि अवश्य होती है परन्तु आयुर्वेदज्ञ इस विषय को अधिक महत्व नहीं देते क्योंकि उनके विचार मे त्रिदोष सिद्धांत एवं उसकी सहायता से चिकित्सा सुगम एवं विशष फलप्रद होतो है।

आयुर्वेदीय नाड़ी विज्ञान:—

आयुर्वेद का एक अद्भुत चमत्कार नाड़ी विज्ञान (Knowledge of Pulse) भी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता का द्योतक है जिसके पूर्ण ज्ञान के लिए दीर्घ अभ्यास की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति योग द्वारा होती है अथवा यह भगवान की किसी व्यक्ति विशेष को देन है। इस समय भो ऐसे आयुर्वेदज्ञ उपस्थित हैं जो केवल नाड़ी परीक्षा द्वारा ही किसी व्यक्ति ने भोजन में क्या खाया है यह भी बता सकते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा वैज्ञानिकता:—

आयुर्वेदिक वनस्पतियों के क्वाथों एवं स्वरसों में अनेक स्वच्छ एवं ताजे खाद्योज पदार्थों (Vitamins) की उपस्थिति, आन्त्रिक ज्वर (Tyyhhid fever) में छाछ का अधिकतर प्रयोग, शोपावस्था एवं क्षयावस्था से बचाव के लिए सर्वसम्मानित आयुर्वेदीय तैलाभ्यङ्ग का प्रयोग, वृद्धावस्था की क्षीणता से बचाव एवं शक्ति की वृद्धि के लिए आयुर्वेदिक रसायन औषधियो का प्रयोग एवं उत्तम सन्तानोत्पत्ति के लिए वाजीकरण औषधियों का प्रयोग यह सब आयुर्वेद की वैज्ञानिकता के द्योतक हैं।

आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा:—

यह भी एक आश्चर्यजनक विषय है कि शल्य तन्त्र (Surgery) का जन्म भी आयुर्वेद से ही हुआ है। वर्तमान समय में पाश्चात्य चिकित्सा में छेदन भेदन आदि चिकित्सा प्रचलित है तथा उसका जो गौरव हमारे सम्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है उन सभी का मूल आयुर्वेद का शल्य तन्त्र ही है। आयुर्वेदिक शास्त्र इतने सूक्ष्म होते थे कि उनसे वाल (hair) को भी काटा जा सकता था। आजकल हम अनेक शस्त्र कर्म (operations) केवल आयुर्वेदिक औषधियों की सहायता से ही कर रहे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे रोगियों मे पूयास्था अथवा ज्वरावस्था की प्रतीति कदापि नहीं हुई। हमारे अपने विचार में आयुर्वेदिक शल्य तन्त्र आज भी अति शीघ्र उच्च कोटि तक पहुँच सकता है केवल मात्र अभ्यास की आवश्यकता है अतएव इस विषय में भी आयुर्वेद की वैज्ञानिकता में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता। इस विषय मे विशेषता यह है कि आयुर्वेदिक औषधिएं किसी भी प्रकार की हानि, क्षति एवं संकट का कारण नहीं बनतीं एवं प्रत्येक आयुर्वेदिक औषध कम अथवा अधिक बलवर्धक होने के कारण पोषण का कार्य भी करती है अतएव आयुर्वेदिक औषधिएं निसन्देह रुग्णावस्थापर्यन्त शक्ति प्रधारण मे भी सदा सहायक रहती हैं।

आजकल पाश्चात्य की सूचि वेधन चिकित्सा (Injection treatment) विशेष कर के सीधा शिरारक्त में औषध पहुँचाना (Intravenous Injection) अधिक वैज्ञानिक समझा जा रहा है क्योकि उससे औषध का प्रभाव तुरन्त एवं तत्क्षण हो जाता है। नित्य प्रति इस चिकित्सा विधि के मार्केट खुलते जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रोग में एवं प्रत्येक अवस्था मे शिरा-वेधन अथवा अन्य सूची-वेधन चिकित्सा ही अब एक मात्र चिकित्सा विधि रह गई है और फिर उत्तम परिणाम के लिए अनेक एवं बारम्बार सूची-वेधन अति आवश्यक प्रतीत हो रहे हैं। हमारे विचार मे यह सूची-वेधन विधि अति हानिकारक है क्योंकि इस विधि के अधिक एव बारम्बार प्रयोग के कारण कर्कटार्बुद (Cancer) आदि घातक रोगों की उत्पत्ति एव वृद्धि हो रही है। विशेष करके कर्कटार्बुद (Cancer) प्रमुख घातक रोग है। इसके कारण सबसे अधिक मृत्यु संख्या अमेरिका में हो रही है जहां सूची-वेधन चिकित्सा विधि भी सबसे अधिक प्रचलित है। हमारे देश में भी सूची-वेधन चिकित्सा विधि विशेष बढ़ने के कारण यहां भी प्रमुख घातक कर्कटार्बुद (Cancer) की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती जा रही है। हमें समझ नही पड़ रहा कि जब चिकित्सा क्षेत्र में अनेक उत्कृष्ट प्रकार के साधन उपस्थित हैं तो क्या आवश्यकता है कि हम इस हानिकारक सूची-वेधन विधि को अपनाएं और कर्कटार्बुद (Cancer) आदि प्रमुख घातक रोगों की उत्पत्ति एवं वृद्धि मे कारण बनें। हम यहां यह बता देना चाहते हैं कि इस विषय में आयुर्वेद की वैज्ञानिकता कितने ऊंचे स्तर की है। आयुर्वेद में भी सीधा रक्त में विशेष औषध पहुँचाने की विधि का वर्णन अवश्य आता है जिससे औषध का प्रभाव तुरन्त एवं तत्क्षण हो सके

परन्तु यहां सीधा रक्त मे इस विधि का प्रयोग उस समय के लिए कहा है जब कि रोगी मृत्यु शय्या पर पड़ा हो, उसकी मृत्यु अति समीप हो, केवल मात्र रोगी का जीवन बचाने के लिए अन्तिम प्रयत्न के रूप मे जब कि अन्य सब चिकित्सा विधिएं असफल हो चुकि हों, केवल मात्र तब ही सीधा रक्त में औषध पहुँचाने की इस विधि का प्रयोग करना चाहिए परन्तु अधिक एवं बारम्बार इस विधि का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये। इसी कारण आयुर्वेद में इस विधि का वर्णन स्थान २ पर नहीं आया है क्योंकि इस विधि का अधिक एवं बारम्बार प्रयोग कर्कटार्वुद (Cancer) आदि प्रमुख घातक रोगों की उत्पत्ति एवं वृद्धि में निसन्देह कारण बन सकता है। इससे अधिक आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता की पुष्टि क्या हो सकता है।

उपसंहारः—

पाठकगण! हमारे अनुभव में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कि पाश्चात्य पद्धति की चिकित्सा द्वारा प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से असफल एवं व्यक्त रोगी भी वैज्ञानिक दृष्टि से आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा पूर्ण स्वस्थ्य हुए हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति द्वारा अनेक रोगी अंगविच्छेदन (amputation) से बचाए गए हैं। अनेक रोगी वृहद् उदर शस्त्र कर्मों (major abdominal operations) से आयुर्वेदिक औषधियों ने बचाए हैं। अनेक पूतिवस्तु (slongh) से भरपूर पाश्चात्य द्वारा असाध्य कहे गए रोगी आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा पूर्ण स्वस्थ हुए हैं। हमें एक सात वर्ष के अन्धे बच्चे का ऐसा उदाहरण ज्ञात है जिसको पाश्चात्य द्वारा दृष्टि नाड़ी शोष (optic nerve atrophy) कह कर त्याग दिया गया था और आयुर्वेदिक औषधियों द्वारा उसको प्रकाश मिला था।

पाठकगण! उपर्युक्त से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि आयुर्वेद के प्रत्येक अंग एवं विभाग मे कितनी वैज्ञानिकता है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत कितने अधिक उत्कृष्ट हैं। इसलिए हमारे विचार में सर्व भारत देश में यदि प्रत्येक रोगी के लिए एवं प्रत्येक अवस्था में केवल मात्र आयुर्वेदिक चिकित्सा ही प्रचलित कर दी जाय तो निसन्देह हमारे देश के रोगियो की संख्या में अत्यधिक कमी हो जायगी और स्वास्थ्य एवं आयु की वृद्धि अवश्यम्भावी होगी एवं मितव्ययता की दृष्टि से, हमारे देश की धनराशि की भी अत्यधिक रक्षा हो सकेगी।

अन्त मे हम अपने देशीय पाश्चात्य विद्वानों से भी प्रार्थना करना चाहते हैं कि वे अब पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति की उपासना एव दासता त्याग कर सत्यता की शरण लें और वास्तविक एवं पूर्ण वैज्ञानिक आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों का अध्ययन, स्वाध्याय, मनन एवं अभ्यास करें क्योंकि आयुर्वेद निसन्देह एक रत्न है, हीराजवाहरात् है एवं अनेक अनमोल मोतियों की खान है। इसलिए प्रत्येक पुरुष एवं अनेक स्त्री पाश्चात्य चिकित्सक के लिए उचित है कि वे अवश्यमेव प्रथम सस्कृत के विद्वान बनें तत्पश्चात् इस ऐश्वर्यशाली प्राचीन आयुर्वेदिक अगाध समुद्र में डुबकी लगावें ताकि वे अपने प्यारे देश के लिए आयुर्वेद भण्डार में से अनेक अनमोल मोतियों को ढूंढ़ २ कर निकाल सकें।

भारतीय पद्धति के सस्ते सेनोटोरियम

लेखक : वैद्य सोहनलाल दाधीच

[वैद्यराज श्री सोहनलालजी दाधीच आयुर्वेदाचार्य, राजस्थान के कर्मठ कांग्रेसी कार्यकर्ता रहे हैं, आपको भारतीयता से अत्यधिक प्रेम है। आपने तुलसी पर जिसके अमूल्य व अतिशय प्रभावकारी गुणों से प्रभावित होकर धर्म का रूप देकर पूजन, सेवन तथा प्रतिदिन ग्रहण करने के विचार पर बल दिया है। तथा इसकी रसायनिक विशेषता जहां इसका पौधा होता है वहां की वायु में विशेष प्रक्रिया द्वारा वायु की शुद्धि जिससे महाव्याधियां कुष्ठ, यक्ष्मा, आदि पर गुणकारी प्रभावों के आधार से 'भारतीय पद्धति के सस्ते सेनाटोरियम' की उपयोगिता पर निबन्ध दिया है। आप गांधी विद्यामन्दिर के अंतर्गत चलने वाली आयुर्वेद विश्व भारती में आचार्य पद पर आसीन होकर आयुर्वेद जगत् को अमूल्य सेवा कर रहे हैं।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

जहां भारतीय जीवन पर अंग्रेजों तथा पाश्चात्य विचारधाराओं और पद्धतियों का प्रभाव पड़ा है वहां चिकित्सा जगत पर तो उसने पूर्णरूपेण अधिकार कर लिया है। टी. बी. तथा अन्य संक्रामक रोगों की चिकित्सा के लिए तो पाश्चात्य पद्धति के खर्चीले सेनेटोरियम का प्रचलन गत डेढ़ शताब्दि से हमारे देश में प्रचलित है। पाश्चात्य शिक्षा और आधुनिक वातावरण मे शिक्षित हमारे डॉक्टर क्षय के रोगियों को प्राय: भुवाली, धर्मपुर, मदनापल्ली, अल्मोड़ा आदि सेनेटोरियमो में रहने का आदेश देते हैं। क्योकि वहां का जलवायु तथा वातावरण अनुकूल प्रभाव रखता है।

वर्तमान सेनेटोरियम—

ये सेनेटोरियम प्राय: पहाड़ी प्रदेशों में बनाये जाते हैं। वहां चीड, नीम, देवदारू आदि के वृक्ष बहुतायत से पाये जाते है। इनकी स्वच्छ तथा रासायनिक तत्वो से परिपूर्ण वायु क्षय तथा तत्सम जटिल रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने में आश्चर्यजनक प्रभाव रखती है। ये सेनेटोरियम एकान्त व नीरव स्थानों पर जहां उन्मुक्त स्वच्छ वायु, पक्षियों का मधुर कलरव तथा नयनाभिराम मनोहर व सुन्दर प्राकृतिक दृश्यावलि हो वहां बनाये गए हैं।

किन्तु ये सेनेटोरियम तो बहुव्ययसाध्य होने से केवल देश के धन-कुबेरों के लिए ही सुलभ हो सकते हैं और हमारा भारत अत्यन्त निर्धन है। अत: हमारे देश के दरिद्र-नारायण के वर-पुत्रों के लिए भी सस्ते सेनेटोरियमों की महती आवश्यकता है।

तुलसी का महत्त्व—

हमारा सुझाव है कि इस दिशा में नये प्रयोग किए जायं। ये प्रयोग तुलसी वनों के

सेनेटोरियमों द्वारा किए जा सकते हैं। अभी तक हमारे यहां जिन वनस्पतियों को गुणकारी माना है, उनमें तुलसी सर्वाधिक आश्चर्यजनक लाभदायक वनस्पति है। प्राचीन काल में ऋषि मुनि ऐसे स्वास्थ्यप्रद स्थानों में तुलसी के पौधों का ही प्रयोग करते थे। तुलसी के असंख्य गुणो के कारण ही उसे पूजा का अविभाज्य अंग मान लिया गया और सब पूजा-गृहों तथा मन्दिरो में तुलसी के पौधों को अनिवार्यतः स्थान दिया गया। उसके पत्तों को भगवान् के चढ़ाने तथा चरणामृत एवं प्रसाद आदि में उपयोग किया गया। हिन्दू नारियों को प्रतिदिन उसकी गुणकारी वायु मे रखने के लिए सूर्योदय होते ही जल चढ़ाने की पद्धति चालू की गई।

तुलसी और धर्म—

हमारे प्राचीन ऋषि मुनि जहां अध्यात्म के विशेषज्ञ होते थे वहां चिकित्सा शास्त्र के भी मर्मज्ञ होते थे। उन्होंने जो तत्व स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक समझा उसे धर्म से संयुक्त कर दिया। तत्कालीन नागरिक भी आस्तिक तथा धर्मपरायण होते थे। अतः तुलसी के साथ धर्म को संयुक्त कर उन्होंने धर्म और वैद्यक का समन्वय करा दिया।

अर्घ्यदान के लिए तुलसी की परिक्रमा करने का रासायनिक महत्व यह था कि सूर्य की रश्मियां जव तुलसी पर पडती हैं तब तुलसी से एक जीवनदायक वायु उत्पन्न होती है। उक्त वातावरण मे कुछ देर तक निवास कर सके, इसीलिए युगों से तुलसी-परिक्रमा हमारी संस्कृति का अंग वनी हुई है और अब भी असंख्य हिन्दू नारियां प्रातःकाल उठ कर उसकी पूजा करती हैं। घर में तुलसी का पौधा रखना वायु स्वच्छ रखने का एक प्राकृतिक साधन था। जिस गृहस्थ में तुलसी और गौ नही होती उसे श्मशानतुल्य अपवित्र माना गया है।

तुलसी के गुणों का वर्णन करते हुए हमारे यहां कहा गया है कि—

> तुलसी गंधमादाय यत्र गच्छति मारुतः।
> दिशोदश पुनात्याशु भूतग्रामाश्चतुर्विधान् ॥

निष्कर्ष यह है कि तुलसी गंधयुक्त वायु न केवल आसपास के समस्त वातावरण को स्वस्थ व सुगन्धित ही वनाती है अपितु अनेक रोगो का समूल नाश भी करती है।

तुलसी की वायु से फेफड़े निरोग व स्वस्थ होते हैं। शरीर में नई स्फूर्ति और नवीन उत्साह पैदा होता है। इसकी हवा जितनी दूर जाती है वहां तक का वायुमण्डल शुद्ध वन जाता है।

तुलसी वन—

यदि तुलसी के पौधो की वड़े पैमाने पर खेती कर तुलसी वन वनाये जाय और

उनमें भारतीय पद्धति के नये सेनेटोरियम खड़े किये जायं तो चिकित्सा के क्षेत्र में एक नया और भारतीय परम्परानुकूल सस्ता क्रान्तिकारी प्रयोग सफल हो सकता है।

तुलसी वनों में जो सेनेटोरियम बनाये जायं उन कमरों की दीवारें तथा फर्श तुलसी के पौधों के नीचे या आसपास से ली हुई मिट्टी से लीपे-पोते जायं तो विशेष लाभदायक होंगे। क्योंकि इस पौधे के रासायनिक गुण मिट्टी तक गहरे व्याप्त हो जाते हैं।

मलेरिया पर तुलसी—

एक बार सर जार्ज वर्डवुड ने २६ अप्रैल १६०४ के टाइम्स में लिखा था—जब बम्बई में विक्टोरिया गार्डन और एलवर्ट अजायबघर बनाये गए तब वहां काम करने वाले सब कर्मचारियों को मलेरिया ने आक्रान्त कर लिया। उस समय एक भारतीय कर्मचारी की सम्मति से उस बगीचे में तुलसी के पौधे लगाये गए। परिणामतः वहां से मलेरिया तथा मच्छर सदा के लिए विदा हो गये।

अनुसंधान से यह भी विदित हुआ कि तुलसी में थायमल नाम का ऐसा तत्व पाया गया है जो कुष्ठ, कोढ़ जैसे महा रोग के लिए भी गुणकारी प्रमाणित हुआ है।

कहते हैं क्षय रोगियों के शरीर पर इसका रस मलने से क्षय रोग नष्ट होता है। यदि तुलसी के रस से वृण प्रक्षालन किया जाय तो वृण के कीटाणु नष्ट हो कर वृण शीघ्र भर जाते हैं। सर्व साधारण का यह विश्वास है कि मृत्यु काल में तुलसी गंगाजल देने से सद्गति प्राप्त होती है। सद्गति मिलती या नहीं भगवान् जाने, यह तो निश्चित है कि तुलसी की गंध से आसपास की दूषित गंध दूर होती है।

उपयोगी सुझाव—

अतः केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय से विनम्र निवेदन है कि वो विदेशी चिकित्सा पद्धति का मोह छोड़ कर प्रत्येक नगर के बाहर सुन्दर व स्वच्छ स्थान पर तुलसी वनों की स्थापना करे। स्मरण रहे कि तुलसी भारत में सर्वत्र सुगमता से लगाई भी जा सकती है। तुलसी वनों के मध्य में स्वास्थ्य-गृहों का निर्माण करावें ताकि भारतीय जन अनुपज भारतीय पद्धति से स्वास्थ्य प्राप्त कर सकें।

रक्त विस्रावण-क्रिया

लेखक : वैद्य ऋषिदेव सोलकी, जोधपुर

[वैद्यराज श्री ऋषिदेवजी सोलकी, भिषगाचार्य श्री वैद्यराज रतनलालजी सोलकी औषधि निर्माण कलाविद् के सुपुत्र हैं। आपने सर्वप्रथम गवर्नमेन्ट फार्मेसी के प्रबन्ध व्यवस्थापक के रूप में कार्य किया तथा निरीक्षक आयुर्वेद विभाग के पश्चात् 'धात्री-कल्पद' प्रशिक्षण केन्द्र के आचार्य भी रहे। श्री सोलकीजी वर्त्तमान में आयुर्वेद जिलाधिकारी के पद पर कोटा में कार्य कर रहे है। श्री सोलकी स्वरविज्ञान में श्री चरित्रनायक के जिज्ञासु शिष्यों में हैं। आप सुयोग्य प्रशासक एवं स्पष्ट वक्ता होने के साथ २ मिलनसारिता का विशेष गुण रखते हैं। आपका रक्त विस्रावण-क्रिया पर लेख पठनीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शरीर धारण रक्त द्वारा होता है, अतः रक्त देह का मूल है। लिये गये आहार के भली प्रकार परिपाक होने से उसका अतिसूक्ष्म प्रसाद भाग रस कहलाता है। इस रस का रजक पित्त द्वारा रासायनिक संमिश्रण होकर रक्त सज्ञा बन जाती है। यद्यपि इसमें विस्रता (पार्थिव) द्रवता (जलीय) राग (आग्नेय) स्पन्दन (वायव्य) तथा लघुता (आकाशीय) होती है परन्तु अग्निगुण की अधिकता से रक्त आग्नेय कहा जाता है। यह हृदय से मुख्य २४ धमनियो द्वारा समस्त देह को प्रतिक्षण तर्पण कर बढ़ाता है, धारण करता है, चलाता रहता है, इसका यह कर्म स्वतन्त्र नाड़ी सस्थान से सम्बन्धित रहता है। दोषों द्वारा इसका प्रकोप पित्त प्रकोपी द्रव, स्निग्ध द्रव्यों के अभिक्षण प्रयोग से, दिवास्वप्न, क्रोध, अग्नि धूप, अभिघात आदि मिथ्या विहार से होकर, कोष्टतोद, गले में खट्टे रस की अनुभूति, तृषा, दाह, अन्नद्वेप, हृदय मे क्लेद वृद्धि होकर—कोढ, विसर्प, पिडिका, मश, नीलिका, न्यच्छ, व्यंग, इन्द्रलुप्त, प्लीहावृद्धि, विद्रधि गुल्म, वातरक्त, अर्श, अर्बुद, रक्तप्रदर, अंगमर्द, रक्तपित्त आदि रोग पैदा हो जाते हैं।

दोषनाम	लक्षण
वात	फेनिल, अरुण, कृष्ण, परुष, शीघ्रग, अस्कन्दि।
पित्त	नील, पीत, हरित, श्याव, विस्र, पिपीलिकामाक्षिकों के अनिष्ट अस्कन्दि।
कफ	गैरिक जल के समान, स्निग्ध, शीतल, बहल, पिच्छिल, चिरस्कन्दी, मांसपेशी के रग के समान।
सन्निपात	काजिक के समान, दुर्गन्धी, सर्वलक्षण युक्त।
प्राकृतिक	इन्द्रगोप वर्ण के समान, असंहत, अविवर्ण, संधान (कषायरस) स्कन्दन (शीतवीर्य से, पाचन (भस्म) सिरा संकोची (दाह)।

वातवहा		पित्तवहा		श्लेष्मवहा		रक्तवह	
(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)	(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)	(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)	(प्राकृतकर्म)	(विकृतकर्म)
कायिक कर्म ठीक होना	नाना प्रकार के-	कान्ति	पीतावभासना	अंगों में स्नेह,	शुक्लता,	धातुपूरण,	रक्तांगता
मानसिक ,, ,,	वातिक रोग	अन्न में रुचि	संताप	सन्धिस्थिरता,	शीतता,	कान्ति	रक्तनेत्रता
बुद्धिका ,, ,,	कार्श्य,	अग्निदीप्ति	शीतकामित्व	बल	स्थिरता	स्पर्शज्ञान,	सिरापूर्णता
बल प्रसाद	कार्ष्ण्य	निरोगता	अल्पनिद्रता	संधिसंश्लेषण (श्लेषक)	गौरव,	वर्ण	
वर्ण ,,	गात्रस्फुरण	राग (रजक)	मूर्च्छा	स्नेहन (रसक)	अवसाद	स्थिरता	
ओज ,,	निद्रानाश	पचन (पाचक)	बलहानि,	रोपण (अवलम्बक)	तन्द्रा	धातुव्यूहन	
प्रस्पन्दन, (व्यान)	गाढवर्चस्त्व,	तेज (आलोचक)	इन्द्रियदौर्बल्य	पूरण (तर्पक)	निन्द्रा		
उद्वहन (उदान)	अल्पबल,	मेधा (साधक)	पीतविट्	बलस्थिरता (क्लेदक)	सन्धिविश्लेष		
पूरण (प्राण)	उष्णकामिता	उष्म (भ्राजक)	पीतमूत्र		अस्थिविश्लेष		
विवेचन (समान)			पीतनेत्र				
धारण (अपान)							

लक्षण	लक्षण	लक्षण	लक्षण
अरुण	उष्ण	शीत	रोहिणी
वायु से भरी हुई	नील	स्थिर	नात्युष्ण
		गौर	नातिशीतल

अवेध्य	स्निग्ध स्विन्नकर	उत्तमांग सिरावेधन	पैर की सिरावेध	हाथ की सिरावेध	पीठ में
बालक		सूर्य के सामने बैठाना,	सिरावेध के पैर को समस्थान	अंगूठे मुट्ठी के भीतर दबाना	सिधी
बुड्ढा	दोषविरुद्ध अन्न का प्रयोग	कुर्सी पर पैर सिकोड़ कर	दूसरे पैर को ऊंचा रखना,	सुखपूर्वक बैठाना	तनी

रूक्ष वातक्षीण	यवागू पिला कर बैठा कर	घुटनो पर कोहनी टेकना, अगुठे मुट्ठी में बन्द कर गले में लगाना,	घुटने के नीचे यन्त्रण दोनो हाथो से दबाना गृध्रसी मे जानु संकुचित रखाना	फिर यन्त्रण करना, विश्वाची में कुहनी मोड़ कर	पीठ शिर
भीरु थका हुआ मद्यप अध्व-स्त्री कर्शित, शोधन किये का जागरित क्लीव कृश गर्भिणी खासी वाल श्वास रोगी ज्वरी आक्षेपक पक्षाघात प्यासा बेहोश अदृष्टशिरा अयन्त्रित ,, अनुत्थितशिरा	वस्त्रादि से यन्त्रित कर शस्त्र से सिरावेध करे । समशीतोष्ण ऋतु में	ऊपर कपड़े से यन्त्रण, पीछे दोनो चिल्लो को पकड़े रखना रक्त स्राव के लिए यन्त्र को पीठ के बीच दबाना रोगी का मुह वायुपूरित रखाना,			झुकाना

सिरावेधनस्थान	रोग
क्षिप्रमर्म से २ अंगुल ऊपर	पाद दाह, हर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, कातकंटक, विचर्चिका, पाददारी, श्लीपद
गुल्फ से ४ अंगुल ऊपर जंघा में	क्रोष्टुक शीर्ष, खञ्ज, पंगु, वातपीड़ाओ में
इन्द्रबस्ति से २ अंगुल नीचे	अपची
जानुसन्धि से ४ अंगुल ऊपर या नीचे	गृध्रसी
ऊरु मूल में	गलगण्ड
बामबाहु में कूर्पर सन्धि के अन्दर बाहु के बीच में	प्लीहावृद्धि में
दक्षिण बाहु में कूर्परसन्धि के अन्दर बाहु के बीच में	यकृद्दाल्य में कफोदर, कास, श्वास
कूर्परसन्धि से ४ अंगुल ऊपर या नीचे	विश्वाची
	शूलयुक्त प्रवाहिका में
मेढ़ के मध्य	परिकर्त्ति का, उपदंश, शुक्रदोष, शुक्रव्यापत्ति
वृषण पार्श्व की	मूत्रवृद्धि में
नाभि से ४ अंगुल नीचे वामपार्श्व सेवनी में	दकोदर
वामपार्श्व के कक्षास्तन के बीच	अन्तर्विद्रधि, पार्श्वशूल
दोनों कन्धो के बीच	बाहुशोष अवबाहुक
त्रिकसन्धि के बीच वाली	तृतीयाक में
स्कन्धसन्धि के नीचे पार्श्व वाली	चतुर्थक में
हनुसन्धि के बीच वाली	अपस्मार में

शिरावेधनस्थान	रोग
शंख तथा केशान्त सन्धिगत अपांग ललाट में	उन्माद, अपस्मार
अधोजिह्वा	जिह्वारोग, दन्तव्याधि
कानों के ऊपर चारों ओर	कर्णशूल, कर्णरोग
नासाग्र	गन्धाग्रहण, नासारोग
तालु पर	तालुरोगों में
उपनासिका, अपाङ्ग, ललाट	तिमिर, अक्षिपाक
,, ,, ,,	शिरोरोग, अधिमन्थ

रक्तनिर्हरण

	स्थान	परिहार्य
शिरामोक्ष	—खूब गम्भीर प्रान्त की रक्त दृष्टि	क्रोध,
विषाण	उपरोक्त से कम दृष्टि	परिश्रम
तुम्बी	थोड़ा ऊपर	मैथुन
जलौका	त्वचा के नीचे	दिन में सोना
पद	त्वचा में	जोर से बोलना
		सवारी
		अध्ययन
		खड़े रहना
		अधिक बैठना
		घूमना
		अधिक शीत
		अधिक वायु
		अधिक धूप
		विरुद्ध भोजन
		असात्म्य भोजन
		अजीर्ण

जिस प्रकार जलहारिणी नलियों द्वारा बगीचे का पोषण होता है ठीक इसी प्रकार हमारी देह का उपस्नेहन सिराओं द्वारा आकुंचन प्रसार से होता है। इनका मूल नाभि (हृदय) तथा ऊपर, नीचे, तथा तिर्यक् जाल बने रहते हैं।

मूल सिराएं चालीस जिनमें वातवहा, पित्तवहा, श्लेष्मवहा, तथा रक्तवहा दस दस हैं—परन्तु ये प्रत्येक अपने २ स्थान में जाकर १७५×४ होने से सात सौ संख्या पूर्ण होती है।

		अशस्त्रकृत्य	कुल अवेद्य
शाखा में १०० चारों शाखाओं में ४००		जालधरा (तलहृदय) १ लोहिताक्ष १ = ४ चारों शाखाओं में	१६
श्रोणि मे	३२	कटीकतरुण ८	८
पार्श्व मे	१६	ऊर्ध्वग २ पार्श्वसन्धिगत २	४

पीठ में	२४	बृहती २	२
उदर में	२४	मेढ़ पर रोमराजी के इधर उधर दोनों ओर २–२ विटप	४
वक्ष में	४०	हृदय २ स्तनमूल ४ स्तनरोहित ४ अपलाप २ अपस्तम्भ २	१४
ग्रीवा में	५६	कृकाटिका २ विधुर २ शृंगाटक ४ मातृका ८ उत्क्षेप २ सीमन्त ५ अधिपात ६	१६+८
हनु के दोनों ओर कान में	१६	शृंगाटक की शाखाएँ हनु संधि के दोनों ओर ४ शब्दवाहिनी २	४+२
जिह्वा में	३६	रसवह २ वाग्वह २	४
नासिका में	२४	नाक के पास ४ मृदुतालुकी १ आवर्त २ स्थपनी १ शंखर संधि	५+५
नेत्र में	३२	अपांग की १ केशान्त में ४	२+४

सुविद्ध	दुर्विद्ध	वर्षा	ग्रीष्म	हेमन्त
धारा से रक्त स्राव होना मुहूर्त के बाद रुकना प्रस्थमात्र	अतिविद्ध, पिच्चित, तिर्यविद्ध वेपित, पुनः पुनः विद्ध	बादलरहित	शीतलकाल	मध्यान्ह

जिस प्रकार बस्ति उपक्रम कायचिकित्सकों की आधी चिकित्सा मानी जाती है ठीक इसी तरह शिरावेध शल्यतन्त्र की आधी चिकित्सा है क्योंकि इस उपक्रम से बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं। किन्तु शिराएँ बड़ी चचल होती हैं अतः इनका बांधना तथा उठाने के लिये ताडन सावधानी से करें।

धमनी

नाम	ऊर्ध्वग १० हृदय में जाकर त्रिगुण हो जाती है।	अधोग १० पित्ताशय में जाकर त्रिगुण	तिर्यग—४

धारण स्थान			धारण	
वातवहा २	नाभि	वातवह २	पक्वाशय	असख्येय, रूप से शरीर को गवाक्षित करती है।
पित्तवहा २	उदर	पित्तवह २	कटी	
श्लेष्मवहा २		श्लेष्मवह २	मूत्र	
रक्तवहा २	पृष्ट	रक्तवह २	पुरीष	

रनवहा २	पार्श्व	रसवह २	गुद,
शब्दवहा २	उरः	अन्नवह २	अन्त्र बस्ति
रूपवहा २	स्कन्ध	तोयवह २	मेढ्र
रसवहा २	ग्रीवा	मूत्रवह २	सक्थि
गंधवहा २	बाहु	शुक्रवह २ (आर्तववह)	
भाषण २		शुक्रविसर्ग २ (आर्तवविसर्ग)	
घोष २		वर्चोनिरसन १	स्थूलांत्र
स्वपन २		स्वेदवह ८	
प्रतिबोधन २			
अश्रुवहा २			
शुक्रवहा २			
स्त्रियों में (दुग्धवहा)			

रक्त स्राव को रोकने के उपाय

प्रत्येक शस्त्र कर्म में धमनियों के कट जाने से रक्त स्राव होता है। सामान्य अवस्था मे चोट लगने से तथा दुर्घटनाओं के कारण धमनी तथा शिराओं के कट जाने से रक्त स्राव होता है। अधिक रक्त निकलने से व्यक्ति की मृत्यु तक हो सकती है। यदि किसी व्यक्ति की धमनी कट गई हो तो उनका बन्धन किया जाता है। साधारण रक्त स्राव में व्रण में गोज भर कर ऊपर से रूई रख कर कस कर पट्टी बांध देते हैं। रक्त प्रवाह को रोकने के लिये निम्न लिखित साधनो का उपयोग किया जाता है।

(१) धमनियों का बन्धन—धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकड़ कर उसके ऊपर रेशम या केट गट का बन्धन लगाने की आवश्यकता नही पड़ती केवल धमनी यन्त्र से उसको दबा देते हैं। उससे रक्त नहीं निकलता। धमनी के कटे हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकड़ने के बाद केट गट से रीफ गाँठ लगाई जाती है। केट गट को धमनी में डालते समय धमनी यन्त्र को सीधा रखना चाहिये। परन्तु गाँठ बांधते समय टेढ़ा कर देना चाहिये। इस क्रिया से गाँठ धमनी पर से फिसलने नही पाती।

(२) धमनी यन्त्र को मरोड़नाः—धमनी के कोट हुये शिरे को धमनी यन्त्र से पकड़ कर कई बार मरोड़ देते हैं।

जिसके कारण धमनियों के भीतर के सत्तह टूट कर ऊपर की ओर मुड़ जाते हैं। जिससे रक्त मार्ग रुक जाता है।

(३) **धमनी को पकड़ना:**—धमनियों को केवल धमनी यन्त्र के द्वारा दबाने से रक्त स्राव रुक जाता है। कभी २ शस्त्र कर्म में धमनियाँ इतनी गहराई से कट जाती हैं कि ऊपर बन्धन लगाना सम्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में धमनी को धमनी यन्त्र से पकड़ कर २४ घन्टे तक व्रण के भीतर छोड़ दिया जाता है। और व्रण को व्रणोपचार वस्तुओं से ढक देते हैं।

(४) **दाह कर्मः**—यह कर्म एक यन्त्र के द्वारा किया जाता है। जिसे दाह यन्त्र कहते हैं। इसका उपयोग रक्त प्रवाह को रोकने के लिये किया जाता है। इस यन्त्र के अगले भाग में एक शलाका होती है। जिसको दाह दाह कहते हैं। इसको इतना गर्म किया जाता है कि वह चमक रहित लाल हो जाय। इसके पश्चात इसके द्वारा उस स्थान पर दाह कर्म किया जाता है। इससे धमनियों के कटे हुये शिरे जल कर बन्द हो जाते हैं।

जब रक्त किसी विशेष धमनी से न निकल कर चोट लगे हुये स्थान के सारे पृष्ठ से निकलता है तो उसको रोकने के लिये निम्न लिखित उपाय काम में लाते हैं।

(१) **उष्ण जल:**—पानी की गर्मी १३० से १६० फार्म हिट होनी चाहिये।

इससे रक्त का एलब्युमिन जम जाता है। और रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

(२) **शीत उपचार:**—बर्फ तथा अत्यन्त ठन्डे पानी के प्रयोग से भी रक्त स्राव रुक जाता है।

मुख, भग, गुदा आदि स्थान के रक्त स्राव को भी इसी प्रयोग से ही रोकते हैं। इसका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिये बर्फ तथा शीतल जल शुद्ध हो।

(३) **स्थिति:**—कभी कभी अंग को केवल ऊपर उठा देने से रक्त निकलना बन्द हो जाता है।

(४) **रक्त स्तम्भक औषधियाँ:**—जब रक्त किन्हीं गहरे स्थानों से निकलता है तब इन औषधियों का प्रयोग किया जाता है। यह कई प्रकार से कार्य करता हैं।

(क) कुछ वस्तुएे केवल उसी स्थान पर करके रक्त के एलब्युमिन को जमा देती हैं। जैसे फिटकरी, टैनीक ऐसिड, माजूफल, सिल्वर नाईटेट इत्यादि।

(ख) कुछ वस्तुएें रक्त की नलियों की संकोचक होती हैं जैसे ऐड्रिनलिन नाक से बहने वाले खून को बन्द करता है।

(ग) कुछ औषधियाँ रक्त के जमने की शक्ति को बढ़ाती हैं। आपरेशन करने से पूर्व रोगी को इन औषधियों का सेवन कराया जाता है। जैसे केलसियम लेटेड, प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म आदि।

(घ) कुछ वस्तुओं की क्रिया का अभी तक ज्ञान कम है। जैसे तारपीन तैल के लगाने से रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

स्वर-चिकित्सा विज्ञान

लेखक : वैद्य स्वामी ईश्वरदास आचार्य, सरदारशहर

[स्वामी ईश्वरदासजी व्याकरण-साहित्य, दर्शनशास्त्री, आयुर्वेदाचार्य सरदार शहर में गुरु-परम्परा से चिकित्सा का बड़ी दक्षता से कार्य कर रहे है। स्वामीजी विद्वान् होने के साथ 'योग विद्या' के मर्मज्ञ हैं। आपने 'स्वर-चिकित्सा विज्ञान' पर संक्षिप्त लेख लिख कर नई दिशा दी है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

स्वराकारं मंगलेवन्दे: निराकारञ्चमोइनं, तृतीयं सूर्यदासञ्च ब्रह्मविष्णु महेश्वरान् ॥१॥

स्वर शब्द का अभिप्राय विभिन्न शास्त्रों की परिभाषा से पृथक् २ है किन्तु यहां पर योग शास्त्र की परिभाषानुसार—स्वर चिकित्सा का अभिप्राय है स्वर नासिका से चलने वाले श्वास प्रवाह (प्राण) से है। नासिका द्वारा प्रवाहित प्राण वायु का नियमन करना ही स्वर चिकित्सा है। अर्थात्—देहस्य प्राणमूलम् ॥ इस शरीर को चलाने वाला प्राणवायु ही है। उसके ऊपर ठीक प्रकार से विजय पाने से मानव अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त होकर स्वस्थ सबल बन कर शतायु: बन सकता है जैसा कि वेद कहता है जीवेम: ! शरद: ! शतम् हमारे भारतवर्ष में महाविज्ञान लाखों वर्ष पुराना है। इसका पूर्ण ज्ञान हमारे प्राचीन तप.पूत त्रिकालदर्शी महर्षियों को था जिसके द्वारा वे तीनो कालों की होने वाली घटनाओं का यथार्थ ज्ञान रखते थे तथा अपने शरीर में होने वाले रोगादि का ज्ञान करके इस ज्ञान द्वारा निवारण कर लेते थे। इस स्वरज्ञान में पूर्ण जानकार सुयोग्य अनुभवी गुरु की आवश्यकता है तथा निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है। तभी स्वर-ज्ञान का रहस्य मालूम हो सकता है।
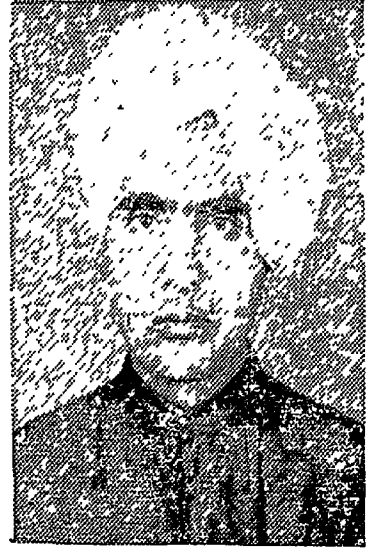
स्वर का सम्बन्ध नासिका से प्रवाहित (चलने वाले) प्राण-वायु से है। अर्थात् नासिका दो हैं। एक दाईं तथा दूसरी बाईं। इनको ही दक्षिण नासिका वामनासिका कहते हैं। दोनो से बराबर क्रम से श्वास-प्रश्वास चलता है। इस पर थोड़ा ध्यान देने से समझ में आ जाएगा।

योग शास्त्र में शरीर में ७२००० बहत्तर हजार नाड़ियों का वर्णन है उनमें १० प्रधान हैं, जिनके नाम—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना है।

वाम नासिका से चलने वाली नाड़ी को इड़ा (चन्द्र स्वर) कहते हैं। यथा—वाम इड़ा स्वर जान चन्द्र पुनि कहियत वाको। दक्षिण नासिका से प्रवाहित स्वर को सूर्य नाड़ी सूर्य स्वर पिंगला कहते हैं। जब क्रम से दोनों नासिकाओं से श्वास चलता है अर्थात् कभी बाएं से तथा कभी दाहिने से चलता है तो उसे सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। सुषुम्ना स्वर-प्रवाह में कोई कार्य नहीं करना, केवल आत्म-चिंतन करना। निम्न तालिका से ठीक-ठीक समझें :—

वाम नासिका	दक्षिण नासिका	उभय नासिका
इड़ा नाड़ी	पिंगला नाड़ी	सुषुम्ना नाड़ी
चन्द्र स्वर	सूर्य स्वर	सुषुम्ना स्वर

अब आपको इन तीनों नाड़ी स्वरों के विषय में संक्षेप में यह बतलाया जाएगा कि इन स्वरों के ठीक-ठीक प्रवाह में कौन कौनसा कार्य करना (आहार-विहार) करना ठीक स्वास्थ्यकर होगा क्योंकि आयुर्वेद का मूल सूत्र है कि मिथ्या आहार-विहार द्वारा ही त्रिदोष कुपित होते हैं और त्रिदोष-विकृति से ही सब रोग होते हैं। यथा—रोगस्तु दोष वैषम्यम्।

सूर्य स्वर की क्रिया (आहार-बिहार)

सूर्य स्वर (पिंगला नाड़ी) से जब श्वास चलता हो तो निम्न आहार-विहार करना आरोग्यप्रद है :—

भोजन करना, स्नान करना, स्त्री-संग, विद्या पढ़ना, दौड़ना, व्यायाम करना, शौच जाना। सूर्य स्वर में शौच (टट्टी) जाने से कब्ज नहीं होता है। शौच खुल कर होता है।

कब्ज से होने वाले रोग अर्श (बवासीर), उदर आध्मान (गैस) आदि की बीमारियां नहीं होती है। सूर्य स्वर-प्रवाह में भोजन करने से आपको अग्निमांद्य, अजीर्ण, अम्ल पित्त, अर्श, विशूचिका तज्जन्य और भी बहुत-से रोगों से जैसे उदर रोग, विबन्ध, आध्मान, यकृतप्लीहादि वृद्धि, गुल्म, अतिसार ग्रहणी, अर्श आदि से छुटकारा मिल जाएगा।

चन्द्र स्वर की क्रिया (आहार-विहार)

बाएं (चन्द्र स्वर) प्रवाह में जल पीना, पतली चीजें पेय पदार्थों का उपयोग करना श्रेष्ठ है। तथा भोजन करने के बाद वाम पार्श्व से लेटना अच्छा है। ऐसा करने से भोजन यथास्थान हो कर ठीक परिपाक होता है। यथा आयुर्वेदेऽपि—भुक्त्वा शतपदंगच्छेत्, वामपार्श्वे शयीत। जिनको बराबर अग्निमांद्य रहता हो और कब्ज रहता हो, बवासीर हो, टट्टी में जा कर देर तक बैठे रहने की आदत हो, बार-बार शौच जाना पड़ता हो उनको

उपर्युक्त स्वर-नियमों का पालन पूर्ण निष्ठा से करना चाहिए। शीघ्र ही लाभ होगा। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। स्वर-चिकित्सा विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव क्रिया है इससे सभी प्रकार के मानव क्या गरीब क्या अमीर सभी लाभ उठा सकते हैं। बिना मूल्य के केवल सतत् अभ्यास की साधना से सभी लाभ उठा सकते हैं।

यह विज्ञान एक योग का ही विभाग है। योग का सम्बन्ध प्राण से है तथा इसका सम्बन्ध भी प्राण वायु से ही है। इसमे केवल साधना करनी पड़ती है और कोई खर्च नहीं होता है। यदि मानव चाहे तो प्राणायाम, आसन तथा स्वर क्रिया साधना इन तीनों साधनों का बराबर सतत् अभ्यास की साधना से पूर्ण स्वस्थ, सबल बन कर आनन्द से सौ वर्ष जी सकता है। उसे अनावश्यक दवाओं के सेवन की बहुत कम आवश्यकता होगी यह एक ध्रुव सत्य है।

उपरोक्त क्रियाओं के अतिरिक्त भी बहुत-सी साधनाएं हैं जिनका संक्षेप से निर्देश किया जाता है जिनके करने से आशु लाभ होगा और इस महंगाई के युग में बिना खर्च के आरोग्य लाभ होगा। यदि आपको कोई रोग हो जाय जैसे ज्वर, अतिसार (दस्त), श्वास-वेग, शिरःशूल, पार्श्वशूल आदि मे उसी समय जो स्वर चलता हो उस स्वर को बदल देने से तत्काल लाभ होगा। ज्वर का वेग स्वर बदलते ही कम हो जाएगा। अतिसार में तीव्र वेगो को रोकने के लिए उपरोक्त क्रिया तत्काल करनी चाहिए। शिरःशूल भी तत्काल मिट जाता है। श्वास के तीव्र दौरे में भी तत्काल स्वर-परिवर्तन द्वारा दौरा कम पड़ जाता है।

स्वर बदलने की क्रिया

जो स्वर चलता हो उधर के ही पसवाड़े से (करवट) से लेटने से तथा चलते स्वर को बन्द करने से दूसरा स्वर १०, १५ मिनट में चालू हो जाता है। कभी-कभी अधिक समय भी लग जाता है। घबराना नहीं चाहिए। स्वर को बन्द करने के लिए शुद्ध, स्वच्छ रुई को ले कर शुद्ध वस्त्र से वेष्ठित कर गोलीनुमा बना लेना चाहिए। इसे ही काम में लेना चाहिए। वैसे अरीठा (फल) की भीतरी गोली भी बढ़िया कार्य देती है, कभी खराब नहीं होती।

अब आपको स्वर विज्ञान की २, ३ अधिक स्वास्थ्योपयोगी विधियां बतलाई जावेंगी जिनका अभ्यास करने से भावी रोग ज्ञान हो जाएगा और उससे कैसे मुक्ति मिलेगी, यह भी मालूम होगा। १ मास ३० दिन का होता है। तथा महिने में २ पखवाड़े होते हैं जो १५, १५ दिन के होते हैं।

जिनके नाम- कृष्ण पक्ष, शुक्ल पक्ष हैं। शुक्ल पक्ष- चन्द्र का प्रधान है तथा कृष्ण पक्ष सूर्य का प्रधान है। इधर शरीर मे शुक्ल पक्ष में चन्द्र स्वर प्रधान होता है अर्थात्

जब जब शुक्ल पक्ष प्रारम्भ होता है तो उसकी प्रथम तिथि १ प्रतिपद् को प्रात: सूर्योदय से पूर्व देखना चाहिये चन्द्र स्वर चलता है या नहीं। यदि विपरीत स्वर चले तो उससे रोग होगा। अर्थात् उष्णताजन्य रोग होगा। अत: उसे उसी समय बन्द कर उपयुक्त स्वर प्रवाहित कर लेवें। शुक्ल पक्ष में तीन दिन तक प्रात: चन्द्र स्वर चलेगा फिर तीन दिन सूर्य स्वर चलेगा। इस तरह तीन २ दिन के क्रम से स्वर पूरे पक्ष भर चलना ठीक है। स्वास्थ्यप्रद है। यथा- शुक्ल पक्ष के आदि ही तीन तिथि लग चन्द्र, फिर सूरज फिर चन्द्र है, फिर सूरज फिर चन्द्र ॥१॥

इसी तरह कृष्ण पक्ष में भी– आदि की तीन तिथि तक सूर्य स्वर चलना आरोग्यप्रद है। यथा-कृष्णपक्ष में आदि ही, तीन तिथि लग भानु, फिर चन्दा धिर भानु है, फिर चन्दा फिर भानुगण। इसके विपरीत चलने से देह में कोई न कोई रोग होगा। अत: तत्काल स्वर क्रिया साधना से बदल देवें।

विशेष नियम– यदि आप बाएं स्वर प्रवाह में भोजन करेंगे तथा दाएं में जल पीयेंगे तो १० दिन के अन्तर रोगाक्रांत हो जायेंगे। अतः सावधान रह कर नियम का पालन करें। यदि आप दायें स्वर में शौच (टट्टी) जावेंगे, और बाएं स्वर में लघुशका (मूत्रत्याग) करेंगे तो बहुत से रोगों से बच जायेंगे।

बाएं करवट सोइए, जल बाएं स्वर पीव।
दाहिने स्वर भोजन करें, तो सुख पावै जीव ॥१॥
चन्द्र चलावै दिवस को, रात चलावै सूर।
नित साधन ऐसे करें, होइ उमर भरपूर ॥२॥

अर्थात् रात्रि को हमेशा वामपार्श्व से सोना चाहिए। इससे बहुत से रोग नहीं होते हैं। इस स्वर साधना विज्ञान चिकित्सा के साध्य में पचतत्व ज्ञान की साधना भी है किन्तु वह बहुत सूक्ष्म व अभ्याससाध्य है जिसकी पूर्ण साधना से मानव अजर अमर बन सकता है। तथा बहुत सी आने वाली औषधाओं से बच सकता है। तथा जनता का भी कल्याण कर सकता है। स्वर चिकित्सा विज्ञान की पूर्ण साधना से मानव असम्भव को सम्भव बना सकता है।

पंच तत्व ज्ञान के उपाय

हमारे शरीर में एक नासिका में १ घंटा तक एक स्वर चलता है। जब बदलता है तब दूसरे स्वर से भी १ घटा ही चलता है। इतने समय मे अर्थात् १ घटे में पांचों तत्व क्रमशः उदय होकर अपनी २ अवधि तक विद्यमान रहते हैं। जैसे पृथ्वी तत्व २० मिनिट, जल तत्व १६ मिनिट, अग्नि तत्व १२ मिनिट, वायु तत्व ८ मिनट तक, आकाश तत्व ४ मिनिट तक-उदय होकर रहते हैं।

तत्वों के जानने की निम्न पांच विधियां हैं।

१ यदि स्वर ठीक मध्य नासिका से चले तो पृथ्वी तत्व होगा, नीचे की ओर चले तो जल तत्व, ऊपर की ओर चले तो अग्नि तत्व, यदि तिरछा चले वायु तत्व और घूम घूम कर चले तो आकाश तत्व का उदय समझना चाहिये।

२ एक साफ दर्पण लेकर उस पर जोर से श्वास छोड़ो, यदि चौकोर आकृति बने तो पृथ्वी तत्व, अर्ध चन्द्राकृति बने तो जल तत्व, त्रिकोण बने तो वायु तत्व का, बिन्दु बिन्दु से बने तो आकाश तत्व का उदय समझे।

३ दोनो हाथो के दोनों अंगूठों से दोनों कोनों के छिद्र, दोनों अनामिकाओं से दोनों आखें, दोनो मध्यमाओं से दोनों नथुनों के तथा दोनों तर्जनियों तथा कनिष्ठिकाओं से मुख को बन्द करके देखें, यदि पीला रग दीखे तो पृथ्वी तत्व, सफेद रंग दीखे तो जल तत्व, लाल रंग का अग्नि तत्व, हरा या बादल का सा काला रंग दीखे तो वायु तत्व, रंग बिरगी दिखाई दे तो आकाश तत्व समझे।

४ यदि मुख का स्वाद मधुर हो तो पृथ्वी तत्व, कसैला स्वाद, जल का कड़वा स्वाद हो तो अग्नि तत्व, खट्टा जान पड़े तो वायु तत्व का, तीखा स्वाद आकाश तत्व का है।

५ किसी प्याले मे बारीक रेत लेवे, या हाथ पर ही रेत रख कर उसे बहते हुए नासिका स्वर के पास ले जावे। जहां से उड़ने लगे वही पर स्थिर कर नापे यदि १२ अंगुल है तो पृथ्वी तत्व है। १६ अंगुल वायु तत्व है, २० अंगुल आकाश तत्व है और ४ अंगुल मे अग्नि तत्व का उदय समझना चाहिए। इस तरह स्वर तथा तत्वों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों की साधना से मानव के सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं। और भी बहुत सी सूक्ष्म विधियां है जिनका विस्तारभय से वर्णन नही दिया है जैसे गर्भ मे बच्चा है या बच्ची है। गर्भ है या नहीं। बच्चा ही पैदा करना, पुत्री ही पैदा होना आदि का ज्ञान भी स्वर के द्वारा होता है। रोगों के अरिष्ट लक्षणों की जानकारी स्वर चिकित्सक को हो जाती है। स्वर ज्ञान द्वारा साध्यासाध्यता का ज्ञान हो जाता है। अपने शरीर के रोगों का, तथा आयु का, मृत्यु का भी ज्ञान पूर्व ही हो जाता है। कौन से दोष की विकृति से रोग होगा, कितने दिन रहेगा आदि बहुत सी बाते हैं जो स्वर चिकित्सा विज्ञान साधना से मालूम हो जाती हैं। अन्तिम लक्ष्य मृत्यु रोगादि से शरीर नाश का पूर्व मे ही ज्ञात होने से मानव सर्व से वृत्ति हटा कर केवल भगवत्स्मरण करता हुआ मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस तरह इस स्वर विज्ञान चिकित्सा का महत्व बहुत ऊंचा है। यथानार्थार्थ नापिकामार्थ मद्य भूतदयां प्रति-

सर्वे सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःख भागभवेत्

॥ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भग्न प्रकरण (Fracture)

श्री भागीरथ शर्मा, उदयपुर

[श्री शर्मा परिश्रमशील अध्यवसायी, कर्तव्य-निष्ठ, शान्त तथा सरल व्यक्ति और कुशल चिकित्सक हैं। परोपकार-भावना से निर्धनों को सस्ती और सरल औषधियों का प्रयोग लिखते हैं। आप बागड़ औषधालय कलकत्ता के प्रधान चिकित्सक थे, किन्तु इन्हें राजस्थान से अधिक मोह होने से उदयपुर पधार गये। श्री शर्मा आयुर्वेदाचार्य है एवं निर्भीक लेखक हैं। आप सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। भारत में आयुर्वेदीय राजनीति पर हर वक्त चौकन्ने रहने वाले जागरूक प्रहरी हैं। आप उदयपुर कमिश्नरी वैद्य सभा के वर्षों अध्यक्ष रहे। राष्ट्रीय विचारधारा के कारण आप जनसंघ के कार्यकर्त्ताओं में अग्रणी रहे है। आप द्वारा 'भग्न प्रकरण' पर लेख मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

जब कोई हड्डी टूट जाती है तो उसे अस्थि भग्न याकाण्ड भग्न कहते हैं परन्तु हड्डी टूटे नहीं और अपने स्वाभाविक स्थान से हट जाय तो उसे संधिमुक्त कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में पर्याप्त अन्तर होने पर भी लक्षणों और चिकित्सा की समानता होने से सुश्रुत ने एक स्थान पर वर्णन किया है।

भग्न के कारण

(१) पतन या किसी स्थान से गिरना।

(२) पीड़न यानि किसी स्थान पर दबाव पड़ना।

(३) प्रहार यानि चोट लगना।

(४) आक्षेपण किसी चीज को जोर से फेंकना।

जैसे:—गैन्द फेंकना या गोला फेंकना आदि।

(५) जंगली जानवरों द्वारा काटे जाने से भी हड्डी टूट सकती है। इन कारणों के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी हैं।

जैसे:—स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अस्थिभग्न ज्यादा होता है। इसके अतिरिक्त अस्थिक्षय, पक्षाघात और फिरंग आदि रोगों में अस्थिभग्न ज्यादा होता है।

भग्न के प्रकार:—यह दो प्रकार से होता है।

(१) संधिमुक्त (२) काण्डभग्न

संधिमुक्त:—यह भी दो प्रकार का होता है। (१) सव्रण (२) अव्रण

सव्रणः—इसमें त्वचा आदि फट जाती है और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से हो जाता है।

अव्रणः—इसमें त्वचा नही फटती और उसका या हड्डी का सम्बंध बाहर की वायु से नही होता।

सुश्रुत ने संधिमुक्त के निम्न भेद किये हैं—

१. विश्लिष्टः—इसमें संधि अपने स्थान से पूरी नहीं हटती।

२. विवर्तितः—इसमें हड्डी एक दूसरे के दांये बांये हट जाती है।

३. उत्पिष्टः—इसमे हड्डी टूट जाती है और संधि भी अपने स्थान से हट जाती है।

४. अवक्षिप्तः—यह इस प्रकार का संधिमुक्त है जिसमें अस्थि दूसरी अस्थि के नीचे सरक जाती है।

५. अतिक्षिप्तः—यह इस प्रकार का संधिमुक्त है जिसमें दोनों अस्थि या एक दूसरे से दूर हट जाती है। और उसके बीच जैसे मांस, शिरा, धमनी आदि फट जाती है।

६. तिर्यक् क्षिप्तः—इसमें सधि टेढ़ी हो जाती है और संधि का पूरा विश्लेषण हो जाता है अर्थात संधि पूर्ण रूप से हट जाती है।

सधिमुक्त के लक्षणः—

१. संधिमुक्त की अवस्था में कुछ प्रभावित संधि के कार्य में हानि होती है। जैसे उसका फ़ैलना और सिकुड़ना आदि क्रियाऐं नहीं होती हैं।

२. सधि स्थान पर सूजन हो जाती है और छूने पर पीड़ा होती है।

३. संधि मे विषमता आ जाती है।

काण्ड भग्नः—हड्डी के टूटने को काण्ड भग्न कहते हैं। संधिमुक्त की तरह इसके भी दो भेद हैं—(१) सवृण, (२) अवृण :

१. सवृणः—इसमें त्वचा फट जाती है और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से होता है।

२. अवृणः—इसमें त्वचा नही फटती और हड्डी का सम्बन्ध बाहर की वायु से नहीं होता।

सुश्रुत ने काण्ड भग्न के १२ भेद बताये हैं:—

१. कर्कटकः—इसमें केकड़े के समान पेचदार हड्डी टूटती है।

२. अश्वकर्णः—इसमें घोड़े के कान की तरह हड्डी तिरछी रेखा में टूटती है।

३. चूर्णितः—इसमें हड्डी के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं।

४. पिच्चित:—इसमें हड्डी के टूटने के साथ मांस, शिरा, धमनी आदि अवयव भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये चिकित्सा की दृष्टि से यह भग्न अनेक उपद्रव वाला होता है।

अस्थिच्छलित:—इसमें हड्डी लम्बाई की दिशा में टूटती है।

६. काण्ड भग्न:—इसमें हड्डी चौड़ाई की दिशा में टूटती है।

७. मज्जानुगत:—इसमें टूटी हुई हड्डी का एक सिरा दूसरी हड्डी की मज्जा में घुस जाता है।

८. अतिपातित:—इसमें हड्डी पूरी तरह टूट जाती है।

९. वक्र:—इसमें हड्डी टूटती नहीं परन्तु टेढी हो जाती है। यह भग्न बच्चों में विशेष पाया जाता है।

१०. छिन्न:—इसमें हड्डी का कुछ भाग टूट जाता है परन्तु कुछ भाग हड्डी से लगा रहता है।

११-१२. पाटित स्फुटित:—इसमें हड्डी टूटती नहीं परन्तु इसमें दरार पड़ जाती है। कपालास्थिओं में यह भग्न विशेष पाया जाता है।

१. काण्ड भग्न के लक्षण:—जिस जगह से हड्डी टूटती है उस जगह पर सूजन हो जाता है। तथा उस जगह को छूने से दर्द होता है।

२. अवपीड्यमाने शब्द:—यदि उस स्थान को अंगुलियों से दबाया जाय तो टूटी हुई हड्डी के सिरों को आपस में टकराने से शब्द पैदा होता है। परन्तु टूटे हुये खण्डों के बीच मे मांस आदि धातु आ जाने से यह शब्द नहीं मिलता।

४. स्रस्तांगता:—जिस जगह हड्डी टूटती है वह भाग शिथिल हो जाता है। इस कारण यदि उस स्थान में गति कराई जाय तो वह भाग गति नहीं कर सकता और उसमें वेदना अधिक होती है।

४. सर्वासु अवस्थासु न शर्मलाभ: :—रोगी को किसी भी अवस्था में सुख नहीं मिल सकता।

५. भग्न ज्वर:—मुख्य बात जो मिलती है वह है भग्न ज्वर।

भग्न चिकित्सा:-पथ्य:—जिस व्यक्ति की हड्डी टूट जाती है उसे दूध, घृत, मांसरस और मटर का रस इत्यादि शरीर को मोटा ताजा करने वाले आहार देना चाहिये। लवण, कटु, क्षार और अम्लप्रधान आहारों का सेवन नहीं करना चाहिये। अधिक जागरण व मैथुन नहीं करें।

१ कुशा :— (खपची) प्राचीन काल में गूलर, पलाश और अर्जुन महुआ आदि वृक्षों

की लकड़ियों से कुशा का निर्माण किया जाता था । कुशा लगाने का उद्देश्य टूटे हुये अंग को विश्राम देना होता है । भिन्न प्रकार के अंगों में भिन्न प्रकार की कुशायें बनाई जाती हैं । आधुनिक चिकित्सा में इन कुशाओं का बहुत प्रयोग किया जाता है ।

सुश्रुत ने कपाट शयन नामक कुशा का वर्णन किया है । इसके अन्दर एक लकड़ी का तख्ता होता है जिसके ऊपर पांच कीलें गडी होती हैं । इसमें दो दो कीलें अंग को पार्श्व से घेरती हैं । इन कीलों के कारण अंग हिल डुल नहीं सकता और पांचवीं कील अन्तिम सिरे पर लगाते हैं । पांचवीं कील से टूटी हुई हड्डी को खींच कर पट्टी बांध कर स्थिर कर देते हैं ।

२. आलेपः—मजीठ, मुलेठी, लालचन्दन, इनको शतधौत घृत में मिला कर भग्न अंग पर लेप किया जाता है । इसके शीतल और स्निग्ध प्रभाव से अंग की सूजन उतर जाती है ।

३. परिषेकः—न्यग्रोध आदि कषाय द्रव्यों के शीतल कषाय से परिषेक किया जाता है । यदि शीतल उपचार करना अभीष्ठ न हो तथा अंग पर अत्यधिक पीड़ा हो रही हो तो पंचमूल सिद्ध गर्म दूध से सेक करना चाहिये । अथवा गर्म चक्रतेल (ताजा तैल) से सूजे हुये अंग पर सेक करते हैं ।

४. क्षीरपानः—प्रथम प्रसूता गाय के दूध को बृंहण औषधियों से सिद्ध करके शीतल होने पर लाक्षा मिला कर रोगी को देने से अस्थि संघात शीघ्र होता है ।

५. यथास्थानानयनः—इसका अभिप्राय यह है कि टूटी हुई हड्डी को हाथ से पकड़ कर ठीक स्थान पर लाते हैं, भग्न में नीचे दबी हुई हड्डी को ऊपर उठाते हैं और उठी हुई हड्डी को नीचे दबा कर सम अवस्था लाते हैं । यदि हड्डी के सिरे बहुत दूर चले गये हों तो उन्हें खींच कर पास ले आते हैं ।

६. बंधनः—हड्डियों को ठीक स्थास पर बिठाने के बाद उसे स्थिर रखने के लिये बन्धन बांधते हैं ।

७. उद्वर्तन व चालनः—इसमें रोगी के अंग की गति कराई जाती है । क्योंकि ऐसा न करने से मांसपेशियों के निष्क्रिय होने से संधि का जाम हो सकता है । आधुनिक युग की चिकित्सा में हड्डी को सैट करने के लिये एक्सरे का सहारा लिया जाता है । एक्सरे द्वारा भली प्रकार देख कर हड्डियों को ठीक सैट करके प्लास्टर ऑफ पैरिस (गौदन्ती तीव्राग्नि द्वारा भस्म करने पर) बांधा जाता है । अथवा चूना को गुड़ में मिला कर इसके बांधने से हड्डी अपने स्थान से हटती नहीं ।

हड्डी टूटने पर प्राथमिक उपचारः—हड्डी टूटने का इलाज करने के पहले यह जानना

चाहिये कि वह किस प्रकार जुड़ती है। सबसे पहले टूटे हुये सिरों के बीच में अस्थि धातु का निर्माण होता है। यह धातु प्रारम्भ में मुलायम होता है परन्तु शनैः शनैः दो से छः सप्ताह में कठोर होकर हड्डी बन जाती है। इस अवस्था में यदि टूटी हुई हड्डी के दानों सिरे यदि उचित स्थिति में रहते हैं तो हड्डी ठीक जुड़ती है। इसलिये अस्थिभग्न की चिकित्सा करते हुये उसके टूटे हुये सिरों को हाथ से पकड़ कर ठीक स्थिति मे लाना चाहिये। अस्थि भग्न के प्राथमिक उपचार में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि हड्डी के टूटे हुये सिरों से आसपास की रचनाओं को कोई हानि न पहुंचे। और यह सहायता कुशा या स्पिलिन्ट द्वारा ली जाती है। यह स्पिलिन्ट लकड़ी, टिन अथवा गत्ते की बनाई जाती है। इस स्पिलिन्ट के द्वारा टूटे हुये अंग को स्थिर करके ऊपर पट्टी बांधते है जिसके कारण टूटी हुई हड्डी के ऊपर और नीचे के जोड़ गतिहीन हो जाते हैं। कई अवस्थाओं में जब कि स्पिलिन्ट प्राप्त नहीं हो सकता निम्नलिखित चीजों का प्रयोग कर सकते हैं।

१. लकड़ी की छड़ी, २. छाता, ३. बन्दूक, ४. मुड़े हुये अखबार, ५. गत्ता मोटा, ६. मुड़े मुड़ाये कागज के टुकड़े, ७. घासफूस, ८. जुराव या किसी थैली में मिट्टी या रेत भर कर, ९. साइकिल का पम्प, १०. चम्पल या जूते।

स्पिलिन्ट को लगाने के बाद उस पर पट्टी बांधी जाती है। परन्तु कुछ अवस्थाओं में यदि पट्टी पास में न हो तो निम्न वस्तुओं का प्रयोग करें:—१. रूमाल, २. धोती, ३. बैल्ट, ४. टाई, ५. किसी प्रकार की रस्सी का टुकड़ा।

जिस व्यक्ति की हड्डी टूट जाती है उसके कपड़े नहीं उतारने चाहिये परन्तु यदि सव्रण भग्न हो और उसमें खून निकलता हो तो कपड़ों को उतारना चाहिये।

भग्न की चिकित्सा में निम्न बातों का ध्यान रखा जाता है या रखना चाहिये।

१. सन्देहयुक्त रोगी की भग्न के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

२. सम्पूर्ण स्पिलिन्ट के ऊपर पट्टी बांधनी चाहिये।

३. प्रत्येक प्रकार के भग्न के ऊपर उसको स्पिलिन्ट लगाने के बिना नहीं हिलाना चाहिये।

४. यदि टांग की हड्डी टूट गई हो तो पैर को समकोण पर रखना चाहिये।

५. हाथ मणिबन्द अंगुलियों, गुल्फसंधि और पैर के भग्नों में स्पिलिन्ट (Splint) के साथ पैड अवश्य लगाना चाहिये।

६. उर्ध्वशाखा के भग्न में हाथ को कोहनी से ऊपर की तरफ इस प्रकार रखना चाहिये कि उसकी अंगुलियां फैली हुई हों और अंगूठा ठोडी की तरफ संकेत करे।

७. व्रण के ऊपर स्पिलिन्ट (Splint) नहीं लगानी चाहिये।

शोथ (Inflammation)

वैद्य लालचन्द

[वैद्यजी का निवास-स्थान लोसल (सीकर) है। लगभग २६ वर्ष से राज्य-सेवारत हैं। आपका फार्मेसिस्ट अ श्रेणी चिकित्सालय धौलपुर तथा प्राध्यापक धात्रीकल्पद प्रशिक्षण केन्द्र जोधपुर में रहा है और वर्तमान में अ श्रेणी चिकित्सालय जोधपुर में वरिष्ठ चिकित्सक पद पर कार्य कर रहे हैं। 'शोथ व्याधि' नामक लेख लिखा है। मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

ग्रंथि विद्रधि आदि व्याधियाँ प्रायः शोथयुक्त हुआ करती हैं, किन्तु उनसे विलक्षण फैला हुआ गांठदार, सम, या विषम त्वचा और मांस आदि धातु में होने वाला वात आदि दोषों का समूह जो शरीर के किसी एक देश में उत्पन्न होता है। उसे शोथ कहते हैं।
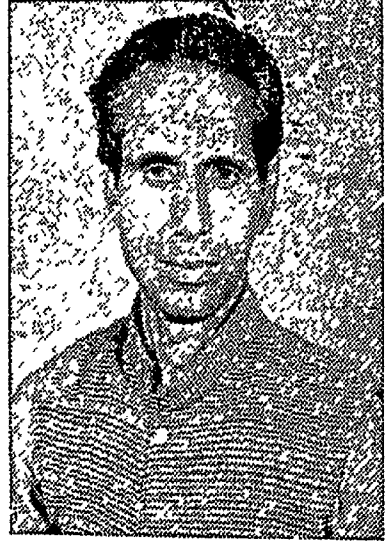
शोथ के प्रकार:—शोथ छः प्रकार के होते हैं। (१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) रक्तज, (५) सन्निपातज, (६) आगन्तुज।

(१) वातज शोथ:—वातज शोथ कुछ लाल कुछ काला तथा खुरदरा होता है, इसमें सुई चुभने जैसी वेदना होती है। वेदना कभी घटती है और कभी बढ़ती है।

(२) पित्तज शोथ:—पीले रंग का होता है, और शीघ्र बढ़ने वाला होता है। इसमें दाह और वेदना विशेष होती है।

(३) कफज शोथ:—सफेद रंग का अथवा पाण्डु रंग का होता है, यह शीतल तथा धीमे बढ़ने वाला होता है।

(४) रक्तज शोथ:—इसमें पित्तज शोथ के लक्षण मिलते हैं।

(५) सन्निपातज शोथ:—इसमें तीनों शोथों के लक्षण मिलते हैं।

(६) आगन्तुज शोथ:—इसमें पित्तज तथा रक्तज शोथ के लक्षण मिलते हैं, यह हल्के लाल रंग का होता है।

जब यह शोथ दोषों की अधिकता के कारण तथा बाह्य उपचार लेप, सेक, उपनाह आदि से। तथा आभ्यन्तर उपचार जैसे रक्त शोधक औषधियों को लेने से शान्त नहीं होता तो यह पकने लगता है। इस अवस्था में इसकी तीन अवस्थायें होती हैं।

(१) **आमावस्थाः**—इस अवस्था में शोथ के स्थान की त्वचा का रंग अन्य स्थान की त्वचा के रंग के समान होता है। शोथ का स्थान कुछ गर्म होता है। इसमें हल्की वेदना और हल्की सूजन होती है। इस अवस्था में यदि शरीर का बल और औषध बल हो तो रोग शान्त हो जाता है।

(२) **पच्यमानावस्थाः**—प्रारम्भिक अवस्था में जीवाणुओं तथा दोषों के प्रबल होने पर तथा योग्य चिकित्सा के न मिलने पर रोग बढ़ने लगता है। इसमें सुइयों के चुभने जैसी वेदना होती है। तथा चींटियों के काटे जाने के समान पीड़ा होती है। अग्नि से जलाया जाने के समान और बिच्छू के काटने के समान वेदना होती है। इस अवस्था में उस स्थान की त्वचा का रंग बदल जाता है। शरीर में हल्का ज्वर हो जाता है। रोगी को प्यास अधिक लगती है। और खाने मे रुचि नहीं होती है।

इस अवस्था में पूय (Pus) के उत्पन्न होने के कारण उसका दबाव वातनाड़ियों पर पड़ता है। जिसके कारण अनेक प्रकार की वेदनायें होती हैं।

इस अवस्था में शरीर में अनेक प्रकार के विष उत्पन्न हो जाते हैं। जिनका प्रभाव मस्तिष्क स्थित ताप नियंत्रक केन्द्र (Heatregulating Centre) पर पड़ता है, जिससे ज्वर उत्पन्न हो जाता है।

(३) **पक्वावस्थाः**—इस अवस्था में वेदना कम पड़ जाती है और शोथ कम हो जाता है। तथा त्वचा पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। उस स्थान को अंगुली से दबाने पर गढ़ा पड़ जाता है। शोथ स्थान पर हल्की खुजली आने लगती है। तथा रोग के उपद्रव कम हो जाते हैं।

रक्त परीक्षा करने पर रक्त में श्वेताणुओं (W. B. C.) की संख्या बढ़ जाती है।

व्रण (Ulcer)

व्रण शोथ पक कर फूटने पर व्रण बनता है।

व्रण की परिभाषाः—व्रण, जख्म, या घाव भरने पर भी जन्म भर शरीर में उसका चिन्ह रह जाता है, इस प्रकार यह चिन्ह व्रण स्थान को ढ़क देता है। इसलिए इस व्याधि को व्रण कहते है।

व्रण के भेदः—व्रण दो प्रकार के होते हैं (१) शरीर व्रण, (२) आगन्तुज व्रण।

१. शरीर व्रण:—शरीर व्रण अन्दर दोषों, विषमता से उत्पन्न होते हैं। यह पाँच प्रकार के हैं, (१) वातज व्रण, (२) पित्तज व्रण, (३) कफज व्रण, (४) रक्तज व्रण, (५) सन्निपातज व्रण।

(क) वातज व्रण:—यह व्रण कठिन स्पर्श वाला होता है। इसमें तीव्र पीड़ा होती है। रंग हल्का गुलाबी तथा काला होता है।

(ख) पित्तज व्रण:—इस व्रण मे ज्वर हो जाता है, दाह होती है। रोगी को प्यास बहुत लगती है। इसमें क्षार के जलने के समान पीड़ा होती है। इसका रग पीला तथा हल्का नीला होता है।

(ग) कफज व्रण:—यह व्रण बहुत चिकनाहट वाला तथा स्निग्ध होता है। इसमें वेदना कम होती है। इसका रंग हल्का पीला होता है।

(घ) रक्तज व्रण:—इस व्रण मे पित्तज व्रण के सब लक्षण मिलते हैं। इसके चारों तरफ काले रग की फून्सियां हो जाती है।

(ङ) सन्निपात व्रण:—इस व्रण में तीनों व्रणों के लक्षण, दोष मिलते हैं।

व्रणों की आकृतियाँ

इसकी चार स्वाभाविक आकृतियां होती हैं।

(१) आयत व्रण, ( ) चौकोर, (३) वृत्तय गोल, (४) त्रिकोनी।

इसके अतिरिक्त सभी प्रकार की आकृत्तियां विकृत कहलाती है। जो कुसाध्य होती है, और बड़ी कठिनता से ठीक होती है।

(२) आगन्तुज व्रण:—यह व्रण मनुष्य, पशु-पक्षी, शेर आदि हिंसक प्राणियों से तथा सांप आदि विषैले जहरीले जानवरों के दांतों, नख, तथा ऊँचाई से गिरने से चोट लगने से, अग्नि द्वारा जलने से तथा फरसा, भाला, तलवार आदि शस्त्रों के आघात से होते हैं। इन्हें सद्यो व्रण भी कहते हैं।

आगन्तुज व्रण के भेद

इसके अनेक भेद होते हैं फिर भी सुविधा की दृष्टि से इनके निम्न छः भेद होते हैं।

(क) छिन्न व्रण, (ख) भिन्न व्रण, (ग) विद्ध व्रण, (घ) क्षत व्रण, (ण) विच्छित व्रण, (च) घृष्ट व्रण।

(क) छिन्न व्रण:—शस्त्र द्वारा जो तिरछा या सीधा तथा लम्बा व्रण होता है। तथा जिसमें शरीर का कोई अवयव पूर्ण रूप से अथवा अर्द्ध रूप से कट कर अलग हो जाता हो उसे छिन्न व्रण कहते हैं।

(ख) भिन्न व्रण.—किसी नोकदार शस्त्र जैसे भाला, तलवार के आगे का भाग व सींग आदि नुकिले शस्त्र जो व्रण बनाता है, उसे भिन्न व्रण कहते हैं।

(ग) विद्ध व्रण:—विद्ध व्रण सूक्ष्म नोक वाले जैसे कांटा, आदि से व्रण बनने पर यदि कांटा अन्दर रह जाता है, ती व्रण ऊँचा उभर मुख वाला दिखता है, तथा कांटे आदि शल्य के निकल जाने पर वह व्रण दबे हुए मुखवाला दिखता है, इस प्रकार के व्रण को विद्ध व्रण कहते हैं। इसमें गहरा व्रण नहीं होता है।

(घ) क्षत व्रण:—जो व्रण न अधिक छिन्न आकृति वाला और न भिन्न आकृति वाला परन्तु दोनों लक्षणों से युक्त विषम आकृति वाला होता है उसे क्षतज व्रण कहते हैं।

(ण) पिच्चित व्रण:—मुदगर आदि के प्रहार से या दरवाजे के बीच दब जाने से या मोटर आदि के नीचे आ जाने से अस्थि सहित जो अग चौड़ा और चपटा हो जाता है और जिसमें रक्त स्राव होने लगता है उसे पिच्चित व्रण कहते हैं।

(च) घृष्ट व्रण:—इस व्रण में किसी वस्तु की चोट से या रगड़ से वहाँ की त्वचा हट जाती है तथा व्रण के अन्दर दाह होती है, तथा हल्का रक्त स्राव होता है। तो इसे घृष्ण व्रण कहते हैं।

शुद्ध व्रण के लक्षण

जो व्रण वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों से दूषित नही होता है। जिनके किनारे हल्के नीले रंग के होते हैं, जिसमें छोटी २ पिडिकाएँ या मांसांकुर दिखाई देते हैं तथा जिसके सब भाग समान होते हैं, तथा जिसमें वेदना नहीं होती और स्राव नहीं होता उसे शुद्ध वृण कहते हैं।

दुष्ट व्रण के लक्षण

अधिक छोटे मुख वाला अधिक चौड़े मुख वाला, अति कठिन अति मृदु अधिक ठण्डा अधिक गर्म, काला, लाल, पीला और अफेद रंगों में किसी एक रंग वाला देखने में भयानक दुर्गन्धित, पूय और मांस वाला अधिक पीड़ा वाला दाह, पाक, लालिमा, खुजली से युक्त और जिसमें से दूषित रक्त बहता हो और जो बहुत पुराना हो उसे दुष्ट व्रण कहते हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि दुष्ट व्रण की विशेष अवस्था है। जिसमें व्रण बहुत मुश्किल से भरता है। दोषों की अधिकता के अनुसार इसके छः भेद किये गये हैं। जैसे (१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) रक्तज, (५) सन्निपातज, (६) आगन्तुज।

इनकी यथा दोष चिकित्सा करनी चाहिये :

आघातज एवं सद्यो व्रणों की तात्कालिक उपचार विधि

व्रण शब्द का अर्थ शरीर के अवयवों का टूट जाना है। आकस्मिक या बलपूर्वक प्रयुक्त कोई भी साधन जब बाह्य त्वचा या श्लेष्मिक कला (Mucousmembrane) पर क्षत उत्पन्न करदे उसे सद्यो व्रण कहते हैं। इसके ६ भेद पीछे लिखे जा चुके हैं।

उपचार विधि

१. सर्व प्रथम रक्त स्राव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये ? रक्त स्राव को रोकने के लिए उस स्थान को दबा करके अथवा धमनी संदंश यंत्र (Artery Forceps) और बन्धन का प्रयोग किया जाता है। अत्यन्त रक्त प्रवाह से मृत्यु तक हो सकती है।

२. इसके बाद उचित कीटाणुनाशक घोलों द्वारा व्रण को शुद्ध करना चाहिये। यदि उसमें कोई बाह्य पदार्थ काँच या लकड़ी के टुकड़े रह गये हों तो उनको निकाल देना चाहिये। व्रण में किसी वस्तु के रह जाने से पूय बन जाती है। और व्रण नहीं भरता है।

३, यदि व्रण के पूर्ण साफ होने का निश्चय हो तो उसके दोनों किनारों को मिला कर सी देना चाहिये। ऐसा करने से व्रण एक साथ जल्दी भर जाता है।

४. यदि व्रण पूर्णतया शुद्ध नहीं है तो उसको सीना उचित नहीं है ऐसी अवस्था में वृण में पूय बन जाती है। ऐसी अवस्था में व्रण को साफ करके कीटाणुनाशक औषधियों द्वारा व्रणोपचार करना चाहिये। इसमें वृण नीचे की तरफ से धीमें भरता है।

५. यदि वृण में से रक्त स्राव ही रहा हो तो प्रभावित भाग को हृदय के स्तर से ऊपर रखना चाहिये। व्यक्ति को लेटा देना चाहिये। रक्त निकलने वाले स्थान को अंगुलियों से दबा देना चाहिये। उस स्थान को साफ करके उस पर टिंचर बैन्जौइन का गाज भिगो कर रख देना चाहिये। उस पर रूई रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये।

६. यदि कपालास्थियों का वृण हो गया हो अथवा टूट गई हो व वृण में काँच के टुकड़े फंस गये हों तो उस अवस्था में कस कर पट्टी नहीं बांधी जा सकती। इसलिए ऐसी स्थिति में वृण के पार्श्व में जगह पर दबाव डालना चाहिये। जहाँ से रक्त वहता हो तत्पश्चात वृण को शुद्ध गाँज से ढ़क देना चाहिये बंधन या पट्टी नहीं बांधनी चाहिये।

७. प्रत्येक वृण में चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो टिन्चर आयोडीन लगा देना चाहिये इससे वृण में पूय नहीं बनती है। यदि वृण के किनारे वहुत साफ हैं तो एडेसिवटेप (Adhesivetap) से चिपका देना चाहिये।

व्रणों के उपक्रम

आदौ विम्लापनं कुर्यात् द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहच चतुर्थी पाटन क्रियाम्॥

पञ्चमं शोधनम् कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते।
एते क्रमाः व्रणस्योक्ताः सप्तमम् वैकृतापहम्। (सुश्रुत)

सुश्रुत चिकित्सा स्थान प्रथम अध्याय मे व्रण शोथ के ६० उपक्रम बतलाये हैं, परन्तु सूत्र स्थान मे संक्षेप में सात उपक्रमों का वर्णन किया गया है।

१. **विम्लापनः**—कठोर और कम पीड़ा वाले शोफों में यह क्रिया अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। विम्लापन का अर्थ है। स्वेदन करने के बाद शोथ स्थान में मर्दन करना। बुद्धिमान वैद्य को शोथ स्थान की मालिश करके स्वेदन करना चाहिये तथा उस स्थान को बाँस की पतली डाली हथेली या अंगुष्ठ से धीरे २ मसलना चाहिये। इसमे अपतर्पण से विम्लापन तक ६ उपक्रम सम्मिलित हैं।

२. **अवसेचनः**—इसका अर्थ है—दोषों को निकालना या निर्हरण। इसमे विस्रावण स्नेह, वमन और विरेचन, इन चार क्रियाओं का समावेश होता है।

(क) **स्नेहः**—स्नेह का अर्थ कमजोर रोगियों को और औषधियों से सिद्ध किया हुआ घृत पिलाते हैं।

(ख) **वमनः**—उल्टी कराना। कफ, युक्त शोथों में वमन कराया जाता है।

(ग) **विरेचनः**—वायु और पित्त से दूषित व्रणों मे विरेचन कराते हैं।

उपनाह Poultice

शोथ स्थान को शान्त करने के लिए अलसी आदि गर्म पदार्थो को गर्म अवस्था में बांधते हैं। आमावस्था में इसके द्वारा शोथ शान्त हो जाता है और पच्यमानवस्था मे इसका प्रयोग करने से जल्दी पाक हो जाता है। इस क्रिया में पाचन क्रिया का समावेश है। पाचन उपनाह (Poultice) का ही भेद है।

सण, मूली, सरसों के बीज, सहिजना के बीज, तिल, सरसों (जौ चावल का आटा) सुरा बीज, (किण्व) अलसी इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर उसमें चौगुना दही, और छाछ, सुरा और कॉंजी मिला कर और उसमें थोडा नमक डाल कर उसे लपसी जैसे बना कर उसे शोथ स्थान पर रख कर ऊपर एरण्ड के पत्ते रख कर बांध देते हैं।

४ **पाटन क्रियाः**—इसका अर्थ है, विद्रधि को खोल कर उसमे से पूय को निकाल देना। इसमें छेदन से सींमन तक ९ उपक्रमों का समावेश ह।

(१) छेदन, (२) भेदन, (३) लेखन, (४) वेधन, (५) ऐषण, (६) आहरण, (७) विस्रावण, (८) सींवन, (९) दारण।

दारणः—बालक, वृद्ध, कमजोर, भीरु तथा स्त्रियों तथा मर्म स्थान पर विद्रधि होने पर इन अवस्थाओं मे शस्त्र के द्वारा पूय को निकालना उचित नही। ऐसी अवस्था मे दारण

द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। जैसे कबूतर की बीठ, गिद्ध की बीठ, क्षार आदि निम्नलिखित दारण द्रव्य हैं।

(१) बड़ा करंज, (२) भिलावा, (३) दन्ती, (४) कनेर की जड़, (५) कबूतर की बीठ, (६) गिद्ध तथा कंक पक्षी की बीठ। इन्हे पीस कर लेप करते हैं, अथवा क्षार द्रव्यों का लेप करने से दारण कार्य करते हैं।

५-६. शोधन एव रोपणः—इसमें व्रण को शुद्ध करके उसे भरने का यत्न किया जाता है। इसमें संधान रोपण व्रण से धूपन तक १३ उपक्रमों का समावेश है।

१. सधानः—व्रणों के किनारों को मिला कर रखना।

२. पीड़नः—छोटे मुख वाले व्रणों में उसे चारों तरफ पीड़न द्रव्यों का लेप करते है, जिसके कारण पूय (Pus) आदि बाहर आ जाते हैं।

३. शोणिता स्थापनः—यदि व्रण में से बहुत रक्त निकलता हो तो फिटकरी और जामुन के चूर्ण को ऊपर छिड़कना चाहिये इससे रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

४. निर्वापणः—व्रण मे दाह या जलन होने पर जिंक पाउडर, गिलोय चूर्ण, वंशलोचन, इन्हे घी मे मिला कर लेप करते हैं।

५. उत्कारिकाः—वातप्रधान व्रणों में कठोरता और तीव्र वेदन आदि लक्षण होने पर उत्कारिका बना कर व्रणों को स्वेदन करते हैं। इसके लिए अलसी, सरसों के बीज, एरण्ड के बीज इन्हें समान मात्रा में और उसे चौगुनी काञ्जी मिला कर गर्म करते हैं। जब वह गाढ़ी हो जाती है तो उसे उत्कारिका कहते हैं।

६. कषायः—नीम के पत्तों का क्वाथ से या त्रिफला क्वाथ से व्रणों को धोते हैं।

७. कल्कः—जिन व्रणों के भीतर शल्य होता है उससे शोधन के लिए मेष शृंगी अजगन्धा का कल्क् बना कर तथा उस व्रण पर कल्क् लगाते हैं।

८. वर्त्तिः—तिल, मधु और घी इनकी वर्त्ती बना कर व्रण में रखते हैं।

९-१०. घृत तैलः—पित्त प्रधान व्रणों में कपासिया से सिद्ध किया हुआ घी काम में लाते हैं, तथा जात्यादि तेल, पचगुण तेल, दुष्ट व्रणों के शोधन में काम मे लेते हैं।

११. रसक्रियाः—साल के वृक्ष की छाल का क्वाथ बनाते हैं। इसका आठवाँ हिस्सा शेष रहने पर उसको और गाढा करते हैं। इसके बाद उसमे थोड़ी मनशिला और हड़ताल प्रक्षेप करते हैं। कठिन माँस वाले व्रणो मे इसके उपयोग से लाभ होता है।

१२. अवचूर्णनः—धाय, लोध और फिटकरी द्रव्यों का चूर्ण बना कर व्रण पर छिड़कने से उसका शोधन और रोपण होता है।

१३. व्रण धूपन:—नीम की पत्ती, बच, हींग तथा घी मिला कर इनका धुँआ व्रणों पर देते हैं।

७. वैकृतापह:—व्रण के भरने के बाद उसमें कुछ विकृति रह जाती है जिसे दूर करने के लिए उत्सादन से रक्षाविधान तक २६ उपक्रम बतलाये गये हैं।

१. उत्सादन २. अवसादन ३. मृदुकर्म ४. दारुणकर्म ५. क्षारकर्म ६. अग्नि कर्म ७. कृष्णकर्म ८. पाण्डुकर्म ९. प्रतिसारण १०. रोमसञ्जनन ११. रोमशातन १२. वस्तिकर्म १३. उत्तर वस्ति १४. बन्ध १५. पत्रदान १६. कृमिघ्न १७. बृंहण १८. विषघ्न १९. शिरोविरेचन २०. नस्य २१. कवलग्रह २२. धूम्रपान २३. मधु-सर्पि २४. यन्त्र २५. आहार २६. विहार।

मंत्र यंत्र चिकित्सा

लेखक—वैद्य मेघराज शर्मा सारस्वत

[वैद्यवर श्री मेघराज सारस्वत पं० छगनीरामजी के सुपुत्र है। आप समाज-सेवक होने के कारण जोधपुर नगरपालिका के भू. पू. सदस्य रहे। श्री सारस्वतजी ने हिन्दी की प्रभाकर, होम्योपैथी की एम. डी तथा आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदाचार्य आदि परीक्षायें उत्तीर्ण की है। आप योग्य पत्रकार है। इनके निवन्धों पर अनेक पदक व वैद्यविनोद वैद्यवर की उपाधि से विभूषित किया गया एवं आपको ही सर्वप्रथम राजपूताना प्रान्तीय वैद्य-सम्मेलन प्रत्रिका, जोधपुर से निकलवाने के लिए प्रवन्ध सम्पादक नियुक्त किया गया एवं सम्मेलन के उपमंत्री भी रहे। मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की आयुर्वेदीय परीक्षाओं के प्रवन्धक, निरीक्षक, परीक्षक वर्षों तक रहे। श्री सारस्वतजी के मारवाड में मंत्र तंत्र एवं आयुर्वेद के अनेक शिष्य हैं। आप चरित्रनायक के विश्वस्त शिष्यों में है। आप द्वारा 'मंत्र यंत्र चिकित्सा' पर लेख परीक्षणीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

इस संसार में त्रिविध ताप का बोध होता है। जिन्हें आध्यात्मिक, आदिभौतिक और आधिदैविक नामों से संबोधित किया जाता है। इन त्रय ताप निवारण के लिए लौकिक और वैदिक उपायों का आश्रय लिया जाता है। प्रायः भौतिक और वैदिक ताप निवारण के लिए मंत्र यंत्र तंत्रादिकों का अनुसरण किया जाता है; परन्तु आत्मिक ताप निवारण में जिसके शारीरिक और मानसिक दो भेद हैं। मानसिक के लिए तो इन पूर्व कथित मन्त्र यंत्र तंत्र का आश्रय लेते हैं, परन्तु शारीरिक रोग निवारण के लिए भेषजादिक बाह्य उपकरणों को ही अपनाया जाता है। प्राय: लोग अज्ञानवश शारीरिक बीमारियों के लिए मन्त्र यन्त्र तन्त्रादिक का कम प्रयोग कर पाते हैं। उनके बोध के लिए सक्षिप्त प्रस्तुत निबध है।

इसमें दी गई मंत्र यंत्र चिकित्सा पूर्ण अनुभव की हुई है। वैद्य बन्धुओ को इसका प्रयोग करके देखना चाहिए और जनता की सेवा करना चाहिए। यदि कुछ भी इस विषय में किसी को तनिक भी संदेह हो तो उसका समाधान लेखक द्वारा किया जाने का हर संभव प्रयत्न किया जायगा।

ये मंत्र यंत्र मेरे पूर्वजों के अनुभूत हैं और मेरे तथा मेरे शिष्य प्रशिष्यों ने भी इनको सिद्ध करके पूर्ण सफलता प्राप्त की है। यदि आप भी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से इनको सिद्ध करेंगे तो आपको इनके चमत्कारिक प्रभाव व शक्ति का ज्ञात हो जायगा। आशा है वैद्य बान्धव इनमें से एक मंत्र को तो अवश्य सिद्ध करके जनता की सेवा करेंगे। इसमें स्वार्थ और परमार्थ दोनों सफल होते हैं। भगवान का नाम होने से इस लोक की सब आपत्तियें नाश होकर जीवन सुखमय तो होगा ही।

(१) "राम रक्षा स्तोत्र"

रोग निवारणार्थ राम रक्षा स्तोत्र सफल प्रयोग है। बिच्छू काटने से लेकर बुखार, अस्वस्थता, शिर शूल, उदर शूल, ऋणग्रस्तता (कर्ज), किसी भी प्रकार की विपत्ति, अन्यान्य संकटकालीन परिस्थिति में काम लिया गया है और आप प्रयोग करके देखें। हर सकट में इस स्तोत्र से लाभ ही मिलता है। इस स्तोत्र में अपूर्व शक्ति है। बड़ा चमत्कारी कवच है। जितनी दृढ़ता से और विश्वास से पाठ किया जायगा उतना ही लाभ होगा और चमत्कार दिखाई देगा।

"राम रक्षा स्तोत्र" के सिद्ध करने की विधि:—

आश्विन शुक्ल पक्ष के या चैत्र शुक्ल पक्ष के नवरात्र में नौ दिनों तक प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त्त में स्नानादि और नित्य कर्म से निवृत हो शुद्ध वस्त्र धारण कर कुशासन पर सुखासन से बैठ कर श्री भगवान राम के कल्याणकारी स्वरूप में ध्यान एकाग्र करके श्री राम रक्षा स्तोत्र का ११ बार यदि न हो सके तो कम से कम सात बार पाठ नियमित रूप से करें, सिद्ध हो जायगा। किसी विपत्ति निवारण के लिए रोगी के पास लगातार पाठ करना चाहिए। साधारणतया एक पाठ नित्य अवश्य करें। जैसा कार्य हो उतना कम या अधिक पाठ करें। इससे ज्वरपीड़ित रोगी, शिर शूल, कटि शूल, उदर शूल, भयंकर वेदना भूतव्याधि में स्तोत्र का १-३-७ पाठ करके झाड़ने से रोगी को आराम मिलेगा। रोगी जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो तब तक झाड़ देते रहें।

पवित्र जल कूए का या तालाब का या गंगा जल को इस स्तोत्र से अभिमंत्रित करके रोगी को पिलावें तथा मार्जन करें, इससे भयानक रोग भी शान्त हो जाते हैं, भूतबाधा भी हट जाती है।

इसके पठन से दैहिक दैविक भौतिक त्रयताप नष्ट होते हैं। हर कार्य के लिए आप इस स्तोत्र का प्रयोग कर सकते हैं। मैंने जो सरल विधि थी वह लिख दी है। अपना २ मनोरथ सिद्ध का ध्यान रख कर भगवान राम से पहले प्रार्थना करें कि अमुक कार्य मेरा सफल हो फिर पाठ करें अवश्य सफलता मिलेगी। इसमें किसी प्रकार का भय नहीं है।

पाठ करते रहने से आपका मन शान्त व धैर्यवान तथा दृढ बन जायगा। एक अलौकिक शक्ति आपमें आ जायगी।

नोटः—"राम रक्षा स्तोत्र" गीता प्रेस गोरखपुर की छपी स्तोत्र रत्नावलि में मिल जायगा।

(२)

बीमारी से छुटकारा पाकर आरोग्यता प्राप्ति के लिए।

"अच्युत चामृतं चैव जपेदोषध कर्मणि"।

इस मंत्र का औषधि सेवन काल में जाप करें। शीघ्र आरोग्यता मिलती है। अगर कोई उपरोक्त मत्र न बोल सके तो उसको "अच्युत" (विष्णु) "अमृत" इन नामों की ही रट लगाता रहे। औषध द्विगुण गुणकारी होकर शरीर स्वस्थ हो जायगा।

(३)

रोग और सब प्रकार की व्याधि नाशक—

"मा भयात् सर्वतो रक्ष श्रियं वर्धय सर्वदा।
शरीरारोग्य मे देहि देव देव नमोऽस्तुते ॥"

रोगी अपने हाथ में कोई जल भरा पात्र लेकर उस पर दूसरा हाथ ढक कर इस उपरोक्त मंत्र को सात बार पढ कर उस जल को पी लेवे। विश्वासपूर्वक इस प्रकार करने से शरीर आरोग्य हो जायगा। इसका प्रयोग करते समय यदि कोई औषधि लेते हों तो ले सकते हैं। मगर इस प्रयोग को जब तक शरीर पूर्ण स्वस्थ न हो, करते रहें। इससे कष्टसाध्य रोग भी शान्त हुए हैं।

यदि कोई सिद्ध करना चाहें तो १०८ माला जपलें और नित्य प्रति ३१-५१ या १०८ मत्र जपते रहें, सिद्ध हो जायगा। रोगी पर प्रयोग के समय ७ बार पढ़ें और संकल्प करें कि इस रोगी का रोग शीघ्र शान्त हो, फिर उसे ७ बार पढ़ा हुआ जल पिलावें। निश्चय ही आराम प्राप्त करेगा।

(४)

विष निवारण के मत्र—

"ॐ आदित्य रथ-वेगेन विष्णोर्बाहु बलेनच। सुपर्ण पक्षपातेन भूम्यां गच्छ महाविष॥
को पक्ष योग पदाज्ञा श्री शिवोत्तम प्रभु पदाज्ञा भूम्यां गच्छ महाविष॥"

इसको सिद्ध करने के लिए चांद या सूर्यग्रहण में १००८ बार जपें, सिद्ध होगा। दीवाली, होली, नवरात्रि मे भी कम से कम १०८ बार जप लेने से सिद्धि कायम रहती है।

बिच्छू काटे उसको २१-३१-४१ यथावश्यकता पढ़ कर डंक पर झाड़ दें तो बिच्छू उतरेगा। अन्य किसी भी विष पर इस मंत्र से दम करके घी, या जल या दूध जैसी रोगी

की अवस्था हो पिलाना चाहिए और चेतना लाने के लिए जल को अभिमंत्रित करके मार्जन करें। विष शान्त हो जायगा।

नोटः—कभी २ विष का प्रभाव तेज होने से धीरे धीरे आराम मिलता है सो इस मन्त्र का प्रयोग करते ही रहें, निराश न हो, अवश्य सफलता मिलेगी। मैंने और मेरे शिष्यों ने बिच्छू के काटे पर तथा भंग के नशे से बेहोश व्यक्ति को ठीक किया है।

(५)

मुसलमानी मंत्र

"बिसमिल्ला हिर्र रेहमान निर्र रहीम"

शुद्ध होकर शुद्ध वस्त्र पहन कर पश्चिम की तरफ मुंह करके बैठें। सामने एक चौकी (काठ की) पर दीपक अगरबत्ती व कुछ पुष्प (चमेली या गुलाब) रखदें। फिर उपरोक्त आयत का पाठ करें। ७८६ मंत्र नित्य जपना जरूरी है, कम से कम २१-३१ दिन लगातार जपना चाहिये। सिद्ध होगा। फिर हर बृहस्पतिवार व शुक्रवार को ७८६ मंत्र जपा करें। इससे अपने अन्दर शक्ति बनी रहेगी। जिस काम पर इसका प्रयोग करोगे शीघ्र सफलता मिलेगी।

इसको लिख कर ज्वरपीड़ित रोगी के गले में बांधने से ज्वर उतर जायगा।

इसको लिख कर किसी भी रोगी के बंधवा दें फिर जल की गिलास पर इस मन्त्र से दम करके (अभिमंत्रित करके) रोगी के शरीर पर मार्जन करें तथा थोड़ा सा जल पिलादें रोगी को आराम होगा। यह विष, ज्वर, सिरदर्द तथा भूतबाधा पर अनुभूत है। रात्रि में अज्ञात स्थान पर रहना हो या वह स्थान भयावह हो तो इस मंत्र को ११ बार पढ कर अपने शरीर पर फूक मारदें तथा अपने बिस्तर या ठहरने की जगह के चारों ओर फूक मारदें। किसी भी प्रकार का भय न रहेगा। यह भी अनुभूत है।

(६)

"सूरेफाता" कुरान की आयत है इसको २१-३१ दिन तक में दस हजार जाप कर लें, फिर नित्य प्रति कम से कम ५१ बार जपें। सिद्ध होगा।

१. दांत-दाढ के दर्द के वास्ते—सूरेफाता ४१ बार पढ कर दम करें तो दर्द मिटेगा।

२. आंखों की पीड़ा के लिए—सवेरे के समय ९ बजे बाद दुखती आँख पर सूरेफाता ४१ बार दम करें तो नेत्र रोग जाय, पीड़ा मिटे।

३. सूरेफाता के हरूप अलग २ लिख कर पानी से धोकर वह रोगी को पिलावें तो हर रोग में आराम मिलेगा।

नोटः—केसर गुलाब जल की स्याही बना कर लिखना चाहिए।

यंत्र चिकित्सा

पहले अपने इष्ट देव का ध्यान करके उसकी आराधना करके इन यंत्रों को पतले कागज पर स्याही से लिख कर इकट्ठा करलें, फिर १००१ बार लिख चुकें तब आटे (गेंहूँ आदि का आटा) मे गोलियां बना कर मछलियों को चुगादें। यदि दैवात कोई गोली आपकी तरफ आ जाय तो उसे उठालें और लिखा हुआ कागज अपने पास मादलिया (ताबीज) में बन्द करके रखलें। बड़ा लाभ देगा। मछलियां चुगाने के बाद यंत्र सिद्ध हो जायगा, फिर किसी व्यक्ति को लिख दे दें। उसे लाभ होगा।

यंत्र ७८६

२२५	२२८	२३२	२१८
२३१	२१९	२२४	२२९
२२०	२३४	२२६	२२३
२२७	२२२	२१	२३३

जिस औरत के ऋतुमती होने पर चार दिन के बाद अत्यधिक रक्त स्राव रहे (नातर पड़े) तो इसको काली स्याही से कागज पर लिख कर ताँबे के ताबीजमें बन्द कर रुग्णा की कटि में बांध दें। बांधते समय पहले उस ताबीज (मादलिया) को अगरबत्ती का धूप देदें। रुग्ण उसी दिन से आराम होने लगेगी।

७८६

१२	१९	१३
१३	१०	१७
१२	१३	६२

किसी रोगी को दवा असर नहीं करती हो उस रोगी के गले मे यह यंत्र बांधने से दवा काम करेगी और रोगी को आराम मिलेगा। अगरबत्ती का धूप देकर बांधें।

यह यंत्र केसर गुलाब जल की स्याही से लिखें।

७८६

१६	९	१४
११	१३	१५
१२	१७	१०

(कामला) पीलिया, पाण्डु रोग पर यंत्र रोगी के गले मे या बाजू में इस यंत्र को बांधने से आराम होगा। अगरबत्ती का धूप देकर बांधना। केसर गुलाब जल की स्याही से लिखना। मादलिया में बन्द करके भी बांध सकते है।

नोटः—हर यत्र को लिखते समय अगरबत्ती जला कर सामने रखनो चाहिए और मुंह पश्चिम या उत्तर दिशा में रहना चाहिए।

आत्मवाद जड़वाद

[श्री स्वामी रामप्रकाशजी, पण्डितमार्तण्ड, आयुर्वेदमनिषी विद्वद्वरेण्य स्वामी जयरामदासजी भिषगाचार्य के उत्तराधिकारी शिष्य हैं। विश्ववन्द्य वैद्यसम्राट आयुर्वेदीय युगपुरुष विश्व की महान् विभूति स्वनामधन्य स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज के प्रशिष्य हैं। श्री स्वामी रामप्रकाशजी भारतीय चिकित्सा पजियन बोर्ड, जयपुर (राजस्थान) के रजिस्ट्रार (पजियक) रहे। आप वर्तमान राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, (जयपुर) में आचार्य है तथा राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पंजीकृत) के अध्यक्ष है। स्वामीजी के चिकित्सा क्षेत्र में आपकी महान् सफलता पर निश्चय (अन्दाज) इस बात से लगाया जाता है कि देश के कोने-कोने से आकर रुग्ण लाभ उठाते हैं। इतना ही नहीं आप आधुनिक युग में आयुर्वेद की नैय्या को सहारा दिये हुए है। विद्यार्णव, साहित्यवारिधि, आयुर्विज्ञान के विशिष्ट मर्मज्ञ आयुर्वेदमनिषी, प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ-साथ विद्यावैभव तथा आयुर्वेद की सतत सेवा, अध्यापन द्वारा भारत में स्थान-स्थान पर आचार्यजी के शिष्य-प्रशिष्य जनता की सेवा कर रहे है। स्वामीजी पर सरस्वती और लक्ष्मी की समान रूप से कृपा है। आप बड़े ही सरल स्वभाव और मधुर भाषी है।

"आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा-पुरुष है और उसमें पांच भौतिक तत्त्व के साथ आत्मतत्व और मन का भी समावेश किया गया है। मन और शरीर को रोगाधिष्ठान भी माना है। मन और मानसिक स्वास्थ्य का होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने आत्मा और दृश्य जड़ वस्तु का विवेक कर आत्मसत्ता का प्रतिपादन किया है जो हृदयङ्गम करने योग्य है।" आप सम्पादक मण्डल के सदस्य है। चरित्रनायक के प्रति आपकी अनन्त श्रद्धा है।

—**वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक**]

लेखक : श्री रामप्रकाश स्वामी
एम. ए. भिषगाचार्य, जयपुर

दृश्य जगत् प्रपञ्च का वर्गीकरण सजीव और निर्जीव सृष्टि के रूप में किया जाता है। निर्जीव (जड़) पदार्थ सम्बन्धी अध्ययन पदार्थ विज्ञान (Physics) और रसायन विद्या (Chemistry) के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। सजीव सृष्टि के ज्ञान के लिए जीवविद्या (Biology) का आश्रय ग्रहण किया जाता है। यदि गम्भीर और सूक्ष्म रूप में उपर्युक्त सजीव निर्जीव पदार्थ विषयक अध्ययन किया जावे तो अधुना (Nature) नेचर नाम्ना व्यवहृत प्रकृति के ये दोनों वर्ग इतने संश्लिष्ट है कि इनमे वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन होता है। आयुर्वेदाचार्यो के समक्ष भी यही स्थिति उपस्थित हुई थी। आयुर्वेद आत्मवादी शास्त्र है। आत्मतत्त्व को व्यापक तत्त्व के रूप में अङ्गीकार किया है। आत्मतत्त्व से ही जगत्-प्रपच की उत्पत्ति का निरूपण किया गया

है। एतावता संसार की कोई भी वस्तु आत्मतत्त्वशून्य नहीं हो सकती। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि चेतनवर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होती है। इस सत्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आयुर्वेदाचार्यों ने बताया है कि जगत् में व्यवहारार्थ जड़ और चेतन का प्रयोग प्रचलित है एवं इन्द्रियविकासोपेत द्रव्यों को चेतन और इन्द्रिय-विकासरहित पदार्थ को जड़ संज्ञा से अभिहित किया गया। आचार्य चरक का निम्न श्लोक इसी मत का उपोद्बलन करता हुआ प्रस्तुत है—

"सेंद्रियं चेतनं द्रव्यम्, निरिन्द्रियमचेतनम्"—चरक सूत्र

इसलिए मौलिक विचारणा से एक ही तत्त्व के दो पहलू मानकर इस दृश्य जगत् का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

एतद्विषयक स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वैज्ञानिकों और भौतिकवादियों (Materialists) के दृष्टिकोण का अध्ययन किया जावे। दैनन्दिन अनुभव एवं जीवविद्या सिद्धान्त द्वारा सजीव और निर्जीव पदार्थों में प्रमुख अन्तर ज्ञात होता है। निर्जीव पदार्थ रचना में अनेक रासायनिक तत्वों (Elements) का सहयोग रहता है।

इस तत्त्व समुदाय का अन्तिम संगठन विद्युन्मय (Electrical) होता है। इन तत्वों के अन्तिम घटक अतीन्द्रिय घन और ऋण विद्युद्वाही कणों (Protons & Electrons) द्वारा निर्मित है। इनके क्रियाकलाप का स्पष्टीकरण किसी नियम विशेष के आधीन हो सकता है। इन नियमों का निर्धारण पदार्थ विज्ञान और रसायन शास्त्र द्वारा किया गया है। यह सम्पूर्ण जगत् इन्हीं नियमो के आधीन है। यहां जिज्ञास्य प्रश्न है कि सजीव पदार्थ इन नियमों के आधीन है या नही इसके उत्तर में दो पक्ष हैं। भौतिकवादियों की मान्यता है कि सजीव सृष्टि के यावन्मात्र व्यापारों की व्याख्या निर्जीव जगत् के भौतिक रसायन विद्या के नियमों (Physico-chemical-laws) के माध्यम से सम्पन्न हो सकती है। अधुना ज्ञात नियमों के आधार पर सजीव सृष्टि के व्यापारों की व्याख्या नही हो पा रही है, इसका कारण उन व्यापारों की व्याख्या करने वाले नियमों से अनभिज्ञता है किन्तु जब उन नियमों को ज्ञात कर लिया जावेगा तो मनुष्य शरीर और भौतिक यंत्रो में यदि अन्तर होगा तो यह कि मनुष्य शरीर स्वचालित यंत्र होगा। इस प्रकार जड़ और चेतन सृष्टि विषयक व्यापार एक ही नियम द्वारा सचालित हो रहे है यह सिद्ध हो सकेगा।

दूसरे पक्ष मे जीव विद्याविशारदों का कथन है कि जड़ पदार्थों से अतिरिक्त सजीव प्राणियों मे विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। सूक्ष्म प्राणी एमीबा (Amaeba) के व्यापारों का अध्ययन सूक्ष्मदर्शक यत्र की सहायता से करें तो ज्ञात होगा कि वह उसी प्रकार सुख-दु खात्मक जीवन व्यापारों को सम्पन्न करता है। एमीबा पानी में इधर उधर दौड़ता हुआ क्रिया करता है। अनुकूल खाद्य पदार्थों को ग्रहण कर सात्म्यीकरण प्रक्रिया द्वारा पाचन

करता है और प्रतिकूल तथा हानिकारक पदार्थों से उद्विग्न हो दूर भागता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा वंशवृद्धि या प्रजनन व्यापारों को करता है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि सजीव प्राणी में परिभ्रमण, आहार, श्वासोच्छ्वास, प्रजनन आदि व्यापार दिखाई देते हैं। सजीव प्राणी परिस्थिति (Environment) में संभावित परिवर्तनों के अनुकूल अपने आपको ढालने का प्रयास करते हैं। सजीव प्राणियों के व्यापार सप्रयोजन होते हैं। बाह्य या आभ्यन्तर उद्दीपकों (Stimuli) पर प्रतिक्रिया करना जीवधारियों का प्रमुख लक्षण है। जीवधारियों में न केवल व्यापारवत्ता ही है अपितु तत्तद् व्यापारों के परिणामतः प्राप्त अनुभवों के आधार पर व्यापारों में परिवर्तन या परिष्कार करना भी आवश्यक देखा गया है। उक्त निरीक्षणों को ध्यान में रखते हुए सजीव सृष्टि विषयक विचारणाओं के फलस्वरूप जीवविद्याविशारदों की मान्यता है कि सजीव सृष्टि के प्राणी में जड़ पदार्थों के रासायनिक तत्वों के अतिरिक्तगुणवमात्मक पदार्थ की सत्ता है। रासायनिकतत्त्वातिरिक्त-गुणधर्मोपेत सत्ता क्या है? इस प्रपञ्च को छोड़ कर केवल उसके अस्तित्व को बता कर प्राणियों के वर्णन को अग्रेसर करते हैं।

जीव विद्याविशारदों एवं अनुभव के आधार पर प्राप्त तथा दैनन्दिन निरीक्षणों का भौतिकवादी विरोध न करते हुए भी सजीव सृष्टि के उपर्युक्त व्यापारों की स्पष्टता के लिये अनेक तर्क उपस्थापित कर भौतिक नियमों की परिधि में बांधना चाहते हैं। अनेक विध कल्पनाओं में एक कल्पना यह है कि करोडों वर्षों पूर्व किसी अन्य ग्रह से विशेष प्राणी आकर्षण प्रक्रिया द्वारा पृथ्वी पर खिंच आये। अनन्तर वातावरण की अनुकूलता प्राप्त कर शनैः शनैः अधुना परिलक्षित प्राणी सृष्टि का विकास हुआ। इसी प्रकार अन्य कल्पनानुसार अनिश्चित अतीत काल में किसी समय पृथ्वी के स्तर और वायुमण्डल में प्रादुर्भूत भौतिक परिवर्तनों (Physical-changes) के परिणामस्वरूप जड़ पदार्थों में चैतन्य (Protoplasma) की उद्भूति हुई जो वनस्पति जगत् प्राणी सृष्टि का मूलकारण बनकर क्रमिक विकास के द्वारा अधुना परिदृश्यमान सजीव सृष्टि को विकसित किया।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त कल्पनायें कल्पना सीमा को अतिक्रान्त नहीं कर पाई हैं। प्रयोगों द्वारा इनकी काल्पनिकता ही अधिक प्रमाणित हुई है। ये कल्पनायें किसी ऐतिहासिक तथ्य को भी अपने उपोद्बलन में प्रस्तुत करने मे असमर्थ हैं क्योंकि किसी भी इतिहास ग्रंथ में प्रतिपादित नही हुआ है कि सजीव प्राणी किसी दूसरे ग्रह से पृथ्वी पर आये हैं। किसी प्रकार यह मान भी लिया जाये तो प्रश्न समुपस्थित है, वह कौनसा ग्रह है? दूसरा प्रश्न होता है उस ग्रह पर सजीव प्राणी कहां से आय हैं? इस प्रकार दूसरे ग्रहों से सजीव प्राणी के पृथ्वी पर आगमन की कल्पना अनवस्था दोष उपस्थित करती हुई स्वयमेव उपेक्षणीय है। दूसरी कल्पना का भी कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं मिलता है,

उपपत्ति द्वारा भी इस कल्पना की पुष्टि नहीं हो पाती है क्योंकि जन्तु शास्त्र की मान्यता है कि जड़ पदार्थो से सजीव प्राणियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सांख्य सिद्धान्तानुसार असत् से सत् की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यदि तुष्यतु दुर्जनन्याय के अनुसार कट्टर भौतिकवादियों की यह मान्यता कि कभी जड़ पदार्थो मे से चेतन रस की उत्पत्ति हुई थी अङ्गीकार कर भी ले तो स्ववदतोव्याघातता की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। भौतिक-वादी शारीर एवं सम्पूर्ण मानस व्यापारों की व्याख्या बिना किसी अपार्थिव तत्त्व की सहायता के जड़ पदार्थ सम्बन्धी नियमों से ही करता है। इन भौतिकवादियों के मत में जिस प्रकार एककोषीय प्राणी परिस्थिति के अनुसार चेष्टारत हो जीवनक्रम को आगे बढ़ाता है उसी प्रकार कोटयधिक सजीव कोषों के संयोग से निर्मित मानव शरीर जिसे बहुकोषीय प्राणी सज्ञा देना सार्थक होगा, विभिन्न उत्तेजनाओं के अनुसार व्यापार के लिए प्रयत्नशील होता है। इसलिए किसी अपार्थिव अंश की सत्ता मान कर उसकी सहायता से व्यापारों की कल्पना अनावश्यक है। मस्तिष्क (Brain) और उससे सम्बन्धित नाड़ी सूत्रों की व्यापार प्रक्रिया द्वारा ही विचार, भाव और प्रवृत्तियों की व्याख्या संभव है। इसी प्रकार मानव शरीरस्थ नि:स्रोतसग्रथियों के स्राव नाड़ीतंत्र को प्रभावित करते हैं। वृषण ग्रंथिका अन्त:-स्राव (Testicular Hormone) किसी वृद्ध शरीर में प्रविष्ट कर दिया जावे तो वृद्धावस्था रहने पर भी कामुकता की वृद्धि होगी। अधिवृक्क ग्रन्थि का स्राव करने पर हृदय की क्रिया में वृद्धि हो जाती है और व्यक्ति उत्तेजित हो उठता है। इसी प्रकार चाय, काफी, मद्य आदि पदार्थों का सेवन भी नाड़ीतन्त्र को उत्तेजित करके विचारधारा में वेग ला देता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में कार्यक्षमता जितनी अधिक होगी मनुष्य उतना ही बुद्धि-मान् होगा। मानव स्वभावों की विविधता और विचित्रता का कारण उन शरीरों की नि.स्रोतसग्रन्थियों के स्रावपरिमाण का न्यूनधिक होना ही है। इसी माध्यम से क्रोधशोकादि मानसभावों का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत करते हैं। मानवमानस व्यापारों की व्याख्या व स्पष्टीकरण के लिए आत्मा (Soul) मन (Mind) स्पिरिट (Spirit) आदि की परिकल्पना भौतिकवादियों के मत में निर्थरक है।

इसके विपरीत मानव शरीर या प्राणिसृष्टि में जड़ पदार्थो के अतिरिक्त चेतनसत्ता को स्वीकार करने वाला आत्मवादी उपर्युक्त उपपत्तियों का उत्तर विज्ञान के सहयोग से ही देता है। वैज्ञानिक गवेषणाओं के क्रमिक विकास एवं परिष्कार की स्थिति ने आज आत्मवादी के पक्ष को और भी अत्यधिक सुदृढ़ बना दिया है।

शरीरव्यापारशास्त्रमीमांसकों की मान्यता है कि भौतिकवादियों (जड़वादियों) का यंत्रवाद का सहारा लेकर शरीर मानसव्यापारों का स्पष्टीकरण, विवेचन करना असफल प्रयास है। शरीरव्यापारशास्त्रियों के उदाहरणतया अश्रूद्गम, स्वेदोत्पत्ति, पाचनप्रक्रिया

एवं रुधिराभिसरण प्रक्रिया केवल यंत्रवाद की सहायता से नहीं समझाये जा सकते। उक्त व्यापारों पर शरीर से अतिरिक्त मन का प्रभाव स्पष्ट अनुभूत है। चक्षु में धूलकण गिर जाने या धुंआ का संयोग होने से अश्रुद्गम होता है, शोक और हर्ष के अवसर मे भी अश्रुप्रवृत्ति दृष्टि है। पूर्वावस्था में अश्रुप्रवाह का कारण बाह्य घटनाये हैं तो दूसरी अवस्था में केवल मानसिक भावनाओं के परिणामस्वरूप अश्रुप्रवृत्ति होती है। फलितार्थ है कि भौतिक-अभौतिक या पार्थिव अपार्थिव दोनों ही घटनाओं का परिणाम अश्रुप्रवाह एक होता है। विभिन्न कारणजन्य एक रूप कार्य का उक्त उदाहरण प्रस्तुत है। इसके विपरीत घटनाविशेष का विभिन्न व्यक्तियों पर होने वाला प्रभाव पृथक् पृथक् देखा जाता है। मांसपिण्ड को देखकर शाकाहारी व्यक्ति के अन्दर घृणा का भाव उत्पन्न होता है। मांसाहारी के मन से मांस खाने की प्रवृत्ति जागृत होती है। इसी प्रकार दुष्काल की स्थिति में खाद्य सामग्री विक्रेता सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है जब कि निर्धन हजारों उपभोक्ताओं के मुख मलिन एवं क्लान्त होते हैं। एक ही नाटक या चलचित्र को देखते हुए प्रेक्षकों पर विभिन्न प्रभाव होते हैं। घटना एक होते हुए भी परिणाम में इस प्रकार विविधता क्यों होती है? इसका समुचित समाधान केवल यांत्रिक सहयोग से नहीं किया जा सकता है। जड़वादियों की मान्यतानुसार उक्त विविध प्रभाव तत्तद् व्यक्तियों के मस्तिष्क एव नाड़ीसूत्रों की वैविध्यापन्न वैयक्तिक भावना के कारण होता है। उनके मत में मानसिक व्यापारों को नाड़ीकोषों के व्यापार स्वीकृत किये हैं। यदि व्यक्तिगत भावना को अङ्गीकृत किया गया है तो यंत्रवाद स्वयमेव परास्त हो जाता है, क्योंकि किसी भी रेल के एंजिन में व्यक्तिगत भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत प्रभाव में शरीर एवं मन दोनों के संयुक्त योगदान की कारणता है।

यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में भी भौतिक रसायन के नियमों का पालन दृष्टिगोचर नहीं होता है। अणु और परमाणु संबन्धी गवेषणायें इसी को इङ्गित करती है कि यत्रवाद की सहायता से ज्ञातसामग्री की अपेक्षा अज्ञेयवाद (Mysticism) अधिक विस्तृत है।

मानसशास्त्री या मनोविज्ञान के क्षेत्र में परीक्षणात्मक पद्धति को अङ्गीकृत कर लिया है। मानसिक व्यापारों को गणितशास्त्र के समीकरण सिद्धान्तों के ढांचे में स्थापित करने के लिये प्रयत्न हो रहे हैं। मन की रचना यदि जड़ पदार्थों से होगी तो मन और मन के व्यापारों पर ऐसे नियम लागू हो सकेंगे और मन भी इन नियमों की परिधि में कस दिया जावेगा अन्यथा मन की अतीन्द्रियता अक्षुण्ण रहेगी और मनोवैज्ञानिकों को सदा ही चक्कर में डाले रहेगा। वह तो केवल अन्तर्मुखिता के कारण ही ज्ञेयकोटि में समाविष्ट हो सकेगा। जड़वादियों के तर्कों को परास्त करने में नेत्रेन्द्रिय व्यापार से परिचित व्यक्ति

भली भांति जानता है कि नेत्रवितान (Retina) पर किसी भी ग्राह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब उल्टा पड़ता है। प्रकाश विद्या का नियम ही ऐसा है कि प्रकाश किरणें नेत्रवितान पर प्रतिसक्रान्त उल्टे रूप में होती है किन्तु इस पर भी हम सब का दैनन्दिन अनुभव यह बताता है कि हमारी चक्षु द्वारा गृहीत पदार्थ उल्टे न दिखाई देकर सीधे ही दिखाई देते हैं। वैसे उल्टा प्रतिबिम्ब गृहीत होने पर अधोमुख और ऊर्ध्वपाद मनुष्य दिखाई देने चाहिए। इस प्रकार यह परिवर्तित रूप कैसे दिखाई देता है? जड़वादी इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह अनुभव (Experience) के परिणामस्वरूप परिवर्तित रूप गृहीत होता है। यहां प्रष्टव्य है कि यहां अनुभव किमर्थपरक है और वह अनुभव कहां एकत्रित होता रहता है? वस्तुत: किसी अतिरिक्त चैतन्यतत्त्व (आत्मा) की स्वीकृति के बिना नेत्रेन्द्रिय एवं अन्य किसी इन्द्रिय के व्यापार को समझना अत्यन्त कठिन ही नही अपितु असभव है। अनुभव, स्मृति, निद्रा आदि व्यापार भी चैतन्यता के अभाव में हो नही सकते। इस प्रकार आधुनिक उपलब्धियां भी आत्मतत्त्व की सिद्धी में सहायक होती है और उसी की पुष्टि में लगी हुई हैं। चैतन्य और मन की सत्ता स्वीकार करने पर इन्द्रिय व्यापार तथा अनुभव, स्मृति, निद्रा आदि सब व्यापारों का आश्रयाश्रयित्व सम्पन्न हो जाता है।

यहां पुन: जड़वादी प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं कि मन के बजाय मस्तिष्क के व्यापारों को ही मानसिक व्यापार मान लेने मे आपत्ति क्या है? क्योंकि क्लोरोफार्म सुंघा कर या स्थानिक सज्ञानाशक (Local Anassthetia) औषध को शरीर के भाग विशेष की नाड़ियो मे प्रविष्ट करके शस्त्रकर्म कर दिया जाता है और रोगी किसी प्रकार की वेदना का अनुभव नही करता है। इस प्रकार इन जड़ द्रव्यों के प्रयोग से वेदनानुभव रूप मानस व्यापारों को अवरुद्ध किया जा सकता है। यही नहीं, मस्तिष्क के भाग विशेष का ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण उस भाग मे विक्षेप होने पर मानस व्यापारों पर विकृत प्रभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस कारण मस्तिष्क के व्यापारों को ही मानस व्यापार मानना चाहिए और मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्य किसी मानस सत्ता के मानने की कोई आवश्यकता नही।

इसका उत्तर देते हुए आत्मवादी कहते हैं कि मस्तिष्क मन का एक अत्युपयोगी साधन है न कि स्वयं मन। मन मस्तिष्क एवं नाड़ीसूत्रों के सहयोग से ही स्वव्यापारों को पूर्ति करता है। इनके अभाव में या इन के क्षतिग्रस्त होने की स्थिति में मानसिक व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। करणो से युक्तकर्ता ही कार्यसाधन मे समर्थ हो सकता है। शिल्पी जिस प्रकार अपने साधनों की सहायता से ही अनेक शिल्पों का निर्माण करता है, बिना साधन के विशेषज्ञ शिल्पी भी कुछ भी नही कर सकता इस तर्कसम्मत सिद्धान्त के अनुसार मस्तिष्क एव नाड़ीसूत्रों को मन के साधन के रूप में अङ्गीकार किया जाता है। ये साधन

यदि उपयुक्त होंगे किसी प्रकार की विकृति से ग्रस्त नही होंगे तो मानस व्यापार निर्वाध रूप से होते रहेंगे। स्वास्थ्यप्रद वायु पौष्टिक खाद्यपदार्थ नियमित रुधिराभिसरण आदि नाड़ीतंत्र को कार्यक्षम बनाने वाली परिस्थितियां मन को भी स्फूर्तिप्रदायक हैं। मन को मस्तिष्क से भिन्न न मानने की स्थिति में अन्यमनस्क होते हुए भी मनुष्य को पुरोवर्ती दृश्य का ज्ञान होना चाहिए किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव इसका उपोद्बलन नहीं करता प्रत्युत कहा यह जाता है कि पुरोवर्ती वस्तु को मैंने नहीं देखा क्योंकि मेरा ध्यान अन्यत्र था। यही स्थिति अन्य इन्द्रियजज्ञान के साथ होती है। इसी प्रकार शोक की उपस्थिति में बुभुक्षा होने पर प्रतीत नहीं होती। ये सब स्थितियां बाध्य करती हैं कि इन्द्रियादि एवं आमाशय के रहते हुए भी तदिन्द्रियज ज्ञान एवं भूख की प्रतीति नहीं होती और इन्हीं ज्ञानों का होना इस बात को द्योतित करता है कि नाड़ीतंत्र और इन्द्रियों के व्यापार मानस प्रवृत्तिजन्य हैं और मानस व्यापारों की अभिव्यक्ति एवं प्रतीति के साधन हैं इसलिए मस्तिष्क भी एक साधन के रूप मे है यही अधिक युक्तिसङ्गत है।

यद्यपि अधुना चैतन्यसत्ता की स्वीकृति में कोई विवाद नहीं है किन्तु शरीर में स्थित चैतन्य और जड़तत्वों का सम्बन्ध किस प्रकार का है यह जीव शास्त्री, शरीर शास्त्री, वैज्ञानिक, आधिभौतिकवादी एवं मानस शास्त्री विद्वानों का विवेच्य विषय बन रहा है। अपने अपने मन्तव्यानुसार इस सम्बन्ध के विषय में मत व्यक्त कर रहे हैं। यहां प्रश्न है शरीर और मन का सम्बध कैसा माना जावे ? एकाकी जड़वाद या चैतन्यवाद की मान्यताओं को लेकर दृश्य एवं अदृश्य (मानस) सृष्टि के अशेष व्यापारों का समाधान करने में सक्षम नहीं हो सकते। वैसे सारे जगत् प्रपंच को मनोमय एवं मन से ही जगत् प्रपच का उद्गम मानने वाला मत भी हमारे समक्ष उपस्थित है।

संक्षिप्त शल्यकर्म की तैयारी

लेखक : राजेश्वर भाटिया, जैसलमेर

[श्री भाटिया जैसलमेर निवासी हैं और बी. आई. एस. है। वर्तमान में राजकीय धात्रीकल्पद प्रशिक्षण केन्द्र जोधपुर में विवेचक पद पर कार्य कर रहे है। आपका लेख छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

शस्त्रकर्म के तीन विभाग हैं :—

लघनादि विरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च।
पाटनं रोपणं पच्च प्रधानकर्म तत्स्मृतम् ॥
बलवर्णाग्नि कार्यं तु पश्चात्कर्म समादिशेत्।
(हाराणचन्द्र)

लंघन, विरेचन, वस्ति आदि सार्वदेहिक तथा स्थानिक विशोधन (Sterlization) आदि विशेषकर्म पूर्वकर्म कहलाते हैं। इसमें शल्यकर्म करने से पहिले रोगी को उसके लिए तैयार किया जाता है। आधुनिक परिभाषा में इसे "Preparation of the Patient" कहते हैं।

प्रधानकर्म—मुख्य शल्यकर्म—(Main operation) आता है।

पश्चात्कर्म मे व्रण चिकित्सा तथा रोगी के बल की रक्षा करना विशेष रूप से आता है।

सुश्रुत ने शल्यकर्म करने से पहिले चिकित्सक के लिए कुछ चीजें रखनी आवश्यक बतलायी हैं। जैसे विविध प्रकार के यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका शृंग, अलाबु (तुम्ब्री), पिचु (रूई), प्रोत (वस्त्र), लघु घृत इत्यादि। प्राचीनकाल में यद्यपि शल्यकर्म में शुद्धता और पवित्रता का ध्यान रखा जाता था।

आधुनिक शल्यचिकित्सा के प्रवर्तक लार्ड लिस्टर माने गये हैं। व्रणों में पूय पड़ने के सम्बन्ध में खोज करते हुए लार्डलिस्टर ने सोचा कि जिस प्रकार शर्करा में सुराबीज मिला देने से मद्य बन जाता है उसी प्रकार जीवाणुओं के रक्त में मिलने से पूय उत्पन्न हो जाती है अतः उन्होंने व्रणों के उपचार में जीवाणुनाशक वस्तुओं का प्रयोग करना शुरू

किया। इससे व्रणों में पूयोत्पत्ति कम हो गयी। इस प्रकार जन्तुघ्न या विषहरी चिकित्सा (Antiseptic treatment) खोज हुई।

इसका तात्पर्य है कि शस्त्रकर्म में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों, शस्त्रों एवं अन्य साधनों को शुद्ध किया जाय। जीवाणुनाशक औषधियों का प्रयोग करने की अपेक्षा जीवाणुओं को व्रण मे न पहुंचने देना उत्तम है। जिस जगह शस्त्रकर्म करना है उस स्थान को, शस्त्रकर्म में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों, शस्त्रों, गाज, रूई, पट्टी, चिकित्सक के हाथ, वहां के चारों तरफ के वायुमण्डल एवम् जो भी वस्तुएँ शल्यकर्म में प्रयुक्त हो सबको जीवाणु रहित कर दिया जाय। इस प्रकार करने से व्रण में जीवाणु नहीं पहुचते। आधुनिक चिकित्सा में व्रण में पूय का पड़ना असावधानी समझा जाता है। शल्यकर्म करते समय जीवाणुनाशक और जीवाणुरहित दोनों कर्मों की आवश्यकता पड़ती है। ये दोनों क्रियाएँ अलग-अलग रूप में असफल हो सकती है परन्तु यदि दोनों क्रियाओं का इकट्ठा प्रयोग किया जाय तो अच्छी सफलता मिलती है।

जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए आजकल अनेक प्रकार की क्रियाएँ काम में आती हैं :—

१. इनमें अग्नि सबसे मुख्य है जिसका प्रयोग भाप के रूप में होता है। यन्त्रों शस्त्रों को पर्याप्त समय तक भाप मे रखने से वे जीवाणुरहित हो जाते हैं। इसी सिद्धांत का उपयोग स्टरलाइजर द्वारा यन्त्रों को शुद्ध करने में किया जाता है।

२. अनेक प्रकार के रासायनिक जीवाणुनाशक घोल भी यही कार्य करते हैं जैसे एक्रीफ्लेवीन, मरक्यूरोक्रोम, बोरिक एसिड, डेटोल (Detol), लाइसोल (Lysol) इत्यादि।

३. अनेक प्रकार के तीव्रमद्य जैसे अलकोहल, स्प्रिट आदि।

४. विभिन्न शक्ति के अम्ल जैसे कार्बोलिक एसिड।

५. उबला हुआ पानी (Boiled water)।

६. धूम।

सुश्रुत ने लिखा है कि शल्य चिकित्सक के बाल और नाखून छोटे होने चाहिए, उसे पवित्र रहना चाहिए और सफेद वस्त्र धारण करने चाहिए। अग्नितप्त शस्त्र द्वारा छेदन करना चाहिए। पानी को उबाल कर एक पात्र में रखना चाहिए तथा इसे ही व्रणोपचार काम में लेना चाहिए। इत्यादि विवरणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यों का ध्यान निर्विष चिकित्सा (Aseptic treatment) की ओर प्रारम्भ से था।

सक्षिप्त शल्यकर्म के समय ध्यान देने योग्य बातें:—

सक्षिप्त शल्यकर्म में आने वाले यन्त्रो शस्त्रों को शुद्ध करना और सावधानी से

चिकित्सक की सहायता करना आदि ऐसे कार्य हैं जो दिखने में साधारण हैं परन्तु शल्य चिकित्सा में बहुत महत्व रखते हैं। इसमे निम्न लिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए।

१. शुद्ध किये हुए यन्त्र शस्त्र जब किसी अशुद्ध यन्त्र शस्त्र से छू जाते हैं तो वे भी अशुद्ध हो जाते हैं।

२. शुद्ध किये हुए यन्त्र शस्त्रों को शुद्ध बर्तन में रखने चाहिए। उन्हें काम में लाने से पहिले तक ढक कर रखना चाहिए।

३. शुद्ध यन्त्र शस्त्रों को उठाने के लिए संदशयन्त्र (Forceps) का प्रयोग करना चाहिए। फोरसेप्स को प्रयोग मे लाने से पहिले उबालकर साफ कर देना चाहिए तथा गहरे बर्तन (Jar) में जिसमें ताजा जीवाणुनाशक घोल हो, रखना चाहिए। फोरसेप्स को निकालते या रखते समय बर्तन के ऊपर के किनारों को नहीं छूना चाहिए।

फोरसेप्स के आगे के दोनों फलकों को काम में लाते समय हमेशा नीचे की तरफ रखना चाहिए।

४. शुद्ध यन्त्र शस्त्रों को निकालते समय बर्तन को सावधानी से खोलना चाहिए। उसके ढक्कन के अन्दर के हिस्से को नही छूना चाहिए। सिरिंजेस (Syrenges) भी इसी तरह निकालनी चाहिए।

५. हमेशा शुद्ध बर्तनों (Sterile Basen & Cups) को उसके पार्श्व में या नीचे हाथ रख कर पकड़ना चाहिए। किनारों के ऊपर अंगुलियों से कभी नही पकड़ना चाहिए। सब बर्तनों के ऐसे ही उठाने की आदत बनानी चाहिए।

६. जब कभी बोतलों के या बर्तनों के ढक्कन नीचे रखने हों तो हमेशा उसको उलटा करके रखना चाहिए।

७. बोतल में से औषधि या औषधि के घोल को उलटते समय ढक्कन को इस तरह से हटाना चाहिए कि उसका नीचे का हिस्सा अशुद्ध न हो। इसके बाद किसी जीवाणुनाशक घोल (Antiseptic Solution) में भिगोये हुए शुद्ध कपड़े से बोतल के मुंह को पोंछ लेना चाहिए।

यन्त्र शस्त्र प्रकरण

"मनः शरीराबाध कराणि शल्यानि।
तेषामाहरणो पायो यन्त्राणि॥ सु०

अर्थात् मन और शरीर को पीड़ा देने वालों को शल्य कहते हैं तथा उनके निकालने के उपायों का नाम यन्त्र है। यन्त्र १०१ हैं। इनमें हाथ प्रधान यन्त्र है क्योंकि बिना हाथ

के यन्त्रों का संचालन नहीं हो सकता। वास्तव में यन्त्रों की कोई निश्चित संख्या नहीं हो सकती। वे आवश्यकतानुसार घटाये या बढ़ाये जा सकते है।

यन्त्रों के प्रकार:—

यन्त्र छः प्रकार के माने हैं :—

अष्ट विध शस्त्र कर्म:—

सुश्रुत ने आठ प्रकार के शस्त्र कर्म बतलाये हैं।

१. **छेदन:**—काट कर निकाल लेना जैसे:—भगन्दर श्लेष्मिक ग्रथि, अर्श और अर्बुद आदि।

२. **भेदन**—चीरा लगाना, जैसे विद्रधी वृद्धिरोग और शरीर में भेदन किया जाता है।

३. **लेखन:**—कुरचना जैसे:—पोथ की (रोहे) मांस कन्द आदि।

४. **वेधन:**—नोकदार शस्त्र से छेद करना जैसे:–शिरा, मेद और जलोदर में वेधन किया जाता है।

५. **ऐषण:**—शल्य को ढूढने के लिए एक प्रकार की सलाका का प्रयोग करते हैं। जैसे—नाड़ी व्रण में ऐषण किया जाता है।

६. **आहरण:**—खेन्च कर बाहर निकालना, जैसे दान्त का निकालना।

७. **विस्रावण:**—रक्त, पूय आदि दूषित द्रव्यों को वत्ती के द्वारा खींच कर बाहर निकालने को विस्रावण कहते हैं।

८. **सीवन:**—सूई के द्वारा टांके लगाना, जैसे—सद्योव्रण।

व्रणों के सीवन प्रकार:—किसी जगह पर चोट लगने पर तथा बड़े बड़े शल्यकर्म (Operations) करने पर होने वाले व्रणों को सीने की आवश्यकता पड़ती है। इनको सीने के लिये एक विशेष प्रकार की सूई काम में आती है, जिसे सूचरिंग नीडल (Suturing Needle) कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है।

१. सीधी सूई (Straight Needle)।

२. वृत्ताकार सूई (Curved Needle)।

२. अर्धवृत्ताकार सूई (Half Curved Needle) व्रण को सीने के लिये निम्न वस्तुओं को काम में लेते हैं। जैसे:—चांदी का तार, घोड़े का बाल, रेशम का धागा, केट-कट, शिल्क वर्ग कट।

सीवन दो प्रकार की होती है:—

१. बहि: सीवन। २. अन्त: सीवन।

१. बहि: सीवन:—बहि: सीवन का प्रयोग अधिकतर किया जाता है। इसमें टांकों के द्वारा वृण के दोनों किनारों को मिला कर सी देते हैं। इस सीवन मे चांदी का तार, घोड़े का बाल, रेशम के धागे का ज्यादा प्रयोग किया जाता है।

२. अन्त: सीवन:—अन्त: सीवन का प्रयोग ज्यादातर बड़े शल्यकर्म (Major operations) मे अन्दर की रचनाओं को सीने के लिए किया जाता है। इसके लिये "केटकट" धागे का प्रयोग करते हैं। यह धागा कुछ समय के बाद स्वयमेव शरीर में घुल जाता है।

वृणो में सीवन कई प्रकार से की जाती है, जिसमें निम्न दो मुख्य हैं।

१. सविच्छेद सीवन (Interupted)।

२. अविच्छेद सीवन (Uninterupted)।

१. सविच्छेद सीवन (Interupted) टांके एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। उचित आकार की सूई को लेकर उसमें ६" के करीब धागा डाल दिया जाता है। शल्यकर्ता सूई को अगूठे और तर्जनी अंगुली के द्वारा पकड़ कर अथवा चिमटी (सन्दंश यन्त्र) से पकड़ कर उचित स्थान पर सूई को प्रविष्ट करता है। सूई वृण के भीतर की ओर निकल आती है। इसके बाद उसको वृण के दूसरे किनारे मे प्रविष्ट करके चमड़ी के बाहर उतनी दूरी पर निकालते हैं, जितनी दूरी पर प्रविष्ट किया था। इस समय सूई को धागे से अलग कर देते हैं। इस प्रकार धागे के बीच का भाग, वृण के भीतर और उसके दोनों सिरे किनारों से बाहर को निकले रहते हैं। इन दोनों सिरों को दोनों हाथों में पकड़ कर रीफ गांठ (Reef knot) लगाई जाती है। गांठ बांधने के बाद धागे का जितना भाग शेष रह जाता है, उसे काट देते है। परन्तु आधा इन्च के लगभग धागा गांठ के साथ छोड़ दिया जाता है, इससे टांकों को काट कर निकालने में सुविधा होती है।

२. अविच्छेद सीवन:—(Uninterupted) इसमें टांके अलग नहीं होते, वे निरन्तर रहते हैं। लगाने का तरीका स्पष्ट है। धागे का वह भाग जो त्वचा के नीचे है टूटी हुई रेखा में दिखलाया गया है। त्वचा के ऊपर का भाग साफ रेखा में बताया गया है।

बन्धनकर्म (Bandaging)

> तत्र कोष दाम स्वस्तिकानुवेल्लित प्रतोली मण्डल।
> स्थगिका यमक खट्वा चीन विबन्ध वितान गोषणा:।
> पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्ध विशेषा:।
> तेषां नामभिरेवाकृतय: प्रायेण व्याख्याता:। सु० सू० १८-१८

आधुनिक युग में जो बन्धन विधियां प्रयुक्त होती हैं। वे प्राय: करके सुश्रुत में लिखी गई बन्धन विधियों के अनुसार ही हैं । अत: प्राचीन काल में उपयोग में आने वाली बन्धन विधियों का आधुनिक बन्धन विधियो के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है । सुश्रुत ने लिखा है कि इन बन्धनों की आकृति का उनके नाम से ही ज्ञान कर लेना चाहिए। अत: इन बन्धनों की व्याख्या करनी आवश्यक हो जाती है।

(१) **कोशबन्ध (Sheath Bandage)** इसकी आकृति तलवार की म्यान के समान होती है। इसका उपयोग अंगूठा और अंगुली के बान्धने के लिए होता है।

(२) **दामबन्ध**

"दाम सम्बाधे ङ्गे" तंग तथा एठनयुक्त अंग में बान्धा जाता है। पीड़ायुक्त अंगों की पीड़ा को दूर करने के लिए इस बन्धन का उपयोग होता है। कुछ लोग इसका आकार माला के समान और दूसरे लोग चौपाए की पूंछ के समान मानते हैं। आधुनिक शल्य चिकित्सा के ग्रन्थों में इसके समान नाम वाला नहीं मिलता है।

(३) **स्वस्तिक बन्ध**

यह बन्धन अधिकतर सन्धि, कूर्च, स्तनों के बीच का भाग, हस्ततल पादतल और कान में लगाया जाता है । अंससन्धि के विश्लेष में भी इसी बन्धन के लगाए जाने का विधान है। इसे Cross Bandage, Spica or Figure of Bandage कह सकते हैं।

(४) **अनुवेल्लित बन्ध**

इस प्रकार का बन्धन शाखाओं में सन्धिस्थान को छोड़ कर लगाया जाता है। बेल या लता जिस प्रकार नीचे से ऊपर को चढ़ती है उसी प्रकार बन्धन शरीर पर नीचे से ऊपर को लपेटा जाता है। इसे आधुनिक चिकित्सा पद्धति में Spiral Bandage या Encircling Bandage कहते हैं।

(५) **प्रतोलीबन्ध या भुत्तोलीबन्ध**

एक प्रकार का चौड़ा बन्धन है जिसका उपयोग ग्रीवा और मेढ्र के व्रणों के बन्धन में होता है।

(६) **मण्डल बन्ध**

वृत्ताकार गोल बांधने को कहते है। इसका उपयोग शरीर के गोल भागों पर बन्धन कर्म मे होता है। जैसे बाहु, उदर, उरु और पीठ में इसे आधुनिक चिकित्सा पद्धति मे Circular Bandage कह सकते है।

(७) **स्थगिका बन्ध**

अंगूठा, अगुलि और मेढ्राग्र में इसके बान्धने का विधान है। इसको कोशबन्ध के

साथ समानताहै। कुछ लोग इसकी समानता पान की डब्बी के ढक्कन के साथ करते हैं। आधुनिक चिकित्सा में इसकी समानता (Stump Bandage) से की जाती है। शाखाओं के कटने के बाद जो ठूंठ रह जाता है उसे बान्धने में इसका उपयोग करते हैं। सुश्रुत ने चिकित्सा में मूत्रवृद्धि से जल निकालने के बाद अण्डकोष में इसी बन्धन के बांधने को कहा है। अतः कार्य की दृष्टि से Supporter Bandage से इसकी समानता कर सकते हैं।

(८) यमक बन्धः—

एक ही पट्टी के द्वारा एक ही अंग पर स्थित दो व्रणों को बांधा जाता है।

(९) खट्वा बन्धः—

यह चार पट्टों का बना हुवा बन्धन है। इसको चतुर्बाहु बन्ध भी कहते हैं। इसका उपयोग शखप्रदेश, भ्रूप्रदेश, कपोल प्रदेश पर किया जाता है आधुनिक चिकित्सा में इसे Four Tailed Bandage कह सकते हैं।

१०. चीन बधः—

आँख के बन्धनों में इसका उपयोग किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा में इसे Eye Bandage कह सकते हैं।

(११) बिबन्ध बन्धः—

यह बन्धन उदर प्रदेश, उरः प्रदेश और पृष्ट प्रदेश में लगाया जाता है। यह बन्धन एक बड़े कपड़ में कई चीरे लगा कर बनाया जाता है। आधुनिक चिकित्सा में इसे Many taibel Bandage कह सकते हैं।

(१२) वितान बन्धः—

शामीयाना की तरह यह बन्धन शिर पर फैलाया है। शिर को चोट में इसका उपयोग करते है। आजकल इस प्रकार का बन्धन दो पट्टियों को मिला कर बनाया जाता है इसमें एक पट्टी मस्तक को चारों तरफ घेरली है तथा दूसरी सिर पर ऊपर से घेरती है। पट्टी के पूरी तरह बन्ध जाने पर इसकी आकृति पगड़ी के समान हो जाती है। आधुनिक चिकित्सा में इसे Capheline Bandage कह सकते हैं।

(१३) गोफणा बन्धः—

इसका उपयोग ठोढ़ी, नाक, होठ अंस और बस्ति में बन्धन के लिये होता है। गोफण शब्द का अर्थ है एक प्रकार का साधन जिसके द्वारा चिड़ियों से खेत की रखवाली की जाती है यह तिकोनी पट्टी द्वारा बनाया जाता है। आधुनिक चिकित्सा में इसे Arm Sling Bandage कह सकते है। स्थान और कार्य की दृष्टि से इसे T. Bandage कह सकते हैं। इसका उपयोग गुदा और वृषण के व्रणों के लिए किया जाता है।

(१४) पञ्चाङ्ग बन्धः—

इस बन्धन में पांच पट्ट होते हैं एक ऊपर की तरफ और चार नीचे की तरफ स्थान की दृष्टि से इसका उपयोग जन्तु के ऊपर के भागों में होता है।

(१५) उत्सङ्ग बन्धः—

वाग्भट्ट ने इसका वर्णन किया है। वर्णन के अनुसार यह गले से बाहु को लटकाने के काम आता है। आधुनिक चिकित्सा के अनुसार इसे Arm Sling Bandage कह सकते हैं।

इस प्रकार सुश्रुत ने चौदह और वाग्भट्ट ने पन्द्रह बन्धनों का वर्णन किया है।

शस्त्र चिकित्सा मे बन्धेज का बहुत काम पड़ता है। प्रत्येक वृणोपचार बन्धेज लगा कर समाप्त किया जाता है। यदि कहीं अस्थिभग्न हो जाता है तो वहा भी कुशा को पट्टी द्वारा बान्धा जाता है। इस कारण पट्टियों का बांधना शस्त्र चिकित्सा का मुख्य कर्म है।

बन्ध का उद्देश्यः—

१, बन्धेज लगाने का उद्देश्य यह है कि जो अङ्ग घायल हो गया है उसे सुरक्षित रखा जाय।

२. घाव की दवा, गद्दी व रूई आदि अपने स्थान पर रहे।

३. बाहर के विषैले कीटाणु घाव में प्रवेश न कर सकें।

४. रोगी को पीड़ा या कष्ट कम हो जाय।

उत्तम बन्धः—

१. वह है जो सारे स्थान पर एक समान भार डाले और अङ्ग को सुरक्षित रखे।

२. बन्ध न इतना सख्त हो जिससे रक्तसंचार बन्द हो जाय और रोगी को कष्ट पहुंचे और न इतना ढोला हो जिससे औषधि, रूई आदि अपने स्थान से हट जाय। उत्तम बन्ध से अङ्ग को विश्राम मिलता है और बुरे बन्धन से दुःख मिलता है।

बन्धेज वस्त्रः—

बन्धेज लगाने के लिए किसी भी साधारण वस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। वस्त्र चिकना, दृढ़ और स्वच्छ होना चाहिए। इसके लिए गाज़, मलमल, लट्ठा, फलालेन इत्यादि का उपयोग किया जाता है।

बंधेजों का आकारः—

१. ६ इन्च चौड़े और ८ गज लम्बे—इनका अधिक प्रयोग नही होता। ये वक्ष प्रदेश पर लपेटने में काम आते है।

२. २॥ इन्च चौड़े और ४ गज लम्बे:—इनका अधिक प्रयोग होता है। व्रण इत्यादि को बांधने में तथा कुशा आदि को बांधने मे इनका प्रयोग किया जाता है।

३. १' इन्च चौड़े और ८ फुट लम्बे:—इनका प्रयोग भी अधिक होता है। शाखाओ के व्रणों पर इसी आकार के बन्ध लगाये जाते हैं।

४. ¾ इन्च चौड़े और ४ फुट लम्बे:—ये छोटी आकार के बन्धन अंगूठे और उंगलियों पर विशेष रूप से बाधे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के बन्धन आवश्यकतानुसार बना कर बाधे जाते हैं।

बन्धेज प्रकार:—

पट्टी तीन प्रकार की होती है।

१. लम्बी पट्टी (Roller Bandage) यह अङ्ग के चारों ओर लपेट कर बांधी जाती है।

२. तिकोनी पट्टी (Triangular Bandage) इसको मोड़ कर अङ्ग पर बांधते हैं।

३. चिरेदार (Triled Bandage) यह कपड़े को दोनों ओर चीर कर और चिरें बनाकर बांधी जाती है।

साधारणत: लम्बी पट्टी (Roller Bandage) ही बांधने के काम आती हैं। इन्हें बांधते समय निम्न बातों को विशेष ध्यान में रखना चाहिए।

(१) पट्टी को हाथों से लपेट कर उसका एक छोटा बेलन बना लिया जाता है। इसको लपेटने के लिए एक मशीन भी आती है।

(२) पट्टी का बेलन मजबूत और एक समान लिपटा होना चाहिए।

(३) प्रत्येक पट्टी के एक शिर और एक पूंछ (tail) होता है। जो भाग पहले अङ्ग पर लपेटा जाता है वह शिरा और दूसरा जो अन्त पर रहता है पूंछ कहलाता है।

(४) बन्धेज के दो पृष्ठ होते हैं एक पूर्व (Anterior) जो लगाने वाले की ओर रहता है। दूसरा पश्चिम (Posterior) जो पीछे रहता है।

(५) बेलन को इस प्रकार पकडना चाहिए कि रोगी के बायें अंग पर पट्टी बाधते समय बेलन चिकित्सक की ओर दाहिने हाथ मे और पट्टी का शिरा बायें हाथ में रहे। इससे पट्टी का पश्चिम पृष्ठ रोगी के अङ्ग के सम्पर्क मे रहेगा।

(६) पट्टी सदा भीतर से बाहर की ओर को लगानी चाहिए। अर्थात् बेलन अंग के भीतर की ओर से आरम्भ होकर अग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर वहां से फिर अङ्ग के नीचे होता हुआ।

कैथिटर और उनका उपयोग

इनका आकार लम्बी नली के समान होता है जिसके आगे का भाग मुड़ा होता है। इनके अगले सिरे पर पार्श्व की ओर एक लम्बा छिद्र होता है जिसे कैथिटर का नेत्र (Eye) कहते हैं। इसमें होकर मूत्र कैथिटर में प्रवेश करता है। ये कैथिटर ३ प्रकार के होते हैं।

१. रबर कैथिटर।

२. गम ईलास्टिक कैथिटर।

३. मैटल कैथिटर।

रबर के कैथिटर सब से कोमल होते हैं। दूसरे प्रकार के कैथिटर रबर के कैथिटरों से कड़े किन्तु धातु के कैथिटरों से नरम होते हैं। इनको चाहे जैसे मोड़ सकते हैं। और जब तब इनको दूसरी तरफ न मोड़ा जाय तब तक वह उसी दशा में रहते हैं। मूत्र मार्ग के भीतर ये स्वयं ही मुड़ते चले जाते हैं। इनके प्रयोग के समय भी बल नहीं लगाना चाहिये। ये दोनों प्रकार के कैथिटर प्रायः नं० १२ तक के आते हैं। १२ नम्बर सब से मोटा होता है।

धातु के कैथिटर प्रायः निकल अथवा चांदी के बनाये जाते हैं। चांदी की अपेक्षा के कैथिटर की चमक शीघ्र नष्ट हो जाती है।

ये कैथिटर आगे की ओर से मुड़े होते हैं। यह भाग अत्यन्त स्वच्छ और चिकना होता है।

कैथिटर द्वारा मूत्र निकालने के लिये सब से पहले रबर के कैथिटर का प्रयोग करना चाहिये। इनसे किसी का भय नहीं रहता। जब इनसे सफलता नहीं मिलती तब गम इलास्टिक कैथिटर का प्रयोग किया जाता है। धातु के कैथिटरों का अन्त में प्रयोग करते हैं। नवशिक्षितों को इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

कैथिटरों की शुद्धिः—प्रयोग करने से पहिले कैथिटरों को अच्छी तरह शुद्ध करना चाहिये। इनके शुद्ध न करने से मूत्रशाय में शोथ हो सकती है। रबर और धातु के कैथिटरों अन्य यन्त्रों की भांति जल में उबाल कर शुद्ध किये जाते हैं। इनको १० मिनट तक उबालना चाहिये।

गम इलास्टिक के कैथिटरों को फोरमेलिन के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसके लिये एक विशेष आकार का पात्र आता है जिसमें दो खंड होते हैं। ऊपर के खंड में कैथिटर रखे जाते हैं और निचले खंड में फोरमेलिन की टिकियाँ या तरल फोरमेलिन रहती है। पात्र के नीचे स्पिरिट लेम्प रहता है। फोरमेलिन से जो वाष्प उत्पन्न होता है वह कैथिटरों को पूर्ण शुद्ध कर देता है।

औरतों का पेशाब निकालना

उपकरणः—१. स्टरलाइज कैथिटर।

२. स्टरलाइज प्याला।

३. प्याला जिसमें गर्म बोरिक लोशन हो।

४. पेशाब के लिये स्टरलाइज वर्तन।

५. मोमजामा।

विधिः—बीमार को पीठ के बल लिटा कर रखना चाहिय। उसके उरू और उदर के प्रान्त को शुद्ध तौलिया से ढक देना चाहिये। कैथिटर डालने से पहले धात्री को अपने हाथ अच्छी तरह शुद्ध करने चाहिये। दूसरी धात्री को उसकी सहायता के लिये तैयार रहना चाहिये। सबसे पहले उस नर्स को जिसके हाथ शुद्ध हैं रुग्ण के दोनों भगोष्ठों (Labias) को अपने बाये हाथ के अगूठे और अंगुली की सहायता से पृथक करना चाहिये। अब उसे भगोष्ठों के बीच के भाग को बोरिक लोशन से पोंछना चाहिये। पोंछते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि फोये को ऊपर से नीचे की तरफ ले जाना चाहिये। जिससे कि गुदा के पास से कोई संक्रमण मूत्रमार्ग तक न पहुच जाय। आखिरी फोये को योनि में ही रखना चाहिये, जिससे योनि का संक्रमण मूत्रमार्ग तक न पहुच जाय। इसके बाद स्टरलाइज बरतन को रोगी की टांगों के बीच रखना चाहिये।

कैथिटर को जहां तक हो सके हलका पकड़ना चाहिये। अब कैथिटर को धीरे से मूत्रमार्ग के छेद मे प्रविष्ट करना चाहिये। प्रविष्ट करते समय ध्यान रखना चाहिये कि कैथिटर दूसरी किसी जगह पर न छूये। यदि छूना है तो दूसरा कैथिटर काम में लेना चाहिये। यदि बीमार अपने आपको तंग रखता है तो उसे कहना चाहिये कि वह मुंह खोल कर गहरी सांस लेवे। इससे शरीर ढीला हो जाता है। जब कैथिटर निकालना हो तो नर्स को चाहिये कि वह उसे दबा कर या उसके सिरे पर अगुली रख कर बाहर निकाले। जिससे कि बची हुई पेशाब बिस्तर पर न गिरे।

यदि आदेश दिया गया हो तो पेशाब को नापना चाहिये। या जांच के लिये रखना चाहिये। पेशाब निकालने के बाद रोगी को पोंछ कर सुला करके उसे आराम से रखना चाहियं।

आदमियों का पेशाब निकालना

उपकरणः—१. स्टरलाइज कैथिटर।

२. स्टरलाइज प्याला।

३. ° ाला जिसमे गर्म बोरिक लोशन हो।

४. पेशाब के लिये स्टरलाइज बर्तन।

५. मोमजामा।

विधिः—सर्व प्रथम धात्री कल्पद को अपने हाथों को पूरी तरह शुद्ध करना चाहिये। इसके बाद लिंग (Penis) को शरीर से ६०^0 के कोण पर पकड़ना चाहिये और उसके आगे की त्वचा को हटा कर किसी जीवाणुनाशक घोल से साफ़ करना चाहिये। कभी २ इस जगह पर स्टरलाइज गाज बाध देते हैं। अब कैथिटर को अन्त से दो इन्च की दूरी पर स्टरलाइज क्लाम्प से या हाथ से पकड़ कर दूसरे सिरे को तैल में डुबो कर धीरे धीरे मूत्र मार्ग में प्रविष्ट करते हैं। जब तक कि पेशाब न आने लग जाय। कैथिटर डालते समय जोर कभी नहीं लगाना चाहिये।

आँख, नाक, गले और कान में प्रविष्ट द्रव्यों को निकालने की युक्तिः—

(१) **नाक में प्रविष्ट द्रव्य** (Foreign bodies in the Nose)

मटर आदि कई प्रकार के बीज और इनके समान अन्य पदार्थ नाक में फंस जाया करते हैं और जब इनको निकालने का प्रयत्न किया जाता हैं तो वे और ज्यादा अन्दर चले जाते हैं और व्यक्ति को कष्ट पहुँचता है। इसलिए इनको बाहर निकालना अत्यावश्यक हो जाता है। इसके लिए निम्न उपाय काम मे लाते हैं:—

(१) प्रायः करके जिस जगह यह पदार्थ फ़ंसा हुआ होता है वहां की श्लैष्मिक कला उत्तेजित होती है जिससे व्यक्ति को छीक आकर पदार्थ बाहर निकल आता है।

(२) कई बार छीक नही आती है परन्तु नाक की श्लैष्मिक कला के उत्तेजित होने से नासास्राव होने लगता है जिसमें फ़ंसा हुआ पदार्थ चिकना होकर बाहर आ जाता है। मटर जैसे बीजों के दाने फूल जाते हैं और नाक में ज्यादा फंस जाते हैं परन्तु इनका फसना अस्थाई होता है क्योंकि मटर फूल कर चिकने हो जाते है और नाक के सिड़कने पर बाहर आ जाते हैं।

(३) किसी तार के टुकड़े को आगे से वडिश (Hook) की तरह मोड़ देते हैं और फिर इसको नाक मे फसे हुए पदार्थ के साथ लेजा कर घुमा देते हैं और हुक को बाहर खींच कर पदार्थ को भी निकाल देते हैं। आजकल इस कार्य के लिए एक प्रकार का यन्त्र आता है जिसे शल्य निष्कासक यन्त्र (Foreign body remover or Aural Hook) कहते हैं। इससे पकड़ कर भी निकाल सकते हैं।

(४) यदि जलौका (Leech) नाक मे फ़स जाती है तो नाक को नमकीन पानी (Salt water) से धोते हैं। इसको धोने के लिए पिचकारी का प्रयोग करना चाहिए। यदि पिचकारी नही मिलती हो तो केवल लवणजल को नाक में चूँसना चाहिए।

(२) कान में प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Ear)

(१) काड़े मकोड़े (Insects) जब कान में घुस जाते हैं तो उनके चलने से कान में पीडा होती है ऐसी अवस्था में साधारण तैल को गरम करके कान में डालते हैं जिससे कीड़े मर जाते हैं और फिर उन्हें बाहर निकाल देते हैं।

(२) मटर आदि के बाज कान में फंस जाते हैं। इस अवस्था में कान में गरम पानी का फोया डाला जाता है। इसको कुछ समय तक रखते हैं इससे बीज मुलायम हो जाते हैं। इसके बाद कान के छेद को नीचे की तरफ रखते हैं और इस अवस्था में कर्ण में पिचकारी लगाई जाती है जिससे बीज बाहर निकल आते हैं।

यदि मटर का बीज कान में फूला नही है तो उसे कान में केवल तैल की पिचकारी लगा कर निकाल सकते हैं।

(३) किसी तार का फन्दा (Wire loop) बना कर भी कान से वस्तु को निकाल सकते हैं जैसा कि नाक से निकालने में किया था। यदि कान में फ़ंसी हुई चिमटी (forceps) की पकड़ में हो तो उससे पकड कर निकाल सकते हैं।

आजकल ऐसे पदार्थों को निकालने के लिए शल्य निष्कासक यन्त्र (Foreign body remover) or (Aural Hook) प्रयोग में लाते हैं।

(४) एक पतली शलाका को लेकर उसके ऊपर पतली रूई लपेट कर मजबूत फुरैरी बनाई जाती है। इसको गाढ़े गोंद, लेई या सरेश (glue) में डुबो कर फिर हलका पोंछ देते हैं। इस प्रकार बनी हुई फुरैरी को कान में ले जाते है और अन्दर फंसे हुए पदार्थ के पास रख देते हैं और इसे कुछ समय तक वहीं रहने देते हैं। सूखने पर फुरैरी को खीच कर पदार्थ को बाहर निकाल देते हैं।

इन सब क्रियाओं को करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कान के दूसरी तरफ मुलायम कान का पर्दा होता है। पिचकारी तेज लगाने से या शलाका का गलत प्रयोग करने से पर्दे को हानि पहुँच सकती है और व्यक्ति सदा के लिए बधिर हो सकता है।

(३) आंख में प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the eye)

(१) आंख मे पड़े हुए साधारण पदार्थ जैसे धूलि के कण, छोटे छोटे कीड़े मकोड़े इत्यादि हाथ की हथेली में पानी भर कर उसमें आंख को खोलने और बन्द करने से निकल जाते हैं और आंख साफ हो जाती है।

(२) यदि कोई पदार्थ आँख की पलक के साथ चिपक गया है और ऊपर की विधि से न पृथक होता हो तो हाथ मे रूई या गाज का स्वच्छ टुकड़ा ले कर उससे आंख को

पोंछ लेना चाहिए। यदि वस्तु पलक के अन्दर की तरफ लगी हो तो पलक को उलट देना चाहिए और वस्तु को पोंछ लेना चाहिए।

(३) कई बार रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए कोयले की चिनगारी आंख मे लग जाती है जिससे आंख में व्रण बन जाता है। रेत के कणों के लगने से भी व्रण बन जाता है। ऐसी अवस्था में शुद्ध एरण्ड स्नेह (Pure Castor oil) आंख में डालने से लाभ होता है। इससे वस्तु चिकनी हो कर आंख के कोने में आ जाती है और बाहर निकल जाती है।

कई बार आंख से वस्तु तो बाहर निकल जाती है परन्तु उसका व्रण रह जाता है जिससे आंख में पीड़ा होने लगती है। इस अवस्था में भी शुद्ध एरण्ड स्नेह के डालने से अच्छा लाभ होता है। Penicillin eye ointment भी लाभदायक है।

(४) लोहे का काम करने वालों को आंख में लोहे के छोटे छोटे टुकड़े पड़ जाते हैं और वे पीड़ा करते है। इन टुकड़ों को हल्की चुम्बक (Light Megnet) का उपयोग करके निकालते हैं।

कई बार गांवों में चुम्बक नही मिलता है। ऐसी अवस्था में परिस्रुत जल में बनाया हुआ हलका तुत्थ घोल (DiI Copper Sulphate Solution 3 grs. in one ounce) को आँख में डालते हैं। इससे लोहे के कण घुल जाते है और उस जगह से हट जाते हैं जिन्हें धो कर निकाला जा सकता है।

(५) कई बार कांटेदार चीज आंख में चुभ जाती है उसको स्वच्छ सूचिका से पृथक कर सकते हैं।

(४) **गले में प्रविष्ट द्रव्य** (Foreign bodies in the throat)

रोगी के शिर को पीछे की तरफ कर देना चाहिए और जीभ को बाहर की तरफ खींचना चाहिए। इसके बाद टोर्च द्वारा प्रकाश डाल करके प्रविष्ट द्रव्य की वास्तविक स्थिति को जानना चाहिए। गले में फसे हुए द्रव्य की स्थिति और आकृति जानने के बाद तदनुसार चिकित्सा की जाती है।

(१) यदि मछली के काटे जैसी हड्डी गले में फ़ंस गई है तो उसे चिमटी (forceps) से पकड़ कर निकाल देना चाहिए।

(२) यदि हड्डी बहुत पतली हो तो अंगुली के ऊपर कुछ जूट के रेशे (jute fibres) लपेट कर उसे गले में ले जाते हैं और उससे गले को पोंछते है। इससे कई बार वस्तु के बारीक टुकड़े जूट के रेशों में लग कर अंगुली के साथ बाहर आ जाते हैं।

(३) यदि वस्तु गले में बहुत नीचे की ओर चली गई हो तो उसे वमन द्वारा बाहर निकालने का यत्न किया जाता है। इसके लिए हलका तुत्थवारो या गाढ़ा नमकीन पानी पिलाते हैं अथवा मदनफल देते हैं।

(४) यदि ऊपर के तरीकों से वस्तु न निकले तो एक शलाका में रूई लपेट कर उसके द्वारा वस्तु को पीछे की तरफ धकेल देना चाहिए। रोगी को मुलायम और हलका भोजन देना चाहिए। पानी बहुत कम देना चाहिए। इससे वस्तु के चारों तरफ आवरण बन जाता है और वस्तु आन्त्र को बिना हानि पहुँचाए बाहर निकल जाती है। इस अवस्था में विरेचन नही देना चाहिए।

(५) यदि गले में जलौका अटक गई हो तो रोगी को नमकीन पानी पिलाना चाहिए। इससे या तो जलौका मर जायगी या वमन के साथ बाहर आ जायगी।

(५) गुप्तांगों में प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in Private Parts)

(१) यदि गुप्तांगों में फसा हुआ पदार्थ अंगुली से अनुभव किया जा सके तो उसे चिमटी से पकड कर निकाल देना चाहिए।

(२) यदि पदार्थ ज्यादा अन्दर चला गया हो और गर्भाशय तक पहुँच गया हो तो उसे शल्य कर्म द्वारा निकालना चाहिए।

(३) यदि जलौका फस गई हो तो नमक के पानी की पिचकारी लगानी चाहिए। इससे जलौका स्थान से हट जाती है और पानी के साथ बाहर आ जाती है।

(६) श्वास प्रणाली में प्रविष्ट द्रव्य (Foreign bodies in the Trachea)

(१) श्वास प्रणाली में किसी पदार्थ के फंसने से बहुत तकलीफ होती है और व्यक्ति का दम घुटने लगता है। इसके लिए सर्व प्रथम टोर्च द्वारा प्रकाश डाल कर वास्तविक स्थिति जाननो चाहिए। यदि पदार्थ नजदीक हो और अंगुली की पकड़ में हो तो अंगुली से पकड़ कर निकालना चाहिए।

(२) यदि अंगुली की पकड़ से दूर हो तो तार का हुक बना कर उससे पदार्थ को निकालना चाहिए।

(३) यदि श्वास लेने मे कठिनता हो तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए।

धूमोपहत Asphyxia (धूए से घुटा हुआ)

धूए के अन्दर अनेक प्रकार की विषैली गैसे मिली रहती हैं। जैसे कार्बन डाइ-ओक्साइड "कार्बन मोनो ओक्साइड" गन्धक का धूंआ आदि इनके श्वास द्वारा फुफ्फुसों में पहुंचने पर रक्त को आवश्यक ओक्सीजन नही मिलती है, जिससे रक्त दूषित हो जाता है, जिसके कारण रोगी को श्वांस में कठिनाई होती है। उसे छींके आती हैं, आँखों में जलन होती है, मुख लाल हो जाता है, और श्वास धूआ-सा निकलने लगता है। इसके बाद शरीर अकड़ जाता है, उसे बहुत प्यास लगती है, और ज्वर हो जाता है, अन्त में रोगी बेहोश (मूर्च्छित) होकर मर जाता है।

सामान्य चिकित्सा

१. रोगी को धूंए के स्थान से हटा कर खुली हवा में रखना चाहिए।

२. गले व वक्ष पर यदि तंग कपड़े हों तो उन्हे उतार देने चाहिए अथवा ढीले कर देने चाहिए।

३. वक्ष और मुख पर ठण्डे पानी के छींटे देने चाहिए।

४. जीभ को पकड़ कर बीच २ में बाहर खीचते रहना चाहिए।

५. हाथों पैरों पर गर्म सेक करना चाहिए।

६. **वमन:**—रोगी को घी, गन्ने का रस, दूध अथवा शर्बत पिला कर वमन करांना चाहिए, अथवा आमाशय प्रक्षालन करना चाहिए।

७. **शिरो विरेचन:**—रोगी के बलाबल को देखकर नस्य देना चाहिए "कट्फल चूर्ण" "त्रिकटु चूर्ण" उत्तम है। नव्य चिकित्सक अमूनिया गैस सुंघाते हैं।

विशेष चिकित्सा:—उपरोक्त उपायों से रोगी स्वस्थ हो जाता है, विशेष अवस्था में निम्नलिखित विशेष विधियों का प्रयोग किया जाता है।

१. रोगी को कृत्रिम श्वांस देना।

२. रोगी को ओक्सीजन देते है, इसके लिए विशेष प्रकार की मशीन आती है, जिसका उपयोग बड़े चिकित्सालयों में किया जाता है।

३. रोगी की अवस्था ज्यादा खराब मालूम होती हो तो "शिरावेध" करके ४० से ८० तोला तक खराब रक्त निकाल देते हैं। और उतनी ही मात्रा मे शिरा के द्वारा लवणोदक (नोरमल सेलाइन) देते हैं।

४. रोगी के हृदय के लिए उत्तेजक औषधियां देनी चाहिए, जैसे:—"जवाहर मोहरा" "ब्राह्मीवटी" अथवा "कोरामीन" सूची (इन्जेक्शन) व वटी व प्रवाही आदि।

इन विधियों के द्वारा हृदय और श्वांस के मस्तिष्क में स्थित केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं, जिससे श्वास अवरोध (रुकावट) दूर हो कर श्वास क्रिया ठीक चलने लगती है।

अग्निदग्ध (Burn)

सुश्रुत में अग्निकर्म का वर्णन किया गया है। चिकित्सा की दृष्टि से कई रोगों में अग्नि कर्म किया जाता है, परन्तु अग्निकर्म के अतिरिक्त समय में आकस्मिक दाह हो जाने पर जो अवस्था उत्पन्न होती है, उसे इतरथा दग्ध कहते हैं। यह आकस्मिक दग्ध जब किसी उष्ण द्रव द्वारा होता है, तो उसे स्निग्ध दाह कहते है। जैसे गर्म पानी, गर्म तेल आदि। जब यह आकस्मिक दाह रूक्ष पदार्थों से होता है, तो उसे रूक्ष दग्ध कहते हैं—जैसे तपा हुआ लोहा, अग्नि की ज्वाला, इसमें से स्निग्ध दाह अधिक भयंकर होता है।

अग्निदग्ध के भेद:—अग्निदग्ध की गहराई व विस्तार के अनुसार चार भेद किये जाते हैं।

१. प्लुष्ट:—इसमें त्वचा झुलस जाती है और उसका रंग बदल जाता है, इसका प्रभाव त्वचा के वाह्य स्तर पर होता है।

२. दुर्दग्ध:—इसमें त्वचा में बड़े २ फफोले पड़ जाते हैं। जलन अत्यधिक होती है। त्वचा का रंग लाल हो जाता है, अत्यधिक पीड़ा होती है।

३. सम्यक् दग्ध:—इस अवस्था में व्रण बहुत अधिक गहरा नहीं होता, परन्तु दूसरी अवस्था की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। जो व्रण बनता है, उसका रंग ताड़ के फल के समान होता है। इसके अतिरिक्त वेदना और दाह अधिक होते हैं। परन्तु उसका प्रभाव अधिक गहरा नही होता है। और उसके कारण त्वचा की स्वेद ग्रन्थियां और स्पर्शांकुर जल जाते है, तो वेदना बहुत अधिक होती है।

अतिदग्ध:—इसमें त्वचा की सब सतह (तह) जल जाती है। मांसपेशियां, शिरा, स्नायु और अस्थि तक इसका प्रभाव हो जाता है। रोगी को ज्वर दाह मूर्च्छा और तृष्णा (प्यास) आदि लक्षण होते हैं। उसके अंगों में विकृति हो जाती है। और व्रण भरने में कठिनाई होती है।

लक्षण:—उपरोक्त स्थानीय लक्षणों के अतिरिक्त अग्निदग्ध का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है। सुश्रुत ने लिखा है कि अग्निदग्ध से मनुष्य का रक्त दूषित हो जाता है और यह रक्त पित्त को कुपित करता है। इस प्रकार पित्त और रक्त के तुल्य वीर्य होने से प्रभावित मनुष्य को अत्यन्त पीड़ा, ज्वर, दाह आदि लक्षण होते हैं।

अग्निदग्ध के बारे में निम्न बाते विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

अग्निदग्ध की गहराई की अपेक्षा उसका विस्तार अधिक होना कष्टदायक होता है।

बच्चों का दग्ध व्रण अधिक भयंकर होता है। मर्मस्थान का दग्ध अधिक कष्ट-कारक होता है। उसके पेट की दीवार के जलने पर (दग्ध होने पर) मृत्यु तक हो जाती है।

चिकित्सा:—

१. रोगी को ठण्डी हवा नहीं लगनी चाहिये। उसे गर्म कमरे में रखना चाहिये।

२. उसे गर्म उत्तेजक पेय जैसे—चाय, कॉफी आदि पिलानी चाहिये।

२. अधिक पीड़ा होने पर सूक्ष्ममात्रा में अफीम देना चाहिये, अथवा मार्फिया सूची (इन्जेक्शन) लगाना चाहिये।

४. प्लुष्ट की अवस्था में रोगी को गर्म रखना चाहिये।

५. दुर्दग्ध की अवस्था में फफोलों को फोड़ कर (काट कर) हरड़ और बहेड़े के कषाय से धोना चाहिये। और इसके बाद निम्न प्रकार का लेप करना चाहिये।

शुद्ध चूना १० ग्राम। मोम २० ग्राम। नारियल का तेल १६० ग्राम। सबसे पहले मोम और तेल को मिला कर अग्नि पर गर्म करे, उसके बाद उसमें चूना मिला दे, यह लेप अग्निदग्ध में फायदेवन्द है। अथवा फफोलों को नहीं काटना चाहिये तथा उस पर हल्के तोल के गर्म तेल से सेक करना चाहिये। और उसके ऊपर वंशलोचन, रतनजोत, मेंहदी और टंकण इन्हें समान मात्रा में मिला कर चूर्ण बना लिया जाता है और फफोलों पर छिड़कते हैं।

७. सम्यक दग्ध में उपरोक्त चूर्ण को घृत में मिला कर अथवा नारियल के तेल में मिला कर लेप (उपनाह) करते हैं।

७. रोगी को खाने के लिये "अकीक भस्म" बहुत उत्तम है।

जलनिमग्न (जल में डूबना) से संज्ञानयन (होश में लाना) का उपाय

डूबना:—मृत्यु का वह रूप है जिसमें सारा शरीर अथवा केवल मुख नासिका के पानी में अथवा किसी अन्य द्रव में डूबे रहने से फुफ्फुसों में वायुमंडल की वायु प्रवेश नहीं कर सकती।

अवस्थाएं

जब कोई व्यक्ति पानी में गिरता है तो वह शरीर के भार के कारण उसमें डूब जाता है, परन्तु हाथों और पैरों के चलने के कारण पानी के ऊपर आ जाता है। यदि वह व्यक्ति तैरना नही जानता है तो अपनी सहायता के लिए चिल्लाता है। इस समय पानी उसके मुख और नाक में प्रवेश कर जाता है तथा वहां से आमाशय और फुफ्फुसों में पहुच जाता है, फुफ्फुसों में पानी के पहुंचने से कास (खांसी) उत्पन्न होती है जिसके कारण फुफ्फुसों की वायु बाहर निकल जाती है और वायु के स्थान पर पानी पहुंच जाता है इस प्रकार शरीर का भार बढ जाता है और वह पुन: डूब जाता है इसके बाद हाथों पैरों की अनैच्छिक गति से वह फिर पानी की सतह पर आ जाता है, इस समय थोड़ा सा पानी दुबारा फुफ्फुसों में पहुंच जाता है और व्यक्ति दुबारा पानी में डूब जाता है। इस प्रकार पानी में डूबना और ऊपर आना तब तक होता है जब तक कि फुफ्फुसों की सम्पूर्ण वायु बाहर नहीं निकल जाती। और उसके स्थान पर पानी नहीं भर जाता है ऐसा प्राय: करके तीन बार होता है इसके बाद व्यक्ति मूच्छित हो जाता है और पानी के नीचे पहुंच कर मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा

१. यदि कोई व्यक्ति पानी में एक घन्टा रह जाता है तो उसे मृत समझना चाहिये

तथापि व्यक्ति को बचाने के लिए शान्ति से और सावधानी से प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न जल्दी से जल्दी शुरू कर देना चाहिए और कम से कम एक घन्टा तक जारी रखना चाहिए। इसमें विशेष कर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति की श्वांस की गति प्रारम्भ हो जाय।

२. व्यक्ति के पहने हुए कपड़े ढीले कर देना चाहिए।

३. उसके मुंह के अन्दर अंगुली डाल कर फसे हुए कीचड़, घास, मिट्टी आदि को निकाल देना चाहिए।

४. यदि डूबा हुआ व्यक्ति बच्चा हो तो उसे उल्टा लटका देना चाहिए और यदि युवा व्यक्ति हो तो उसे कमर से पकड़ कर लटका देना चाहिए, ऐसे कुछ सैकेण्ड तक रखते हैं जिससे कि फेफड़ों का पानी बाहर आ जाय और यदि कोई व्यक्ति बहुत मोटा और भारी हो जिसको एक व्यक्ति नहीं उठा सकता हो तो उसके पेट के नीचे कुछ कपड़ा रख कर मुंह से पानी निकालने का यत्न करना चाहिये।

५. यदि व्यक्ति का श्वास चलता हो तो उसे अमोनियां सुंघानी चाहिए और उसकी छाती तथा अंगों को सेक करना चाहिए अथवा मालिश करनी चाहिए।

६. यदि व्यक्ति का श्वास रुक गया हो तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए।

कृत्रिम श्वास-संचार

यदि रोगी का श्वास रुक जाता है तब कृत्रिम श्वास करना पड़ता है। कई अवस्थाओं में इसका करना आवश्यक हो जाता है:—रोगी के गले में फांसी आने पर पानी आदि मे डूबने पर धुएं से घुटने पर यह क्रिया लाभदायक होती है इसकी तीन विधियां प्रचलित हैं।

(१) प्रोफेसर शेफर की विधि (२) डॉ० सिलवेस्टर की विधि (३) लेबोर्डे की विधि।

१. प्रोफेसर शेफर की विधि:—

पानी में डूबे हुए व्यक्तियों में यह विधि अधिक लाभदायक होती है इसमें रोगी को भूमि पर मुख नीचा करके लेटा दिया जाता है उसकी छाती के नीचे एक तकिया रख दिया जाता है उसका मुख एक तरफ मोड़ दिया जाता है जिससे कि नाक और मुख से श्वास आ जा सके, इसके बाद चिकित्सक रोगी की पीठ पर दोनों ओर जमीन में घुटने टेक कर सवार हो जाता है परन्तु वह रोगी की पीठ पर बैठता नही है इसके बाद अपने दोनों हाथों को रोगी की छाती के नीचे दोनों तरफ रखता है और आगे झुक कर अपने शरीर के भार को हाथों पर डाल कर रोगी की छाती को खूब दबाता है जिससे फेफड़े सिकुड़ जाते हैं इसके बाद वह अपने शरीर को फिर पीछे की ओर पूर्व दशा में ले आता हैं जिससे छाती का

दबाव हट जाता है और सिकुड़े हुए फेफड़े फैल जाते हैं जिसके कारण बाहर की वायु भीतर को खींच आती है।

२. डॉ० सिलवेस्टर की विधि:—

रोगी को मेज या तख्त पर पीठ के बल लेटा दिया जाता है उसके शिर को थोड़ ऊँचा उठा दिया जाता है और जीभ को आगे की ओर खीच लिया जाता है वह क्रिया अत्यावश्यक है क्यों कि अचेतनावस्था मे जीभ की जड़ पीछे को मुड़ जाती है इसके बाद चिकित्सक रोगी के सिरहाने की तरफ खड़ा होकर कोहनी से रोगी की दोनों भुजाओं को पकड़ कर उसकी छाती के दोनों ओर रख कर अपने पूरे जोर से दाबता है जिससे छाती दबती है भीतर की वायु बाहर निकल जाती है इसके बाद चिकित्सक वहां से दोनों भुजाओं को पकड़ कर बलपूर्वक रोगी के शिर की तरफ ऊपर की ओर ले जाता है। जिससे छाती चौड़ी होती है, फेफड़े फैलते हैं, इससे वायु फेफड़ों में प्रवेश करती है। यह क्रिया एक मिनट में पन्द्रह बार से अधिक नहीं करनी चाहिए। कम से कम आधे घन्टे तक करनी चाहिए।

डॉ० लेबोर्ड की विधि:—इस विधि में रोगी की जीभ को रूमाल की सहायता से पकड़ कर आगे की ओर खींचते हैं और छोड़ते हैं। यह क्रिया एक मिनट में पन्द्रह बार करनी चाहिए, इस विधि का उपयोग स्वतन्त्र रूप से अथवा अन्य विधियों के साथ करना चाहिए।

शिशु व्याधियां

वैद्या दुर्गादेवी सोलंकी, जोधपुर

[वैद्या दुर्गादेवी सोलंकी ने आयुर्वेद की शिक्षा अपने पति श्रीमान् ऋषिदेवजी सोलंकी, भिषगाचार्य से ही प्राप्त की है। आप इन्डियन मेडिसिन बोर्ड, जयपुर (राजस्थान) की भूतपूर्व सदस्या थीं। श्रीमती सोलंकी वैद्याचार्य, आयुर्वेदरत्न है। समयाभाव रहते हुए भी बालरोग विशेषज्ञ होने से बाल "शिशु व्याधियां" नामक लेख लिखा है जो छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

नवजात शिशु का शरीर अति कोमल होता है तथा वह नवीन वातावरण में आया है ऐसी स्थिति में प्रसवकालीन आघात तथा नालच्छेद कर्म में या उसके बाद की अशुद्धि तथा असावधानी से संक्रामक जीवाणुओं के आक्रमण से विविध प्रकार के रोग हो जाते हैं। जैसे ज्वर, श्वसन क्रिया में कठिनाई, जिसे दूर करने के लिए नासामार्ग को साफ करना या कृत्रिम श्वसन करना चाहिए। नाभि नाड़ी पांच दिन में गिर जानी चाहिए और उसके तीन दिन बाद ठीक हो जानी चाहिए परन्तु कभी २ इससे रक्त रस आने लगता है, ऐसी स्थिति में दिन मे दो बार अल्प तुत्थ को उष्ण घी में डाल कर पिचु से लगाए। नाभि काटने मे अशुद्धि रहने से निम्न रोग हो जाते हैं।

१ उत्तुण्डिका- लम्बाई चौड़ाई में फैल कर ऊपर उठ जाना।

२ पिण्डलिका- मण्डलाकृति में।

३ विनाभिका- बीच में दबकर इधर उधर शोथ।

४ विजृम्भिका- बार २ बढ़ जाना।

इनमें वायु और पित्त विरोधी द्रव्यों से साधित घी का सेक करें।

५ नाभितुण्डि- वायु से आध्मान तथा वेदनायुक्त।

६ नाभिपाक- मृत्पिण्डस्वेदन, तैल से सेक करें।

नाभिकुण्डल- चारों ओर कुण्डलाकार शोथ।

नाभिनाड़ी शोथ Omphalitis नाभिपाक Septic thrombosis जिसका कि परिणाम जीवाणु संक्रमण General Septicaemia हो कर नाना विकार हो जाते हैं। जैसे हनुस्तंभ, रक्तस्राव, विस्फोट आदि।

शिरः कपालवृद्धि- यह प्रायः पार्श्विकास्थियों में अस्थि तथा अस्थिवेष्ट के मध्य रक्त संचय से हो जाता है जो कि लगभग ३ माह में ठीक हो जाता है। नेत्राभिष्यन्द- जन्म के ३ सप्ताह के भीतर पूयमय नेत्राभिष्यन्द गोनों को कसके संक्रमण से होता है। शिशु के खण्डौष्ट या तालु विदार तो नहीं। या क्षीरा लसक तो नहीं हो रहा है।

क्षीरालसक	Epidermic Diarrhora	पीत, श्वेत, मूत्रता, तृष्णा ज्वर च्छर्दि अरुचि वमन, अंत्रकूजन,	वचादिगण, निशादिगण
विबन्ध	Constipation	पोषकमात्रा की अल्पता,	शर्करामिश्रित दूध, अमलतास सिद्ध दुग्ध
गुदपाक			रसांजनलेप, अजा दूध से
रुद्धगुद		गुदा का स्रोत संकुचित होना,	अमलतास सिद्ध दुग्ध गुदवर्ती
गुदभ्रंश		मलाशय की कला का बाहिर आना,	स्नेहाभ्यक्त, वस्वेदनकर प्रविष्ट करें। गोफणा बन्द करें।
गण्डूपदकृमि	Round worm	रुक्क्शोथ, आध्मान, अतिसार शीतपित, मल में रक्त	पलाशबीजादिचूर्ण
सूत्रकृमि	Threed worm	उदर-शीर्ष शूल, क्षय	पारदमलहर, गन्धकवटी
स्फीतकृमि	Tape worm	मल परीक्षा से	त्रिवृतादीकल्क
बालशोष	Wasting	कफवहस्रोतों रोध से अरुचि, अनशन, अजीर्ण आदि से दौर्बल्य	मयूरपिच्छभस्म, मुक्तापंचामृत, कच्छापास्थिभस्म, गोदन्ती, चरकोक्त, उत्तमपरिचर्या, कुमारकल्याण-शिवामोदक
फक्क	Rickets	पैरों से न चलना, मूक, आस्थिवक्रता	कल्याणक, षट्पल, ब्राह्मी घृत या दुग्ध का प्रयोग। राजतैल का अभ्यंग, नीललोहितातीतकिरण चिकित्सा
आमवात	Rheumatism In childhood	सधिशूल, आमवातज ग्रन्थियां हृद्गत विकृतियां, रक्तविस्फोट, आक्षेप उरस्तोय, तुण्डीकेरी	शर्करा, रसोनप्रयोग
श्वासप्रणालीशोथ	Bronchitis	सस्वर घर्घरशब्द,	उष्णपेयर्द। मुक्तादिचूर्ण, रसोनक्षीर प्रयोग।
मसूरिका		दोषानुसार, धातु अनुसार,	मांस्यादि क्वाथ, रुद्राक्षा काली मिरच का घासा,
कर्णमूलिकशोथ	Mumps	शूनमुखता, ज्वर	कालीजीरी अफीम का लेप, प्रस्तरस्वेदन,
रोहिणी	Diptheria	हृदय व नाड़ी संस्थान पर विषैला प्रभाव भूरे से सफेद रंग के कंठ में धब्बे दुर्गन्ध प्रश्वास, फूली हुई ग्रैविक ग्रन्थियो	रसो न शर्करा प्रयोग

आन्त्रिक ज्वर	Typhoid fever	ज्वर, दाह, भ्रम, वमि, तृषा, मुखशोष, सर्षपसमान ग्रिवामे स्फोट	खूबकला २ माशे, मुनक्का ५ दाने, वनपशा ३ माशे गुडूची १ माशा, तुलसी पत्र १०, क्वाथ मधु, पीपर शुण्ठी मिला कर
मस्तिष्कावरण-शोथ	Meningitis		
पूर्वरूपावस्था	Prod romal Stage	शिरः शूल, वमन विबन्ध, तीव्र ज्वर	दशमूल दुग्ध
प्रक्षोभावस्था	Irritative Stage	उन्सेध, मन्यास्तम्भ	
अंगघातिकावस्था	Paralytic	वक्रदृष्टि, आन्ध्य, बाधिर्य, अर्दित, सर्वांग-अर्धांगघात	व्योषादि वटी, गोजिह्वादिक्वाथ
तालुकंटक		अतिसार, तालुपात, तृषा, बमन	मधुरक सिद्ध घृत, हरीतकी, वचा, कुष्ट चूर्ण मधु से
नाड़ीशोथ	nue rilis		

शल्य

लेखक : वैद्य माधवलाल जोशी, जोधपुर

[श्री माधवलालजी जोशी स्थानीय सरदार आयुर्वेद औषधालय (दातव्य) के प्रधान चिकित्सक हैं व संजीवन आयुर्वेद फार्मेसी के सञ्चालक भी। आप राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री एवं मारवाड़ आयुर्वेद प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे है। श्री जोशी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आयुर्वेद की व विद्यापीठ की परीक्षाओं के परीक्षक, निरीक्षक कई वर्षों से रहते आये है आप मिलनसार, कुशल औषधि-निर्माता एवं शिक्षाशास्त्री हैं। आपके आयुर्वेद क्षेत्र में अनेक शिष्य हैं। चरित्रनायक के आप कृपापात्र विश्वस्त व्यक्तियों में हैं। आप अभिनन्दन ग्रन्थ में सम्पादक मण्डल के सदस्य हैं। समयाभाव रहते हुए भी 'शल्य' नामक संक्षिप्त लेख लिखा है वह छात्रोपयोगी है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

अथर्ववेद के रूपांग आयुर्वेद के ८ अंग हैं, शल्य, शालाक्य, काय, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद, रसायन तथा वाजीकरण हैं।

शरीर तथा अन्तःकरण में पीड़ा करने वालों को शल्य कहते हैं। उदाहरण के रूप में तृण, काष्ठ, पत्थर, धूलि, लौह, मिट्टी, हड्डी, केश, नाखून, पूय, स्राव आदि विजातीय द्रव्यों के प्रवेश से तथा दूषित व्रण, गर्भ (मृत) आदि शरीर की प्रकृति मे विकृति कराने के कारण अन्तः शल्य कहे जाते हैं - इन अन्तः शल्यों को शरीर से बाहिर निकालने के उपाय - यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि व व्रणों की आम, पच्यमान और पक्व अवस्था आदि के ज्ञान को बताने वाले शास्त्र को शल्य तन्त्र (Surgery) कहते हैं।

शल्यतन्त्र की श्रेष्ठता:–विकृत प्रदेश को रुजा कर तत्वों को संपूर्णतया देह से पृथक करने का सर्वश्रेष्ठ साधन इस तन्त्र से प्राप्त होता है, अतः इससे पुण्य तथा यश सत्वर मिल जाता है।

शस्त्र तथा प्रायोगिक ज्ञान को महत्व देते हुए इस संप्रदाय ने कर्म क्षेत्र में प्रवृत्ति से पूर्व योग्या (कर्माभ्यास) पर विशेष बल दिया है।

शल्य को निकालने के उपाय को यन्त्र कहते हैं। इनमें प्रधानता चिकित्सक के हाथ की है। इनकी संख्या अनिश्चित या सैकड़ों है। ये आवश्यकता के अनुसार बनाये जा सकते हैं। प्रकार भेद से इन्हें ६ प्रकार के माने जाते हैं।

१ स्वस्तिक यन्त्र (Cruciform Instruments)

२ संदश यन्त्र (Forceps)

३ ताल यन्त्र (Scoop or spoon)

४ नाड़ी यन्त्र (Subular Instrument)

५ शलाका यन्त्र (Rods)

६ उपयन्त्र (Accessory Instruments)

(१) स्वस्तिक यन्त्र—इनकी आकृति स्वस्तिक के आकार की होती है। इनकी संख्या २४ बतलाई है। इनकी आकृति विविध पशु पक्षियों पर दी गई है। जैसें श्येन मुख स्वस्तिक यन्त्र (Universal tooth forceps), धमनी ग्राही स्वस्तिक यन्त्र (Arteny-forceps), कौच मुख स्वस्तिक यन्त्र (Bullet forceps), इत्यादि।

(२) संदश यन्त्र— इसे आजकल व्रणोपयोगी चिमटी (Dressing forceps) कहा है। इनमें कील नहीं होती है। ये दो प्रकार की हैं (१) सनिग्रह जिनमे कील होती है (२) अनिग्रह जिनमें कील नही होती है। वाग्भट्ट ने तीसरे प्रकार के संदंश यन्त्र का वर्णन किया है जिसे भुचुण्डी कहा है। इसमें एक छल्ला लगा होता है जिससे चिमटी खुलती और बन्द होती है।

(३) तालयन्त्र— इनकी आकृति मछली के तालु के समान बतलाई है। ये दो प्रकार के होते हैं (१) एक ताल (Single scoop) (२) द्विताल (Double scoops) इनका कार्य कर्ण नासा और नाड़ी व्रण इत्यादि से शल्य को निकालना है।

(४) नाड़ी यन्त्र— ये भीतर से खोखले होते हैं। कुछ एक ओर खुले होते हैं और आजकल इनका बहुत प्रयोग किया जाता है जैसे नासा देखने के लिए Nasal speeulum। गुदा देखने के लिए Rectal speeulum इत्यादि। इनकी संख्या २० बतलाई है।

(५) शलाका यन्त्र— इनकी आकृति शलाका की तरह होती है और इनकी संख्या २८ बतलाई है। जैसे गण्डूपद मुख शलाका (Blunl probe) सर्पफण मुखी शलाका (Retractors) इत्यादि।

(६) उपयन्त्र— यन्त्रों में सहायता करने वाले पदार्थों को उपयन्त्र कहते हैं। इनकी संख्या २५ बतलाई है जैसे रज्जु, वस्त्र, पट्टी, लता इत्यादि।

शस्त्र (Sharp Instruments)

तेज धातु वाले हथियारो को शस्त्र कहते हैं। सुश्रुत ने इनकी संख्या २० तथा वाग्भट्ट ने इनकी संख्या २६ बतलाई है।

१ मण्डलाग्र (Sharp spoon) २ करपत्र (Saw) ३ वृद्धिपत्र (Scalpels) ४ नखशस्त्र (Nail parer) ५ मुद्रिका शस्त्र (Ring Knife) ६ उत्पल शस्त्र (Lancet) ७ अर्धधार शस्त्र (Helf edged Knife) ८ सूची (Suture Needle) ९ कुशपत्र

(Paget's Knife) १० आटोमुख (Lancet) ११ शरारी मुख (Scissors) १२ अन्तर्मुख (Syme's Abscess knife) १३ त्रिकूर्चक (Brush) १४ कुठारिका (Axe) १५ व्रीहिमुख (Trocar and canula) १६ आस्र (Awe) १७ वेतसपत्र (Senald knife) १८ बडिश शस्त्र (Sharp Hooks) १९ दन्तशंकु (Tooth scaler) २० एषणी (Sharp probe)

वाग्भट्ट के अनुसार:—

१ सर्पास्य (Snake lancet) २ लिंग नाश वेधिनी शलाका (Catract Needle) ३ कूर्च (Brush) ४ खज (मथाणी) ५ कर्तरी (Pair of Scissors) ६ कर्णवेधनशस्त्र

कौंसिल आफ स्टेट बोर्डस् एण्ड फैकल्टीज आफ इंडियन मेडिसिन

ले० : श्री प्रेमशंकर शर्मा, भिषगाचार्य

[राजवैद्य श्री प्रेमशंकरजी शर्मा चिकित्सक चूडामणि, आयुर्वेदपारगत सिद्धवैद्य श्री शंकरलालजी शर्मा के सुपुत्र हैं, तथा भारत के सर्वोच्च कोटि के विद्वान् युगप्रवर्तक स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी के प्रिय शिष्यों में से हैं। आप भी आयुर्वेद के उद्भट विद्वान् हैं अतः आयुर्वेदबृहस्पति, प्राणाचार्य तथा विद्यार्णव, आयुर्वेदमहोपाध्याय हैं। आप राजस्थान में आयुर्वेद विभाग के सर्वोच्च निदेशक पद पर आसीन होकर आयुर्वेद की सर्वांगीण सेवा कर रहे हैं। आपने कौंसिल ऑफ स्टेट बोर्डस् एण्ड फैकल्टीज ऑफ इन्डियन मेडिसिन के १२ वें अधिवेशन पटना के अध्यक्ष पद से जो सारगर्भित, शुद्ध व मिश्र पाठ्यक्रम के बारे में उद्‌बोधन दिया उसके अंश हृदयगम करने के योग्य हैं। आप संपादक मंडल के सदस्य हैं। आपका सर्वविध सहयोग रहा है तथा चरित्रनायक के प्रति अत्यधिक आस्था है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

व्याख्यामासरसप्रकाशनमिदं त्वस्मिन्यदि प्राप्यते
क्वापि क्वापि कणो गुणस्य तदसौ कर्णेक्षणं दीयताम् ।।

आयुर्वेद-चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों के विषय मे संक्षेप से विचार करने पर चिकित्सा एवं स्वास्थ्य की आधारभूमि लोक शब्द की महत्ता पर ही सभी पदार्थ केन्द्रित हैं, जैसा कि सुश्रुत ने "पंचविंशतितत्वामक पुरुष माना है और चरक ने चतुर्विंशतितत्वामक पुरुष माना है। और षड्‌धातुक पुरुष भी। और केवल एक चेतना धातु को भी पुरुष माना है परन्तु एक चेतना धातु चिकित्सा का अधिष्ठान नहीं। अतः षड्‌धातुक-पुरुष चातुर्विंशिकी या पंचविंशतितत्वात्मक पुरुष को ही चिकित्सा का आधार माना है। या रोग अथवा आरोग्य का अधिष्ठान स्वीकृत किया गया है जैसा कि चरक सूत्रस्थान में:

"सत्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतद् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
सपुमान् चेतनं तच्चतच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थंहि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः च०सू० १। ४५-४६

इससे यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का आधार स्वस्थ शरीर या अस्वस्थ शरीर है। इसलिए आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के दो मुख्य प्रयोजन माने गये हैं, जैसा कि स्वास्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, आतुरस्य विकार-प्रशमने अप्रमादः से स्पष्ट है। स्वस्थ शरीर के लक्षण प्रसंग में दोष अग्नि अथवा धातु आदि की समानता मानने के साथ-साथ आत्मा एवं मन की प्रसन्नता का भी महत्व माना गया है। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार स्वस्थ का लक्षण निम्न प्रकार है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थइत्यभिधीयते॥

इससे स्पष्ट ही स्वास्थ्य का आश्रय शरीर और मन माना गया है। इसी प्रकार व्याधियों का आश्रय भी शरीर और मन को ही स्वीकृत किया है।

शरीरं सत्वसंज्ञञ्च व्याधीनामाश्रयोमतः तथा सुखानाम्—सु०प्र०

इस विवेचना से वैज्ञानिकों के सम्मुख यह विशेष विवादास्पद विषय नहीं है कि स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए शरीर के रसरक्तादि धातु-दूष्य-धमनी, शिरा, रसायनी, स्नायु आदि स्रोत, हृदय, यकृत् प्लीहा आदि अवयव और वात-पित्त-कफ दोषों की समान क्रिया से स्वास्थ्य और असमान क्रिया से अस्वास्थ्य की परंपराएं चलती हैं। अस्वास्थ्य की परम्पराओं के चालू रखने में नानाविध रोग या रोगसमूह कारण हैं अतः आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान सम्मत समस्त सामान्य विशेष द्रव्य गुण, कर्म और प्रभावसंज्ञक पदार्थों का सम्यक् और असम्यक् प्रयोग ही क्रमशः स्वास्थ्य और रोग के कारण हैं। इस विवेचना से स्वस्थ व्यक्ति के लिए स्वस्थवृत का अनुष्ठान एवं सदाचार सेवन आवश्यक है, जिससे अनागत रोगों से बचने का अवसर उपस्थित होता है। परन्तु दूष्य और दोषों की असमानता या विकृति से अनेक रोग जब होते हैं उस समय असंख्य रोग भेदों के होते हुए भी एव चिकित्सा की सुविधा के लिए वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक रोगों को भी हम दो भेदों में ही विभाजित कर सकते हैं। प्रथम रोगसमूह को सौम्य रोग समूह में तथा दूसरे को आग्नेय रोग-समूह में वर्गीकृत किया जा सकता है, क्योंकि 'अग्निषोमात्मकं जगत्'—इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पदार्थ आग्नेय और सौम्य दो भेदों में ही विभक्त किये जा सकते हैं। शरीर के घटक रसरक्तादि धातु और वातपित्तकफ दोष और विविध मलों को आग्नेय और सौम्य वर्ग में रख सकते हैं। अस्थि, रक्त, पित्त, आग्नेय वर्ग में, रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र और कफ सौम्य वर्ग में, इसी तरह धमनियां एवं पित्तवाहिनियाँ आग्नेय वर्ग में, शिराएँ, रसनीया आदि सौम्यवर्ग में परिगणित कर सकते हैं। दोषों में भी वात, पित्त को आग्नेय वर्ग में तथा कफ को सौम्य वर्ग में मानते हुए इनके प्रभाव भी शरीर में उष्ण और शीत रूप में प्रतिभासित होते हैं। अतः प्रत्येक सौम्य व्याधि में आग्नेय आहार-विहार और औषध का

सहज बल
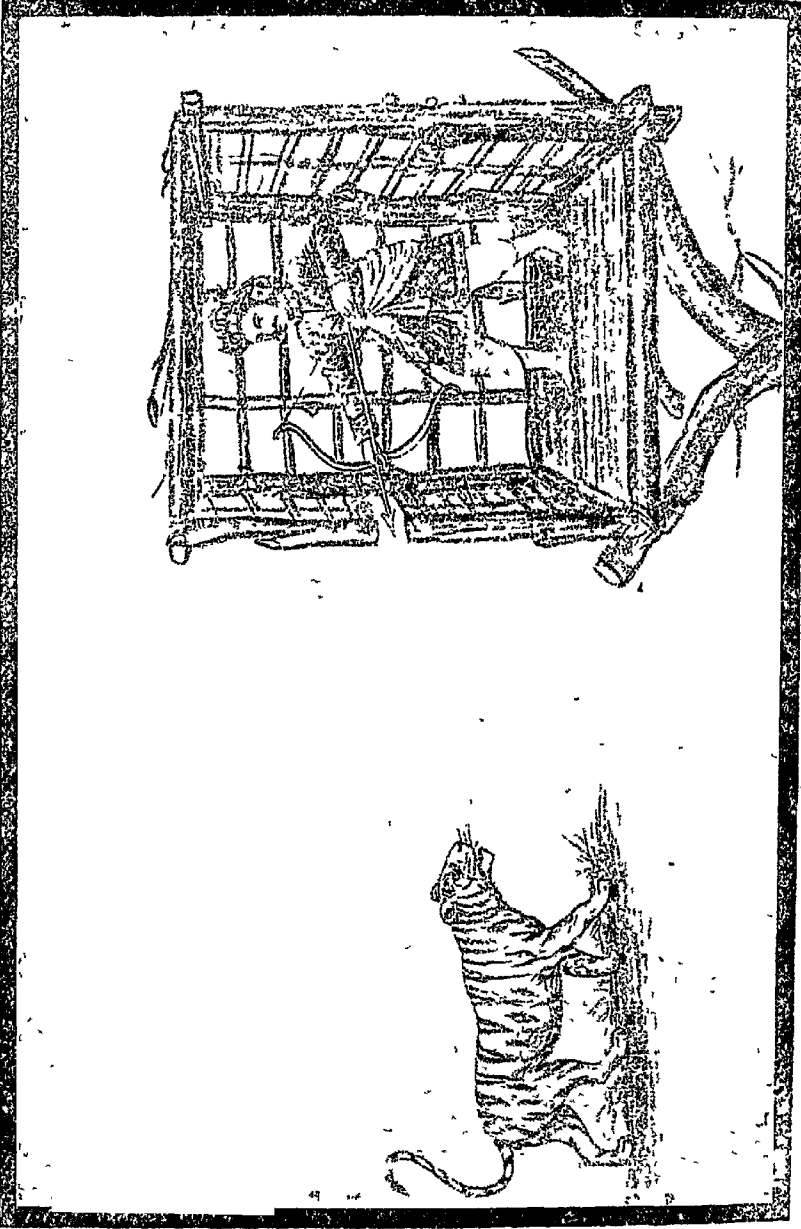
युक्तिकृत बल

उपयोग और प्रत्येक आग्नेय व्याधि में सौम्य आहार-विहार एवं औषधि का उपयोग करने से लाभ होता है। यही एक कायचिकित्सा का आधारबिन्दु है, जिसके सम्यक अनुशीलन से समस्त रोगों की चिकित्सा में कुशलता प्राप्त होती है। इसी सौम्याग्नेय रोगसमूह को सतर्पण तथा अपतर्पणजन्य व्याधिसमूह भी स्वीकृत किया है जैसा कि चरक के लंघन बृंहणीय अध्याय में।

"लघन बृंहण काले रुक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदन स्तम्भनं चैव जानीते यःस वै भिषक्॥

इसमें भी लंघन, रुक्षण और स्वेदन ये तीन उपक्रम आग्नेय वर्ग में या अपतर्पण वर्ग मे समाविष्ट हैं और बृंहण, स्नेहन तथा स्तंभन ये भी उपक्रम सौम्यवर्ग में या संतर्पण वर्ग मे माने गये। इससे यह संकेत किया गया है कि मात्रा और काल का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त छहों उपक्रम सभी साध्य रोगों के निवारण में सफल माने हैं। इस तरह चिकित्सा को छः उपक्रमों में विभक्त करके भी सौम्य-आग्नेय भेद से या संतर्पण अपतर्पण भेद से दो प्रकार की मानी गई है। आयुर्वेद सम्मत इस सिद्धान्त से यह समझने में कठिनता नहीं होती है कि सौम्य कारणों से उत्पन्न रोग समूह में अपतर्पण या आग्नेय चिकित्सा की जाती है और आग्नेय कारणो से उत्पन्न रोगों मे सौम्य या संतर्पण चिकित्सा की जाती है।

इस सौम्य और आग्नेय द्विविध रोग समूह में वायव्य रोग का तीसरा भेद भी वायु के योग का ही होने से सौम्य व आग्नेय में ही वायव्य रोगसमूह भी अन्तर्भूत होते हैं। इससे धनुर्वातादि शुद्ध वातजन्य रोगों में भी पित्त और कफ का साहचर्य होने से वातरोगों में जो आहार, विहार और औषधकल्पना में सौम्य और आग्नेय का दृष्टिकोण रखना पड़ता है और आवरक एवं धातुक्षयजन्य वात रोगों में संशोधन या अपतर्पण, बृंहण या सन्तर्पण, दूसरे शब्दों मे आग्नेय या सौम्य चिकित्सा विधियों का ही आश्रय लेना पड़ता है। यह एक विचारशैली है जिससे कि हम पथ्य एवं औषध कल्पना के लिए सौम्य एवं आग्नेय रोगसमूह का चिन्तन कर, चिकित्सा में वैशिष्ट्य प्राप्त कर सकते हैं। इन सौम्य और आग्नेय रोगसमूहों की चिकित्सापद्धतियाँ मुख्यतः तीन प्रकार की है, जैसा कि दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय, और सत्वावजय तीन प्रकार की मानी गई हैं. और तीनों पद्धतियों का विश्लेपण करते हुए जो व्याख्या आचार्य चरक द्वारा की गई है वह निम्नांकित वाक्यों से स्पष्ट है।

तत्रदैवव्यपाश्रयं मंत्रौषधिमणिमंगलवल्यु पहार होमनियम प्रायश्चित्तोप्रवास स्वस्त्ययन प्रणिपात-गमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना, सत्वावजय पुनरहितेभ्योः अर्थेभ्यो मनानिग्रहः — च० सू० ११:

इसी तरह शरीर दोषप्रकोप को लेकर अन्तःपरिमार्जन, बहिःपरिमार्जन, और शस्त्र-प्रणिधान त्रिविध चिकित्सा निर्देश किया गया है जैसा कि इनके व्यख्याप्रसंग में:—

तन्त्रान्तः परिमार्जनम्-यदन्तः शरीरमनुप्रविश्यौषधम्-आहार जातव्याधीन् प्रमाष्टिं, यत्रपुनः बाहिस्पर्शनमाश्रित्य अभ्यंगस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यैः-रामयान प्रमाष्टितद् बहिपरिमार्जनम्। शस्त्रप्रणिधानं पुन छेदनभेदन व्यधन दारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षारजलोकसश्चेश्ति '—

से स्पष्ट संकेत किया गया है। इनकी विस्तृत व्याख्या समस्त आयुर्वेदशास्त्र में यत्र-तत्र उपलब्ध है। अतः रोगप्रशमन के लिए आरम्भ ही से प्रमादरहित होकर उत्तम त्रिविध चिकित्सा-विधियों से चिकित्सा कराने मे जागरूकता रक्खे, अन्यथा शत्रु की तरह बढा हुआ रोग भी घातक होता है। इस सतर्कता से चिकित्सा कराने की सूचनाएँ आचार्यों ने स्थान-स्थान पर दी है, जैसा कि निम्नांकित पद्यावली से उक्त तथ्यों की पुष्टि की गई है :—

प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने बाह्योनाभ्यन्तरेण वा।
कर्मणा लभते शर्म शस्त्रोपक्रमणेन वा॥
बालस्तु खलु मोहाद्वा प्रमादाद्वा न बुध्यते।
उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमिवाबुधः॥
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद्विवर्धते।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥
मूढो न लभते संज्ञा तावद्यावन्न पीड्यते।
पीडितस्तु मतिं पश्चात्कुरुते व्याधिनिग्रहे॥
अथ पुत्राश्च दारांश्च ज्ञातींश्वाहूयभाषते।
सर्वस्वेनापिमे मे कश्चिद्भिषगानीयतामिति॥
तथाविधं च कः शक्तो दुर्बलं व्याधिपीडितम्॥
कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं परित्रातुं गतायुषम।
स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जीवितम्।
गोधा लांगूलबन्द्धेवा ऽकृष्यमाणा बलीयसा।
तस्मात्प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजैः प्रतिकुर्वन्ति य इच्छेत्सुखमात्मनः॥

इन समस्त विचारधाराओं से यह स्पष्ट है कि प्राणिवर्ग की चिकित्सा में कितनी सावधानी अपेक्षित है, चाहे वह मानव जाति की चिकित्सा का प्रश्न हो या मानव जाति के अतिरिक्त पशुपक्षी और वनस्पतियों को रोगरहित रखने का प्रश्न हो। मानव बुद्धिजीवी होने से उसके स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए पशुपक्षी तथा वनस्पतियों को स्वस्थ रखना नितांत आवश्यक है और जिस तरह मानव जाति के लिए त्रिदोष-विज्ञान और पंचमहाभूत के सिद्धान्तों के आधार पर चिकित्सा का विचार किया है इसी प्रकार पशु चिकित्सा के लिए गौ, गज, अश्व आदि पशुओं एवं विविध पक्षियों की चिकित्सा का वर्णन भी पशुपक्षी-आयुर्वेद-शास्त्र के नाम से किया गया है जिनके प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार वनस्पतियों की विभिन्न विकृतियों को मिटाकर उनको अधिक फलयुक्त बनाने का संविधान भी अग्नि-

पुराण श्रादि ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। इसके लिऐ अग्निपुराण के अनेक अध्यायों में इसका वर्णन मिलता है वहां से इसका अनुशीलन किया जाना चाहिये। सक्षेप में यही संकेत किया जा सकता है कि मानव जाति को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए पशु पक्षी एवं वृक्षादि वनस्पतियों को भी निरोग रखना नितान्त अपेक्षित है। अतः आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के मनिषियों के सम्मुख मानव को नीरोग रखने के लिए उपरिनिर्दिष्ट चिकित्सा-विधियो मे कितना विकास आज अपेक्षित है, इस सम्बन्ध में भी हमको सतर्कता रखनी होगी कि पशुपक्षी और वृक्षों की चिकित्सा के लिए उपदिष्ट चिकित्सा-ज्ञान का भी अनुसंधानात्मक विश्लेषण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रूप से हमारा उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए हमें आज इस परिषद् में विचार करना है और समय-समय पर हमने इस परिषद् के माध्यम से पाठ्यक्रम आदि विषयों में एकरूपता लाने के बारे मे विचार किया भी है। जो मुख्य प्रश्न आज हमारे सामने उपस्थित हैं वह चिकित्सा की चतुष्पाद सम्पत्ति को समृद्ध बनाने का है। चतुष्पाद सम्पत्ति में चिकित्सक का स्थान सर्वोपरि है. अतः चिकित्सक को रोगों के निमित्त, पूर्वरूप, उपशय, संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, बल, काल विशेषों तथा दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सार, सात्म्य, प्रकृति और वय के परिमाण का ज्ञान करना व्याधिनिग्रह के लिए नितान्त अपेक्षित है। इसी प्रकार दोषादिमानज्ञ चिकित्सक ही दोष और व्याधिनिग्रह करने में सक्षम होता है और वही चिकित्साप्राभृत चिकित्सक होने के लिए अधिकृत है। जैसा कि:—

चिकित्साप्राभृतोविद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्पर:।
नरं विरेचयति यं स योगात् सुखमश्नुते ॥
यं वैद्यमानीत्वबुधो विरेचयति मानवम्।
सोऽतियोगादयोगात च मानवो दुःख मश्नुते ॥

अतः प्राणाभिसर या चिकित्साप्राभृत चिकित्सक ही मान्य चिकित्सक है।

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषग् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥
हेतौलिंगे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तम: ॥

च० सू० ९-१६-१०

उक्त पद्यों से भी यह प्रमाणित है कि ज्ञानवान चिकित्सक ही राजार्ह या राजमान्य चिकित्सक माना जा सकता है और ऐसे चिकित्सक के निर्माण के लिए रोगों के हेतुलक्षण प्रशमन के लिए तथा रोगों की अनुत्पत्ति के लिए जिस चिकित्सक को ज्ञान हो उसी चिकित्सक की महत्ता मानी गई है। अतः चिकित्सा सम्बन्धी समस्त ज्ञान चाहे वह शरीर-रचना या शरीरक्रिया सम्बन्धी हो या प्रसूति-कौमारभृत्य से सम्बन्धित हो रोग-निदान एवं

काय चिकित्सा से संबंधित हो और चाहे वह शल्य-शालाक्य से सम्बन्धित हो सभी तरह के ज्ञान से चिकित्सक को समृद्ध बनाने का स्पष्ट निर्देश है। चाहे इस प्रकार का ज्ञान भारतवर्ष में आविष्कृत हुआ हो चाहे उतर देशों से लिया गया हो। जो प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश से प्रमाणित कर लिया गया हो— ऐसे चिकित्सा-विषयक ज्ञान को लेकर आयुर्वेद चिकित्सा-विज्ञान को समृद्ध बनाने का प्रश्न समस्त भारत के वैद्यसमाज के सम्मुख उपस्थित है। इस सम्बन्ध में अधिक भ्रमजाल में पड़ कर आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सिंहावलोकन करें तो वैदिक काल से ले कर नागार्जुन काल तक का ज्ञान—विनिमय का इतिहास मुंह खोल कर हमको कहता है कि—

"धन्यं यशस्यमायुष्यं लोकहितं यद्वचः तदादेयम्-अनु विधातव्यञ्च, आचार्यः सर्वचेष्टासुलोक एवहि धीमतः। अनुकुर्यात्-तमेवातो-लौकिकेऽर्थेपरीक्षकः॥

इन सूक्तियों से भी यह डिण्डिमघोष किया गया है कि खुला मस्तिष्क रख कर विश्व की अच्छी बातें ग्रहण करनी चाहिए और उदाराशय रख कर अपनी अच्छी बातें विश्व को देनी चाहिए। यही ज्ञानविनिमय का महत्व है। अतः अच्छे स्नातकों के निर्माण के लिए हमें एक आदर्श पाठ्यक्रम को समस्त भारतवर्ष में चालू करना है और इस सम्बन्ध में हमने पिछले अधिवेशनों में भी इस दिशा में सफल यत्न किये हैं।

आयुर्वेद शिक्षा:— मुझे जहां तक स्मरण है और आप सभी मनीषी इस बात को जानते हैं कि विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों के पाठ्यक्रम चलते रहे हैं और विभिन्न उपाधियां भी दी जाती रही हैं। प्रत्येक प्रदेश को अपने-अपने यहां की उपाधियों का नाम रखने का व्यामोह रहा है और एक दूसरी उपाधि को अच्छी बुरी मानने का भी दुराग्रह बढ़ता रहा है। कई स्थानों पर पाठ्यक्रम में एलोपैथी के अधिकतम विषयों का समावेश किया गया हैं। उन डिग्रियों का नाम भी एम० बी० बी० एस० की तरह कुछ शब्दों को घटा-बढ़ा कर रखा गया है। यह स्वाभाविक था कि स्नातकों में वैद्य शब्द के प्रति निराशा होने लगी और वे अपने आपको 'डाक्टर' शब्द से सम्बोधित करने में अधिक सम्मान समझने लगे। इन विवेकहीन परम्पराओं से आयुर्वेद-कॉलेज मेडिकल कॉलेजों के रूप में परिणत होने लगे, यह आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के मनीषियों के लिये गौरव की बात नहीं मानी जा सकती।

पाठ्यक्रम के विषय को समस्त प्रदेशों के इण्डियन मेडिसिन बोर्ड्स, विभागीय शिक्षा बोर्ड्स, एवं विभिन्न विश्वविद्यालयों की फैकल्टियों द्वारा बहुत सशोधन, परिवर्तन परिवर्धन द्वारा बनाया गया और विभिन्न प्रदेशों में चलाया जाता रहा। परिणामस्वरूप पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने और सर्वत्र एक ही उपाधि सर्वत्र मानी जाने की विचारपरम्परा समृद्ध नहीं बन सकी। लखनऊ में उत्तरप्रदेश सरकार ने सम्पूर्णानन्द—कमेटी द्वारा भी

एक पाठ्यक्रम बनाया तथा अन्य पाठ्यक्रम भी बनाये गये—इन सभी पाठ्यक्रमों को ध्यान मे रखते हुए इस कौंसिल ने अब तक इस बात का प्रयत्न किया है कि पाठ्यक्रम में एकरूपता आवे और एक ही उपाधि सभी स्थानों पर दी जा सके। इस कौंसिल के जयपुर अधिवेशन मे भी एक पाठ्क्रम तय किया गया था जिसको सर्वसम्मत पाठ्यक्रम मान लिया गया था। और शरीरक्रियाविज्ञान, प्रसूति कौमारभृत्य, शल्यशालाक्य आदि नवीन विषयों को जितने अंशों में समाविष्ट किया जाना उपयुक्त समझा गया, समाविष्ट किया गया। इस पाठ्यक्रम में आयुर्वेद-शिक्षा का वास्तविक स्वरूप सुरक्षित रक्खा गया और चिकित्सा-सम्बन्धित-विषयों मे आयुर्वेद चिकित्सा-विषयक ज्ञान का ही प्राधान्य रक्खा गया है। यह पाठ्यक्रम आज भी आपके सम्मुख प्रस्तुत है, जिसमें शुद्ध और मिश्रवाद को भी प्रोत्साहित होने का कोई अवसर उपस्थित नही होता। हमें आज इस बात का निर्णय कर लेना होगा कि हम शुद्ध-मिश्र के झगडे से ऊपर उठकर आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का प्रतीक जो भी पाठ्यक्रम हो, स्वीकार कर लें और उसी को केन्द्रिय शासन के सम्मुख प्रस्तुत कर भारत-सरकार से साग्रह अनुरोध करें कि वह इस पाठ्यक्रम को समस्त भारत में लागू करे।

पिछले अध्यक्षीय भाषणों में भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और मैं भी इस सम्बन्ध मे सहमत हूँ कि आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक चिकित्सा-विज्ञान के विकास के लिये चिकित्सा-विषयक समस्त अन्वेषणों का प्रकाश आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान में भी लिया जाना चाहिये। इससे विज्ञान बढ़ता है।

शुद्ध और मिश्र का भ्रमनिवारण— किसी भी विज्ञान के आरम्भिक स्वरूप का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस चिकित्सा-विज्ञान में अन्य चिकित्सा-विज्ञानों का प्रकाश लिया गया है। एलोपैथी चिकित्सा-विज्ञान का उदाहरण ही इस सत्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा। ऐसी स्थिति में नागार्जुन काल से अब तक जिन किन्हीं परिस्थितियों मे भी अब तक आयुर्वेदिक, यूनानी चिकित्सा में अनुसधान की प्रवृत्ति के अभाव में आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा-विज्ञान का साहित्य आगे नहीं बढ़ सका। न तो पशुरक्षी और न वृक्षायुर्वेद के बारे में ही कोई गवेषणाएं आगे बढ़ी और न शल्यशालाक्य में ही सुश्रुत के काल से आगे प्रगति हो सकी। जो कुछ आयुर्वेदचिकित्साविषयक ज्ञान है वह भी अधूरा है। जो काय चिकित्सा का ज्ञान प्रचलित है उससे भी हम आज आगे बढ़ नहीं पा रहे हैं। इसका मुख्य कारण स्वतन्त्रताप्राप्ति के पूर्व तात्कालिक राज्यशासन द्वारा की गई उपेक्षा मानी जा सकती है परन्तु वैद्यजगत् का परमुखापेक्षी रहना भी एक कारण है। धार्मिक संप्रदायों मे जिस तरह अनेक मतान्तर हैं, आयुर्वेद एवं यूनानी संप्रदाय के व्यक्तियों मे भी अनेक मतान्तर कई वर्षों से चल रहे हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सैकड़ों वर्षो में नवीन अन्वेषणों के अभाव में उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्त ज्ञान को

सर्वस्व आयुर्वेद मान कर उससे आगे न बढ़ने की प्रवृत्ति आयुर्वेदचिकित्सा-विज्ञान के विकास के लिए घातक सिद्ध हुई है। मैं इस संबंध में इस कौंसिल के माध्यम से आप सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहूंगा कि आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के विकास के लिए यदि हमें कुछ करना है तो आज जो शुद्ध तथा मिश्र का झगड़ा है उसको समाप्त करना होगा। शुद्ध सम्प्रदाय वाले यदि यह कहें कि एक शब्द भी किसी नवीन चिकित्सा-विज्ञान का उसमें नहीं लिया जाय या उपयुक्त ज्ञान का समावेश न किया जाय तो यह कहना दुराग्रहमूलक और भ्रान्त धारणाओं के आधार पर आधारित होगा, क्योंकि शुद्ध पाठ्यक्रम में भी स्थान-स्थान पर अनेक विषय नवीन चिकित्सा-विज्ञान से लिए गए हैं जिनकी चर्चा करना उचित नहीं होगा। इसी तरह मिश्र पक्ष वाला सम्प्रदाय, जिसका पृथक एक संगठन भी नेशनल मेडिकल एशोसियेशन के नाम से बना है और उस सम्प्रदाय वाले चिकित्सकों की मांगें भी पृथक रूप से बढ़ती जा रही हैं, यह स्थान-स्थान पर अनुभव किया जा रहा है। अन्तस्तल को टटोल कर विचार करें तो निष्पक्ष विचारकों के सम्मुख यह सत्य भी प्रतिफलित होता है कि मिश्र या इण्टिग्रेशन के नाम से बना यह पृथक सम्प्रदाय भी आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के लिए घातक सिद्ध होगा। इस अवसर पर मैं यही नम्र निवेदन करना उपयुक्त समझता हूँ कि शुद्ध और मिश्र के नाम से बने हुए ये दोनों सम्प्रदाय किसी भी परिस्थिति में आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का उत्कर्ष नहीं कर सकेंगे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एलोपैथिक चिकित्सा में वायुर्वेद यूनानी चिकित्सा की अनेक अच्छी बातें ली गई हैं, परन्तु उस विज्ञान को इण्टीग्रेटेड नहीं कहा जाता। इसी तरह आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान में नागार्जुन काल तक अनेक संशोधन और परिष्कार हुए, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुए परन्तु उसको शुद्ध-मिश्र के नाम से कभी व्यवहृत नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद यूनानी-चिकित्सा विज्ञान के सामूहिक हित का प्रश्न जहां उपस्थित हो वहां शुद्ध-मिश्र का झगड़ा करते हुए आज तक हम अपने स्नातकस्तर पाठ्यक्रम में भी एकरूपता नहीं ला सके।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी इस विवाद में उलझे रह कर हम अब तक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम और अनुसंधान की रूपरेखा मे एकरूपता का दिग्दर्शन नहीं करा सके। आखिरकार इसका उत्तरदायित्व किस पर है? अस्तु, "गतंनशोचामि" इस सिद्धांत के अनुसार अब भी हमें रागद्वेषरहित होकर शुद्ध-मिश्र शब्द के दुराग्रह को छोड़ना है जब कि हम सभी पाठ्यक्रमों के बारे में अपने मौलिक सिद्धांतों की आधारशिला पर नवीन विषयों के विनिमय में एकमत हैं।

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के मौजूदा अधिवेशन के सम्मुख भी इस बात का आश्वासन मिला है कि शुद्ध आयुर्वेद-पाठ्यक्रम समिति ने भी शुद्ध उठा लिया है।

अतः अकारण बढ़ते हुए इन भ्रान्त धारणाओं पर आधारित शुद्ध-मिश्र के विवाद को अब दोनों ही पक्षों की ओर से समाप्त किया जाना चाहिये।

शासन और आयुर्वेद के विकास की योजनाएं : आयुर्वेद एवं यूनानी सिद्धसम्प्रदाय एवं आयुर्वेद चिकित्सा पद्धतिः— मैं पूर्व ही यह निवेदन कर चुका हूं कि कई भ्रान्त धारणाओ के वश ऐसी परम्पराएं हमारे यहां पड़ गई है कि हम उनको शीघ्र ही हटा नहीं सकते। ठीक इसी तरह आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के अविभाज्य अग सिद्धचिकित्सा को भी आयुर्वेद से पृथक् चिकित्सा पद्धति मानने लगे हैं। मद्रास, केरल, मैसूर और आन्ध्र प्रदेश में आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान से सिद्ध सम्प्रदाय का पृथक् अस्तित्व मानते हैं। परन्तु यह वास्तविकता से बहुत दूर है। सिद्ध चिकित्सा पद्धति के विशेषज्ञों का पृथक् सम्प्रदाय दक्षिण मे है, यह सौभाग्य की बात है। परन्तु आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति से पृथक् मानते हुए सिद्ध चिकित्सा पद्धति का विकास संभव नहीं है, क्योंकि जिन पंचमहाभूत, रस, गुण, वीर्य विपाक एवं वात, पित्त, कफ के मौलिक आधारों पर आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान आधारित है, सिद्ध-चिकित्सा पद्धति का भी वही आधार है। अतः सिद्ध चिकित्सा पद्धति के साथ ही आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का प्रश्न भी हल किया जाना चाहिए।

राज्य शासन योजना और आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियों की विकास योजनाएँः— भारत की स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि ऐलोपैथी के मुकाबले में आयुर्वेद एवं यूनानी चिकित्सा विज्ञान के विकास के लिए शासन द्वारा १० करोड़ की रकम आवंटित की गई है फिर भी दस करोड़ की राशि भारत के समस्त प्रदेशों के लिये निर्धारित करना ऐलोपैथी पर खर्च की जाने वाली ४०० करोड़ की राशि के मुकाबले में नगण्य है। १० करोड़ की राशि के अन्तर्गत भी आयुर्वेद, यूनानी, नेचरोपैथी, यौगिक, होमियोपैथी तथा सिद्ध चिकित्सा पद्धति के लिये सहायता देने का प्रावधान है। इस प्रावधान के अन्तर्गत विभिन्न प्रादेशिक सरकारों ने आयुर्वेद, यूनानी एवं सिद्धचिकित्सा आदि के विकास के लिये प्रगति का कदम उठाया है। उनमें राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश, केरल, मध्यप्रदेश आदि का नाम लिया जा सकता है। राजस्थान में १६०० आयुर्वेदिक औषधालय चल रहे हैं जिनमें १५ से २० रोगी शय्याओं वाले, १६ अ श्रेणी के औषधालय हैं और १०० रोग शय्याओं वाले दो आयुर्वेदिक होस्पिटल हैं। तीन डिग्री कालेज तथा ६ डिप्लोमा कालेज राज्य में चल रहे है, जिनमें एक यूनानी है। राज्य में दो आयुर्वेद के डिग्री कालेज हैं। अवशिष्ट में भिषगाचार्य के स्तर वाले प्राइवेट कालेजों को ७५ प्रतिशत तथा डिप्लोमा तक के कालेजों को ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता दी जाती है। अन्य चिकित्सा संस्थाओं को, जिनकी संख्या १०० से भी अधिक है, ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता दी जाती है। वैद्यों को अधिक योग्यता प्राप्त कराने की दृष्टि से एक वर्ष का रिफ्रेशर कोर्स भी चालू है और राज्य में

धात्री तथा उपवैद्यों के प्रशिक्षण के लिए भी तीन प्रशिक्षण केन्द्र राज्य की ओर से संचालित हैं। इस प्रकार राजस्थान में वैद्य, परिचारक, औषध और आतुरशय्याओं की व्यवस्था कर गुणवत् चतुष्पाद सम्पत्ति सुस्थिर करने की योजनाएं क्रियान्वित की गई हैं। इन सभी योजनाओं पर इस समय १ करोड़ ४५ लाख रुपया खर्च हो रहा है और चतुर्थ योजना से ८५ पिच्चासी लाख रुपया इन योजनाओं को समृद्ध बनाने तथा स्नातकोत्तर प्रशिक्षण प्रारम्भ करने तथा वनस्पति-अनुसधान एवं उत्पादन के लिए स्वीकृत है। भारत-सरकार के सहयोग से राजस्थान-सरकार द्वारा बढ़ाया गया यह प्रगति का कदम प्रशंसनीय है।

इसी तरह गुजरात शासन द्वारा भी थोड़े से समय में जामनगर में स्नातकोत्तर शिक्षण को सफल बनाने के साथ आयुर्वेद-विश्वविद्यालय की योजना को सफल बनाने का सक्रिय कदम प्रशंसनीय है। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा आयुर्वेद-शिक्षास्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया है और राज्य में आतुरालय वाले चिकित्सालयों को अधिक विकसित करने का कदम भी बढ़ाया है। और राजस्थान और गुजरात में वैद्यों का वेतनस्तर भी अधिक समृद्ध बनाने का प्रयास किया गया है।

केरल, मध्यप्रदेश और पन्जाब मे भी आयुर्वेदचिकित्सालय अवं आयुर्वेद महा-विश्वविद्यालयों का संचालन किया गया है। उड़ीसा, बंगाल तथा बिहार प्रदेश में भी आयुर्वेद के लिये कुछ-न-कुछ प्रगति के कार्य किये जा रहे हैं तथा सोचे जा रहे हैं। परन्तु यह सभी कार्य अभी तक संतोषजनक नहीं माने जा सकते हैं।

इस प्रकार समस्त भारत के विभिन्न प्रदेशों में आयुर्वेद, यूनानी एवं सिद्ध चिकित्सा के लिए कुछ-न-कुछ विकास हुआ है, फिर भी अभी तक शल्य शालाक्य, प्रसूति, कौमार-भृत्य, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, कायचिकित्सा आदि चिकित्सा के विशिष्ट अगों में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिये स्नातकोत्तर प्रशिक्षण-केन्द्रों का अभाव खटकता है। स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्रों के अभाव मे विभिन्न विषयों पर होने वाला अनुसंधान कार्य भी आज सतोषजनक स्थिति में नहीं है। इससे भ्रान्त धारणाएं आज फैल रही हैं। उनका निराकरण तब तक होना संभव नहीं है जब तक कि मौलिक सिद्धांतों के आधार पर विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ तैयार नहीं किये जायँ और अनुसंधान कार्य को अधिक प्रोत्साहित नहीं किया जाय।

इस सम्बन्ध में भारत-सरकार ने अनेक कमेटियां गठिन की हैं, जिनमें पण्डित कमिटी, चोपड़ा कमिटी, उडुप्पा कमिटी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। उक्त कमिटियों की रिपोर्ट्स के आधार पर योजनाएँ चालू होने पर भी शुद्ध-अशुद्ध पाठ्यक्रम के विवाद ने भी हमको आगे बढ़ने से रोका है। किसी एक पक्ष का आग्रह रख कर किसी एक पक्ष को अच्छा या बुरा कहने का या मानने का मेरा कोई अभिप्राय नहीं है, परन्तु मेरी निजी मान्यता है कि आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा के मौलिक सिद्धांतों की

आधारशिला पर नवीनतम आविष्कारों के प्रकाश से आयुर्वेद एवं यूनानी चिकित्सा-विज्ञान को अवश्य ही समृद्ध बनाया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में जैसा कि पहले भी मैं निवेदन कर चुका हूँ, जयपुर-कन्वेन्शन के समय जो इस कौन्सिल के द्वारा पाठ्यक्रम तैयार किया गया उसको आधार बिन्दु मानते हुए हमें पाठ्यक्रम के बारे मे निश्चित ही एकमत हो जाना चाहिये।

राजस्थान-विश्वविद्यालय ने एक पंचवर्षीय पाठ्यक्रम भी इसी आधार पर बनाया है, जिसकी उपाधि 'आयुर्वेदाचार्य' है। इस प्रकार शुद्ध आयुर्वेद की केन्द्रीय शिक्षा-समिति द्वारा प्रस्तावित पंचवर्षीय पाठ्यक्रम और राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित पाठ्यक्रम तथा इस कौन्सिल द्वारा निर्मित जयपुर कौन्सिल मे स्वीकृत पाठ्यक्रम को आधार मानते हुए समस्त भारतवर्ष के लिये एकरूप पाठ्यक्रम संचालित करने के लिये भारत-सरकार से अनुरोध करना चाहिये। अब हमारा बहुत समय शुद्ध-अशुद्ध के विवाद में नष्ट हो चुका है। अब समय विवाद का नही है। एकमत होकर सारे भारतवर्ष में एक ही तरह का आयुर्वेद पाठ्यक्रम, स्नातक, एवं स्नातकोत्तर का कार्य चालू करवाना हमारा पवित्र कर्त्तव्य हो गया है। आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान के लिये पाठ्यक्रम, अनुसधान, औषधनिर्माण सर्वसाधारण जनस्वास्थ्य संरक्षण योजनाओं को सफल बनाने के लिये इस समय एक स्थिर नीति की आवश्यकता है, और ऐसी स्थिर नीति का निर्धारण तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि मेडिकल कौन्सिल की तरह आयुर्वेदिक कौन्सिल बनाने का निर्णय भारत-सरकार द्वारा नही ले लिया जाता। लम्बे अरसे से इस सम्बन्ध मे प्रयास हमारे राष्ट्र के प्रख्यात मनीषी एव आयुर्वेद के नेता कर रहे हैं और यह कौन्सिल भी आरम्भ से अन्त तक इस प्रश्न को लेकर प्रयत्नशील है। विदित हुआ है कि इसका एक बिल भी तैयार किया जा चुका है और शीघ्र ही ऐसी कौन्सिल भारत-सरकार द्वारा बनाई जा रही है। यदि यह सत्य है तो निश्चित ही आयुर्वेद-चिकित्सा-विज्ञान का विकास स्वतन्त्र रूप से इस देश में तो होगा ही, परन्तु आयुर्वेद-चिकित्सा के अनुपम उपहार अन्य देशों को भी दिये जा सकेंगे और खुले मस्तिष्क से अन्य देशों का सत्य भी लिया जा सकेगा। अतः, आयुर्वेद कौन्सिल की स्थापना का लक्ष्य भी इस कौन्सिल का रहा है और हमें आज भी इसके लिए दृढ़ता-पूर्वक कदम उठाना चाहिए।

चिकित्सा में 'चरक' की विशिष्टता

लें०—वैद्य मदनकुमार शास्त्री

[श्री शर्मा आयुर्वेद विषय के अच्छे विद्वान् हैं। आपने भिषगाचार्य सर्वप्रथम से उत्तीर्ण कर स्वर्ण पदक प्राप्त किया है। वर्तमान में राजकीय मदनमोहन मालवीय आयुर्वेद महाविद्यालय उदयपुर में आचार्य पद पर है। आपका मूल लेख संस्कृत में था, परन्तु पाठकों की सुविधा के लिए हिन्दी अनुवाद किया गया है जिससे कि जनसाधारण भी चरक के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर सके। आपका लेख 'चरक की चिकित्सा विशेषता' मननीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

वैद्यक ग्रन्थों में चरक संहिता या अग्निवेशतन्त्र सारे आयुर्वेद सूत्रण में उच्चकोटि का ग्रंथ कहा जाता है इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार धनुर्धर कहने से एक मात्र अर्जुन का बोध होता है तद्वत् चिकित्सा मे चरक ग्रंथ की महिमा प्रत्येक वैद्य मात्र के ध्यान में रहती ही है।

अब हमें देखना यह है या यह विचार करना है कि चरक ने रोगों की चिकित्सा किस चतुरता के साथ कही है। ये सब बातें तो चरक के आद्योपान्त अध्ययन से ही सम्भव है परन्तु आज हम भी कुछ विशेषताओं पर विचार करते हैं। आयुर्वेद के आठ अंग सरलता व सुबोधता की दृष्टि से किये हैं। उन आठ अङ्गों में "काय चिकित्सा" नामक अङ्ग बड़ा ही गंभीर अर्थ वाला व बहुप्रयोजन वाला होने से अष्टांग के वर्णन में पहिले उसे रखा है।

काय बालग्रहोर्ध्वांग शल्य दंष्ट्रा जरा वृषान्।

व्याकरण की दृष्टि से काय शब्द का निर्माण चिञ् चयने धातु से हुआ है जिसका अर्थ होता है प्रशस्त दोष धातु मलों से देह का चयन हुआ है, जब इन दोष धातु मलों की अप्रशस्तता हो जाती है तो नाना प्रकार के रूजाकर हो जाते है। इस प्रकार संपूर्ण शरीर को उपतप्त करने वाले दोषस्थान आमाशय, पक्वाशय, मलाशय आदि स्थानों से उत्पन्न होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार आदि रोगों में संशोधन व संशमन आहार, आचार आदि उपायों से जो भी प्रतिकार किया जाता है वह काय चिकित्सा के अंग में आता है।
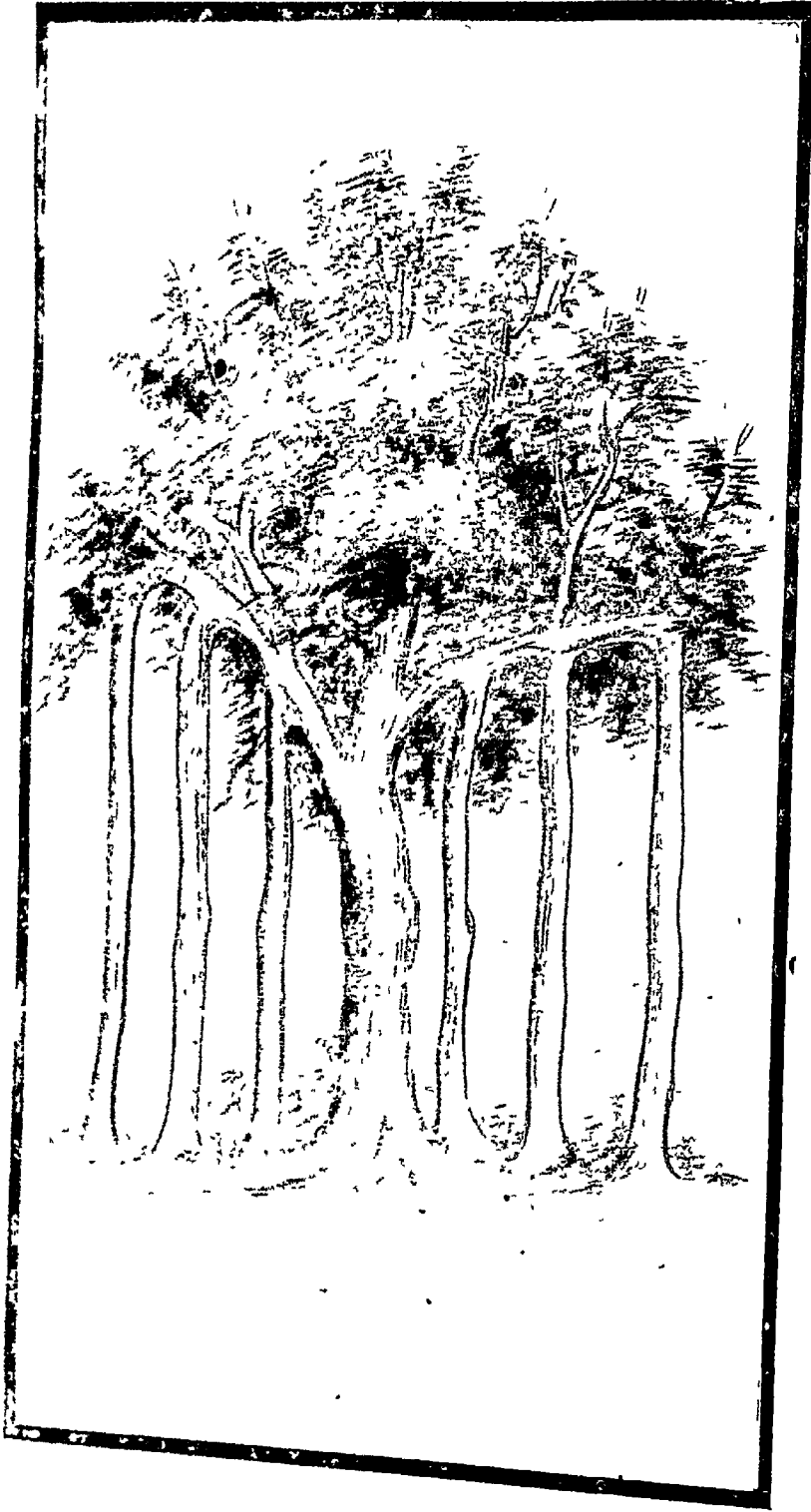
शाखा प्रशाखाओं से व्याधिसुदृढ हो जाती हैं।

अथवा "कायति" अर्थात् शब्द करता है व्युत्पत्ति से काय से जठराग्नि अर्थ भी लिया जाता है, जैसा कि चक्रपाणि ने कहा है—

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्से न्सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥

क्योंकि ज्वर, अतिसार आदि रोग विशेष कर अग्निदोष से होते हैं क्योंकि आचार्य ने स्पष्ट बताया है कि शरीर तथा लोक में पांचभौतिक तत्व प्राप्त होते हैं यह समानता तो रहती है, परन्तु बाह्य तत्वों से शरीरतत्व के निर्माण होने के लिये पाचकाग्नि माध्यम है "तत्राग्नि हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः"। इसीलिये जिन भावों की संपत आरोग्य का या देह का कारण है उन्ही भावों की विपत् ही नाना प्रकार के रोगों का कारण भी है। इसलिये आयुष्य चाहे सुख, असुख, हित या अहित हो, वर्ण, देश भेद से प्राणियों के नाना वर्ण हो सकते हैं। जिस देश में जिस महाभूत की अधिकता होगी उसी के अनुसार वर्ण परिवर्तन इस प्रकार चाहे वायु की छाया अप्रशस्त कही है साथ ही सातों प्रकार की प्रभा, बल, ओज पर निर्भर है, इसके सहज, कालकृत व्यक्तिकृत तीन भेद किये हैं, परन्तु संहनन, व सार की श्रेष्टता से उत्तम मध्यम आदि भेद हो जाते हैं। स्वास्थ्य, यह आयुर्वेद की समतुला है इसमें समदोष, समाग्नि, समधातु मलक्रियः आत्मा इन्द्रिय मन की प्रसन्नता होना इसीसे सर्व प्रकार की चेष्टाव व्यापार में उत्साह, पुष्टी, ओज, तेज व दूसरी जितनी भी अग्नियें प्राण आदि सब जठराग्नि के ऊपर ही निर्भर हैं इसलिये—

शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरंजीवत्यनामयः।
रोगीस्याद्विकृते मूलमग्नि स्तस्मान्निरुच्यते॥

इस प्रकार चिकित्सा का अधिकरण भूत शरीर को काय शब्द से प्रतिपादन कर दूसरे प्रकार में काय शब्द से अग्नि नाम दिया है यह बहुत अच्छी व्युत्पत्ति मालूम देती है और उसमें जो उत्पन्न हो गई व्याधि उसका प्रतिकार करने के लिये किस धातु से चिकित्सा शब्द बना है,

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातु वै कृते
प्रवृत्ति र्धातु साम्यार्था चिकित्से त्यभीयते।

इसमें धातु वै कृते अर्थात् रोग में आरोग्य के लिये जो उपाय किये जाते है उन्हें चिकित्सा कहा जाता है। चिकित्सा प्राभृतीय अध्याय में अग्निवेशने आचार्य से पूछा कि महाराज चिकित्सा किसलिये की जाती है? चिकित्सा के क्या लक्षण हैं? इसके लिये आचार्य कहते हैं—

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिह,
समानां चातुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया।
अथवा—याभिः क्रियाभि जीयन्ते शरीरे धातवः समाः,
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्।

दोष धातुमला अग्नि आदि में जिस प्रकार समयोगता हो उसे चिकित्सा कहा है इसमें सामान्य व विशेष के सिद्धान्त अनुसार अधिक को कम करना, कम है उन्हें बढा देना आदि उपायों से धातु वैषम्य की परंपरा को दूर करते हुए सम धातु सन्तानता बना देना ही चिकित्सा है। धातुसाम्य का अनुबन्ध की स्थापना कर देना ही चिकित्सा का प्रयोजन है—

"धातुवैषम्यं नाम विकारागमः तन्निवृत्तिश्चिकित्सा"

इस प्रकार की चिकित्सा के चरक ने दो विभाग किये हैं—

(१) स्वस्थोर्जस्कर (२) व्याधिनिर्घातकर।

आयुर्वेद के आठ अंगों में आने वाले रसायन वाजीकरण प्रथम चिकित्सा में आ जाते हैं यद्यपि रसायन जराव्याधिविध्वंसि के कहने से, व वाजीकरण भी व्यवायादि से हुए प्रतिलोमक्षय में शुक्रधातु का पुष्टिकर होने से स्वस्थोर्जस्कर होता ही है।

व्याधिनिर्घातकर चिकित्सा में तीन प्रकार की व्याधि ये शरीर, आगन्तु, मानस में होने वाले ज्वर आदि रोगों को ठीक करने के उपाय विस्तार से कहे गये हैं, पर इनकी चिकित्सा करने के पहिले दोष, औषधि आदि के प्रभाव को जानने का प्रयत्न करें, इनका ज्ञान हुए बिना चिकित्सा में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि वही दोष जब कारणों के संमिश्रण से गंभीर धातुओं में प्रविष्ट हो जाने से विरुद्धोपक्रम होने से कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाता है, इसलिये दोष आदि की विशेषता से रोग मृदु दारुण, क्षिप्रसमुत्थान, चिरकारी होते हैं अतः चिकित्सा दोषादि के प्रमाणज्ञान के आधार पर होती है। दोषादि के मान को नहीं जानने वाला वैद्य रोग का प्रतिकार करने में असमर्थ होता है, इसलिये प्रत्येक रोग के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, संप्राप्ति आदि को समझते हुए दोष, औषधि, देश, काल, बल, शरीर, सार, आहार, सत्व, प्रकृति, वय की अवस्थान्तर का सूक्ष्म रूप से ध्यान कर चिकित्सा करता है तो उसको चिकित्सा निष्फल नहीं हो सकती यही चरक का सिद्धान्त है।

व्याधि हर औषधि को तीन विभाग में बांटा जा सकता है जैसा कि तिस्रैषणीय अध्याय में बताया है।

(१) दैव व्यपाश्रय, (२) युक्तिव्यपाश्रय, (३) सत्वावजय।

इसमें युक्तिव्यपाश्रय औषध को उस औषधि के प्रयोग के अनुसार (१) अंतः परिमार्जन (२) बहि परिमार्जन (३) शस्त्र प्रणिधान रूप से तीन प्रकार की होती हैं। काय चिकित्सा में अंतः परिमार्जन तथा बहिः परिमार्जन की प्रधानता रहती है, शस्त्र प्रणिधान का विषय शल्य शालाक्य अंग का प्रधान भूत होने से वह हमारा विषय नहीं होने से उसे यहीं छोड़ दिया जाता है।

अंतः परिमार्जन औषध के प्रयोग में औषधि शरीर में प्रविष्ट होकर दोषों का शोधन या शमन कर रोग को नष्ट करती है। उसी प्रकार शरीर के बहिः स्पर्श से संबन्धित होकर जैसे अभ्यंग, स्वेद, आलेप, परिषेक आदि द्वारा रोग निवृत्तिकर होती है उसे बहिः परिमार्जन कहते हैं। अभिप्राय यह कि इन दोनों प्रकार से शोधन व शमन रूप दो कर्म होते हैं, इस प्रकार शोधनरूप अंतः परिमार्जन, शमन रूप अंतः परिमार्जन, शोधनरूप, बहिः परिमार्जन, शमनरूप बहिः परिमार्जन, चार प्रकार विषय भेद से हो जाता है।

"लंघनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीतेयः सर्वभिषक् ॥

इस उपरोक्त पद्य में रोग प्रतिकार के छ उपक्रम बताये हैं तथा इन्हीं छ के बारे में आगे बताया है कि सारे रोगों के ये ही छः उपक्रम होते हैं—

दोषाणां बहुससर्गात् संकीर्यन्ते ह्युपक्रमाः
षट्त्वं तु नाति वर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा,

किन्तु इसके बाद ही संतर्पणीय अध्याय में इन छहों उपक्रमों के संतर्पण, अपतर्पण दो भेद के रूप मे, लघन स्वेदन रूक्षण इन उपक्रमों को अपतर्पण चिकित्सा में तथा बृंहण, स्नेहन, स्तम्भन इन तीनों का अन्तर्भाव सन्तर्पण चिकित्सा में किया है।

लंघन, स्वेदन रूक्षण को अपतर्पण में मान लेने पर भी अपतर्पण के तीन भेद किये हैं, (१) लंघन, (२) लंघनपाचन, (३) दोषावसेचन, इनमें अल्पदोष व अल्पबल वालों को लघन तथा मध्यबल, व मध्य दोष बल वालों को लंघन पाचन, बहु दोषी रोगियों के लिये दोषाव सेचन करना चाहिये।

आचार्य चरक ने संतर्पण व अपतर्पण रूप उपक्रम सूत्रस्थान में बता कर विमान स्थान में कुछ और भी उपक्रम कहे हैं जैसे क्रिमि चिकित्सा को ध्यान में रख कर अपकर्षण, प्रकृतिविघात, निदान परिवर्जन ये तीन उपक्रम बताये हैं, उनमें भी अपकर्षण-बाह्य व आभ्यन्तर भेद से—बाह्यअपकर्षण क्रिमि रोगों में तथा शल्य आदि का किया जाता है—आभ्यन्तर अपकर्षण दोष संशोधनात्मक वमन विरेचन आदि उपायों से किया जाता है। यहां बताये हुए अपकर्षण का अपतर्पण संशोधन में अन्तर्भाव होता है, तथा प्रकृति विघात का अन्तर्भाव संतर्पण संशमन में होता है, वह भी बाह्य आभ्यन्तर भेद से २ प्रकार का होता है—बाह्य प्रकृति विघात स्वेद, अभ्यंग परिषेक, आलेप आदि उपायों से बहिः स्पर्श से सम्बन्धित होकर दोष संशमन करता है, आभ्यन्तर प्रकृति विघात शरीरस्थित दोषों का शमन करता है अतः इन दोनों को शमन चिकित्सा में अन्तर्भाव होता है। रहा निदान परिवर्जन वह दोष के अनुसार उन २ रोगों में शीत, उष्ण, भोजन, व्यायाम आदि को त्यागना सब रोगों के साथ बताया गया है, जैसा कि कहा है—

त्यागा द्विषमहेतूनां समानां चानु शीलनात्
विषमा: नानुबध्नन्ति जायन्ते धातव: समा:

संक्षेप में निदान परिवर्जन अर्थात् जिन कारणों से रोगोत्पत्ति संभव होती है उनका त्याग कर देना भी चिकित्सा ही है। इस प्रकार के भेद बता कर फिर औषधि के प्रकारांतर से भेद किये हैं—(१) हेतु विपरीत (२) व्याधिविपरीत (३) हेतु व्याधिविपरीत। हेतु विपरीत जिस प्रकार के कारण से रोगोत्पत्ति हुई है उसके विपरीत कारणों का सेवन करना जैसे—

शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विद:
ये तुशीतीकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्।

इसी प्रकाक गुरु, स्निग्ध, शीत आदि गुणों से उत्पन्न व्याधि में विपरीत लघु, रूक्ष, उष्ण आदि हेतु विपरीत द्रव्यों का उपयोग किया जाता है वैसे ही अपतर्पण के कारण से उत्पन्न रोगों में सन्तर्पण चिकित्सा, तथा सन्तर्पण कारण से उत्पन्न रोगों में अपतर्पण चिकित्सा द्वारा रोग प्रशमन करना आदि उदाहरण हैं।

व्याधिविपरीत—ज्वर में नागर मोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन, नेत्रवाला, आदि का जल तथा ज्वर सात्म्य होने से ज्वर को नष्ट करने वाले यवागू (दलिया) का प्रयोग वैसे ही प्रमेह में हल्दी तथा जौ का उपयोग, कुष्ठ में खैर सार का श्वास, कास, पार्श्वशूलादि में पुष्कर मूल का प्रयोग करना व्याधिविपरीत अर्थात् जिस स्थान में दोष संग होकर रोगोत्पत्तिकारक हुआ है उस स्थान वैगुण्य को मिटाने की चिकित्सा व्याधिविपरीत चिकित्सा कहलाती है।

हेतु व्याधिविपरीत औषधि—वातजन्य शोथ दशमूल का प्रयोग जो कि वायु तथा शोथ दोनों को नष्ट करता है इसी तरह विपरीतता के साथ विपरीतार्थकारि भी जाने। इन विपरीत तथा विपरीतार्थकारी के साथ औषध, अन्न विहार के होने से उपशय के जो अट्ठारह भेद हैं वह अट्ठारह भेद भी चिकित्सा के माने जा सकते हैं। इन्हीं अट्ठारह भेद की चिकित्सा को उपशय नाम से सबोधित करते हैं। इसी में सब प्रकार की चिकित्सा विधियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

जैसे कि प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धांत बिना औषधि के केवल अन्न जल द्वारा अर्थात् हेतु विपरीत अन्न तथा विहार द्वारा रोगों की चिकित्सा करते हैं "विनापि भैषजै-र्व्याधि पथ्यादेव निवर्तते।"

वैसे विष की चिकित्सा में विष का प्रयोग करना "सम: सम शमयाति के सिद्धांत से होमियोपैथी चिकित्सा के सिद्धांत विपरीतार्थकारी चिकित्सा में कही जा सकती है, तथा सर्वव्यापक एलोपैथी चिकित्सा जो कि लक्षणविरोधी ही चिकित्सा करते है का अन्तर्भाव

व्याधिविपरीत चिकित्सा कही जाती है। इस प्रकार की चिकित्सा से शरीर में जो दुःख की परम्परा हो रही थी कि निवृत्ति होकर आरोग्य रूप सुखानुबन्ध हो जाता है।

सभी प्रकार की चिकित्सा द्रव्य से निर्भर होती है। आचार्य चरक ने सभी प्रकार के आहार, आचार, देश, काल लंघन आदि में काम आने वाले द्रव्य व अद्रव्य का चिकित्सा में उपयोग जिस २ युक्ति व प्रयोजन से होता है उनका वर्णन किया है

वैशेषिक शास्त्रों मे द्रव्य शब्द से नव द्रव्यों का ग्रहण है परन्तु आयुर्वेद में पांच भौतिक जगम, उद्भिद, पार्थिव आदि संपूर्ण द्रव्यों का चिकित्सा में उपयोग बताया है "जगत्येव मनोपधम्" अद्रव्य चिकित्सा में—उपवास, वात, आतप, देश, काल, स्वप्न, जागरण, धावन, प्लवन, संवाहन, त्रास, क्षोभण हर्षण आदि भावों का उपयोग इन्हीं भावों से सम्बन्धित विकारों की चिकित्सा में कहा है। इन अद्रव्य रूप भावों का चिकित्सा में प्रयोग प्रकरणानुसार जैसे ज्वर में

लघनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तकोरसः,
पाचनान्यवि पक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे।

तरुण ज्वर में पाचन के लिये अमूर्तरूप लंघन काल आदि का वैसे ही एक देश में वृद्ध या कुपित दोष दूसरे देश मे सुखसाध्य हो जाते हैं।

स्वदेशी निचिता दोषा अन्यस्मिन्कोप मागताः
नतथा वलवन्तः स्युः......................।

देश को भू या शरीर रूप क्षेत्र भेद से दो प्रकार का कहा है इनमें भू रूप देश के जांगल, आनूप साधारण तीन भेद होते हैं अतः औषधि प्रयोग के पूर्व रोगी की परीक्षा में रोगी का जन्म किस देश में हुआ है का निरीक्षण करें क्योंकि किस २ देश में मनुष्यों का सात्म्य आहार विहार रीति रिवाज क्या होते हैं के रूप भू स्वरूप देश हुआ। शरीर रूप देश जहाँ कि चिकित्सक को अपनी चिकित्सा करनी है इसीलिये इसे कार्य देश भी कहा है उसकी परीक्षा, दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः या पंचेन्द्रियों से अथवा अष्टविध परीक्षा के साथ २ प्रकृति से विकृति से, सार से, संहनन से, प्रमाण से, सात्म्य से, सत्व से, आहार शक्ति से, व्यायाम शक्ति से, आयुष्य से परीक्षा करें।

निमेष से लेकर वर्षपर्यन्त की गणना से बताए काल जो कि प्रतिक्षण चलता ही रहता है उसी में होने वाले रोगों की विविध अवस्थाएँ आम, पच्यमान, पक्व, नव, पुराण, मृदुतीक्ष्ण आदि अवस्थाओं से नित्यग तथा आवस्थिक दो भेद बताए हैं। क्योंकि चिकित्सा मे इसका महत्व भी बहुत अधिक रखना पड़ता है "नहच प्राप्तातीत कालमौषधं यौगिकं भवति" इस प्रकार अमूर्तराय काल की शीत या उष्ण अवस्थाओं की उपयोगिता रहती है। ऋतचर्या के विधान बताते हुए आचार्य ने उस अवस्था को विशेष रूप से वर्णन दिया है—

"पूर्वाह्ने वमनं देयं मध्यान्हे तु विरेचनम्,
मध्यान्हे किंचिदावृत्तो बस्ति दद्याद्विचक्षणः ॥

इस तरह व्याधि को नष्ट करने वाले सब विधियों के द्रव्यभूत व अद्रव्यभूतों का संक्षेप से वर्णन किया है परन्तु यह सारा ही क्रम सन्तर्पण व अपतर्पण दोनों विधियों में समाविष्ट हो जाता है।

उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रमीमत:
एक सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पण।

उपरोक्त दोनों विधियों में ही लंघन वृंहणादि व शोधन शमन रूप का अंत र्भाव हो जाता है। लंघन शोधन को अपतर्पण तथा वृंहण शमन को संतर्पण चिकित्सा समझें। ऐसे हमने युक्ति व्यपाश्रय औषधि के बारे में कुछ विचार किया। किन्तु यही व्याधि नाश के लिए प्रयोग करने पर इनके रोगप्रशमन, व रोगापुनर्नव कर दो भेद करते हैं क्योंकि व्याधि ठीक हो जाने पर भी थोड़े से उपचार से पुनरावृति कर देती है क्योंकि दोषों द्वारा थोड़े समय पहिले ही दोषों ने रोगोत्पत्ति कर मार्ग बना दिया था, इसके लिए उदाहरण बताया है अग्नि का, जैसे थोड़ी भी अग्नि शेष रही तो वह मार्ग बना लेती है तद्वत् दोष भी थोड़े कारण से पुन: रोगोत्पत्तिकर हो जाता है। इसलिए रोगापुनर्नवकर अर्थात् दोषों की वृद्धि को देह से बाहिर निकाल देने से रूप चिकित्सा है वह समूलोच्छेदक है जैसे कि—

दोषा: कदाचित्कुप्यान्ति जिता: लंघन पाचनै:
ये तु सशोधनैश्शुद्धा; न तेषां पुनरुद्भवः ।

इसलिए चिकित्सा करते वक्त चिकित्सक को पहिले यह निश्चय करना चाहिए कि इसकी चिकित्सा मुझे किस प्रकार की करनी है, व कैसी चिकित्सा की यहां उपयोगिता है— संतर्पण या अपतर्पण की ? किस मात्रा में ? कैसा दोषों का बल है ? किस प्रकार की औषधि किस युक्ति से प्रयोग की जाय ? क्योंकि— "दोषानुरूपोहि भैषज्य वीर्य प्रमाण-विकल्पों व्याधि व्याधित बलापेक्षो भवति"। क्यों कि अल्पबल रोगी के लिए अति मात्रा में प्रयुक्त किया गया संशोधन रोगी के प्राण हरण कर लेता है। और अगर्चे व्याधिबल अधिक है वैसी स्थिति में प्रयोग में लाई गई संशमन चिकित्सा उस बीमारी को शान्त न कर दूसरी नई अनुबन्ध रूप उपद्रव पैदा कर देती है या उस रोगी को शान्त कर नयी व्याधि पैदा कर दे उसे आयुर्वेद शास्त्र में शुद्ध चिकित्सा नहीं कही जा सकती—

प्रयोग: शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्य मुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमये द्योन कोपयेत् ॥

इसलिए सारी बातों को संपूर्णतया विचार कर योग्य चिकित्सा को प्रयुक्त करे। द्रव्य के बारे में पहिले पूर्ण विचार करे कि यह इस प्रकार के रस वाला, गुणवाला, तथा

वीर्य वाला या विपाक वाला होने से इसके कार्य व प्रभाव होंगे साथ ही तत्तद् देश में या तत्तदृत् मे परिपक्व होने से या तत्तस्थान में रखने से, ग्रहण करने से, या संस्कारित कराने से अथवा उन २ औषधियों के समिश्रण से, इस युक्ति से, इस मात्रा से, इस ऋतु में, अमुक पुरुष के लिए इतने २ दोष का अपकर्षण या शमन करता है, यह ज्ञान युक्ति अनुमान से भी जाने । ऐसे सारी बातों का विचार कर भली प्रकार चिकित्सा में अधिक दोष बल वाले रोगो में संशोधन के लिए काम में लिए जाने वाले वमन, विरेचन आदि पंचकर्म वाली औषधें सर्व शरीरगत दोष व विकार को नष्ट करने में सक्षम होती हैं, तथा लंघन पाचनादि दोष सशमन के लिए हैं ?

यहां भी शोधन चिकित्सा का व उसके अंगभूत पंचकर्म के नैत्कृष्ट महत्व सब जगह देखा जाता है, इसीलिए चरक के प्रारम्भ में सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय में पंचकर्म के अवयवो मूलिनी फलिनी का निर्देश किया है, उसके बाद पंचकर्म के साधनभूत दोष संशमन अन्य द्रव्यों का निर्देश दिया है व पंचकर्म कैसे करने चाहिए इसे सविस्तृत बताया है।

"तान्यु पस्थि तद्दोषाणां स्नेह स्वेदो पयादनैः
पंचकर्माणि कुर्वीत मात्रा कालौ विचारयन् ।। इत्यादि

यहां पंचकर्म करने के पूर्व स्नेहस्वेदन करे इस प्रकार स्नेह स्वेद के सप्तकर्म हो जाते हैं इस प्रकार की शंका के उत्तर में चक्रपाणि ने स्पष्टीकरण किया है कि कर्म से अभिप्राय यह कि जिनसे दोषों का शरीर से बहिर्निःसारण हो, स्नेहन स्वेदन से यह होता नही, हां दोषों का कोष्ट में लाने रूप दोष संशमन का कार्य इनसे अवश्य होता है, वे ही स्नेह स्वेद पंचकर्म के अंगरूप होने से दोषों का स्वस्थाना नयन कारक होते हैं लेकिन वमनादि पंचकर्म दोष संशोधन रूप दोष निर्हरण करते हैं, पंचकर्म में बताया हुआ अनुवासन भी दोष निर्हरण नही करता तो भी पुरीष से संबोधित पक्वाशय का स्थानी दोष वायु का अनुलोमन रुप वहिर्निस्सारण कारक होने से पचकर्म में इसका मुख्य स्थान भी है। उत्तर बस्ति, निरुह आदि का स्नेहबस्ति में ही अंतर्भाव होता है।

अब हम पंचकर्मो का दोष संशोधन रूप विषय विभाग के बारे में संक्षेप से विचार करते हैं—

वमन का सम्यक् प्रयोग आमाशय के ऊर्ध्व भागस्थित कफ का विशेषतया निर्हरण करता है, उसके बाद कुछ पित्त का उसके बाद सामान्यतया वायु के आवरण को तोड़ने रूप शोधन करता है।

विरेचन का सम्यक् प्रयोग आमाशय के आधे भाग तथा पच्यमानाशय में रहने वाले पित्त का विशेषतया निर्हरण करता है, उसके बाद थोड़ी मात्रा में कफ व वायु का भी शोधन करता है।

निरूह् बस्ति पक्वाशय के स्थानी दोष वायु का शोधन कर किंचिन्मात्रा में पित्त कफ का भी शोधन करते हैं।

उपरोक्त प्रकार से कफ पित्त वात दोषों के वमन विरेचन निरुह् बस्ति रूप तीन कर्म उन २ स्थानों की शुद्धि करते हैं। तथा दूसरों का सामान्यतया शोधन कार्य करते हैं। इसलिये कहा है "सर्वाणि संशोधनानि कफ स्यौषध विशेषाद् वमनम्, सर्वाणि शोधनानि पित्तस्यौषधं विशेषाद्विरेचनम्, तथा च सर्वाणि संशोधनानि वातस्यौषधं विशेषाद्वास्तिरिति।"

अभिप्राय इसका यह हुआ कि दोषों के आपस में आवरण होते हैं, जैसे पित्तावृत वात में विरेचन-पित्तहरण करता हुआ आवरण के नष्ट होने से वातशोधक भी है, इसी प्रकार कफवृत प्राण या उदान आदि में वमन कफ को नष्ट कर आवरण नष्ट होने से वात-शोधक भी है, उसी प्रकार मलादि से आवृत वायु में निरुह तथा शुद्ध वात में विशेष कर अनुवासन ये दोनों बस्तिमल तथा वायु का शोधन करते हैं इस प्रकार दोष सशोधन के ये तीनों कर्म वमन विरेचन बस्ति रूप इन तीनों की सामान्य विशेष से विशेषता निर्देशित की है।

भगवान् के निर्देशानुसार ऊर्ध्व मूल स्वरूप शिर का शोधन करने के लिये जो न ऊर्ध्व जत्रु गत रोगों में दोष निर्हरण के लिये प्रायः किया जाता है। इस प्रकार शोधन के अंगभूत पंचकर्मों का दोषानुसार, व स्थानानुसार वर्णन हुआ।

रक्त मोक्षण या अस्त्र श्रुति भी दोष निर्हरण के लिये काम में लाया जाता इसका प्रयोग धातुओं में दोषों द्वारा स्थान संश्रय कर लेने पर विसर्प कुष्ठ आदि रोगों प्रायः प्रयोग किया जाता है—

पक्षात्पक्षाच्छर्दना न्युस्युपेया
न्मासान्मासात् स्तंसनं चाप्यधस्तात्।
न्यहा त्त्यहान्न स्तत श्चावपीडान्
मासेष्वस्टङ् मोक्षयेत् षट्सु षट्सु।

उपरोक्त बताये गये पंचकर्मों का प्रयोग देह शुद्धि के लिए किया जाता है इनमें बस्ति का प्रयोग इन सबमें श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि तीन दोषों में चल वाले वायु की विशेषता है तथा इससे वायु का शमन होता है।

तस्माच्चिकित्सार्धमुदाहरन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिरेके।

अर्थात् चरक ने बस्ति को आधी चिकित्सा कही है परन्तु कुछ आचार्यों का यह भी था कि इसी से संपूर्ण चिकित्सा हो जाती है। यहां बस्ति शब्द से 'नुव निरुह् व उत्तर बस्ति समझना चाहिये। निरुह् का ही दूसरा नाम आस्थापन है वह

द्रव्य संमूर्च्छना के अनुसार नाना द्रव्यों के संयोग से बहुत भेदों की कल्पना की जाती है। इसी के कई एक भेद प्रयोजन के अनुसार उन उन विकारों में प्रयोग किये जाते हैं। जैसे उत्क्लेशन, शोधन, शमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण, पिच्छा, माधुतैलिक बस्ति आदि। माधुतैलिक के पर्याय यापन, युक्तरथ, दोषहर सिद्ध बस्ति हैं। इस तरह शरीर में हुए विविक्त प्रदेश रूप सुषिरता का रोहण करने से व दोष निर्हरण करने से अचिन्त्य प्रभाव की तर्कणा करने से इसे निरुह नाम से पुकारते हैं। या वय की स्थापना कारक व दोषों की सम्यक् स्थापना करने से इसका नाम आस्थापन है। या यह समझो कि जो द्रव्य शरीर में रह जाने पर भी किसी प्रकार का विकार नहीं कर सकता अतः इसे अनुवासन कहते हैं, इसका प्रयोग यथोक्त औषधियों से साधित स्नेहों द्वारा किया जाता है। उसी का विकल्प मात्रा बस्ति जिसमें स्नेह की छोटी मात्रा का प्रयोग होता है। उत्तर बस्ति भी स्नेहन के लिये अनुवासन की तरह स्नेह से तथा शोधन के लिये निरुह की तरह दी जाती है। वह उत्तर द्वार द्वारा दी जाती है अतः इसे उत्तर बस्ति कहते हैं इस प्रकार इन त्रिधा विकल्पित बस्तियों का उपयोग कोष्ठ शाखा मर्मास्थि सन्धिगत रोगों में होता है, तथा इनका प्रयोग बच्चे से लेकर बुड्ढे तक सारे रोगों की सारी अवस्थाओं में शोधन के रूप में बिना अपाय के संभव है अतः इसकी प्रशस्ति पंचकर्मों में मुख्य है इसमें कोई दो बात नहीं जैसा कि बालव्याधि चिकित्सा में—

> स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः
> पित्तं वा दर्शयेल्लिगं बस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत्।
> श्लेष्मणानुगतं वातं मुष्णैर्गोमूत्र सयुतैः
> मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्मनुवासयेत्।
> मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरबस्तयः।
> सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत्कार्यं मासलेहितम्
> यापनाः बस्तयो प्रायः मधुराः सानुवासनाः

शोधन चिकित्सा के प्रस्ताव में बताये हुए इन पंच कर्मों में जिस कर्म का दोषस्थान के अनुसार निकटता है जिस कर्म के द्वार की उसी कर्म से दोष निर्हरण करादे। वायु स्थान वस्ति पित्त का हृदय कफ का शिर होने से उस २ के समीपस्थ द्वार से हरण कर्मों का प्रयोग करें। इस प्रकार प्रयुक्त संशोधन रोगों का अपुनर्भवकारक होते हैं।

अब थोड़ा शमन औषधियों के बारे में विचार करते हैं। बलवान् रोग में दोष संशोधन के बाद तथा क्षीण बल वाले दोषोद्भव रोगों में शमन चिकित्सा करनी चाहिये, या शोधन के अयोग्य रोगियों व रोगों में बिना शोधन के उस २ रोग को नष्ट करने वाले द्रव्यों से शमन किया जाता है। रोग के दोषों को भली प्रकार जान कर औषधि का समुचित प्रयोग करने से दोष शमन हो जाता है। चाहे यह द्रव्य रूप हो या अद्रव्य रूप

दोनों प्रकार से दोष शामक होने से शमन कहलाता है। यह दोष दूष्य निदान के ५५८ किन्तु निश्चित हित रूप है वह रोग का भली प्रकार नियंत्रण कर देती है। यह ५ हले बताये गये उपशय के अट्ठारह भेदों में हेत्वादि विपरीत, विपरीतार्थकारी शोधन की ही तरह शमन में भी गृहीत होती है।

जहां दोषों के क्षय रूप से प्रकारान्तर से रोगोत्पत्ति होती हैं वहां उस २ क्षय लक्षणों वाले दोष के गुण कर्मों को बढाने वाले द्रव्यों का उपयोग हेतु विपरीतता से ही संशमन के लिये प्रयुक्त होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दोषक्षय से उत्पन्न व्याधि में उसी दोष के विरोधी नहीं अपितु दोषक्षय की विरोधी चिकित्सा की जानी चाहिए। इससे क्षीण दोषों को बढाने वाली जो औषधि उस २ दोष आदि के समान भी वास्तव में तो विपरीतार्थ होकर सम्यक् प्रयोग होने से दोषसाम्यता बना कर व्याधि निवारण करती है। जैसे पित्त कफ क्षय से उत्पन्न रोगों में पित्त कफवर्द्धक भेड़ के दूध व उड़द आदि द्रव्यों के उपयोग से क्षीण दोष बढ कर धातु साम्यताकर होता है।

शमन चिकित्सा में दोषों की अंशांश रूप कल्पना को जान कर उसके बाद द्रव्य में रहने वाले रस गुण वीर्य विपाक प्रभाव आदि कामी उस २ दोष के प्रशमन में शक्ति प्रकर्षका ध्यान कर दोषादि से विपरीत, या विपरीत गुण भूयिष्ठ का विचार किया जाता है। भाव यह हुआ कि दोष विरोधी द्रव्यों के द्वारा की गई चिकित्सा को शमन चिकित्सा के नाम से कहते हैं। और उस २ द्रव्य के प्रयोग करने पर द्रव्य का कुछ काम द्रव्य स्वभाव से तथा कुछ रस विपाक से, कुछ वीर्य से दोष संशमनात्मक कार्य करता है इसमें द्रव्य में रहने वाले रस गुण वीर्य विपाक आदि गुण ही युक्ति से धातु साम्यता के लिये अभ्यास करने चाहिये। यहां भी द्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान रसों से या शेष द्रव्यों में रहने वाले गुर्वादिगुण, वीर्य विपाक आदि का बोध भी रस से किया जा सकता है इसलिये रसों को प्रधान कहा है वे रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु तिक्त कषाय नाम से छ संख्या में हैं। चिकित्सा में इनका उपयोग उस २ दोष को नष्ट करने वाले रस विशेष द्रव्यों की योजना करनी होती है। दोष प्रशमन में इनकी प्रधानता रस विमान में कही है—जैसे

कटुतिक्त कषाय	वायुकारक में।
मधुर, अम्ल, लवण	वायुशायक है।
कटु अम्ल लवण	पित्तकारक है।
मधुर अम्ल कषाय	पित्तशामक है।
मधुर अम्ल लवण	श्लेष्मकारक है।
कटु तिक्त कषाय	श्लेष्मशामक है।

इसी प्रकार दोषों का वरसों का ६३ प्रकार का विकल्प बताया है, उनमें पहिले दोष विकल्प को जान कर रस कल्पना में युक्त बैठने वाले रसयुक्त औषधि के प्रयोग से

उस २ दोष का संशमन करती है—कहा भी यही है जो रसों की कल्पना व दोषों की कल्पना को सम्यक् समझता है रोगों के हेतु लिंग की शान्ति में कभी त्रुटि नहीं करता। इस प्रकार की कल्पना का विचार करते हुए कहीं एक रस का कहीं दो का कहीं मिले हुए तीन, चार, पाँच छ रसों का प्रयोग करें।

संयुक्त रसों वाले द्रव्यों की प्राप्ति पर वैसी वैसी स्थिति में उन २ द्रव्यों का प्रयोग करें लेकिन जब ऐसे द्विरस आदि का एक द्रव्य न प्राप्त हो सके तो उन २ विभिन्न रसों वाले द्रव्यों के संमिश्रण से बनाये द्रव्य का प्रयोग किया जाय। इसी प्रकार के बहुत से प्रयोग आचार्य चरक ने अपनी संहिता में लिखे हैं। लेकिन ऐसे रसों का उपयोग दोषों की अंशांश कल्पना पर ही निर्भर है इसी तरह कुष्ट चिकित्सा में बताया हुआ महातिक्तक घृत दूसरे अधिकार में बताये गण्डमाला आदि रोगों की शान्ति भी करता है। द्रव्यों के रसों को व विकारों को तथा दोषों को, देशकाल शरीर को संपूर्णतया जानता है वही भिषक् कहलाने का अधिकारी है।

पहिले रसों से दोषों की उत्पत्ति व दोष शामकता रूपी कार्य बता दिया है लेकिन इनके द्वारा उस २ दोष की उत्पत्ति व शमन में भी गुण तारतम्य तो है ही। इसी से यहां जो कटु तिक्त कषाय रूक्ष गुण के कारण से वातजनक हैं साथ ही कफशामक भी हैं पर हैं वे भी प्रवर, अवर मध्य प्रकार से सो इनमें कषाय रस अत्यन्त रूक्ष होने से वायु को अधिक प्रकुपित करता है व कफ के स्नेहांश को अत्यन्त शुष्क कर उसका विशेष शामक है किन्तु कटु तिक्त रस रूक्ष गुण में मध्य व अवर रूप से वायु का प्रकोप तथा कफ का शमन करते हैं। इसी प्रकार रस अति स्निग्ध होने से कफ को अधिक तथा वायु का विशेष शमन करता है व अम्ल लवण स्नेह गुण में मध्य तथा अवर है इसलिये मध्य व अवर रूप से ही क्रम से वातप्रकोप तथा कफप्रकोपक होते हैं—इससे वही मधुर रस अति शीत से पित्त का विशेष शामक व कषाय तिक्त मध्य व अवर पित्तशामक हैं इस प्रकार संपूर्णतया विचार कर जहां जिसका प्रयोग वांछनीय हो वही उसका प्रयोग करना सफल प्रयोग कहलाता है।

रस नाम	गुण	प्रवर	मध्य	अवर	
(शीत) कषाय	रूक्ष	+			कफशामक—वातकोपक
कटु	,,		+		,, ,,
(शीत) तिक्त	,,			+	,, ,,
(शीत) मधुर	स्नेह	+			कफकर पित्तशामक
अम्ल	,,			+	,, ,,
लवण	,,			+	,, ,,

शोधन चिकित्सा मे वमन विरेचन वस्ति रूप तीनों कर्म कफ पित्त वायु के विशेष

उपक्रम कहे हैं वैसे ही यहां शमन चिकित्सा में कफ, पित्त वायु का शमन करने के लिये तीन द्रव्य शहद, घी, तैल का प्रधान रूप से वर्णन किया है। तैल में स्निग्धता, उष्णता, गुरुतायुक्त होने से इसके अभ्यास से वात शमन होता है। क्योंकि वायु के रूक्ष, लघु, शीत गुणों का शमन उपरोक्त तैलास्थित विशिष्ट गुणों द्वारा होता है। इसी तरह घी भी मधुर, शीत, मन्द गुण के कारण उष्ण, तीक्ष्ण, अमधुर पित्त का शामक वैसे ही कफ स्निग्ध, मन्द, मधुर होता है अतः उसके विरोधी गुण रूक्ष, तीक्ष्ण, कषाय वाला मधु कफशामक है। इसी तरह के और भी इन वातपित्त कफ के विरोधी गुणों वाले द्रव्य होते हैं वे इनका शमन करते हैं अर्थात् सामान्य द्रव्य गुण कर्मों से वृद्धि व विशेष द्रव्य गुण कर्मों से ह्रास होता है।

उपरोक्त इन तीनों द्रव्यों के द्वारा तीनों दोषों का शमन प्रधानतया कहा है परन्तु इनसे दूसरे दोषों का भी शमन होता है परन्तु कषाय, मधुर, रूक्ष गुण के कारण मधु पित्त को भी शमन करता है वैसे ही स्निग्ध घृत रूक्ष गुण वाले वायु का, वैसे ही तैल उष्ण होने के कारण कुछ अंशों में शामक होता ही है, यह उपरोक्त तीनों शमन रूपी औषधियें व्याधि के हेतुभूत दोषों का ही शमनकारक होने से इन्हें हेतु विपरीत कहते हैं। अगर वायु रूक्ष आदि गुणों से सर्व भावों द्वारा सब प्रकार से कुपित हो तो सर्व रूप से विरोधी तैल द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। लेकिन जब कि वायु का प्रकोप रूक्ष गुण से न होकर शीत गुण से हुआ होता वहां तैल का प्रयोग न कर उष्ण गुण युक्त सोंठ आदि हेतु विपरीत औषधि का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार सब जगह ही विचार करना चाहिये। यह सब विचार निघण्टु या द्रव्य गुण शास्त्र द्वारा प्राप्त होता है। द्रव्य गुण अनुशीलन से एक ही औषधि द्रव्य का शोधन व शमन के लिये भली प्रकार उपयोग किया जा सकता है, सिद्धौषधियों का भी स्वरस, कल्क, चूर्ण, आसव, अरिष्ट वटिका अवलेह स्नेह आदि प्रक्रिया द्वारा द्रव्य के अवयवों का विचार कर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार संशोधन चिकित्सा करने के बाद शमन चिकित्सा द्वारा रोग शान्त हो जाने पर भी उस २ रोगाधिकार में कहे उस २ रोग के या रोग स्थान की विगुणता का नष्ट करने वाले औषधि के सतत अभ्यास से निवृत्त व्याधि के पुनरावर्तन का उच्छेद हो जाता है। बलवस्थिर हुए रोगों में योग के प्रयोगों का अभ्यास करने से रोग निवृत्ति होती है।

आधुनिक चिकित्सा लक्षण विरोधी औषधि द्वारा की जाती है। अगरचे इस प्रकार की चिकित्सा व्याधि प्रत्यनीक होने से शीघ्र गुणकारी होती है जैसे शिरः शूल में एस्प्रीन, विषम ज्वर में क्विनैन आदि द्रव्य व्याधि प्रत्यनीक होने से शिरः शूल व विषम ज्वर को शीघ्र ही शमन करती हैं तो भी रोगों के मूल जो दोष हैं उनकी साम्यता हुए बिना स्वस्थता नहीं बन पाती है, इसलिये एक बार रोग शान्ति हो जाने पर भी रोगों का पुनः पुनः आक्रमण होता रहता है। अगरचे इसी प्रकार की व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा चरक में भी बतायी है

परन्तु उसकी उचितता उस क्रियासरणी के अनुसार ही है आधुनिकों की तरह पेटेन्ट औषधियों की भरमार नहीं है, क्रिया की प्रधानता वाद तो सब जगह ही देखा जाता है।

हेतु प्रत्यनी व चिकित्सा में प्रकृति की सहायता भी प्राप्त होती है क्योंकि रोग होते हैं दोष विषमता से अर्थात् शरीर में जो विकार हुए उनका कारण होता है दोष धातु मलों की विषमता, और वह विषमता दोष धातु मल अग्नि आदि की जहाँ जहाँ स्थान संश्रय करते हैं उसी २ स्थान के अनुसार रोगोत्पत्ति हो जाती है। जैसे दोष विकृति ने यदि आमाशय में अपना दुर्ग किया तो ज्वरोत्पत्ति, इसलिये इसकी चिकित्सा में लंघन, पाचन में सन्ताप, स्वेदादि लक्षणों से शरीर शुद्धि प्रकृति स्वयं भी शोधन करने का प्रयत्न करती है, इस स्थिति में यदि लक्षण विरोधी उपायों द्वारा अचानक रोग लक्षणों को रोका जाय तब देहस्थ दोष भली प्रकार से बाहिर नहीं निकल सकते हैं अत: उस रोग के शान्त हो जाने पर भी वे दोष वैषम्य रूप रोग लक्षण देहस्थ रहते हुए कालान्तर में जीर्ण ज्वर आदि नाना प्रकार की गंभीर व्याधियों को उत्पन्न कर देते हैं। यदि ऐसी स्थिति में बाहर निकलने वाले इन दोषों को पहिले शोधन कर बाद में लंघन पाचन पेया आदि उपायों से दोष पाक कर बाद में व्याधि स्थान विपरीत औषधि का सेवन कराया जाय तब वही औषधि आमाशय में जाकर सम्यक् परिपाक होकर सारे शरीर में उत्पन्न विकार समूह का नाश कर बन जाती है। लंघन व पाचन आदि उस अवस्था में हुई प्रकृति विकृति का सहायक रूप में ही बनते हैं।

ऐसे ही अतिसार रोग में साम व निराम की भली प्रकार परीक्षा कर दीपन पाचन आदि चिकित्सा की जाती है। जैसे आम लक्षणों वाला पुरीष गुरुत्व के कारण जल में डूबती है जबकि पक्व जल पर तैरता है परन्तु कभी २ आम भी द्रवाधिक्य से तैरने लगती है तथा पक्व अति सघात से मज्जन कर जाती है अत: अतिसार में आटोम, विष्टभ, अति दुर्गन्ध लक्षणों से सामता तथा इनसे विपरीत लक्षणों में निरामता का विचार करते हुए आमावस्था में अनशन रूप लंघन ह्रीवेरादि पाचन यथायथ दोषों का विचार कर उपयोग किया जाता है न कि व्याधि लक्षण से विपरीत संग्रहणीय औषधि का प्रयोग क्योंकि आमावस्था में रोकने वाली औषधि का प्रयोग न करे, यदि कर दिया गया तो शोथ, पाण्डु, प्लीह, कुष्ठ, गुल्म, उदर, ज्वर दंडक, अलसक, ग्रहणी, अर्श आदि रोगों को उत्पन्न करने वाले बनते हैं, अत: इसके प्रति पूरा ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। अत: निराम अवस्था हो जाने पर ही संग्रहणीय द्रव्य का प्रयोग करे। कोई ऐसी ही परिस्थिति आ पड़ी हो कि जहाँ रोगी अत्यन्त बल क्षीण है तो साम दोष का स्तम्भन करना पड़ता है, लेकिन उस दशा में भी स्तम्भन पाचन स्वभाव का ही हित तय होता है। इसी प्रकार अतिसार जैसे सामान्य रोग की चिकित्सा में हुई गल्ती से बहुत से उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है।

संक्षेप में हेतु प्रत्यनीक आदि पूर्व वर्णित समस्त चिकित्सा विधियां का काय चिकित्सा में धातु साम्यता की स्थिति बनाने के लिये ही उपदेश है। परन्तु इनकी साम्यता रहती है अग्नि की साम्यता से, और अग्नि का बल, स्नेह, अन्न-पान विधि से, चूर्ण अरिष्ट, सुरा, आसव आदि के सम्यक् प्रयोग से बना रहता है। इस प्रकार यहां हेतु विपरीत योजना से मन्दाग्नि की चिकित्सा भी धातु साम्यता के लिये ही है।

अति स्नेह से हुए अग्निमान्द्य में चूर्ण आरिष्ट आसव दें।
उदावर्त से हुए अग्निमान्द्य में निरुह, स्नेह बस्तियां दें।
दोष वृद्धि से हुए अग्निमान्द्य में दोष संशोधन करें।
व्याधि से हुए अग्निमान्द्य में घृत ही अग्नि दीपक है।
उपवास से हुए अग्निमान्द्य में यवागू के साथ घृत पान दें।

इसी प्रकार तीक्ष्ण व विषमाग्नि में भी इनकी चिकित्सा तब तक करनी चाहिये जब तक समाग्नि न हों।

इस प्रकार किसी भी उत्पन्न रोग में हुई धातु वैषम्यता की स्थिति में जब तक धातु-शाम्यता न होवे तब तक सावधानी के साथ शोधन शामन आदि चिकित्सा द्वारा युक्ति व्यपाश्रय रूप व्याधि निर्धान कर औषधि का निरन्तर अनुशीलन करना चाहिये।

चरक संहिता या अग्निवेशतन्त्र समुद्र के समान गंभीर है उसमें आज तक की समग्र चिकित्सा विधियों का समावेश भी शक्य है परन्तु उसकी चिकित्सा विधि के अद्भुतता की विशेषता भी साथ ही साथ रहती है जिसका हमने एक देश से यहां बताने का प्रयत्न किया है।
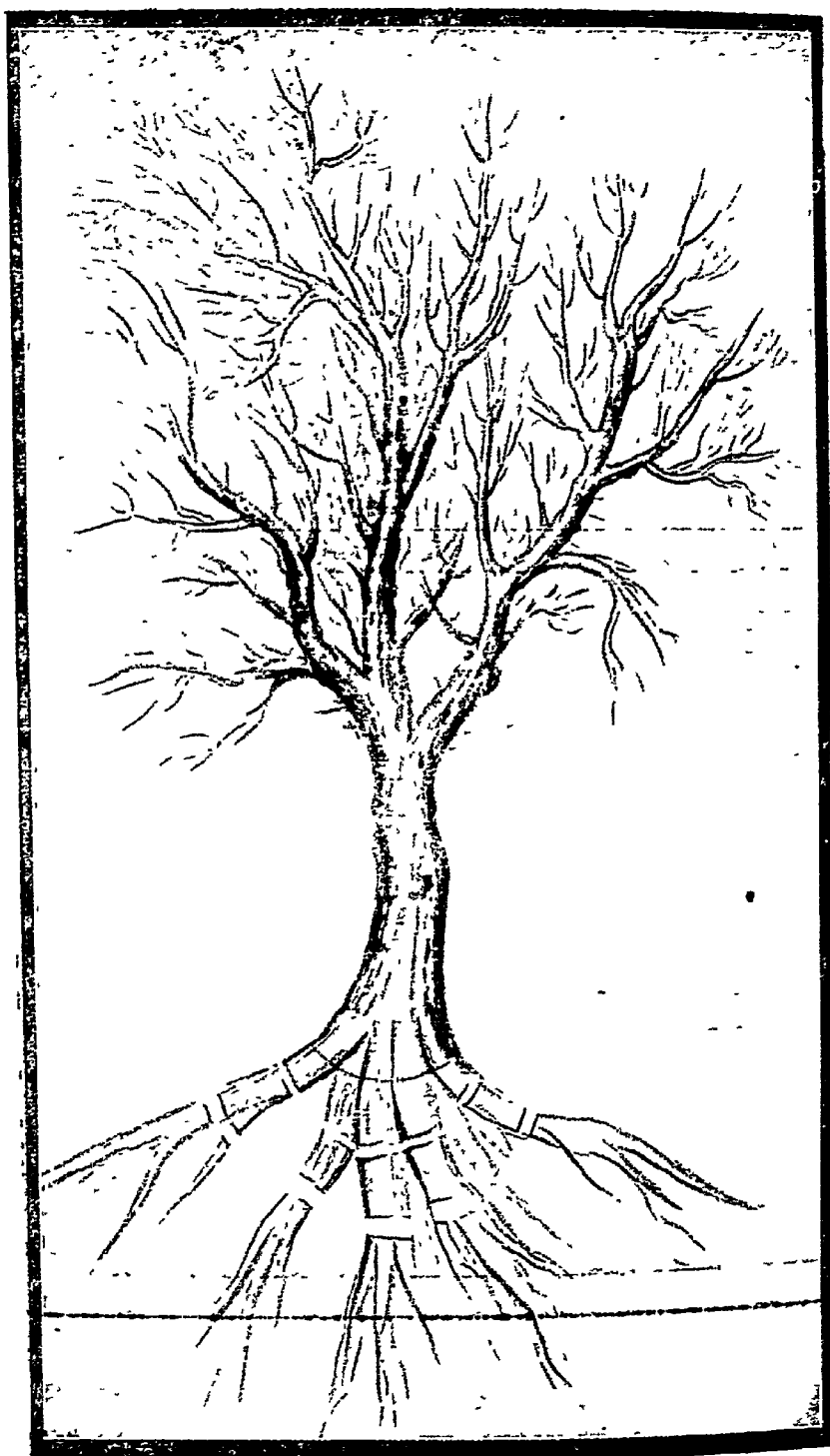
वृक्षायुर्वेद में राजरोग ऐसे वृक्षों की औषधि हानिप्रद हैं।

चिकित्सा में चरक की विशेषता

लेखक : वैद्य विरिञ्चि शर्मा

[श्री शर्मा इस्लामपुर निवासी आयुर्वेदाचार्य वैद्य हैं। आप इन्डियन मेडिसिन बोर्ड राजस्थान के भूतपूर्व सदस्य भी रह चुके हैं। आपका शेखावाटी में विशेष प्रचार है। लेख का विषय अति गंभीर है, आवश्यकता है वैद्यों द्वारा इसे समझने की विशाल समुद्र में से व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही प्राप्त करता है, एक ही विषय के दो लेख पाठकों के सम्मुख है। पढ़ कर निर्णय कर लाभ उठाए।
—वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों में चरक का वैशिष्टय स्थान आजकल की प्रचलित सभी चिकित्सा पद्धतियों मे आयुर्वेद अपना सर्व प्रथम स्थान ही नहीं रखता लेकिन यह कहना उचित है कि आयुर्वेद ही अन्य चिकित्सा प्रणालियों का मूल है। अर्थात् यहीं से अन्य देशों में चिकित्सा पद्धति का प्रसार हुआ। वर्तमान में एलोपैथिक पद्धति जो प्रचलित है वह भी इसी आयुर्वेद से निकली है अतएव हमारे चिकित्सा क्षेत्र में चरक की वैशिष्टचता है कि सैकड़ो वर्षों तक रिसर्च री सामग्री मौजूद है और इसी आधार पर तो महर्षि चरक ने कहा है और दावा किया है कि—

यदि हास्ति तदन्यत्र
यन्नेहास्तिनतत्कचित् ॥

इतिहासों से जो कुछ पाया गया है और वह प्रत्यक्ष है आपसे छुपा नहीं है—अष्टांग आयुर्वेद द्वारा हम हर प्रकार के रोगों का मुकाबला करते आये हैं तथा हमने पीडित रोगियों की जीवन रक्षा की हर तरह की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की है हमारे चरक की चिकित्सा पद्धति आज भी किसी चिकित्सा पद्धति से पीछे नहीं है इस विषय में हमारे चरक ने चिकित्सा क्रम के छ प्रमुख आधार माने है वैसे रोगों के अनन्त भेद है लेकिन उनका निराकरण करने के लिए जो उपाय काम में लाये जाते है वे उपाय इन छः आधारों मे ही सन्निहित है। ये छः आधार हैं—लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन, स्तम्भन। अर्थात् शरीर में विवर्द्धित दोषों का लंघन द्वारा, शरीर के क्षीण प्राण तत्वों का बृंहण द्वारा—शरीर मे स्नेह की कमी का स्नेहन द्वारा शरीर में रुके हुए दोषों का स्वेद द्वारा, शरीर के प्रवाहित तत्वों का स्तंभन द्वारा ही निराकरण संभव है जैसा कि चरक में निर्देश किया है—चरक सूत्र स्थान अध्याय २२

लंघनं बृंहणं काले,
रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव,
जानीतेयः स वैभिषक् ॥

इसी प्रकार रसायन और बाजीकरण में संसार की कोई चिकित्सा पद्धति आयुर्वेदीय चरक चिकित्सा पद्धति के सामने टिकने का साहस नहीं कर सकती इसके अलावा भी इस पद्धति की वैज्ञानिकता उपयोगि तो व्यावहारिकता सरलता, प्राकृतिक अनुकूलता तथा आर्थिक दृष्टि से मितव्ययिता-बड़े २ विद्वान एलोपैथ सदैव ही मानते आये है, यहां तक कि अयुर्वेद के विरोधि तत्वों ने भी इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है कि जिस समय विश्व के प्रांगण में अज्ञानता और असभ्यता का बोल बाला था उस समय हमारे भारत मे सभ्यता वैज्ञानिकता चरम सीमा पर थी उस समय आयुर्वेद ही भारतीय चिकित्सा की नालन्दा तक्षशिला के विश्वविद्यालयों में अन्य देशों के लोग आकर चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा लेते थे अब इतना न होते हुए भी तथा हमें बलपूर्वक आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को चुनौती देते ही रहते हैं लेकिन यह ध्रुव सत्य है कि आयुर्वेद का प्रादुर्भाव स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य रक्षा के लिए तथा व्याधित व्यक्ति को निरोग करने के लिये ही हुआ है। अतएव कहा है स्वस्थस्प स्वास्थ्य रक्षणं तथा व्याधितस्य रोग निवृर्त्थम्। इसी तरह देह धातु को विषमता को समकरना इसका मुख्य उद्देश्य है अतएव कहा भी है—धातु साम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्थ प्रयोजनम्" अन्यत्र भी इसी आशय को लेकर कहा है—रोगस्तुबोष वैषम्यं दोष साम्य मरोगता। आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों में रोग व रोगी की परिचर्या का ही अधिकतर विचार किया है लेकिन चरक में तो आयुर्वेद को निरुक्ति का वर्णन अधो लिखित है—

हिताहितं सुखं दुखं आयुस्तस्यहिताहितम्
मानञ्च तच्चयत्रोक्त मायुर्वेदः स उच्यते ॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि चरक चिकित्सा में "शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगोधारि जीवितम्" आगे कहते हैं—नित्य गश्चानु बन्धश्च पर्यामैरायु रुच्यते—इति शरीर इन्द्रिीय मन तथा आत्मा के संयोग से जो उपलक्षित काल है चरक-सू. ९ अध्याय अर्थात् आयुर्वेद आयु के लिए हित तथा अहित द्रव्य गुण कर्म का विचार करता है जैसे कहा है—यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणिच द्रव्य गुणकर्माणिवेदयति अतोप्यायुर्वेदः—आदि चारक के उक्त वक्तव्यों से आयुर्वेद की महत्ता के साथ २ चरक के चिकित्सा भी प्रत्यक्ष जनहित कारिणी सिद्ध होती है। यह कोई कोरी कल्पना तथा अपने पूर्वजों के प्रति अंधविश्वास ही नहीं अपितु सभी साधना के प्रति श्रद्धांजली मात्र है जो कि रज और तम से निर्मुक्त महर्षियों के द्वारा सहस्रों वर्षों द्वारा कल्पी जाती रही है अतएव कहा भी है रजोस्तभोम्यांनिर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेनये। अर्थात् आज का प्रत्यक्ष ज्ञान रज और तम से निर्मुक्त नहीं है पैसे के बल पर प्राधान्य हैं आयुर्वेद का सिद्धान्त तो इसके विपरीत ही है—जो इस प्रकार है

नात्मार्थं नापिकमार्थमथभूतदयांप्रति।
वर्ततेय चिकित्साया ससर्वमतिवर्तं तं ॥

आयुर्वेद का यह पुनीत उपदेश बिल्कुल सत्य है और वह चिकित्सा में चरक के श्रेष्ठ सूत्रों में है। जय आयुर्वेद

शोधन

लेखक—वैद्य शंकरलाल शर्मा

[श्री शर्मा परम्परागत सिद्ध चिकित्सक, चिकित्सक चूड़ामणि बड़ी सादड़ी उदयपुर के निवासी है। आप आयुर्वेदीय परम्परा के पोषक, अनुभवी कर्मठ विद्वान है। आपने अपने सुपुत्र श्री प्रेमशंकरजी शर्मा निवर्तमान निदेशक आयुर्वेद विभाग, राजस्थान तथा पौत्र को भी आयुर्वेद विज्ञान की उच्च शिक्षा दीक्षा से अलंकृत किया है। आपका "शोधन" नामक लेख बड़ा ही उपयोगी तथा चरक के कल्पस्थान का अतिसंक्षिप्त ग्राह्य सार भाग है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
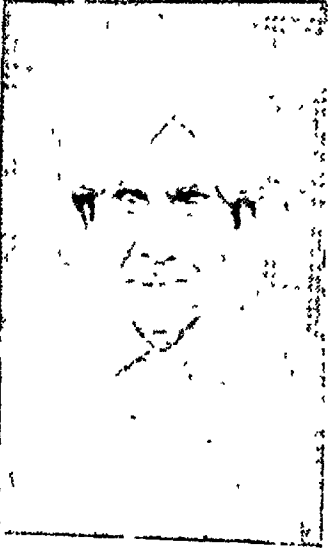
शरीर में पीड़ा यद्यपि दोषों के वैषम्य से उत्पन्न होती है परन्तु यह दोष वैषम्य शरीरस्थ स्रोतों में अति प्रवृत्ति, संग, सिराग्रथियां आदि होकर उन स्रोतों में स्रुत होने वाले द्रव्यों की विमार्ग प्रवृत्ति फलस्वरूप स्रोतों के स्वयं के कार्य में बाधा होने से पीड़ा की प्रतीति होने लगती है। चिकित्सक को स्रोतो वैगुण्य की स्थिति समझकर उन स्रोतों में लीन दोषों को बाहिर निकालने के लिये सर्वप्रथम स्नेहन तथा स्वेदन करना चाहिये। इससे दोष द्रवित हो जाते हैं। उपरान्त इसके संशोधन योग्य रोगियों को चित्र में बताये गये द्रव्यों का प्रयोग करने से देह संशोधन हो जाता है। संशोधन के पश्चात् पेया, विलेपी, अकृत यूष, रस, एक, दो या तीन, अवर, मध्य या प्रधान शुद्ध रोगी को दिया जाय।

वमन

वमन के रोगी, वमन नहीं कराए

						परिहार	सेवनीय
पीनस	क्षत-क्षीण	वमन देकर १ मुहूर्त प्रतिक्षा करे।	योग	अयोग	अतियोग	जोर से बोलना	सुखोष्णजल सेचन
कुष्ठ	अतिस्थूल	पसीना आने पर (दोष विलयन)	काले प्रवृत्ति	अप्रवृत्ति	फेनिल	अधिक भोजन	शाटी चावल
							यवागू २ दिन
नव ज्वर	अति कृश	रोंगटें खड़े होना (दोष प्रचलन)	पीड़ा न होना	औषधि अंश	रक्तचन्द्रिकायुक्त	अधिक बैठना	विलेपी
कास	बाल-वृद्ध	आध्मान (कुक्षि में आना)	हृत शुद्धि	वेग बन्ध	तृषा	अधिक घूमना	मुद्गयूष
श्वास	श्रान्त	हृल्लास, मुँह में पानी आना (ऊर्ध्वमुख)	पार्श्व ,,	स्फोट	मोह	अधिक क्रोध	स्नेहिक धूम
गलग्रह	पिपासित	कुर्सी पर रोगी को बैठाए	मूर्धा शुद्धि	कोठ	मूर्च्छा	अधिक शोक	वैरेचनिक धूम
गलगण्ड	क्षुधित	ललाट पकड़ने वाला	इन्द्रिय शुद्धि	कण्डू	वातकोप	अधिक शीत	उपशमनीय धूम
श्लीपद	उपवास	पार्श्व पकड़ने वाला	यथाक्रम दोष	हृत् अविशुद्धि	निद्राहानि	अधिक धूप	
प्रमेह	व्यायाम	नाभि पकड़ने वाला	निर्हरण	स्रोत शुद्धि	बलहानि	अधिक ओश	
अग्निमाद्य	चिन्तित	पीठ पकड़ने वाला,	स्वयं रुकना	गुरुगात्रता		अधिक वायु	
अजीर्ण	गर्भिणी		पित्तान्त			अधिक सवारी	
अलसक	ऊर्ध्वरक्तपित्त	उदीर्णवेग को प्रकट करे,	तीक्ष्ण		उपद्रव—	मैथुन	
विष गर,पीत	ऊर्ध्ववात	ग्रीवा कुछ झुकाए,	वेग ८		आध्मान	रात्रि जगना	
दष्ट, दग्ध,	हृद्रोग	अंगुलि या कुमुदनालको	चारसेर		परिकर्तिका	दिन में सोना	
विदग्ध							
अघोग	उदावर्त	गले में स्पर्श करे।	मध्य		परिस्राव	विरुद्ध भोजन	
रक्त पित्त							
अर्श	मूत्राघात		वेग ६		हृदयोपसरण	अजीर्ण भोजन	
हृल्लास	प्लीहोदर		तीन सेर		अंगग्रह	असात्म्य ,,	
अरुचि	गुल्म		मृदु		जीवादान	अकाल ,,	

ग्रहणी	आटोप		वेग ४	विभ्रंश	प्रमित ,,
अपस्मार	स्वरभेद		दो सेर	स्तम्भ	प्रतिहीन ,,
उन्माद	तिमिर			क्लम	गुरु ,,
अतिसार	पांग				विषम ,,
शोफ	कर्णशूल				वेगसंधारण
पाण्डु	नेत्र शूल				वेगोदीरण

वमन ·कल्प

क्र.सं.	नाम द्रव्य	उपयोगी अंग	उपयोग कल्पना	मात्रा	अनुपान	रोगों में उपयोग
१	मदन फल	फल पिप्पली	चूर्ण, कषाय, फाण्ट, दूध, घी, वर्ति, अवलेह, मोदक, पेया, पूड़ी, मालपुवा, मद्य, षाडव,	अंतर्नख मुष्टि	मधु सैंधव	सर्पविष, श्वास
२	देवदाली	फल फूल	दूध, पेया, घृत	शुक्ति २ तो:	गुडूची कषाय सुरामण्ड, दूध,	कास, पाण्डु, ज्वर, श्वास, हिक्का, अरुचि,
३	कड़वीतुंबी	गूदा, पुष्प पत्र	दूध, आसव, मद्य, पेया, दधि-घृत, बीजतैल	पत्ते अंतर्नखमुष्टि	वमन द्रव्य कषाय	कफज्वर, पाण्डु, स्वर भेद, पीनस, मधुमेह, कुष्ट विष, गुल्म, उदर, गंडमाल, श्लीपद
४	धामार्गव,	बीज, पीले फूल	पत्रस्वरस, दूध, मलाई, सुरामंड चूर्ण, यवागू, मधु,	चूर्णवटी बेर-प्रमाण		गर, गुल्म, उदर, कास, श्वास
५	इन्द्रजन	फल चूर्ण	तिलयुक्त खिचड़ी	अतर्नखमुष्टि		हृद्रोग, ज्वर, वातरक्त, विसर्प, रक्तपित्त
६	कृतवेधन (कड़वी तोरु)	फल पुष्प	दूध, घृत, आसव		इक्षु रस,	गाढरोग, कुष्ट, पांडु, प्लीहा वृद्धि, शोथ, गुल्म, गरविष

रेचन कल्क

७	निशोथ	मूल (श्वेत अरुणाम)	दाड़िम स्वरस, एलादालचीनी मिला कर पथ्यादि मोदक, आसव, अरिष्ट, कल्याणक गुड़	६ माशा		मूत्र, त्रिफलाक्वाथ, नमक,दूध,इक्षुरस,	हिक्का, कास, श्वास, अरुचि, हृत्, त्रिक, बस्तिशूल
८	आरग्वध	फलमज्जा, फूल	अंगूर रस से, मुनक्का क्वाथ से, निशोथ क्वाथ, दूध, घृत, आसव, अरिष्ट		बाल वृद्ध		ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त, उदावर्त, विबन्ध, अर्श
९	शाबरलोध,	शाबरमूलत्वचा,	दही, छाछ, सुरामंड, बेर की कांजी, आमलकी की स्वरस, मदिरा, आसव, अवलेह	पाणितल १ तोला			मधुमेह, रक्तपित्त
१०	डंडा थूअर अधिक कांटे वालीका	शिशिर ऋतु में गृहीत दुग्ध,	पंचमूल क्वाथ में डाल कर पका कर सुखा कर शोधन करे। घृत, कांजी,		अतिक्रूर कोष्ठ दोषतिसंचय	वृहत्पंचमूलकषाय, मुद्ग यूष,	पाण्डु, उदर, दकोदर, गुल्म
११	दन्ती द्रवन्ती (जमालगोटा)	मूल, बीज, (तीक्ष्ण, आशु उष्ण)	आसव, अरिष्ट, इच्छा भेदी रस चूर्ण,	१/२ चावल	,,	दही, छाछ, सुरामंड,	मधुमेह

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता त्रिदोष-सिद्धान्त

ले० कविराज लाला बदरीनारायण सेन

[कविराज लाल बदरीनारायण जी सेन जी ए० एम० एस० है, आपका औषधालय कन्हौलीराम बाग रोड, मुजफ्फर (बिहार) में है। श्री सेन सुयोग्य लेखक हैं आपका "आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता त्रिदोष-सिद्धान्त" पठनीय है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद वैज्ञानिक है या अवैज्ञानिक इसे सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। अपनी भाषा में तो यह "वेद" याने विज्ञान है हीं आज की भाषा में भी यह उतना ही वैज्ञानिक है जितना कोई भी अन्य विज्ञान। बल्कि आज के आयु: वैज्ञानिकों को रक्त परिभ्रमण पाचन एवं शोषण आदि जिन बातों पर अपने को वैज्ञानिक कहने का गर्व है वे आयुर्वेद से ग्रहण किये गये हैं—हां इतना ही भर कहा जा सकता है कि उनकी व्याख्या इन्होंने सुगम रूप से किया है। आयुर्वेद मे वर्णित रस रक्त संवहन शरीर की प्राकृत क्रियाये पाचन पोषण रस गुण विर्य्य विपाक तथा धातुवों (metals) का इस रूप में परिवर्तन की वे शरीर के लिये आसानी से ग्राह्य हो सके आदि क्या अवैज्ञानिक है? नहीं। आज का आयु: विज्ञान भी इसी पथ से होता हुआ आगे बढ रहा है उसका अन्य कोई पथ नहीं है। अतः यदि वह वैज्ञानिक है तो यह भी वैज्ञानिक है।

जितना विज्ञान स्वत: वैज्ञानिक है आयुर्वेद उतना वैज्ञानिक तो है ही उसमें कोई संदेह हो ही नही सकता, साथ ही साथ इस के विज्ञान की एक अपनी मौलिकता है जिस ओर अभी तक आज के वैज्ञानिक नही बढ़े हैं और वह है इसका "त्रिदोष वाद"। केवल शरीर को ही नही सृष्टि के सारे भौतिक द्रव्यों को आयुर्वेद ने त्रिदोष वाद के सूत्र से बांध रखा है इसकी व्यापकता के सम्बन्ध में इतना तक कहा है कि जिस प्रकार चन्द्रमा-सूर्य्य एवं वायु संसार में व्याप्त है और उसे धारण किये है उसी प्रकार त्रिदोष भी शरीर हो नहीं हां भौतिक द्रव्यों में व्याप्त है और उन्हें धारण किये रहने वाला है।

मगर इसे दुर्भाग्य कहें या काल के कारण थपेड़ों का प्रभाव कि आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थो मे इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती कि वास्तव में यह क्या है इसकी उत्पत्ति कैसे है। किस प्रकार यह इतना व्यापक है और कैसे यह शरीर का धारक है। उपलब्ध आयुर्वेद ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो कुछ छिटपुट पंक्तियां मिलती हैं वे इतनी अधिक परस्पर विरोधी हैं "त्रिदोष मीमांसा" जैसे आलोचनात्मक पुस्तकों को प्रकाश

में आने का अवसर मिला है। एक ओर जहां त्रिदोष के अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक एवं धारक होने का वात कहा है वहीं दूसरी ओर उसके स्वरूप का वर्णन कर उसे अत्यन्त स्थूल एवं सीमित भी बना डाला है। मगर सिवाय इन पंक्तियों के जिनमें इसके स्वरूप का वर्णन है और कहीं भी इनके स्थूल एवं सीमित होने को आभास तक नहीं मिलता। इससे यह मालूम पड़ता है कि या तो ये वाद के योग (addstion) हैं या इसका वह अर्थ नहीं जिसे हम लोग आज ले रहे। लेखक इसी का समर्थक है] अतः त्रिदोष वास्तव में क्या है इस समय सबसे अधिक विवादग्रस्तविषय है और विभिन्न प्रकार के विचार इस समय इस पर प्रगट किये जा रहे हैं। इस पर लेखक का भी अपना विचार है जो इसमें प्रगट किया जा रहा है।

वात पित्त एवं श्लेष्म के सूक्ष्मता एवं व्यापकता के सम्बन्ध में आयुर्वेद में इतना अधिक कहा गया है कि इससे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह तो पंचमहाभूतों ही की तरह एक व्यापक एवं सूक्ष्म वस्तु है या उससे सीधा सम्बन्धित कोई वस्तु है। मगर चूंकि सारे भौतिक द्रव्यों का उपादान कारण पंचमहाभूत ही है अन्य कुछ नहीं—इसलिये त्रिदोष उन्हीं के समान अन्य कोई वस्तु हो यह युक्ति युक्त नहीं है मगर जिन के उपादान कारण पंचमहाभूत हैं उनको धारण किये रहवे वाला या उनके अस्तित्व को बनाये रखने वाला कारण यह है इसलिये यह पंचमहाभूतों से सीधा सम्बन्ध रखने वाला कोई वस्तु है—ऐसा अनुमान होता है। चूंकि ऐसा कहा गया है कि रज (ova) एवं वीर्य्य (Sperm) जो पंचमहाभूतो के शुद्धतम योग है उनमें भी त्रिदोष अपने अनुपात में रहता है यदि विपरीत हो तो उस रज वीर्य्य की अपनी क्रिया याने प्रजोत्पादन सम्भव नहीं। इतना ही नहीं यदि रज वीर्य्य के संयोग से प्रथम परमाणुस्वरूप उत्पन्न प्रजा में भी यह अपने अनुपात में नहीं रहे तो वह परमाणुरूप प्रजा, विकास प्राप्त कर परिपूर्ण देह वाला नहीं बन सकता; वह नष्ट हो जाता है, इन बातों से यह अनुमान किया जा सकता है कि पंचमहाभूतों के संयोग के साथ ही त्रिदोष उत्पन्न होता है और उनके योग को धारण किये रहने वाला है।

यह निर्विवाद है कि संसार के जितने भी भौतिक द्रव्य हैं वे सभी पंचभौतिक हैं। नवीन विज्ञान कुछ तत्वों को जिनकी संख्या लगभग १०० की बताई जाती है समस्त भौतिक द्रव्यों का उपादान कारण मानता है। यद्यपि कि प्राचीन भारतीय दर्शन एवं विज्ञान ऐसा नहीं मानता—वह इन तत्वों को भी अपनी भाषा में भौतिक ही मानता है फिर भी वस्तुस्थिति एक ही रहती है और वह यह कि समस्त भौतिक द्रव्यों के उपादान कारण एक ही है चाहे उन्हें पंचमहाभूत कहें या सौ तत्त्व कहें।

सृष्टि विकास के सम्बन्ध में आयुर्वेद एवं अन्यान्य सभी भारतीय दर्शनों का मत है कि सारी सृष्टि का उपादान कारण है क्रिया—एवं शक्ति का संयोग। शक्तिविहीन क्रिया—याने निष्क्रिय क्रिया की संज्ञा मूल प्रकृति एवं क्रियाविहीन शक्ति का परमचेतन।

इन दोनों की सामूहिक संज्ञा अव्यक्त भी है। इन दोनों के संयुक्त रूप को याने शक्तियुक्त मूल क्रिया को महत्त्व कहते हैं। शक्तिसम्पन्न क्रिया का परिणाम अवश्य होगा अतः महत्त्व के परिणामस्वरूप अहंकार होता है। मगर चूंकि यह शक्ति सम्पन्न क्रिया के परिणाम रूप है इसलिये यह भी शक्तिसम्पन्न क्रिया रूप ही होता है। इस प्रकार शक्ति-सम्पन्न क्रिया एवं उनके परिणामों की परम्परा चल पड़ती है और एक के बाद दूसरा दूसरे के बाद तीसरे--चौथे परिणामों का अस्तित्त्व आने लगता है। इन परिणामों को आयुर्वेद ने दो वर्गों में रखा है एक अभौतिक दूसरा भौतिक। अव्यक्त-महत्व, अहंकार-पंचतन्मात्रा, एकादश इन्द्रियां एवं पंचमहाभूत ये सबके सब अभौतिक वर्ग में हैं। इसलिये इन्हें आयुर्वेद में २४ ताव के नाम से कहा गया है। मगर पंचमहाभूत नामक शक्तिसम्पन्न क्रियाओं के परिणामस्वरूप जो कुछ अस्तित्व में आते हैं वे सभी भौतिक वर्ग में रखे गये है। इन क्रियायों के परिणामस्वरूप जो कुछ भी अस्तित्व में आते हैं उनकी विशेषता यह है कि वे केवल शक्तिसम्पन्न क्रिया मात्र ही नहीं रहते बल्कि एक ऐसे रूप में आता है जिसमें उसका उपादान कारण कर्म एवं गुण ये तीनों एक साथ समवाय रूप में रहते हैं। आयुर्वेद में महाभूतों के सयोग से उत्पन्न ऐसे परिणामों की संज्ञा "द्रव्य" दीं गई है।

इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि पंचमहाभूतों के संयोग से उसके परिणामों के साथ ही साथ एक ऐसे अन्य वस्तु का भी प्रादुर्भाव होता हैं जो परिणामों के उपादान कारण, कर्म एवं गुणों की वाध (समवाय रूप से) धारण किये रहने का काम करता है। और यह तीन रूप में इस काम को करता है। एक तो गन्धगति स्पर्श का रूप दे बांधे रखता है दूसरा ताप या वर्ण का रूप दे बांध रखता— और तीसरा एक स्थान को घेर कर रखे रहने का रूप दिया करता है। इन तीनों में कौनसा किस मात्रा में उत्पन्न होगा यह संयुक्त होने वाले महाभूतों के संख्या, मात्रा एवं अनुपात पर निर्भर करता है। यों तो ये तीनों अलग भी उत्पन्न हो सकते हैं एक साथ न्यूनाधिक्य रूप से भी उत्पन्न हो सकते हैं और यह सव पंचमहाभूतों के संख्या मात्रा एवं अनुपातादि के अनुसार होता है) मगर जब ये तीनों एक साथ और सम रूप में होते हैं तव साकारता का प्रादुर्भाव होता है। इन तीनों को क्रमशः वात (गति गन्ध स्पर्श), पित्त (ताप या वर्ण) एवं श्लेष्मा (स्थान घेर में) कहते हैं।

"वा" गति गन्धनयोरितिधातुः 'तप' संतापे, "श्लिष" आलिगने ऐतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैः वातपित्त श्लष्मिति ॥ सु० सू० २१ अ० श्लो ४ ॥

यदि किसी भी साकार वस्तु की साकारता पर ध्यान दे तो हर साकार वस्तु में तीन वातों को समान रूप में (common) अवश्य पायेंगे। एक तो यह कि उसमें एक स्पर्श अवश्य रहता है दूसरा यह कि उसमें एक रूप या वर्ण अवश्य रहता है और तीसरा यह कि वह एक स्थान को अवश्य घेरता है। इसमें सन्देह नहीं हर वस्तु विशष में ये

विशिष्ट २ प्रकार के होते हैं। अगर ये तीनों एक साथ और सम रूप में अवश्य रहते हैं। [यह विशेषता महाभूतों के विभिन्न सख्या-मात्रा एव अनुपात के अनुरूप होता है]। यदि किसी साकार वस्तु में से इन तीनों में से किसी एक का भी सर्वथा अभाव कर दिया जाये तो उस वस्तु का अस्तित्व ही नही रहता। अत: यह कहा जा सकता है कि किसी भी वस्तु विशेष की विशेषता का धारक यही तीन है।

साकारता के धारक इस वस्तु विशेष (धातु) में दो विशेषतायें हैं एक तो यह सहज ही अन्य बातों से प्रभावित होने वाला है और प्रभावित हो अपने मूल रूप से कुछ अन्य रूप धारण कर लेता है—जैसे एक टिन के डिब्बे को लें; इसका एक स्पर्श विशेष है, इसका एक रूप विशेष है—और यह एक स्थान विशेष को घेर कर रखता है तब कहीं जाकर यह एक डिब्बा कहाता है; यदि इसे हथौड़े से कूट डाले तो इसके उक्त तीनों बातें परिवर्तित हो जाती है। कूटा हुआ वस्तु टिन तो रह जाता है मगर डिब्बा नहीं रह पाता न इसका डिब्बे वाला कर्म एवं गुण रह जाता है। अर्थात् यह सहज ही में अपने मूलरूप से परिवर्तन पा जाने वाला या मलिन हो जाने वाला है जिससे उसका पूर्व कर्म एवं गुण नहीं रह पाता। यद्यपि उपादान कारणों में कोई अन्तर नहीं रहता है—टिन के डिब्बे एव उसे कूटने के बाद के उसके रूप मे—दोनों ही में उपादान कारण ज्यों के त्यों है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि अन्य वस्तुओं के सयोग से आकर परिवर्तित हो उपादान कारणों को ही दूषित कर देता है जैसे टिन के डिब्बे को यदि मिट्टी पानी के सयोग मे कुछ दिन रहने दे तो वह जंग (Rust) से भर जाता है याने उसका पूर्व रूप परिवर्तित हो उसके उपादान कारणों को ऐसे दोषमय बना देता है जिससे डिब्बा यत्र-तत्र से टूट जाता है छिद्रमय हो जाता है और डिब्बे का जो कर्म गुण है वह नही रह जाता है।

इस प्रकार यह पाते है कि पचमहाभूतों के सयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तुओं के उपादान कारण कर्म एवं गुण इन तीनों को समवाय रूप से बांध रखने वाला वस्तु महाभूतों के संयोग के साथ ही साथ उत्पन्न होता है और वह महाभूतों के संयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तुओं को एक रूप (Form) देता है; इसके माध्यम से परिणाम रूप उत्पन्न वस्तुओं के कर्म एवं गुण परिवर्तित हो सकते है या इसके माध्यम से इसके उपादान कारणों मे कुछ योग दे उसके कर्म ग्रहण में परिवर्तित ला सकते है। अर्थात् उसके उपादान कारणों को पूर्ववत् नही रहने देकर उसे दोषयुक्त कर सकते है। और चू कि यह महाभूतों के सयोग के साथ ही प्रादुर्भूत होता है इसलिए यह सभी भौतिक द्रव्यों में व्यापक (common) रूप से वर्त्तमान रहता है चाहे वे साकार हों या निराकार—सेन्द्रिय हो या निरिन्द्रिय।

संसार में जितने भी भौतिक द्रव्य है सभी के उपादान कारण यद्यपि पचमहाभूत

हैं तथापि न तो सभी के रूप (Form) एक हैं और न कर्म गुण। पंचमहाभूत चूंकि संख्या, परिमाण एवं पृथकत्व और संयोग विभाग गुण वाले हैं—इसलिये इनका पारस्परिक संयोग संख्या, परिणाम एवं अनुपातादि में होता है। और इनके संख्या, परिमाण एवं अनुपातादि के ही अनुरूप वह वस्तु उत्पन्न होता है जो इनके संयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तु के उपादान कारण के होते हुए भी समवायरूप से बांध रखता है अतः एक ही उपादान कारण के होते हुए भी विभिन्न प्रकार के रूप (Form) होते हैं और रूप के अनुसार ही कर्म एवं गुण होता है चूंकि रूप ही उपादान कारण के विभिन्न संख्या-मात्रा एवं अनुपातादि का धारक होता है जिसके एक अपने सम्मिलित कर्म और गुण होते हैं। अर्थात् द्रव्य (पंचमहाभूतों के संयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तु) के कर्म एवं गुण उसके रूप (Form) के अनुसार होते हैं। यदि इसके रूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होता है तो उसके कर्म एव गुण भी परिवर्तन होता है।

महाभूतों का संयोग दो प्रकार का होता है एक वह जिसे शुद्ध योग कहते है दूसरा वह जिसे मिश्र योग कहते है। शुद्ध योग वह है जिसमें केवल पंचमहाभूतों का ही योग होता है, इसके योग से उत्पन्न (परिणामस्वरूप) वस्तु के हर अंश का रूप कर्म एवं गुण सर्वदा एक ही रहता है इसे मूल द्रव्य या शुद्ध द्रव्य कहते हैं। संख्या मात्रा एवं अनुपातादि के अनुसार इनके विभिन्न रूप (Form) होते है जैसे वायव्यरूप (गैसस्) ठोस (सौलिड) रूप आदि [औक्सीजन, हाइड्रोजन, लौह, ताम्र आदि]। मिश्रयोग वह योग है जिसमें महाभूतों के संयोग के साथ साथ मूल द्रव्यों का भी योग हो। इस योग से उत्पन्न वस्तु का नाम मिश्रद्रव्य है। महाभूतों एवं मूल द्रव्यों के संख्या परिमाण एवं अनुपातादि के अनुसार इसके भी विभिन्न रूप हुआ करते हैं—जैसे मानव, पशु-पक्षि, जल वनस्पति आदि। ऐसे योगों से उत्पन्न वस्तु के हर अंशों का रूप गुण एवं कर्म एक नहीं होता है; विभिन्न प्रकार के रूप कर्म एवं गुण मिल कर ही एक विशिष्ट प्रकार के कर्म एवं गुण तथा रूप का सृजना करते है।

आज के विज्ञान में जिसे तत्त्व या "ऐलिमेन्टस्" कहते है वह प्राचीन भारतीय विज्ञान के अनुसार मूल द्रव्य है और तत्त्व न होकर पंच भौतिक है।

द्रव्य चाहे मूलद्रव्य हो या मिश्रद्रव्य हो सभी का एक अपना अपना रूप और कर्म गुण होता है रूप उपादान कारणों के अनुरूप होता है और कर्म गुण उस रूप के अनुरूप होता है अर्थात् संयोग रूप का जनक है और रूप कर्म गुण को अपने में बांध कर रखने वाला है। अतः मूल द्रव्य या मिश्रद्रव्य या दोनों ही एक साथ परस्पर संयोग पाते जाये तो एक रूप का प्रादुर्भाव होगा जिसका एक अपना कर्म एवं गुण होगा। योगों के समय (भौतिक योगों के समय) यदि इन्द्रियों का भी योग हो जाये तो वे योग सेन्द्रिय या चेतन योग

कहाते है और उनके परिणाम स्वरूप उत्पन्न द्रव्य सेन्द्रिय या चेतन द्रव्य कहे जाते है। इन्द्रियों के योग से उसके रूप में तो कोई अन्तर नहीं आता है मगर कर्म एवं गुण मे बिना अन्तर लाये एक वृद्धि या योग हो जाता है और वह यह होता है कि वह अपना. वृद्धि एवं विकाश स्वय करने लगता है मगर यह भी उसके रूप एवं कर्म गुण के ही अनुरूप होता है। इन्द्रियों का योग भो भौतिक योगो के साथ स्वत: ही होता है मगर सभी भौतिक योगों के साथ ही इसका सयोग नहीं होता है खास खास भौतिक योगों के साथ इसका योग होता है; कैसे भौतिक योगों के साथ इसका योग होता है इस तक अभी मानव ज्ञान नहीं पहुंच सका है।

सेन्द्रिय द्रव्यो के विकाश एवं वृद्धि का भी एक क्रम है और वह यह है कि सेन्द्रिय द्रव्य का आरम्भिक रूप जिसे आदि परमाणु कहते हैं (Porliotecll) वहा केवल अपने आकार में ही बृद्धि नही करता है बल्कि एक सीमित आकार तक वृद्धि कर स्वत: ही विभाजित हो एक से दो हो जाता है पुन: एक हो के ये दोनों अंश एक सीमित आकार तक वृद्धि कर विभाजित हो जाते है और दो से चार हो जाते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इनकी सख्या में वृद्धि आती जाती हैं। केवल सख्या में ही वृद्धि करना इनकी क्रिया का अन्त नही है—ये अपनी संख्या में वृद्धि भी करते जाते है और साथ साथ परस्पर सयुक्त भी होते जाते है। मगर संयोग चूंकि एक रूप का भी जनक है—इसलिये इनका (cells परमाणुओं) संयोग भी ऐसा ही होता है जो आरम्भिक रूप (Mother Cells—मूल परमाणु) के रूप कर्म एवं गुण अनुरूप ही रहता है। [सेन्द्रिय द्रव्यों के आरम्भिक-रूप का नाम आरम्भिक सेल या परमाणु है—प्रथम सेल को मदरसेल या मूल परमाणु कहते है] परमाणु संयुक्त हो एक दूसरे रूप का निर्माण करते है जिसे तन्तु (Tissucs) कहते है। यद्यपि तन्तु का एक अपना अलगरूप एव कर्म गुण होता है तथापि उसका यह रूप एवं कर्म गुण भी उसी के अनुसार होता है जो आदि सेन्द्रिय द्रव्य याने मूल परमाणु का रहता है यह केवल उसके मूल रूप कर्म एवं गुण के विकाश का एक अंश-मात्र (विकसित-अंश) होता है। ये तन्तु (Tissue) भी केवल संख्या में ही वृद्धि नही करते बल्कि ये भी सयुक्त होते जाते है। ये संयुक्त हो एक दूसरे रूप का निर्माण करते है जिसे अवयव (organ) कहते है। यद्यपि अवयवों का भी अपना अपना रूप एव कर्म गुण होता है तथापि ये भी मूल रूप एव कर्म गुण के विकाश का एक विकसित अश मात्र होता है। ये अवयव सयुक्त हो एक दूसरे रूप का निर्माण करते है जिसे "शरीर" (Body) कहते है। यद्यपि शरीर का एक अपना रूप एवं कर्म गुण है तथापि यह भी मूल रूप के अनुरूप ही रहता है। यह मूल रूप, कर्म एवं गुणों का पूर्ण विकसित रूप मात्र है शरीर मूल सेन्द्रिय द्रव्य के रूप एव कर्म गुण का पूर्ण विकसित रू है अत: अब आगे इसका विकाश नहीं होता—अब एक निर्धारित सीमा तक अपने आकार तक वृद्धि करता है और उस आकार तक वृद्धि कर चुकने बाद उसका केवल प्रतिपालन (Maintainance) करता है।

इस प्रकार यह पाते है कि एक सेन्द्रिय द्रव्य अपने रूप कर्म एवं गुणों का विकाश स्वत: उस हद तक करता है जिस हद तक वह कर सकता है जब कि एक निरेन्द्रिय द्रव्य स्वत: अपने रूप कर्म एवं गुणों का विकाश नहीं कर सकते है। इस विकाश क्रम में सेन्द्रिय द्रव्य विभिन्न प्रकार के रूप कर्म एवं गुणों (तन्तु अबयवादि) का निर्माण करता जाता है जिनके रूप कर्म एवं गुण यद्यपि भिन्न २ होते है तथापि ये सभी मूल रूप के रूप, कर्म एवं गुणों के अनुरूप ही रहते है अत: विभिन्न रूप कर्म एवं गुणों का निर्माण होता हुआ भी सभी एक सूत्र में बन्धे होते है चूंकि वे विकाश के एक अंश मात्र ही होते हैं। जैसे मांस तन्तु-अस्थि तन्तु हृदय आमाशय, यकृत्, वृक्क आदि सभी विभिन्न रूप कर्म एवं गुण वाले होते है मगर इनका रूप, कर्म एवं गुण सभी उस मूल रूप के रूप, कर्म गुण के अनुरूप ही होते है जिससे कि इन सबों ने अपना विकाश प्राप्त किया है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि रूप (Form) ही वह वस्तु विशेष है जो द्रव्यों के उपादान कारण, एवं उनके कर्म एवं गुणों का धारक होता है और यह रूप तीन बातों के कारण होता है—स्पर्श (वात) वर्ण (पित्त) एवं स्थान का घेरा "श्लेष्मा" महाभूतों के संयोग से जो कर्म एवं गुण प्रगट होते है उन कर्म एवं गुणों में से कुछ का धारक तो वात (स्पर्श) होता है कुछ का पित्त (वर्ण) और कुछ का श्लेष्मा।

पंचमहाभूतों के संयोग से उत्पन्न निम्नलिखित कर्म एवं गुणों का धारक निम्न-लिखित रूप होते हैं।

वात:—

गति, विस्तार, हर्ष, साद, वर्त्त, मर्द-कम्प, चाल, तोद, शोष सुप्ति-आकुञ्चन, प्रसारण, स्तम्भन, स्रंश, भ्रंश, उच्छ्वास, नि:श्वास चेष्टा-संवहन, ग्रहण, व्याश, धारण, संधान प्रवृति आदि कर्मों का जो उपादान कारणानुसार उनके संयोग से उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

रूक्ष, शीत लघु, शुष्क, कर्कश-खर विशद आदि गुणों का जो उपादान कारणानुसार उनके संयोग से उत्पन्न होता है उसका धारक होता है।

पित्त:—

ताप, उष्मा, स्वेद, क्लेद, कोथ, स्राव, राग, गन्ध वर्ण, रसोत्पादन, दर्शन, क्षुत पिपासा, प्रसन्नता-मेधा आदि कर्मों का जो उपादान कारणानुसार उनके संयोग से उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

उष्ण, तीक्ष्ण-द्रव-सार-स्नेह आदि गुणों का जो उपादान कारणानुरूप उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

श्लेष्मा—

स्थिरता-स्तम्भता, सुप्ति, क्लेद-बन्ध, उपदेह, मधुरता कठिनता आदि कर्मो का जो उपादान कारणानुसार उनके सयोग से उत्पन्न होता है उनका धारक होता है।

गुरु-शीत, स्निग्ध, स्थिर-स्थूल-मन्द आदि गुणों का जों उपादान कारणानुसार उत्पन्न होते है उनका धारक होता है।

उपर जितने कर्म एवं गुणों का उल्लेख किया गया है उतने ही कर्म एवं गुण हो ऐसी बात नहीं; महाभूतों के संख्या परिमाण एवं अनुपातादि के अनुसार इसके अतिरिक्त भी कर्म एवं गुण होते है। उपरोक्त कर्म एवं गुण प्रमुख कर्म एवं गुण है इन्हीं के अनुसार अन्य विविध कर्म एवं गुणों का विभाजन करना चाहिये।

महाभूतों के संयोग से दो बातें एक साथ उत्पन्न होती है एक रूप (Form) और दूसरा कर्म एवं गुण। इसमें रूप, उपादान कारणों एवं कर्म तथा गुणों का धारक होता हैं-रूप इन दोनों को धारण कर महाभूतों के संयोग के परिणाय स्वरूप उत्पन्न वस्तु को द्रव्य का रूष देता है। अतः प्रत्येक द्रव्या का चाहे वह सेन्द्रिय हो या निरेन्द्रिय एक रूप तथा कर्म एवं गुण होता है। महाभूतों के सयोग से प्रारम्भ में जो रूप तथा कर्म एवं गुणों का समुदाय द्रव्य के रूप में प्रकट होता है वह उस द्रव्य का स्वभाविक कर्म गुण एवं रूप कहाता है। चूंकि रूप ही उपादान कारण तथा कर्म एवं गुणों का धारक होता है इसलिये इसका प्रभाव इन दोनों ही पर होता है; और चूंकि रूप अन्य बातों से सहज ही प्रभावित हो जाने वाला वस्तु है इसलिये इसकी दो अवस्थायें होती है एक तो वह जिसमें यह उसी रूप में रहे जिस रूप में यह आरम्भ में उत्पन्न हुआ था इस अवस्था का नाम "समावस्था" है। दूसरा वह जिसमें स्वकारण वशात इसमें कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक्य का हो जाना हो जाये—इस अवस्था का नाम "विषमावस्था" है। जब तक रूप अपने स्वभाविक अवस्था में है कर्म एव गुण भी स्वभाविक अवस्था में रहते है—इसमें जरा भी परिवर्त्तन आया कि कर्म एवं गुण में भी परिवर्तन आता है याने स्वभाविक नहीं रहता है।

मानव एक सेन्द्रिय द्रव्य है—इसके उपादान कारणों के संयोग से एक रूप (Form) तथा कर्म एवं गुण उत्पन्न होता है; रूप उपादान कारणों एवं कर्म तथा गुण का धारक होता है। चूंकि यह एक सेन्द्रिय द्रव्य है इसलिये इसके रूप एवं कर्म तथा गुण का विकाश होता है रूप एवं कर्म गुण विकाश प्राप्त करता हुआ एक मानव शरीर तथा उसके कर्म एव गुण में विकशित होता हैं। विकाश क्रम मे इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के रूप एवं कर्म तथा गुणों का निर्माण होता है जो सभी मिल कर वही रूप एवं कर्म तथा गुण के रूप में रहते है जो उसका आदि का था।

चूंकि रूप ही कर्म एवं गुणों का धारक होता है इसलिये शरीर के अवयवों एवं तन्तुओं के रूप यदि स्वभाविक रहे तो उसके कर्म एवं गुण स्वभाविक रहेंगे। शरीर के तन्तुओ एवं अवयवों के कर्म एव गुण का स्वभाविक अवस्था में रहना ही शरीर का स्वस्थावस्था में रहना कहाता है। यदि किसी अवयव या तन्तु का कर्म एवं गुण अस्वभाविक होता है तो शरीर रुग्ण या अस्वस्थ कहाता है। शरीर के किसी भी अवयव या तन्तु का कर्म एवं गुण का अस्वभाविक होना तब तक सम्भव नही जब तक उसका "रूप" अस्वभाविक न हो जाये। अतः कोई भी अस्वमाविक कर्म एवं गुण अस्वभाविक रूप को ही ईंगित करता है। हर अवयव एवं तन्तुओं के अपने २ कर्म एवं गुण होते है जो उनके स्वभाविक कर्म एवं गुण कहे जाते हैं जिनका वर्णन "शरीर के प्राकृत क्रिया" के रूप में आयुर्वेद एवं अन्य सभी आयुविज्ञान में किया गया है। अस्वभाविक कर्मो (लक्षणों) से (जिनका वर्णन आयुर्वेद में "निदान" के रूप मे एवं अन्य विज्ञानों में "शरीर विकृति विज्ञान" के रूप में किया गया है) यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि शरीर का कौन २ सा अवयव कौन २ सा अस्वभाविक कर्म कर रहा है और इन अस्वभाविक कर्मो से यह अनुमान किया जा सकता है कि कर्मो का धारक वस्तु "रूप" (वात, पित्त एवं श्लेष्मा का समुदाय) का कौन सा अंश (वात अथवा पित्त अथवा श्लेष्मा) विकृत या अस्वभाविक हुआ है इस प्रकार शरीर के मूल रूप, कर्म एवं गुणों का तथा इन मूल रूप कर्म एव गुणों के विकाश क्रम में होने वाले विभिन्न रूप कर्म एवं गुणों का (जो कि मूल के केवल विकाश मात्र होते है) वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। मनुष्य शरीर के इस वर्णन के बाद मनुष्य शरीर से अतिरिक्त अन्य सभी द्रव्यों का भी वर्णन या विश्लेषण आयुर्वेद ने इसी आधार पर किया हैं।

चूंकि सृष्टि में जितने भी द्रव्य है सभी पंच भौतिक ही है अतः सभी के साथ उनका अपना २ रूप कर्म एवं गुण है। यद्यपि उपादान कारण सभी के एक है तथापि महाभूतों के संख्या, परिमाण एवं अनुपातादि के कारण सभी के रूप गुण एवं कर्म में विभेद रहता है। अतः आयुर्वेदज्ञो ने द्रव्यों का विश्लेषण इसी आधार पर किया और उनके विभिन्न रूपों-गुणो तथा कर्मो को अलग अलग रखा।

चूंकि रूप ही वह पहली वस्तु है (न उपादान कारण न कर्म एवं गुण) जो संसर्ग या संयोग से प्रभावित होता है और तद प्रभावानुरूप कर्म एवं गुण तथा उपादान कारणों में परिवर्तन लाता है इसलिये शरोर को स्वभाविक रूप में अथवा अस्वभाविक रूप में रखने या लाने का काम द्रव्यों के संयोग से हो सकता है। इसी विश्लेषण के क्रम में आयुर्वेदज्ञो ने द्रव्यों के प्रयोग को दो भागों में रखा—एक केवल कर्म एवं गुण के आधार पर और दूसरा रूप, कर्म एवं गुण के आधार पर। प्रथम वर्ग में द्रव्यों का उपयोग केवल उनके कर्म एवं गुण पर होता है जैसे पिपासा शामक एवं शीतल कर्म गुण वाला द्रव्य

पिपासा की शान्ति कर सकता है चाहे पिपासा किसी भी प्रकार के "रूप विकृति" से क्यों न हो जैसे जल, दूसरे वर्ग में द्रव्यों के उपयोग को रूप कर्म एवं गुण तीनों पर रखा गया है जैसे वात पित्त शामक, मधुर तथा तृप्ति दायक जैसे सौंफ, धनिया, खसखस आदि। यदि पिपासा वात पित्त के विकृति से है तो इसके उपयोग से पिपासा को दूर किया जा सकता है (वात पित्त की विकृति को दूर कर) जो कि केवल जल के उपयोग से सम्भव नहीं।

अतः आयुर्वेद विज्ञान की मौलिक वैज्ञानिकता है इसका (१) तत्त्व मीमांशा, (२) त्रिदोष मीमांशा तथा (३) त्रिदोषाधाप्ति द्रव्य मीमांशा।

आयुर्वेद के अतिरिक्त जितने भी अन्य विज्ञान है सभी का आरम्भ "द्रव्य" से है। जिसे आयुर्वेद ने द्रव्य संज्ञा दी है वही नवीन विज्ञान का "ताव" है अतः द्रव्यों के कर्म एवं गुणों का धारक वस्तु "रूप" (वात, पित्त, श्लेष्मा) की ओर उनकी दृष्टि गई ही नहीं। द्रव्यों के उपयोग के सम्बन्ध में भी यही बात है द्रव्यों का उपयोग भी ये केवल उसके कर्म एवं गुणों के अनुसार ही करते हैं बिना "रूप" का विचार किये। जैसे कोई एक पदार्थ (पेन्सीलीन) न्यूमोनिया उत्पादक जीवाणु का नाशक है तो उसका व्यवहार न्यूमोनिया में करते है। इससे न्यूमोनिया पर नियन्त्रण तो तुरन्त होता है—मगर इससे अन्य विकार भी होता है। और ऐसा इसलिये होता है कि उसके "रूप" पर भी विचार नहीं किया गया। यदि इसके रूप पर भी विचार कर इसे शरीर के "रूप" के अनुरूप बताया जाता तो यह वास्तव में एक वरदान सिद्ध हुआ होता।

विज्ञान अनन्त है (विज्ञान ही वेदब्रह्मविद्) अतः इसका अन्त नहीं मगर इसमें प्रगति बराबर होती रहती है कभी किसी दिशा में तो कभी किसी दिशा में। मगर जिस किसी दिशा में भी प्रगति हो हर प्रगति की अपनी मौलिकता रहती है। इसकी एक प्रगति आयुर्वेद के रूप में हुई जिसकी अपनी मौलिकता है (जिसका वर्णन उपर किया गया है)। आयुर्वेद के अतिरिक्त आज के किसी भी अन्य विज्ञान में इसका समावेश नहीं है।

उद्बोधन करती हुई

भारतमाता

काय चिकित्सा में पाश्चात्य चिकित्सा से आयुर्वेद की विशेषता

स्वामी श्री मंगलदास

[त्यागमूर्ति विद्वद्वरेण्य स्वामीजी श्री मंगलदासजी महाराज भारत की विभूति हैं । आप जयपुर नगर की एक मात्र सेवाभावी दादू महाविद्यालय नामक संस्था के प्राचार्य एवं संरक्षक हैं । आपने 'काय चिकित्सा में पाश्चात्य चिकित्सा से आयुर्वेद की विशेषता' नामक लेख द्वारा सरल हिन्दी भाषा के माध्यम से निगूढ़तम आयुर्वेद विज्ञान के रहस्यों का प्रतिपादन कर वैज्ञानिकों के लिये रुग्णता जन-मानस के अंतस्तल की वेदनाओं को समझने तथा उनके प्रतिकार की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है ।

समादरणीय लेखक महोदय अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक भी हैं तथा विश्ववंद्य युगप्रवर्त्तक स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज के प्रमुख शिष्यों में आपका विशिष्ट स्थान रखते हैं । आप इस पीढी के पथप्रदर्शक हैं, आयुर्वेद जगत् आपसे बड़ा आशावान् है ।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक

भारतीय विज्ञ महानुभावों ने आयुर्विज्ञान को आठ भागों में विभक्त किया है उनमें से एक अंग है (काय चिकित्सा) । काय चिकित्सा से अभिप्राय है जिन रोगों में सम्पूर्ण शरीर पर रोग का प्रभाव हो उनकी जिन सिद्धान्तानुसार चिकित्सा की जाय वह काय चिकित्सा का अंग है ।

जैसे ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अजीर्ण, पाण्डु, रक्तपित्त, क्षय, कुष्ठ प्रमेह, श्वास, कास तृष्णादि रोग ।

इस समय वैज्ञानिक युग है । पाश्चात्य देशों में विज्ञान की वृद्धि के लिए अनवरत प्रयास चल रहा है । सैंकड़ों विज्ञान शालायें विविध क्षेत्रों के अनुसंधान में संलग्न हैं ।

चिकित्सा क्षेत्र में भी नित नवीन नवीन आविष्कार हो रहे हैं । विविध प्रकार के यन्त्र शस्त्र औषध सामने आ रहे हैं । पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के प्रचार व प्रसार का प्रबल प्रयत्न हो रहा है । सरकार की ओर से करोड़ों रुपए इस पद्धति पर व्यय हो रहे हैं ।

शल्य की तरह अब वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति काय चिकित्सा को भी अपने आधिपत्य में कर लेने की प्रबल चेष्टा कर रही है । अनुभूत औषध व इन्जेक्शनों की बढ़ती हुई बाढ़ को देखते हुए सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आयुर्वेद की काय चिकित्सा में वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति से अब भी कुछ विशेषता रहेगी ?

इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर तभी प्राप्त हो जब हम उभय चिकित्सा पद्धतियों के उन सिद्धांतों को विवेक दृष्टि से देखें जिनको आधार मान कर इनका प्रयोग किया जाता है।

चिकित्सा की जाती है रोगों की। अतः रोगोत्पत्ति के सिद्धांतानुसार ही चिकित्सा का सिद्धांत स्थिर किया जाता है।

रोग क्यों और कैसे होता है? उसके उत्पादक हेतु क्या हैं? रोग का स्वरूप क्या है? इन पर आयुर्वेद तथा वैज्ञानिक पद्धति में जिस तरह विचार किया गया है उसमें बहुत मतभेद है।

रोग और चिकित्सा दोनों ही का आधार है मानव शरीर, मानव शरीर की रचना तथा उसके स्वस्थ रहने के हेतु आयुर्वेद भिन्न रूप से मानता है, पाश्चात्य चिकित्सा सिद्धांत भिन्न रूप से।

यदि हम इन प्रश्नों पर तुलनात्मक विवेचन से विचार करें तो विषय अधिक विस्तृत होता है। यदि इन प्रश्नों को सर्वथा छोड़ दें तो उभय चिकित्सा की न्यूनता विशेषता का भान सम्भव नहीं अतः इन प्रश्नों पर संक्षेप से विचार करना आवश्यक है।

सृष्टि-क्रम और मानव-शरीर,

पाश्चात्य सिद्धांत।

मनुष्य शरीर सृष्टि का एक प्राणी है। सृष्टि की रचना में जिन हेतुओं की प्रधानता है वे ही हेतु मानव-शरीर के बनाने वाले हैं।

पाश्चात्य-विज्ञान सृष्टि-रचना में दो मत रखता है। अधिकांश वैज्ञानिक जड़वादी थे, कुछ चैतन्य को मानने वाले। जड़वादियों में भी अधिक का झुकाव डार्विन के विकाशवाद की ओर था पर अब स्थिति बदल रही है जड़वाद का सिद्धांत धीरे-धीरे धराशायी होता जा रहा है। इनके सिद्धांत से प्रकृति के कुछ मूल तत्त्व हैं जिनके सयोग विभाग से इस जड़ जगत का निर्माण होता है। उनकी तात्विक-गणना करीबन नव्वे ऊपर पहुँच गई हैं। अभी वृद्धि और भी हो सकती है।

रेडियो किरण के आविष्कार से पूर्व स्वीकृत सिद्धांतों में बहुत उलटफेर हो गया है, पहिले ऐसा सिद्धांत सार्थकतत्वों के परिमाणु अखण्डित होते हैं। रेडियो किरण के आविष्कार से अब यह मत स्थिर हो गया है कि मौलिक तत्व विभाजित होते रहते हैं, इन मौलिक तत्वों में से करीब तीस के प्राणी-शरीर की रचना में काम आते है। इनमें से कर्बन, ओषजन, नोषजन, उज्जन, स्फुर, गन्धक, पांशुज, पोटिशियम, मगनेशियम, खटिक, लोहा सेंधक, सोडियम और सिलकन अधिकता से होते हैं।

ये पदार्थों की तीन अवस्था मानते हैं, घन, द्रव, वायव्य। प्राणी शरीर का उत्पादक पदार्थ पहिले एक द्रवावस्था में होता है, प्राणी शरीर की रचना एक सैल से आरम्भ होती है। सैल से अभिप्राय उस सयोगी मूर्त द्रव्य का है जो प्राणी-सृष्टि का प्रमुख आधार है। इस सैल में उपरोक्त मौलिक तत्वो में से जाति भेद से अनेकों तत्वों का समावेश रहता है सैल के रासायनिक परीक्षण में प्रोटोप्लाज्मा, प्रोटीने जीवाणु आदि कई रासायनिक द्रव्य पाए जाते हैं।

सैलों की अनन्त जातिएँ हैं। शैलों के संयोग से ही विभिन्न-विभिन्न प्राणियों की रचना होती है। मानव शरीर की उत्पादक (डिम्ब) आर्तव तथा शुक्र सैले हैं। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से सृष्टि रचना का यह संक्षिप्त सामान्य दिगदर्शन है। भारतीय दर्शनो में भी दार्श-निक मत भिन्नता से सृष्टिक्रम की कुछ भिन्नताएँ मानी गई हैं। सांख्य योग न्याय वैशैषिक दर्शनो मे जड़-चेतन दो पदार्थों की प्रमुख सत्ता स्वीकार की गई है।

चिकित्सा शास्त्र ने सांख्य मत का अनुगमन किया है। अतः त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से अन्य महदादि सात प्रकृतिऐं और एकादश इन्द्रियग्राम व पचभूत रूप षोडश विकार मिलकर चेनन सयुक्त हो जगत का निर्माण करता है। स्थूल पदार्थो की रचना का आधार पचमहाभूत हैं। इन्ही के संयोग विशेप से सम्पूर्ण ससार की रचना होती है। इन्हीं पंचभूतों से युक्त शुक्र-शोणित सयोग मानव-शरीर का निर्मायक है।

मानव शरीर के स्थूल कारण शुक्र शोणित को दोनों पद्धति स्वीकार करती है। शुक्र शोणित के मूल पदार्थ कौन हैं इनको चाहे उभय पद्धति में भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख करे पर उनका परिणाम जो कुछ होता है उसमें विशेष भेद नहीं है। आयुर्वेद पंचभूतात्मक शरीर को त्रिदोषात्मक नाम से पुकारता है उसने शरीरस्थ पंचभूतों की अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति के निमित्त से वात, पित्त श्लेष्मा संज्ञा स्थिर की हैं। जैसा कि दोष भेदीय के आरम्भ मे सग्रहकार कहते हैं।

वाय्वा का शाभ्यां वायुः। आग्नेयं पित्तम्। अम्भ पृथिवी भ्यां श्लेष्मा।

व्रण प्रश्नीय में सुश्रुताचार्य निर्देश करते हैं—

वात, पित्त श्लेष्माण एव देह सभव हेतवः। तैरे वाव्या पन्नैरधोमध्योर्ध्व सन्निविष्टैः शरीर मिदं धार्यतेऽगार मिव स्थूणाभिस्तिसृभिः अतः त्रिस्थूण माहुरेके। दोषा एव च व्यापन्ना प्रलय हेत वः।

स्पष्ट है कि वायु आकाश तत्व की वायु, आग्नेय तत्व की पित्त, पृथ्वी अपकी श्लेष्मा सज्ञा है।

वात पित्त श्लेष्माही देहोत्पत्ति के कारण है। इन्हीं अविकृत वातादि दोषों के सम्पूर्ण

शरीर में समस्थिति में रहने से यह शरीर स्थिर रहता है जैसे मकान स्तंभों के आश्रित— ये स्तंभ रूप वातादि दोष जब हेतु विशेष से व्यापन्न (अनवस्थित) हो जाय तब ये शरीर के प्रलय के हेतु हो जाते हैं। इस तरह उभय-पद्धति सृष्टिःक्रम तथा मानव शरीर में अपना अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त करती है। (रोगोत्पादक हेतु)

अब लीजिए रोगोत्पादक-हेतु को। जहाँ तक मेरा सामान्य ज्ञान है पाश्चात्य विज्ञान रोगोत्पत्ति के लिए किसी एक या दो हेतुओं को रोग का कारण मानता हो ऐसा नही, उसने रोग की विभिन्नताओं को मानते हुए कई प्रकार के रोगोत्पादक हेतु माने है। उनमें मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं।

जैसे— १. रोगाणु, २. विषाक्त जन्तु, ३. पारम्परिक, ४. गर्भ विकृति, ५. आकस्मिक दुर्घटना, ६. आघात, ७. अधिक शीत, अधिक उष्णता, अंग विशेष की विकृति, ६. भोजन अस्वस्थ्यकर, १०. खनिज द्रव्यों की कोम, ११. नशीली वस्तुओं का अधिक उपयोग, १२. रोग के कारण दौर्बल्य तज्जन्य अन्य रोग—।

इनके विचार में इन विविध हेतुओं से विभिन्न-विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है सीधे रोग उन्हीं से पैदा होते हैं और ये मानते भी ऐसा ही हैं। पर हम थोड़े गहराई में जावें तो यह तथ्य सगत मालूम नहीं होता। कारण में विविध हेतु हैं, इनमें से अधिकांश या शरीर के बाहर रहने वाले हैं। शरीर का और इनका तादात्म्य नहीं है। इन बाह्य कारणों का शरीर से जब सम्बन्ध होता है तब शरीरस्थ वस्तुओं पर इनका प्रभाव पड़ता है, शरीरस्थ वस्तुओं की स्थिति जब अनवस्थित होती है तब रोग होता है। इस दशा में इन हेतुओं को रोगोत्पादक हेतु कहें तो शरीरस्थ वे वस्तुएँ (जिनकी अनवस्था से रोग होता है) फिर क्या कहलाएगी? बात सीधी है कि रोगी होता है शरीर, शरीर के रोगी होने का अभिप्राय यह है कि शरीर का जो क्रियाकलाप व शरीर का निर्माण व स्थैर्य्य करने वाली वस्तुएं हैं। उनकी व्यवस्था ठीक नही है अतः इससे स्पष्ट ही यह सिद्ध होता है कि रोगोत्पादक हेतु वस्तुतः शरीर में है। हाँ शरीरस्थ उन हेतुओं को अव्यवस्थित करने वाली जो बाह्य सामग्री है वह शरीरस्थ हेतुओं को अनवस्थित करने का कारण अवश्य है न कि वे रोग को उत्पन्न करने के स्वतन्त्र कारण हैं।

आयुर्वेद की विचार-सरणी इससे सर्वथा भिन्न है। वे शरीरोत्पादक तत्वों को लेकर चले हैं। उनके सिद्धांत से शरीर का निर्माण पृथिव्यादि पंचभूताश्रित है। शरीरस्थ पंचभूतों को ही उन्होंने "त्रिदोष" में विभाजित कर शारीरिक शास्त्र को रचना की है।

वे कहते है कि जिन तत्वो से शरीर का निर्माण हुआ है। उन्ही तत्वों की कमी बेशी से अर्थात् उनके सन्तुलन (साम्यावस्था) के बिगड़ जाने ही से सम्पूर्ण रोग होते हैं।

अशेष पदार्थों की रचना जिन द्रव्यों से हुई है शरीर भी उन्हीं द्रव्यों से बना है। शरीर का पोषण उन्हीं द्रव्यों से होता है। उन द्रव्यों का शरीरानुरूप समस्थिति में रहना ही शरीर की आरोग्यावस्था है।

जब भी इस समस्थिति में अन्तर आता है तभी शरीर में रोगोत्पत्ति होती है। इस समस्थिति को विकृत करने वाले हेतु चाहे जितने अनन्त हों पर उन सब का शरीर में शरीर पर जो भी प्रभाव होगा वह शरीर की इस अवस्था को गड़बड़ करने वाला होगा।

अभिप्राय यह हुआ कि बाह्य हेतुओं का आनन्त्य होते हुए भी परिणाम एक रूप का है अतः सिद्धांत मे परिणाम की प्रधानता मान सम्पूर्ण बाह्य हेतुओं को दोष प्रकोप के रूप एक ही हेतु मे समाविष्ट कर लिया गया है। थोड़े में कहें तो आयुर्वेद का क्रम यह है कि—

१. रोग का एक कारण (त्रिदोष) वात, पित्त, कफ की विकृति। (आभ्यन्तर हेतु) विकृति दो प्रकार की होती है वृद्धिरूप और क्षयरूप—तीसरी आवरणजन्य विकृति और है पर उसका समावेश स्थानीय वृद्धि में ही हो जाता है।

२. दोष विकृति के हेतु अनन्त होते हुए भी बाह्य हेतुता से सबका समावेश एक ही "बाहृचहेतु" में कर लिया गया है, जैसा कि निर्देश है।

कालार्थ कर्मणां योगो हीन मिथ्याति मात्रकः।
सम्यक् योगश्च विज्ञेयो रोगाग्ऱ्यैक कारणम् ॥१॥

काल अर्थ, कर्म (जिनमे कि हमारे आहार-विहार के अशेष उन कारणों का समावेश हेतु के हमारे शरीर के साथ हीन, मिथ्या, अतियोग रोग का तथा सम्यक् योग आरोग्य का एक हेतु है।

त्रिदोष— ऊपर कह आये हैं कि आयुर्वेद में पंचभूत पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु-आकाश अशेष पदार्थों के उत्पादक-हेतु माने गए हैं। शरीर भी इन्हीं पचभूतों से माना गया है। शरीर शास्त्र में इनकी संज्ञा विशेष (त्रिदोष) (त्रिधातु) नाम से की गई है। यह शब्द वात पित्त श्लेष्मा के समूह का द्योतक है। इन वातादि दोषों के विकृत करने के जितने भी कारण हैं उन सबका वर्गीकरण कर आयुर्वेद त्रिदोष विकृति के तीन हेतु मानते हैं।

१. असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग, २. प्रज्ञापराध, ३. परिणाम। इन त्रिविध कारणों से दोष विकृत होते हैं। दोष विकृति से रोग उत्पन्न होता है। पाश्चात्य पद्धति से जिन बारह प्रकार के रोग हेतुओं का ऊपर उल्लेख किया है आयुर्वेद के सिद्धांत से वे कारण सीधे स्वयं रोग के उत्पादक कभी नही हो सकते। उन सब हेतुओं का आयुर्वेद मे उपरोक्त त्रिविध दोष प्रकोप के हेतुओं मे समावेश हो जाता है।

वैसे चिकित्सा-सौकर्य के विचार से दोषज रोगों के दो वर्गीकरण कर दिए हैं। कारण

वातादि दोषों की विकृति दो तरह से मानी गई हैं एक तो शरीर में ही मिथ्या आहार विहार से दोषों का धीरे-धीरे संतुलन बिगड़ कर दोषज रोग हो इस प्रकार के उत्पन्न रोगों की संज्ञा "निज" नाम से की गई है। जिन हेतुओं से अर्थात् शरीर में रहने वाले वातादि दोष चयादि अवस्था द्वारा रोगोत्पत्ति करते हैं वे निज नाम से व्यवहृत हैं।

दूसरी अवस्था पतन, आघात, विषादि, कीटाणु संसर्ग से होने वाली हैं इस अवस्था में दोषों का संचय प्रकोप प्रसरणादि क्रम न रह कर सहसा रोगोत्पत्ति होती है साथ ही दोष विकृति। इस अवस्थाजन्य रोगों को आगन्तुज नाम से व्यवहृत किया गया है।

वैसे रोगहेतुता दोनों ही अवस्थाओं में वातादि दोषों ही को है। पर उनकी विकृति में जो विभिन्नता है उसी के दिग् दर्शनार्थ ये निज-आगन्तुज दो संज्ञायें की गई हैं जिससे चिकित्सा करते समय निजोत्थ दोष विकृति में तदनुरूप व आगन्तुज दोष विकृति में तदनुरूप क्रिया कर्म (चिकित्सा) का ध्यान रहे।

दोष विकृति के अनन्त-हेतु हैं। हेतु विशेष से दोष विकृत हो तज्जन्य रोग होते हैं। उनका वर्गीकरण आयुर्वेद में भी किया गया है। इसका एक उदाहरण देखिये—

सप्तविधाः खलु रोगाः भवन्ति। सह गर्भ जात पीड़ा काल प्रभाव स्वभावजाः। ते तु पृथग् द्वि विधाः। तत्र सहजाः शुक्रार्तव दोषान्वयाः। कुष्ठार्श मेहादयः। पितृजाः मातृजाश्च। २. गर्भजाः जनन्यभिचारात् कौब्ज्य पैंगल्य किलासादयो ऽन्नरसजा दौहृद विमानजाश्च। ३. जातजाः स्वापचारात् सन्तर्पणजाः अपतर्पणजाश्च। ४. पीड़ाकृतः क्षतभग प्रहार क्रोध शोकभयादयः शारीर मानसाश्च। ५. कालजाः शीतादिकृताः ज्वरादयो व्यापन्नजा असंरक्षण जाश्च। ६. प्रभावजाः देवगुरूलंघन शापाथर्वणादि कृता ज्वरादयः पिशाचादयश्च। ७. स्वभावजाः क्षुत्पिपासा ज्वरादयः कालजाः अकालजाश्च। तत्र कालजाः रक्षण कृताः। अरक्षणकृताः अकालजाश्च। तएते समासतः पुनर्द्विविधाः भवन्ति।

विशेषता को लेकर रोग सात तरह के होते हैं।

१. सहज— माता-पिता के आर्तव शुक्र की विकृति के कारण कुष्ठ अर्शप्रमेहादि।

२. गर्भज— गर्भावस्था में माता के आहार विहारादि की अनवस्था से या दौहृद काल में माता की इच्छा विघात से, कुब्ज, पगुता मुख, नासा, कर्ण, दन्त हस्त पादादि विकृति।

३. जातज— अपने आहार विहारादि के व्यत्यय से सन्तर्पण विशेष व अपतर्पण विशेष से ज्वरातिसार, ग्रहणी, पाण्डु, रक्तपित्त क्षयादि।

४. पीड़ाकृत— क्षत, व्रण, भंग (अस्थिभंग) प्रहार, (चोट) क्रोध, शोक भयादि कृमि, विष, भूत, संसर्गादि से शारीरिक व मानसरोग।

५. कालज— ऋतुओं के अतियोग अयोग मिथ्या योगादिजन्य। अन्न, फल, औषधादि व जल वायु विकृति से तथा ऋतु जन्य काल विषय में से शरीर की रक्षा न करने पर शीतोष्ण-अतियोग से।

६. प्रभावज— देव गुरु माता पितादि के अतिघर्षण (तिरस्कार) वा अथर्व विहित विधिकर्मों के अनुष्ठान व्यत्यय से।

७. स्वभावज— क्षुधा तृष्ण निद्रादि जन्य दोष प्रकोप के हेतु विशेषों को लेकर किया गया यह विवरण पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धति के उपरोक्त द्वादश हेतुओं से मिलाइये ! उनके विवरण से इस विवेचन की कितनी साम्यता है। उनका ३ पारम्परिक यहाँ सहज शब्द से व्यवहृत है। उनकी गर्भ विकृति और यहाँ का गर्भज एक ही है। उनके ९-१०-११ अस्वास्थ्यकर भोजन- खनिज द्रव्यों की कमी नशीली वस्तुओं का विशेष उपयोग तीनों यहाँ के तीन जातज में समाविष्ट होते हैं। उनके ५-६ आकस्मिक दुर्घटना व आघात यहाँ पीड़ाकृत नाम से व्यवहृत है। उनका ७ वां अधिक शीत अधिक उष्णता यहाँ कालज नाम से उल्लिखित है।

उनके क्रिमि जन्य व विषाक्त जन्तु जन्य का समावेश यहाँ के पीड़ा कृत में ही हो जाता है। क्योंकि क्रिमि विष आदि आयुर्वेद में आगन्तुज कारण माने गए हैं। अब उनके अंग विशेष की विकृति वाला एक हेतु शेष रहता हैं।

उसका समावेश आयुर्वेद में मार्गभेद से रोगों का विवेचन किया गया है, उसमें हो जायगा।

मार्गभेद से रोगभेद कैसे होता है तदर्थ आयुर्वेद में वातादिदोषों के तीन मार्ग माने गए हैं। बाह्य, मध्य और आभ्यंतर। बाह्य से अभिप्राय है रक्तादि छः धातु और त्वक वातादि-दोष इस मार्ग का अनुसरण कर रोगोत्पत्ति करते हैं तब गण्ड, पिडिका, अलजी, अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमांस, अर्श व्यंग आदि व्याधियें पैदा होती है।

मध्यमार्ग से अभिप्राय है मस्तिष्क, हृदय वस्ति आदि मर्म विशेष अस्थि संधियें तथा तदनुबन्धी स्नायुशिरा कण्डरादि। दोष इनमें आश्रय लेकर रोगाभिव्यक्ति करते हैं तब पक्षवध हनुग्रह, अपतानक दण्डापतानक, अर्दित यक्ष्मा अस्थि सन्धि शूल गुदभ्रंशादि तथा ऊर्ध्वांगों के रोग होते हैं।

आभ्यन्तर मार्ग से अभिप्राय है महास्त्रोत। यह गले से लेकर गुदभाग तक के अवयवों का द्योतक है। इसमे हृदय, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय, प्लीहा, यकृत, वृक्क पुफ्फुस सबका समावेश है। दोष इस मार्ग से प्रसरण कर रोगोत्पत्ति करते हैं तब ज्वर अतिसारादि, छर्दि, अलसक, विशूचिका, श्वास, कास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा, यकृत, विसर्प, शोफ अन्तर्विद्रधि गुल्मादि रोग उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के रोगभेदक उपरोक्त हेतु विशेष पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के रोग हेतुओं के बिलकुल समान हैं फिर भी इस समानता के होते हुए भी सिद्धांत में दोनों सर्वथा भिन्न हैं। आयुर्वेद के ये रोग क्रम के हेतु स्वतन्त्र रूप से रोगोत्पत्ति के हेतु नहीं ये सब वातादि दोषों की विकृति रोग जनक है, वैज्ञानिक पद्धति इन कारणों ही को रोगोत्पादक मान रही है।

इस तरह रोगोत्पत्ति में उभयपद्धतियों में अत्यन्त मौलिक भेद हैं। एक सब रोगों का एक ही हेतु मानता है एक विभिन्न हेतुओं से विभिन्न रोगों की उत्पति मानता है।

रोगोत्पादक हेतु की तरह रोग के आश्रय में भी उभयपद्धतियें भिन्न दृष्टिकोण रखती है। वैज्ञानिक पद्धति रोग के आश्रय कई तरह के मानती है। जैसे— हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, प्लीहा, यकृत, आमाशय, किडनी आदि अंग उपांगों को लेकर। सिद्धांत रूप से आयुर्वेद मानता है। शरीर और मन को। वैसे अग उपांगों के नाम से आयुर्वेद में भी रोगों के नाम-करण हैं जैसे ग्रहणी हृदयरोग, उदर, प्लीहोदर, शिरोरोग, नेत्ररोग, दन्त, नासा, जिह्वारोगादि पर ये स्थान विशेष को लेकर रोगों की संज्ञा विशेष के ही द्योतक हैं।

युक्तिपूर्वक विचार किया जाय तो यह बात सभी के समझ मे आ सकती है कि स्थान विशेष के रोग जब स्थान की क्रिया या स्थान के कर्म मे कमी वेशी होने से होते हैं, अब स्थान हा उसका उत्पादक हेतु हो यह बात कैसे ठीक हो। स्थान की क्रिया और कर्म की कमी वेशी जिन कारणों से हुई वे कारण ही वस्तुतः स्थानदुष्टि के प्रधान कारण हैं।

इस जगह यह भी ध्यान रखने की बात है कि क्या हृदयादि स्थान, जिनके आश्रित विविध रोग होते हैं, अपनी अपनी क्रिया व अपने अपने कर्म निस्पादन में सर्वथा स्वतन्त्र हैं?

हम देखते हैं कि एक व्यक्ति को अतिसार हुआ है। अतिसार के तीव्र आक्रमण से उस के शरीर की सम्पूर्ण शक्ति ही न्यून हो गई है। आवाज, घूमना, फिरना, उठना, बैठना, श्रम करना, सब मे शैथिल्य है। हृदय की गति मन्द हो गई है। अतिसार हुआ पक्वाशय मलाशय की क्रिया व कर्म में कमी वेशी से उसका प्रभाव हुआ अन्य अवयवों पर। इसी तरह अर्श की व्याधि है। मलाशय के आश्रित रक्तार्श से नित्य रक्त निकलता है। थोड़े दिन में उसके सम्पूर्ण शरीर की क्रियायें शिथिल हो जायेंगी। ज्वर का तीव्र आक्रमण हुआ उसका आश्रय है रसवह स्रोत पर, परिणाम होता है अशेष अवयवों पर।

उपरोक्त तीनों उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि ये बीमारियें हृदय से सम्बन्धित नहीं है। फिर भी हृदय की क्रिया व कर्म में कमी हो जाती है, यह कमी चाहे पारस्पर्य सम्बन्ध से ही होती जरूर है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीर के सम्पूर्ण अवयवों की क्रिया व कर्म का सचालन एक ऐसी शक्ति के द्वारा होता है जिसका सम्बन्ध शरीर के

अशेष अवयवों से हैं । अधिकांश रोगों में देखने में आता है कि प्राय: वृक्क, आमाशय, मलाशय, हृदय पुप्फुस आदि सभी अवयवों का काम शिथिल हो जाता है । इससे यह निश्चित होता हैं कि सम्पूर्ण शरीर का संचालन जिसके आश्रित है उन्हीं पर रोग का आक्रमण होता है । उन्हीं की कमी वेशी से रोग होते हैं पर ये रोग उस आश्रय की स्वतंत्र सत्ताजन्य हों यह बात नहीं । अत: स्थान विशेष के रोगों में स्थान विशेष की प्रधानता ही मानी जाय यह ठीक नहीं कारण कि स्थान-विशेष भी तो किसी अन्य के आश्रित है अत: अधिक युक्तियुक्त यही है कि जिस स्थूल शरीर के आश्रित हृदयादि सम्पूर्ण अंग है उसी को प्रधानता दी जाय।

वैसे रोगों की अनन्तता दिखाते हुए आयुर्वेद में और भी कई कारण रोग-भेदक माने गए हैं जैसे संग्रहकार निर्देश करते हैं—

"तस्मादेकाकारा एव रोगा: रुक्सामान्यादसंख्यभेदान्विता: वा प्रत्येकं समुत्थान स्थान-संस्थान-वर्ण-नाम-वेदना प्रभावोपक्रम विशेषात् ।

असख्येय त्वाच्च दोष लिंगैरेव रोगानुपक्रमे च विभजेत् ।

वेदना की समानता से एक प्रकार के सब रोग हैं। यदि उनकी विभिन्नताओं का विचार करे तो प्रत्येक रोग समुत्थान (दोष प्रकोप हेतु) स्थान (सम्पूर्ण अवयवसहित शरीर) सस्थान (रोग के दोष दूष्य संयोग वा रोगी की प्रकृति, वल वय देश काल आदि से उत्पन्न लक्षण विशेष) वर्ण (पाण्डु श्वेत, श्यावरक्तादि) नाम (संज्ञा विशेष) वेदना (शूल, स्तम्भादि) प्रभाव (व्याधि की शक्ति) उमक्रम (आवस्थिक चिकित्सा विशेष) भेद से अनेक रूपों में देखे जा सकते हैं ।

इस असख्येयता का दिग्दर्शन कराते हुए भी आचार्य चिकित्सक को सचेष्ट करते हैं कि उपरोक्त विभिन्नता से रोग के अनेक रूप दिखाई दें तो भी तुम किसी भ्रम में न उलझना । यदि इस अनन्तता के भ्रम में उलझ गए तो एक रोग की ही चिकित्सा करनी कठिन है ।

चिकित्सा के लिए तुम्हें अपने दोष सिद्धांत पर ही दृढ़ रहना चाहिए । इसी से वे निर्देश करते हैं कि रोग की असख्येय सूक्ष्मावस्थाओं में दोष तथा दोषज लक्षणों की प्रधानता का निश्चय करके चिकित्सा करिए। चिकित्सा करते समय दोषों ही को क्यों प्रधान माना जाय तदर्थ आयुर्वेद कहता है कि—

"दोषा एव सर्व रोगैककारणम् (यथैव शकुनिः सर्वत: परिपतन् दिवसं स्वछायां नातिवर्तते । यथा वा कृत्स्न विकार जातं वैश्वरूप्येण व्यवस्थितं गुण त्रयमप्यतिरिच्यवर्तते । तथैतदविकारजमं दोषविकासजसं दोषत्रयमिति ।"

दोष ही सम्पूर्ण रोगों का प्रधान कारण है। वे दो दृष्टांतों से इसकी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं जैसे पक्षी दिन में अनन्त जगह अनन्त तरह से आता जाता है पर वह जहाँ भी जाता है। अपनी प्रतिच्छाया का कहीं परित्याग नहीं करता इसी तरह सम्पूर्ण भौतिक जगत का अनन्त रूपों में आविर्भाव होता है। पर वे अनन्त पदार्थ (सत्व, रज, तम, गुणत्रय से रहित नहीं होते) ऐसी ही शारीरिक या मानस निज या आगन्तुज अशेष व्याधि में, हेतु विशेष, आश्रय दोषदूष्य, संयोग, विशेष, प्रकृति, बलाबल, देश, काल, वेदना, संज्ञा, आदि की विशेषताओं से अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी दोषत्रय वात, पित्त, श्लेष्मा के अनुबन्ध से रहित नहीं होती।

आयुर्वेद का यह प्रवचन सिद्धांत निर्देशक है कि इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि एकान्ततः एक मात्र दोषों को लक्ष करके ही चिकित्सा की जाय। यदि ऐसा ही होता तो दूष्य (रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र, स्वेद) देश (आतुर देश, रोगी का शरीर, भूमि, देश, (जांगल, आनूप, साधारण) बल (सहज, कालज, युक्ति कृत) काल (ऋतु काल, रोग काल) अनल (भौतिक, पाचकादि, धात्वग्नि) प्रकृति (वातादि दोषभेद से सप्तविध) वयः (बाल किशोर तरुणादिभेदयुक्त) सत्व (प्राणशक्ति मनोबल) सात्म्य (अनुकूल) आहार (भोज्य वस्तु के उपयोग का परिमाण) अवस्था (आतुर व रोग की) इनको ध्यान में रखते हुए चिकित्सा करने का जो उपदेश है वह निरर्थक सिद्ध हो। अतः हमें उभय प्रकार के उपदेशों को मान्य मानते हुए यह समझना चाहिए कि चिकित्सा-काल मे दोष के बलाबल के साथ इन सब सहायी-कारणों का भी उचित ध्यान रखा जाय।

एकान्ततः सब रोगों में या रोग की व अवस्थाओं में दोष ही को चिकित्सा की जाय यह बात नही ऐसे रोग-विशेष भी हैं जिनमें हेतु, तथा स्थान की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए दोष विशेष की चिकित्सा करने का निर्देश है; मतलब आश्रय को लेकर पाश्चात्य विज्ञान तथा आयुर्वेद के विवेचन में सर्वांश में समानता नहीं है। वे अपने अपने सिद्धांत से उनकी उपादेयता भिन्न रूप से मानते हैं।

रोग

रोग क्या है ? इस बारे में दोनों पद्धतियों में विशेष अन्तर नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति में शरीर का सम्पूर्ण आकयविक भाग यथावत काम करते हुए शरीर के अशेष क्रियाकलाप को उचित स्थिति में स्थिर रखे इसी का नाम नीरोगावस्था है। इससे विपरीत अर्थात् शरीर के अशेष यन्त्रों, स्रोतों, या यन्त्र विशेष स्रोत विशेष अवयव विशेष के क्रिया तथा कर्म में कमी वेशी हो वह रुग्णावस्था है। मतलब शरीर की विषय-स्थिति का नाम ही रोग है।

आयुर्वेद का इस विषय में सूक्ष्म सूत्र है "रोगस्तु दोष-वैषम्यम्" दोषों का (शरीरोत्पादक वातादि संज्ञा विशेष वाले पंचभूत) वैषम्य (क्षयवृद्धि आवृत अवस्था से बदली हुई दशा) ही रोग है।

रोग के लक्षण की तरह स्वास्थ्य का भी संक्षिप्त लक्षण है।

"दोष साम्यमरोगता" समदोषः समाग्निश्च समधातुः मलक्रियः ॥
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः स्वस्थमित्युपदिश्यते ॥१॥

दोष (अर्थ विशेष को प्रतिपादित करने वाले विशेष संज्ञा से अन्वित वात, पित्त, कफ) अग्नि, (पाचकादि पंचविध भौतिक पंचविध धात्वग्नि सप्तविध तथा मलोष्मा), धातु (उपधातु सहित रसादि शुक्रांत), मल (मल, मूत्र, स्वेद धातुओं की परिणमनावस्था के मलों सहित), क्रिया (मन, ज्ञानतन्तु, वाततन्तु सहित शरीर के सम्पूर्ण यंत्रों तथा अवयवों का व्यापार) इन पाँचों की समावस्था। समावस्था से अभिप्राय है प्रत्येक शरीर में इन दोष धात्वग्नि आदि का उचित अवस्था में अपना अपना कार्य सम्पादित करते रहना। शरीर की यह अवस्था ही मन, आत्मा, इन्द्रियों की प्रसन्नता का हेतु है। इसी का नाम स्वास्थ्य है।

इस तरह रोग क्या है ? इसमें अधिक अन्तर नहीं है। दोनों ही शरीर की परिवर्तित दशा को रोग मानते हैं।

हाँ इसकी अभिव्यक्ति में दोनों की विचार-सरणी भिन्न है। वैज्ञानिक पद्धति में रोग की अभिव्यक्ति भी रोगोत्पादक-हेतुओं की तरह कई तरह से है। उनके अधिकांश रोग कीटाणुजन्य हैं। अतः रोगाभिव्यक्ति में उन्हीं कीटाणुओं की क्रियाओं का प्राधान्य रहता है। कहीं कीटाणु स्वयं विवर्द्धित हो कर रोग को अभिव्यक्त करते हैं तो कहीं वे रक्त कणों को नष्ट करके कही रक्त के श्वेत कणों को नष्ट करके, कहीं रस शोष करके तो कहीं रक्त शर्कर का नाश करके, कहीं हृदय पर उनका प्रभाव होता है तो कभी मस्तिष्क व सुषुम्ना-मार्ग पर, कोई फेफडों पर ही अधिक असर करते हैं तो कोई किडनी (वृक्क) में। इस तरह विभिन्न कीटाणुओं की विभिन्न स्थिति होने से उनके मत में रोगाभिव्यक्ति भी नाना तरह से होती है। जिन रोगों के अभी कीटाणु नहीं मिले हैं उनकी अभिव्यक्ति के लिए उनका विज्ञान मौन है। यदि कुछ तदर्थ उल्लेख है तो इतना ही कि शरीर की रोग-निवारक क्षमता के कम हो जाने से भी अनेक रोग होते हैं।

रोग-निवारक क्षमता की कमी का सम्बन्ध अब कीटाणुजन्य रोगों में भी जोड़ा जाने लगा है। कारण अनेक जगह ऐसी स्थितियाँ सामने आती हैं कि तज्जनक रोग के कीटाणु तो शरीर में मौजूद मिलते हैं पर रोग उत्पन्न नही होता। रोग-निवारक क्षमता का अभी

ठीक २ विश्लेषण नहीं हुआ है। अभी तो शरीर की स्वाभाविक शक्ति के नाम से ही यह व्यवहृत हो रही है। सम्भव है इसका उचित विश्लेषण होने पर नवीन पद्धति आयुर्वेद के अधिक समीप आ जाय। इस तरह रोगाभिव्यक्ति में वैज्ञानिक पद्धति का कोई स्थिर सैद्धांतिक दृष्टिकोण नहीं है।

आयुर्वेद में इसका सिद्धांत स्थिर किया हुआ है। वे रोग की अभिव्यक्ति "निजागन्तु" निदान भेद से दो तरह की मानते हैं। जितने भी रोग हैं उनका उद्भव या तो आगन्तु हेतु की या निज हेतु की प्रधानता से है। आगन्तु हेतु में वे सब कारण आ जाते हैं जो शरीर से सम्बन्धित होते ही रोग पैदा कर दे। जैसे शस्त्र, लकड़ी, पत्थर, मुष्टि आदि का आघात, गिरना, दबना, टक्कर खाना, विषाक्त वातादिका स्पर्श, विषाक्त जन्तुओं का काटना, विषाक्त या अविष जन्तुओं का शरीर में चला जाना। हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल, साईकिल, मोटर, रेल, आदि की झपेट में आ जाना। विषाक्त औषधि गन्ध, अभिचार, अभिशाप, भूताभिसंग आदि। ये या इस तरह के ऐसे हेतु जिनसे तत्काल रोगोत्पत्ति होती है, इनको दोष प्रकोप के आगन्तु हेतु-नाम से अभिव्यक्त किया है। इन हेतुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों की अभिव्यक्ति हेत्वनुरूप होती है।

अभिव्यक्ति में नाना हेतुओं का सम्बन्ध होते हुए भी रोग का लाक्षणिक रूप बनने के समय वातादि दोषों का ही प्राधान्य हो जाता है। इस तरह नाना हेतु से नाना रूप में विभिन्न रोगों का उद्भव होता है, पर वे सब रोग अभिव्यक्ति के साथ ही वातादि सम्बन्धों से एक स्थिति में आ जाते हैं। इस अवस्था में बाहरी हेतु का शरीर से सम्बंध होते ही तत्काल शरीर की साम्यावस्था का व्यत्यय और तत्काल ही रोगोत्पत्ति होती है।

व्रण, शोथ, भग्न, विसर्प, उपदंश, मूत्राघात, ज्वर, ऊरुक्षत, विषज इस अवस्था के प्रमुख रोग हैं। दूसरी अवस्था है "निज"। निज अवस्था से अभिप्राय है बाह्य हेतुओं से शरीरस्थ शारीरिक तत्वों का संतुलन बिगड़ रोग उत्पन्न होना। इस अवस्था में हेत्वनुरूप रोग का शीघ्र अथवा विलम्ब से उद्भव होता है; अजीर्ण, विशूचिका, अलसक, विलंविका, वमि, तृष्णादिरोग शीघ्र अभिव्यक्त होते हैं। क्षय, कास, अतिसार, ग्रहणी, पाण्डु, रक्त पित्तादि रोग विलम्ब से उद्भूत होते हैं। विलम्ब और शीघ्रोत्पत्ति में रोग की जाति का प्राधान्य नहीं है। प्राधान्य है हेतु विशेष का। हेतुविशेष बलशाली होंगे तो दोष प्रकोप शीघ्र होगा। हेतुविशेष अल्पबल वाले होंगे तो दोष प्रकोप विलम्ब से होगा।

निजावस्था में रोग की उत्पत्ति क्रमिक होती है। निजावस्था का रोग-चय-प्रकोप प्रसरण, स्थान संकाय, इन चार अवस्थाओं में गुजरने के पश्चात् उद्भूत होता है। अभि-व्यक्ति उसकी पंचावस्था है। रूपान्तर उसकी अन्तिम व छठी अवस्था है।

निज हेतु से विकृत दोष बिना चयादि अवस्थाओं के तत्काल रोग पैदा नहीं करता। नाना प्रकार के मिथ्या आहार विहार से शरीरस्थ वातादितत्व विशेष बढ़ते है तो पहिले वे अपने आश्रय स्थान में ही रहते हैं। यह दोषों की संचित स्थिति है। वैसे दोषों का आश्रय स्थान सम्पूर्ण शरीर है। परजिन शारीरिक विशेष भागों में रह कर दोष विशेष कर्मो की पूर्ति करते हैं तदर्थ उनके स्थान विशेषों की संज्ञा की गई है। ऐसे प्रत्येक दोष के पाँच पाँच प्रधान स्थान हैं। इन स्वकीय स्थानों में जिस जिस दोष का विवर्धन होता है उसी को चयावस्था कहते हैं। दोष वृद्धि से अपने स्थान का पूरा पूरा भर जाना वह उसकी दूसरी प्रकोपावस्था है। दोष विकृति की ये दोनों अवस्थायें अपने स्थान तक सीमित रहती है। इस अवस्था तक यदि उनके प्रतिकार का आरम्भ न हो तो फिर प्रसरण और स्थान संश्रय नाम की तृतीयावस्था व चतुर्थावस्था आती है।

विवर्द्धित दोषज अपने स्थान में समाहित नहीं रह सकने की दशा में आ जाते हैं तब वे आगे बढ़ते हैं। जिस तरह वस्तु विशेष पात्र से अधिक मात्रा में होने पर पात्र से बाहर फैलने लगती है इस तरह विवर्द्धित दोष अपनी आश्रय-सीमा से बाहर निकल फैलने लगते हैं। यह दोषों की प्रसरण काल रूप तृतीयावस्था है, फैलने वाले दोष फिर कहीं न कहीं आश्रय लेते हैं इसको स्थान संश्रय रूप चतुर्थावस्था कहते हैं। प्रसरण और स्थान-संश्रय यहाँ तक दोषों की जो स्थिति रहती है यह रोग का पूर्व रूप है। इन चार अवस्थाओं में से तीन तक दोषों ही के विशेष लक्षण अभिव्यक्त होते रहते हैं। प्रसरणावस्था तक किसी रोग विशेष की स्थिति पैदा नहीं होती।

आयुर्वेद सिद्धांत से चय, कोप प्रसरण यह रोग उत्पन्न होने की पृष्ठभूमि है। इनमें दोष-वृद्धि ही प्रमुख रहती है। स्थान संश्रय से रोग विशेष का अंकुर उत्पन्न होता है। इसको आयुर्वेद रोग की पूर्वावस्था कहता है। जिन जिन रोगों में पूर्वरूप के लक्षण कहे गए हैं वे सब इस स्थान संश्रय रूप चतुर्थावस्था के प्रतिपादक हैं।

स्थान संश्रय के पश्चात् रोग विशेषों की अभिव्यक्ति होती है। इसी को रूप कहते हैं। इस अवस्था में रोग विशेष अपने लक्षण विशेषों को अभिव्यक्त करता है। अतः इसकी व्यक्तावस्था संज्ञा कही है। अन्तिम अवस्था रोग भेद हैं, रोग उत्पन्न हो कर जिन जिन अवस्थाओं में बदलता है यह रोग की अवस्था विशेष है यही अन्तिम भेदसंज्ञक अवस्था है। निज संज्ञक हेतुओं से उत्पन्न होने वाला रोग आयुर्वेद सिद्धांत से इन छः स्थितियों का अवश्य अतिक्रमण करता है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत का उपदेश है—

सचयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थान संश्रयम्।
व्यक्ति भेदञ्चयोवेत्ति दोषाणां सभवेद् भिषक्॥१॥

जितने शारीरिक रोग हैं इनमें से अधिक रोग निज हेतु से उत्पन्न होने वाले रोगों की

उपरोक्त अभिव्यक्ति कितनी शोधपूर्ण है। भारतीय चिकित्सा शास्त्र की इस विवेचन सरणी से "कीटाणु है और रोग क्यों ? नहीं" पर मौन होने का कभी मौका नही आता।

यहाँ तो हेतु-दौर्बल्य से, विपरीत देश, काल, प्रकृति से प्रकुपित दोष चय प्रकोप प्रसरण-वस्था तक ही शान्त हो गया तो रोग अभिव्यक्त होता ही नहीं।

रोगाभिव्यक्ति तभी होती है जब प्रकुपित दोष स्थान संश्रय की अवस्था में पहुँचे। चय प्रकोपादि अवस्था के लक्षण-विशेषों को यहाँ उल्लेख लेखवृद्धिभय से नहीं किया है।

इन चयादि अवस्थाओं का विवेचन (रोग ज्ञान) में ही सहायक हो यह बात नहीं इससे चिकित्सा करने में भी पूरी सहायता मिलती है।

रोगाभिव्यक्ति में दोनों पद्धतियां किस विचार-सरणी का अनुगमन करती हैं। उपरोक्त विवरण से इसका कुछ आभास मिल जाता है। इसी तरह रोगोत्पादक हेतु आश्रय भेद से रोग भेद रोग और रोगाभिव्यक्ति का सामान्य दिग्दर्शन कर अब चिकित्सा पर विचार करना संगत रहेगा।

चिकित्सा

उभय पद्धतियें जैसे रोग-हेतु-आश्रय, रोगरूप व रोगोद्भव में भिन्न विचार रखती है, वैसे ही चिकित्सा मे भी इनका दृष्टिकोण भिन्न भिन्न है।

वैज्ञानिक-चिकित्सा-पद्धति जहाँ तक देखने में आती है तीव्र-प्रतिरोध-मूलक है। किसी निश्चित सिद्धांत को मान कर चिकित्सा की जाय ऐसा उसका ध्येय नही। जिन रोगों में कीटाणुओं की प्रधानता नहीं है। जिन रोगों में कीटाणुओ की प्रधानता है उनमें कीटाणु-विनाशक-उपाय ही प्रधान चिकित्सा है। जिनमें कीटाणु ही मिलते उन रोगों की चिकित्सा चिकित्सकों की अपनी जिम्मेवारी पर होती है।

विशेषतः रोगोत्पत्ति के हेतु-विशेष को लेकर हीं इस चिकित्सा का चिकित्सा-क्रम चलता है। जहाँ तक देखने मे आता है रोगोद्भव होने से पहिले रोका जा सके इस तरह का कोई चिकित्सा का अंग निश्चित किया हुआ नहीं है।

हाँ— हैजा, चेचक, प्लेग आदि संक्रामक व्याधियों का जब आरम्भ होता है तब उसकी वृद्धि को रोकने के लिए स्वस्थ्य-मनुष्यों के टीका लगा कर व्याधि-संक्रामण की वृद्धि को रोकने के चेष्टा की जाती हं पर यह रोग की किसी अवस्था को चिकित्सा नही हं।

आरम्भ में तो इस चिकित्सा-पद्धति में चिकित्सा काल में रोगी की किसी प्रकार की खान-पान सम्बन्धी रोक टोक भी नहीं रहती थी। पर अब कुछ समय से मथ्य-योजना की ओर ध्यान दिया जाने लगा है।

काय चिकित्सा क्षेत्र के जिन-जिन शारीरिक, मानसिक रोगों में कीटाणुओं का अनुबन्ध इसके सिद्धान्त से स्वीकृत है विशेषत: उन्हीं रोगों की विशेष चिकित्सा का क्रम कुछ-कुछ स्थिर होने लगा है। इसमे भी कीटाणु+विनाश कैसे हो इसी की प्रधानता दी जाती है। कीटाणुओं के विषय मे इस पद्धति का ही यह निर्णय है कि रोग कीटाणु शरीर में पहुँच एक प्रकार की विषोत्पत्ति करते हैं।

इनसे उत्पन्न की हुई यह विषाक्तता ही फिर अवयव विशेष में या सम्पूर्ण शरीर में रोगोत्पत्ति का कारण बनती है। शरीर मे रहने वाले रक्तादि इस विष को विनष्ट करने का प्रयत्न किया करते है। यदि कीटाणुओं से उत्पन्न विषाक्तता सामान्य स्थिति की हो तो रोग कुछ समय के लिए ठहरा रहता है। यदि इस विषाक्तता को थोडी मात्रा में शरीर के रक्तादि-तत्वों में उत्पन्न कर दिया जाय तो उनमें रोग-प्रतिकार की विशेष क्षमता आजाती है। इञ्जेक्शन का उपयोग इसी सिद्धान्त को लेकर किया जाता है।

कीटाणुजन्य रोगों के चिकित्सा-क्रम में प्रमुखतया यही ध्यान दिया गया है कि शरीरस्थ विषाक्तता का परिहार कर दिया जाय। परिहार करने वाले द्रव्य का रोग की विषाक्तता को छोड़ शरीर के अन्य तत्वों, स्रोतों तथा अवयव विशेषों पर क्या ? प्रभाव होता है। इस पर शायद जितना ध्यान दिया जाना चाहिए, नही दिया गया हैं। अत: रोग को विषाक्तता के साथ-साथ शरीरस्थ अन्य तत्वों का भी नाश होता हो तो कोई आश्चर्य की बात नही।

चिकित्सा-क्रम में जिन-जिन औषधियों का प्रयोग किया जाता है उनमें भी ऐसी बिषाक्तता का प्राधान्य रहता है। जो रोग की विषाक्तता को दबा देने वाली हो। इस स्थिति में इस चिकित्सा-क्रम का एकान्तत: रोग-निर्मूलक-परिणाम नही होता। परिणाम में एक रोग के उन्मूलन के साथ-साथ शायद अन्य रोग के उत्पादन काभी बीजारोपण होता रहता है।

चिकित्सा-क्रम में औषध प्रयोग के लिए काल विशेष की कोई पाबन्दी नहीं है। रोग के लक्षण अभिव्यक्त होने के साथ ही औषध का प्रयोग कर दिया जाता है।

जहां तक देखने में आता है देश, काल, रोगी की अवस्था, प्रकृति आदि का विशेष ध्यान रखा जाता हो, सो बात नहीं।

मलेरिया के सभी रोगी कुनीन के व्यवहार के उपयोगी हैं। निमोनिया के सब रोगियों पर (६९३) के उपयोग निरापद हैं। पुरानी प्रवाहिका में (एमी टीन) का इञ्जेक्शन एकान्त औषध है। मतलब प्रकृति बलाबल से रोग की चिकित्सा में विभिन्नता रहनी चाहिए, इस सिद्धान्त को इस चिकित्सा पद्धति में कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है।

ज्वर, अतिसार, रक्तार्श, रक्तपित्त, वमि (उल्टी) आदि में रोग की आम पक्वावस्था का भेद मान कर चिकित्सा की जानी चाहिए ऐसा भी सिद्धान्त नही है।

रोग की साध्यासाध्य अवस्था मान कर रोग विशेष मे चिकित्सा का विशेष क्रम चलना चाहिए ऐसा भी निश्चित सिद्धांत नही है।

प्रत्येक रोग मे अनुबन्धी रोग और भी रहते है। जैसे—ज्वर में अतिसार, अरुचि, वमि, तृष्णा, प्रलापभ्रम, अनिद्रा आदि। इनको प्रधान रोग के अनुगामी रोग मान कर ही चिकित्सा करनी चाहिए ऐसा इस चिकित्सा में निश्चय किया हुआ नही है। वे इनके परिहार की चिकित्सा इनको विभिन्न रोग मान कर ही करते है।

रोग से उत्पत्ति के सिद्धांत को (वैज्ञानिक पद्धति) भी मानती हैं। ऐसे रोगों की चिकित्सा में पूर्व रोग के अनुबन्ध तथा हेतुता का पूरा ध्यान रखा जाता है।

कालानुबन्ध तथा धातुगत स्थिति से रोग की स्थिति बदल जाती है, यह सिद्धांत भी कुछ-कुछ मान्य होने लगा है।

इस प्रकार के रोगों में चिकित्सा का दीर्घकालिक अनुबन्ध रखना आवश्यक है, यह बात भी व्यवहार में आने लगी है। इस तरह नई शोध से कई बातों में साम्य भी आता जाता है।

शोथ वाले रोगों में नमक का प्रयोग न करना, पिशाब में शर्करा जाने वाले रोगों में मधुर रस का प्रयोग न करना, जलोदर की व्याधि में मूत्र अधिक से अधिक मात्रा में आवे ऐसा उपचार करना। इस तरह की साम्यता उभय पद्धतियों में दिन-दिन बढ़ती जाती है।

धातु तथा रसों का प्रयोग आज से बीस वर्ष पहिले इस चिकित्सा पद्धति से सर्वथा वर्ज्य था। धातुओ के कणों को अघुलनशील मान कर उसके उपयोग को अहितकर बतलाया जाता था। पर अब लोहा, चांदी, शीशा, जसद, ताम्र, स्वर्णादि का प्रयोग इस पद्धति में भी बहुतायत से होने लग गये हैं। वे उनका प्रयोग करते हैं टिंचर के रूप में स्वर्ण तथा लोहे के इजेक्शन भी दिये जाने लग गए हैं।

सबसे प्रबल जिस पारद पर आक्षेप होते थे, मकरध्वज की हंसी उड़ाई जाती थी, उस पारद का प्रयोग भी अब चिकित्सा-पद्धति में अत्यधिक होने लग गया है। विषों का प्रयोग तो इसमे आरम्भ से स्वीकृत था ही, उसके प्रयोगों व प्रकारों में और भी वृद्धि हुई व होती जा रही है। धीरे-धीरे अनुसन्धान का क्रम बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे "आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति" से स्वीकृत भेषज-प्रयोगों के प्रयोग नवीन- चिकित्सा-पद्धति में अधिक से अधिक स्थान पाते जाते हैं।

वासा, विल्व, सनाय, गन्धक, शख, अतीस, चिरायता, संखिया, धतूरा, अफीम, गांजा, फिटकरी, चूना, तूतिया, कुचीला, जस्त, चांदी, शीशा, नौसादर, सोंठ, धनिया, सोरा, चालमोगरा, बंबूल, केला, विजयसार, हरड़, माजूफल, कपूर, अकरकरा, दालचीनी, सोंठ, पीपल,

अजवायन, जायफल, सोंफ, गुलाब, जीरा, सोया, लोंग, इलायची, हींग, जटामांसी आदि सैकड़ों देशी-भेषज वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोगों में प्रबल-मात्रा में व्यवहृत होने लगी हैं।

युद्ध-जनित परिस्थिति में देशी औषधियों के प्रयोगों में और भी अनेक अनुसंधान हुए हैं। यह सब होते हुए भी कुछ स्वार्थ-विशेष की परिस्थितियों के कारण देशी भेषजों को विदेशी-आवरण पहिना कर उनका प्रयोग किया जाता है जिससे कि उनकी आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति से भिन्नता बनी रहे।

ऊपर लिखित कुछ बातें ऐसी हैं जिनको हम सभ्यता के रूप में या उभयपद्धतियों के साविध्य के हेतु-रूप से मान सकते हैं। पर नवीन पद्धति के चिकित्सक ऐसा शायद नहीं मानते। वे भारतीय चिकित्सा-पद्धति से बहुतसी सामग्री लेकर भी उसको अपने अनुसन्धान का फल ही उद्घोषित करते हैं।

इस चिकित्सा-पद्धति में चिकित्सा का प्रधान सिद्धान्त क्या ? है यह अभी ठीक से कहना कठिन है। फिर भी अब तक के चिकित्साक्रम में यह आभास तो प्राप्त होता ही है कि शरीर मे उत्पन्न होने वाली विषाक्तता का तीव्र प्रतिरोध किया जाय। जहाँ तक औषधोपचार का रूप सामने आया या आता है उससे सिद्ध होता है कि इसके चिकित्सा-क्षेत्र में उग्रवीर्य-भेषज ही का अधिक प्रयोग होता है।

जब रोग में विष का अनुबन्ध स्वीकृत है तो उसके परिहार में भी विष का या उग्रवीर्य भेषज का प्रयोग होना संगत ही है। यही हेतु है कि बहुधा औषधोपचार की थोड़ी भी असावधानी होने से कभी-कभी भयंकर परिणाम सामने आते हैं।

जीवाणु तथा कीटाणु-जन्य रोगों के परिहार में तो अब सिद्धान्ततः सीरम व वैक्सीन का ही मुख्य प्रयोग होता है। सीरम में प्रतिविष (रोगाणुओ के विष को दबा देने वाला विष) का प्राधान्य रहता है। विभिन्न-विभिन्न रोगों के लिए विभिन्न-विभिन्न सीरम बनाये जाते हैं।

वैक्सीन में रोग पैदा करने वाले विष का प्राधान्य है यह भी नाना रोगों के अनुसार नाना प्रकार की निर्मित होती है। सीरम तथा वैक्सीन दोनों का प्रयोग इञ्जेक्शन से किया जाता है। पर ये हैं दोनों ही विष। इन विषों का प्रयोग इस सिद्धान्त से किया जाता है कि इनको लघु-मात्राओं के प्रयोग से शरीर में धीरे-धीरे रोगक्षमता उत्पन्न होती है। पर्याप्तरोग क्षमता उत्पन्न हो जाने पर रोग का निवारण हो जाता है।

थोड़े में कहें तो इसका अभिप्राय यह है कि हम सीरम या वैक्सीन के इञ्जेक्शनों से शरीर को विशाक्त बनाते हैं जिससे रक्तकण या शैलों के द्वारा प्रतिविष की मात्रा शरीर में अधिक उत्पन्न होजाय ताकि रोग के विष का शरीर पर प्रभाव न हो या असर हो गया हो तो उसका असर नष्ट हो जाय।

शरीर को इस तरह विषाक्त बनाने का क्रम कहाँ तक उपादेय है। इसके बारे में अभी कुछ कहना उचित नहीं होगा। पर इस तरह कृत्रिम-रोगक्षमता की उत्पत्ति का यह प्रयास निरापद है या नहीं इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। किसी व्यक्ति को ऐसा ज्वर हुआ जिसमें सीरम या वैक्सीन का प्रयोग किया गया। महीने या दो महीने बाद उसी व्यक्ति के दूसरी व्याधि हुई वह भी ऐसी ही हो कि जिससे सीरम या वैक्सीन का प्रयोग किया जाय दैवयोग से दो महीने के अन्तर से उसी को तीसरी व्याधि हुई उसमें भी उपचार उसी प्रकार का हुआ इस तरह छः मास के समय में एक व्यक्ति के शरीर को तीन तरह के विष से विषाक्त बनाने का नम्बर आया। प्रत्येक रोग के लिए कृत्रिम रोग-क्षमता पैदा करने के लिए विभिन्न विष का प्रयोग किया गया उससे उत्पन्न हुई रोगक्षमता रोग निवारण के काम के साथ-साथ क्या अपनी तीव्र कृत्रिमशक्ति के कारण शरीर की स्वा० भाविक-शक्ति पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालेगी।

क्या इससे शरीर के आवश्यक अंग-उपांगों का कर्म व्यापार घटेगा बढ़ेगा नहीं इस प्रक्रिया का प्रभाव ज्ञानवह-तन्तुओं तथा वातवहतन्तुओं पर कैसा होता है? जिनका कि शरीर की क्रिया शक्ति से विशेष सम्बन्ध है।

स्नायु-बन्धनों पर इसका क्या असर होता है? जिस पर शरीर की दृढता व स्थिरता अवलम्बित है।

ये तथा ऐसे और भी कई प्रश्न इस विषय में उत्पन्न हो सकते हैं जिनका ठीक-ठीक समाधान भविष्य के गर्भ में है।

इन्जेक्शनों की तरह और भी व्यवहार में आने वाली कई औषधियें हैं। जिनका रोग निवारण के अतिरिक्त शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका ठीक ठीक निश्चय नहीं हुवा है। जैसे साल्वरसन, टारटरेटड एण्टीमेनी, यूरोनाईनाइट्रास, क्लोराइन, ब्रोमाइड्, ब्रोमीन, आयो डीन, क्लोरोफार्मऔर एट्रोपाइन आदि……।

संक्षेप में "वैज्ञानिक-चिकित्सा-पद्धति" के क्रिया कर्म का विश्लेषण करें तो निम्नलिखित बातें सामने आवेंगी।

१. अधिकांश-चिकित्साक्रम तीव्रप्रतिरोध-मूलक है।
२. रोगोत्पति के बाद ही चिकित्सा का आरम्भ होता है।
३. एक रोग का सर्वत्र सर्वदा समान उपचार है।
४. औषधियों में उग्रवीर्य-औषध अधिक है।
५. इन्जेक्शन व अनुभूत औषधियों का प्रयोग रोग हर परिणाम से भिन्न परिणाम के यथार्थ-निश्चय के बिना किया जाता है।
६. प्रत्येक रोग के लिये परिमित भेषज है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति

चिकित्सा का ध्येय और परिभाषा

अन्य शास्त्रों की तरह भारतीय-आयुर्वेद का भी अपना विशेष ध्येय है। आयुर्वेदागम का अनुशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि आयुर्वेद का निर्माण जनहित की एकान्त भावना से हुआ है।

आयुर्वेद-शब्द की निरुक्ति "आयुरस्मिन् विद्यते, अनेनवाऽऽयुर्विन्दति" से ही इनके निर्माण का मुख्य ध्येय प्रदर्शित हो जाता है। आयुर्वेद का उपदेश आयु ज्ञान के लिए है। आयु ज्ञान में आयुर्वेद के तीनों स्कन्धों का उपदेश आ जाता है।

केवल रोगापहरण के लिए ही चिकित्सा-शास्त्र का निर्माण हुवा हो ऐसी बात नहीं चिकित्सात-शास्त्र निर्मित हुवा था स्वस्थ मनुष्य को रोगी न होने देने के लिए इसी से इसमें ऋतुचर्यादि द्वारा स्वस्थ-मनुष्य को स्वास्थ रक्षा के लिए किस प्रकार के आहार-विहार करने चाहिये। इसका विस्तृत उपदेश किया गया है।

स्वास्थ्य-रक्षा के नियमोल्लंघन से किस प्रकार रोगोत्पत्ति होती है और कैसे उसका प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इसका भी पूरा विवेचन आयुर्वेद में हैं। रोग उत्पन्न न हो हुए हुए का प्रतिकार कैसे किया जाय उभयात्मक विवेचन का वर्णन करते हुए भी आयुर्वेद का आयुर्वेद का विशेष लक्ष्य स्वास्थ्य परायण ही है। जैसा कि चरकीय चकित्सा शब्द की परिभाषा से सम्यक् ज्ञात होता है—

> कथं शरीरे धातूनां वैषम्यम् न भवेदिति।
> समानाञ्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥

यह चिकित्सा लक्षण अग्निवेश के "का वा चिकित्सा भगवन्" इस प्रश्न के उत्तर में उपदेश किया गया है। इस लक्षण में आयुर्वेद के प्रयोजन को किस रूप में स्पष्ट किया है। आचार्य शिष्य के प्रश्न का प्रत्युत्तर देते हैं कि शरीर में किन साधनो से रहने पर धातु-वैषम्य नही होता, जो धातुसमस्थिति में है उनका सतत अनुबन्ध कैसे बना रहे "इत्यर्थं क्रिया क्रियते" इस प्रयोजन सिद्धि के लिये ही क्रिया चिकित्सा की आवश्यकता है।

इस जगह क्रिया शब्द केवल रोग परिहार के उपक्रम को ही लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त नहीं किया गया है अपितु उसका प्रयोग है धातुसाम्य स्थिति कों विशेष लक्ष में रख कर क्योंकि महर्षि को क्रिया शब्द में प्रयोग में यही अर्थ-विशेष अभिप्रेत है। जैसाकि "धातु साम्य क्रियाप्रोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम्" से स्पष्ट है।

रोग-निवारण की अपेक्षा रोगी न होने देना अधिक आवश्यक है। यदि रोगी होने पर ही आयुर्वेदशास्त्र का उपयोग हो तो इसे "आयु-शास्त्र" कहना कैसे सफल हो।

आयु के हित या आयु का संरक्षण तो वस्तुत: तभी होता है जब मनुष्य रोगी हो ही नहीं कारण रोग तो आयु-क्षय का प्रधान हेतु है। रोग तो होता रहे और उसके निवारणार्थ क्रिया का प्रयोग होता रहे तो इस उपक्रम से आयु सरक्षणरूप फल की सिद्धि कभी नहीं हो सकती। हित आयु और सुखायु की उपलब्धि तभी हो सकती है जब स्वस्थावस्था को उसी रूप मे सुरक्षित रखा जाय इसीसे आयुर्वेद शब्द की अन्वर्थ संज्ञा सफल हो सकी है। जैसाकि आयुर्वेदाभिधेय-प्रदर्शन से अभिव्यक्त होता है।

यथा—हिताहितं सुखं दुखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥१॥

हित-अहित, सुख-दु:ख से अन्वित आयु के हिताहित का तथा कालानुबन्धरूप आयु के परिमाण का यथोचित विवेचन ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजन की पूर्ति है स्वास्थ्य के आश्रित, स्वास्थ्य है धातुसाम्य स्थिति के आश्रित अत: धातुसाम्यस्थिति को बनाये रखना आयुर्वेद शास्त्र सिद्धान्त से क्रिया शब्द की यही वास्तविक परिभाषा है।

चिकित्सा के सिद्धान्त—

उपरोक्त क्रिया शब्द की परिभाषा से क्रिया के प्रयोग की दो परिस्थितियें हमारे सामने आती हैं पहली स्वस्थावस्था में दूसरी आतुरावस्था मे।

स्वस्थावस्था में दिनचर्यादि रात्रिचर्या ऋतुचर्यादि में विहित आहाराचारादिका समुचित प्रयोग करना 'क्रिया' शब्दवाच्य है। इसी मे रसायन बाजीकरण प्रयोगों का समावेश हो जाता है कारण साम्यावस्था को सुस्थिर रखने के लिये ही इनके प्रयोगों की आवश्यकता होती हैं।

आतुरावस्था में क्रिया का प्रयोग रोग की विभिन्न-विभिन्न परिस्थितयों के आश्रित हैं। जैसा रोग होगा तदनुरूप ही उसका क्रिया कर्म निर्धारित करना होगा। स्वस्थातुर (उभयात्मक) अवस्था में प्रयुक्त किये जाने वाले क्रिया-कर्म का मूल-सिद्धान्त एक ही है "धातु-साम्य"। स्वस्थ के दोषसाम्य को सुरक्षित रखने के लिये विशेष क्रिया कर्म की आवश्यकता है। आतुर के दोष-वैषम्य को समस्थिति में लाने के लिये चिकित्सा का प्रयोग है।

दोनों स्थितियों में चिकित्सा करने का कारण व परिणाम समान है और वह है "धातुसाम्य"।

चरक ने धातु शब्द का प्रयोग किया है वह वात, पित्त, कफ को अविकृतावस्था में देह-धारक होने के कारण धातु शब्द से व्यवहार किया है। वैसे धातुशब्द का सामान्य प्रयोग रसादि धातुओं केलिये होता है। अत: दोषों के लिये धातु शब्द के प्रयोग में सामान्य विशेष अर्थ ज्ञान बिना भ्रान्ति न हो जाय तदर्थ हृदयकार ने धातु शब्द के स्थान पर दोष शब्द का ही प्रयोग किया है। यथा—"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोष साम्यमरोगता"।

वैसे दोषों के लिए धातुशब्द का प्रयोग संग्रहकार ने भी किया है। यथा—

> अतश्च दोषा देहस्य स्थिरी कारणात् स्थूणा इत्युच्यन्ते।
> धारणाद्धातवः। मलिनीकरणा दाहार मलत्वच्च मलाः।
> दूषण स्वभावाद्दोषा इति।

कार्य भेद से दोषों की दोष मल तथा धातु स्थूणादि संज्ञायें हैं। चिकित्सा में मुख्य आधार ये दोष ही हैं। कारण अशेष रोगोत्पत्ति का मूल आयुर्वेद में इन्ही को माना गया है पीछे के प्रकरण में इसका विवेचन आ चुका है।

दोषों की विकृति के अनन्त हेतु हैं आहार-विहार के नानात्व का कोई अन्त नहीं है। देश, काल, प्रकृति, अनल, वय आदि से व्यक्तियों की अपनी अनन्तायें हैं। दूष्य रसादि धातु, स्तन्यादिउपधातु, विट्मूत्र स्वेदादि मल, इनके सयोग इस तरह दोषविकृति के कारण और रूपका विश्लेषण करना चाहें तो किसी भी तरह संभव नही है। हाँ इन अनन्त-हेतुओं तथा तज्जन्य परिणामों की ओर ध्यान दिया जाय तो रास्ता निकल आता है। आचार्यों ने इसी दृष्टि से अशेष-दोष-प्रकोप के हेतुओं को "निजागन्तु" भेद से दो वर्गों ने बाँट लिया है। हेतुओं के परिणाम को भी इसी तरह वृद्धि तथा क्षय-रूप दो अवस्थाओं में विभाजित कर लिया है।

रोग चाहे जिस हेतु से, चाहे जिस दोष दूष्य विकृति से चाहे जिस अवयव विशेष में आश्रय ग्रहण करें किन्तु वात, पित्त श्लेष्मा के अनुबन्ध से रहित नही हो सकता। रोगोत्पत्ति व रोगस्थिति में दोषों की यह प्रधानता आयुर्वेद में सर्वत्र स्वीकार की गई है। अतः चिकित्सा में भी इन्हीं का प्रधान माना गया है। चिकित्सा करनो है रोग की—रोग में प्रधानता हैं दो स्थितियों की—१. रोगात्पादक हेतु,

२. हेतुजन्यदोष विकृति से रोगाभिव्यक्ति।

इन्ही की प्रधानता को ध्यान में रख चिकित्सा की तीन प्रणालियें निश्चित की गई हैं उनकी सज्ञा हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा, व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा, हेतुव्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा।

आभ्यन्तर दोष दूष्यादि-वाह्य हेतुमिथ्याहार विहारादि इन उभयात्मक-हेतुओं पर जिन औषधियों का प्रभाव पड़े वह हेतु-प्रत्यनीक-भेषज शब्द ने वाच्य है।

विविध दोषदूष्य-सम्बन्ध से उत्पन्न व्याधि में दोष विशेष की अनुकूलता के बिना रोग की सभी स्थितियों में जिन औषधियों का व्याधि निवारक-परिणाम सामने आता है वे भेषज व्याधि-प्रत्यनीक हैं।

हेतु और व्याधि उभय पर जिनका परिणाम फल एकसा होता है वह भेषज "हेतुव्याधि-प्रत्यनीक" शब्द से सम्बोधित होती है।

चिकित्सा की इन तीनों प्रणालियों में "दोष साम्यता के सिद्धान्त को नहीं भुलाया जाता है। कारण चिकित्सा का मुख्य अभिध्येय यही है। जैसा कि म० चरक ने निर्देश किया है—

याभिः क्रिमाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां मतम् ॥१॥

अर्थ स्पष्ट है जिस क्रिया से जिस चिकित्सा कर्म से शरीर के धातुवों की साम्यावस्था हो वही विकारों की वस्तुतः चिकित्सा है। इस कार्य की पूर्त्ति करना यह वैद्य का कर्त्तव्य है।

इस निर्देश से उपरोक्त भाव की पूरी पुष्टि होती है। क्रिया चाहे जिस रूप की का प्रयोग किया जाय उसका परिणाम-धातुसाम्य-रूपका होना चाहिये आयुर्वेद-सिद्धान्त से तभी रोग-निवृत्ति मानी जायगी। यदि क्रिया का परिणाण धातु-साम्यन न हुवा तो वस्तुतः रोग-निवृत्ति न होगी।

आजकल ऐसी क्रियायें भी अत्यधिक-रूप से प्रचलित हैं जो या तो रोग के अंश को दवा देती हैं या शरीर में ऐसी उत्तेजना पैदा कर दी जाती है जिससे रोग की प्रतीति नहीं होती। उसके प्रचलित उदाहरण सामने देखने में आते ही हैं जैसे—उदरशूल में अफीम का इञ्जेक्शन शिरःशूल में ऐस्प्रीन की गोली ज्ञानवहस्रोतों की व्याधियों में ब्रोमाइड् का प्रयोग इनसे धातु-साम्य कभी उत्पन्न नहीं होता है इस प्रकार की क्रिया को आयुर्वेद चिकित्सा-शब्द से व्यवहार करता। जैसा कि स्पष्ट प्रवचन है—

याहयुदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया—नतु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥

जो उदीर्ण दोषों की विकृति का प्रत्याख्यान करे दूसरी किसी व्याधियोंके पैदा करने का सामान एकत्रित न करे वही सच्ची चिकित्सा है जिससे एक व्याधि का तो प्रशमनसा दिखाई दे पर साथ ही दूसरी व्याधि का अकुर अंकुरित हो तो वह चिकित्सा नहीं कही जा सकती।

एस्प्रीन, अफीम और ब्रोमाइड् अवयव-विशेषों की क्रिया को किस प्रकार शिथिल कर देते हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं। इसी से आयुर्वेद ने रोग-निवृत्ति या रोग रुकने को चिकित्सा का फल न बता कर धातु-साम्य को चिकित्सा का फल बतलाया है।

इसी बात का पोषण चरक ने पुनः इन शब्दों द्वारा किया है—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥

रोगी, परिचारक, वैद्य और भेषज ये चार चिकित्सा के पद माने गये हैं प्रत्येक पाद के चार-चार प्रधान गुण माने है इस तरह आयुर्वेदोक्त चिकित्सा षोडश-सम्पद्-युक्त है। इसका

धातुनिवृत्ति में धातु-साम्यार्थं प्रयोग ही (चिकित्सा) है। इसी भाव का समर्थन "वृद्धजीव-कीय तंत्रकार" काश्यप इन शब्दों से करते हैं—

समानां रक्षणं कुर्यात् दोषादीनां विचक्षणः।
कुपितानां प्रशमनं क्षीणानामभिवर्धनम्॥
क्षपणञ्चैव वृद्धानां मेतावद्धि चिकित्सितम्॥

समान दोषों को समस्थिति मे बनाये रखना क्षीणों को विवर्द्धित बढ़े हुयों को समस्थिति मे लाना इसी का नाम चिकित्सा है।

संक्षेप में कहें तो आयुर्वेदिक-चिकित्सा का मूल-सिद्धान्त है "धातु साम्य" चिकित्सा के जितने भी प्रकार हैं उन सबका अन्तिम लक्ष्य यही है।

रोगातुर परीक्षा—

रोगमादौ परीक्षेत तदनन्तर भेषजम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञान पूर्वं समाचरेत्॥

वैसे चिकित्सा स्वस्थातुर-परायण है पर स्वस्थ-पुरुष की विशेष परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है उसका निश्चय तो समदोषः समाग्निश्च समधातुः मलः क्रियः।" इत्यादि स्वास्थ्य लक्षण से करलें।

चिकित्सा का आतुर के लिये उपयोग किया जाय वहाँ आतुर की विशेष तरीके से परीक्षा करनी आवश्यक है। "आयुर्वेद" त्रिस्कन्धात्मक है हेतुस्कन्ध, लक्षणस्कन्ध और औषध-स्कन्ध।

चिकित्सा की सफलता तथा विफलता का आधार इन तीनों स्कन्धों का साधर्म्य, वैधर्म्य ज्ञान है। हेतु और लक्षण स्कन्ध का सम्बन्ध आतुर से है। हेतुस्कन्ध में बाह्याभ्यन्तर सभी कारणो का समावेश है। उनका कुछ विवरण पीछे आ चुका है संक्षेप से हृदयकार के ये दो श्लोक हैं इनमे हेतुस्कध तथा लक्षण-स्कन्ध का सभी परीक्ष्य-विषय आ जाता है—

यथा—द्रूष्यं देशं बलं कालमनल प्रकृतिं वयः।
सत्वं सात्म्य तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषध निरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥

दूष्य से अभिप्राय वातादि दोषत्रय को छोड़ शरीर के अन्य समस्त भावों से है उनमें रसादि धातु स्तन्यादि उपधातु मल, मूत्र स्वेदादि, हृदयादि यंत्र विशेष उनका आवश्यक कर्म, उदक, श्वास, रक्त, लसीका, वातवहस्रोत, शरीर के अग उपांग मर्मत्वक् आदि सब का समावेश है।

देश—जांगल-आनूप-साधारण तथा आतुर शरीर—

बल—सहज-कालज-युक्तिकृत् ।

काल—अयन भेद से, ऋतुभेद से, आदानविसर्ग भेद से, मास, पक्ष, दिवस, प्रहर, मुहूर्तादि भेद से ।

प्रकृति—चतुर्विध प्रकृति, सप्तविध प्रकृति ।

वय—बाल्यादि भेद से ।

सत्व—मनोबल प्रवर, मध्य अवर भेद से ।

सात्म्य—अपने अनुकूल पड़ने वाला आहार-विहार ।

आहार—परिमाण, वय परिणमनादि स्थिति ।

अवस्था—रोग की चय प्रकोपादि आम पक्वादि इन सबका यथार्थ ज्ञान हो जाय फिर यदि औषध का तदनुरूप निश्चय कर प्रयोग करे तो चिकित्सा कभी विफल नहीं हो सकती ।

म० चरक रोग भिषगजितीय विमान में इन दश को विशेष परीक्षा भी निर्येश करते हैं। वे दश १. करण २. कारण ३. कार्ययोनि ४. कार्य ५. कार्यफल ६. अनुबन्ध ७. देश ८. काल ९. प्रवृत्ति और १० उपाय । इनका सबका विशद वर्णन वहीं देखिये ।

मैं इनमें से देश परीक्षा के एक अंग आतुर शरीर के परीक्षण का अवतरण इसलिए दे रहा हूँ कि आतुर शरीर की परीक्षा का यह रूप कैसा है इस पर हमारा ध्यान जा सके ।

(च०) तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति । बल प्रमाण विशेष ग्रहणहेतोः ।

आतुर की यह परीक्षा उसकी शारीरिक स्थिति को ठीक ठीक समझने के लिये हैं ।

पहिला परीक्षण रोगी की प्रकृति का है। प्रकृति मे शुक्रशोणित, गर्भकाल, महाभूत विकार तथा आहारविहारादि भावों से है। दोषभेद से वातादि सप्त प्रकृति हैं वे भी इसमें सम्मिलित हैं। विकृति इसमें हेतु, दोष, दूष्य, देश, काल बलादि उपरोक्त हृदयकारके सभी भावों का समावेश है ।

सार—त्वक्, रक्त, माँस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र तथा सत्व ये आठ तरह के हैं ।

संहनन—(शारीरिक गठन) सुविभक्त अस्थि, मांस, सुबद्धसन्धि, सुनिविष्ट-मांस, शोणित ।

प्रमाण—शरीर का कौनसा अवयव कितना लम्बा, कितना चौड़ा और कितना मोटा होना चाहिए । नख से शिखा पर्यन्त सब अंगों का उत्सेध विस्तार तथा आयाम इसमें निर्देष है ।

कालजबल

तीनों दोषों की समता, तेरह अग्नियों की समता, सातों धातुओं की क्रिया की समता, सातों मलों की क्रिया की समता, प्रसन्न आत्मा, प्रसन्न इन्द्रिय, प्रसन्न मन

सात्म्य—घृत तैल क्षीरादि मधुराम्लरसादि, धान्य, गोधूम द्विलादि, भक्ष्य भोज्यादि आहार में किस मनुष्य को कौनसी वस्तुयें अनुकूल हैं। इसका निश्चय सात्म्य से होता है।

सत्व—मनोबल त्रिविध रूप का

आहार-शक्ति—में मात्रा तथा उसकी परिणमन सामर्थ्य।

व्यायाम शक्ति—श्रमशीलता प्रवर मध्य अवर भेद से।

आयु—बाल, मध्यजीर्ण भेद से।

आतुर के इस उभयात्मक-परीक्षण शैली से क्या ? हमें यह प्रतीत नहीं हो सकता कि आयुर्वेदिक-चिकित्सा शैली है तो किसी सिद्धांत के आश्रित।

क्या ? उपरोक्त परीक्षण विधि से आतुर की परीक्षा आज के इस यान्त्रिक-युग में कुछ आगे बढी है इस प्रश्न का उत्तर विचारशील-व्यक्ति स्वयं ही अपने आप अपने विचार से निश्चित कर लेंगे।

दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः संपरीक्षेत रोगिणम्।

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्नों से रोगी की परीक्षा करनी यह सामान्य सिद्धान्त है इसमें रोगी की आकृति रोगस्थान, जिह्वा-नेत्र, शरीर का वर्ण, निस्सरण होने वाले दोषों का वर्ण, मल, मूत्र, नाड़ी, हृदय की गति, श्वासगति, निद्रा, वेदना विशेष, पुप्फुस, आमाशय, मलाशयादिको की किया व उपरोक्त भावों का परीक्षण करना सब आ जाते हैं। यह ठीक है कि आज ऐक्सरे के प्रयोग से भीतरी अवयम विकृति का भी कुछ पता लग जाता है। यह आधुनिक परीक्षण-प्रणाली की विशेषता है।

मल, मूत्र, रक्त परीक्षा में भी आज की पद्धति ने विशेष उन्नति की है। वैसी मूलभूत कारणों की परीक्षा में उपेक्षा है। वहाँ रोग कारण की भिन्न सत्ता के कारण प्रमुख हेतुओं को हेतु रूप से जानने की अभी जरूरत ही प्रतीत नहीं हुई है।

आयुर्वेद में मूलभूत-हेतुओं के परीक्षण पर ही अधिक बल दिया गया है और यही कारण है कि आयुर्वेद इसी एक निश्चित सिद्धान्त के कारण सहायी-उपकरण मन्द होते हुए भी चिकित्सा-क्षेत्र में कभी विफल नही होता।

रोगातुर परीक्षण का उपरोक्त निर्देश सामान्य सिद्धान्तों का है रोग-विशेष में विशेष-परीक्षण की आवश्यकता है वह प्रतिरोग में साध्यासाध्यादि लक्षणों के साथ निर्दिष्ट की गई है।

चिकित्सा

रोगी रोग तथा तदनुरूप भेषज का निश्चय कर लेने पर चिकित्सा का आरम्भ होता है।

चिकित्सा के आरम्भ करते ही जिन कारणों से रोगोत्पत्ति हुई है उन कारणों का बन्द कर देना अत्यन्त आवश्यक है। चिकित्सा की यह पहली सीढ़ी है, जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं :

"संक्षेपत: क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्" ॥

निदान परिवर्जन रोगों के चालू हेतुओं को रोक देना, उनका शरीर से सम्बन्ध न रहने देना "संक्षेप में यही" क्रिया योग, अर्थात् चिकित्सा क्रम है।

इस निर्देश का यह प्रयोजन है कि रोग चाहे जैसे (निजागन्तु) हेतुओं से हुवा हो रोगोत्पत्ति में आहार-विहार की गफलत का पूरा हाथ रहता हैं। रोग की अवस्था में भी वह असावधानी प्रचलित रहे तो जितनी औषध देते जाइए रोग-निवारण रूप फलोत्पत्ति नही हो सकती।

इसलिए भारतीय चिकित्सा पद्धति में उचित आहार-विहार यानी पथ्यचर्या पर अत्यन्त बल दिया गया है। प्रत्येक रोग मे पथ्यापथ्य की पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है। इसका न तो यह ही अभिप्राय है कि रोगी को सब कुछ बन्द सा कर दिया जाय न यही कि वह चाहे जैसा खान-पान करता रहे। जैसा रोग हो रोग का जिस अवयव विशेष से सम्बन्ध हो, रोग मे जिस दोष की प्रधानता हो उन सबका ध्यान रख कर निदान-परिवर्जन के साथ चिकित्सा का आरम्भ किया जाय।

निदान परिवर्जन के साथ भेषज प्रयोग करना है। वह भेषज भी उसी दोष-सिद्धान्त के आधार पर प्रयुक्त करना चाहिए, जिसको कि रोगोत्पत्ति में प्रधानता दी गई है।

रोगोत्पत्ति है दोषों की, क्षय-वृद्धि की अत: चिकित्सा करनी है वृद्धि तथा क्षय के निवृत्ति की—वृद्धि का निवारण क्षय से, क्षय का निवारण वृद्धि से होता है। अत: वृद्ध क्षय निवारण के लिए लंघन बृंहण यही प्रमुख उपचार, यही प्रमुख भेषज है जैसा कि आचार्य निर्देश करते है—

उपक्रमस्य हि द्वित्वाद्द्विधैवोपक्रमो मत:।
एक: सन्तर्पणस्चात्र द्वितीयश्चापतर्पण: ॥१॥
बृंहणोलंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतो।

उपक्रम चिकित्सा—वह संक्षेप में दो तरह की हो हो सकती है। अत: उसे सन्तर्पण तथा अपतर्पण ये दो संज्ञाये की गई है। इनके पर्याय शब्द बृंहण लंघन भी हैं। चिकित्सा

के ये दो प्रकार परिणाम भेद से है, नाम, रूप, गुण, योनि-भेद से औषधियें अनन्त हैं पर शरीर में उनका प्रयोग करने पर उनका परिणाम होगा वह इन संतर्पण अपतर्पण-रूप में ही होगा-इसलिए जाति, रूप, गुणादि भेद से अनन्त औषधियें फलि विशेष की जनक होने के कारण फलानु रूप उपरोक्त दो भागों में विभाजित करली गई है—

संसार में आज तक उपलब्ध तथा प्रयुक्त की जाने वाली औषधियें अनन्त हैं और अनन्त रूप में ही उनका प्रयोग होता है तथा होगा। पर हेतु विपरीत तथा हेतु व्याधि उभय विपरीतार्थकारी-परिणाम-जनक होने से (क्षयज रोगो में सन्तर्पण वृद्धिजन्य रोगों में अप-तर्पण) सबकी सब सन्तर्पण या अपतर्पणभेषज हैं।

सन्तर्पण तथा अपतर्पण का संक्षेप में अर्थ क्या ? है वह आचार्य ही के शब्दों मे सुनिये।

बृंहणयद्वृहत्वाय लघनलाघवाययत्।
देहस्य भवतः प्राणे भौमापमितरच्च ते ॥१॥

शरीर की वृद्धि जिससे हो वह वृंहण है। जिनके उपयोग से शरीर का उपचय या वजन कम हो वह लंघन है। पार्थिव व उपभूत प्रधान भेषज-द्रव्य हैं वे वृंहणकारक है—ख, वायु, अग्नि तत्व प्रधान भेषज-द्रव्य है वे (अपतर्पण) लंधन कमी करने वाले हैं।

महर्षि चरक ने लंघन, वृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन स्तम्भन इस तरह छः प्रकार के भेषज द्रव्यों का निर्येश किया है। वह निर्देश चिकित्सा विशेष की स्थिति को ध्यान में रख कर किया गया है। सिद्धान्त रूप से यदि देखे तो रूक्षण और स्वेदन दोनों ह्रासोत्पादक होने के कारण लंघन ही के अंग हैं। इसी तरह स्नेहन और स्तम्भन है वे वृद्धि के कारण हैं। अतः उनका समावेश वृंहण में हो ही जाता है। इसी से संग्रहकार ने लिखा है—

"स्नेहनं रूक्षण कर्म स्वेदनस्तम्भनंचयत्।
भूतानां तच्च द्वैविध्यात् द्वितयनातिवर्तते।"

अर्थ वही है जो ऊपर लिखा गया है।

चिकित्सा के इसी मूल सूत्र को म० काश्यप इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं।

"कुपितानां प्रशमनं क्षीणानामभिवर्धनम्।
क्षपणंचैव वृद्धानामेतावद्धि चिकित्सितम्॥"

स्वस्थान में सामान्य प्रकुपित दोष का प्रशमन—स्वस्थान में विशेष विवर्द्धित व स्थानान्तर मे गये हुए दोषो का क्षपणक्षीण हुए दोषों का अभिवर्धन इसी का नाम चिकित्सा है। शब्द-भेद के अतिरिक्त मूल अभिप्राय एक ही है। उपरोक्त निरूपण से यह सिद्ध हुआ कि आयुर्वेद दोष-भेद से उत्पन्न अशेष रोगों को सन्तर्पण तथा अपतर्पणमूलक मानते हुए उनकी वृंहण लंघन रूप चिकित्सा करने का उपदेश देता है। उसका चिकित्सा के लिए यही सामान्य सिद्धान्त है।

अपतर्पण-भेषज द्रव्य नाम, रूप, गुण, योनिभेद से अनन्त होते हुए भी रोगोत्पादक प्रमुख हेतु वातादि दोषों पर प्रभाव भेद से वह शोधन शमन रूप दो भेदों से प्रयुक्त होता है।

जिस रोग में दोष स्वकीयस्वरूप परिणाम से अत्यन्त अधिक मात्रा में बढ़े हुए हैं वैसे दोषों को शरीर से बाहर निकालने के लिए भेषज का प्रयोग होगा वह (शोधन) शब्द से सम्बोधित की जाएगी।

जिस रोग में दोष अल्प प्रमाण में बढ़े हों उनको वहीं अपने उचित प्रमाण में लाने के उपचार का नाम (शमन भेषज) है। अभिप्राय यह हुआ कि अपतर्पण भेषज की प्रयोग भिन्नता को लेकर पुनः शोधन शमन रूप दो संज्ञायें की गई हैं। जैसा कि संग्रहकार निर्देश करते है।

"शोधनं शमनञ्चेति द्विधा तत्रापि लघनम्।
यदीरयेत् वहिर्दोषान पञ्चधाशोधनञ्चतत् ॥१॥

लंघन (अपतर्पण) भेषज के शोधन शमन दो भेद हैं जो संचित, विवर्द्धित दोषों को शरीर से बाहर निकाल देने का काम करे वह शोधन भेषज है। उसके भी पांच प्रकार और हैं। वे हैं—"निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्र विश्रुतिः।" निरूह, वमन, शिरोविरेचन, काय विरेचन और रक्त मोक्षण।

शमन

"न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समी करो तिविषमान् शमनं............ ॥

जो भेषज-द्रव्य संचित-प्रकुपित दोषों को बाहर निकाले नहीं, समस्थिति दोषों को घटावे बढावे नहीं, विषम स्थिति (यानी सामान्य वृद्धि क्षयावस्था वाले) दोषों को समस्थिति में ले आए वे शमन-भेषज हैं।

तच्च सप्तधा—

पाचन दीपन क्षुत्-तृट्-व्यायामातप-मारुताः।
वृंहण शमनन्त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ॥१॥

वह शमन-भेषज सात प्रकार का है। पाचन, दीपन, क्षुत्, प्यास, व्यायाम, आतप, मारुत।

रोगों की परिस्थिति के अनुसार लघन-भेषज के इन बारह प्रकारों का प्रयोग होता है।

अवयव-विशेष के आश्रित दोषों को निकालने के लिए या लेखन के लिए, धूम, कवलग्रह अंजन, आश्च्योतनादि का प्रयोग, वृणाश्रितपूय वा मूढगर्भादि विविध शल्यों के निर्हरण के

लिए, छेदन-भेदन, लेखन, व्यधादिशस्त्रकर्म का प्रयोग इन सबको संचित-दोष निष्कासन का कार्य करने के कारण (शोधन) भेषज कहा जा सकता है।

इसी तरह रोग-विशेष की परिस्थिति के विचार से प्रयुक्त पाचन, दीपन, व्यायाम, उपवास, आतप मारूतादि शोथ-शान्ति के लिए प्रयुक्त निर्वापण, विम्लापन उपलेपादि तथा प्रायोगिक धूम, नस्य, गण्डूष, कवलग्रह, अञ्जन, आश्च्योतन, आलेप स्नानादि-दोषों को समान स्थिति मे लाने का एक परिणाम पैदा करने वाले होने से सब "शमन" भेषज कहे जा सकते हैं।

अपतर्पण के इन द्विविध-भेदों की तरह सन्तर्पण-भेषज भी वल्य, वृंहणादि गण भेद से असगन्ध शतावरी, वला, क्षीर काकोली आदि व्यक्ति भेद से, मांस रस दुग्धादि योनि भेद से, अनुवासन, वृंहण रूप वस्तिकर्म, स्नान, अभ्यंग, गण्डूष, अंजनादि कर्म भेद से अनेक प्रकार के होते हुए दुर्बल व क्षीण हुए शरीर व शरीरस्थ अवयवों को पोषण व सबल करने वाले एवं परिणाम के कारण सबकी सब (वृंहण) भेषज कही जाती है। दौर्बल्य व क्षयावस्था का प्रत्याख्यान न करने के कारण न्यून हुए धातुओं को उचित उचित परिमाण में लाने के कारण इनको "शमन" भी कहते हैं।

इस तरह सन्तर्पण अर्थात् वृंहण को तथा अपतर्पण के शमन-अंग को शमन-भेषज व अपतर्पण के शोथन-अंग को शोधन-भेषज के नाम से व्यवहृत कर "शोधनं शमनञ्चेति समासादौषधं द्विधा" कहा गया है।

ये सब शोधन, शमन या वृंहण लंघन भेषज विपरीत, विपरीतगुण, विपरीतगुण भूयिष्ठता, व विपरीत प्रभावोत्पादकता को ध्यान में रख रोगोत्पादक हेतु-निवृत्ति के लिए न रोग-निवृत्ति या उभय-निवृत्ति के लिए प्रयुक्त किए जाने पर अपने भेषजत्व परिणाम को सफल बनाने में देश, काल, मात्रादि सहायक कारणों की पूरी पूरी अपेक्षा रखती है। विना इन सहायी कारणों के ये भेषज द्रव्य अपने पूर्ण परिणाम को सफल नहीं कर सकते जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं।

> विपरीत गुणैर्देश मात्रा कालोपपादितैः ॥
> भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्य संमताः ॥१॥

अभिप्राय स्पष्ट है विपरीत वा विपरीतार्थकारी गुण, धर्म, वाली भेषज का देश काल मात्रा का ध्यान रख साध्य-रोगों पर प्रयोग करने से रोग अवश्य निवृत्त हो जाते हैं।

उपरोक्त औषध-द्रव्य जाति भेद, जंगम, औद्भिद, पार्थिव आयुर्वेद में व्यवहृत किए गए हैं।

प्राणियों से प्राप्त कर या प्राणियों के शारीरिक व आवयविक भाग जिनका कि रोग

विशेष में प्रयोग किया जाता है वे सब जंगम-भेषज हैं। जैसे मधु, घृत, दुग्ध, दधि, मूत्र, विड्, नख, दन्त, खुर, चर्म, शृंग, केश, रोम, रोचन, पित्त, वसा, मज्जा, रुधिर, मांस, रेत, अस्थि, स्नायु आदि।

पृथ्वी को भेदन कर उत्पन्न होने वाले द्रव्यों को (औद्भिद) कहते हैं ये चार प्रकार के है। पहिले विना फूल आये फल देने वाले वट, पीपल, उदुम्बरादि वृक्ष विशेष जिनकी संज्ञा (वनस्पति) है। दूसरे वे जो फूल देकर पश्चात् फल देते है, जैसे:— आम्र, कदली, जम्बीर, लकुचादि इनकी सज्ञा (वानस्पत्य) है। तोसरे वे जो फल पकने पर स्वयं समाप्त हो जाते है। जैसे, गेहूँ, धान, मोठ मूँग, बाजरा आदि इनकी संज्ञा (औषध) है। चौथे वे जिनके प्रतान चलते हैं जिनका प्रसार भूमि पर ही होता है, जैसे, कटेली, गोखरू, शंखपुष्पी आदि इनकी संज्ञा (विरुध) है।

उपरोक्त चतुर्विध औदिभद्-भेषज जिनके मूल, त्वक्, सार, निर्यास, नाल, स्वरस, पल्लव, क्षीर (पुष्प, फल, तैल, भस्म, क्षार, सत्व तथा कण्टक, शुंग, कन्द, प्ररोहों का आवश्यकता-सार प्रयोग होता है।

उपरोक्त निर्दिष्ट की गई, जगम, औद्भिद्-भेषज, मृदु आवयविक होने से इनके रस गुणों की अधिक काल तक स्थिरता नही रहती। काल स्वभाव से ये भेषज-द्रव्य हीन बल वीर्य हो जाते हैं। कालानुबन्ध के अतिरिक्त, देश, बीज, भौमी, जल, वायु,-सम्पद् के औचित्य अनौचित्य से भी इनके गुण धर्मों में भी न्यूनाधिकता होतो रहती है।

इनके रस, गुण, वीर्य विपकादि को अधिक समय सुस्थिर रखने के लिए आचार्यो ने भावना-विधि का निर्देश किया है। हम जिस किसी काष्ठोषधिजन्य योग को अधिक समय तक रसादि गुण सम्पद् सम्पन्न रखना है तो हम तत् तत् रसादि गुण धर्म साम्यता वाली भेषजों के रसों की उस योग में भावना दें ताकि उस प्रयोग के गुण धर्मों में सुस्थिरता आवे।

पृथ्वो में समाहित रहने वाले द्रव्यों को "पार्थिव" संज्ञा है। आजकल सामान्यतः जिनको खनिज द्रव्यों के नाम से प्रयुक्त किया जाता है वे सब (पार्थिव-भेषज, हैं। जैसे— धातु-लोह, ताम्र, सुवर्ण, तार आदि उपधातु स्वर्ण-माक्षिकादि-रस, उपरस, रत्न, उपरत्नाहि। ये जाति-भेद से विविध-भेषज-द्रव्य जिनका प्रयोग रोग-प्रतिकार के लिए किया जाता है, स्वभावतः रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव, इन पांच प्रकार की संपत्ति से सम्पन्न होते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो द्रव्य विशेष में रहने वाले ये रस, गुण, वीर्य, विपाकादि ही अवस्थानुसार उचित रूप मे प्रयुक्त होने से धातु-साम्य का कार्य करते हैं।

प्रत्येक द्रव्य भौतिक संयोग-विशेष से, विभिन्न, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव वाला

होता है। पर इनमे फिर रस साम्यता, गुण साम्यता वीर्य, विपाक साम्यता भी होती है। जैसे— इक्षु-मधु शर्करा, मधुक, मधूक, काकोली आदि बिभिन्न द्रव्य होते हुए भी सब मधुर-रस-प्रधान द्रव्य हैं।

इसी तरह गुणादि वीर्य विपाकादि साम्यता वाले अनेक द्रव्य मिलते हैं। रोग-विशेष में इनका प्रयोग करने पर ये भेषज-द्रव्य कहीं रस से कही गुण से, कहीं वीर्य से, कहीं विपाक से. कही रस, गुण दोनों से, कही रस, गुण, वीर्य से, कहीं रस, गुण, वीर्य, विपाक चारों से और कहीं रस से प्रभावान्त पांचों से रोग-निवारण का कार्य करते रहते हैं।

समान गुण-धर्मी होते हुए भी दो द्रव्य भिन्न भिन्न प्रकार के परिणाम करते हुए देखे जाते हैं। रस, गुण, वीर्य की समानता होते हुए भो परिणाम में अन्तर क्यों होता है। इस का हेतु है द्रव्य का प्रभाव। प्रभाव से अभिप्राय है रस, गुण, वीर्य, विपाक से, भिन्न द्रव्य का प्राकृतिक प्राकृतिक-स्वभाव। द्रव्य का यह स्वभाव द्रव्याश्रित रहने वाले रस गुणादि को दबा कर कार्य करता है।

रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का अर्थ इनके लक्षण इनके प्रयोग के फलाफलादि का विस्तृत विवेचन यहाँ शक्य नहीं। परिणाम-भेद से दो प्रकार की जाति-भेद से तीन तरह के भेषज-द्रव्य, व्यक्ति-भेद से अनन्त है। इनके प्रयोग भी कल्क, क्वाथ, फाण्ट, शीन, कषाय, घृत, तैल, आसव, अरिष्ट, चूर्ण, वटी, अवलेह, वर्ति, चक्रिकादि अनेक रूप में अनन्त तरह से किए जाते हैं। इन भेषजों को चाहे जैसे चाहे जिस रूप मे प्रयोग किया जाय अन्तिम परिणाम है (धातु-साम्यता) यहो आयुर्वेदीय-चिकित्सा का मूल-सिद्धान्त है। इस मूल-सिद्धांत के संक्षिप्त-विवेचन से ही भारतीय-चिकित्सा-पद्धति का वैशिष्ट्य समझ में आ जाता है।

चिकित्सा की तफसील में उतरने से तो विस्तार बहुत हो जाता है, जैसे हेतु-विपरीत व्याधि-विपरीत, उभय-विपरीत भेषज किन किन रोगों में कैसे प्रयुक्त की जाय, हेतु विपरीतार्थकारी,-भेषज द्रव्यों का किन किन रोगों में कैसे कैसे प्रयोग होता है। इनके अन्तर इनके विवेचन के विभिन्न-व्यवहार की सार्थकता, इनका क्षेत्र।

कौन कौन से रोग हैं जिनमें बृंहण-भेषज ही प्रयुक्त करनो चाहिये। जैसे— व्याधि भेषज्य मद्य स्त्री शोक कर्षितान्)"। भारा ध्वोरः क्षतक्षीण रूक्ष दुर्बल वातलान्।

कौन कौन से रोग हैं जिनमें शोधन शमन का प्रयोग करना है। जैसे—

" मेहाम दोषाति स्निग्ध ज्वरोरू स्तम्भ कुष्ठिनः।
विसर्प विद्रधि आदि............लंघयेत नित्यम्।
तत्र संशोधनैः स्थौल्य वलपित्त कफादिकान्।

विधि में भी अवस्था भेद से निषेध मे भी स्थिति-भेद से अन्तर कहां करना। जैसे—

"न वृंहयेल्लंघनीयान् वृंहयांस्तु मृदु लंघयेत्।"

इत्यादि विवेचन का अत्यधिक विस्तार है। देश काल मात्रादि का व द्रव्यों के गुणधर्मों का विचार करें तो कैसे पूर्ति हो।

भेषज मे क्या ? गुण-सम्पद् आवश्यक है कैसी दवा प्रयोग की जानी चाहिए। संस्कार से परिवर्तित कौनसी भेषज किन किन रोगों मे कैसी अवस्था में प्रयुक्त करना चाहिए।

भेषज की दशविध अवचारणा उसका उचित-प्रयोग ऐसे अनन्त प्रकरण हैं चिकित्सा सम्बन्ध रखने वाले उनका सक्षिप्त परिचय भी देना शक्य नहीं।

अतः चिकित्सा के उपरोक्त मूल सिद्धांत का सामान्य सा दिग्दर्शन करा अब दो रोगों की तुलनात्मक-चिकित्सा का संक्षिप्त-उद्धरण दे दिया जाता है। इससे उभय-पद्धतियों के अन्तर का आभास हमारे सामने आ जायगा।

ज्वर-चिकित्सा—

वैज्ञानिक-पद्धति ज्वर-रोग के दो भेद मानती है। कीटाणुजन्य तथा बिना कीटाणु के। कीटाणु-जन्म में सिर्फ कीटाणु-नाश कर देना यही उनका क्रिया कर्म हैं कीटाणु-विहीन ज्वरों में औषध-प्रयोग किया जाता है वह ज्वर के विभिन्न-रूपों के अनुरूप भिन्न भिन्न है। जहां तक सिद्धांत से सम्बन्ध है चिकित्सा का कोई मूल-सिद्धांत नहीं है। कारण जबकि रोगोत्पत्ति में एक सिद्धांत-स्वीकृत नहीं तब चिकित्सा में एक सिद्धांत को स्थान कैसे मिले।

इन्जेक्शन में औषधियों के सीरम तथा वैक्सीन सभी के इन्जेक्शन प्रयुक्त होते हैं। चढ़े हुए ज्वर को उतारने के लिए भी कुछ भेषज-द्रव्य है जो ज्वर को हल्का कर देते है पर वे हृदयावसाद के प्रबल हेतु हैं।

इन्जेक्शनों में क्वीनेन, डिजिट्रेलीन, स्ट्रीकनीन, ईथर, एड्रिनिलीन, पिच्यूट्रीन, कार्डियोजोंल आदि का प्रयोग होता है।

ज्वर उतारने को एस्परीन्, फिनेस्टीन, एण्टी फ्राइबीन, फेनेजोन, नोवलजीन आदि का प्रयोग होता है।

उपद्रव विशेष की चिकित्सा तदनुरूप की जाती है। अधिकांशतः चिकित्सा का क्रम एक ज्वर में सभी रोगियों के लिए एकसा है। परिमित प्रयोग होने से उनका ही उपयोग करना पड़ता है। साम, निरामादि भेद न मानने से आरम्भ से ही प्रतिरोध-मूलक उपक्रम का आरम्भ हो जाता है।

आयुर्वेद निजागन्तु भेद से ज्वर को दो प्रकार का मानता है। उभय-हेतु जन्य में दोषों की प्रधानता स्वीकार की गई है। प्रायः ही 'ज्वरोत्पत्ति' रस धातु की विकृति से होती है। अतः अधिकांश ज्वर साम दोषजन्य होते है। सामदोषान्वित ज्वर होते हैं वे सब वृद्धिजन्य

है—अतः इस प्रकार के ज्वरो की चिकित्सा (लघन) भेषज साध्य है। जैसा कि आचार्य निर्देश करता है। "ज्वरे लंधन मेवादौ।"

यहां लंघन शब्द का उपवास रूप विशेष अर्थ में प्रयोग है।

वैसे लंघन भेषज दस तरह का बतलाया गया है। चरक……

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुता तपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लंघनम् ॥१॥

उपवास रूप लंघन का प्रयोग आरम्भ मे उन सब ज्वरों में कराना आवश्यक है जो दोष-वृद्धि से आमाशय की विकृति के कारण रस सामता के साथ उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसे ज्वरो मे खान-पान बन्द न किया जाय तो ज्वर-वृद्धि के साथ-साथ अन्य व्याधियों की उत्पत्ति होती है जिनके प्रत्याख्यान मे पीछे पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

इन ज्वरों की दोष-स्थिति के कारण चार अवस्थाएं मानी गई हैं। आम, पच्यमान, पक्व तथा जीर्णावस्था। उपवास-रूप लघन का प्रयोग आमावस्था के लिए है। पच्यमान अवस्था में पाचन-भेषज का प्रयोग दोषों की पक्वावस्था में शोधन शमन का प्रयोग होना चाहिए। दोषों की जीर्णावस्था में वृंहण रूप शमन भेषज का प्रयोग उपादेय है।

अवस्था भेद से आम तथा पच्यमान ज्वरों में वमन-विरेचनादि की तरह लंघन का भी प्रयोग किया जाता है। मारुत, व्यायाम रूप लघन का तरुण ज्वर में निषेध है। शेष का अवस्थानुरूप प्रयोग किया जाना चाहिए।

भारतीय-पद्धति से दोष वृद्धिजन्य ज्वरों की आम तथा पच्यमान अवस्था में ज्वर को रोकने की भेषज कभी नहीं दी जानी चाहिए। कारण इस अवस्था में एक प्रकार की शरीर मे विषाक्तता उत्पन्न होती है। उसका लंघन तथा पाचन से परिहार करना जरूरी है। यदि इस दशा में ज्वर को रोक देते हैं तो रस स्रोतों से संचालित सम्पूर्ण शरीरगत, दोष विकृतिजन्य विषाक्तता उसी दशा में शरीर में रुक जाती है। जिसका कि परिणाम पुनः पुनः ज्वरोत्पत्ति, रक्त-निर्माता अवयवों की विकृति, पाचन प्रणाली की गड़बड़ी तथा ओज क्षय रूप सामने आता है।

रोगी महीनों तक सुलझने नहीं पाता—लंघन पाचन से विषाक्तता निर्मल हो जाने पर शमन भेषज का प्रयोग कराना चाहिए।

क्षयजन्य ज्वरों में आरम्भ से ज्वर रोकने की भेषज का प्रयोग करना संगत है। कारण न तो वहां सामता है न रस-विकृति है। जिस तरह वृद्धिजन्य ज्वरों मे प्रारम्भ मे शमन भेषज का निषेध है उसी तरह क्षयजन्य में लंघन का निषेध है। यथा—

………………………………ऋते ज्वरात्।
क्षयानिल भय क्रोध काम शोक श्रमोद्भवात् ॥१॥

काम, क्रोध, शोक से उत्पन्न ज्वर, श्रम विशेष की थकावट के कारण उत्पन्न ज्वर, रसादि धातुओं की कमी के कारण, निरामवात वृद्धिजन्य ज्वरों में कभी लंघन नहीं कराना। इस प्रकार के ज्वरों में (शमन) भेषज से ही चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए।

हेतु तथा अवस्था विशेष के कारण लंघन, शमन या बृंहण शमन का प्रयोग करना चाहिए। इस तरह वृद्धिक्षयात्मक ज्वरों में लंघन, बृंहण, भेषज का प्रयोग सामान्य सिद्धान्त है। वैसे अवस्था विशेष में वृद्धिजन्य ज्वरों में विभिन्न प्रकार के उपक्रमों की आवश्यकता होती है। जैसा कि चरक उपदेश करते हैं—

लंघनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुण ज्वरे॥

+ +

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशय स्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनै र्हरेत्॥

+ +

वमितं लंघितं काले यवागूभिरूपाचरेत्।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे॥
तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं लाजशक्तुभिः।
ज्वरापहैः फलरसैःयुक्तं समधु शर्करम्॥

+ +

स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषम ज्वरम्।
दोषाः बद्धाः कषायेण स्तंभित्वा तरुणे ज्वरे॥

+ +

परि पक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथामृतम्।
बद्ध प्रच्युत दोष वा निरामं पयसा जयेत्॥
अक्षीणबल मासाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः।
ज्वर क्षीणस्य नहितं वमनं न विरेचनम्।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान्॥

+ +

रूक्ष बद्ध पुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्।
गौरवे शिरसः शूले विवद्धेष्विन्द्रियेषु च।
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्ध्न विरेचनम्॥

+ +

अभ्यगांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने।
विभज्य शीतोष्ण कृतं कुर्याज्जीर्ण ज्वरे भिषक्॥

+ +

धूमनाञ्जययोगैश्च यान्ति जीर्णं ज्वराः शमम् ।
त्वङ्मात्रशेषाः येषाञ्च भवत्यागन्तुरन्वयः ॥

\+ +

उपरोक्त क्रिया कर्म का उपदेश अवस्थानुसार है । इसमें लघन, वमन, विरेचन, वस्ति, अनुवासन यवागू, तर्पण, तिक्तरस, पाचन, शमन भेषज, घृत, पय, प्रयोग, शिरो विरेचन, नस्य, गण्डूष, कवलधारण, अभ्यंग, प्रदेह, अवगाहन, रक्त मो क्षण, धूप, अंजनादि विविध उपक्रमों का निर्देश है ।

इनमें भी फिर विधि निषेध का तार तम्य चलता है अवस्था में अन्तर आते ही विहित-कर्म निषिद्ध और निषिद्ध कर्म विहित हो जाता है । इन अवस्था-भेदों के उद्धरण जिन्हें देखने हों चरक में देखें ।

उपरोक्त ज्वर के चिकित्सा क्रम को वैज्ञानिक पद्धति के चिकित्सा क्रम से मिलाइए, वमन अनुवासन, यवागू, तर्पण, तिक्तरस, पाचन, घृत, शिरोविरेचन, नस्य, गण्डूष, कवल, धारण, अभ्यंग, प्रदेह, अवगाहन, धूप, अञ्जनादिका वहा नाम तक नहीं । सामान्यतः लंघन, विरेचन, वस्ति का प्रयोग मिलता है । भेषज प्रयोग दोनों पद्धतियों में है । इञ्जेक्शन इस पद्धति का विशेष उपक्रम है । औषध-योग भारतीय-पद्धति मे इतने अधिक हैं कि जिनकी समता वैज्ञानिक-पद्धति में कुछ भी नहीं ।

दोष चयकाल से रोगाभिव्यक्ति तक का चिकित्सा क्रम देशी पद्धति की विशेष विशेषता है । रोग निवृत्ति के पश्चात् अनुबन्ध चिकित्सा-क्रम का आयोजन भी इसका विशेष उपक्रम है । पथ्य का आवश्यक अनुबन्ध भी इसको अपनी विशेषता है ।

आवस्थिक-चिकित्सा का तथा रोगी की स्वकीय परिस्थिति के कारण विभिन्न चिकित्सा का जो क्रम देशी पद्धति में है उसकी बराबरी अभी तक कोई चिकित्सा पद्धति नहीं कर सकती । ज्वर की तरह (ग्रहणी) रोग का उभयात्मक विवेचन देखिए ।

ग्रहणी

ग्रहणी-रोग के विषय में स्वतन्त्ररूप से ऐलो पैथी मे विशेष विचार किया गया है या नही— नही कहा जा सकता । इन ने इसको पाचन प्रणाली की बिमारियों में सामिल है इनके सिद्धांत से इस रोग में आमाशयिक-रस की उत्पति बहुत कम हो जाती है । अत चिकित्सा में आमशयिक रस की वृद्धि करना ही लक्ष रहता है । इनके सिद्धांत से अभी ऐसी कोई औषध अविष्कृत नही हुई है जिसके एकाकी प्रयोग से आमाशयिक-रस की अभिवृद्धि हो । जो कुछ औपधियें इनके यहां है वे उदरस्थ-श्लैष्मिक-ग्रन्थियों की शक्ति को उत्तेजित करती है जिससे कुछ समय तक अधिक इसकी उत्पति हो तदर्थ—हाइड्रोक्लोरि एसिड, टिञ्चर नक्सवॉमिका ग्लेसरीन, पेप्सीन, जैन्सीयन आदि का प्रयोग किया जाता है

अब शायद यकृत् की क्रिया को सशक्त करने के लिए इन्जेक्शनों का प्रयोग भी आरंभ हुआ है। जहां तक देखने में आता है ग्रहणी के रोगों में इस पद्धति द्वारा की जाने वाली चिकित्सा विशेष लाभप्रद नहीं होती।

आयुर्वेद-पद्धति से इस रोग की चिकित्सा बहुत सफलता के साथ की जाती है। इस पद्धति में इस रोग की आम पक्व दो अवस्थाएं मानी गई हैं। आमावस्था में आम दोषों को पक्वावस्था मे परिवर्तित कर निकाल देना चाहिए। अर्थात् आमावस्था वाले इस रोग में पहिले लंघन भेषज के, पाचन शोधन, अंगों का प्रयोग करना चाहिए। आम दोषों का निर्हरण हो जाने पर आमाशय की शुद्धि के पश्चात् दीपन योगों का प्रयोग करना चाहिये। यदि रोग की अवस्था निराम है तो उसमे पाचन दीपन का प्रयोग उपादेय है। इस रोग का सक्षिप्त क्रिया-कर्म चरकांकित देखिए ताकि ज्ञात हो कि उपक्रम का यह विधान कितना युक्तियुक्त है।

ग्रहणीमाश्रितं दोष, बिदग्धाहार मूर्च्छितम्।
आमलिंगान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्॥

\+ +

लीनं पक्वाशयस्थं वाऽऽप्याम स्राव्य सदीपनैः।
शरीरानुगते सामे रसे लंघन पाचनम्॥
विशुद्धामाशयायास्मै·········· ·········।
दद्यात्पेयादि लघ्वन्न पुनर्योगांश्चदीपनान्॥

\+ +

ज्ञात्वातु परिपक्वामं मारुत ग्रहणीगदम्।
दीपनीययुत सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक्॥

\+ +

किंचित् संधुक्षिते ह्यग्नौ सक्त विण्मूत्र मारुतम्।
द्वयहं त्र्यहंवा सस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्त निरूहयेत्॥
तत ऐरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचेयत्॥

\+ +

शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत्।

\+ +

निरूढं च विरिक्त च सम्यक् चैवानुवासितम्।
लघ्वन्न प्रति संभुक्त सर्पिरभ्यासयेत् पुनः॥
मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्कातु प्लवते जले।
परीक्ष्यैव पुरा सामं निरामञ्चाथ रोगिणाम्॥
विधिनोपाचेरत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा।
स्वस्थानंगतमुत्क्लिष्टमग्निर्निर्वापकं भिषक्॥

पित्तज्ञात्वा विरकेण निर्हरेद् वमनन वा।
ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि॥
कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत्।
त्रिदोषे विधिवद् वैद्यः पंचकर्माणिकारयेत्॥

\+ +

क्रियायां चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति।
व्यत्यासात्तां समस्तां वा कुर्याद् दोष विशेषवित्॥
स्नेहन स्वेदनं शुद्धिलंघनं दीपनञ्च यत्।
चूर्णानि लवणक्षार मध्वरिष्ट सुरासवाः॥
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानाञ्च सर्पिषाम्।
ग्रहणी रोगिभिः सेव्याः॥

यह ग्रहणी रोग की सामान्य चिकित्सा का दिग्दर्शन है। इसमें, पाचन, वमन, विरेचन निरूह, स्नेह, स्वेद, अनुवासन, लंघन तथा दीपन-क्रियाओं के संयोग का अवस्थानुसार निर्देश किया गया है। आवास्थिक-चिकित्सा और भी विशेष है। जैसा कि आचार्य स्वयं प्रवचन करते हैं।—

............क्रियाञ्चावस्थिकीं शृणु......।
ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्त संयुतम्॥
सकृद्रूक्षं सकृद्स्निग्धं कृशेवहुकफे हितम्।
परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेह संयुतम्॥
वहुवातस्य तु स्नेह लवाणम्ल युतहितम्।

\+ +

स्नेह मेव परं विद्या द्दुर्बलानलदीपम्॥
मन्दाग्निविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते।

\+ +

दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिवेत्तुस॥
काठिन्यात् यः पुरीषन्तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः।

\+ +

सघृतैर्लवणैर्युक्तं नरोऽन्न निग्रहं रिवेत्।
रौक्ष्यान्यन्दे पिवेत् सर्पिः तैलंवा दीपनैर्युतम्॥

\+ +

भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैल सुरासवाः।
उदावर्त्तातु मन्देऽग्नौ यवागूभि पिवेद् घृतम्॥

\+ +

दीर्घकालप्रसंगात्तु क्षामक्षीण कृशान्नरान्।
प्रसहानां रसैः साम्लैः भोजयेत् पिशिताशिनाम्॥

इस प्रवचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि एक ही रोग दोष दूष्य संयोग रोगी की प्रकृति बलाबल तथा आश्रय-भदेक देश, काल के अनुबन्ध से विभिन्न-अवस्थाओं में बदलता रहता है। चिकित्सा करते समय यदि इन परिवर्तन होने वाली अवस्थाओं का ध्यान न रखा जाय तो चिकित्सा में सफलता मिलनी संभव नहीं। आयुर्वेदिक-पद्धति प्रत्येक रोग में इसी तरह दोष-सिद्धान्त से चिकित्साक्रमका प्रति पादन करती है। रोग की सामान्य चिकित्सा का मूल सिद्धान्त सर्वत्र त्रिदोषाश्रित है। विशेष-चिकित्सा लक्षणाश्रित है।

इस तरह सिद्धान्त तथा उहवा के साथ सामान्य-विशेष चिकित्सा का निरूपण आयुर्वेदिक-पद्धति में किया गया है। रोग की प्रत्येक अवस्था में तदनुरूप आहार निहार का निर्देश भी सम्यक् रूप से किया गया है। रोगी को जिस औषधि का सेवन कराना है। उस औषधि के निराकरण के विषय में सबसे अधिक विचार करने की जरूरत है। रोग की दवा होते हुए भी उसका प्रयोग सब रोगियों को सब अवस्थाओं में नहीं कराया जा सकता। इसका थोड़ा सा विवरण देखिये।—

संग्रहकार—योग्यमपि चौषधमेवं परीक्षेत। इदमेवं रसवीर्यं विपाकं, एवं गुणं, एवं द्रव्यं, एवं कर्म, एवं प्रभावम्, अस्मिन् देशेजातं, अस्मिन् ऋतौ, एवं गृहीतम्, एवं विहितं, एवं निषिद्धं, एवमुपसंस्कृतम् एवं संयुक्तं, एवं युक्तम्, अनयामात्रया, एवं विषस्य पुरुषस्य, एवं विधे काले एतावन्तं दोषं अपकर्षति उप शमयति वा।

रोगानुरूप औषध की भी इस प्रकार परीक्षा करें। यह औषध किस रस, गुण वीर्य० विपाक वाली है। इसके आश्रय-द्रव्य में किस भूत की प्रधानता है। यह औषध किस द्रव्य का निष्पादन करेगी—इसका प्रभाव क्या रहेगा। इसका उत्पत्ति स्थान कौनसा है। किस ऋतु में कैसे गृहीत की गई है। कैसे रखी गई है। किस स्थिति में तथा किस रूप में बदल जाने पर इसका प्रयोग निषिद्ध है। गुणाधान के लिये किस प्रकार उप संस्कृत की गई है। ऊपर किन औषधियों से संयुक्त है। किस मात्रा में किस पुरुष को किस काल में देने पर किस दोष का किस तरह शोधन करती है। किस का किस स्थिति में शमन करती है।

काल सम्बन्ध से औषध में कितना हेर-फेर होता है। इस पर भी पूरा विचार किया गया है। किस ऋतु में कैसी भेषज उपयोगी है कैसी नहीं किस काल के निकल जाने पर कौनसी भेषज गुणहीन हो जाती है? कैसे संयोगी-द्रव्यों से औषध के गुण वीर्य की वृद्धि तथा ह्रास हो जाता है? किन-किन रोगियों को किस प्रकार की भेषज का प्रयोग करना किसका नहीं करना इत्यादि विषयों का विवेचन बहुत विस्तार से है। यहाँ इस थोड़े से अंश का उद्धरण देता हूँ जिसमें रोगी को औषध देनी ही न चाहिये।

म० काश्यप—क्षीण वात्विन्द्रिये श्रान्ते क्लान्ते तान्ते बुभुक्षिते।
भैषज्यदग्धकोष्ठे भेषजं नैवापचारयेत् ॥१॥

क्रुद्धे विषण्णे शोकार्ते रात्रौजागरिते तथा।
विदग्धाजीर्णे भुक्तेश्च भेषजं नैवापचारयेत् ॥२॥

कर्मातिमाराभिहृते निरूढ़े सानुवासिते।
उपाषिते विरक्ते च भेषजं नापचारयेत् ॥
यत्किञ्चिदप्यु पातान्ने मूर्च्छिते घर्मतापिते।
सद्यः पीतोदके चैव भेषजं नैव चारयेत् ॥

असमत्वागत प्राण दोषधातु बलौजसाम्।
अत्यन्त सुकुमाराणां कुमाराणां बलायुषी ॥
क्षीणातिवृद्ध क्रुद्धानां क्षीण धात्विन्द्रियोजसाम्।
एकान्तेनौषधं पीतं सूर्यस्तोयमिवाल्पकम् ॥

यस्य पीतस्य याकान्ते दोषः सूक्ष्मोऽपि लक्ष्यते।
व्याधेश्च प्रशमो न स्यात्तच्चवर्ज्यं विजानता ॥

यन्नातुर बल हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च
तदेवास्यावचार्यंस्यादाव्याध्युच्छेद दर्शनात्।

कृशं रोगपरिध्वस्तं सुकुमारं समात्यिकम्
तीक्ष्णौषध प्रयोगेण हन्ति चाप्यतिमात्रया ॥

महारोगं महाहारं महासत्वं महाबलम्।
मृद्वल्पौषध योगेन क्लेशयत्यातुरं भिषक् ॥

उपक्रम्यो बलीतस्माददुर्बलो निरुपक्रमः।
मध्यमुक्तैरुपक्रम्य न चाहाराग्निवर्तयेत् ॥
कृशं विश्राम्य विश्राम्य पथ्यैरौषधसाधनैः।
धारयेद्वार्धयेदग्नि मग्नौ वृद्धे हि जीवति ॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट है। इसमें बतलाया गया है कि किन-किन अवस्थाओं में कैसे मनुष्यों को औषध नहीं देनी चाहिये। कैसे स्वभाव तथा कैसी शरीर सम्पद् वाले रोगियों को निरन्तर दीर्घकाल तक औषध न देना। किस प्रकार की औषध न देना। किस प्रकार की औषध का प्रयोग जारी नहीं रखना।

कैसे रोगी तथा कैसे रोग में तीक्ष्ण भेषज का कैसे रोगी और कैसे रोग में मृदु वीर्य भेषज का प्रयोग करना विफल है। रोगावस्था में रोगी की मानसिक तथा शारीरिक-स्थिति में अन्तर आ जाता है। उसकी पाचन क्रिया का कार्य भी गड़बड़ा जाता है। अतः किसी भी औषध का प्रयोग किया जाय यह ध्यान में रखा जाय कि उससे पाचन-कर्म में सहायता पहुँचे अन्यथा औषध का रोग-प्रशमक-रूप-फल कभी सम्पादित नहीं होगा। चिकित्सा-सिद्धांत उसके व्यावहारिक-रूप तथा औषध के विषय में यह थोड़ासा दिग्दर्शन-मात्र है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं विवेक-शील व्यक्ति उपरोक्त क्रम को तुलनात्मक-दृष्टि से परी

क्षण करेंगे तो उनको स्वतः ही निश्चय हो जायगा चिकित्सा का क्रम किसका अधिक यथार्थ है। मेरी समझ से निम्नलिखित-विशेषतायें आयुर्वेद-पद्धति की अपनी हैं।

आयुर्वेदिक-चिकित्सा-पद्धति की विशेषाताऐं—

१. प्रत्येक-रोग की दोष-सिद्धान्त से चिकित्सा।

२. सामान्य-चिकित्सा के साथ-साथ आवस्थिक-चिकित्सा।

३. रोगोत्पत्ति से पहिले चयादि अवस्था की चिकित्सा।

४, भविष्य में होने वाले रोगों की दोष सिद्धान्त से चिकित्सा।

५. प्रत्येक रोग व रोग की अवस्था-विशेष में पथ्यापथ्य।

६. लंघन-भेषज में पंचकर्म तथा उपवासादि कर्मों का प्रयोग।

७. रोग निवृत्ति के पश्चात् स्वास्थ्यानुबंध के लिये अनुबन्ध चिकित्सा।

८. उग्रप्रतिरोध-मूलक-चिकित्सा की अपेक्षा शमन-चिकित्सा की प्रधानता।

९. काष्ठौषधि-प्रधान-चिकित्सा के कारण औषध-संव्यापद् का सर्वथा अभाव।

१०. तीव्रविषादि प्रयोग से होने वाली हानि से रहित।

११. चिकित्सा का मूल-ध्येय शरीर की स्वाभाविक-स्थिति को समस्थिति में रखने के कारण सौम्य-गुण-प्रधान भेषजों का अधिक व्यवहार।

१२. शरीर के अवयवों की क्रिया-विशेष को बलपूर्वक उत्तेजित करने या दबाने का परिहार।

१३. औषधि तथा योगों की प्रचुरता जिससे सब स्थिति को चिकित्सा में सुलभता। ये इस चिकित्सा-पद्धति की मौलिक विशेषतायें हैं। अपनी अल्पज्ञता के कारण कहीं अनुपादेय उल्लेख हुआ तो तदर्थ क्षमा।

रस शास्त्र

लेखक : वैद्य अम्बालाल जोशी

[आयुर्वेदकेशरी, साहित्य आयुर्वेदरत्न "श्री जोशी" परंपरागत चिकित्सक रत्नों में से है। आप जोधपुर नगर की नगरपालिका के मान्य सदस्य कई बार रह चुके हैं। आप निर्भीक एवं मिलनसार व्यक्ति है तथा अनेक पत्र पत्रिकाओं के सम्पादक व आयुर्वेद महा सम्मेलन पत्रिका के प्रधान सम्पादक भी रह चुके हैं। समय समय पर आपके सारगर्भित लेख कई पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं तथा आप इस अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मंडल में हैं तथा चरित्र-नायक के प्रति श्र

बड़ी आस्था है।

आपके पिता श्री मोहनलालजी आयुर्वेदकेशरी साहित्य तथा संगीत के उद्भट विद्वान् रहे तथा आपके पितामह पंडितमार्त्तण्ड प्राणाचार्य दाधीचशिरोमणि श्री वेणीरामजी अपने समय के बड़े प्रसिद्ध नाड़ीविशेषज्ञ माने जाते थे। श्री जोशी का 'रस शास्त्र' सम्बन्धी लेख संक्षिप्त व सारगर्भित है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

आयुर्वेद में रसशास्त्र एक नवीन अध्याय के रूप में जुड़ा। रसशास्त्र का प्रधान द्रव्य 'रस' है। इसे पारद की संज्ञा दी गई है। पारद का प्रयोग आयुर्वेद रसशास्त्र में दो प्रकार से किया गया है—१. देह सिद्धि तथा २. धातु सिद्धि। देह सिद्धि के लिये पारद के आठ संस्कार आवश्यक बताये गये हैं तथा धातु सिद्धि के लिये आठरह संस्कार। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों रस-शास्त्र का विकास हुआ आयुर्वेद में यह अलग नामांकित किया जाने लगा। रस-शास्त्र के चिकित्सक अपने आपको अन्य चिकित्सकों से अधिक पटु मानने लगे। इसीलिये उनके औषध निर्माण स्थान को रस शाला, स्वयं रस चिकित्सक, रस सिद्धि (धातु सिद्धि) करने वालों को रस सिद्ध आचार्य, उनकी निर्मित औषधियों को रस-रसायन आदि पुकारा जाने लगा।

पारद रसशास्त्र का प्रमुख द्रव्य है। इसके नाम शास्त्रों में रस, रसेन्द्र, सूत, रसेश्वर, चपल, रसराज तथा पारद हैं। पारद एक खनिज-द्रव्य है। यह अशुद्ध रूप में प्राप्त होता है। मुख्यतः इसकी अशुद्धियाँ यह बताई गई हैं—नाग, बंग, मल, वन्हि, चापल्य, विष, गिरि, असह्याग्नि। ये दोष पारद के स्वाभाविक दोष हैं इससे मुक्त करने के लिये शोधन आवश्यक है तथा इसके प्रभाव को अधिक तीव्र बनाने के लिए इसके आठ संस्कार परमावश्यक हैं। अशुद्ध पारद मानव शरीर में प्रवेश कर निम्न विकार उत्पन्न कर देते हैं—व्रण, कुष्ठ, जड़ता, तापवृद्धि, शुक्रक्षय, मृत्यु, देहस्फोट, मोह।

उपरोक्त विकार ऊपर वर्णित मलों के प्रतिफलस्वरूप क्रमशः यहाँ लिखे गये हैं। इसके सिवाय पारद में सात कंचुकी दोष भी माने गये हैं। इन कंचुकियों के नाम—भेदी, द्रावी, मलकरी, ध्वांक्षो, पर्पटिका, अंधकारी, पाटली।

ऊपर हम यह कह आये हैं कि रसों के निर्माण में मूल द्रव्य पारद ही है और इसी की प्रधानता के कारण उनका नामकरण रस-रसायन किया गया है। रसों में डाला जाने वाला पारद शुद्ध होता है अशुद्ध नहीं इसीलिये उसकी शुद्धि आवश्यक मानी गई है। पारद की सामान्य शुद्धि तथा विशेष शुद्धि दो प्रकार की शुद्धि बताई गई है।

सामान्य शुद्धि—

(१) गृहधूम, हरिद्रा, ईंट का चूर्ण, बारीक काटी हुई ऊन में पारद को घोट कर कांजी के अम्ल जल से धो लेने से उसकी सामान्य शुद्धि होती है।

(२) पारद को समभाग चूने में ३ दिन मर्दन करें। फिर कपड़े में छान कर पारद निकाल लें। छने हुए पारद को लहसुन, नमक डाल कर खरल करें। लहसुन काला हो जाने पर कांजी से धो कर साफ कर लें।

(३) घृत कुमारी, चित्रक छाल, लाल सरसों, छोटी कटेली तथा त्रिफला क्वाथ में मर्दन करने से पारद शुद्ध होता है।

गंधक के साहचर्य से पारद-शक्ति में उत्कर्षता होती है।

(४) गुड़ त्रिकटु अजवायन्, पांचों नमक, चित्रक, त्रिफला, यवक्षार सज्जीखार, सुहागा, धतूर बीज और सरसो इन सब को पृथक पृथक पारद के साथ मर्दन करने से पारद शुद्ध होता है।

(५) पान के रस, अद्रक रस, यवक्षार, सज्जीखार, सुहागा को मिलाकर तीन दिन तक पारद को इनमें खरल कर कांजी से धोने से पारद शुद्ध होता है।

विशेष—हिंगुलोत्थपारद का निर्माण—

(१) हिंगलू रूमी को नीबू के रस में मर्दन कर टिकिया बनालें फिर सूखने पर इस टिकिया को डमरू यंत्र में रख कर आंच देकर पारद उड़ालें।

(२) नीबू के रस में शुद्ध किये गये हिंगलू को एक कपड़े में लपेट कर पिण्ड बनालें फिर इस पिण्ड में धीरे से आग लगादे तथा किसी मिट्टी के बरतन में रख कर ऊपर मजबूत ढक लगादें। कपड़ा जल जावेगा और पारद निकल आवेगा। छान कर शीशी में रख लें।

पारद के संस्कार—

१. स्वेदन २. मर्दन ३. मूर्च्छन ४. उत्थापन ५. ऊर्ध्वपातन, अध:पातन तथा तिर्यग्-पातन ६. बोधन ७. नियमन और ८. दीपन ये आठ संस्कार देह सिद्धि के लिये बताये गये हैं। परन्तु धातु सिद्धि के लिये ९. गगनभक्षण प्रमाण १०. सचारण ११. गर्भद्रुति १२. बाह्य द्रुति १३. जारण १४. ग्रास १५. सारण १६. संक्रामण १७. बेधन १८. शरीर योग ये संस्कार और बताये गये हैं। नीचे हम केवल पारद के आठ संस्कारों की विधि मात्र बतायेंगे।

पारद के संशोधन तथा गुण-वृद्धि के लिये संस्कार बताये गये हैं।

(१) दोला यंत्र में क्षारीय या अम्ल द्रव को भर कर पारद की पोटली उसमें लटका कर उबाला जाता है। वाष्प से स्वेद होने को स्वेदन संस्कार कहते हैं। पारद का सोलहवां भाग—पिपली, मिरच, चित्रक, अद्रक, सौंठ, सेंधा नमक, त्रिफला को कांजी में मिला कर उबाले। तीन दिन तक स्वेदन किया जाता है।

स्वेदन के लिये अन्य द्रव्य भी प्रयोग में आते हैं उनका उल्लेख लेख के विस्तार भय से यहां नहीं किया जा रहा है।

(२) सैंधव, गृहधूम, राई, हल्दी, लहसुन, अदरक, त्रिफला को १।१६ लेकर पारद में तीन दिन तक खरल करे। मर्दन संस्कार है।

(३) पारद के मल, वह्निो आदि विष दोषों को दूर करने के लिये घृत कुमारी के स्वरस में पारद को मर्दन कर नष्ट पिष्ट बना लेने से संमूर्च्छन संस्कार पूर्ण होता है। यह सात दिन किया जाता है।

(४) सुहागा, लवण, मधु के साथ पारद को अच्छी तरह मर्दन कर इसका एक गोला बना कर पोटली में बाँध कर अम्लद्रव मे स्वेदन करें तीन वार करने से पारा उत्थित हो जाता है। प्रथम तीन संस्कारों से पारद में जो नपुंसकता आ जाती है उसे पुनः पूर्ण रूप प्रदान करने के लिये यह संस्कार किया जाता है। इसे उत्थापन संस्कार कहते हैं।

(५) (अ) सजीखार, जवखार, हींग, पांचों नमक तथा आलवर्गीय औषधियों के साथ पारद को मर्दन कर इस कल्क को हांडी में डाल कर ऊर्ध्व पातन यन्त्र में ऊपर उडालें। पारद ऊपर की हांडी के चिपका हुआ मिलेगा। इसे एकत्रित कर छान लें। यह ऊर्ध्व पातन संस्कार है।

(ब) समभाग गंधकयुक्त पारद को मर्दन कर कज्जली बनालें। फिर पारद के समभाग चित्रक, सहंजना, राई, सेंधा नमक, कंवचबीज का चूर्ण मिला कर जम्बोरी के रस में मर्दन कर पिस्ट बनालें। इस पिस्टी को ऊर्ध्व पातन यत्र के ऊपर के भाग मे भीतर लेप करदें। फिर ऊपर आग लगा कर नोचे के भाग में पारद एकत्रित करलें। यह अधः पातन संस्कार है।

(स) सेंधा नमक कांजी आदि ऊपर की दवाओं में पारद मिलादो—इसे पीसें। फिर तिर्यग् पातन यंत्र में रख कर तिरछा उडावे। यह पारद का तिर्यग् पातन संस्कार है।

(६) सेंधा नमक को कांजी मे पीस कर पारद मिला दें फिर पीस कर किसी कांच की शीशी में डाल कर मुह बन्द कर गढे मे जमीन मे गाड दें ऊपर से लघु पुट देने से पारद का षण्ड दोष दूर होता है और वीर्य वृद्धि होती है। इसे बोधन या रोधन सस्कार कहते हैं।

(७) बोधन संस्कार द्वारा लब्ध वीर्य पारद की चापल्यदोष को दूर करने के लिये नियमन संस्कार किया जाता है। नियामकगणों को संम्पूर्ण या इनमें से कुछ को लेकर इनके स्वरस या क्वाथ में स्वेदन करने से पारद नियमित हो जाता है।

नियामक गण ये हैं—सहदेवी, गंगेरण, कच्ची इमली, पुनर्नवा, मूषा कर्णी, पिया बांस, अड़ूसा, भकोय गोखरू, शरपंखा, अपराजिता चौलाली, कोयल काली, शतावर, शंख पुस्पी श्वेत आक धतूरा, लकम, बहने दण्डी, गिलोय, सेंधा नमक, पाठ, इन्द्रायण, और मछेछी।

(८) दोला यंत्र में उक्त पारद को डालकर क्षारीय या अम्ल द्रवों में इतना स्वेदन करे कि उससे उसमें धातुओं एवं गधक आदि को ग्रास करने की शक्ति आ जाय। इसके लिए कालीस, काली मिर्च, फिटकड़ी, सहीजना, कांजी, सुहागा, पांची नमक, चित्रक, राई काम मे आते हैं। यह संस्कार दो दिन तक किया जाता है। यह दीपन संस्कार।

उपरोक्त अष्ट सस्कारित पारद तथा हिंगुलोत्थ पारद में रोगनाशक शक्ति पैदा करने के लिए इसे षड़ गुंण गंधक जीर्ण करना जरूरी है। इस कार्य के लिए निम्न विधि है।

पारद मे एक साथ छ गुना गंधक मिला कर उसे अग्नि देकर जारण करें । यदि ऐसा न कर सकें तो– समान भाग गंधक मिला कर– छः बार कर अग्नि दें। यह सत्व पातन विधि से भी किया जा सकता है।

इस शुद्ध संस्कृत पारद की दो प्रकार की मूर्च्छना मानी गई है। (१) अन्तर्धूम तथा (२) वहिर्धूम। पारद की कज्जली को काच कूपी में रख कर डाट लगा कर धीरे धीरे आंच में पकाने से अन्तर्धूम मूर्छना कहते हैं। तथा विना डाट लगाए आँच देकर, तदन्तर डाट लगा कर रस सिन्दूर तैयार करने को बहिर्धूम मूर्च्छना कहते हैं। गंधक सहित की गई मूर्छनायुक्त पारद देह को हानि नहीं पहुँचाता परन्तु गंधकविहीन मूर्छित पारद उपदंश आदि रोगों में ही काम लिया जा सकता है और इसमें भी हानि करने का अन्देशा रहता है।

मुग्ध रस

शुद्ध पारद तथा शुद्ध खटिका को खरल करें। इसे अच्छी तरह घोटने से इसमें चमक नहीं रहती। इसे मुग्ध रस कहा जाता है। मात्रा ½ रती फिरंग, बाल अतिसार आदि रोगों में उपयोगी।

रस पुष्प

पारद ५ तोले, सैंधव ५ तोले, शुद्ध कसीस ५ तोले तीनों को एक साथ खरल में मर्दन कर काच कूपी में भर लें। फिर बालुका यंत्र में अग्नि प्रदान कर (छः घन्टे) कांच की शीशी के गले में लगे हुए सफेद चमकदार पदार्थ को निकाल लें। धूम निकल जाने पर उस पर डांट लगा दें। तथा गले को चार अंगुल छोड़ कर बालुका रखे। यही रस पुष्प है– इसे रस कपूर। रस कुसुक्रम भी कहा गया है।

कज्जली

पारद तथा गंधक समान मात्रा, आधा, दुगना या चतुर्थांश लेकर खरल करें। कृष्ण वर्ण की विना चमक की कज्जली बन जाती है। इसमें द्रव पदार्थ मिलाने से कीट कहा जाता है।

इसी कज्जली से पर्पटी बनाई जाती है। जो ग्रहणी रोग में लाभ करती है। कज्जली को कलछी में गरम कर पिघलालें फिर कदली पत्र पर डाल कर ऊपर से कदली पत्र ढक कर दोनों ओर भैंस का गोबर लगा दें। ठण्डा होने पर पपड़ी को निकाल लें। यह रस-पर्पटो कहलाती है।

रस सिन्दूर

आठ तोले शुद्ध पारद, आठ तोले शुद्ध गंधक डाल कर कज्जली बनादे। वड़ के अंकुर

स्वरस डाल कर या कपास के पुष्पों का स्वरस डाल कर पिट्ठी बनालें फिर सुखा कर कूपी में डाल कर कपड मिट्टी कर बालुका यंत्र में रख कर मंद, मध्य तथा तीव्र आंच दे। ६ घंटे बाद गंधक जीर्ण हो जाने पर कूपी के मुख पर डाट लगा लें (गुड तथा चूने को मिट्टी के गोल चकरे पर लगा कर डाट लगा दें) फिर ६ घंटे को तीव्र अग्नि देकर रस सिंदूर निकाल लें। यह कूपी के गले में लगा मिलेगा गहरे लाल वर्ण का होगा। यह गलस्थ रस सिन्दूर है। गलस्थ रस सिन्दूर बनाने के लिए उपरोक्त अनुसार कज्जली को कूपी में डाल कर उसके मुंह पर डाट लगा दें। फिर जमीन में एक हाथ लम्बा तथा उतना ही चौड़ा गड्डा खोद कर इसके बीच में शीशी रख कर चारों तरफ चार अंगुल ऊंचे तक कर जला दे। स्वांगः शीतल होने पर गले में चिपका बालू भर दे। फिर जंगली गोबर भरा हुआ रक्त वर्ण का रस सिन्दूर निकाल लें। इस यंत्र का नाम अधः सैकत यंत्र है।

अर्ध गंधक जीर्ण करने के लिए गंधक के समान भाग नौसादर मिलाना चाहिए। इसी प्रकार द्विगुण, त्रिगुण, षड़गुण आदि के बारे में करना चाहिए। अधिक गंधक जीर्ण करने के लिए अधिक समय तक आंच देनी पड़ती है।

पारद भस्म

शुद्ध पारद को समान भाग शुद्ध गंधक में खरल कर कज्जली बनालें फिर बड़ के दूध में घोट इस कज्जली को एक मिट्टी के पात्र में रख कर चूल्हे के नीचे मंद मंद अग्नि दें। मिट्टी में पड़े पारद को बड दण्ड से हिलाते रहें। इस प्रकार १२ घटे में कृष्ण वर्ण की भस्म हो जावेगी जो निर्धूम तथा गौरव आदि गुण लिए होगी।

पारद भस्म बनाने की अन्य विधियां स्थानाभाव से यहां नहीं दी जा रही हैं।

महारस ८

महारस	जाति भेद	उपयोगी	ग्राह्य	शोधन	मारण
१ अभ्रक Biotite	पिनाक, नाग, मण्डूक, वज्र, श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण, मेग्नेशिया, आइरन	तपाने से कोई विकार न हो कृष्ण वज्राभ्रक	स्निग्ध, सूक्ष्म दल वजनदार, पत्र सरलता से छूटे	तपाकर–दूध, कांजी, त्रिफला-क्वाथ गोमूत्र में ८ बुझावा दें। ¼ चावल के साथ कंबल में पोटली बांध रखें	कसौदी रस से घोट कर १० पुट दें। ७ अर्क दूध से ३ वटाकुर क्वाथ से चन्द्रिका रहित होने पर प्रयोग करे।
२ वैक्रान्त Tourmaline	आठ कोण फलक ८ या ६ श्वेत, पीत, रक्त, नील, श्याम, कृष्ण, कर्बुर कबूतरी सोडियम लीथीयम, पोटेशियम	पांच रंगों का सुनहरी कृष्णवर्ण Deepblack	इसकी कठोरता ७·७'५	कुलत्थ क्वाथ में स्वेदन करे।	सम भाग गंधक के साथ निंबू रस में घोट कर ८ पुट दें।
३ माक्षीक	स्वर्ण Copper Pyrites रौप्य Iron Pyrites			¼ सेंधा नमक नींबू रस ५ गुणे में कढाई में डाल तेज अग्नि में पकाए। शुष्क व लाल होने पर उतार कर जल से धोकर नमक निकाले।	कुलत्थ क्वाथ, एरंड तेल, मठे, अजामूत्र से ३–३ पुट दें।
४ विमल	स्वर्ण Marcasite रौप्य Pyrrhatine कांस्यLollingite	कांस्य विमल		अ [illegible] करे।	गंधक के साथ लीची रस में घोट कर १० पुट दें।
५ शिलाजीत Ozokerite	गोमूत्रगंधी ससत्व Paraffin कर्पूरपूर्व निःसत्व Naphthene	अग्नि में लिंगाकार धूमरहित, जल-विलेय		यवक्षार, कांजिक, गो मूत्र से धोकर त्रिफला द्रव से यत्न-पूर्वक शोधन करे।	गंधक, हरिताल को बिजोरे के साथ घोटकर ८ उपलों में पुट दे।

६ सस्यक Copper Sulphate	ताम्र, गंधक का यौगिक (दाहक क्षारकर्म)	मयूर कंठ सम-छाया भारयुक्त	कड़ाई में ६ऽ तुत्थ चूर्ण को कपड़े में बांध रख ऊपर ऽ२० त्रिफलाक्वाथ डाल जल भर दें। एक माहतक खुला रखें, शुद्ध ताम्र शेष मिलेगा।	नींबू रस से मर्दन कर लघु पुट देकर दही की ३ भावना दे।	लकुचद्राव, गंधक, टंकरण के साथ घोट मूषा में कुक्कुट पुट दें।
७ चपल Bismuth	गौर, श्वेत, अरुण, कृष्ण	वंग की तरह द्रवण शील	स्फटिकच्छाय, षट् अस्र स्निग्ध गुरु	जंबीर, ककोड़ा शुण्ठी रस की भावना दे।	
८ रसक	दर्दु र, सदल, सत्वपातन / कारवेल्लक निर्दल औषधि Zinccarbonati, Silicate Zinco Znosio			कड़वी तुम्बी के रस में पाक से निर्दोष पीत वर्ण हो जाता है।	

सत्व	सत्वशोधन	सत्वमृदुकरण	सत्व मारण	प्रयोग	रोगानुसार
१ चतुर्थांश अभ्रक से सुहागा मुसली रस से मिला कोष्ठी-यन्त्र में धमन करे।	द्रवितकर काजीक में ७ वार बुझावादे व चूर्ण लोहखल्व में करे	द्रवित कर, मधु, तैल, वसा आज्य में बुझावा दें १०	घृत, धात्रीपत्ररस, पुनर्नवा, १०-१० पुट तथा गंधक के १० पुट।	वेल्ल, व्योष घृतयुक्त मात्रा १ वल्ल।	क्षय पाण्डु, ग्रहणी, कुष्ठ, श्वास प्रमेह, कास, अग्निमांद्य, उदर।
२ नवसादर के साथ मेषशृंगी के रस में घोट कर पिण्ड कर कोष्ठी यन्त्र में धमन कर सत्वपातन करे।				चतुर्थांश स्वर्णभस्म के साथ पीवर, घृत मिला कर १ रत्ती।	यक्ष्मा, पाण्डु, अर्श, श्वास, कास ग्रहणी, उरःक्षत
३ $\frac{1}{30}$ भाग नाग को क्षारव अम्लवर्ग से मूषामें धमन करे	७वार द्रवित कर निर्गुण्डी रस में बुझावा दे।			पारद, गंधक, अभ्रसत्व लवण यन्त्र में मृदुवन्हि से पाक करे।	वृष्य-लोहद्वय मेलन रसायन
४ मोक्षकक्षार के साथ घोटकर अन्धमूषामें रख धमन कर चन्द्रकिरणवत् सत्व ग्रहण करें				व्योष, विडगसे मधु से	रजत भस्म $\frac{1}{10}$ वैक्रान्त $\frac{1}{10}$ व्योष, त्रिफला, घृत से ज्वर-शोथ, पाण्डु, प्रमेह, गृहणी-यक्ष्मा, कास, पित्तवातव्याधिहर ज्वर, पाण्डु, शोफ, मेह, मन्दाग्नि मेद, यक्ष्मा, गुल्म, प्लीह, उदर, आम, त्वग्रोग विषहर, शूलहर, कुष्ठ, अम्लापित्त, विबन्धहर, रसायन, वामक, रेचक गरघ्न, श्वित्रापह, लेखन, स्निग्ध, देह लोहकर तिक्त, उष्ण, मधुर, सर्वमेहघ्न, कफ पित्तहर नेत्ररोग क्षय,

क्रम					
५	गुड, गुग्गुलु, गुंजा, आज्य व अम्ल के साथ घोट कर मूषा में रख धमन करे।			पारद, गंधक, सत्व सम त्रिगुण हरिताल मनः शिला पांचभाग, बालुका यन्त्र में रख पकाए। शिलाभस्म, कान्त, वैक्रान्त, फलत्रिक, कटुत्रिक घी के साथ	
६	चतुर्थांश सौभाग्य के साथ करजतैल में घोट अन्ध मूषा मे रख, धमन कर इन्द्रगोप के आकार का सत्वपातन करे	इसमें भूनाग सत्व मिश्र कर मुद्रिका शूलघ्नी, सद्यःस्फूर्ति कर, वनेत्र रोग जायगा			
७	कांजी के साथ उपविष मिला कर घोट कर पिण्ड बांध कर धमन करे।				
८	हलदी, त्रिफला, राल, सैंधव धूम, टकण, भिलावा प्रत्येक ¼ भाग अम्ल वर्ग से मर्दन कर वृन्ताक मूषा में रख धमन करे। जब अग्नि ज्वाला नील से सफेद हो तब मूषा उठा कर धीरे से जमीन पर ढाले। इस प्रकार ३-४ बार कर संपूर्ण सत्व ग्रहण करे।		सत्वमें हरिताल-मिश्र खर्पट में लोह दंड से मर्दन करने भस्म हो जाती है।	सत्वभस्म, कान्तभस्म के साथ मिला त्रिफला चूर्ण ८ गुंजामिश्र त्रिफला क्वाथ से सेवन करे।	मधुमेह, पित्त, क्षय, पाण्डु श्वयथु गुल्म, रक्तगुल्म प्रदर, सोमरोग, योनिरोग, रजःकृच्छ्र, कास-श्वास हिक्काह्।

नामउपरस			शोधन	
गधक	शुकपुच्छ (आंवलासार) उत्तम	मधुर, कटुपाक, उष्ण, रसायन	घी मिलाकर गर्म कर गलाए। बर्तन में दूध डाल कर कपड़ा रखकर ऊपर डाले फिर जल से धोए।	
Sulfar (ज्वलनशील लवण)	पीतवर्ण शुक्लग	कण्डू, कुष्ठ, विसर्प, विषघ्न पाचक		
गैरिक Heamatite	पाषाण (ताम्रवर्ण कठिन) स्वर्ण (स्निग्ध, मसृण, लाल) Kidney Iron ore	स्वादु, कषाय, स्निग्ध, शीत नेत्र्य, रक्तपित्त, हिक्का-वमि विषघ्न।	गोदुध की भावना से	
कासीस - Ferri Sulph	बालुका (पांशु) (लौह गंधक) पुष्प (कणदार)	उष्ण, कषाय, अम्ल आयशोषक, विष-श्वित्रघ्न, केशरजन	भांगरे के रस से मर्दन ३ घटे तक	गंधक के साथ घोटकर पुट दे।
कांक्षी Alum-Potash Alumkalanite	श्वेतवर्ण रक्तवर्ण-लौह के कारण	गुरु, स्निग्ध, व्रण-कुष्ठहर केश्य, नेत्र्य, विष-श्वित्रघ्न कषाय, कटुक, अम्ल	भून लें।	
ताल	पत्र(तनु) गुरु, स्निग्ध, चमकदार	स्निग्ध, उष्ण, दीपन, कटुक	कूष्माजल, तिलक्षारजल	पलाश मूल कषाय गाढा बना कर मर्दन कर महिषी मूत्र के साथ घोट १० उपलो के १२ पुट दे।
Qrpiment Arsenictri sulphide	पिण्ड-अल्पसत्व	कुष्ठ-स्त्रीपुष्पघ्न	चूनाजल, कणश कर दोला यंत्र से स्वेदन करे।	

मन:शिला	श्यामांगी (रक्ता, गौरा, भाराढ्या)	तिक्त कटु, उष्ण	अदरक के रस की ७ भावना दे	अष्टमांश गुड, गुग्गुलु, घृत, किट्ट के साथ मर्दन कर कोष्ठी यन्त्र में धमन कर सत्व निकाले
Realgar-Arsenic sulphide	कणवीरका (तेजस्विनी, निर्गौरा ताम्राभा) खंडा (चूर्णीभूता अतिरक्ता, समारा	कफवातघ्न रसायन		
अजन	सौवीर Lead sulphide-Galena (धूम्राभ) रसांजन Yellow oxideoy Mercury HGO (पीताभ) स्रोतोंजन, Living stonite वामी के आकार, तोड़ने पर श्वेताभ, घिसने पर लाल, पुष्पांजन Zink oxide सिताभ नीलांजन Antimony नीलाभ	रक्तपित्त, हिक्का, विष, नेत्ररोग, व्रणघ्न शीत मुखरोग, विष, श्वास, हिक्का वात चित्त रक्त रोगघ्न हिम, स्निग्ध, कषाय, मधुर, लेखन नेत्र्य हिक्का, विष च्छर्दि कफ, पित्तरक्त रोगघ्न स्निग्ध, शीत, नेत्ररोग, हिक्का विष, ज्वरघ्न, गुरु, स्निग्ध, नेत्र्य, संनिपातघ्न, रसायन, सुवर्णघ्न, लोहमार्दनकर।	भृंगराज रस की भावना दे।	
ककुष्ठ	नालिका-पीतप्रभ, गुरु, स्निग्ध	तिक्त कटु, कुष्ण, अतिरेचन व्रण, उदावर्त, शूल, गुल्म प्लीहा, अर्शघ्न	अदरक रस की ३ भावना दे।	
Gambogia	रेणुका–श्याम पीत, लघु सद्यो जात हाथी का मल, अश्वनाल			

साधारण रस

	विवरण	गुण	शोधन	मारण
कम्पिल्ल	ईंट के चूर्ण के समान चन्द्रिकायुक्त सौराष्ट्र में पैदा होने वाला।	पित्त, व्रण, आध्मान विबन्धघ्न श्लेष्मोदर, कृमि, गुल्म, शोथ ज्वर, शूलघ्न रेचन।	अदरक रस की भावना	
गौरीपाषाण पिट्रियस-आर्सेनिक Arsenic	पीत, कृष्ण, रक्त स्फटिकाभ शंखाभ	रस बन्धकर, दोषघ्न स्निग्ध, रस-वीर्यकृत	करेले के फल रस में स्वेदन करे।	मूली की या अपामार्ग की राख हांडी में भर बीच में मल्लरख आँच मन्द १२ घंटे दें।
नवसादर चुल्लिका-लवण Ammoni-umChlo-ride		रसेन्द्र जारण, लौहद्रावण, गुल्म, प्लीहा, मुखशोष, अग्निमांद्यघ्न		
कपर्द Couris-shell	पीताभा, पीठ पर गांठों वाली दीर्घ, वृत्त १॥ निष्क श्रेष्ठ १ निष्क मध्यम शेष अधम	परिणाम शूल, ग्रहणी, क्षयघ्न, कटु, कफघ्न, रसेन्द्रजारण, उष्ण, दीपन, वृष्य, नेत्र्य	कांजिक में स्वेदन १ पहर	घी गु्वार में घोट कर पुट दें।
अग्निजार Amber gris	अग्नि नक्र की जरायु समुद्र से बाहर फेंकी जाती है व सूर्य ताप सूखती है।	त्रिदोषघ्न, दीपन, जारण धनुर्वात, वात आदि रोगघ्न, रस-वीर्यवर्द्धक		

गिरिसिंदूर Red Quide of mercury		त्रिदोषघ्न, रसबन्धन, भेदी, देहलोहकर, नेत्र्य	बिजोरा या अदरक रस की तीन भावना	
हिंगलु Red Sulphide of mercury	शुकतुंड (चर्मार अल्प गुण) हंसपाक (श्वेत रेख प्रवालाभ)	सर्व दोषघ्न, सर्व रोगघ्न, दीपन, रसायन, वृष्य	७ बार अदरक रस की भावना दे।	
मृद्दारश्रृंग	दलयुक्त पीला	गुरु	बिजोरा या अदरक	
सीस सत्व Plumbi Oridum		श्लेष्मघ्न, पुरुषरोगघ्न रसबन्धन केशरंजन	रस की ३ भावना	
राजावर्त	अल्प रक्त, नीलाभ	गुरु, मसृण, प्रमेह, क्षय, अर्श, पाण्डुघ्न दीपन पाचन वृष्य	निम्बू रस गोमूत्र में क्षार सहित २—३ बार स्वेदन करे।	गंधक के साथ लुंगांबु से घोट कर सात पुट दे।

नाम रत्न	पहिचान	ग्रह से सम्बन्ध	गुण	शोधन	मारण
सूर्यकान्त Sunstone	स्फटिक जातिका	सूर्य	उष्ण, मेध्य, रसायन		
हीरा Diamond	चिपिटाकार, गोल नारी ३॥ १० नपुंसक, श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण, कोण फलक, अतिभासुर इन्द्र-धनुषवत्-नर ६ ८—	शुक्र	आयुष्य, वृष्य, दोषत्रयशामक समग्र रोगों को नष्ट करने वाला पारद का बन्धन करने वाला है।	कुलस्थ क्वाथ में दोला यत्र में स्वेदन	

मोती		सोम		जयन्ती के स्वरस में	
चन्द्रकान्त Moon Stone गोदन्ता	स्फटिक जातिका—		शीत, स्निग्ध, हृद्य, दाह, पित्त, ज्वर, रक्तपित्तघ्न	दोला यंत्र में	
राजावर्त Lapislag-ule					
गरुडोद्गार पन्ना Emerald	३$\frac{४}{५}$—७॥ हरिद्वर्ण, गुरु, स्निग्ध, मसृण भासुर. स्फुरद्रश्मिचय— एल्युमिना, बेटिलियम, ओक्सीजन का यौगिक है—	बुध	ज्वर, च्छर्दि, विष, श्वास, सन्निपात, अग्निमांद्य, अर्श, पाण्डु शोथघ्न	गाय के दूध में	,,
पुष्पराग पुखराज Lopag	गुरु, काठि, गुरु, स्निग्ध, स्वच्छ, स्थूल ३—२ ८ सम, मसृण अल्युमिनियम, सिकता सिलिका का यौगिक	गुरु	दीपन, पाचन लघु, विष, वमन कफ वात दाह कुष्ठघ्न	काजी में	,,
गोमेद (Cinnamon stone) (Hessonite)	३$\frac{१}{२}$ ७$\frac{१}{४}$ स्वच्छ, स्निग्ध, सम, गुरु, निर्दल, मसृण	राहु	दीपन, पाचन, मेध्य, क्षय पाण्डुघ्न	गोरोचन घोल में	,,

		ग्रह संबन्ध	गुण	शोधन	मारण
पद्मराग	गुरुत्व काठिन्य वर्ण स्वच्छ, ४ ९ अनार का दाना, स्निग्ध, गुरु, स्फुट	सूर्य	मधुर, स्निग्ध, वाजीकर, हृद्य, दीपन, मेध्य, बलकारक	निम्बू आदि अम्ल फलस्वरस में दोला यन्त्र में स्वेदन	लकुचद्राव संपिष्टैः शिलागंधकतालकैः (वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु ।
माणक Ruby	वृत्त, आयत, सम		रसायन, वात-पित्त क्षयघ्न		
प्रवाल	पकी बिम्बी के समान, वृत्त, आयत, अवक्रक, स्निग्ध, व्रण-रहित, स्थूल ।	मंगल	क्षय, पित्त, रक्त, कास, विष अरोघ्न, दीपन पाचन	यवक्षार, सज्जीक्षार के घोल में दो.य. में स्वेदन	
वैदूर्य (लशुनिया) Cats eye	३१ ८३ स्वच्छ, गुरु, स्फुट, सफेद रेखाऐं युक्त एल्युमिनियम, बेटिलियम, अल्प प्रमाण में लोह क्रोमियम ।	केतुग्रह	मेध्य, आयुष्य बल्य पित्त रक्त रोगघ्न, दीपन, आनाहघ्न	त्रिफला क्वाथ में दोला यन्त्र से स्वेदन करे।	
नील Sapphire	४ ९ — एकच्छाय, गुरु; स्निग्ध, स्वच्छ इन्द्रनील-गाढ़ा नीला, भारी, श्रेष्ठ, जलनील-श्वेता-मनील, हलका, एल्युमिनियम ओक्सिजन का योग	शनि	वाजीकर, दीपन, बल्य, मेध्य, हृद्य, रसायन त्रिदोषघ्न	नील के पत्रस्व रस में दो.यं स्वेदन	
संगेयशव Jade	पीलाई लिए हरा, हरापन लिये सफेद, साफ, स्वच्छ ।		शीत,'रुक्ष, हृद्य, आमाशयशक्ति दाह, आश्मरी रक्तरोधक २-४ रत्ती ।		
अकीक Agate	कठोर, रक्तवर्ण		शीत; रुक्ष, रक्तस्तंभक, दन्त दार्ढ्यकर, मासिक रोगों में लाभप्रद ।		

स्फटिक काचमणि Rock crystal Pehal	एल्यूमिनियम, सिकता सिलिका ओक्साइड ऑफ आयरन, ओक्साइड ऑफ मेगनीज नियता- कार ६ पहलू, षट्कोण, चिकना दंडाकार, काच काटने वाला, श्वेत वर्ण प्रायः। गुरुत्व काठिन्य २.६ २.८ ८	मधुर, बल्य, शीत, रक्त पित्त, ज्वर, दाहघ्न
फिरोजा Turgucise	पीला, हरा, नीला, गुरु, काठिन्य २.७५ ६	कषाय, मधुर, शीत, दीपन, सारक, विष, नेत्र रोगघ्न
कहरवा Amber सूखी घास को खेंचने वाला	एल्यूमिनियम, लोह, ताम्र के फास्फेट है। अश्मी भूतराल हलका पीला, ललाई लिये पीला	भोतदिल, अनुष्णाशीत

		गुण		मारण
स्वर्ण	प्राकृत, सहज, वन्हिज, खनिज, रसेंद्रवेधज	स्निग्ध, बृंहण, वृष्य, रुच्य, मधुरपाक मेध्य, विषघ्न, रोगघ्न, यक्ष्मा, उन्माद		पारदमस्य के साथ लुंगाम्बु से घोट कर १० लघु पुट दें।
रजत	सहज खनिज कृत्रिम	मधुविपाक, कषाय, अम्ला, शीतसर, लेखन, स्निग्ध, दीपक बल्य, वयस्कर, मेध्य	ज्योतिष्मती तैल में ३ बार बुझा कर दे।	पारदवल कुच द्रव का लेप कर मूषा में ऊपर नीचे गंधक रख बालुका यंत्र में स्वेदन करे। फिर १२ पुट दे।

ताम्र	म्लेच्छ नेपालक—स्निग्ध, मृदु शोण	तिक्त, कषाय, मधुरपाक, उष्ण, उदर, कुष्ठ, आम, क्रिमिघ्न, वामक, रेचक, अर्श, क्षय, पाण्डुघ्न	क्षाराम्ल व गैरिक से पिघला कर महिषी तल में ७ बार बुझवा दे।	कज्जली को जंबीर रस से ताम्र पत्र पर लेप कर शराव सम्पुट कर ३ पुट दे।
लोह	मुंड–मृदु, कुण्ठ, कडार तीक्ष्ण–खर, सार, हन्नाल तारष, वाजिर, काल, लोहकांत भ्रामक, चुंबक कर्षक, द्रावक	आयुष्य, बल्य, वृष्य, रोगघ्न, रसायन	त्रिफल, तिल तैल, छाछ, गोमूत्र मे ७–७ बार बुझावा दे।	त्रिफला क्वाथ, जंबूरस में १ माह रख कर पुट दे।
नाग	पूतिगंध, बहिःकृष्ण, महाभार, छेदे कृष्ण समुज्वल		पिघला कर निर्गुण्डी स्वरस में ३ बार बुझावा दे।	अर्क दुग्ध में मनः शिल घोटकर नाग पत्र पर लेप कर पुट दे।
वंग	खुरक–श्वेत, मृदु, स्निग्ध, गुरु निःशब्द मिश्रित	तिक्त, उष्ण, रुक्ष, वातप्रकोपकमेह, श्लेष्म रोगघ्न, मेदोघ्न, कृमिनाशक	निर्गुण्डी रस में २१ बुझावा दे।	हरिताल को अर्क दुग्ध के साथ वंग पत्र पर लेप कर चिचा-त्वचा क्षार के साथ पुट दें।
पित्तल	रीतिका काकतुण्डी	तिक्त, रुक्ष, जन्तुल रक्त पित्तनुत्, पांडु कुष्ट हर, उष्णवीर्य	निर्गुण्डी रस में ५ बार बुझावा दे।	मैनाशील, गंधक को निंबू रस में घोट कर पित्तल पत्र पर लगा कर पुट दे।
कांस्य	ताम्र ८ वंग २ तीक्ष्ण शब्द, मृदु, स्निग्ध श्यामल शुभ्र निर्मल	लघु, तिक्त, उष्ण लेखन, नेत्रप्रसादन कृमि-कुष्ठघ्न	तपा कर गोमूत्र में बुझावा दे।	गंधक हरिताल के ५ पुट दे।
वर्त	कांस्य, अर्क, रीति, नाग, लोह	अम्ल, कटुक, रुक्ष, रुच्य, त्वच्य, कृमिघ्न, नेत्र्य	पिघला कर अश्व मूत्र मे बुझावा दे।	गंधक हरिताल से पुट दे।

सूर्य क्षार, शोरक, Nitrate of Potas, यवक्षार, Potassium Carbonate, निम्बुकक्षार, Potassium citras, सर्जिकाक्षार, Sodium Carbonate, टंकरण क्षार, Borax, टंकरणाम्ल, Boric Acid, शंख, Conch shell, मुक्ताशुक्ति, Qyster shell, यंत्रनाम, दोला, स्वेदनी, पाताल, अधःपातन, कच्छप, दीपिका, डेकी, जारण, विद्याधर, सोमानल, गर्भ, हंस-पाक, बालुका, लवण, नालिका, भूधर, पुट, कोष्ठी, वलभी, तिर्यकपातन, पालिक, घट, इष्टका, डमरु, नाभि, ग्रस्त, स्थाली, धूप, कन्दुक, खल्ल, मूषा, वज्रमूषा, योग-मूषा, वज्रदावणीमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रूप्यमूषा, विड्मूषा, वृन्ताकमूषा, गोस्तनीमूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मण्डूकमूषा।

महारस

रस प्रकाश सुधाकर के अनुसार अभ्रक, माक्षिक, वैक्रान्त, विमल, संश्यक (खपरिया) शिलाजन्तु, राजावर्त आदि को कहा गया है।

उपरस

हरताल, फिटकरी, गंधक, कंकुष्ठ, मनःशिला, सौवीर, स्वर्णगैरिक, कासीस आदि।

साधारण रस

नौसादर, विड, वराटिका, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगलू, मृद्दाश्रंग आदि।

उपरस (आयुर्वेद प्रकाश से)

गंधक, हिंगलू, अभ्रक, हरिताल, मनःशिला, श्रोताञ्जन, टंकण, राजावर्त, चुम्बक, स्फटिक, शंख, खटिका, गैरिक, कासीस, रसक, कपर्द, सिक्ता (रेत), बोल, कंकुष्ट, सौराष्ट्री।

धातु

स्वर्ण, रजत, ताम्र, बंग, यशद, सीशक, लोह।

रत्न

वज्र, विद्रुय, मुक्ता, मर्कत, गरुत्मत, वैदुर्य, गोमेद, माणिक्य, इन्द्रनील, पुष्पराग।

उपरत्न

वैक्रांत, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, राजावर्त।

शोधन

उपरोक्त द्रव्यों का शोधन दो प्रकार से होता है—

(१) सामान्य शोधन (२) विशेष शोधन

(१) तैल, छाछ, गोमूत्र, कांजी, कूलथी में इनके ७-७ वार तपातपा कर बुझावा देने से ये शुद्ध होते हैं।

(२) ताम्र का विशेष शोधन आवश्यक है। इसके लिए-आक के पत्तों के रस में अथवा नीम्बू के रस में २१ वार बुझाना चाहिए।

धातुओं का शोधन विशेष सावधानी के साथ करना चाहिए। थोड़ी सी असावधानी से जलने का भय रहता है। बंग तथा नाग आदि पिघलने वाली धातुओं का शोधन द्रव पर ढक्कन लगा कर उसमें छिद्र कर करना चाहिए।

गंधक का शोधन गोदुग्ध में घृत मिला कर करना चाहिए। आंवलासार गंधक को लेकर एक बर्तन में ½ घी डाल कर पिघलावें फिर दूध के बर्तन पर कपड़ा बांध कर उस पर गधक डालें। दूध में गंधक गिरने से शुद्ध होता है। यह क्रिया बार बार करने से विशेष शुद्धि होती है।

रत्नों का शोधन नीम्बू के स्वरस में होता है।

हरताल का शोधन चूने के पानी तथा कूष्माण्ड स्वरस, तिल तैल में दौला यंत्र में स्वेदन करने से होता है।

मन:शिला का शोधन अद्रक के स्वरस में होता है।

टंकण तथा फिटकड़ी को फुलाने से शुद्ध होता है।

नौसादर को भर्जित करना उसका शुद्धिकरण है।

शुद्ध द्रव्यों को देह शुद्धि के लिए उनका अणु निर्माण करना आवश्यक है। यह अणु-करण ही मारण कहा जाता है। इनका कारण होने के पश्चात् ही ये मानव देह में सात्म्यी-करण होते हैं।

द्रव्यों का मारण तीन प्रकार से होता है— (१) सूर्य (२) चन्द्र (३) अग्नि द्वारा। विशेष तौर से रत्नों का मारण सूर्य अथवा चन्द्र की किरणों के सहयोग से होता है। ये भस्में अग्नि द्वारा मारित भस्मों की अपेक्षा गुणों में सौम्य होती हैं। खरल में रत्नों के चूर्ण को डाल कर खरल किया जाता है और धूप अथवा चांदनी में खरल को रख दिया जाता है। इस प्रकार इनकी पिष्टी या भस्म बन जाती है।

अग्नि द्वारा धातुओं का मारण विशेष तौर से तथा रत्नों का मारण भी किया जाता है। धातुओं के लिए अग्नि की मात्रा धातु के अनुसार दी जाती है परन्तु रत्नों में अल्प अग्नि देना उपयुक्त है। धातुओं को भस्म बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें मारक गण के द्रव्यों के स्वरसों की भावना दी जाय।

मारक वर्ग के द्रव्य

चित्रक, चमेली, सरपुखा, घृत कुमारी, स्नूही, सहदेवी, नीम, निर्गुंढी, सफेद आक, लाल आक, अपराजिता, वाराही कंद, मछछी, हल्दी, पुनर्नवा, धतूर, वन्ध्या, कर्कोटक, तुलसी, सहजना, भृगराज, सर्सन, पलाश आदि।

अम्ल वर्ग

अम्लवेत, जम्बीर, बीजोरा, अंसवीया, चणक क्षार, सन्तरा, नीम्बू, चांगेरी, दादिम, करौंदा, कमरक्ष।

लवण वर्ग

सामुद्र नमक, सैंधव, विड, सौवर्चल, रोमक, नौसादर।

मूत्र वर्ग

हाथी, ऊँट, घोड़ा, गाय, बकरी, भेड़, स्त्री, पुरुष।

द्रावक वर्ग

गुंजा, टंकण, शहद, घृत, गुड़।

पित्त वर्ग

मछली, गाय, घोड़ा, हरिण (रूरु), मयूर।

क्षार वर्ग

साजी, टंकण, यवक्षार।

अब हम रस कार्य में प्रयोग आने वाले कुछ यंत्रों का वर्णन कर रहे हैं।

तप्त खल्व

बकरे की मीगणी तथा कचरा (घास फूस) को जमीन में खड्डा खोद कर गाड दे– ३ भाग आग भर कर ऊपर खरल (लोहे का) रख कर पारद का मर्दन करे।

दौला यन्त्र

मिट्टी की हांडी में द्रव्य डाल कर उसके मुख पर लकड़ी रख कर द्रव्य को कपड़े में बांध कर इस प्रकार लटकादें कि वह खोलने वाले द्रव से दो अंगुल ऊपर रहे। इस प्रकार उबले द्रव की वाष्प देने से द्रव के संस्कार होते हैं।

वालुका यंत्र

एक हांडी में छेद कर छेद पर अभ्रक का टुकड़ा रख कर आतसी शीशी को उस पर रखे फिर उसके चारों ओर रेत (बालू) भर दे फिर हांडी के नीचे अग्नि (मन्द मध्य, तीव्र) दें। गधक जीर्ण होने पर चूने वा गुड़ से डाट लगावें। आतशी शीशी को भी कपड़ मिट्टी कर प्लास्टर करें। यह यंत्र कूपी पक्व रस निर्माण के प्रयोग में आता है।

अध.पातन यंत्र

एक हांडी मे पानी भरे तथा दूसरी हांडी के पैंदे में औषधि लेपदे फिर दोनों के मुख मुद्रा कर छोटा सा गड्ढा खोद कर पानी वाली हांडी को इस प्रकार रक्खें कि दोनों के

सन्धि बन्धन पर रेत आजाय। इसके बाद ऊपर आंच लगादे। यह यंत्र पारद के अधः-पातन के काम में आता है।

तिर्यक पातन यंत्र

दो घड़ों के मुख को मुद्रा कर टेढ़ा रख दे। एक घड़े पर आंच लगावे तथा दूसरे के ऊपर ठंडा कपड़ा गीला कर रखें। इसे अंग्रेजी में डिलेशन अपरेटस कहते हैं।

ऊर्ध्व पातन यंत्र

(डमरू यंत्र) दो हांडियों की मुख मुद्रा कर आग पर रक्खें- नीचे से आंच दें- उपर की हांडी को गीले कपड़े से ठंडी रक्खें। यह हिंगुलोत्थ पारद निस्काशन के लिए प्रयोग में आता है।

मूषा

द्रव्यों को गलाने के लिए एक पत्र मिला करता है। यह विशेष प्रकार की धातुमिश्रित मिट्टी से बनता है। यह तीव्र आंच लगने के बावजूद भी गलता नहीं है। आजकल तैयार मूषा बाजार में उपलब्ध हो सकती है आवश्यकतानुसार इसकी आकृति का परिमाण कई प्रकार का होता है।

सत्व पातन यंत्र

जिस द्रव्य का सत्व निकालना हो उसमें भिन्न वर्ग के द्रव्यों (भैंस की आंख तथा गीड तथा मल, गुगल, ऊन, शहद, घी) मिला कर गोला बना कर आँच में रख कर धोंकनी से धमों- अधिक तीव्र अग्नि देने से मोती के समान कणों वाला काला दाणा निकल जाता है। जो चुम्बक से पकड़ा जाता है।

पुट

यह विभिन्न प्रकार की अग्नि देने के लिए होता है। लवा पुट, कपोत पुट, गज पुट, महा पुट आदि मन्द, मध्य, तीव्र तथा तीव्रतर अग्नि देने के लिए प्रयोग में आते हैं। द्रव्यों की स्थिति को देखते हुए इनका प्रयोग किया जाय।

परिभाषायें

भावना

द्रव्य में जिस द्रव्य स्वरस के डाला जाय उसे भावना कहते हैं।

आदाय

द्रव्य को जिस द्रव्य में डाला जाता है वह आवाय कहलाता है।

प्रतिदाय

स्वर्ण को गलाने के लिए सुहागा उसमें डाला जाता है उसे प्रतिदाय कहते हैं।

निर्वाय

द्रव्य को गर्म कर द्रव मे बुझाने को निर्वाय कहते है।

अभिशेष

गर्म यंत्र पर कपड़ा रख कर उस पर ठडे पानी को डालना अभिशेष कहलाता है।

स्वांगशीत

पुट लगने के बाद पुट में रखे हुए द्रव्य को अपने आप ठंडा हो जाने देना स्वांगशीत कहलाता है।

ब्रहिशीत

पुट के बाहर द्रव्य को निकाल कर ठंडा होने देना ब्रहिशीत कहलाता है।

वारण

पारद में बीज मिला कर पुनः उसका पृथक्करण पातन या गालन से भी न हो तथा उसका तेल पूर्वावस्था में रहे।

निरुत्थ

धातु के भस्म निर्माण के बाद भस्म को मित्र पंचक के साथ पुट देने पर भी कठोरता का न होना निरुद्ध कहलाता है।

वारितर

भस्म का इतना हल्का बनना कि जल पर डालने से वह उसमें डूबे नहीं।

रेखापूर्ण

अंगुली तथा अंगूठे पर भस्म को घसने से वह पुनः उसकी रेखाओं में से न निकलना रेखापूर्ण भस्म कहलाती है।

विड़

जारणा के लिए बीज के साथ मिलाये जाने वाले क्षारीय द्रव्य को बिड कहते हैं।

बीज

पारद में दिया जाने वाला धातु ग्रास बीज कहलाता है।

बंध

हल्की धातु को उत्तम धातु में परिवर्तन करना लोहबंध तथा रुग्ण शरीर को स्वस्थ बनाना देहबंध कहलाता है।

आयुर्वेद में धातु भारण का सामान्य प्रसंग ऊपर दिया जा चुका है। अब धातु के भारण के विशेष तथा नवीन प्रसंग यहां उपस्थित किए जा रहे हैं। धातुओं का भारण आधुनिक शास्त्र के अनुसार होने के बाद क्या होता है– यह प्रसंग यहां संक्षेपतः उल्लेख करना आवश्यक है। धातुओं की भस्म निम्न प्रकार की बनती है– आग्नेय (oxidation) गंधोकरण (sulphidation) पौटेशियम, सल्फाइड, सल्फेट, लवणीकरण, द्रुतिकरण। इनका पृथक वर्णन यहां करना शक्य नहीं है।

द्रव्यगुणशास्त्रे रसनिरूपण

लेखक : फूलचन्द शर्मा, भिषगाचार्य
अध्यापक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, जयपुर

[श्री फूलचन्द शर्मा, भिषगाचार्य वैद्य श्री बद्रीनारायणजी सिद्धवैद्य के सुपुत्र हैं। सिद्धवैद्यजी अपने समय में जयपुर के राजघराने में तत्कालीन जयपुर नरेश श्री माधवसिंहजी के निकट संपर्क के व्यक्ति थे तथा पक्षाघात महारोग की सफलतापूर्वक चिकित्सा किया करते थे। उनका अव्यर्थ परंपरागत योग को श्री शर्मा ने प्रकाशनार्थ भेजकर महान् अनुग्रह किया है। श्री शर्मा वर्तमान में राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय जयपुर में अध्यापन करा रहे हैं। आप राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पञ्जीकृत) के संयुक्त मंत्री एवं प्रगतिशील युवा चिकित्सक हैं। आप का 'द्रव्यगुण रस' पर लेख पठनीय है। इसके बाद ही अनुभूत सफल प्रयोग पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
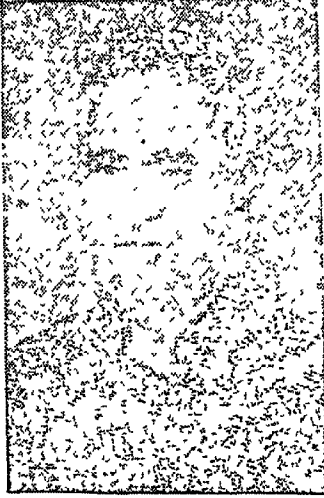
जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय द्वारा जिस ज्ञान की प्रतीति होती है, अर्थात् आस्वादन किया जाता है उसे रस कहते हैं। जिह्वा इन्द्रिय दोनों प्रकार की है अर्थात् ज्ञान व कर्म—आस्वाद रूप ज्ञान की प्रतीति का माध्यम है। बोधक कफ, अर्थात् जिह्वा के इतस्ततः मुख गुहा में प्रकृति ने निरंतर स्रावी छ लालाग्रन्थियों को लगा रखा है, इनमें बनने वाला बोधक कफ किसी भी द्रव्य के जिह्वा पर पहुँचते ही उसे अपने में विलयन करता है। तत्काल ही जिह्वा इन्द्रिय में रहने वाले स्वादांकुर इसका ज्ञान मस्तिष्क को कराते हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रसज्ञान केवल मात्र जिह्वा तथा स्वादांकुर से ही नहीं हो सकता जब तक कि मस्तिष्क रसज्ञान केन्द्र तथा स्वादांकुरों से जाने वाले वातसूत्र स्वस्थता के साथ अपना कार्य सम्यक नहीं कर पाता, क्योंकि मन का लक्षण—जिसकी इन्द्रियबुद्धि के साथ उपस्थिति रहने पर ही उस इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोध तथा साथ न रहने पर ज्ञानाभाव अर्थात् इन्द्रियज्ञान इन्द्रियबुद्धि तथा मन के साहचर्य द्वारा ही तत्तत् ज्ञान की प्रत्यक्ष ज्ञान की निष्पत्ति हो सकती है।

रस कहां रहता है—

रस द्रव्य में रहता है, अर्थात् द्रव्य में रहने वाले नानागुणों में रस भी एक गुण है। गुण रूपवान् नही होता—रस गुण है अतः इसके रूप नहीं हो सकता अर्थात् यह आश्रयी है, अभिप्राय यह कि रस द्रव्य में रहते हैं।

रस की प्रधानता—

शास्त्र में द्रव्य के भेद बताते हुए कहा है कि द्रव्य के दो प्रकार—रस प्रधान, (२) वीर्य-प्रधान रस प्रधान द्रव्य को आहार कहते हैं—तथा आहार से मानव की जीवन यात्रा चलती है।

"रसायत्त आहारस्तास्मिन्श्च प्राणा, सु. सू. अ. ४० केवल यही बात नहीं आयुर्वेद का प्रयोजन "स्वास्थ्यरक्षण, तथा विकारप्रशमन है—स्वस्थ्य रक्षण के लिये तो ऊपर बताया ही गया परन्तु विकारप्रशमन के बारे में दोषों के संचय, प्रकोप तथा प्रशम इन तीनों अवस्थाओं में हित या अहित रसों का ही उल्लेख किया गया है।

तत्राद्यामारुत घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्त मधुरा। पित्तमन्येचकुर्वते।

यही क्यों सुचिकित्सक की परिभाषा भी यही निर्देशित की गई है कि दोषकल्पनाओं के साथ रस कल्पना का संपूर्ण ज्ञान हो तथा द्रव्यों के प्रभाव तत्व का वर्णन रस के माध्यम से ही वर्णन उपलब्ध होता है। वेदों में भी रस की महत्ता को मुक्तकण्ठ से यत्रतत्र बताया है।

"किंचिदिज्यार्थं मधूरमाहरेदिति"

रसों की संख्या

रस छः होते हैं—

मधुर, अम्ल लवण, कटु, तिक्त कषाय द्रव्य का निर्माण पंचमहाभूत से होता है द्रव्यश्रयी रस का निर्माण भी पंचमहाभूत से ही होता है। यह द्रव्यनिर्माण पंचमहाभूतों के अन्योन्यानुप्रवेश द्वारा यथावत् होता है। द्रव्य का आश्रय पृथिवी है—अर्थात पृथिवी में नानाद्रव्यों की उत्पत्ति होती है—उसका क्लेदन सोम द्वारा तथा शोषण सूर्य द्वारा होता रहता है।

रसों की उत्पत्ति

रसनिष्पत्ति—

दो दो भूतों की अधिकता से छ रसों का निर्माण होता है। जल में अव्यक्त (अप्रकट) रस रहता है लेकिन दूसरे भूत के संसर्ग से ही इसका प्रकटीकरण होता है। वह प्रपत्र में बताया गया है।

पंचभूत के गुणविवेचन से सिद्ध है कि रस जलभूत का ही गुण है। दृश्यमान स्थूल जल तो पांचभौतिक जल है—जैसे वाष्पयन्त्र द्वारा जल को परिस्रुत किया जाय तो उसका

अव्यक्त रस ही होता है—परन्तु तत्तत्पात्र के आश्रय से तथा वर्षों का जल जोकि अकाश से पृथिवी पर गिरता है वह स्थावर जंगम वस्तुओं में अनुप्रविष्ट होकर तत्रत्य भूतों के संयोग से विभिन्न रूप तथा इसको प्राप्त होता है—इस तरह ये छ रस बनते हैं।

तथा भगवान् सूर्य भी उत्तर व दक्षिण गति विशेष से छ ऋतुएं बनाता है तथा ये ऋतुएं अपने २ काल में उन २ महाभूतों की विशेषता से रसों की उत्पत्ति करते हैं।
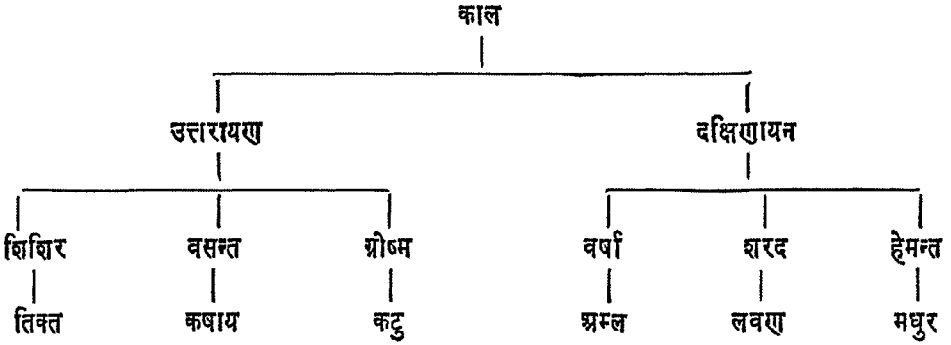
१ मार्गस्वभाव से वायु सूर्य अत्यंत तीक्ष्ण, ऊष्ण, रुक्ष गुण होने से पार्थिव सौम्यता का विनाशकर तिक्त कषाय कटु रसो का बल बढता है।

२ यह आग्नेय है। अतः प्राणियों का बल उत्तरोत्तर न्यून होता है।

१ यहां रवि का तेज अल्प तथा सोम का बल अधिक रहता है। मेघानिल, व वृष्टि की वायु से प्रथिवी का ताप शान्त होकर अम्ल लवण मधु रस बन पाते है।

मधुर रस

आज भी रस के अधिकरण सूक्ष्य कणों की पांच भौतिकता जैसे कि मधुर रस का आधारभूत शर्करा कण में पृथिवी तथा जल की अधिकता रहती है जैसे कार्बन ६ भाग, आक्सीजन ६ भाग तथा हाईड्रोजन के १२ भाग मिलकर रहते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन से जल तथा कार्बन (पार्थिव) इस प्रकार इन दोनों पृथिवी तथा जल महाभूत से मधुर रस की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

अम्ल रस

अम्ल रस की उत्पत्ति पृथिवी तथा अग्नि भूत से बताई गई है। यह भी प्रकारान्तर से आधुनिक विज्ञान के मत से पुष्ट होता है। पार्थिव गन्धक के साथ तथा कार्बन के साथ हाईड्रोजन ऑक्सीजन के मिलने से अम्लोत्पत्ति होती है हाईड्रोजन ऑक्सीजन की यात्रा अधिक रहती है। ऑक्सीजन से अग्नि की उत्पत्ति होती है अतः यह आग्नेय है। ऑक्सी-जन की अपेक्षा से हाईड्रोजन का अंश न्यून होने से जलीय अंश को दबाकर आग्नेयांश की ही प्रधानता होती है इसलिये पृथिवी अग्नि गुण की बहुलता से अम्लरस की निष्पत्ति होती है।

लवण रस

लवण रस के कणों का उपादान है जल व अग्नि महाभूत,—सोडियम तथा क्लोरिन के मिश्रण से लवण बनता है। इनमे कौन जलीयांश है तथा कौन आग्नेयांश इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है। परन्तु लवण-रसप्राधान्य द्रव्यों का आर्द्रवायु के संपर्क से आर्द्रता आ जाती है—उसमे हाईड्रोजन जलीयांश है तथा प्राचीनों ने लवण का समवायी कारण जल को प्रत्यक्ष किया है। आधुनिक भी लवण के द्रावण को बनाकर परीक्षण करें तो प्राचीन मत की ही पुष्टि होती है।

कटुक रस

वायु तथा अग्नि गुण की प्रचुरता से कटुक रस होता है। इसीलिये यह वातपित्त वर्धक होता है। आधुनिक इसे रस नहीं मानते क्योंकि ऐसे ऐसे द्रव्यों को यदि त्वचा पर भी लगाए जांय तो जलन होने लगती है। तथा रसना अत्यन्त कोमल होने से ऐसे द्रव्यों का उस पर अति प्रभाव होता है। लेकिन यह ठीक नहीं हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं यदि किसी व्यक्ति को इस रस के भक्षण से मनाही की जाती है तो लोग इसे लेने के लिये अत्यन्त आतुर हो जाते हैं तथा इसे जिह्वा पर निपात से तत्काल अनुभूति होती है अतः इसे रसनेन्द्रिय ज्ञेय गुण कटुरस मानना सर्वथा उचित है।

तिक्त रस

वायु, आकाश की बहुलता से तिक्त रस होता है। आकाश तत्व को पृथक् परीक्षण करने के यन्त्र अभी नही बने हैं लेकिन तिक्त रस के उपादान नाईट्रोजन को स्वीकार किया जाता है। स्थूल वायु के १०० भागों मे ७६ भाग नाईट्रोजन के हैं। इसलिये तिक्त रस मे वायु व आकाश को बहुलता है जिससे कि इस रस के अधिक सेवन से वायुवृद्धि होती है।

कषाय रस

पृथिवी वायु की बहुलता से कषाय रस बनता है। आधुनिक भी इसी बात को मानते हैं। उनके मत से इसके बनाने में १२ भाग कार्बन के तथा ९ भाग हाईड्रोजन के, नव भाग ऑक्सीजन के मिलकर होता है। इस तरह हाईड्रोजन व ऑक्सीजन की अधिकता से वायवीयता है। तथा इस रस का ज्ञान सभी इन्द्रियों से हो जाने से इसे भी रस नहीं मानते।

क्षार—निम्न गति प्रवेश होने से इसे क्षार कहते हैं तथा इसका ज्ञान कई इन्द्रियों से होने से इसे रस नही मानते।

रस

जिह्वासंसर्ग होते ही सुस्पष्ट तथा जिस का ज्ञान हो उसे रस कहते हैं। और जिसका अस्पष्ट तथा बाद में ज्ञान हो उसे अनुरस कहते हैं।

तेषां विस्याद् रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति ।
आस्वादयमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः ॥
प्रियः पिमीलिकादीनामम्लः क्षालयते मुखम् ।
हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुव निकोचनः ॥
लवणः स्पनपत्यापि कपोलगलदाहकृत् ।
तिक्तो विशदयत्यास्मि रसने प्रतिहन्ति चं ॥
उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वं श्चिमचिकां कटुः ।
स्रावत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च ॥
कषायो जड्येत् जिह्वां कण्ठस्रोतो विबन्धकृत् ।
रसानामिति रूपाणि ॥

रस संगठन

नाम रस	उत्पत्ति भूत	कार्य	गुण	उत्पादक ऋतु
मधुर	पृथ्वी-जल	जीवन, तर्पण, बृंहण, सधानकर, स्थैर्यकर बल-वर्णवर्धन, आयुष्य सप्तधातुवर्धन आजन्मसात्म्य, षडिन्द्रिय प्रसादन, पित्त-वायु विष-तृष्णा-दाह-मूर्च्छा प्रशमन कृमि-कफ-स्तन्यवर्द्धन, मुखलेपी	स्निग्ध, शीत, गुरु, मृदु (अति) (अल्प) (अति)	हेमन्त
अम्ल	पृथ्वी अग्नि	आस्यस्रावण, प्रीणन, पाचन, क्लेदन, भुक्तापकर्षण, दीपन, बृंहण, तर्पण, अनुलोमन ऊर्जा-बलवर्द्धन, इन्द्रिय दाढर्यकर, हृद्य, विदाही मुखक्षालन	लघु, उष्ण, स्निग्ध, व्यवायी (अल्प) (मध्य) कफकर	वर्षा
लवण	जल-अग्नि	दीपन, पाचन, च्यवन, छेदन, अवस्रंशी, आस्यस्रवण, स्रोतोविशोधन, क्लेदन, भेदन, अवकाशकर, रोचन, स्नेहन, स्वेदन, शोधन, कफविष्यन्दन, सृष्टमूत्रपुरीष, मुखस्पन्दक	तीक्ष्ण, सर, उष्ण, गुरु (अति) (अल्प) विकासी, व्यवायी, स्निग्ध	शरद्
कटु	अग्नि वायु	नासानेत्ररेचन, रुचिकर, दीपन, पाचन, शोधन, शोषण, लेखन-बद्धमूत्रपुरीष, जिह्वाग्रोश्वयथु-उपचय-उदर्द-स्नेह-क्लेद-मल-श्लेष्म-कृमि-स्वेद-कफ-विष-स्तन्य-मेदोहर	लघु उष्ण, रुक्ष (मध्य) (मध्य) (अल्प)	ग्रीष्म
तिक्त	आकाश-वायु	स्वयम् अरोचक-अरुचि-विष-कृमि-मूर्च्छा-दाह-तृष्णा हर, स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त शोषण बद्धमूत्रपुरीष, ज्वरहर, मुखशोधक	रुक्ष (अति) शीत (अल्प) लघु (अति)	शिशिर
कषाय	पृथ्वी-वायु	संशमन; संग्राही; पीडन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन, प्रीणन, श्लेष्म-पित्त-रक्त-क्लेद स्तम्भन, जिह्वा जाड्यकर, स्रोतोविबन्धकर	रुक्ष, शीत; (अल्प) (मध्य) गुरु (मध्य)	वसन्त

द्रव्य		रस	कर्म		विपाक
पार्थिव	गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल, गन्ध, सार	ईषत्कषाय प्राय मधुर	उपचय, संघात, गौरव-स्थैर्य-बलकर	अधोगति	गुरु
आप्य	द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, रस, स्तिमित, गुरु सान्द्र	ईषत्कषाय अम्ललवणमधुर रसप्रायः	उपक्लेद, स्नेह, विष्यन्द, मार्दव, प्रह्लाद, बन्धन	,,	गुरु
तैजस	उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष, विशद, रूप, खर	ईषदम्ललवण, कटुरसप्रायः	दाह, पाक, प्रभा, प्रकाश, दारण, तापन; वर्ण	ऊर्ध्वगति	लघु
वायव्य	लघु, शीत, रुक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म; स्पर्श	ईषत्तिक्त प्रायः कषाय	रौक्ष्य, ग्लानि, विचार, वैशद्य, लाघव, शैत्य, कर्षण	,,	लघु
नाभस	मृदु, लघु सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द, व्यवायि, विशद, विविक्त	अव्यक्त रस	मार्दव, शौषिर्य, लाघव	,,	लघु

पक्षाघात व बालपक्षाघात पर अमोघ प्रयोग

भैंसागूगल २ किलो पातालयंत्र द्वारा चुवा कर १-१ माशा की गोली बनाएँ। इसे बूरा (जो शक्कर से तैयार किया जाता है) १ तोला से २ तोला के साथ आवेष्ठित कर दूध के साथ दें। बालपक्षाघात में इसकी अल्प मात्र दें। अवश्य लाभकारी सिद्ध होगा।

पृथ्वी

गुण	कर्म
गुरु	उपचय
खर	गौरव
कठिन	स्थैर्य
मन्द	
स्थिर	
विशद	
सान्द्र	
स्थूल	
गंधबहुल	
ईषत्कषाय	
प्रायः मधुर	

चरक संहिता का इन्द्रिय स्थान

लेखक : वैद्य विद्याधर शर्मा

प्रिन्सिपल– श्री सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर

[स्वनामधन्य पारीक ब्राह्मण पं० श्री विद्याधर जी आयुर्वेदाचार्य सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर के प्राचार्य हैं। श्री शास्त्री श्रमशील, कर्त्तव्यनिष्ठ, कुशल शिक्षाशास्त्री है। आप भूतपूर्व राजपूताना प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के वर्षों प्रधान मन्त्री रहे है। श्री शास्त्री भारतीय आयुर्विज्ञान से संबन्धित महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित अरिष्ट लक्षणों में 'स्वप्न' विषय पर गुणावगुण जानने के लिये भारतीय चिकित्सा विज्ञान की आधार-भूमि आयुर्वेद प्रणाली को स्वप्न के सम्बन्ध में अंतर्देशीय विचार-प्रणाली से ऊहापोह कर उष्ट्र (ऊँट) के स्वप्न के स्थान पर क्या स्कूटर का स्वप्न संभव है? श्री शास्त्री ने वैद्य समाज के सामने एक समस्या रखी है, जिसका अनुशीलन परमावश्यक है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
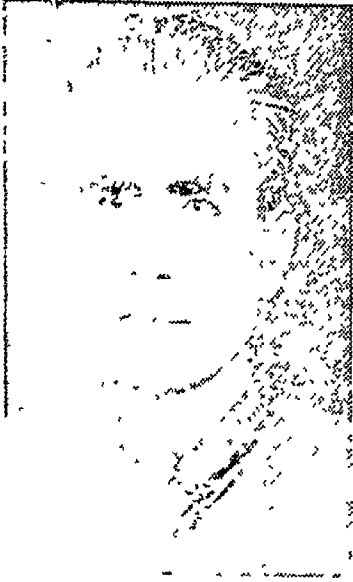
चरक संहिता में आयुर्विज्ञान का जिस क्रम से वर्णन किया गया है वह अपना एक विशेष महत्व रखता है। प्रारम्भ में सूत्र स्थान का वर्णन करते हुए महर्षि ने आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों का सूत्र रूप में वर्णन किया है। इसका आशय यह नहीं समझना चाहिए कि आगे सिद्धान्त प्रकरण नहीं है। वैसे समग्र संहिता का एक एक श्लोक अपने आप में नवीन है और हम उसे ज्ञान-वर्धन का एक एक सोपान भी कह सकते हैं। ऊंचाई पर चढ़ने के लिए हमें प्रत्येक सोपान को लांघना होगा।

जब सिद्धांत का प्रतिपादन किया तो मुख्य उद्देश्य चिकित्सा के सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व निदान की आवश्यकता समझी गई। जब तक रोगों के निदान के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं होता तब तक चिकित्सा सफल चिकित्सा नहीं हो सकती है। अतएव निदान स्थान सूत्र स्थान के बाद ही वर्णित किया गया।

निदान स्थान के बाद विमान स्थान का वर्णन किया गया है। विमान शब्द की व्युत्पत्ति की गई है, "विशेषेणमीयते दोष भेषजाद्यनेनेति विमानं" दोष भेषजादीनां प्रभावादि विशेष इत्यर्थ:। बहुत से ऐसे विषय जिनका निदान स्थान में उल्लेख करना आवश्यक और उचित भी नही था उनका विमान स्थान में वर्णन किया गया ताकि वास्तविक उद्देश्य चिकित्सा किसी भी प्रकार से असफल न हो।

इस क्रम से यद्यपि आगे चिकित्सा के पास पहुँचना चाहिए था परन्तु बीच में ऐसे विषय पर महर्षि को कुछ और कहना शेष था जिसके ज्ञान के बिना चिकित्सा शरीर का ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता है। बिना चिकित्स्य के ज्ञान के चिकित्सा किसकी की जाय। अतएव शरीर स्थान मे शरीर की उत्पत्ति का प्रथम आध्यात्मिक रूप में वर्णन किया और बाद मे गर्भधारण से लेकर समस्त शरीर का वर्णन किया गया। यद्यपि आधुनिक दृष्ट्या शरीर ज्ञान सर्वप्रथम ज्ञातव्य माना गया है और उसके बाद अन्य तथापि आयुर्वेद में इस क्रम को जो नहीं रखा गया है उसमें विशेष कारण है। आयुर्वेद ज्ञान के लिए उसके वैशेषिक दर्शन पर आधारित अध्यात्म प्रकरण को जब तक हम प्रथम हृदयंगम नही करलें तब तक मौलिक शरीर रचना का ज्ञान भी विशेष उपयोगी नहीं होगा। अतएव प्रथम सूत्र, निदान, विमान का वर्णन कर बाद में शरीर स्थान का उल्लेख है।

बीमार को हाथ में लेने से पूर्व जब तक कोई अपने आप में आश्वस्त नहीं हो जाए कि बीमारी चिकित्सा की सीमा के अन्दर है और उससे हमें भी चिकित्सा का यश प्रा. होगा तभी हम चिकित्सा प्रारम्भ करेंगे। इसीलिए महर्षि ने चिकित्सा स्थान का वर्णन करने से पूर्व इन्द्रिय स्थान का वर्णन किया। शास्त्र में कहा गया है– अर्थ विद्या यशोहानि मुपक्रोश मसद्ग्रहः प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाहृद्यं समुपाचरेत्।

अर्थात् जो चिकित्सक साध्यासाध्य विवेकशून्य होकर असाध्य रोगियों की चिकित्सा करता है उसके धन, विद्या तथा यश की हानि होती है। जनता में उसके लिए इस प्रकार का अपवाद फैल जाता है कि भविष्य में उसके पास चिकित्सार्थ लोग कम आते हैं, इसके साथ ही कभी राजदण्ड का भी भागी बनना होता है। इसको देखते हुए भी यदि कोई इन्द्रिय स्थान के सम्यक् अध्ययन किए बिना चिकित्सा मे प्रवृत्त हो तो उसका परिणाम क्या होगा– यह लिखा ही जा चुका है।

इन्द्रिय स्थान शब्द में इन्द्रिय शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है:— इन्द्र शब्देव प्राण उच्यते तस्यान्तर्गतस्य लिंगं रिष्टाख्यमिन्द्रियं। अर्थात्-इन्द्र शब्द प्राण का वाचक है। इन्द्र याने प्राण के अन्तर्गत अरिष्ट लक्षण जिसमें वर्णित हो उसको इन्द्रिय कहते हैं। अरिष्ट का लक्षण इस प्रकार बताया गया है— "नियत मरणाख्यापकं लिङ्गमरिष्टं" अर्थात– जो लक्षण निश्चित मरण को बतलाते हैं उनको अरिष्ट कहते हैं।

इन्द्रिय स्थान के विषय का निम्न अध्यायों में विविध रूपों में वर्णन किया गया है—

१. वर्ण स्वरीय इन्द्रिय (वर्ण, स्वर)
२. पुष्पितक इन्द्रिय (गन्ध, रस)
३. परिमर्शनीय इन्द्रिय (स्पर्श)
४. इन्द्रियानीक इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श)

५. पूर्वरूपीय इन्द्रिय (व्याधि, पूर्व, रूप)
६. वातमानि शरीरीय इन्द्रिय (रोगानुसारिक असाध्य लक्षण)
७. पन्नरूपीय इन्द्रिय (छाया, प्रतिच्छाया, रूप अरिस्ट लक्षण)
८. अवाक् शिरसीय इंद्रिय (अवाक् शिरा शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
९. यस्य श्याव निमित्तीय इन्द्रिय (यस्य श्याव शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
१०. सध्योमरणीय इन्द्रिय (सध्यो मारक लक्षण, तीन रात्रि अथवा सात रात्रि)
११. अणुज्योतीय इन्द्रिय (अणुज्योति शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
१२. गोमच चूर्णीय इन्द्रिय (गोमच चूर्णीय शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)

इन ११ अध्यायों में इन विषयों का वर्णन किया गया है।

वर्ण, स्वर, गन्ध, रस, स्पर्श (काठिन्यादि), चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय), सत्व (मन), भक्ति (इच्छा), शौच (पवित्रता), शील, आचार (शास्त्रवर्णित व्यवहार), स्मृति, आकृति, प्रकृति, विकृति, बल, ग्लानि, मेधा, हर्ष, रौक्ष्य, स्नेह, तन्द्रा, आरम्भ (रोगारम्भ), गौरव, लाघव, गुण, आहार, विहार, आहार परिणाम, उपाय (रोगों का होना), उपाय (रोगों का विनाश), व्याधि, व्याधि पूर्वरूप, वेदना, उपद्रव, छाया, प्रतिच्छाया, स्वप्नदर्शन, दूताधिकार, पथिऔत्पातिक (रास्ते के उत्पात), आतुरवले भावावस्थान्तराणि (बीमार के घर में प्रवेश काल में लक्षित विशेष भाव), भेषज संवृत्ति (औषध निर्माण में कठिनाई उपस्थित होना), भेषज विकार युक्ति (औषध विशेष का रोग विशेष में प्रयोग) करना) कुल ४७

इन्द्रिय स्थान के ५वें अध्याय में स्वप्नों का विवेचन किया गया है। इस अध्याय के ३० श्लोकों में या तो अरिस्ट लक्षणों का वर्णन किया गया है अथवा कोई २ लक्षण इस बात के सूचक हैं कि इनके स्वप्न में उपस्थित होने पर स्वस्थ्य मनुष्य होगा या कष्ट को प्राप्त करता है और रोगी मृत्यु को।

नीचे इन ३० श्लोकों का साधारण अर्थ मात्र दिया जाता है। वैसे प्रत्येक श्लोक में शंका उत्पन्न की जा सकती है परन्तु उसका समाधान उतना ही दुरूह होगा। स्वप्न विज्ञान के युगप्रवर्तक विद्वान फ्रायड का नाम भी इस शास्त्र की विवेचना करते समय छोड़ना कठिन है। हमारे यहां जो उदाहरण दिए गए है अथवा दिए जा सकते हैं उनका फ्रायड-वर्णित स्वप्न विज्ञान मे प्राप्त होना कठिन है। उन्होंने जिस प्रकार इसका विवेचन किया है और यूरोपीय संस्कृति से सम्बन्धित विषयों का विवेचन किया है उसमें की हमारे यहां उपलब्धि कठिन है। दोनो का समन्वय बैठना किसी उभयज्ञ विद्वान द्वारा ही संभव है।

स्वप्न दर्शन सम्बन्धी प्रकरण—

चरक–इन्द्रिय स्थान–अध्याय ५

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणां दिशम्।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥८॥

अर्थ-जो स्वप्न में कुत्ते, ऊँटों व गधों पर सवारी करके दक्षिण दिशा की ओर जाता है वह यक्ष्मा रोग से आक्रांत हो कर मर जाता है।

ज्वर के मारक पूर्वरूप—

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना।
सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवितं स विमुंचति ॥९॥

अर्थ-जो स्वप्न में प्रेतों के साथ शराब पीता है अथवा कुत्तों से खींचा व घसीटा जाता है वह अति घोर ज्वर से आक्रान्त हो कर मृत्यु को प्राप्त होता है।

रक्तस्त्रग्रक्तसर्वाङ्गे रक्तवासो मुहुर्हसन्।
यः स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्त प्राप्य सीदति ॥११

अर्थ-जो व्यक्ति स्वप्न में लाल माला को धारण किए हुए बार २ हँसता हुआ स्त्री से ले जाया जाता है, वह रक्तपित्त से आक्रांत होकर कष्ट प्राप्त करता है(प्राण त्याग करता है।

लताकण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते ।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ॥१३

अर्थ-स्वप्न में जिस पुरुष के हृदयदेश पर कांटों वाली लता उत्पन्न होती है, उसकी मृत्यु के लिए दारुण गुल्म उस पुरुष का आश्रय लेता है अर्थात् घोर गुल्म से उसकी मृत्यु होती है।

कुष्ठ के मारक लक्षण—

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुहुतोऽग्निमनर्चिषम् ।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिस्यतः ॥१५

अर्थ-स्वप्न में जो पुरुष नग्न हो कर और अंगों पर घी चुपड़े हुए ज्वालारहित व अप्रज्वलित अग्नि में आहुति देता है और स्वप्न में ही छाती पर पद्म (कमल) उत्पन्न हो जाते हैं वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है।

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत्।
बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥१७

अर्थ-स्वप्न में जो पुरुष चण्डालों के साथ बहुत प्रकार के स्नेहों (घृत, तेल, वसा, मज्जा) को पीता है उसे प्रमेह रोग हो जाता है और उससे ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

नृत्यन् रक्षोगणैः सार्धं यः स्वप्नेऽम्भासि सीदति।
स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम् ।.२१

अर्थ-स्वप्न में जो राक्षसों के साथ नृत्य करता हुआ जल में डूब जाता है व हठात् उन्माद को प्राप्त होकर परलोक में जाता है।

मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम्।
स्वप्ने हरति तं मृत्यु रपस्मारपुरःसुरः ॥२३

अर्थ- स्वप्न मे मत्त होकर नाचते हुए जिस मनुष्य का सिर नीचे की ओर करके प्रेत ले जाता है उस मनुष्य की अपस्मार होकर मृत्यु हो जाती है।

शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान् वास्वप्ने खादति योनरः।
स चेत्ताहक्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥२५

अर्थ-जो पुरुष स्वप्न में शस्कुली (तिल, तण्डुल वा माषके पिष्टक से बनाया हुआ खाद्य विशेष) (लोकप्रचलित जलेबी) वा अपूपों (पूड़ों) को खाता है वह जागने पर यदि वैसी ही कै करता है तो वह व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता।

इमांश्चाप्यपरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत्।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महेतऽपिवा ॥२७

अर्थ-रोगियों के विनाश तथा महान् कष्ट को जानने के लिये इन स्वप्नों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अन्य दारुण व अशुभ स्वप्नों का कथन—

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः।
वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यामियाच्च यः ॥२८
गृध्रोलूककक्षकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्यते।
रक्षः प्रेतपिशाचस्त्री चण्डाल द्रविड़ान्धकैः ॥२६
वंश वेत्रलता पाश तृण कंटक संकटे।
सं सजाति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥३०
भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मनि।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रपतत्यपि ॥३१
कलेषुऽम्मसि पङ्के वा कूपे वा तमसाऽऽवृते।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्त्रोतसा ह्रियते च यः ॥३२
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने बन्ध पराजयौ।
हिरण्यलाभः कलहः प्रच्छर्दनं विरेचने ॥३३
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥३४
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्र देवता दीप चक्षुषाम्।
पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥३५

रक्तपुष्पं वनं भूमिं पापकर्मालयं चिताम् ।
गुहान्धकारसंबाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥३६
रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणां दिशम् ।
दारुणां मटवीं स्वप्ने कपियुक्तेन याति वा ॥३७
काषायिणां मसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् ।
कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥३८
कृष्णा पापा निराचारा दीर्घ केशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥३९
इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ।
अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥४०॥

अर्थ—स्वप्न में जिसके सिर पर बांस गुल्म (झाड़ियों के समूह) तथा लता आदि उत्पन्न होते हैं, पक्षी उनमें अपने घोंसले बना कर रहने लगते हैं, जिसका सिर स्वप्न में मुंडित हो जाता है ॥२८॥

जो स्वप्न में गिद्ध, उलूक, कौआ, कुत्ता आदि से घिर जाता है एवं जो राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्री दौड़ते हुए वा अंधे पुरुषों से घेरा जाता है । ॥२९॥

स्वप्न में जो बांस, बेंत, लता, जाल अथवा तृण और कण्टकों के समूह में चलता हुआ मोह को प्राप्त होता है (फंस जाता है) निकलने की युक्ति नहीं सूझती और गिर भी जाता है ।

जो स्वप्न में धूल से युक्त भूमि व वल्मीक (दीमकों का घर) का भस्मराशि (राख का ढ़ेर) में गिर जाता है अथवा जो श्मशान स्थान तथा गड्ढे में प्रविष्ठ हो जाता है (गिर पड़ता है)। १३१

जो स्वप्न में मलिन जल में कीचड़ में अथवा ऊंघेटे कूए में डूब जाता है और जो वेग से बहने वाले स्रोत से बहाया जाकर दूसरी जगह ले जाया जाता है । ३२

स्वप्न में स्नेहपान करना, मालिश करना, उल्टी करना विरेचन लेना, स्वर्णलाभ, कलह, बन्दी होना, युद्ध में पराजित होना । ३३

स्वप्न में पैर के जूतों का नष्ट होना, गुम होना अथवा चुराया जाना, धूल और चमड़े का गिरना, हर्षित होना तथा क्रोधित पितरों द्वारा धमकाया जाना । ३४

स्वप्न में दांत, चन्द्रमा, सूर्य नक्षत्र, देवता, दीपक नेत्र का गिरना अथवा नष्ट होना, वृक्ष अथवा पर्वत का फटना । ३५

स्वप्न में लाल पुष्पों वाले वन में, भूमि में, पाप कर्म के स्थान वैश्यालय आदि में, तथा गुहा के अन्धकार के सदृश बाधाजनक दुर्गम स्थानों में प्रविष्ट होता है । ३६

५. पूर्वरूपीय इन्द्रिय (व्याधि, पूर्व, रूप)
६. वातमानि शरीरीय इन्द्रिय (रोगानुसारिक असाध्य लक्षण)
७. पन्नरूपीय इन्द्रिय (छाया, प्रतिच्छाया, रूप अरिस्ट लक्षण)
८. अवाक् शिरसीय इंद्रिय (अवाक् शिरा शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
९. यस्य श्याव निमित्तीय इन्द्रिय (यस्य श्याव शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
१०. सद्योमरणीय इन्द्रिय (सध्यो मारक लक्षण, तीन रात्रि अथवा सात रात्रि)
११. अणुज्योतीय इन्द्रिय (अणुज्योति शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)
१२. गोमच चूर्णीय इन्द्रिय (गोमच चूर्णीय शब्द से प्रारम्भ होने वाला अध्याय)

इन ११ अध्यायों में इन विषयों का वर्णन किया गया है।

वर्ण, स्वर, गन्ध, रस, स्पर्श (काठिन्यादि), चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय), सत्व (मन), भक्ति (इच्छा), शौच (पवित्रता), शील, आचार (शास्त्रवर्णित व्यवहार), स्मृति, आकृति, प्रकृति, विकृति, बल, ग्लानि, मेधा, हर्ष, रौक्ष्य, स्नेह, तन्द्रा, आरम्भ (रोगारम्भ), गौरव, लाघव, गुण, आहार, बिहार, आहार परिणाम, उपाय (रोगों का होना), उपाय (रोगों का विनाश), व्याधि, व्याधि पूर्वरूप, वेदना, उपद्रव, छाया, प्रतिच्छाया, स्वप्नदर्शन, दूताधिकार, पथिऔत्पातिक (रास्ते के उत्पात), आतुरबले भावावस्थान्तराणि (बीमार के घर में प्रवेश काल में लक्षित विशेष भाव), भेषज संवृत्ति (औषध निर्माण में कठिनाई उपस्थित होना), भेषज विकार युक्ति (औषध विशेष का रोग विशेष में प्रयोग) करना) कुल ४७

इन्द्रिय स्थान के ५वें अध्याय में स्वप्नों का विवेचन किया गया है। इस अध्याय के ३० श्लोकों में या तो अरिस्ट लक्षणों का वर्णन किया गया है अथवा कोई २ लक्षण इस बात के सूचक हैं कि इनके स्वप्न में उपस्थित होने पर स्वस्थ्य मनुष्य होगा या कष्ट को प्राप्त करता है और रोगी मृत्यु को।

नीचे इन ३० श्लोकों का साधारण अर्थ मात्र दिया जाता है। वैसे प्रत्येक श्लोक में शंका उत्पन्न की जा सकती है परन्तु उसका समाधान उतना ही दुरूह होगा। स्वप्न विज्ञान के युगप्रवर्तक विद्वान फ्रायड का नाम भी इस शास्त्र की विवेचना करते समय छोड़ना कठिन है। हमारे यहां जो उदाहरण दिए गए है अथवा दिए जा सकते हैं उनका फ्रायडवर्णित स्वप्न विज्ञान में प्राप्त होना कठिन है। उन्होंने जिस प्रकार इसका विवेचन किया है और यूरोपीय संस्कृति से सम्बन्धित विषयों का विवेचन किया है उसमे की हमारे यहां उपलब्धि कठिन है। दोनों का समन्वय बैठना किसी उभयज्ञ विद्वान द्वारा ही संभव है।

स्वप्न दर्शन सम्बन्धी प्रकरण—

चरक-इन्द्रिय स्थान-अध्याय ५

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणां दिशम्।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ।।८।।

अर्थ–जो स्वप्न में कुत्ते, ऊँटों व गधों पर सवारी करके दक्षिण दिशा की ओर जाता है वह यक्ष्मा रोग से आक्रांत हो कर मर जाता है।

ज्वर के मारक पूर्वरूप—

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना।
सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवितं स विमुंचति ।।९।।

अर्थ–जो स्वप्न में प्रेतों के साथ शराब पीता है अथवा कुत्तों से खींचा व घसीटा जाता है वह अति घोर ज्वर से आक्रान्त हो कर मृत्यु को प्राप्त होता है।

रक्तस्त्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासो मुहुर्हसन्।
यः स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्त प्राप्य सीदति ।।११

अर्थ–जो व्यक्ति स्वप्न में लाल माला को धारण किए हुए बार २ हँसता हुआ स्त्री से ले जाया जाता है, वह रक्तपित्त से आक्रांत होकर कष्ट प्राप्त करता है(प्राण त्याग करता है।

लताकण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ।।१३

अर्थ–स्वप्न में जिस पुरुष के हृदयदेश पर कांटों वाली लता उत्पन्न होती है, उसकी मृत्यु के लिए दारुण गुल्म उस पुरुष का आश्रय लेता है अर्थात् घोट गुल्म से उसकी मृत्यु होती है।

कुष्ठ के मारक लक्षण—

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुहृतोऽग्निमनर्चिषम्।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिस्यतः ।।१५

अर्थ–स्वप्न में जो पुरुष नग्न हो कर और अंगों पर घी चुपड़े हुए ज्वालारहित व अप्रज्वलित अग्नि में आहुति देता है और स्वप्न में हो छाती पर पद्म (कमल) उत्पन्न हो जाते हैं वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है।

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत्।
बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ।।१७

अर्थ–स्वप्न में जो पुरुष चण्डालों के साथ बहुत प्रकार के स्नेहों (घृत, तेल, वसा, मज्जा) को पीता है उसे प्रमेह रोग हो जाता है और उससे ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

नृत्यन् रक्षोगणैः सार्धं यः स्वप्नेऽम्भासि सीदति।
स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम् ।।२१

अर्थ-स्वप्न में जो राक्षसों के साथ नृत्य करता हुआ जल में डूब जाता है व हठात् उन्माद को प्राप्त होकर परलोक में जाता है।

मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम्।
स्वप्ने हरति तं मृत्यु रपस्मारपुरःसुरः ॥२३

अर्थ- स्वप्न मे मत्त होकर नाचते हुए जिस मनुष्य का सिर नीचे की ओर करके प्रेत ले जाता है उस मनुष्य की अपस्मार होकर मृत्यु हो जाती है।

शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान् वास्वप्ने खादति योनरः।
स चेत्तादृक्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥२५

अर्थ-जो पुरुष स्वप्न में शस्कुली (तिल, तण्डुल वा माषके पिष्टक से बनाया हुआ खाद्य विशेष) (लोकप्रचलित जलेबी) वा अपूपों (पूड़ों) को खाता है वह जागने पर यदि वैसी ही कै करता है तो वह व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता।

इमांश्चाप्यपरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत्।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महेतऽपिवा ॥२७

अर्थ-रोगियों के विनाश तथा महान् कष्ट को जानने के लिये इन स्वप्नों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अन्य दारुण व अशुभ स्वप्नों का कथन—

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः।
वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यामियाच्च यः ॥२८
गृध्रोलूकक्षकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्यते।
रक्षः प्रेतपिशाशस्त्री चण्डाल द्रविड़ान्धकैः ॥२९
वंश वेत्रलता पाश तृण कंटक संकटे।
सं सजाति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥३०
भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मनि।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रपतत्यपि ॥३१
कलुषेऽम्भसि पङ्के वा कूपे वा तमसाऽऽवृते।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्त्रोतसा ह्रियते च यः ॥३२
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने वन्ध पराजयौ।
हिरण्यलाभः कलहः प्रच्छर्दनं विरेचने ॥३३
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥३४
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्र देवता दीप चक्षुषाम्।
पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥३५

रक्तपुष्पं वनं भूमिं पापकर्मालयं चिताम् ।
गुहान्धकारसंबाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥३६
रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणां दिशम् ।
दारुणा मटवी स्वप्ने कपियुक्तेन याति वा ॥३७
काषायिणा मसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् ।
कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥३८
कृष्णा पापा निराचारा दीर्घ केशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥३९
इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ।
अरोगः सशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥४०॥

अर्थ–स्वप्न में जिसके सिर पर बांस गुल्म (झाड़ियों के समूह) तथा लता आदि उत्पन्न होते हैं, पक्षी उनमें अपने घोंसले बना कर रहने लगते हैं, जिसका सिर स्वप्न मे मुंडित हो जाता है ॥२८॥

जो स्वप्न में गिद्ध, उलूक, कौआ, कुत्ता आदि से घिर जाता है एवं जो राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्री दौड़ते हुए वा अधे पुरुषों से घेरा जाता है । ॥२९॥

स्वप्न में जो बांस, बेंत, लता, जाल अथवा तृण और कण्टकों के समूह में चलता हुआ मोह को प्राप्त होता है (फंस जाता है) निकलने की युक्ति नहीं सूझती और गिर भी जाता है ।

जो स्वप्न में धूल से युक्त भूमि व वल्मीक (दीमकों का घर) का भस्मराशि (राख का ढ़ेर) में गिर जाता है अथवा जो श्मशान स्थान तथा गड्ढे में प्रविष्ठ हो जाता है (गिर पड़ता है) । ३१

जो स्वप्न में मलिन जल में कीचड़ में अथवा ऊँधेटे कूए में डूब जाता है और जो वेग से बहने वाले स्रोत से बहाया जाकर दूसरी जगह ले जाया जाता है । ३२

स्वप्न में स्नेहपान करना, मालिश करना, उल्टी करना विरेचन लेना, स्वर्णलाभ, कलह, बन्दी होना, युद्ध में पराजित होना । ३३

स्वप्न में पैर के जूतों का नष्ट होना, गुम होना अथवा चुराया जाना, धूल और चमड़े का गिरना, हर्षित होना तथा क्रोधित पितरों द्वारा धमकाया जाना । ३४

स्वप्न में दांत, चन्द्रमा, सूर्य नक्षत्र, देवता, दीपक नेत्र का गिरना अथवा नष्ट होना, वृक्ष अथवा पर्वत का फटना । ३५

स्वप्न मे लाल पुष्पों वाले वन में, भूमि में, पाप कर्म के स्थान वेश्यालय आदि में, तथा गुहा के अन्धकार के सदृश बाधाजनक दुर्गम स्थानों में प्रविष्ट होता है । ३६

जो स्वप्न में लाल माला को धारण किये हुए अट्टहास करता हुआ, नग्न होकर दक्षिण दिशा को जाता है तथा जो वानर को साथ लेकर दारुण वन की ओर जाता है। ३७

स्वप्न में कषाय वस्त्र धारण किये हुए पुरुषों का जो सौम्य मूर्ति नहीं हो उनका नग्न, दण्डधारी, कृष्ण वर्ण के तथा लाल केशों वाले पुरुषों का दर्शन शुभ नहीं है। ३८

स्वप्न मे काली, पापिन, दुराचारी, लम्बे केश, नख तथा स्तनों वाली, लाल वर्ण को माला तथा वस्त्रों को धारण करने वाली स्त्री के दर्शन कालरात्रि के समान हैं। ३९

ये उपर्युक्त सब दारुण स्वप्न कहे गये हैं जिन्हें देख कर रोगी पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है और स्वस्थ्य पुरुष का जीवन संशय में पड़ जाता है याने कोई ही बच पाता है। ४०

स्वप्न क्यों आते हैं—

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः।
स्त्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे॥ ४१

अर्थ-दारुण काल में अति बलवान् वात पित्त कफ तीनों दोषों से मनोवह स्रोतों के पूर्ण होने के कारण मनुष्य दारुण स्वप्नों को देखता है।

नीतिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यायनेकधा॥ ४२

अर्थ-पूर्ण निद्रा मे न हो ऐसा पुरुष इन्द्रियों के अधिष्ठाता अथवा प्रेरक मन द्वारा फलयुक्त ओर फलरहित अनेक प्रकार के स्वप्न देखा करता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि स्वप्न दो प्रकार के होते हैं— १. सफल २. निष्काम ये दोनों भेद फलाफल के कारण हैं।

स्वप्न के प्रकार:—

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा।
भाविक दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः॥ ४३

अर्थ-सात प्रकार बताये गये हैं:—

१. दृष्ट—जिसे प्रत्यक्ष कर चुके हों अथवा देख चुके हों।
२. श्रुत—जिसे हम सुन चुके हों।
३. अनुभूत—जिसका अनुभव, अनुमान, युक्ति आदि के द्वारा कर चुके हों।
४. प्रार्थित—जिसको आकांक्षा की जाती है।
५. कल्पित—जिसकी मनमें पूर्व कल्पना की जा चुकी है।
६. भाविक—जो भावी शुभ व अशुभ फल के सूचक होते हैं।
७. दोषज—जो वातादि दोषों के कारण उत्पन्न होते हैं।

तत्र पञ्चविधं पूर्वमफल भिषगादिशेत्।
दिवास्वप्न मतिह्रस्व मति दीर्घं तथैव च ।। ४४

अर्थ-चिकित्सक इनमें से प्रथम पांच को निष्फल जाने इनका कोई फल नहीं होता है। शेष २ भाविक और दोषज फल देने वाले होते हैं। दिन में देखे हुए सब स्वप्न और रात्रि मे देखे हुए वे स्वप्न जो बहुत छोटे हों वा बहुत लम्बे हो उनका भी कोई फल नही होता है।

दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत्।
न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्मसफलः ।।४५

अर्थ-जो स्वप्न रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा जाता है वह अल्प फल वाला होता है। एक बार स्वप्न देख कर यदि नीद नहीं आए तो उसका शीघ्र ही महाफल होता है।

अकल्याणमपि स्वप्न दृष्ट्वा तत्रैव यः पुवः।
पश्येत्सौम्य शुभकार तस्यविद्याच्छुभफलम् ।।४६

अर्थ-बुरे स्वप्न को देख कर जो पुनः उसी रात शुभ और सौम्य स्वप्न देखता है उसका फल शुभ नही होता।

पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान्वेत्ति दारुणान्।
न स मोहादसाध्येषु कर्मण्यारभते भिषक् ।।४७

अर्थ-जो इन दारुण पूर्व रूपों और स्वप्नों को जानता है वह वैद्य कभी भी मोह से असाध्य रोगों की चिकित्सा नहीं करता।

चरक में कहा गया है—

यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

इस उक्ति को अनेक विद्वान अक्षरशः ठीक मानते हैं। किन्हीं अशों में यह ठीक भी है। स्वप्नों के प्रकार बताते हुए कहा गया है।

दृष्ट श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा।

प्रत्येक प्रकार की विवेचना करने से इस लेख का कलेवर बहुत अधिक बढ़ जाने को सम्भावना है तथापि कुछ विचार आवश्यक है।

विचार—श्लोक सख्या ८ में जिन सवारियों का उल्लेख किया गया है वे किसी समय में उपयुक्त थी। क्या आज का शहर में रहने वाला कोई भी व्यक्ति दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित तथा कल्पित में ऊंट का इस रूप में प्रयोग करेगा ? कुछ ने ऊट के दर्शन भी नहीं किए होंगे। आगे आने वाले समय के लिए यह वर्णन और भी कठिन होगा और हमारे सामने इस श्लोक को सार्थक करने वाला शायद ही कोई प्रमाण उपलब्ध हो। इसी श्लोक में दक्षिण दिशा की तरफ जाने का वर्णन है। हिन्दू धर्म शास्त्र मे दक्षिण दिशा का वर्णन

ही ऐसा मिलेगा परन्तु अन्य देशों मे दक्षिण दिशा का वर्णन इस रूप का नही मिलेगा। फिर यह कहा जा सकता है कि अन्य देशवासियों के रोगियों को भी इस प्रकार का स्वप्न आना सम्भव नही है क्योंकि दक्षिण दिशा भी अमंगल के रूप में हमारे सामने ही इस प्रकार प्रस्तुत की गई है।

विचार—श्लोक संख्या १३ में वात के कष्टकारक रूप को कंटकलता का प्रतीक मान कर वर्णन किया गया है।

विचार—श्लोक संख्या १७ में प्रमेहपीड़ित रोगी की स्नेहपान की दबी भावना विकृत रूप मे चण्डाल के साथ पान करने के रूप में उद्भूत हैं।

दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित तथा कल्पित स्वप्नों को वैसे ही निष्फल माना है। इनमें भी प्रथम रात्रि में देखा हुआ स्वप्न अल्प फल वाला होता है। दारुण स्वप्न देखने से यदि नींद वापिस नही आए (जैसा कि होता ही है) तो उसका महाफल होता है। अतः अच्छे स्वप्नों को देख कर पुनः नीद लाने का निषेध बताया गया है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं यदि इन्द्रिय स्थान का सम्यक् अध्ययन किया जाए और प्रत्येक स्वप्न का स्वप्न शास्त्र के अनुसार विवेचन किया जाए और यथास्थान कुछ संशोधन के साथ विवेच्य विषय को यथास्थान व्यवहार्य बनाया जाय तो हम समीचीन चिकित्सा द्वारा मानव समाज का अधिक कल्याण कर सकते हैं।

आयुर्वेद में विज्ञान

[स्वर्गीय श्री:स्वामीपादा: अनुवादक—मगलदास स्वामी, जयपुर]

[स्वर्गीय पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय विश्ववन्द्य युगप्रवर्तक स्वामी लक्ष्मीरामजी महाराज (जयपुर) ने आयुर्वेद में विज्ञान नामक निबन्ध गीर्वाण वाणी के माध्यम से लिखा जो आचार्य चरक द्वारा प्रतिपादित सहिता में उन उन स्थानों के प्रकीर्ण सूत्रों का भाष्यरूप में विवेचन है। यथा-क्रिया, ऊष्मा, स्नेहार्द्रता द्वारा दोषों की सूक्ष्म रूपता का कार्यानुमेय परिचय और सामान्य-विशेष द्वारा वृद्धि-ह्रास, इससे धातुवैषम्यज व्याधि प्रकार, और उनकी त्रिविध कारणता तथा धातुओं के क्षय-वृद्धि की लक्षणों द्वारा ज्ञान, और दोषवैषम्य की विविध सूक्ष्म अवस्थाओं से शरीर पर होने वाली प्रतिक्रिया तथा महामारियों के एकमात्र कारण-चातुष्टय को बड़े ही सुन्दर ढग से समझाया है।

आधुनिक समय के समझे जाने वाले रोग के एकमात्र कारण "कीटाणु" के सम्बन्ध में स्वामीजी ने उल्लेख किया कि रोगोत्पत्ति का विशेष कारण तो रोगनिवारक शक्ति की न्यूनता को मानना चाहिये। क्योंकि कीटाणु शरीर में पहु च जाने पर भी कभी रोग पैदा कर देते है कभी नहीं। अत: आशयविशेष, धातुविशेष, स्रोतोविशेष की कमी वेशी को ही रोग क्यों न कहा जाय ?

तत्पश्चात् व्याधिसांकर्य को जानने के लिये अनेक विध परीक्षा-परीक्ष्य के विवेचन के साथ प्रकृतिपरीक्षण पर विशेष बल देकर काय चिकित्सा के अनेक विध प्रकारों को बताते हुए धातुवैषम्य के परिहार व धातुसाम्य के सपादन के लिये जो भी व्यवहार में लाये जाय संक्षेप में चिकित्सा संज्ञा उसी की है। साथ ही पथ्य-व्यवस्था की उपादेयता तथा द्रव्य व भेषज प्रकारों का विश्लेषण करते हुए आयुर्वेदसमत चिकित्सा पद्धति व नियमों को सर्वसाधारण के जानने की भाषा में त्यागमूर्ति तपोधना विद्यावागीश स्वामी श्री मगलदासजी महाराज ने अनूदित कर वैद्यजगत् का अनुपम हित करते हुए स्वर्गत स्वामिपादा के विचारों को मूर्त रूप देकर आने वाली पीढी का पथप्रदर्शन किया है। इसका संपूर्ण लाभ विज्ञ पाठक मनन करने स स्वान्त सुख के साथ नानाविध संदेहनिवृत्ति प्राप्त कर आलोक पुंज को देख सकेगा। वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

परिचय—संवत् १९८० में मद्रास की प्रान्तीय सरकार ने एक कमेटी 'देशी चिकित्सा पद्धति' संबधी सम्पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिये नियुक्त की थी। इस कमेटी ने भारत के सभी प्रमुख प्रमुख नगरों का दौरा किया था। और आयुर्वेद, यूनानी व रस चिकित्सा पद्धति की बाबत उन उन चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञों से साक्षी ग्रहण की थी।

उस कमेटी के सदस्य 'आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति' के विषय में चिकित्सा साक्षी ग्रहण करने को जयपुर में स्वर्गीय आयुर्वेदमार्तण्ड स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी महाराज के पास भी आये थे। कमेटी की ओर से एक प्रश्नावली थी। पूज्य स्वर्गीय श्री स्वामीजी महाराज ने उसी प्रश्नावली के उत्तर गीर्वाण भाषा मे लिखित रूप में दिये थे। उसी निबन्ध को सम्वत् १९८३ में सस्कृत में ही 'आयुर्वेद विज्ञान' नाम से मुद्रित कराया था। उस निबन्ध की अधिकांश कापियें समाप्त हो गई पुन: उसका प्रकाशन सस्कृत भाषा मे हो या हिन्दी में यह भविष्य के गर्भ में है।

आजकल जगह जगह से यह आवाज आ रही है कि आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में वस्तुत: कुछ तथ्य है भी या नही ? जो जो आक्षेप आज विज्ञान की आड मे किये जा रहे हैं उनके मूल अश उस समय भी उत्पन्न हो गये थे। कमेटी की प्रश्नावली में ऐसे प्रश्न हैं जिनका सामञ्जस्य आज के अनेक आक्षेपों से बैठता है। उन प्रश्नों के उत्तर एक ऐसे महानुभाव के द्वारा दिये गये थे, जिन्होंने अपनी आयु के पचास वर्ष निरन्तर आयुर्वेद के अध्यापन व चिकित्सा क्षेत्र में व्यतीत किये। उनके उत्तरों में शास्त्रीय-तत्वों की वास्तविकता

अपहृत्य तमः संततमर्थान् खिलान् प्रकाशिनी

वीणावादन के प्रति चरित्रनायक की मूर्त कल्पना

स्वकीय दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर की गई है। उस संस्कृत निबन्ध का भाव में विज्ञवैद्य महानुभावों को हिन्दी-भाषा में समर्पित करना संगत समझता हूँ। वैद्य महानुभाव इससे यह जान सकेंगे कि आयुर्वेद में वस्तुत: क्या वास्तविकता है। और आयुर्वेद विज्ञान के नाम पर किये जाने वाले आक्षेपों का उत्तर किस तरह दिया जा सकता है।

समिति के प्रश्नों का उत्तर देने से पहिले स्वामीजी ने कुछ बातें अपनी ओर से विशेष रक्खी थीं। जिनका सीधा सम्बन्ध उन प्रश्नों से नहीं है पर वे मन्तव्य भी कुछ विशेषता रखते हैं। अत: उनका भावार्थ देकर पश्चात् प्रश्नोत्तर रूप में इस निबन्ध का आरम्भ करना अधिक संगत रहेगा।

स्वामीजी के विशेष विचार—

(१) मेरी सम्मति में 'आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति' की वास्तविकता का निर्णय जानने के लिये नियुक्त की गई कमेटी में एक विद्वान् वैद्य भी नियुक्त किया जाता तो ज्यादा अच्छा रहता। मेरी यह तीव्रतर आशा है कि अब भी कोई विशिष्ट वैद्य इस समिति में सम्मिलित किया जायगा।

वह चाहे प्रवास-काल में समिति में सम्मिलित न किया जा सके पर जिस समय साक्षियों की सम्मतियों पर बैठकर विचार किया जाय उस समय एक शास्त्र-मर्मज्ञ-वैद्य का समिति में रहना नितान्त आवश्यकीय है। जिससे साक्षियों की सम्मतियों का ठीक ठीक विश्लेषण हो सके व उनके भावों को ठीक ठीक से समझा सके।

(२) अतीत युग में आयुर्वेद का स्वरूप कैसा उन्नत था इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कारण उस समय जन-साधारण के स्वास्थ्य का वही आधार था इसलिये उस समय आयुर्वेद की उन्नति अभिवृद्धि व उपयोगिता के लिये विविध प्रकार के आश्रय व अनेक प्रकार के उपाय काम में लाए जाते थे। राजा और प्रजा दोनों ही आयुर्वेद को समुन्नत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। यही कारण है कि इस शास्त्र ने उस समय अंगोपांगों द्वारा अपना विशाल रूप बनाया व अत्यंत महत्व प्राप्त किया था।

(३) आयुर्वेद शास्त्र की रचना का कारण क्या है। दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न महर्षियों व शास्त्रक्रिया निपुण वैद्य महानुभावों के हजारों वर्षों के प्रयत्न व प्रयोगों का अनुभव बिना किसी स्वार्थकामना के प्राणी मात्र पर स्वाभाविक दयार्द्र भावना का परिणाम हो इसकी रचना व वृद्धि का सच्चा कारण है।

अनन्तकाल बीत जाने पर भी परीक्षित औषधियों का आज भी व्यभिचारविहीन परिणाम दिखाई देता है। इसका यही हेतु है कि ये योग अनन्तकाल तक अनन्त शरीरों के रोगों को शान्त करने के पश्चात् ही चिकित्सा क्षेत्र में प्रसिद्धि पा सके हैं।

दयार्द्र हृदय प्राचीन ऋषियों व निस्वार्थसेवी वैद्य महानुभावों ने किसी स्वार्थ की प्रेरणा से इन योगों का संकलन नहीं किया था। इन्होंने तो इनका निर्माण आर्त रोगाक्रांत प्राणियों के आतंक निवारण के लिए ही किया था।

(४) जिस तरह औषधियों के ये योग अनत काल के अनुभव के पश्चात् स्थिर किए थे, क्या इसी तरह आयुर्वेद के व्यापक सिद्धान्त भी अनन्तकाल तक परीक्षण की कसोटी पर कसे जाने के बाद ही स्थिर नहीं किए गए हैं ? जो कि इतना समय निकल जाने पर भी किसी प्रकार का संशोधन किए बिना आज भी उसी तरह बिना किसी व्यभिचार के, बिना किसी तरह की व्यर्थता के वैसा ही परिणाम प्रदर्शित करते हैं। इस तरह के व्यापक सिद्धान्त साधारण ज्ञान के सहारे मात्र से नहीं स्थिर किय जा सकते। जो व्यापक सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्र के स्थिर किए गए हैं उनके मूलाधार का नाम ही (त्रिदोष पद्धति) है।

जिसको आजकल की भाषा में वैज्ञानिक पद्धति की भाषा मे शरीर को संरक्षणी शक्तियां शरीर विघातनी-शक्ति कह सकते हैं। वही आयुर्वेद के त्रिदोष वादानुसार वात-पित्त-श्लेष्म की स्वाभाविक गति रूप अवस्था तथा विकृत गति रूप अवस्था है। प्रकृतावस्था में सम-स्थिति में रहे हुए वात, पित्त, श्लेष्मा, धातु, आशय, मर्म, श्रोत आदि द्वारा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं का समुचित सम्पादन करते हुए शरीर की संरक्षणी शक्ति को ठोक बनाए रहते हैं, यही मनुष्य की नीरोगावस्था है।

जब वात, पित्त, श्लेष्मा, बाह्य, आभ्यंतर हेतु, विशेष से वृद्धि ह्रास द्वारा समस्थिति का त्याग कर विकृत अवस्था में धातु, आशय, मर्म, स्रोतादि का आश्रय ग्रहण कर शरीर संरक्षणीय शक्ति का विघात करते हैं। इसी का नाम आतुरावस्था है।

वात, पित्त, श्लेष्मा जिनको कि आयुर्वेद के सिद्धांत से दोष या धातु शब्द से व्यवहृत किया गया है, शारीरिक शक्ति के संरक्षण और विघात में हेतु क्यों माने जाँय। शरीर संरक्षणी शक्ति का एक इससे क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर से पहिले यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आयुर्वेद-सिद्धान्त से सम्पूर्ण शरीर की उत्पत्ति का जो शुक्र शोणित सयोग हेतु माना जाता है। वह शुक्र, शोणित भी वात, पित्त, श्लेष्मा से अन्वित है।

सूक्ष्म (द्रव्यरूप) वात पित श्लेष्मा का प्रत्येक शुक्र कण वा शोणित कण से सम्बन्ध रहता है। इसी से आयुर्वेद में शारीरिक प्रकृतियों का वात पित्त श्लेष्मा के आधार से सात भेद करके विवेचन किया गया है।

जब शरीरोत्पत्ति के हेतु-भूत शुक्र शोणित दोषों के सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत हैं ? तब तज्जन्य शरीर की शक्तियों का आधार दोषों से भिन्न कौन हो सकता है।

सूक्ष्म रूप में रहने वाले दोषों का कार्य द्वारा ही अनुमान से प्रत्यक्षीकरण होता है। उनका कार्य शरीर में क्या है ? उस विवेचन को देखने के पश्चात् हमें तुरन्त ज्ञात हो

जायगा कि शारीरिक शक्ति के संरक्षण व विघात में इन दोषों का कितना हाथ है। हम शरीर में होने वाले कार्य विशेषों का वर्गीकरण करें तो हमें मालूम होगा कि शरीर में प्रधानतया क्रिया, ऊष्मा, स्नेह और आर्द्रता से ही अधिकांश कार्य सम्पादित होते हैं। इन चार प्रकार की शक्तियों का आधार तलाश करें तो वायु (क्रिया) पित्त (ऊष्मा) श्लेष्मा (स्नेह आर्द्रता) से भिन्न कोई द्रव्य शरीर में उपलब्ध नहीं होगा।

हृदय, यकृत, प्लीहा, वृक्क, शुक्राशय, सुषुम्नाप्रणाली, स्नायु, धमनी, शिरा, मांसपेशी, त्वचा फुफ्फुस उभय मस्तिष्क, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय आदि शरीर के सम्पूर्ण अंग उपांग में तथा मानसिक क्षेत्र में जो जो क्रियायें होती हैं, उन सबका संचालन शरीर में जिस द्रव्य विशेष से होता है यानि जिस द्रव्य विशेष के आधार से ही ये अखिल क्रियायें निष्पन्न होती हैं। आयुर्वेद में उस आधारभूत द्रव्य का नाम (वात) है।

(अनल) अन्न के परिपाक से आरम्भ होकर धातुओं और त्वचाओं के निर्माण तक की जो सम्पूर्ण पाक प्रणाली है उसकी पूर्ति शरीरस्थ अग्नि (उष्मा) से होती है।

शरीर में मुख्यतया अग्नि के दो प्रकार के कार्य दृष्टिगत होते हैं। पहिला कार्य शरीर की प्रतिदिन व्यापार विशेष से होने वाली कमी की पूर्ति। अर्थात् शरीर के पोषण करने का काम पूरा करना दूसरा काम है शरीर को सुस्थिर (टिकाऊ) बनाना। शरीर का शौर्य (अधिक आयु तक शरीर का सबल रहना) धातुओं की दृढता पर है। धातुओं की दृढ़ता शरीर की उचित ऊष्मा के आश्रित है इस तरह अन्न परिपाक व धातु परिपाक द्वारा अनल शरीर का पोषण व स्थिरीकरण का कार्य प्रधान रूप से सम्पादन करता है। इनके अतिरिक्त ऊष्मा एक और भी विशेष कार्य करती है।

खान, पान, रहन-स०न की अव्यवस्था कारण शरीर में कुछ ऐसे विरोधी तत्व संचित होते रहते हैं जो शरीर के रस रक्तादि रूपों में परिवर्तित नहीं होते उनको विनष्ट करना इस तरह शरीर के पोषण शौर्य और बचाव का काम जिस ऊष्मा (अनल) द्वारा सम्पन्न होता है। आयुर्वेद उसके आधारभूत द्रव्य को पित्त नाम से निर्देश करता है। क्रिया और विद्युत्प्रवाह से शरीर के प्रत्येक अवयवों परिमाणुओं में अनवरत सघर्ष चलता रहता है। इससे उत्पन्न होने वाले रुक्ष विषय बहुत विस्तृत हैं अतः इस जगह इसका विवेचन न कर केवल इतना ही दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त है कि दोषों की सम विषम स्थिति से शरीर की संरक्षण वा विनाशक शक्ति का क्या संबध है? इसकी ठीक ठीक समझ लेने पर उपरोक्त प्रश्न का समाधान स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

वात, पित्त, कफ सूक्ष्म स्थूल भेद से शरीर में उपलब्ध होते हैं। उनमें सूक्ष्म रूप से रहने वाले तीनों दोष केवल कार्यानुमेय ही हैं। उनका आयुर्वेद सिद्धान्त से किसी यंत्र

विशेष से भी साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि वे मूर्तरूप में नहीं होते। अणुवीक्षणादि यंत्रों द्वारा उन्हीं सूक्ष्म वस्तुओं का अवलोकन होता है जो मूर्तरूप में बताई गई हैं।

स्थूल (मूर्तरूप पाए हुए) वातादि अनेक रूपों में अनेक कार्य करते हुए देखे जा सकते हैं। जैसे—समान पाचक, अवलम्बकादि स्थान भेद से। इसीलिए शरीर की निरोग वा रुग्णावस्था का निश्चय स्वाभाविक विकृत गतिरूप वातादि दोषों के सम्बन्ध से होता है। दोषों के इस गतिभेद पर ही आयुर्वेद सिद्धान्त का जीवन सर्वस्व वा महत्व स्थिर है।

इस प्रकार के गम्भीर अपरिवर्तनशील सिद्धांत के स्थिर करने से साधारण बुद्धि वालों के कार्य-निर्वाह के लिए विशिष्ट बुद्धि वालों को सूक्ष्म ज्ञान प्रदर्शन करने के लिए सब तरह के चिकित्सकों के लिए यह सिद्धान्त आतुर मनुष्यों को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए अनुपम साधन है; अतः इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं।

५. आयुर्वेद सिद्धांत से उत्पन्न रोगों के वातादि दोष......द्रव्य गुण आदि इतर पदार्थ तत्वों, के सामान्य ज्ञान वा विपरीत ज्ञान का आधार निदान, लक्षण, औषध यह त्रिपुरी है। किसी भी सामान्य व विपरीत ज्ञान का प्रत्यक्ष युक्ति, तर्क और प्रमाण के बिना संभव नहीं। रोगों को उत्पन्न करने वाले दो प्रकार के कारण हैं। एक स्वकीय शरीर में दूसरा शरीर से बाहर संसार में उन्हीं का आभ्यन्तर और बाह्य कारणों के नाम से उल्लेख किया गया है।

किसी भी वस्तु की बुद्धि समान गुणधर्म वाली वस्तु के संयोग से होती है। इसी तरह किसी भी वस्तु का ह्रास उससे विपरीत गुण धर्म वस्तु के संयोग से होता है।

यह एक पदार्थ विद्या का साधारण सिद्धांत है।

जैसा—कि चरक-निर्देश करते हैं।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।

ह्रासहेतु विशेषश्च—

चक्रपाणि: "विशेषश्चेह विरुद्ध विशेषोऽभिप्रेत:" वृद्धि का कारण सामान्य ह्रास का कारण 'विरुद्ध विशेष' है। जैसा कि चरक के इस वचन से भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

सामान्यमेकत्वकरं, विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः।।

जब तक रोग के उत्पादक बाह्य या आभ्यन्तर कारणों में 'सामान्य' या विपरीत भावों का सहयोग नहीं होता तब तक उन कारणों द्वारा आभ्यन्तर शरीरस्थ वातादि दोष, रस रक्तादि धातु का सहयोग नहीं होता तब तक उन कारणों द्वारा आभ्यन्तर शरीरस्थ वातादि दोष रस रक्तादि मलमूत्रादि व शरीर के विशेष अवयवों का व उनकी क्रियाओं का वृद्धि क्षय रूप परिवर्तन सम्भव है।

इसलिए रोग के स्वरूप ज्ञान का निश्चय करने के लिए औषध निश्चय करने के समय विपरीत ज्ञान की आवश्यकता होती है।

ऐसे जितने भी स्थूल से स्थूल या सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्पूर्ण रोगोत्पत्ति हेतु हैं वे सामान्य ज्ञान द्वारा रोग की जाति विशेष निर्णय करने के समय अत्यन्त सहायक होते हैं।

न केवल उपरोक्त कारणों से ही सामान्य विपरीत ज्ञान की आवश्यकता है, प्रत्युत स्वास्थ्य रक्षा के लिए किन किन पदार्थों को शरीर में जाने की जरूरत है तथा कौन कौन से अनुपादेय व शरीर-विनाशक पदार्थ शरीर में न पहुँचने चाहिएँ इसकी पूर्ति के लिए प्रतिक्षण सामान्य व विपरीत ज्ञान की आवश्यकता रहती है।

केवल व्यवहार में आने वाले भोज्य द्रव्य व औषध द्रव्यों के प्रभाव ज्ञान के लिए ही उनका विशेष उपयोग हो या यही एकमात्र उनके ज्ञान कराने में कारण [हो—यह सिद्धान्त न समझा जाय क्योंकि अन्नादि व औषध द्रव्यों के अशेष गुणावगुणों का निश्चित निर्णय सामान्य विपरीत ज्ञान से हो ही जाय यह कोई निश्चित नियम नहीं।

पदार्थों में मूर्त अमूर्त दोनों तरह के तत्व हैं कैमीकल परीक्षण से मूर्त पदार्थों का शायद विश्लेषण हो जाय अमूर्त पदार्थों का विश्लेषण उनके दायरे की वस्तु नहीं।

इसलिए इस प्रकार की स्थिति में विशिष्ट अनुभवसम्पन्न आप्त पुरुषों का अनुभूत उपदेश ही अधिक उपादेय प्रमाण है। क्योंकि पदार्थों की अशेष शक्ति का सम्पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञ ईश्वर को ही सम्भव है। दूसरों को नहीं।

यह बात केवल आदर्श की भावना से नहीं कही जा रही है, यह तथ्य इस समय के विज्ञान से सिद्ध हो रहा है। विज्ञान किसी समय किस पदार्थ को किसी शक्ति से सम्पन्न मानता है, कुछ समय बाद उसी पदार्थ में उससे भिन्न और कई शक्तियों का पता लगाता है। 'कुनेन' मलेरिया के निवारण की शक्ति रखता है पर साथ ही शरीर की जीवनीय शक्ति पर भिन्न असर करता है। इसके परिमार्जन का अभी तक कोई हल नहीं निकला। इससे सिद्ध है कि विज्ञान युग में पदार्थ के अशेष गुण धर्मों का पता लग ही जाय यह सम्भव नहीं, इसी लिए सामान्य विपरीत ज्ञान के साथ आप्तोपदेश की सहायता आवश्यक है।

(६) आयुर्वेद शास्त्र ने अपने आठ अंगों में से सात का ह्रास होते हुए भी 'काय-चिकित्सा' नामक एक अग में अकिंचन अपर्याप्त थोड़ी-सी सहायता के सहारे ही कितने ही संग्रह-ग्रंथों का निर्माण कर पूर्वकाल में पर्याप्त उन्नत अवस्था की प्राप्ति की थी। जिससे उसका 'काय चिकित्सा पद्धति' का अङ्ग आज भी चिकित्सा सूत्र, आवस्थिक चिकित्सा, अनुबन्ध चिकित्सा, चिकित्सा के उपयोग के लंघन, पाचन शोधन शमनादि अनेक प्रकार, भेषज प्रयोग में गुटिका, कसाय, घृत तैल, अवलेह आदि पंच कर्मादि रसायन, वाजीकरणादि अनेक साधन, भेषज प्रयोग के विविध प्रकार, शरीर से भेषज का सम्बन्ध, अनुपान पथ्यादि

अनेक उपयोगी विषयों से सम्पन्न हैं।

बौद्धकाल के पश्चात अनेक विघ्न बाधाओं के आने, अनेक प्रकार के आक्रमण होते रहने पर भी इस समय तक आयुर्वेद अपना अस्तित्व बनाए हुए है इसका एक मात्र कारण आयुर्वेद का शेष बचा कार्य चिकित्सा अंग ही है। इसी के सहारे यह आज भी अनन्त प्रतिगामी शक्तियों के आक्रमणों को सहन करते हुए भी अपना उपादेयता सिद्ध करने में समर्थ है।

(७) आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति का यह वर्तमान काल छिन्न भिन्न अवस्था वाला भग्नावशेषमात्र का द्योतक है।

राज्याश्रय के अभाव व शिक्षा के समुचित प्रबन्ध न होने के कारण दिन दिन इसके वाङ्मय भण्डार व चिकित्सांगों की परम्परा में शैथिल्य ही उपस्थित होता रहा है ऐसी स्थिति में उपरोक्त कारणों के कारण हम वैद्य लोग इस पद्धति के सम्पूर्ण सिद्धान्तों व विशेष तत्वों का पूर्ण परिचय प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके हैं। इसलिये आयुर्वेद का पूरा महत्व हम प्रकट न कर सकें तो भी इसकी इस अवस्था में प्राप्त सामग्री के सहारे से हमने इसके सिद्धान्तों का अनुसरण कर चिकित्सा-क्षेत्र में जो अद्भुत सफलताऐं प्राप्त की हैं व देखी हैं उनके अनुमान से हम दृढ़तापूर्वक साग्रह यह कहने का साहस करते हैं कि इस पद्धति को राज्याश्रय प्रदान कर शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय तो यह पद्धति अपनी पूर्व स्थिति मे (आने पर) देश और आतुर जन-समुदाय का अल्प व्यय में अत्यन्त कल्याण साधन कर सकती है।

(८) पचास वर्ष पहिले पाश्चात्य-औषध-विज्ञान (मेडिकल-साइन्स) की जो स्थिति थी और इस समय जो स्थिति है इसकी तुलना करने से यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि आयुर्वेद औषधियों का किस तीव्र गति से इसमे समावेश हो रहा है।

जिस तरह आज आयुर्वेदोक्त औषधियों का इसमें समावेश हो रहा है संभव है आगे आयुर्वेद के अनेक चिकित्सा-सिद्धान्त व प्रक्रियायें भी परीक्षण के साथ साथ पाश्चात्य-भेषज-पद्धति में ग्राह्य हो जायेंगी।

(९) आधुनिक-विज्ञान के मूलग्रन्थ आँग्ल-भाषा मे हैं। मेरा आँग्ल-भाषा से परिचय नहीं है अतः मैं केवल आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञान के आधार से ही आपके प्रश्नों का यथामति यथास्थान संस्कृत भाषा में उत्तर लिख रहा हूँ।

१. पहिला प्रश्न—

देशी चिकित्सा-पद्धति के दायरे में आयुर्वेद, यूनानी और सिद्धवैद्यक (रस चिकित्सा पद्धति) ये तीनों पद्धतियें आती हैं। आप इनमें से (एक को या अधिक को) किनको प्रमुख मान व्यवहार में ला रहे हैं।

२. द्वितीय प्रश्न—

(अ) आप जिस प्रणाली के अनुसार चिकित्सा करते हैं उसके अनुसार रोग को पैदा करने वाले कारणभूत सिद्धान्तों का नामकरण क्या है ? आपकी प्रणाली के वे सिद्धान्त आधुनिक (वैज्ञानिक) चिकित्सा प्रणाली के अनुसार क्या परीक्षा की कसौटी में पूरे उतर सकते हैं ? (आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार परीक्षा के पश्चात् उनमें परिवर्तन की संभावना हो तो आप कहां तक उन सिद्धान्तों के परिशोध के लिये उद्यत हैं) इस विषय में आप अपने भावों को स्पष्ट रूप में प्रकाशित कर समिति को अनुगृहीत करें।

(आ) आपके चिकित्सा-तन्त्रानुसार रोग के निश्चय करने में, रोग-निवारणार्थ चिकित्साक्रम निश्चय करने मे किस पद्धति से, किन नियमों को, उपादेय मानते हैं।

आपकी चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार चिकित्सा करने पर सामान्यतया क्या परिणाम सामने आता है ? यदि सुव्यवस्थित रिकार्डो द्वारा यह बात सिद्ध की जा सकती है तो किन किन संस्थाओं तथा औषधालयों द्वारा कितने समय में कितने रोगों की चिकित्सा की जाने पर संख्यानुपात से जो परिणाम सामने आये हों, वे यथार्थता के साथ सप्रमाण समिति के समक्ष रख आप अपने आशय से समिति को उपकृत करें।

(इ) क्या आप यह भी दृढ़ सम्मति रखते हैं कि कुछ रोगों की कुछ अवस्था विशेष में अन्य चिकित्सा पद्धतियों की अपेक्षा आपकी चिकित्सा प्रणाली का समान संख्यानुपात से प्रयोग करने पर सर्वदा परिणाम विशेष रहता है यदि ऐसा है तो आप उदाहरणपूर्वक आपके इस कथन को सप्रमाण सिद्ध करें। इनका स्वर्गीय स्वामी जी ने जो विस्तृत उत्तर दिया है उसका भावार्थ निम्न रूप में है। (नोट्) मैं वैद्य महानुभावों का ध्यान इस ओर आकर्षित कर देना चाहता हूँ कि, मैं यह संस्कृत का शब्दानुवाद नहीं कर रहा हूँ, मेरा यह अनुवाद भावानुवाद है, इसमें कई जगह किसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए अधिक भी लिखा जायगा, किसी जगह न्यून भी अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए ही इसके औचित्यानौचित्य का विचार करें।

प्रश्नों का उत्तर :—

(१) मैंने संस्कृत भाषा में निर्मित आयुर्वेदशास्त्र के अध्ययन व अध्यापन में आज तक श्रम किया है। इसी के सिद्धान्तानुसार रोगों का निर्णय व चिकित्साक्रम का निश्चय करता हूँ अतः इस विषय में उसी के सिद्धान्तों का समर्थन करने का उद्योग करता हूं।

वह आयुर्वेद आरम्भ में तथा अतीत की अनेक शताब्दियों तक पूर्वाचार्यों द्वारा चिकित्सा को सुचारु रूप से सम्पादित करने के अभिप्राय से कार्यविभाग द्वारा आठ अङ्गों में विभाजित किया गया था। आठ अङ्ग इस रूप में थे—

(१) शल्य चिकित्सा (२) शालाक्य चिकित्सा (३) काय चिकित्सा (४) कौमार-भृत्य चिकित्सा (५) रसायन तन्त्र (६) वाजीकरण तन्त्र (७) अगद तन्त्र और (८) भूतविद्या।

१. इनमें से जिस तन्त्र में विद्रधि, मूढ़गर्भ, नाडीव्रण, अश्मरी, अर्श आदि शस्त्रसाध्य रोगों का व उनके परिहार के लिए यंत्र शस्त्रादि साधनों का वर्णन किया गया वह 'शल्य-चिकित्सा' नाम का अंग कहा जाता था।

२. जिस तन्त्र में नेत्र, कान, घ्राण, मुख तथा मस्तिष्क के सम्पूर्ण रोगों का तथा उनके परिहार के लिए आश्च्योतन, अञ्जन, नस्य, तर्पण, धूम्रपानादि साधनों का व शलाकादि के प्रयोगों का वर्णन किया वह 'शालाक्य चिकित्सा' नाम का तन्त्र कहा जाता था।

३. जिस तन्त्र में आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, फुफ्फुस, हृदयादि प्रदेशों में उत्पन्न-सम्पूर्ण शरीर को संतप्त करने वाले ज्वर, अतिसार, पाण्डु, ग्रहणी, कास-श्वास, रक्तपित्त, क्षयादि रोगों का व उनके प्रतिकार का समुचित वर्णन किया है वह 'काय चिकित्सा' नाम का तंत्र उपदेश किया जाता था।

४. जिसमें सम्पूर्ण शरीर के बल, उपचय, धातु अपकर्षण करने वाले बाल्यावस्था में बच्चों के होने वाले सामान्य विशेष रोगों का, उनके प्रतिकार करने वाले उपक्रमों का धात्री दुग्धादि के उपादेय, शुद्धाशुद्ध लक्षणों का, उनसे उत्पन्न रोग विशेष व उनके निवारणों का, बच्चे को किस तरह, किन नियमों से, किस अवस्था तक, कैसे रक्खा जाय इन सब विषयों का समुचित विवेचन है वह 'कौमारभृत्य तन्त्र' नाम से व्यवहृत होता था।

५. जिसमें सम्भावित समय असमय में आने वाले बुढापे व क्लैव्यादि दोषों के परि-हार के लिए व रोगाक्रामक शक्ति का परिहार करने के लिए रोग-निवारण शक्ति-सम्पन्न शरीर को बनाने के लिए अनेक प्रकार के, शरीर को ऊर्जस्कर (सशक्त) बनाने वाले प्रयोगों का विषद विवेचन किया गया था, उसको 'रसायन तन्त्र' नाम से सम्बोधित किया जाता था।

६. जिसमें अल्प शुक्र वाले विविध व्याधियों या आहार-विहार की अनुपादेयता से क्षीण शुक्र व विकृत शुक्र वाले पुरुषों के लिए पूर्ण शुक्र व विशुद्ध शुक्रोत्पादनार्थ प्रयोग विशेषों का निर्माण व उपयोग वर्णित था वह "बाजीकरण तन्त्र" नाम का तन्त्र कहा जाता था।

७. जिसमें स्थावर-जंगम भेद से उत्पन्न संसार में अनेक प्रकार की विष जातियों, उनके शरीर पर होने वाले परिणामों, देशकाल स्थिति भेद से बनने वाले हीन विष, दूषीविष, गर आदि के लक्षणों व उनके परिहार के लिये विविध उपायों व प्रयोगों का कृत्रिम रूप से

बनाये जाने वाले विषों, सामूहिक रूप से वायु, जल, पशुभूमि, वस्त्रादि में प्रयुक्त किये जाने वाले विष प्रयोगों तथा तज्जन्य परिणामों का परिहार करने के उपायों का विशद वर्णन था वह "अगद तन्त्र" के नाम से प्रसिद्ध था।

८. जिसमें आधिदैविक कारणों से उत्पन्न होने वाले कर्मज रोगों व उनके परिशमन के लिये शास्त्रीय व अथर्ववेदीय प्रतिकर्म्मों का विवेचन किया गया वह "भूतविद्या" नामक तन्त्र कहलाता था।

इस विविधांग भूषित आयुर्वेद के और अङ्ग तो दैवसंयोग से या देश की परिवर्तित अवस्था से, या शासन की विचलित व विभिन्न परिवर्तित होने वाली नीति से, या आयुर्वेद को उपयोग में लाने वाले वैद्यों की शिथिलता से, इनमे से एक या इन सब कारणों से धीरे-धीरे तिरोहित होते गये, केवल एक "काय चिकित्सा" अङ्ग ही वैद्यों के जैसे तैसे व्यवहार में आता रहा।

प्राचीन समय में इस अङ्ग पर अनेक उपादेय संहितायें रची गई थीं। उनमें से केवल एक ही प्राचीन "चरक-संहिता" शेष रही है और कुछ वाग्भट आदि संग्रह ग्रंथ भी हैं, इस अवशिष्ट रहे तन्त्र की इस उपलब्ध संहिता में, रोगों के कारण, रोगों के स्वरूप निश्चय के हेतु, रोगों के बदलने की अवस्थायें, उनके परीक्षण के प्रकार, रोगों के परिहार करने वाले चिकित्सा-व्यवस्थापक सिद्धांत हैं उन्हीं को मैं यथामति समिति के समक्ष उपस्थित करता हूँ।

२. प्रश्न का उत्तर—

(नोट) उपांगों सहित दूसरे प्रश्नों में आयुर्वेद को कसौटी पर कसने की सभी बातें आ गई हैं इसके उत्तर में भी स्वामीजी महाराज ने शास्त्रपद्धति से गागर में सागर भरने की कहावत के अनुसार संक्षेप में सम्पूर्ण सिद्धांतों का कैसा क्रमबद्ध विवेचन किया है यह आयुर्वेदप्रेमियों को विशेष रूप से अवलोकनीय है।

२. आयुर्वेद की पद्धति के अनुसार रोग को पैदा करने वाले सिद्धान्तों का विवेचन करने से पहिले यह कौनसा रोग है इसका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है।

फिर रोगोत्पादक हेतुओं की खोज तलाश करने से पहिले स्वास्थ्य क्या है? इसका विवेचन भी आवश्यक है। क्योंकि जितनी भी चिकित्सापद्धतियें हैं वे सब इस विषय में एकमत हैं कि स्वास्थ्य से विपरीत परिस्थिति का नाम ही रोग है।

इस स्थिति में रोग तत्व और रोगोत्पत्ति तत्त्वों का निर्णय करने को प्रस्तुत होने पर स्वास्थ्य तत्त्व का निर्णय स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। इसलिये सब से पहिले आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार स्वास्थ्य क्या है? इसी का विवेचन करना संगत है। क्योंकि स्वास्थ्य प्राप्ति

के लिये प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील है। जिसके प्राप्त होने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध किया जा सकता है।

यदि आरोग्य प्राप्ति नहीं है, शरीर स्वस्थ नहीं है, तो सम्पूर्ण भोग्य पदार्थो की साधन सामग्री होते हुए भी दोषों का उपभोग नही किया जा सकता।

जिसके आधार पर ही जीवन के साफल्य का, कर्मसिद्धि का दारोमदार है उस "स्वास्थ्य" का आयुर्वेद किन चमत्कारी थोड़े शब्दों मे उद्घोष करता है—

समदोषः समाग्निश्च, समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः; स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

आज की उन्नति के सिद्धान्तानुसार, सभव है, "स्वास्थ्य" पर अनेक उपादेय पुस्तकों की रचना हुई हो। एक-एक स्वास्थ्य सबधी विषय को लेकर बहुत विस्तृत विवेचन किया गया हो। पर इतने थोड़े शब्दों में इतनी उत्कृष्टमयी "स्वास्थ्य" की परिभाषा शायद ही कहीं दिखाई पड़ सके।

उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट किये दोष, धातु, मल, क्रिया, जठराग्नि पदार्थो का पृथक् पृथक् विवेचन आगे किया जायगा क्योंकि आयुर्वेदशास्त्र में विवेचनीय मुख्य विषयों में इनका प्रमुख स्थान है। श्लोक का भावार्थ यह है—जिस अवस्था में शरीर से सम्बन्ध रखने वाले हृदय, फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, आमाशय, पक्वाशय, वस्ति, किडनी, मस्तिष्क, सुषुम्ना प्रणाली, सिरा, धमनी, स्नायु, मांशपेशी आदि सम्पूर्ण यन्त्र, वातादि दोष, जाठराग्नि, धातु और धाताग्नि पचविध भूताग्नि आदि सम्पूर्ण तत्व अपनी २ क्रिया व अपने २ व्यापार को उचित दशा मे (अर्थात् शरीर के अशेष क्रियाकर्म करने वाले तत्वों की संतुलन स्थिति को) सम्पादित करते रहें। यह शरीर की प्राकृतिक दशा है। शरीर की इस प्राकृतावस्था का नाम ही स्वास्थ्य है।

दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसा कहा जा सकता है कि नाना प्रकार की क्रिया व व्यापार को पूरा करने वाले शरीर के सम्पूर्ण भाव एक दूसरे के सहायक होते हुए अपने अपने कर्म से शरोर को स्वाभाविक स्थिति मे बनाये रखे वही दशा 'स्वास्थ्य' शब्दाभिधेय है।

स्वास्थ्य क्या है? उसका लक्षण या उसका स्वरूप जान लेने पर उसको सम्पादित करने वाले हेतुओं को जानना भी जरूरी है, जिससे स्वास्थ्य की रक्षा की जा सके और स्वास्थ्य में गड़बड़ी होने पर उसकी कमी का परिहार किया जा सके।

आयुर्वेद शास्त्र में स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतुओं का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन पद्धति द्वारा अनेक तरह से वर्णन किया गया है उस सब का विशद वर्णन अशक्य है। फिर भी कुछ दिग्मात्र से प्रदर्शित कर रहा हूँ। अपने अपने ऋतुकाल में ग्रीष्म, वर्षा, शीत का सम्यग्

योग, देशकालानुसार सम्यग्योग युक्त ऋतुओं मे ऋतुचर्या, दिनचर्या की विधि अनुसार आहार विहारों का उपयोग। आहार विहार में सब प्रकार के अतियोग और मिथ्यायोगों का परित्याग। वात मूत्र पुरुषादि वेगों का अवरोध न करना, आगत वेगों का सम्यक् त्याग। सक्षेप में उन्ही को स्वास्थ्य का हेतु कहा जा सकता है।

थोड़े में कहे गये उपर्युक्त शब्दों में देशकाल के भेद, देशकाल भेद से ऋतुभेद, ऋतु में स्वकीय धर्म का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग, सम्यग्योग, उनके लक्षण, ऋतु अनुसार दोषों के चय, प्रकोप, प्रशमन का अनुबन्ध ऋतु अनुसार आहार विहार का निर्देश, उसके प्रयोग के प्रकार, ऋतु में दिनचर्या का विवेचन, दिनचर्या में प्रातः उठने से लेकर मल मूत्र त्याग, दन्त धावन, गण्डूष धारण, अभ्यङ्ग, व्यायाम, स्नान, वस्त्रार्चन, गन्धादि धारण, भोजन, भोजन के पदार्थ, पदार्थो में सात्म्यासात्म्य, सात्म्यादि के विवेचन, भोजन के पदार्थो के स्वरूप भेद, रसानुबन्ध से उनका उपयोग, भोजन का काल पहिले किये गये भोजन के सम्यक् पाचन अपाचन का निश्चय।

शीतोष्ण भेद से, गांगेयादि उदक भेद से, उत्तर दक्षिणाभिपथवाहिनी नदियों के देश भेद से, तडाग, वापी, कूप, सर आदि आश्रय भेद से जल के भेद व उनके ऋतु अनुसार उपयोग, शुद्धाशुद्ध जल के लक्षण; विषाक्त दूषित जल के संशोधित करने के उपाय, दिग् भेद से वायु के लक्षण, ऋतु भेद से वायु सेवन, अनुपादेय वातसेवन का निषेध, रात्रिचर्या, शरीरसम्पत्, अवस्था, ऋतुभेद से स्त्री सहवासादि के नियम इन सबका समावेश हो जाता है।

आहार विहार में द्रव्य गुण कर्म्मों की प्रधानता है। द्रव्य शब्द के कथन से आहार के उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुओ, स्नान, अभ्यंग, लेप, आच्छादन, उपधानादि के लिये व्यवहार मे आने वाले अपर उपकरणों और देशकाल का ग्रहण समझना चाहिए।

गुण शब्द से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग सस्कार, परिणामादि सहित शीत, उष्ण, गुरु, लघु, स्नेह, रूक्षादि सुश्रुतोक्त बीस गुणों का उपयोग समझना चाहिये।

उपर्युक्त रूप से हम जिसको स्वास्थ्य कहते हैं उससे विपरीत अवस्था होना यही सामान्यतः रोगावस्था है।

मतलब, शरीर व शरीरस्थ सम्पूर्ण कार्यवाहक यन्त्र व उनके स्वाभाविक कर्म व्यापार में, उन द्वारा होने वाले स्वाभाविक शरीर निर्माण कार्य मे तथा उनके एक दूसरे के सहायक रूप में वैषम्य पैदा होने का नाम ही रोग है।

इससे भी संक्षेप में कहें तो यह कह सकते हैं कि शरीर को जो स्वाभाविक आहरण शक्ति है (यानी बाहर से आने वाले पदार्थों को शरीर के अनुरूप बदलने का काम है, जैसे अन्न से अन्न रस उत्पादन करना, रस से रस रक्तादि धातुओं का बनाना) वह कम हो जाय

या उसमें अनवस्था हो जाय उसी अवस्था का नाम रोग है, वह 'धातुवैषम्य' अवस्था से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। धातुवैषम्य से अभिप्राय यही है कि जो क्रिया पचन व स्नेहन व्यापार द्वारा शरीर के संगठन, परिवर्त्तन व स्थिरीकरण का काम करने वाली मौलिक शक्तियें जिन (वात पित्त श्लेष्म) द्रव्यों के आश्रित हैं उनकी स्वाभाविक स्थिति में परिवर्तन हो जाना।

अभिप्राय यह है कि आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त से शरीर में तीन प्रधान तात्विक द्रव्य समान द्रव्य दशा में रहते हुए कार्य करते रहें वह 'धातुसाम्यावस्था' मानी जाती है और वृद्धि और ह्रास रूप से, आवरण या अवरोध रूप से उनकी उस प्राकृतावस्था में अदल बदल होना 'धातुवैषम्य' कहलाता है।

स्वास्थ्य और धातु साम्यावस्था, रोग और धातु वैषम्यावस्था एक ही अर्थवाची शब्द-विशेष समझने चाहिये। स्वास्थ्य का ठीक अवस्था में बनाये रखना ही आयुर्वेद शास्त्र का एकमात्र ध्येय है। जैसा कि चरक अभिव्यक्त करते हैं—

'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता, तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'

धातुवैषम्य क्यों होता है ? किन कारणों से होता है ? यदि विषय सबसे अधिक विस्तृत है। धातुवैषम्य के वैसे प्रत्येक कारण को लेकर निरूपण किया जाय तो इतने अनन्त ग्रन्थ बनाने पड़े जिनकी संख्या नियत नहीं की जा सकती। संसार के सम्पूर्ण द्रव्य जिनका शरीर से किसी भी रूप में सम्बन्ध होता है, उनको अनुपादेय ढ़ग से व्यवहार में लाने पर वे सब धातुवैषम्य के कारण बन सकते हैं।

इस स्थिति में क्या ? प्रत्येक पदार्थ का विवेचन संभव है ? यदि ऐलान कर कुछ का ही विवेचन किया जाय तो वह अपूर्ण विवेचन होगा। आचार्यों ने गंभीर गवेषणा के पश्चात् उस पथ का आविष्कार किया, जिससे ससार के व्यवहार में आने वाले सब पदार्थों का समुचित निरूपण भी हो जाय, और उनका रूप अत्यन्त विस्तृत न होगा। वह मार्ग है वर्गीकरण का।

उन्होंने सूक्ष्म स्थूल भौतिक द्रव्यों को आकाशादि पंच वर्गो में आत्मा, मन, दिक्, काल अतीन्द्रिय द्रव्यों को एक एक वर्ग में रख संसार के जड़ चेतन अशेष द्रव्यों को नौ वर्गों में समाहित कर लिया। इन नौ द्रव्यों के संयोग, विभाग से ही दृश्य, अदृश्य संसार के सम्पूर्ण पदार्थो का आविर्भाव होता है।

उपरोक्त नौ विभागों में विभाजित द्रव्यों का और भी संक्षेप करें तो उन्हें चेतन अचेतन रूप से दो ही वर्गो में विभाजित कर सकते हैं जैसा कि चरक निर्देश करते हैं—

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"

उपरोक्त नौ या दो वर्गों में विभाजित द्रव्यों का विभिन्न रूप में होने वाला शरीर के साथ का संयोग उपयोग ही धातु-वैषम्य का सामान्य कारण कहा जा सकता है।

आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त से रोगोत्पत्ति का एक मूल कारण "धातु-वैषम्य" है। उस धातुवैषम्य के उत्पादक जितने भी कारण हैं उनको बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो भागों में समाविष्ट कर सकते हैं। इन दो भागों में एक तो ऐसे पदार्थ हैं जिनका हमें बाहर से उपयोग करना पड़ता है, या जो बाहर से शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं, वे सब बाह्य हेतु के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे वे पदार्थ हैं जो हमारे शरीर में विविध रूपों में विविध स्थितियों से रहते हैं। ये जब तक शरीर के निर्माण व स्थैर्योत्पादक स्थिति में रहते हैं तब तक इन्हें साम्यावस्था संज्ञा से सम्बोधित करते हैं, जब ये इन दोनों स्थितियों से भिन्न दशा मे पलटते हैं जो कि शरीर की हितावह दशा नहीं है, उनका इस तरीके का परिवर्तन ही आभ्यन्तर हेतु है। इन बाह्य आभ्यन्तर हेतुओं से बाह्य हेतु को आयुर्वेद में "निदान" संज्ञा से व्यवहृत किया है।

बाह्य हेतु

वह निदान संज्ञा वाला बाह्य हेतु अनन्त द्रव्य, गुण, कर्म के आश्रित होने के कारण अनेक तरह का है, तो भी पूर्वाचार्यो ने उसके उपयोग की स्थिति को विभाजित कर १ असात्म्येन्द्रियार्थ सयोग २ प्रज्ञापराध ३ परिणाम भेद से उसको तीन रूपों हो में वर्णित किया है।

विभिन्न आचार्यों ने "बाह्य हेतु" का विभाजन चार, तीन, आदि की विभिन्न संख्याओं में भी किया है। पर वे सब उक्त, अनुक्त, बाह्य हेतु भेद इन्हीं उपरोक्त तीन अवस्थाओं के अन्तर्भावित हो जाते हैं। उनमें पहिला "असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग" है। शरीर मे प्राण, श्रोत्र, जिह्वा, चक्षु, त्वक् सज्ञा वाली पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। गन्ध, शब्द, रस, रूप, स्पर्श ये इनके विषय हैं। इन्द्रियों का अपने २ विषयों से असात्म्य, अनुपादेय (हीन, मिथ्या, अतियोग) रूप मे सम्बन्ध होना ही "असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग" नामक बाह्य रोग हेतु है।

जब तक बाह्य भौतिक द्रव्यों का शरीर के साथ सम्बन्ध न हो तब तक उनसे शरीर के हिताहित का कोई कार्य सम्पादित नहीं होता। शरीर से चाहे जिस पदार्थ का सम्बन्ध हो वह बिना इन्द्रियों के संभव नहीं। ज्ञानेन्द्रियां शरीर में पांच हैं, पांच ही इनके विषय हैं। अतः पञ्चविध ही इनका संयोग है। इस पञ्चविध संयोग में से एक एक इन्द्रिय का ही अपने अपने विषय से (अवान्तर अनेक भेदों के कारण) अनेक तरह का संयोग होता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के विषय प्रकाश और रूप अनेक तरह के है। एक प्रकाश के ही योनिभेद से सहस्रों भेद हो सकते हैं। इसी तरह रूप के भी योनि तथा आश्रय भेद से अनेकों भेद

होते ही हैं। पर वे सब अनन्त भेदों से विभाजित होने वाले प्रकाश और रूप सब चक्षु के विषय यानि चक्षु से सम्बन्धित हो कर ही शरीर में धातुसाम्य या धातुवैषम्य की क्रिया पैदा करते हैं। इसलिए वे सब अनन्त होते हुए भी एक ही चक्षु इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने से चक्षुर्ग्राह्यता के सामान्य सिद्धांत से एक ही प्रकार के मान लिए गए हैं जिससे कि उपदेश (विषयप्रतिपादन) का कार्य सक्षेप में सम्पन्न हो जाय।

चक्षु के उदाहरण की तरह अन्य इन्द्रियों के विषय पदार्थों का भी अनेक स्वरूप भेदों से व्यवहार होते हुए भी अपने अपने अनन्त विषयों की अपनी इन्द्रियों द्वारा एक ही तरह की ग्राह्यता होने के कारण ग्राह्यतासामान्य से सबका समावेश एक एक ही में कर लिया गया है। इस तरह अशेष भौतिक द्रव्यों को विषय भेद से पांच वर्गों में विभाजित कर पांच ही तरह के इन्द्रियार्थसंयोगों में समाविष्ट कर लिया है। जो कि प्रवचन शैली से अत्यन्त उचित व युक्तिसंगत है।

उपर्युक्त पांच भागों में विभक्त किया गया इन्द्रियार्थसंयोग" संयोग भेद से चार प्रकार का है। १. हीनयोग २. मिथ्यायोग ३. अतियोग ४. समयोग। इन में से समयोग तो स्वास्थ्य का हेतु है। क्योंकि शरीर के निरन्तर कार्य में व्यापृत रहने से शारीरिक शक्ति की जो कमी प्रतिदिन होती रहती है, उसको पूर्ति समयोग से ही सम्पादित होती है। अत: यह समयोग ही स्वास्थ्य की परम्परा बनाए रखने का साधन है। बाकी रहे हीन, मिथ्या, अतियोग" वे इन्द्रियार्थसंयोग में असात्म्य विपरीत फल पैदा करने के कारण रोग के निदान कहे जाते हैं।

इस तरह स्पर्श व अन्य इन्द्रियों से ग्रहण किए जाने वाले जितने भी विषय हैं, उनका स्वकीय इन्द्रियों के साथ हीन, मिथ्या अतियोग रूप से सम्बन्ध होने से सब एक ही "असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग" नाम रोग हेतु कहे जाते हैं। ऐसे ही शरीर, मन और वाणी से जितने भी कर्म व्यापार होते हैं उनका परिणाम यदि शरीर में धातुवैषम्य उत्पन्न करने वाला होता है, तो वह "प्रज्ञापराध" नाम से आयुर्वेद में व्यवहृत किया जाने वाला दूसरा धातुवैषम्योत्पादक हेतु है। इसी तरह कालज-शीतोष्ण वर्षा आदि धर्मों का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हो अथवा समयोग होते हुए भी काल स्वभाव से होने वाले दोष चय, प्रकोप से शरीर को रक्षा न की जाय तो यह कालसंयोगजन्य धातुवैषम्य है। आयुर्वेद इस काल संयोग से होने वाले धातुवैषम्योत्पादक तीसरे हेतु का "परिणाम" शब्द से व्यवहार करता है। उपर्युक्त इन विभिन्न तीन हेतु समुदायों में भारतीय चिकित्सा सिद्धांत से उक्त, अनुक्त, ज्ञात, अज्ञात, सभी हेतुओं का सामान्यतः समावेश हो जाता है।

देशी चिकित्सा पद्धति के अनुसार जितने भी निदानग्रन्थ (रोगोत्पादक हेतुओं के वर्णन करने वाले ग्रन्थ) निर्मित हैं उनमें स्थान स्थान पर प्रतिरोग के हेतुओं का जहां जहां प्रबन्ध

किया गया है, वहां वहां इन्हीं उपरोक्त तीन वाक्य हेतुओं के उदाहरण मिलेंगे। अतः सामान्यतः यही तीन कारण धातुवैषम्योत्पादक माने गए हैं।

इन प्रमुख निदान रूप हेतुओं के अतिरिक्त और भी जो विशेष सूक्ष्म रोगोत्पादक हेतु हैं उनका भी सब जगह दिग्मात्र से विवेचन कर दिया गया है। पर यह ध्यान में रहे कि ये सूक्ष्म विशेष रोगोत्पादक हेतु सयोगों में उन सामान्य हेतुओं की तरह सर्वदा सब अवस्थाओं में अनुबन्धी ही हों यह नियम नहीं है। इन कारणों की स्थिति विशेष है अतः वे अव्याप्त विशेष हेतु हैं जिनका सम्बन्ध विशेष स्थिति व विशेष अवस्था से है।

इस तरह सामान्य विशेष रूप से रोगोत्पादक धातुवैषम्य पैदा करने वाले बाह्य निदान का उपयोग, व्यवहार व सम्बन्ध शरीर से होता है। तब तज्जन्य शरीर में अनेक प्रकार के विभिन्न व्यापार होते हुए दिखाई पडते हैं। जैसे कुछ कारण तो ऐसे हैं कि जिनसे पहिले धातुवैषम्य पैदा होकर पश्चात् रोग उत्पन्न होते हैं। कुछ कारण ऐसे हैं कि जो रोग पहिले पैदा कर फिर तुरन्त ही धातुवैषम्य की क्रिया आरम्भ करते हैं—

पहिले प्रकार के हेतुओं का जब शरीर में सम्बन्ध होता है तब वे संचय, प्रकोप, प्रसरण, स्थान सश्रयादि अवस्थाक्रम से दोषों का व्यापार करते हुए शरीर की साम्यावस्था (शरीर के मौलिक तत्वों की स्वाभाविक दशा) की वृद्धि, ह्रास के रूप में बदल कर पश्चात् किसी रोग की अभिव्यक्ति करते हैं।

दूसरे प्रकार के हेतु जो पहिले रोग पैदा करते हैं वे पश्चात् रोगोत्पत्ति के साथ ही उपरोक्त उसी क्रम से दोषों का संचय प्रकोपादि व्यापार पूरा करते हैं। बाह्य निदान से रोगोत्पादक ये उभय प्रणालियाँ क्रम से पहिली निज व दूसरी आगन्तुज सज्ञा धारण कर अपनी प्रणाली से उत्पन्न होने वाले रोगों को भी निज तथा आगन्तुज नाम भेद से दो रूपों मे विभाजित कर देती हैं।

इनका यह रोगोत्पादक व्यापार अवश्य विभिन्न रूप में दो प्रकार का दिखाई पड़ता है, पर रोग के उत्पन्न होने के पश्चात् दोनों प्रणालियों की सर्वथा एक ही स्थिति हो जाती है।

विशेष—

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि आगन्तुज हेतुओं से उत्पन्न होने वाला रोग जब दोषों के चय, प्रकोप प्रसरणादि अवस्थाक्रम के बिना ही उत्पन्न हो जाता है तब रोग पैदा होने के पश्चात् दोषनिबन्ध या धातुवैषम्य का सम्बन्ध आगन्तुक हेतुओं से जोड़ना व्यर्थ है। कारण आयुर्वेद सिद्धान्त से तो कोई भी रोग 'दोषवैषम्य' के बिना होना ही नहीं, और आगन्तुक हेतु दोषवैषम्य किये बिना रोग पैदा करता ही है, इससे मुख्य सिद्धान्त में अव्याप्ति दोष आता है। 'धातुवैषम्य' का परिणाम है रोग उत्पन्न होना, यदि धातुवैषम्य हुए बिना ही रोग उत्पन्न हो गया तो फिर दोषवैषम्य होने का क्या परिणाम ? व क्या सार्थकता ?

है। देखने में यह शङ्का सर्वथा उपादेय प्रतीत होती है। पर यदि यह इस गम्भीरता से विचार करें तो शङ्का का स्वतः ही निराकरण हो जायगा।

उदाहरणतः एक तलवार या छुरी या लाठी से किसी ने किसी व्यक्ति पर आक्रमण किया ; दौड़ता हुआ कोई पशु आया उसकी झपेट से कोई व्यक्ति घायल हो गया। मोटर के धक्के से किसी के बेहोशी हो गई। क्लोरोफार्म की तरह किसी जहरीली गैस से कोई मूछित हो गया। सर्प, बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं से कोई काटा गया। इन या ऐसे और भी आगन्तुक कारणों से पैदा होने वाले रोग हम आगन्तुक रोग व तदुत्पादक हेतुओं को आगन्तुक हेतु कहते हैं।

रोग चाहे जैसे हेतु से उत्पन्न रोगोत्पादक हेतु का रोग के साथ अनुबन्ध रहना आवश्यक है। हाँ ! उस अनुबन्ध की स्थितियों में हेर-फेर होते रहना सम्भव है पर रोग पैदा करने के साथ ही रोगोत्पादक हेतु का सम्बन्ध विछिन्न हो जाय तो रोग की स्थिति हो ही नहीं सकती। इसको स्वीकार करके भी आप कह सकते हैं कि इससे क्या ? आघातादि जन्य या सर्पादि दंशजन्य जो रोग उत्पन्न होते हैं उनके हेतु का सम्बन्ध उसी क्षण विछिन्न हो जाता है पर हेतु जन्य परिणाम का तो सम्बन्ध विच्छेद के साथ विनाश नहीं होता आघात व दंश के कारण शरीरस्थ तत्वों पर जो विपरीत प्रभाव पड़ता है उसके निवारण में समय की अपेक्षा रहती है। रोग की स्थिरता के लिए यह युक्ति उपादेय नहीं है। कारण आघात व दंश करने वाले हेतुओं का केवल शरीर की बाहरी स्थिति से ही सम्बन्ध नहीं होता है, प्रत्युत उनका शरीरस्थ उन तत्वों से सम्बन्ध होता है जिन पर स्वास्थ्य व रोग का दारोमदार है। आघात दंशादिजन्य सम्बन्ध क्षणिक काल के अन्तर से रोग व रोगोत्पादक धातुवैषम्य की संचय प्रकोपादि स्थिति को पैदा करने का काम करता है।

जैसे तलवार से शरीर का भाग कट गया। कटते ही "व्रण" रूप रोग की उत्पत्ति हुई, पर व्रण होने के साथ ही व्रण वाले स्थान पर रहने वाले शारीरिक भावों की स्थिति में भी तुरन्त वैषम्य पैदा होने लगता है। व्रण स्थान के त्वक् मांस कट गये हैं, शिरा, धमनी आदि रक्त स्रोतों पर आघात लगने से रक्त प्रवाह का क्रम अनवस्थित हो गया है, क्रिया निष्पन्न करने वाली व परिणामन करने वाली शक्तियों का उस स्थान में ह्रास हो गया है। इस प्रकार से उस आघातज आगन्तु हेतु से रोग उत्पन्न हुवा, पर साथ ही रोग उत्पादक मुख्य हेतु धातुवैषम्य भी अवश्य हुवा और ऐसा होने ही से व्रण के साथ-साथ शोथ रक्तस्राव, अति, पूय आदि अनेक विकृतियों की उत्पत्ति होती है। अतः इससे स्पष्ट है कि आगन्तु हेतु बिना धातुवैषम्य के अनुबन्ध के रोग पैदा करता है ऐसा नहीं, क्योंकि उसका शरीर के शेष भागों से कोई सम्पर्क नहीं होता हो या उससे शरीरस्थ मूलभावों की कोई क्षति नहीं होती हो सो बात नहीं प्रत्युत वह रोग के साथ ही धातुवैषम्य भी करता है। यदि हम इससे विपरीत

आगन्तु हेतु को एकान्ततः रोगहेतु मानें तो यह कथन अयुक्तियुक्त होगा। यह वास्तविकता इस दूसरे उदाहरण से अधिक स्पष्ट समझ में आ सकती है।

हम टिकट लेने की खिडकी पर खड़े हैं, पीछे से टिकट लेने वाले और अनेक व्यक्तियों की धक्कापेल चली आरही है यह भी एक तरह का आघात है और आगन्तु हेतु के रूप का है। पर यह आघात जब तक शरीर के बाहरी स्तर तक ही परिणाम रखने वाला है तबतक धक्का लगा हम आगे पीछे हुये, धक्का रुका हम फिर सुस्थिर हो गये।

किन्तु यदि धक्के का वेग ऐसा आया कि वह बाहरी स्तर को भेद शरीर के भीतरी भाग के किसी अवयव पर व वक्ष की अस्थि या पर्शुका की अस्थि पर दबाव डाल गया तो धक्का रुक जाने पर भी हम उसके परिणाम से छुटकारा नहीं पा जाते। कारण उस धक्के ने हमारे शरीर के आन्तरिक आवयविक भाग में विषमता पैदा करदी है। जब तक वह आंतरिक विषमता दूर न हो तब तक हम तज्जन्य रोग से पीड़ित ही रहेंगे।

रोग या रोग का यह सम्बन्ध केवल शरीर की बाहरी स्थिति से ही नहीं आंतरिक स्थिति से सम्बन्ध रखता है, अतः हमें यह स्वीकार करना होगा कि इन आगन्तुज हेतुओं से पैदा होने वाले रोग भी हमारे शरीर की आन्तरिक स्थिति से या धातुवैषम्य से वैसा ही सम्बन्ध रखते हैं, जैसा पहिले धातुवैषम्य पैदा कर पश्चात् रोग पैदा करने वाले निज हेतु रखते हैं। दशादि या विषाक्त गन्धादि हेतु तो आगन्तुज होते हुए भी स्पष्टतः शरीर के भीतरी भागों पर असर करने के साथ ही धातुवैषम्य पैदा करते ही हैं यह प्रत्यक्ष है ही।

इस तरह उभयात्मक प्रणाली से रोग व रोगानुबन्ध के परिणाम को पैदा करने वाले ये त्रिविध हेतु निजागन्तु संज्ञा से बाह्यहेतु (रोगनिदान) है। यह अत्यन्त संक्षिप्त बाह्यहेतु का दिग्दर्शन मात्र है।

आभ्यन्तर हेतु—

बाह्य हेतु की तरह आभ्यन्तर हेतु के भी बहुत से प्रकार हैं। आभ्यन्तर हेतु का अर्थ है शरीरस्थ कारण। वह कारण प्रधानतः द्रव्य, गुण, कर्माश्रित है शरीर व शरीर के अशेष व्यापार मे इन्हीं तीनों को कार्य करते हुए देखेंगे। इन तीनों की अनेक स्थितियें होती हैं, जैसे—द्रव्य शरीर में धातु रूप से, दोष रूप से, मल रूप से, प्रसाद रूप से, आश्रय रूप से, आश्रयि रूप से, अङ्ग उपाङ्ग भेद व अवयव भेद से विद्यमान रहता है। इसी तरह गुण, धात्वादि मे रहने वाले मधुरादि षड्रस, गुरु, लघु स्निग्ध, रूक्ष, श्लक्ष्ण, कर्कश, द्रव, घनत्व आदि विविध भावों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। तथा कर्म भी शरीर के भीतर वातादि दोषजन्य, रसरक्तादि, धातुजन्य, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, यकृत, प्लीहा, अन्त्र, मस्तिष्कादि यंत्रों द्वारा किये जाने वाले रक्तसंक्रमण, अन्नपचनादि, मल, मूत्र परित्यागादि, धातुपरिवर्त्तनादि विविध व्यापारों को निष्पन्न करते हुये नजर आते हैं। शरीर में रहने तथा विविध कार्य

सम्पन्न करने वाले ये उपरोक्त तीनों द्रव्य, गुण, कर्म बाह्यहेत्वनुसार विकृत होकर स्वकीय विकृति के अनुसार तदनुरूप रोगोत्पत्ति के कारण होते है।

जैसे असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम, ये तीन वर्गीकरण बाह्यहेतुओं के थे कुछ-कुछ वैसे ही द्रव्य, गुण, कर्म रूप से आभ्यन्तर हेतुओं के भी तीन वर्गीकरण हो जाते हैं। जिस तरह रोगोत्पादक प्रणाली की बाह्यहेतुओं मे विभिन्नता थी उसी तरह आभ्यन्तर हेतु में भी रोगोत्पादक प्रणालो में कई विशेषतायें हैं।

ऊपर निर्दिष्ट किये हुये तथा तद्भिन्न और भी जितने आभ्यन्तर हेतु हैं उन सब आभ्यन्तर कारणों में कुछ ऐसे हैं जो दूषकत्व व्यापार से, कुछ ऐसे हैं जो दूष्यत्व व्यापार से, कुछ आश्रय व कुछ मार्गभेद की पूर्ति द्वारा रोग के कारणत्व को प्राप्त होते हैं।

यह ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि आभ्यन्तर हेतु हैं वे विकृत होने पर ही रोगोत्पत्ति के निमित्त बनते हैं। इनकी विकृति एकान्ततः बाह्य हेतुओं के आश्रित है। पर इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक बाह्य हेतु सब प्रकार के आभ्यन्तर हेतुओं को विकृत कर सकते हैं। बाह्य हेतुओं में भी कइयों का प्रभाव केवल दोषों पर ही होता है अन्य भावों पर नहीं।

इसी तरह कुछ बाह्य हेतुओं का विभिन्न २ द्रव्यों पर, कुछ का आश्रय स्थानों पर, कुछ का ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् (शाखा, कोष्ठ, मर्मादि), मार्गो पर, कुछ का द्रव्य आश्रय दोनों पर, और कुछ का मार्ग, आश्रय व द्रव्य तीनों पर प्रभाव पड़ता है। इस तरह नानाविध बाह्य हेतुओं द्वारा नानाविध द्रव्य, गुण, कर्म, रूप आभ्यन्तर हेतुओं की विकृति से विभिन्न २ रोगों की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होने वाले रोग के दोष, दूष्य, देश, काल, प्रकृति, कोष्ठ, वयादि के बलाबल से विविध प्रकार के लक्षण होते हैं। प्रत्येक रोग का हेतुभेद से विकृत दोष, दूष्य, आश्रयानुसार नियत रूप होता है, और होते हैं उसके विशेष गुण, कर्म।

इस अभिप्राय को दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसे कहा जा सकता है—रोग क्या है? शरीर में रहने वाले विविध भावों की विभिन्न रूप में विकृति। शारीरिक के भावों से अभिप्राय है दोष तथा दूष्य। दोष है (वात, पित्त, श्लेष्मा), स्थान तथा कार्य भेद से इनकी जो भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं, भिन्न-भिन्न व्यापार हैं उन सबका समावेश "दोष" काल में ही समझना चाहिए।

दूष्य से अभिप्राय रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र ये सात धातु : शिरा, धमनी, स्नायु, नाड़ी कण्डरादि उपधातु, फुफ्फुस, हृदय, यकृत, प्लीहा, अन्त्र, वृक्कादिक विविध प्रकार के यन्त्र, कला, आशय, विट्, मूत्र, स्वेदादि मलों से है।

दोष, दूष्य के समुदाय का नाम ही "शरीर भाव" है। इन शारीरिक भावों के स्वाभाविक गुण कर्मों की वृद्धि, ह्रास या विपर्यास होना ही रोगशब्दवाच्य है।

शारीरिक भावों के स्वाभाविक गुण कर्म क्या हैं ? शरीर के प्रत्येक अवयवों में, उन अवयवों को बनाने वाले द्रव्यों के स्वरूप, परिणाम, संयोग, लक्षणादि को यथोचित रूप में वताते रहना ये उन भावों के स्वाभाविक गुण हैं।

प्रीणन, जीवन, बृंहण, स्नेहन, धारणादि, रक्त-संचालन, उद्वहन, स्पन्दन, पूरण, विरेचन, पचन, पृथक्करणादि, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संवेदन, संकल्प, अध्यवसायादि, तज्जन्य क्रिया व उसकी अनुभूति कराना, उच्छ्वास निश्वास, परिपाक, विट्मूत्रादि का विश्लेषण व उनका त्याग, शरीर के स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखने के लिए अनवरत होने वाले इन कर्मो का अनुष्ठान है यही इन भावों के प्राकृतिक कर्म हैं।

इन भावों की (अर्थात दोष, दूष्य, शब्दवाच्य शरीरस्थ अशेष क्रियाकलापों की) विकृति (स्वाभाविक गुण कर्मों की स्थिति का परिवर्त्तन) बाह्य कारणों की अनन्तता के कारण अनेक प्रकार की होती है। तो भी संक्षेप में उन विकृतियों का कर्गीकरण किया जाय तो वृद्धि, ह्रास (बढ़ने-घटने के रूप में) रूप दो स्थितियों में ही सम्पूर्ण प्रकार की विकृतियों का समावेश हो जाता है। वृद्धि से सामान्य अभिप्राय बढ़ने का है। पर आयुर्वेद पद्धति से वृद्धि का अर्थ इस रूप में होगा।

शरीर के प्रत्येक भाव (स्थूल सूक्ष्म रूप से किसी भी प्रकार का कार्य सम्पादन करने वाले शरीरस्थ वस्तु समुदाय) का व उन भावों को उत्पन्न करने वाले मौलिक द्रव्यों का स्वरूप से, परिणाम से, लक्षण से, संख्या से या और किसी प्रकार से विवर्द्धित होना "वृद्धि" है। इसका ज्ञान कि अमुक पदार्थ की, अमुक भाव की वृद्धि हुई है, उसके अपने स्वाभाविक गुण धर्मो के बढ़ने से होगा। वृद्धि की विपरीत अवस्था का नाम ही "ह्रास" है।

क्षय की क्षयावस्था से उत्पन्न होने वाले भाव व उनके गुण कर्मो की हेत्वनुरूप वृद्धि होती है। जैसे पित्त का ह्रास हुआ उस स्थिति में पाचन, परिणमनादि, सब भावों की न्यूनता होगी। इससे अपचन, अपरिणामनादि भावों की (जो ह्रास अवस्था के भाव हैं) वृद्धि होगी। रक्त क्षय होने पर रक्त की कमी, अशक्ति, त्वचा में पीलापन, उपचय की न्यूनता आदि रक्त क्षय स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले लक्षण समुदाय की वृद्धि हो जाएगी। मतलब जिस पदार्थ का, जिस द्रव्य का ह्रास होता है, तदनुसार उस पदार्थ व द्रव्याश्रित रहने वाले गुण कर्मों का तो ह्रास होगा, किन्तु ह्रास की अवस्था से उद्भूत होने वाले गुण कर्मो की वृद्धि हो जाएगी। जैसे—किसी व्यक्ति ने ऐसे पदार्थों का अधिक सेवन किया जो सन्तर्पण (शरीर व शरीर के किसी अवयव विशेष में स्नेह, उपचय व गुरुत्व की वृद्धि करने) का काम करते हैं उस सन्तर्पण से यदि किसी अवयव विशेष या धातु विशेष तथा उसके गुण कर्मों की वृद्धि होगी तो तत्सम दूसरे अवयव व धातु विशेष तथा उसके गुण कर्मों

की भी अवश्य वृद्धि होगी, पर साथ ही उससे विपरीत परिस्थिति वाले अवयव तथा धातु व उसके गुण कर्मो का स्वभावतः ह्रास भी होगा।

इसी तरह ह्रास (क्षय) पैदा करने वाले बाह्य हेतुरूप अपतर्पण (रौक्ष्य, लाघव, शोष) सेवन करने से किसी अवयव व धातु विशेष के गुण कर्मों का ह्रास होगा तो तत्सम दूसरे अवयव व धातुविशेष के गुण कर्मों का भी ह्रास होगा पर साथ ही उस ह्रासजन्य उद्‌भूत लक्षणों की वृद्धि भी होगी। ऐसे शरीरस्थ सम्पूर्ण भाव बाह्यहेतु विशेष से वृद्धि ह्रासरूप किसी अवस्था मे बदलने पर परस्पर एक दूसरे भाव की समान विपरीत स्थिति से वृद्धिह्रास के कारण होते हैं। वृद्धिह्रासात्मक द्वैविध्य आभ्यन्तर रोग हेतुओं से शारीरिक अशेष भावों के किस प्रकार वृद्धिह्रास होते हैं, इसका सप्रमाण विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो चरक विमानस्थान का पञ्चम अध्याय अवलोकन करना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि शरीर के किसी भी भाव की विशेष वृद्धि होने पर उससे विपरीत परिस्थिति वाले अन्य भावों के स्वाभाविक कार्यों का क्षय होता है। उस विवर्द्धित भाव विशेष से सम्बन्ध रखने वाले अवयव के कर्म व्यापार में वृद्धिजन्य मान्द्य, शैथिल्य, गौरवादि दोषों से कमी ही होती है।

इस तरह वृद्धि और ह्रास दोनों प्रणालियों से शरीरस्थ भावविशेषों की स्वाभाविक अवस्था में परिवर्त्तन, व स्वाभाविक कर्मव्यापार में जो अनवस्था होती है उसी का नाम "धातुवैषम्य" है। और यह धातुवैषम्य (दोष विकृति) ही रोग का एकमात्र आभ्यन्तर कारण है।

वस्तुतः देखा जाय तो बाह्य हेतु विशेष के सेवन या असम्यक् सम्बन्ध विशेष से शरीर के आन्तरिक भाव या भाव विशेषों की स्वाभाविक स्थिति के अव्यवस्थित होने का नाम ही "रोग" है।

पर यह "रोग" नाम विशेष से सम्बोधित करने की स्थिति में नहीं है। कारण इसकी यह अनभिव्यक्त दशा है। इसके स्पष्ट रूप में व्यक्त होने के लिए कई अन्य व्यापारों की सहायता आवश्यक होती है वे व्यापार हैं—चय-प्रकोप-प्रसरण स्थानसंश्रयादि। आश्रय व्यापारभेदयुक्त वातादि दोष व दूष्य समुदाय में से विभिन्न रूप के दोष दूष्य संयोग विशेष ही चयादि व्यापारों के हेतु हैं। इस दोष दूष्य संयोग विशेष जन्य चय, प्रकोप-प्रसरण स्थान संश्रय तक के व्यापार का नाम आयुर्वेद शास्त्र मे "सम्प्राप्ति" है।

यह सम्प्राप्ति जहां जाकर समाप्त होती (आभ्यन्तर हेतु दोष दूष्य-तज्जन्य चयादि से स्थान संश्रयान्त व्यापार) है वहीं से रोग की अभिव्यक्त अवस्था का आरम्भ होता है जिसको कि आयुर्वेद सम्मत भाषा में हम "रूप" कहते हैं। मतलब, रूपावस्था के आने पर ही ज्वर, अतिसार, अर्श, पाण्डु, क्षय, श्वास आदि रोगों के नाम निर्देश किये जाते हैं।

केवल दोष वैषम्यरूप अवस्था वाला रोग जो कि अव्यक्तावस्था में है किस क्रम से संचयादि अवस्थाओं में बदलता हुआ ज्वरादि व्यक्त अवस्था में पहुँचता है इसको ठीक-ठीक समझने के लिए चयादि अवस्थाओं का समुचित ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि बिना इन अवस्थाओं का यथार्थ ज्ञान हुये रोग का निश्चय सम्भव नहीं है। उन छः अवस्थाओं का किंचित् दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

(१) चय—

दोष की सामान्य वृद्धि वह पहिली अवस्था है जिसको "चय" नाम से सम्बोधित करते हैं। दोष की यह अवस्था अपने आश्रयस्थान तक ही सीमित होती है। वैसे सामान्यतः दोषों को सर्व शरीरगत माना ही है, पर आश्रय व व्यापार भेद से भी दोषों की सीमायें निर्दिष्ट की गई हैं। चय अवस्था दोष की विवर्द्धित स्थिति का नाम है। जिस आश्रय स्थान में जिस जिस दोष का जहाँ तक कार्य व्यापार है, वह स्थान दोष का आश्रय स्थान है। स्वाभाविक दशा में इन स्थानों में दोषों का अपनी उचित अवस्था में आवागमन होता रहता है तब सबसे पहिले इस आवागमन की क्रिया में गड़बड़ी उत्पन्न होती है। अर्थात् आश्रय स्थान उन विवर्द्धित दोषों से व्यावृत हो जाते हैं जिससे कि उनकी स्वाभाविक संचरण क्रिया में रुकावट होने लगती है। विकृति की यह पहिली अवस्था है जो दोषों को अपने अपने आश्रय स्थानों में संचरणशील से असंचरणशील बना देती है। इस अवस्था का हेतु विवर्द्धित दोष भाग से आश्रय स्थान का भर जाना है, अतः इसको चय या संचय दशा कहते हैं।

(२) प्रकोप—

जब इस चयावस्था में दोष संचार का आश्रय रूप वह आशय सब का सब बढ़े हुए दोष से व्याप्त हो जाता है तब वृद्धि करने वाले पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होता है यह चयरूप पहली अवस्था से भिन्न अवस्था है। कारण पहली चयावस्था में दोष संचार की क्रिया के अवरोध के अतिरिक्त किसी भाव विशेष की अभिव्यक्ति नहीं हुई थी। इस दूसरी अवस्था मे उन पदार्थों से विद्वेष पैदा होता है, जिन पदार्थों से शरीर में जिस दोष की वृद्धि हुई थी, अतः यह रोग की आरम्भिक अभिव्यक्तता का श्रीगणेश है। इसको "प्रकोप" संज्ञक दूसरी अवस्था कहते हैं।

उदाहरणतः हमारा कुछ दिन ऐसा खान पान चले जिसमें मधुर, स्निग्ध, शीत, द्रव की प्रधानता हो वह खान पान श्लेष्मा को बढ़ाने वाला है। उससे आश्रयस्थान आमाशय में श्लेष्मा की वृद्धि हुई यह धातुवैषम्य चयरूप प्रथमावस्था वाला है। इससे आमाशय मे दोषों की जो स्वाभाविक क्रिया होती थी उसमें अवरोध होने लगा। पर सम्पूर्ण आशय

ही जब इस चयावस्था से व्याप्त हो जाय तब मधुरादि पदार्थों से (जो श्लेष्म वृद्धि के हेतु हैं) द्वेष होने लगता है। इस भावविशेष की उत्पत्ति से हम समझ जाते हैं कि दोषों की प्रकोपावस्था का आरम्भ हो गया है।

(३) प्रसरण—

प्रकोप के पश्चात दोष जब अपने पूरे के पूरे आश्रय को व्याप्त कर लेते हैं तब वे आगे बढ़ते हैं। आगे बढ़कर दूसरे दोष के संचरण स्थान में प्रवेश करते हैं, इस स्थिति में दोष-वृद्धि के विपरीत गुण वाले पदार्थों की इच्छा, वृद्धि हेतु के समान गुण वाले पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होता है। प्रकोप में केवल वृद्धि करने वाले हेतुओं से द्वेष भावना की उत्पत्ति होती है। यहां द्वेष के साथ साथ वृद्धि करने वाले पदार्थों से विपरीत गुण, धर्म रखने वाले पदार्थों के उपयोग की भी इच्छा होती है। दोष यहां अपने आश्रय स्थान से आगे निकल दूसरे दोष के आश्रय स्थान में चले गए हैं अतः दोषवैषम्य की इस अवस्था को "प्रसर" नाम से कहा जाता है।

(४) स्थान संश्रय—

प्रसरावस्था दूसरे दोष के आश्रय स्थान में प्रवेश करने की संज्ञा थी। दोष जब अपने सञ्चरण स्थान को व्याप्त कर अन्य दोष के स्थान में व्याप्त हो जाते हैं; तब दोषों के विवर्द्धित अवस्था में प्रगट होने वाले को रोक्ष्य, गौरव, ओष्ण्ययादि लक्षण प्रगट होने लगते हैं। इससे हमें यह निश्चय होता है कि दोष स्वाश्रय व्याप्त कर अपर दोष के आश्रय में भी व्याप्त हो गए हैं इसी को आयुर्वेद में "स्थान संचय" अवस्था मानी है।

(५) रोगाभिव्यक्ति—

इस तरह बाह्य हेतुओं से शरीर के भीतर होने वाले दोषदूष्यादिभाव समुदाय की स्वाभाविक अवस्था में उलट फेर होते हुए विकृत दोषदूष्य समुदाय से रोग विशेष के लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है। इसको अभिव्यक्त विकृतावस्था व इसी को व्यक्त रूपावस्था कहते हैं, क्योंकि इसी अवस्था में लक्षणविशेषों की अभिव्यक्ति के कारण, ग्रहणी, पाण्डु आदि रोग का रूप स्पष्टतया प्रगट होता है।

(६) भेद—

उत्पन्न होने के पश्चात् रोग कई अवस्थाओं में परिवर्तित होता है। सुखसाध्य, साध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य, असाध्यादि अवस्थाओं से ही रोग का अल्प या दीर्घकालिक अनुबन्ध बनता है। उपर्युक्त अवस्थाएँ रोग को विभिन्न दशाओं में बदलने का कार्य करती हैं। इसी से आयुर्वेदज्ञों ने इसका 'भेदावस्था' नाम रखा है।

चयावस्था आरम्भ हुई दोषवैषम्यरूप विकृति विभिन्न अवस्थाओं में बदलती हुई अन्त

में भेदावस्था तक पहुँचती है। चय से स्थानसंश्रय तक रोग बनने की अवस्थायें हैं। इन अवस्थाओं में शरीर रोगयुक्त अवश्य रहता है, पर इनमें यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर अमुक रोगग्रस्त है। कारण स्थानसंश्रय तक की दशायें रोग की अनभिव्यक्त दशा के रूपान्तर मात्र हैं। जब अभिव्यक्तावस्था का आरम्भ होता है तभी रोग का नाम निर्देश करने की स्थिति उत्पन्न होती है। क्योंकि उसी अवस्था में जिन लक्षणों से रोगविशेष की संज्ञा होती है उन लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है। अतः अभिव्यक्त व भेदाख्य दशायें रोग व रोग की बदलती अवस्था की ज्ञापक हैं।

इस तरह बाह्य तथा आभ्यन्तर हेतुओं से रोग उत्पन्न होते है। वैसे और भी कुछ ऐसे दूसरे कारण रोगोत्पत्ति के हैं, पर उनका इन आभ्यन्तर हेतुओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरणतः जैसे कुष्ठ, मधुमेह, अर्श, शोथ, वातव्याधि, उपदंश आदि कई "सहज" अर्थात् वंशज संज्ञा वाले अनेक रोग होते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनके कारण वैसे देखें तो माता पिता हैं। क्योंकि, माता पिता में से किसी के यह व्याधि होती है तो वह उसकी सन्तान में भी, उपर्युक्त द्विविध हेतुओं के हुए बिना भी उत्पन्न हो जाती है। पर इसका यह अभिप्राय नही है कि माता पिता के यह रोग था इसी से सन्तान के यह रोग उत्पन्न हो गया या हो जाता है। माता पिता के उपर्युक्त रोग हो कर, उस रोग का प्रभाव माता पिता के शुक्रशोणित धातु (सन्तान के बीजहेतु) पर पड़ता है। जिन माता पिता के शुक्रशोणित कुष्ठादि विकारों से विकृत हो जाते हैं उन विकृत शुक्रशोणित संयोग से जो संतान पैदा होती है उन्हीं के ये सहज वंशज) संज्ञा वाले रोग पैदा होते हैं। बीजभूत शुक्रशोणित में वातादि धातु अनुव्याप्त है अतः उनकी विकृति से ही उनकी विकृति होती है। इसलिए सहज संज्ञा वाले ये रोग हेत्वन्तर से उत्पन्न होते हुए भा इनका उपर्युक्त रीति से आभ्यन्तर हेतुओं में समावेश किया जा सकता है।

सहज की तरह तन्त्रकारों ने रोगोत्पत्ति का एक और भी भिन्न सा कारण निर्दिष्ट किया है, जैसा कि प्रवचन है। "रोगोऽपि रोगकारणम्"।

रोग भी रोग का कारण होता है जैसे ग्रहणी ज्वर, व्रण, नाड़ीव्रण, गण्डमालादि रोगों का अधिक दिन अनुबन्ध रहे तो इनसे "शोष" रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इसी तरह अपने कारण से उत्पन्न हुआ शोष रोग चिरकाल शरीर में रह कर ज्वर ग्रहणी आदि रोगों का जनक बन जाता है। प्रतिश्याय से कास, कास से क्षय ऐसे अनेक रोगों के उदाहरण मिल सकते हैं जो पहिले अपने २ बाह्य आभ्यन्तर हेतु समुदायों से उत्पन्न हो शरीर के जिस आश्रय स्थान में आश्रित हो विकृति पैदा करते हैं, शरीर के उस आश्रय स्थान से सम्बन्ध रखने वाले अपर रोगों के उत्पन्न करने के भी वे कारण बन जाते हैं। इस तरह रोगों का विविध तरह का सांकर्य सामने आता है, पर इन सब का समावेश भी उपर्युक्त रीति से बाह्याभ्यान्तर हेतुओं ही में हो जाता है।

रोग की उत्पत्ति के पश्चात् रोग को परिवर्तित अवस्था में "उपद्रव" रूप अन्य रोगों की उत्पत्ति, सुखसाध्य, साध्य, कष्टसाध्य, असाध्यादि विभिन्न अवस्थायें भी प्रायः प्रति रोग में देखने में आती हैं। बहुत से उपद्रवानुबन्धी रोग हैं उनमें उनकी उत्पत्ति के बाद भिन्न २ रूप के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं उनकी सञ्ज्ञा शास्त्रकारों ने "उपद्रव" नाम से रखी है। उपद्रव रूप में जो रोग उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्ति का मूल कारण वही होता है जो उस रोग की उत्पत्ति का मूल हेतु है। वहाँ वह मूल कारण ही कहीं अपने प्रभाव से तथा कहीं अन्य अपने सहायी कारणों के प्रभाव से विकारोत्पत्ति का हेतु बनता है ऐसा समझना चाहिये।

हम पहले कह आये हैं कि बाह्य निदान है, उसका शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर वह दो प्रणालियों से रोग उत्पन्न करता है। एक वह प्रणाली है जिससे दोषदूष्यसंयोग से संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रयादि क्रम से रोग पैदा होता है। इसको "निज" नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रणाली से उत्पन्न हुए रोगों की भी संज्ञा "निज" है।

दूसरी प्रणाली वह है जिससे पहिले रोग उत्पन्न हो और साथ ही तुरन्त दोषदूष्य, प्रकोप, प्रसरणादि से रोग का अनुबन्ध स्थिर हो। इस प्रणाली को "आगन्तुज" और इस प्रणाली से पैदा हुए रोगों को "आगन्तुज" रोग कहते हैं।

आगन्तुज रोगों के और भी दो प्रकार दृष्टिगत आते हैं। वे हैं स्वतन्त्र रूप से या संक्रमण रूप से। स्वतन्त्र रूप वह है जिसमें शस्त्रादि आघात से व्रणादि की उत्पत्ति हो। संक्रमण रूप वह है जिसमें संक्रामक रोग एक बीमार से दूसरे स्वस्थ मनुष्य में पहुँच जाय। कुष्ठ ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्दादि व्याधियें आयुर्वेद सिद्धान्त से एक से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण कर सकती हैं। ये व्याधियें एक से दूसरे मनुष्य में कैसे पहुंचती हैं, इनके पहुंचने के लिए कई मार्ग हैं जिनको इनके संक्रमण-द्वार कहे गये हैं। जैसे कि चरक सूत्रस्थान के बीसवें अध्याय में निर्देश किया है।

"मुखानि तु खलु आगन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातव्यबन्धनवेष्टनपीड़नरज्जुदहनशस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि।"

अर्थ स्पष्ट है—आगन्तु रोगों के प्रवेश के ये द्वार हैं—नख, दाँत, गिर पड़ना, अभिचार, अभिशाप, अभिषंग, अभिघात, वध, बन्धन, वेष्टन, पीड़न, रज्जु, दहन, शस्त्र, अशनि, भूतोपसर्गादि। अभिचार से अभिप्राय विधिविहित कर्मों का विधिविहीन अव्यवस्थित ढंग से करने से है।

माता पिता गुरुजनादि जिनके प्रति समादरणीय भावना रखनी चाहिये, उनके अन्तः क्लेश से उत्पन्न शरीरस्थ व्यत्यय वह अभिशापजन्य कहा गया है।

अभिषंग से अभिप्राय भूताभिषग से है। हमारे शरीर के साथ बाह्य सूक्ष्म भूतों का भी सम्पर्क होता रहता है, ऐसे सम्पर्क का नाम अभिषंग है। आयुर्वेद-सिद्धान्त से कीटाणुओं का इसी आगन्तुक हेतु भेद में अन्तर्भाव होता है। कीटाणु भी एक प्रकार के सूक्ष्म भूत प्राणी है। इनके संसर्ग से भी व्याधि हो सकती है और वह व्याधि बाह्य हेतु के आगन्तुक कारणों का एक भेद मात्र है। अन्य बाह्य हेतुओं की तरह इस हेतु से जो भी रोग उत्पन्न होता है उसके स्थैर्य का तथा अभिव्यक्ति का सिद्धान्ततः दोष दूष्य ही प्रमुख आश्रय है।

भूतोपसर्ग से अभिप्राय है बाह्य भौतिक (प्रकाश, वायु, जल, पृथ्वी) द्रव्यों की विकृतिजन्य उपद्रव, इसका सम्यग् विवेचन आगे करेंगे। शेष शब्दों का अर्थ स्पष्ट है।

इनके अतिरिक्त रोगपीड़ित मनुष्य के साथ अधिक सम्पर्क रखना, उसके साथ ही एक शय्या पर सोना, एक ही बर्तन में उसके साथ भोजन करना, एक ही वस्त्र ओढ कर एक शय्या पर सोना, जिससे उसके श्वासोच्छ्वास का वायु अपने श्वासोच्छ्वास में आवे, रोगी का झूठा छोड़ा हुआ खाद्य पेय खाना पीना, बिना अच्छी तरह साफ किये उसी के खाये हुये वर्तनो में खाना, उसके ओढने बिछाने के वस्त्र अपने ओढने बिछाने के काम में लाना, रोगी के पहने हुये तथा स्वेदादि से युक्त वस्त्रों को धारण करना, रोगी के व्यवहार में आने वाले तेल, साबुन, छाता, लकड़ी, छड़ी आदि अन्य सामग्री का उपयोग करना, उसकी सूंघी हुई अथवा पहिनी हुई माला आदि का धारण भी एक से दूसरे में रोग पहुँचने के मार्ग हैं। जैसा कि निम्न पद्य में स्पष्ट है।

> प्रसगात् गात्रसस्पर्शात् निःश्वासात्सहभोजनात्।
> एकशय्याशनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
> कुष्ठ ज्वरश्चशोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच।
> औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्तिनरान्नरम् ॥२॥

श्लोक का भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है। आगन्तुक हेतु भेदजन्य संक्रमण रूप रोगोत्पत्ति का समावेश उपरोक्त बाह्य हेतु में ही हो जाता है।

ऊपर के प्रकरण में एक आगन्तु हेतु के द्वार का स्पष्टीकरण शेष रह गया था। वह था "भूतोपसर्ग"। इसको रोगोत्पत्ति का एक विभिन्न रूप भी कह सकते हैं। कारण इसमें एक प्रकार की बीमारी एक ही साथ सहस्त्रों, लाखों मनुष्यों को हो जाती है। आयुर्वेद मे इस प्रकार देश या देश के किसी भाग विशेष में रोग विशेष के फैलाव को "जनपदध्वस" कहते हैं। जनपदध्वस का शब्दार्थ एक रूप की बीमारी का मनुष्य समुदाय पर आक्रमण करना है।

देश भेद से मनुष्यो के आहार बिहार में बहुत अन्तर रहता है। मनुष्यों की शरीर सम्पत् शरीर का उपचय, प्रकृति, बलादि भी भिन्न २ होते हैं। आयु भी मनुष्य की छोटी बड़ी विभिन्न रहती है। इस स्थिति मे सब तरह की विभिन्नतायें होते हुए भी एक तरह

की बीमारी का सभी प्राणियों पर एक साथ आक्रमण क्यों होता है ? आयुर्वेद इसके उत्तर में उन चार हेतुओं का निर्देश करता है। जिन हेतुओं से इस स्थिति का निर्माण होता है। वे हेतु हैं देश, काल, जल, वायु ये चारों मिल कर ही "जनपदध्वंस" को जन्म देते हैं।

निम्न लिखित लक्षणों से इनकी व्यापक विकृति का ज्ञान होता है। चारों हेतुओं में अपेक्षाकृत वायु सबसे प्रधान है।

(१) वायु—

विकृत वायु में सबसे पहिली बात होती है उसके स्वाभाविक गुण व कर्मों में अन्तर, गति में तीव्रता या अत्यन्त शिथिलता, अत्यन्त ठंडापन या अत्यन्त औष्ण्य, अत्यन्त खर या अत्यन्त अभिष्यन्दी, असात्यगन्धयुक्त (गन्ध में असात्यता से अभिप्राय यह है कि जिस गंध से शरीर की स्वाभाविक स्थिति में गड़बड़ी पैदा हो जैसे, विषाक्त गन्ध) अत्यन्त पूतिगंध-युक्त, पूतिगंधयुक्त से अभिप्राय है जिस गंध में वस्तुविशेष के सड़ने पर होने वाली गन्ध हो, सामगन्ध, जिस गन्ध से शरीर में मल, आम, श्लेष्मा, पुरीषादि सड़ने वाली वस्तुओं को अभिवृद्धि होना, असात्म्य वाष्प सम्पन्न।

यद्यपि असात्म्य गन्धादि में अनेक प्रकार के अन्य विकृत पदार्थों का भी सम्बन्ध होता है, ये सब विभिन्न पदार्थ वायु के धर्म नहीं हैं फिर भी विशेष शक्ति वायु की शक्ति है। विकृत परिमाणुओं को वायु अपने द्वारा न मालूम किस देश विशेष में लाकर किस देशविशेष के प्राणियो के शरीर से सम्बन्धित कर देता है। इसलिए विभिन्न पदार्थों के सम्बन्ध द्वारा होने वाली विकृति भी वायु द्वारा व्याप्त होने के कारण वायु ही का व्यपदेश किया गया है।

(२) जल—

जल भी गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श व जल की विशुद्धता को नष्ट करने वाले जीवाणुओं से व्याप्त होकर रोगोत्पत्ति में हेतु होता है। यहाँ भी गन्ध, रस, स्पर्शादि के हेतु जल से भिन्न विविध प्रकार के इतर पदार्थ हैं, पर वे जल के द्वारा ही शरीर मे पहुँचते है अत: उनके प्रवेश के आश्रय साधन रूप जल ही को हेतु रूप में निर्देश कर दिया गया।

(३) देश—

देश से अभिप्राय उस भू भाग से है जिसमें कारण विशेष से विकृति पैदा हो जाय। भूमि में भी उसकी मृत्तिका का वर्ण व उसमे रहने वाले गन्ध, रस, स्पर्शादि (जो भूमि के स्वाभाविक भाव विशेष हैं) की विकृति होती है। वर्ण विपर्यय व गन्ध विपर्यय वर्ण तथा गन्ध की विकृति है। विविध प्रकार के मशक, शलभ, मक्खियें, मूसे, व्यालादि का विवर्धित होना व फैलना, उपवनों मे तृणपत्रादि का अभाव, प्रतानादिकों की आवश्यकता व औचित्य

से अधिकता, असमय में औषधियों की उत्पत्ति पाक व विनाश ये सब भूमि की विकृति के निर्देशक हैं।

४ काल—

संपूर्ण संसारव्यापी, व प्राणियों के शरीरव्यापी भावों को क्षण क्षण में विलक्षणता प्रदान करते हुए उद्भिद, जंगम, अंडज, स्वेदज, सम्पूर्ण स्थावर जंगमादि रूप और पार्थिवादि भौतिक द्रव्यसमूह रूप द्रव्यों में उलट फेर करते हुए काल जनपदध्वंस का कारण बनता है। इन भौतिक द्रव्यों की विकृति किन हेतुओं से होती है; वे हेतु क्यों और कैसे पैदा होते हैं ? इनका विस्तृत विवरण जानना हो तो चरक विमानस्थान का "जनपद-विध्वंसनीय" अध्याय देखना चाहिए। युद्ध भी जनपदध्वंस के कारणों मे एक विशेष कारण है। जिसका परिणाम भयंकर रूप से अशेष भारत में व्याप्त होने वाले इन्फ्लूएजा से लगाया जा सकता है। रोगोत्पत्ति के इस कारण का भी बाह्य, आभ्यन्तर हेतुओं में सम्यक् अन्तर्भाव हो जाता है। कारण बाह्य भौतिक पदार्थों की व्यापक रूप से विकृति हो तब उनका सम्बन्ध शरीरस्थ आभ्यन्तर हेतुओं से होता ही है। अतः बाह्य हेतुओं का बाह्य में और आभ्यन्तर हेतुओं का आभ्यन्तर मे अन्तर्भाव संगत है। ये रोगोत्पत्ति की कुछ विभिन्नताएं प्राचीन पद्धति के अनुसार हैं।

अब थोड़ा सा विचार उस "कीटाणुवाद" पर भी कर लिया जाय जो आधुनिक पद्धति में रोगों के उत्पादन का विशेष हेतु स्वीकार किया गया है।

'कीटाणुवाद' के सिद्धांत में मेरा ध्यान है जहां तक यह निर्देश सिद्धांतरूप से किया गया है कि प्रत्येक रोग के भिन्न-भिन्न कीटाणु होते है। अब कीटाणु के रोगकारणत्व पर विचार करिये। आधुनिक विवेचन जो कीटाणु की रोगोत्पत्तिहेतुता पर है उसके सुनने व समझने से ज्ञात होता है कि स्वयं कीटाणु अपने आप बिना अपर हेतुओं की सहायता के शायद बहुत ही थोड़े जैसे कुष्ठादि कुछ रोग ही स्वातन्त्र्य रूप से उत्पन्न कर सकते हैं।

अधिकांश कीटाणु हैं वे संक्रमण रूप से ही रोगोत्पत्ति में कारण होते हैं। उत्पादकत्व और संक्रमणत्व में पर्याप्त अन्तर है। उत्पन्न करने में तो उस हेतु की स्वकीय सत्ता का प्राधान्य रहता है। संक्रमण में वह किसी अपर पदार्थ या अपर हेतु के आश्रय से किसी व्यापार की पूर्ति करता है। जिन कृमियों में स्वतन्त्र रूप से उत्पादकत्व धर्म है उन कृमियों मे खुद की उत्पत्ति, पोषण व वर्द्धन के उत्पादक कौन हैं ? मानना पड़ेगा कि वायु, जल, देश, काल इन्हो से कृमिविशेष की उत्पत्ति व पोषण वर्द्धन होता है।

जल वायु आहार रूप से, देश विशेष विहार रूप से उन-उन कृमियों के (जो जो जैसे जैसे जलवायु देश मे पैदा हो सकते हैं) उत्पादक, पोषक व वर्द्धक हेतु हैं। सामान्य सिद्धांतानुसार इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न कीटाणुओ के तदनुकूल जल, वायु देश ही उनके

कारण हैं। जैसा कि आधुनिक विवेचन से स्पष्ट है कि काला आजार आदि के कीटाणु देश विशेष ही मे पाये जाते हैं। इससे सिद्ध हो ही जाता है कि जल वाय्वादि ही कीटाणुओं की उत्पत्ति आदि के हेतु हैं। लोक में वे ही वायु, अग्नि, सोम के नाम से और शरीर में वात, पित्त, श्लेष्मा के नाम से व्यवहृत होते हैं। अतः इन सोम, सूर्य अनिल, जल, वाय्वादि यानि वात, पित्त, श्लेष्मा की अनुकूलता ही ससार में सब प्रकार के जंगम, उद्भिद प्राणियों की तथा उन्हीं मे अन्तर्भावित विविध कीटाणुओं की उत्पत्ति वृद्धि का कारण है। इन त्रिविध त्रयसघात (जल, वायु, अग्नि, सोम, सूर्य, अनिल, वात पित्त, कफ) की प्रतिकूलता उभयात्मक प्राणियों के विनाश का कारण है। इस तरह सब जगह वात, पित्त, कफ का अव्यभिचार सम्बन्ध है। केवल आगन्तु हेतु मे पौर्वापर्य के भेद को छोड़ और कोई भिन्नता कीटाणुओं के हेतुत्व मे विशेष प्रतीत नहीं होती।

ससार में वायु, सूर्य, सोम हैं वे ही शरीर मे वात, पित्त, श्लेष्मा कैसे माने जायें तदर्थ आयुर्वेद में सुश्रुत तथा चरक में स्पष्ट निर्देश किया गया है :

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥१॥—सुश्रुत अ० २१ सूत्र०
लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥१॥—चरक चिकित्सा अ० २८

जैसे सोम, सूर्य, अनिल संसार को धारण करते हैं वैसे ही मनुष्य शरीर को वात, पित्त, कफ धारण करने वाले हैं। जिस तरह संसार में वायु, सूर्य और सोम की अशेष गतियों का ज्ञान होना सम्भव नहीं है इसी तरह शरीर में व्यापार करने वाले वातादि दोषों की भी अशेष गतियों का ज्ञान होना सम्भव नही है। उपरोक्त जितने भी रोगोत्पत्ति के हेतुभेदों का विवेचन किया गया है उन सबका समाहार आयुर्वेद के उन्हीं उभयात्मक रोगोत्पादक बाह्य आभ्यन्तर हेतुओं मे हो जाता है।

इन बाह्य, आभ्यन्तर हेतुओं से शरीरस्थ धातुओं का वैषम्य होता है, धातुओं का यह वैषम्य ही "रोग" शब्दवाच्य है। इस तरह आयुर्वेद सिद्धांत से अशेष व्याधियें जो आज तक संसार में व्यक्त हो चुकी हैं तथा भविष्य में जो और व्यक्त होंगी उन सबका एक ही कारण रहा है तथा रहेगा और वह एकमात्र कारण है आयुर्वेद के शब्दों में "धातुवैषम्य"।

धातुवैषम्य से अभिप्राय है शरीरस्थ अशेष व्यापक धातुओं से। वे हैं शरीरस्थ वात, पित्त, कफ। अतः वात, पित्त, कफ की विकृत अवस्था का नाम रोगावस्था है। कोई भी रोग किसी भी कारण विशष से क्यों न हो? वात, पित्त, कफ की विकृति उसमें अवश्य होगा। चाहे रोग कीटाणुओं से हो, चाहे रोग आहार-विहार की अनवस्था से हो, चाहे

संसर्ग से, चाहे रोग से रोग हो। जितने भी रोगों को पैदा करने वाले कारण समूह विभिन्न चिकित्सा शास्त्रों ने कहे हैं उनका सम्बन्ध अशेष शरीर में व्याप्त रहने वाले वातादि दोषों से हुये बिना नहीं रहता। अवयव विशेष की व्याधि, आशय विशेष की व्याधि, मार्गविशेष के रोग सबका सम्बन्ध वातादि दोषों से है उन्हीं की विकृति से अवयव, आशय, मार्ग की विकृति होती है। अत: विकृति के मूलाधार वातादि दोष ही हैं।

यदि हम अवयव विशेष आशय विशेष या मार्ग विशेष को रोग हेतु मानें तो वे न तो अशेष शरीरव्यापी हैं, न ही उनके एक के व्यापार से शरीर के ऊपर सम्पूर्ण व्यापारों से सम्बन्ध रहता है इस स्थिति में रोग की उत्पत्ति व उसका सम्पूर्ण शरीर से सम्बन्ध सम्भव नहीं। रोग उत्पन्न होने के बाद उसका प्रतिफल सम्पूर्ण शरीर पर होता है। यह प्रत्यक्ष है ही। फिर उपरोक्त हेतुओं से सब प्रकार की व्याधियें हों यह भी सम्भव नहीं। कारण व्याधि से उसका अपना सम्बन्ध तो अवश्य रहना ही चाहिये सब बीमारियें ऐसी होती नहीं जिनका सम्पूर्ण अवयवों, श्रोतों व आशयों से सम्बन्ध हो। अतः यह कथन तो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

अब रही कीटाणुओं की बात। कीटाणुओं के विषय में जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सब के सब रोगोत्पादक कीटाणु अपने आप बिना किसी की सहायता के रोग उत्पन्न नहीं करते बहुत से कीटाणुओं के लिए अन्य सहायी कारणों की पूरी-पूरी अपेक्षा रहती है। इस स्थिति में वे सक्रामक रूप के हेतु होते हैं न कि उत्पादक रूप के हेतु। फिर वे कीटाणु कभी कभी बहुत समय तक शरीर में रहते हुए भी रोग पैदा नहीं करते।

जब कीटाणु ही व्याधि है और वे हेतु विशेष से या सहायी कारणों से शरीर में पहुँच गये तो शरीर में पहुँचते ही व्याधि पैदा हो जानी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। बहुत सी बीमारियों के कीटाणु शरीर में मौजूद रहते हुए भी बीमारी पैदा करने में सफल नहीं होते जैसे टी० बी० के कीटाणु ये अर्से तक मनुष्य के शरीर में जीवित अवस्था में रहते हैं पर रोग पैदा नहीं करते। इससे यह व्यभिचार स्पष्ट है कि कीटाणु शरीर में पहुँच जाने पर भी कभी रोग पैदा कर देते हैं कभी नहीं। पहिली कमी तो उन्हें शरीर में पहुँच जाने के आश्रय की है दूसरी फिर शरीर में पहुँच जाने के बाद भी ऐसी अनुकूल अवस्था की अपेक्षा की है। जिसमें वे रोग पैदा करने में सफल हो सकें इस स्थिति से उनकी स्वतंत्र रोगोत्पादक सत्ता स्वीकार करना कैसे संगत है?

जब शरीर की रोगनिवारक शक्ति न्यून हो जाय तभी शरीर में गये हुये कीटाणु रोग पैदा कर पायें तो फिर रोगोत्पत्ति का विशेष कारण तो शरीर की रोगनिवारक शक्ति की न्यूनता को मानना चाहिए। कारण उसकी कमी ही रोगावस्था का कारण बनती है। यदि शरीर में रोगनिवारण शक्ति सबल है तो कीटाणु डेरा डाले ही पड़े रहेंगे। उनकी दाल

तब तक गलती नही है जब तक शरीर की रोग निवारक शक्ति न्यून होकर उन्हें अपना अड्डा जमाने की सहायता नहीं देती। रोग निवारक शक्ति को कम करना या अधिक करना ये कीटाणु का काम नहीं। वह होती है इनसे भिन्न कारणों के कारण। इस स्थिति में कीटाणुओं की रोगोत्पादकता कहाँ तक सिद्धांत के रूप में स्वीकृत की जानी चाहिए यह प्रश्न विचारणीय है। यदि कीटाणुओं द्वारा रोगोत्पत्ति ऊपर लिखे ढ़ंग से ही हो सकती है तो फिर कीटाणुओं का बाह्यहेतुओं ही में अन्तर्भाव होगा। रोग के मूल कारण कीटाणु नहीं हो सकते।

एक उदाहरण भी इस बारे में दे दिया जाय तो असंगत नहीं होगा। डाक्टर त्रिलोकी-वर्मा ने कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं उनमें एक है "स्वास्थ्य और रोग" वे उस पुस्तक में रोगोत्पत्ति के अनेक कारण बतलाते हुए- जहां कीटाणुओं से रोग होने के प्रकरण में पहुँचता है वहां वे लिखते हैं:— (पृष्ठ १०४) "दो आदमियों के एक ही प्रकार की चोट लगती है एक के फोड़ा बना जाता है, दूसरे के नहीं। दो आदमी ठन्ड में सोते हैं, एक के जुकाम होता है दूसरे के नहीं ऐसी ऐसी बातें हम प्रतिदिन देखते हैं। यदि कीटाणुओं से ही रोग होते हैं तो क्या कारण है कि एक मनुष्य को रोग हो, दूसरे को नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि हमारे शरीर में एक शक्ति होती है जिसको रोग नाशक शक्ति कहते हैं। यह स्वाभाविक शक्ति किसी मनुष्य में कम होती है किसी में ज्यादा। वह शक्ति जितनी कम होती है उतनी ही रोग होने की संभावना अधिक होती है। यह रोग-नाशक शक्ति भिन्न भिन्न रोगों के लिए भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न मात्रा में पाई जाती है। थकान, अच्छा और पौष्टिक भोजन प्राप्त न होना, खराब जलवायु, रंज और फिक्र किसी रोग से बहुत समय तक पीड़ित रहना और ऐसे ही अन्य कारण रोगनाशक शक्ति को कम करते हैं।

रोगाणुओं से रोग उत्पन्न होने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है:—

(१) प्रबल रोगाणुओं का शरीर में प्रवेश करना।

(२) किसी व्यक्ति में उस समय रोगनाशक शक्ति का कम होना या न होना।

जब ये दो बातें साथ साथ मिलती हैं तभी रोग उत्पन्न होता है।

यदि यह विवेचन आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार है तो स्पष्ट ही है कि रोगोत्पादक कीटाणु स्वतन्त्र रूप से सर्वदा रोग पैदा कर सकें यह बात नहीं। उनको दो सहायतायें मिलने पर ही वे रोगोत्पत्ति के हेतु बनते हैं। पहिली सहायता शरीर में प्रवेश करने की और वह भी प्रबल समूह व प्रबल शक्तिसम्पन्न होने के बाद। पहिली सहायता की ठीक पूर्ति हो जाने पर भी यदि शरीर में रोगनिवारक शक्ति सामना करने को तैयार मिली

तो शरीर में कीटाणु शक्तिसमूह पहुँच जाने पर भी काम बनेगा नहीं। अतः दूसरी सहायता रोगनिवारक शक्ति की न्यूनता वही मुख्य रोगोत्पत्ति में साधन रूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कीटाणु रोग तभी पैदा कर सकते हैं जब शरीर की स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति क्षीण हो जाय। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहा जा सकता है कि, जब तक शरीरस्थ भावों की स्वाभाविक शक्ति व्यवस्थित रहे तब तक कोई रोग पैदा नहीं होता। चाहे कीटाणुओं की फौज का धावा होता ही रहे।

शरीरस्थ भावों की स्वाभाविक व्यापार शक्ति से न्यूनता होने पर ही रोगोत्पादक कीटाणु अपना काम कर पाते हैं। शरीरस्थ भावों की स्वाभाविक शक्ति या स्वाभाविक व्यापार को ठीक रखने का नाम "धातुसाम्य" है। इनके व्यापार व इनके कर्मों की अव्यवस्था का नाम ही "धातुवैषम्य" है। आयुर्वेद का धातुवैषम्य और शरीरस्थ स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति की न्यूनता एक ही बात है। इस स्थिति में कीटाणुओं की रोगोत्पत्ति में कितनी स्वतन्त्र सत्ता है यह अज्ञात नहीं रहता। फिर कीटाणुओं की प्रमुखता का खण्डन वैज्ञानिक प्रकृति की चिकित्सा से भी होता है। जैसे:—क्षय रोग। इसकी चिकित्सा की जाती है वह कीटाणुओं को विनष्ट करने की नहीं की जाती। यदि क्षय, टी. बी., के कीटाणुओं से होता है तो जैसे मलेरिया के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए क्वीनैन का प्रयोग किया जाता है। वैसे ही टी. बी. के कीटाणुओं को विनष्ट करने का भी कोई विशेष औषध प्रयोग किया जाना चाहिए था पर देखने में आता है कि ऐसा न होकर चिकित्सा की जाती है। शरीर की स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति को सबल करने की सुवर्ण के इन्जेक्सन खाद्य पदार्थों में अधिक विरेमन पैदा करने वाली सामग्री विश्राम, मनोविनोद, स्वच्छ हवा से रहना, ये सब उपचार शरीर के बल वर्ण प्रसाद को विवर्द्धित करने वाले हैं। इन उपचारों का टी. बी. के कीटाणुओं पर कोई घातक असर होता हो यह नहीं। इस उपचार से यही सिद्ध होता है कि-यदि शरीर सबल हो जाय-शरीर की क्षीण हुई स्वाभाविक शक्ति अपने ठीक रूप में बन जाय तो टी. बी. के कीटाणु चाहे बने रहें पर मनुष्य क्षय रोग से छुटकारा पा जायगा। अब आयुर्वेद के सिद्धान्त से इसकी समानता करें तो शब्द भेद के अतिरिक्त सिद्धान्त क्या भेद रहता है? आयुर्वेद के सिद्धान्त से बाहरी जितने भी दोष प्रकोप के हेतु है, उनके ससर्ग से शरीर के भीतर रहने वाले वातादिधातुओं में वैषम्य पैदा होता है। उसीसे रोग पैदा होता है। वातादि वैषम्य का निवारण कर दिया जाय। रोग निवृत्त हो जायगा। आयुर्वेद की चिकित्सा में इसी तत्व की प्रधानता रक्खी गई है। प्रकुपित हुए दोषों को समत्व स्थिति में लाना ही उपक्रम है। दोषों की सम स्थिति ही "स्वास्थ्य" का कारण है। उचित रोग निवारक शक्ति सम्पन्न शरीर ही स्वस्थ्य शरीर कहा जाता है।

कीटाणु शरीर में पहुंच कर शरीरस्थ धातुओं या आशयों व स्त्रोतों की परस्थिति में कमी वेशी कर के ही तो रोग पैदा करते हैं। तब उस शरीर के अवयव विशेष, आशय विशेष, धातु विशेष, स्त्रोत विशेष, की कमी वेशी हो को रोग क्यों न कहा जाय ? वस्तुत: रोग तो वही है—उस कमी वेशी के करने के जैसे अतिश्रम, अतिव्यषाय, रूक्ष-भोजन, वेगनिरोध, असात्म्य भोजन, विरुद्ध भोजन, अकाल भोजन, दूषित, देश, काल, वायु अनुपादेय विहारादि कारण हैं। वैसे ही एक कीटाणु भी कारण हो सकता है।

इस तरह रोगोत्पादक कीटाणुओं का निदान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। छूत से जो कीटाणु रोग पैदा करते हैं–वे संक्रामक हैं। रूप के हेतु हैं। ये भी शरीर में जाकर उसी तरह शरीरस्थ किसी भाव की कमी वेशी करते हैं। इनकी हेतुता में ही थोड़ा भेद है। यह संक्रामक रूप से वैषम्य पैदा करते हैं। जैसा कि पीछे विवेचन किया जा चुका है।

आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख पांच हेतु रोगोत्पादक माने गये हैं। उनमें से एक हेतु छूत है। छूत से होने वाली बीमारियां हैं वे ही कीटाणु-जीवाणुजन्य है। शेष चार हेतु निम्न रूप से निर्देश किये गये हैं :

१ वंशानुगत (माता-पिता के कारण)।

२ अज्ञात कारण—(जिन बीमारियों का अभी यह निश्चय नहीं हुआ कि ये किन्हीं कीटाणुओं से पैदा होती हैं या नहीं)।

३ अपौष्टिक भोजन—(विटेमिनों की न्यूनता वाली खूराक)।

४ रोग से रोगोत्पत्ति—(एक बीमारी के कारण शारीरिक रोगनिवारक शक्ति के न्यून हो जाने से दूसरा रोग हो जाना)।

इनमें से अज्ञात कारण को छोड़, वंश-परम्परा, मिथ्या आहार-विहार, रोग से रोग पैदा करने वाले हेतुओं को आयुर्वेद में दोष प्रकोप के हेतु माने ही गये हैं। अज्ञात कारण आयुर्वेद में स्वीकार नहीं किया गया है। आयुर्वेद सिद्धान्त से ज्ञात अज्ञात जो भी कारण हैं वे सब दोष प्रकोप के निमित्त हैं। रोग पैदा होता है वह दोष प्रकोप के कारण से होता है। अतः दोषप्रकोप के हेतु का ठीक-ठीक पता न लगे तो भी रोगोत्पत्ति अज्ञात नहीं रहती। दोष सम्बन्ध से रोगोत्पत्ति का ज्ञान हो ही जाता है। आयुर्वेद मानता है कि—सब रोग संसार में अभिव्यक्त हो चुके हों, ऐसी बात नहीं। कालभेद से नवीन रोगों की उत्पत्ति होती रहती है। रहन-सहन, खान-पान के बदलने वाले तरीके तथा देश की भौगोलिक स्थिति के बदलने व कालान्तर से ऋतु आदि के भेद होने से नवीन योग भी पैदा हो सकते हैं। पर चाहे जब चाहे जिन कारणों से रोग पैदा हो वह शरीरस्थ वातादि दोषों की विकृति के बिना नहीं होगा। अतः आगे होने वाले रोगों का भी दोषवैषम्य में समाहार किया हुआ है।

इस तरह आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से जिनको रोगोत्पादक हेतु माने गये हैं। आयुर्वेद में वे दोष प्रकोप के हेतु हैं। यह शब्द-भेद अभी शायद निवृत न हो, पर सम्भव है समय आये कि प्रत्येक रोग के विभिन्न कारण मानने की अपेक्षा, सभी रोगों का एक कारण आधुनिक विज्ञान स्वीकार कर लें और वैसा हो सकना अधिक असंभव नहीं है। कारण, अब ऐसा तो माना जाने ही लगा है कि शरीर में एक स्वाभाविक रोगनाशक शक्ति है। उसकी कमी ही रोग पैदा होने का मुख्य हेतु है। यह रोगनाशक स्वाभाविक शक्ति ही किन मौलिक तत्वों के आश्रित है। इसका निर्णय होते ही उपरोक्त प्रश्न का निवारण हो जाएगा।

आयुर्वेद इस शक्ति का आश्रय वात, पित्त, श्लेष्मा को मानता है। एवं सम्पूर्ण रोगों का हेतु त्रिदोषों का वैषम्य है।

नोट—यह विशेष कथन मेरा अपना है। इसका सम्बन्ध पूज्य स्वर्गीय स्वामीजी के कथन से नहीं है। इस विशेष कथन में जो कुछ सैद्धांतिक त्रुटियां हों तो वे मेरी अपनी ही हैं। इस कथन की विशृंखलता का सम्बन्ध स्वामीजी के कथन से न जोड़ा जाय।

यह द्वितीय प्रश्न के (अ) भाग का उत्तर हुआ। इसके आगे द्वितीय प्रश्न के (आ) भाग का उत्तर उल्लेखित किया जाता है। इसमें यह ज्ञात किया गया है कि—आपकी पद्धति से—रोग का निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक व्यक्ति के यही रोग है। उसके जानने के और निश्चय करने के उपकरणों का उल्लेख किया जाय।

रोगपरीक्षा-प्रकार

आयुर्वेद पद्धति के आश्रय से जो वैद्य रोग निश्चय करने के लिए अवधानतापूर्वक उद्यत हों उनको निम्न तीन उपायों का आश्रय लेना होता है। १ उपदेश, २ प्रत्यक्ष प्रमाण, ३ अनुमान प्रमाण।

(१) उपदेश

अभिप्राय यह है कि अध्ययन पद्धति से योग्य गुरु द्वारा शास्त्रानुसार प्रति रोग के हेतु लक्षण बतलाने वाले सूत्रों का श्रवण, मनन और गुरु द्वारा रोग परीक्षा का स्वकीय अनुभव व उसका प्रत्यक्षीकरण। आप्त ऋषियों द्वारा तन्त्रोपदेश से ही रोगों के बाह्य और आभ्यन्तर कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक उसका स्वरूप विविध प्रकार की होने वाली रोग विशेष की वेदनाए, उसके आश्रय व प्रसार के स्थान, उपद्रव, उसके प्रतिकार के लिए विभिन्न प्रकार से की जाने वाली चिकित्सा और उसके निवृत होने के लक्षणों का यथार्थ ज्ञान होता है। इस तरह शास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा रोग का ज्ञान कर लेने पर वैद्य रोग-परीक्षण के लिए प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण का आश्रय लेता है।

प्रत्यक्ष में अपनी चक्षु, त्वक्, श्रवणेन्द्रियादि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा रोगी के शरीर में रोग विशेष से उत्पन्न होने वाले शब्द स्पर्श रूपादिकों का परीक्षण करता है।

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा रोग में क्या-क्या विशेष शब्द ज्ञातव्य हैं ? जैसे—अतिसार में फेनयुक्त शब्द करते हुए रक्त का निस्सरण है वह ज्ञात कराता है। रक्त प्रेरक यहां वायु है। आंतों मे गुड़गुड़ाहट, सन्धियों में होने वाले शब्द, रोगी के अवयव विशेष में होने वाले शब्द, आवाज में स्वर विशेष का परिवर्त्तन ये श्रवणेन्द्रियों द्वारा जानने पड़ते हैं। स्वर विशेष में दो भेद हैं। मनुष्यों की आवाज प्रकृति-भेद से भिन्न-भिन्न होती है। अत: एक स्वर तो वे हैं जो मनुष्य के प्रकृति भेद से स्वाभाविक होते हैं। इन स्वाभाविक स्वरों में रोगानुबन्ध से अन्तर पड़ जाता है। जैसे—क्षय, प्रतिशाय, कास आदि रोगों में स्वर की विकृति हो जाती है। ये विकृत हुए स्वर अस्वाभाविक हैं। ऐसे अस्वाभाविक, स्वाभाविक स्वर का ज्ञान श्रवणेन्द्रिय द्वारा ही होता है।

चक्षु:—

रोग विशेष के कारण मल मूत्र के बदले हुए रङ्ग, श्लेष्मा का रंग विशेष घनत्व द्रवत्व, ग्रथितत्व रूप, रक्त का पतलापन, गाढ़ापन, छिछड़े, वर्ण विशेष शुक्र-रज के शुद्ध व विकृत स्वरूप, मल, मल के विविध वर्ण, गन्ध, द्रव, घन-ग्रन्थिल, शुष्कादि आकृति, मूत्र के विविध वर्ण-गन्ध, तथा उसमें मिश्रित होकर निकलने वाले रक्त, शुक्र, क्षार, स्नेह आदि व्रण द्वारा निकलने वाले विविध प्रकार के वर्ण, आकृतिवमन में निकलने वाले पदार्थों की विभिन्न सूरतें, शरीर के अवयवों की बदली हुई आकृति, वर्ण, प्रभा आदि नेत्रों की कुटिल, स्थिर, विस्फारित, निर्मलतादि आकृतियें, जिह्वा की, श्याव, पीत, श्वेत रक्तादि रंगत, शुष्क, स्वर, लित्यादि उसकी आकृति विशेष, त्वग्, नख आदि का वर्ण, सम्पूर्ण शरीर की आभा, वर्ण आदि का परिवर्तित रूप, अवयव विशेषों के प्रमाण की न्यूनाधिकता, अवयव विशेषों के संकोच विकाश को प्राप्त हुए आकार, तथा और भी जितने भाव जो चक्षुग्राह्य हैं वे सब चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष करने पड़ते हैं।

गन्ध:—

शरीर में या शरीर के अवयव विशेषों में, रोगी के मल, मूत्र, वमन, श्लेष्मा, रक्त, पूय आदि निकलने वाले पदार्थों में, माता, मोतीझरा आदि रोगों में जो गन्ध आती है उसका घ्राण के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।

स्पर्श:—

नाड़ियों का स्पन्दन, हृदय की धड़कन, शीत, उष्ण, चिकना, खरधरा, कठोर, मुलायम, ग्रन्थी, प्लीहा, यकृत, अन्त्र, गुल्म, आन्तरिक, शोथ आदि शरीर में व शरीर के अवयव

विशेषों में होने वाले हेरफेर का ज्ञान, स्पर्श प्रत्यक्षीकरण के विशेष अवयव हाथ द्वारा किया जाता है।

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उपरोक्त रूप से रोग के चिन्ह विशेषों का प्रत्यक्ष करने के पश्चात् वहुत सी ऐसी बातें और शेष रह जाती हैं, जिन की यथार्थता जाने बिना रोग का पूरा निश्चय होता नही। उन शेष भावों को जानने के लिए अनुमान का आश्रय लेना चाहिए।

अनुमान:—

रोगी की सम, विषम, मन्द, तीक्ष्ण अग्नि का पाचन क्रिया द्वारा, व्यायाम शक्ति से, श्रम शक्ति से बल का, ज्ञानेन्द्रियों की विकृति का विषय ग्रहण शक्ति की न्यूनता के द्वारा, हर्ष, शोक, भय, चिन्ता, सुख, दुःखादि, क्रोध, धैर्यादि द्वारा मानसिक स्थिति का, कर्म प्रवृत्ति के उत्साह अनुत्साह से वीर्य का रूप, शब्द, स्पर्शादि द्वारा संज्ञा असंज्ञा का, आयु भोजन में सात्म्यासात्म्य, व्याधि के उत्पन्न होने से पहिले व उस समय उत्पन्न हुए लक्षणों का, कालानुवन्ध, शरीरस्थ अवयव, उपशय, अनुपशय से वेदना विशेष का, रेचन द्वारा कोष्ठ के मृदु कठोर रूप का, अनुकूल, प्रतिकूल भावना का हर्ष द्वेष से अनुमान द्वारा ज्ञान किया जाता है। तथा शास्त्रों में वर्णित रोग विशेष के पूर्व रोगों का, शरीरस्थ अवयव विशेष की विकृति का, मल मूत्रादि, क्षुधा, प्यास आदि की प्रवृत्ति इच्छा का ज्ञान रोगी को पूछ कर उसके उत्तरानुरूप अनुमान से किया जाता है।

उपद्रव:—

रोग विशेषों में उस रोग के उत्पन्न कुछ समय पश्चात् और भी कई रोग विशेषों की उत्पत्ति होती है। जैसे ज्वर में अतिसार, दाह, वमनादि। अतिसार में श्वास, शूल, पिपासा, ज्वरादि। अर्श में तृष्णा, अरुचि, शूल, अति, शोच, अतिसारादि। अजीर्ण में मूर्च्छा, प्रलाप, वमथु-प्रसेक, सदन भ्रमादि। रक्त, पित्त में दौर्बल्य, श्वास, कास, ज्वर वमथु आदि में व्याध्युत्तर काल में उत्पन्न होने के कारण, व्याध्युत्तर कालानुबन्ध से 'उपद्रव' नाम से ज्ञेय हैं।

अरिष्ट व असाध्य:—

आयुर्वेद के सिद्धांत से रोग की ऐसी दो अवस्थायें और मानी गई हैं जिन अवस्थाओं में पहुँचने पर रोग का निवारण असंभव हो जाता है।

रोगी के अवयव विशेष जैसे नाक, चक्षु, भ्रू, जिह्वा, नखत्वगादि, व उसकी मानसिक स्थिति, स्वभाव, प्रकृति आदि में सहसा परिवर्तन हो जाना, तथा कुछ अकारण शरीर में विशेष चिन्हों या लक्षणों का उत्पन्न होना, इससे रोग की अरिष्ठावस्था का ज्ञान होता है। अरिष्ट शब्द का अर्थ है जिन लक्षणों के उत्पन्न होने पर रोगी के बचने की संभावना न रहे। वे लक्षण अरिष्ट नाम से सम्बोधित किए गए हैं।

उपरोक्त रूप में ही शारीरिक भावों की विकृति हो, रोग की अवस्था में परिवर्तन हो जाय तथा उससे कुछ रोग में विशेष लक्षणों की उत्पत्ति हो उन लक्षणों से रोग की "असाध्यावस्था" का ज्ञान होता है। असाध्यावस्था की दो स्थितियें हैं। कुछ रोग तो ऐसे हैं कि वे उन लक्षणों के अभिव्यक्त होने के बाद निवृत नहीं होते, पर शरीर का वे विनाश भी नहीं करते ऐसे लक्षणों वाले रोग को "याप्यासाध्य" कहते हैं। जिन लक्षणों के अभिव्यक्त होने पर न रोग की निवृति की संभावना रहे- न शरीर के रहने की वह- "असाध्य" शब्द वाच्य है। अरिष्ट और इस द्वितीय असाध्यावस्था का अर्थ है शरीर व शरीर के अवयवों की जीवनी व शक्ति का ह्रासोन्मुख अवसाद।

इस तरह आयुर्वेद सिद्धांतों द्वारा उपरोक्त प्रकारों से रोग विशेष, रोगोत्तर काल में उत्पन्न होने वाले उपद्रव, निश्चित मृत्युकारक लक्षणों से मुक्त रोग की अरिष्टावस्था मृत्युपर्यन्त न निवृत होने वाली रोग की याप्यावस्था, अवधि विशेष से अधिक शरीर के न रहने वाली असाध्यावस्था का शास्त्रोपदेश प्रत्यक्ष व अनुमान से निश्चय किया जाता है। जैसा कि शास्त्र उपदेश करते हैं:— (चरक विज्ञान ४ अध्याय)

आत्यतश्चोपदेशन प्रत्यक्ष करणेन च
अनुमानेन च व्याधीन् सम्य(ग) विद्याद् विचक्षणः ॥१॥
सर्वथा सर्व मालोच्य यथा सम्भव मर्थवित्
अथा ध्यवस्येत् तत्वे च कार्ये च त्वदनन्तरम् ॥२॥
ज्ञान बुद्धि प्रदीपे न यो ना विशति तत्ववित्
आतुरस्यन्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥३।

विद्वान् वैद्य आत्योपदेश (शास्त्र) प्रत्यक्ष व अनुमान से अच्छी प्रकार व्याधि के स्वरूप का निश्चय करे। शास्त्रीय यथार्थ ज्ञान को जानने वाला वैद्य, रोग का निश्चय करने वाले सब साधनों से अच्छी तरह रोग का निश्चय कर, तात्विक बातों को ध्यान में ला उसके पश्चात् चिकित्सा मे प्रवृत्त हो। जो तत्वज्ञ वैद्य ज्ञान और प्रत्युत्पन्न मति के दीपक को ले रोगी की आभ्यन्तरिक अवस्था में प्रवेश नहीं करता वह रोगों की अच्छी चिकित्सा नहीं कर सकता। मतलब रोग के निश्चय करने में पूरी-पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है। रोग निश्चय करने के जितने भी साधन हैं उन सबका सम्यक् उपयोग कर रोग का ठीक-ठीक निर्णय करना चाहिए। जब तक रोग का ठीक निश्चय न हो सकेगा तब तक उसकी चिकित्सा करना सम्भव नहीं। इसीलिए उपरोक्त रोग ज्ञान के प्रकारों को निर्देश करते हुए आचार्य रोगपरीक्षा में दूष्यादि की परीक्षा का भी आवश्यक उपदेश देते हैं।

रोग विशेष के निश्चय करने से पहिले वह चिकित्सा विशेष का निर्धारण करने से पहिले दूष्य, देश, बल, काल, अग्नि, प्रकृति, सत्व, सात्म्याहार, वय तथा इनकी परिवर्तित होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्थायें अवश्य जाननी चाहिए।

उपरोक्त निर्दिष्ट ज्ञातव्य विशेषों की सम्यक् समीक्षा कर पश्चात् इस उपक्रम का आरम्भ किया जायगा वह उपक्रम ही सद्यः फलदायी सिद्ध होगा।

दूष्य:—

रोग को आरम्भ करने वाले प्रधान मूलभूत आभ्यन्तर कारण, दोष तथा उनकी वृद्धि क्षयरूप अवस्था में जो सहायी कारण हैं उनको दूष्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। जैसे—प्रमेह में मेद, माँस, शरीर क्लेदादि, कुष्ठ में त्वक्, रक्त, मांस, लसीकादि, अर्श में गुद वलिस्थित त्वक्, रक्त, माँस मेदादि, अपस्मार, सेन्यास, मूर्च्छादि ने मन व मस्तिष्कादि इस तरह दूष्य की धातु, उपधातु, मल, आश्रय, मार्गादि भेद से अनेक प्रकार की वृद्धि ह्रासात्मक विकृतियों का, व उन दूष्य विशेष से सम्बन्ध रखने वाले रोग विशेषों का अपने-अपने अधिकरणों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

रोग की साध्य असाध्य अवस्था का ज्ञान अधिकांशतः दूष्य के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। क्योंकि दूष्यों में अनेक वायु के समान गुण वाले हैं। अनेक पित्त समान गुण भूयिष्ठ हैं। अनेक श्लेष समान गुण भूयिष्ठ हैं। जब दोष के समान गुण धर्म वाले दूष्य दोष के साथ मिलते हैं तो दोष का बल दूष्य संयोग से और भी प्रबल हो जाता है। इस स्थिति में दोष के समान गुण धर्म वाले दूष्य संयोग से उत्पन्न व्याधि, वह उत्पत्ति काल में ही असाध्य अवस्था को लेकर अभिव्यक्त होती है। इसीलिए शास्त्रकारों ने "न च तुल्य गुणोदूष्योन दोषः प्रकृतिर्भवेत्" का प्रवचन किया है।

वात पित्त श्लेष्मा को छोड़ जिन्हें शरीरस्थ दोष कहते हैं, शरीर के सम्पूर्ण आभ्यन्तरिक भाव दूष्य हैं। इनमें रस-रक्तादि सातों धातु शिरा, स्नायु, धमनी, रादि उपधातु, रक्त रस शुक्र, मलमूत्रादि आश्रय, हृदयादि यन्त्र उनकी आवरक कलायें उदक, अन्न, श्वास, रक्त लसीका, वातवह स्रोत, शरीर के अशेष अंग उपांग, मर्म, त्वक आदि सब का समावेश है।

दोषों की वैषम्यावस्था का इन्हीं शरीरस्थ भावों पर असर पड़ता है। विषम स्थिति वाले दोष उपरोक्त शारीरिक भावों को अव्यवस्थित करते हैं। दूषित दोष संयोग से जब शरीर के संरक्षक व संचालक ये सहायी भाव दूषित होते हैं तभी शरीर की स्वाभाविक स्थिति में परिवर्तन होता है अतः रोग निश्चय में दोषों के पश्चात् इन दूष्यों का कितना हाथ है यह स्पष्ट है। इसीसे रोग निश्चय में दूष्य परीक्षण को आवश्यक माना गया है।

देश :—

देश शब्द से आयुर्वेद में दो देश आते हैं। एक भूमि, दूसरा देह। रोग-परीक्षा में उपदेशों की परीक्षा की आवश्यकता रहती है जैसे यह रोगी किस देश का जन्मा हुआ है।

किस देश में रोगी हुआ, जिसमें यह उत्पन्न हुआ व विवर्द्धित हुआ और जिसमें यह रोगाक्रान्त हुआ, उन देशों में मनुष्यों का क्या आहार-विहार है ? किस तरह की उनकी रहन-सहन है ? वहाँ के निवासियों का स्वाभाविक शरीर बल, मानसिक बल कैसा है ? उनके कौनसा खान पान सात्म्य है ? देश में स्वभाव से आनूप जांगल साधारण भेद से किस दोष की प्रधानता रहती है ? कौन से रोग विशेष उस देश में अधिकतर होते हैं ? (जैसा कि अनूप जाँगलादि देशों के लिए विशेष निर्देष किया है) उस देश में रहते हुए क्या-क्या ग्रहित हैं ? क्या क्या अहित हैं ? इस तरह की देश से सम्बन्ध रखने वाली बातों के ज्ञान से रोग के उत्पन्न करने वाले कारण विशेषों का दोष-दूष्य के बलात्मक का ज्ञान होता है।

आतुर देश :—

शरीर को देश शब्द से सम्बोधित क्यों किया ? क्योंकि यही चिकित्सा का प्रधान अधिष्ठान है। इसी से इसको देह-देश शब्द से निर्देश किया है। रोगी का शरीर आयु प्रमाण ज्ञान द्वारा व दोष प्रमाण ज्ञान आतुर शरीर से कैसे किया जाय ? तदर्थ कहते हैं कि आतुर की प्रकृति (स्वभाव) विकृति, सोसारत: आतुर का शरीर रक्तसार है, अाचिसार है या शुक्रसार है। शरीर निर्मायक तात्विक संघात व उपचप से शरीर की लम्बाई चौड़ाई से रोगी को स्वभावत: क्या २ आहार विहार अनुकूल पड़ता है ? रोगी का मनोबल कैसा है ? आहार शक्ति से, परिश्रम या व्यायाम की शक्ति से, आयु से, दोष भ्रमण व आयु प्रमाण का ज्ञान होता है।

प्रकृति :—

जाति, कुल, देश भेद से मनुष्य के स्वभावों में अन्तर होता है। इसी तरह आयु काल व प्रत्यात्मनियत शक्ति भी प्रकृति की विभिन्नता के हेतु हैं। इस तरह स्थूल रूप से जाति, कुल, देश, काल, वय, प्रत्यात्मनियत शक्ति भेद से छै प्रकृतियें होती हैं। इनमें अन्तिम प्रत्यात्मनियता प्रकृति शरीर भेद से वात, पित्त श्लेष्म, वात-पित्त, वात श्लेष्म, पित्त श्लेष्म, वात-पित्त श्लेष्म ऐसे सात तरह की होती है। मानसिक प्रकृति त्रिविध सत्व भेद से पन्द्रह प्रकार की होती है।

दोष भेद से होने वाली शारीरिक प्रकृतियों के निर्माण में शुक्र शोणित संयोग काल की प्रकृति, कालनुबन्ध सहित गर्भाशयस्थ प्रकृति, गर्भ काल में माता के आहार विहार से उत्पन्न प्रकृति, महाभूत विकारों की प्रकृति इन चार प्रकृतियों का विशेष सम्बन्ध रहता है। इन्हीं के भाव विशेषों से उपरोक्त दोष भेद वाली सात प्रकृतियें बनती हैं।

उपरोक्त चतुर्विध प्रकृतियें जिस जिस दोष विशेष से या समस्थिति वाले दोषों से संयुक्त होती हैं, उन दोषों से गर्भस्थ शरीर का सम्बन्ध होता है। इसीसे गर्भोत्पत्ति काल से ही गर्भ का दोष विशेष से सम्बन्धित उपरोक्त चतुर्विध भावों से पोषण होने के कारण

गर्भ का जो रूप बनता है वह उन-उन दोषों से अन्वित होने के कारण जन्म से मृत्युपर्यन्त उस प्रकृति का, उस गर्भ से सम्बन्ध बना रहता है। इसी से उपरोक्त सप्तविन्ध शारीरिक प्रकृतियों का निर्माण होता है।

ये प्रकृतिये ठीक भी हैं या नहीं ? इसका निर्णय प्रत्यक्ष द्वारा चाहे जब किया जा सकता है। वात प्रकृति वाले पुरुष के जो लक्षण निर्देश किए हैं वैसे व्यक्ति को वातवर्द्धक पदार्थों का सेवन कराइये तुरन्त ही वात प्रकोप से लक्षण अभिव्यक्त हो जायेंगे। इसी तरह पित्त श्लेष्मा व द्वन्दज, सन्निपातज प्रकृति वालों को देख लीजिए। दोष विशेष की प्रकृति वाला पुरुष जब भी स्वकीय प्रकृति के दोष को विवर्द्धित करने वाले आहार-विहार उपयोग में लावेगा, तभी उसका प्रकृतिभूत दोष विवर्द्धित हो अपने द्वारा होने वाले रोग विशेषों को जन्म देकर बल, वर्ण, सुख, आयु का विनाश करते हुए शरीर को पीड़ित करता है।

इस तरह प्रत्यक्ष दृष्टि में आने वाले शरीरों की जो जो विभिन्न प्रकृतियें हैं उनके जो जो कारण आप निर्धारित करेंगे, अन्वेषण करने पर उन कारणान्तरों के मूल में वात, पित्त श्लेष्मा का अनुबन्ध आप अवश्य पायेंगे। इसका विशेष कारण देखना हो तो चरक का विमान स्थान देखा जाय। उपरोक्त प्रकृति भेद से देह देश का ज्ञान रोग निश्चय करने में कितना सहायी कारण है, यह इस विवेचन से ज्ञात हो ही जाता है।

बल :—

शरीर से बाहर की आक्रामक शक्ति का परिहार करने वाली शारीरिक मानसिक सामर्थ्य का नाम बल है। अपने से सम्पन्न होने वाले कामों में श्रम की प्रतीति न होना यह "बल" सम्पद् का मुख्य लक्षण है।

शरीर व्यापार को ठीक सम्पन्न करने के लिए शरीर, इन्द्रिय, धात्वादि की यथावत् सामर्थ्य, कर्मेन्द्रिय की बिना आलस्य कर्म प्रवृत्ति रसादि शुक्रान्त धातुओं की पुष्टि का निमित्त इसी को आयुर्वेद में बल कहते हैं जैसा कि निर्दिष्ट किया गया है—

'चेष्टासु पाट वं यत्तु वलं तदभि धीयते'

अपर शब्दों में कहें तो ऐसे कह सकते हैं कि दोषों की साम्यावस्था के कारण शरीर की स्वाभाविक शक्ति जो कि शरीर के सम्पूर्ण भावों की संचालक शक्ति है 'बल' नाम से कही जा सकती है।

यह वल सहज, कालज युक्तिकृत ऐसे तीन तरह का हो सकता है। शरीर सम्पत् व मानसिक सम्पत् के कारण जो स्वाभाविक शरीर व मन की शक्ति है वह सहज बल है। इस स्वाभाविक वल सम्पद के सहायक हेतु ये हैं—बलशाली देश में जन्म, बलवान माता-पिता से जन्म, बलवान काल में बलवान शुक्र-शोणित संयोग, हिताहार-विहार से गर्भ-पोषण,

प्राक्तन प्रारब्ध कर्म व भौतिक संयोग से सबल सत्व सम्पद इन सहायीकरणों से मनुष्य स्वभावतः ही 'बलशाली' उत्पन्न होता है।

कालज बल वह है जो ऋतु विशेष के कारण होता है। तथा आयु भेद से जैसे युवा काल में बल विशेष होता है वह भी कालज है।

युक्तिकृत बल वह है जो आहार-विहार की विशेष प्रक्रिया से पैदा किया जाय। सात्म्य और हर्ष इसके सहायी कारण हैं। अच्छे खान-पान, पथ्य पदार्थ, व्यायामादि कर्म, मनोविनोद के उचित साधनों द्वारा यह युक्ति कृत बल पैदा किया जा सकता है।

शरीर मन की बलाबल स्थिति से रोगकर वैद्य को भ्रमात्मक ज्ञान पैदा हो जाता है। जैसे एक व्यक्ति सहज बलशाली है। उसके शारीरिक, मानसिक उभय बल पूर्ण हैं। ऐसा व्यक्ति रोग से पीड़ित होने पर रोग को बर्दाश्त करने में अधिक सक्षम रहता है। वह रोग के तीव्र आघात को सहन कर लेता है। इससे बिना ठीक परीक्षण किए उसकी चिकित्सा करने में यह समझ लिया कि रोग साधारण है तो वहां चिकित्सा क्रम का उपयोग अनुपादेय ढंग का होगा।

इसी तरह अबल शरीर मन वाला रोगी साधारण से रोग से इतना बेचैन हो जाता है कि उसकी ऊपरी स्थिति को देख कर यह मालूम देने लगता है कि रोगी अत्यन्त भयंकर व्याधि से पीड़ित है। इसमें रोग को अत्यन्त बलशाली समझ चिकित्सा तीव्र की जाय तो व्यापद विशेष की उत्पत्ति होना अनिवार्य है। अतः रोग व चिकित्सा निर्णय में बलाबल परीक्षण भी आवश्यक है।

काल:—

काल के भी संवत्सर व आतुर, काल-भेद से दो भेद किये गए हैं। संवत्सर काल के दक्षिणायन, उत्तरायण—विसर्ग, आदान भेद से दो भेद—शीत, उष्ण; वर्षा से तीन भेद—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त; शिशिर ऋतु भेद से छः, फाल्गुन, चैत्रादि मास भेद से बारह, पक्ष भेद से चौबीस, सप्ताह, दिन, प्रहर, घटिका, मुहूर्त्त, पलादि भेद से बहुत भेद किए जा सकते हैं। पल से वर्षान्त तक के काल का उपयोग व्याधि निश्चय करने में हेतु है। काल, अर्थ, कर्म रूप त्रिविध रोग कारणों में काल ही प्रधान माना गया है। कारण असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध के हीन मिथ्याति योग से होने वाले रोग व्यापन्न ऋतु संयोग से और भी बलवान बन जाते हैं। जैसा कि शास्त्रों में काल को सबसे बलवान व अपरिहार्य हेतु कहा गया है :

वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः।
विद्याद्दुष्परिहार्यत्वाद्गरीयस्तरमर्थवित् ॥१॥—चरक विमान, अध्याय ३

जनपद ध्वंस के हेतु चतुष्टय मे सबसे बलवान काल को घोषित किया गया है। ऋतु विपर्यय रूप काल के अयोगादि से ही रोग हो, यह बात नही। अपितु काल का समयोग होते हुए भी अर्थात् शीतोष्ण वर्षा के अपनी-अपनी ऋतुओं में उचित रूप से होते हुए भी अपरिरक्षण से तथा ऋतुचर्या में विहित आहार-विहारादि का व्यत्यय करने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थ, कर्म के समयोग से रोग कभी नहीं होता। इसीलिए धन्वन्तरि भगवान ने कालजन्य रोगों के दो विभाग किए हैं। १—व्यापन्न ऋतुकृत। २—अव्यापन्न ऋतुकृत।

व्यापन्न ऋतुकृत का अर्थ है—अपने ऋतु काल में अपने धर्म का उचित रूप में व्याप्त न होना। जैसे—वर्षा में वर्षा का उचित रूप में न होना। शीत में शीत का यथावत् न पड़ना। ग्रीष्म में गर्मी का यथावत् प्रादुर्भाव न होना। यह सब व्यापन्न ऋतु—ऋतुविपर्यय का रूप है। इसके कारण अनेकों व्याधियां ऐसी होती हैं जिनका प्रभाव उस भू-भाग के समग्र क्षेत्र पर पड़ता है जितने भू-भाग मे ऋतु का व्यत्यास होता है।

अव्यापन्न ऋतुकृत का अभिप्राय है—समयोग ऋतु से। इसका एक उदाहरण ऊपर दे ही आये हैं। उन परिरक्षण व ऋत्वनुरूप आहार-विहार का अभाव। दूसरा उदाहरण इसका चयादि स्थिति है। ऋतु स्वभाव से अपनी-अपनी ऋतुओं में वातादि दोषों का चय-प्रकोप प्रशम होता ही है। यह भी अव्यापन्न ऋतुकृत ही हैं। जैसा कि निर्देश किया है :

चय प्रकोपोपशमा, वायोर्ग्रीष्मादिषुत्रिषु।
वर्षादिषु च पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादि षु॥

उपरोक्त वाक्य से दोषों के चय प्रकोप काल से दोषों के संचय व प्रकोप की अवस्था का ज्ञान तथा तदुत्पन्न व्याधि विशेष का ज्ञान यथावत् रूप से हो जाता है। ऋतु ही नहीं, आयु, दिन, रात व भोजन के काल में भी दोषों के चय प्रकोप प्रशम का सम्बन्ध है।

हमारा सम्पूर्ण व्यावहरिक जीवन काल से सर्वदा सम्बन्धित रहता है। अर्थ, कर्म का सम्बन्ध शरीर से सर्वदा रहे, यह नियम नहीं। पर काल के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। काल का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। जीवन में कोई क्षण ऐसा नहीं आता जब कि हम काल से छुटकारा पा सकें। जब काल का इस तरह शरीर से अटूट सम्बन्ध है तब रोग निर्धारण में इसकी कितनी आवश्यकता है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

रोग निर्धारण की तरह औषध निर्धारण में भी काल की उतनी ही उपादेयता है। औषध का भी सम्बन्ध उत्पत्ति से उपयोग तक काल से होता है। औषध में संवत्सर काल व आतुर काल, दोनों की आवश्यकता होती है। औषध की उत्पत्ति, परिपाक, ग्रहण तथा उपयोग ये सब काल ही के आश्रित हैं। चिकित्सा तो काल के बिना सफल होती ही नहीं,

ऐसा कहा जाय तो असंगत नहीं। कारण आतुर के आवस्थिक काल से ही चिकित्सा का निर्णय किया जाता है।

रोगों की विभिन्न दशायें हैं जिनका कि पीछे विवेचन कर आये हैं। उन चयादि अवस्था में जो कुछ उपचार किया जाय वह उस अवस्था काल की सहायता से ही किया जा सकता है।

ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, प्रतिश्यायादि रोगों में दोषों की आम अवस्था, पच्यमान अवस्था, परिपक्व अवस्था व जीर्णावस्था ऐसे कई स्थितियें बदलती हैं। साध्य, कष्ट-साध्य, असाध्यादि अवस्थायें भी होती हैं। इन सब अवस्थाओं में कालानुसार भेषजोपचार करने ही से सिद्धि उपलब्ध होती है। अन्यथा चिकित्सा का कोई फल नहीं होता।

लंघन, पाचन, शोधन, शमनादि भेषज का उपयोग कालक्रम से ही किया जा सकता है। स्वेद, स्नेह, वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन, उत्तर, वस्ति, नस्य, धूम, अंजनादि उपक्रम भी कालानुबन्धी ही हैं। चिकित्सा क्षेत्र में काल का इतना व्यापक अन्वय है जिसका प्रतिपादन शास्त्रों में स्थान स्थान पर किया गया है। संक्षेप में:– संवत्सर, आतुर, आवस्थिक, त्रिविध काल, रोग निर्धारण व औषध निर्धारण करने में परम सहायक है। जैसा कि ऊपर के संक्षिप्त दिग्दर्शन से अवगत होता है।

अग्निः—

भौमादि भेद से तेज के दार्शनिक भेद किए गए हैं। पर यहां जिस अग्नि का सम्बन्ध है वह औदर्याग्नि है। चतुर्विध आहार शरीर में पहुँच कर परिणमन होता हुआ- जिसके द्वारा शरीर के रक्त में बदलता है वह "अनल" नाम से निर्दिष्ट है। प्रकृति भेद से या परिणमन की स्थिति भेद से अग्नि के भी मन्द, तीक्ष्ण, विषम, सम चार भेद किए गए हैं।

सम को छोड़ शेष सब अग्नियें रोगोत्पत्ति में सहायक होती हैं। शरीरस्थ दोषों के वैषम्य में प्रधान हाथ मिथ्या आहार विहार का, आहार के परिणमन का एकान्ततः अग्नि से है। शरीर के भीतर पहुँची हुई वस्तुये यथावत् शरीर के अनुरूप जब तक न बनें तब तक वे स्वास्थ्यकर नहीं हो सकतीं। पथ्य भोजन की अग्नि के उचित संयोग बिना सम्यग् परिणाम को प्राप्त नहीं होता। अतः मन्द, तीक्ष्ण, विषम अग्नि तो स्वभावतः आहार का सम्यग् परिणमन न करने के कारण दोषों के सचय प्रकोप की सहायक है ही। सम भी यदि उसका सर्वदा संरक्षण न रखा जाय तो रोगोत्पत्ति करने वाले कारणों का सहायक हो जाता है। इसी से आचार्यो ने अग्नि की रक्षा का विशेष रूप से उपदेश दिया है।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः।
तन्मूलास्तेहितद्वृद्धि क्षय-वृद्धि-क्षयात्मकाः॥

तस्मातंविधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हित: ।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थिति: ॥—चरक चिकित्सा

शरीर में अन्न से रस और रस से रक्तादि धातुओं का परिणमन होता है। वह सब अग्न्याश्रित ही है। इसलिए आचार्य कहते है कि शरीर में जितनी भी अग्नियें परिणमन का कार्य करती हैं, (धात्वग्नि, पचभौतिक अग्नि) उनमें अन्न का परिणमन करने वाली अग्नि ही प्रमुख है। कारण, शरीरस्थ शेष अग्नियें उसके आश्रय से बढ़ती घटती है। इसलिए ऋतुचर्या, दिनचर्यादि विधानपूर्वक उचित समय में सात्म्य व पथ्य अन्न पान से जाठराग्नि की सर्वदा रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि आयु और बल (शरीर की स्वाभाविक शक्ति) अग्नि के उचित कार्य पर ही निर्भर है।

सामान्यत: यह कहा जाय कि अधिकांश रोग अग्नि की गड़बड़ी के कारण आहार का सम्यक् परिपाक न होने ही से होते हैं तो असगत नहीं। वैसे ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अजीर्ण, अग्निमान्द्यादि रोग तो एकान्तत: अग्नि की अनवस्था से ही होते हैं। अग्नि के बलाबल से ही रोगी के आहारादि परिणमन का अनुमान किया जा सकता है। अग्नि की स्थिति से ही रोग मे आमादि अनुबन्धी सहायकों का निश्चय किया जा सकता है। औषध पथ्यादि की कल्पना भी पाचन शक्ति के अनुमान से ही करनी पड़ती है। अत: रोग निर्धारण मे अग्नि का बलाबल भी परीक्षण में आवश्यक है। प्रकृति का निर्देश ऊपर आ ही गया है। सत्व, सात्म्याहार, आयु— मनोबल, पथ्याहार आयु भी रोगनिर्धारण में उपरोक्त दूष्य, देश, बल, कालादि की तरह सहायक हेतु है। बर्दाश्त करने की शक्ति मनोबल पर निर्भर है। कष्टसहिष्णुता जिस व्यक्ति में अधिक होती है उसका मनोबल बलिष्ठ होता ही है। जो मनुष्य थोड़ीसी परेशानी में घबड़ा उठते हैं, वे अवश्य ही न्यून मानसिक शक्ति वाले होते हैं। रोग की अवस्था को उचित अनुचित रूप मे व्यक्त करने मे मनोबल का विशेष हाथ रहता है। वैद्य यदि मनोबल को ध्यान में न रक्खे तो रोग की वस्तुस्थिति जानने मे धोखा खाया जा सकता है। अत: रोग निर्धारण में मनोबल का परीक्षण भी अवश्य करना चाहिए।

आहार जीवन का प्रधान आश्रय है ही। स्थूल शरीर के पोषण का सम्पूर्ण सम्बन्ध आहार से है। आहार का विवेचन आयुर्वेद में बहुत विस्तार से किया है। उसका पूरा विवरण यहाँ देना शक्य नहीं। ऋतुभेद से, प्रकृतिक भेद से, अग्नि भेद से, आयु भेद से, आहार की विभिन्न उपयोगितायें हैं। आहार विधि के—प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, कालादि आठ आयतनो का भी निर्देश है। स्वस्थावस्था में, आतुरावस्था में भी आहार की विभिन्न कल्पना का निर्देश है ही। प्रति रोग में आहार विशेष के कारण दोषादि प्रकोप में जो हेतुता होती है उसका दिग्दर्शन निदान ग्रथों में सर्वत्र है ही। अत: रोगनिर्धारण में आहार से उत्पन्न वैषम्य का ज्ञान करना ही पड़ता है।

आयु ज्ञान से भी रोग निश्चय में सहायता मिलती है। शरीर सम्पद्, अग्नि, शरीर के बलाबल का आयु के साथ पर्याप्त सम्बन्ध है। रोग का बलाबल भी आयु के कारण मंद अधिक हुआ करता है। कुछ विशेष ऐसे रोग भी हैं जिनका विशेषतः आयु से ही सम्बन्ध रहता है। इस तरह रोग निर्धारण में दूष्य, काल, बल, देश, प्रकृति, अग्नि, सत्व, सात्म्याहार, आयु आदि सभी की उपादेयता है। इन सब का सम्यक अवधारण करने ही से रोग की सम्पूर्ण स्थिति का सम्यक् ज्ञान होना सभव है। जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं—

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्व सात्म्य तथाहारमवस्था च पृथग्विधाः॥
सूक्ष्मसूक्ष्मा समीक्ष्यैषा दोषौषध निरुपणैः।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥२॥

रोग परीक्षा की आयुर्वेदीय इस पद्धति का पूरा उपयोग किया जाय तो रोग तत्व निर्धारण में बहुत अंश तक सफलता प्राप्त हो जाती है।

(१) चिकित्सा के नियम व पद्धति—

चिकित्सा के नियमों का निर्देश करने से पहिले आयुर्वेद में "चिकित्सा" किस का नाम है, यह समझ लेना ठीक है।

धातुवैषम्य के परिहार व धातु साम्य के सम्पादन के लिए जो भी उपाय व्यवहार में लाये जांय संक्षेप में उसी को चिकित्सा कहा जाता है।

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातव. समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजांमतम्॥१॥ —च० सू०

धातुवैषम्य के परिहार के लिए बढ़े हुए धातुओं को कम करना, क्षीण हुए धातुओं को बढ़ाना, काठिन्य को प्राप्त हुए धातुओं को मृदु करना, कोमलता में परिवर्तित हुओं को कठोर करना सघात रूप से एकत्रित हुओं को विलीन करना, विलीन हुओं को संघात की सूरत में लाना, बहते हुओं को स्तंभित करना, स्तब्ध स्थिति वालों को स्वेदादि से तरल करना इत्यादि अनेक प्रकार के क्रियाकलाप करने पडते हैं। यह सब किया जाने वाला क्रिया कलाप शरीर द्रव्य गुणों के वृद्धि क्षयरूप में तत्समान द्रव्य गुणों के उपयोग द्वारा पूरा किया जाता है।

उपयोग में लाये गये द्रव्य शरीरस्थ जाठराग्नि द्वारा जब तक शरीरानुरूप भावों में परिवर्तित न हो तब तक वे शरीर में रोग के कारण क्षीण विवर्धित हुये भावो को वृद्धि क्षय द्वारा समस्थिति में लाने का कार्य सम्पन्न नही कर सकते। किसी भी सेवन किये गये द्रव्य का शरीरानुरूप सूरत मे बदलना जाठराग्नि के व्यापार पर आश्रित है। आतुरावस्था में प्रायः

ही रोग के कारण जाठराग्नि की स्थिति मे हेर फेर हो ही जाता है। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है।

अतः चिकित्सा के समय रोगनिवारण के लिए उपरोक्त रूप का जो क्रियाकलाप किया जाता है उसके प्रयोग किये जाने वाले द्रव्यों मे यह ध्यान रखना होगा कि वे जाठराग्नि को उत्तेजित करने में सहायक हों। जाठराग्नि से ही धातुओं की ऊष्मा को उत्तेजना मिलती है। धातुसाम्यार्थ प्रयुक्त चिकित्सा-जाठराग्नि को सहाय प्रदान कर प्रयुक्त द्रव्यों को सम्यक् शरीरानुरूप भावों मे परिणमन करने में सहायक होती हैं। धातुओं की ऊष्मा को उत्तेजित कर धातु निर्माण के कार्य को सपादन करती है। स्रोतों की शुद्धि, घूमना, दौड़ना, तैरना आदि बलदायक विहारों का उपयोग, रसायन प्रयोगों का सेवन, रोग उत्पन्न करने वाले हेतुओं का परित्याग आदि सब चिकित्सा ही के अनेक अंग हैं।

चिकित्सा के इस रूप का प्रयोग करने पर, हेतु विशेष से उत्पन्न रोग की धातुवैषम्य अवस्था बदल कर साम्यावस्था मे आ जाती है। निदान परित्याग से धातुवैषम्य को मिलाने वाली सहायता रुक जाती है। मनुष्य शीघ्र आरोग्यता प्राप्त कर लेता है। जैसा चरक निर्देश करते हैं—

> त्यागाद् विषम हेतूनां समानांचोपसेवनात्।
> विषमानुबध्नन्ति जायन्ते धातव: समा: ।।१।।

धातुवैषम्य पैदा करने वाले हेतुओं के त्याग से और समास्यति उत्पन्न करने वाले हेतुओं के सेवन से धातुए समस्थिति मे आ जाती हैं।

आयुर्वेद चिकित्मा पद्धति का सिद्धान्त केवल रोग निवारण करने का नहीं है। अपितु उमका ध्येय है रोग को जहाँ तक हो, होने ही न देना। इसीलिए शास्त्रकारों ने चिकित्सा के बारे मे स्थान स्थान पर इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि आयुर्वेद के सिद्धान्त रोग और रोग के परिहार के ज्ञान के लिए ही नहीं निर्मित हुए हैं प्रत्युत् यह बताने को कि मनुष्य हो सके जहाँ तक रोगाक्रान्त हो ही नही जैसा कि स्पष्ट प्रवचन है:—

> 'कथ शरीरे धातू नां वैषम्य भवेदिति ।।
> सामानां चानुबन्ध: स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ।।१।।

शरोर मे धातुवैषम्य किस तरह नहीं हो सकता? धातुसाम्य की स्थिति का अनुबन्ध किन उपायों से हो? चिकित्सा के उपरोक्त दो ही मुख्य उद्देश्य हैं। इन हेतुओं की पूर्ति के लिए, चिकित्सा कैसे सर्वांगपूर्ण हो? तदर्थ पञ्चविध व्यवस्था का निर्देश किया गया है। वह पञ्चविध व्यवस्था इस रूप मे है:-(१) भेषज व्यवस्था। (२) आहार व्यवस्था। (३) विहार व्यवस्था। (४) देश व्यवस्था। (५) काल व्यवस्था।

जब तक चिकित्सा के इन पंचांगों का ठीक ठीक समन्वय नहीं होगा तब तक चिकित्सा पूर्ण फलवती कभी नही हो सकेगी। आयुर्वेद में दवा ही का नाम भेषज नहीं है। धातु-साम्य की परिस्थिति को उत्पन्न करने वाले सभी उपाय "औषध" शब्द से कहे जाते है। अत: आहार, विहार, देश, काल, ये सभी औषध हैं। पर यह ध्यान में रखने की बात है कि ये चारों सभी समय औषध-रूप मे काम करते हों, यह बात नहीं है। जब इनका उपयोग व प्रभाव हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी परिणाम पैदा करने मे सफल हो तभी ये भेषज का द्ववाच्य हैं।

निष्कर्ष यह होता है कि सभी भेषज मे हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थ-कारीपन अवश्य होना चाहिए। हम इन पचविध भेषज व्यवस्था का हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी ज्ञान तभी प्राप्त कर सकते हैं, जबकि हमे रोग हेतुओं का, रोग लक्षणों का, भेषज व्यवस्था का और साधर्म्य वैधर्म्य का ज्ञान अच्छी तरह हो।

रोगों को उत्पन्न करने वाले वाह्य आभ्यन्तर अनन्त हेतु हैं। रोग रोग के अवस्था भेद से अनेक लक्षण हैं रोगो की सख्या के विषय में कहा ही क्या जाय। वर्त्तमान तक जितने रोग अभिव्यक्त हैं भविष्य में न मालूम और किन किन रोगों की अभिव्यक्ति हो। भेषज शब्द में संसार के सभी दृश्यमान पदार्थों का समावेश है इन अनन्त रूप, रस, गुणभेद वाली अशेष भेषजों का सामान्य ज्ञान ही कठिन है। फिर इन सब के साधर्म्य का ज्ञान होना सहज कार्य नही।

हेतु, लक्षण, औषध इन तीनों आयुर्वेद स्कन्धों का उचित ज्ञान कैसे हो इसी के लिए महर्षियों ने अनन्त ऊहा-पोह के पश्चात् 'त्रिदोष-विज्ञान' का निश्चय किया। जितने भी रोग के हेतु हैं, जिनको हम चाहे जिस नाम से सम्बोधित करें, शरीर में पहुंचने के बाद वे शरीर-स्थ चाहे जिस धातु, आशय, श्रोतादि को विकृत करें उस विकृति के मूल में त्रिदोष का सम्बन्ध अवश्य रहता है। इसी तरह चाहे जैसा रोग पैदा हो, उनके अनन्त विभिन्न लक्षणों का समन्वय वातादिविकृत दोषो के लक्षणों के साथ अवश्य रहता है। अर्थात् रोग के जो भी लक्षण अभिव्यक्त होंगे, उनमें कुछ लक्षण सभी बीमारियों मे आवश्यक रूप से उपलब्ध होगे जो कि वात पित्त श्लेष्मा के विकृत लक्षण होंगे।

यही बात औषध व्यवस्था की समझिये। औषध भी जो कि विभिन्न अवस्था से विभाजित है शरीर में पहुँचने पर या शरीर से सम्बन्धित होने पर उससे जो भी परिणाम होगा उसका सम्बन्ध भी शरीरस्थ वात, पित्त, श्लेष्मा से अवश्य होगा। अत: उपरोक्त तीनों स्कन्धों के सम्यक् ज्ञान के लिए हमे वात: पित्त, श्लेष्मा के साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान का ही प्रधान रूप से यत्न करना चाहिए।

विशेष :—

रोग के हेतुओं मे अधिकांश जो खान पान की चीजें हैं, वे भौतिक संघातजन्य हैं।

कीटाणु आदि भी भौतिक संघातजन्य हैं। विहार, यह शरीर का व्यापार विशेष है। दोनों का परिणाम जिस शरीर पर होता है वह भी भूत सघात से ही बना हुआ है।

मतलव जो चीजें शरीर के बनाने वाली हैं उन्हीं का उपयोग विविध रूप में हमें आहार-विहार में करना पड़ता है। इन उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं को उचित तरीके से व्यवहार में न लाने ही से शरीर रोगी होता है। शरीर के रोगी होने में भी उन्हीं भूत सघातों की कमी वेशी होती है जिनसे शरीर बना है या जिनसे शरीर पोषित होता है। शरीर के रोगी होने पर जो चिन्ह अभिव्यक्त होते हैं उनमे सहायी हेतुओं के लक्षणों को छोड़ कुछ लक्षण ऐसे अवश्य होते हैं जिनका सम्बन्ध उस भूत संघात से रहता है जिससे कि शरीर का निर्माण हुआ है।

रोग-निवारण के लिए जो चिकित्सा करनी है वह उस भूत संघात की न्यूनाधिकता की निवृति के करने ही का काम करती है। चिकित्सा में भेषज आहार विहार और देश सब भूत संघात से ही बने हुए है। काल से भी भूत सघातों का सम्बन्ध है। चिकित्सार्थ जिनका उपयोग किया जायगा वे भी भूत सघातजन्य हैं। उनका परिणाम भी भूत संघात की ही अनवस्था को निवृत करने का है। इस तरह सर्वत्र भूत संघात का सम्बन्ध ऐक सा है। इसी भूत संघात का नाम आयुर्वेद में वात, पित्त, श्लेष्मा है। अतः इसके साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान से तीनों स्कन्धों के व साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान की पूर्त्ति हो जाती है।

त्रिदोष साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान होने पर उसी के अनुसार औषध का प्रयोग करने से भेषज प्रायः व्याधिप्रशमक होतो है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि औषध का भी उन्हीं तत्वो के आधार से साधर्म्य वैधर्य्य, विवेचन करना आवश्यक है। समझ लीजिए, शरीर में गुरु स्निग्ध मधुरादि सेवन व दोष से श्लेष्मा (पृथ्वी अपभूत) की वृद्धि हुई। श्लेष्मा से अभिप्राय है—पार्थिव अपभूत सघात का। इस वृद्धि के कारण शरीर मे भारीपन, अरुचि, अग्नि की परिणमन शक्ति की न्यूनता, आमरस का सचय, अनुत्साहादि रूप रोग अभिव्यक्त हुआ। इसके निवारण के लिए औषध का निश्चय करने मे यह ध्यान रखने की जरूरत है कि विवर्द्धित भूत सघात को जो न्यून करे, साथ ही शेष भूत संघातों पर बढ़ाने घटाने का प्रभाव पैदा न करे उस रूप का आहार-विहार भेषज यहां उपादेय है। अभिप्राय यह हुआ कि हमे हेतु व्याधि विपरोत या विपरीतार्थकारी भेषज यहां उपादेय है।

हेतु कौन, मधुर-गुरु स्निग्धादि, व्याधि क्या, अरुचि, आमरस का संचय, अनुत्साह, शरीर का गुरुत्वादि, विपरीत व विपरीतार्थकारी भेषज कौन ? लघन, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कटुकादि, तात्पर्य क्या हुआ ? रोग हेतु व व्याधि हेतुओं की वृद्धि करने वाले द्रव्य गुण से लघु रूक्ष, कटु श्लेष्मघ्न द्रव्य गुण वैधर्म्य रखने वाला है। श्लेष्योत्पादक व श्लेष्मा विकृत करने वाला द्रव्य गुण साधर्म्य कहलायेगा।

उक्त रूप से भेषज प्रयोग करने पर भी परिणाम अनुकूल न हो तो पुनः स्कन्धत्रय के साधर्म्य-वैधर्म्य का विशेष तत्परता से अनुसन्धान करें। हेतु स्कंध के साधर्म्य-वैधर्म्य विश्लेषण के समय वाह्य शीतोष्णादि भाव विशेषों का दोष दूष्य स्त्रोत आशय आदि आभ्यन्तरिक विकृतियों का, रोग में सहायक होने वाले व शरीरावयव के व्यापार का भी ध्यान रखना चाहिए।

हेतु स्कन्ध के विभिन्न-विभिन्न वर्ग के हेतुओं में से किसी भी हेतु का विघात करने वाला हेतु है, उसी का नाम 'विपरीत' है। जो हेतु समान गुणधर्मी होते हुए परिणाम में विघातक फ़ल पैदा करे वह हेतु 'विपरीतार्थकारो' है।

व्याधिस्कन्ध में चय, प्रकोप, प्रसर, स्थान, सश्रयादि, अवस्था विशेष, अवस्थानुसार अभिव्यक्त हुए रोग के लक्षण, उपद्रवादिकों का ग्रहण समझना चाहिए। इनमें से किसी का भी जो विघातक हो वह उपक्रम 'व्याधिविपरीत' कहलायेगा। विपरीतार्थकारी का अभिप्राय यहां भी उपरोक्त रूप मे समझना चाहिए।

हेतु व्याधि के विपरीत द्रव्यों में से कोई द्रव्य हेतु के एक ही भाव का विधायक है। कोई दो का, कोई अशेष हेतुओं का इसी तरह व्याधि विपरीत द्रव्यों मे भी कोई व्याधि की, किसी अवस्था का, कोई व्याधि को, किसी अन्य अवस्था का व कोई अशेष व्याधि का व्याघातक हो सकता है। इस तरह अक्षांस भावो की कल्पना से औषध स्कन्धों की अनन्त कल्पनायें हो सकती है। अतः इनके उपयोग के समय हमे यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोष प्रकोप के हेतु अनन्त हैं। प्रकुपित दोषो के तारतम्य से योग से दोषवैषम्य की अवस्थायें अनन्त हैं। इन अनन्त रूप में अभिव्यक्त हेतु व्याधि, परिहार के लिए भेषज का प्रयोग करना है। वह भेषज भी अधिष्ठान भेद से अनन्त है।

इन सब अनन्तों का हम ठीक-ठीक तरह से सामञ्जस्य करने वाली भेषज व्यवस्था निश्चित कर सकें तो बिना किसी व्यापद व व्यभिचार के अवश्य ही रोग का परिहार हो जाएगा। भेषज की ऐसी अवस्था में कभी विफल होने का अवसर नहीं आता। जैसा कि आचार्य निर्देश करते हैं :

> यः स्याद्रस विकल्पज्ञः, स्या च्चदोष विकल्पवित्।
> न स मुह्येद्विकाराणा, हेतु लिंगोप शान्ति षु ॥१॥

जो रस के वैकल्पिक ज्ञान में निपुण है (रस विकल्पना में ही व्याधि हेतु द्रव्य ज्ञान का समावेश है) और दोषों की विभिन्नताओं को जानने मे दक्ष है वह सब प्रकार के दोष हेतु व रोग हेतुओं को समन करने में सर्वदा सफल होगा। वह कभी भो रोग की किसी अवस्था को दख कर कमोहित नही होगा।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि रोगोत्पादक हेतुओं से विपरीत गुण धर्म वाला उपाय करना ही भेषज व्यवस्था है इससे निष्कर्ष निकलता है कि रोग पैदा करने में यदि शैत्य धर्म की प्रधानता है तो भेषज उष्ण धर्मप्रधान होनी चाहिए। व्याधि का रूपयदि, दाह ग्रंथन-सरण विवन्धात्मक है तो भेषज निर्वापण, विमूलापन, स्तम्भन, भेदनात्मक होनी चाहिये। जैसे हेतुव्याधि विपरीत के ये उदाहरण हैं। ऐसे ही उभय हेतुओं के विपरीत भेषज की कल्पना करनी चाहिए।

भेषज की तरह आहार-व्यवस्था का भी रोग विशेष में व दोष विशेष में, तथा उभयात्मक हेतुओं में विपरीत गुणधर्मात्मक प्रयोग होने से वह पथ्य रूप में तत् तत् हेतुओं का निवारक होगा। यही स्थिति विहार की समझनी चाहिए। बैठे रहने के कारण उत्पन्न हुए प्रमेह मेदादि वृद्धि रूप रोगों में भ्रमण रूप विहार, उरुस्तम्भ की व्याधि में जल तरण रूप व्यवहार हेतु विपरीत व व्याधि विपरीत गुण धर्म होने ही से उन उन हेतु व्याधियों में लाभप्रद हैं। वैसे ही देशभी शीतोष्णता भेद से व्याधि हेतु व व्याधि उत्पादक है। तो उस का विकल्प से प्रयोग (शीत देश में व्याधि हुई है तो उष्ण देश में चले जाने से, उष्ण देश में व्याधि हुई है तो शीत देश में चले जाने से) देश में प्राप्त सहायता का निवारण हो जायगा। विपरीत गुण धर्म के कारण ही रोग प्रशमक हो सकता है। इसी तरह काल भी विपरीत गुण, धर्म, परिणाम से प्रयुक्त होने पर हेतु व्याधि तथा दोनों का प्रशमक बन जाता है। यहां यह विशेष ध्यान में रखना चाहिए कि विपरीत शब्द से सम्पूर्ण भावों से विपरीत अथवा अधिकांश भावों से विपरीत व विपरीत प्रभाव लेना चाहिए।

ये सब औषध रूप में व्यवहार किए जाने वाले भेषज, आहार, विहार, देश, काल, रोगों के अनन्त रूपों में विविध प्रकार से प्रयुक्त होने पर भी सन्तर्पण, अपतर्पण रूपपरिणाम से भिन्न परिणाम पैदा नहीं करते। इसलिए अशेष भेषज, सन्तर्पण अपतर्पण, इन दो वर्गो में ही आ जाती है।

शरीर पर जब इन उपयोग की जाने वाली सामग्री के दो तरह के प्रभाव होते हैं। तब इनके प्रयोग की अनवस्था से उत्पन्न होने वाले रोग भी इन्हीं दो वर्गो में समाहित हो जाते हैं।

जैसे प्रमेह ज्वरकुष्ठ आम दोष, अतिस्थौल्य, हृद्रोगादि अनेक व्याधियें गुरु, मधुर, स्निग्ध रस गुण प्रधान भोजन से, अति भोजन से, श्रम न करने से पैदा होते हैं। ये रोग दोष तथा आश्रय भेद से अनेक तरह के होते हुए भी वृद्धि समानता को लेकर सब के सब परिणाम मे एकत्व भाव वाले सन्तर्पण होने के कारण सभी सन्तर्पणजन्य कहे जा सकते हैं।

ऐसे ही, शोष, कास, बलमांसक्षय, ज्वर, विण्मूत्रग्रहादिव्याधियें शारीरिक भावों के ह्रास के कारण उत्पन्न होती हैं। ह्रास पैदा करने वाले अपुष्टिकर भोजन, शरीर व शरीर की

आवयविक भावों की पूर्ति की कमी किसी रोग का अधिक समय तक ठहरे रखना, वमन, विरेचनादि का अतियोग लंघन का दीर्घकालिक अनुबन्ध आदि अनेक हेतु हैं पर इन सब हेतुओं का परिणाम एक "क्षय" होने के कारण सब हेतुओं को क्षयोत्पादक-हेतु और उनसे उत्पन्न होने वाली विभिन्न व्याधियों को अपतर्पणजन्य व्याधियें कहेंगे।

ऊपर कह ही आये हैं कि ओषधियें नाम, रूप, गुण, योनिभेद से अनेक प्रकार के होते हुए भी हेतु व्याधि के विपरीत व विपरीतार्थकारी परिणाम पैदा करने के कारण (क्षयज रोगों में सन्तर्पण वृद्धिजन्य रोगों में अपतर्पण) सबकी सब सन्तर्पण या अपतर्पण भेषज है।

अपतर्पण के उपरोक्त नाम रूपादि भेद से अनन्त भेद होते हुए भी रोग पैदा करने वाले दोषों पर प्रभाव भेद से उसके शोधन शमन दो भेद होते हैं।

जिस रोग में दोषस्वकीय स्वरूप परिणाम से अत्यन्त अधिक मात्रा में बढ़े हुए हैं वैसे दोषों को शरीर से बाहर निकालने का काम करने वाली भेषज शोधन शब्द से सम्बोधित की जायगी।

जिस रोग में दोष अल्पप्रमाण में बढ़े हों उनको अपने उचित प्रमाण में लाने के उपचार का नाम "शमन भेषज" है।

शोधन भेषज की रोग विशेष के अनुसार अनेक कल्पनायें हैं जैसे विवर्धित दोषों के लिए वमन, विरेचन, निरूहवस्ति, शिरोविरेचन रक्तमोक्षणादि।

अवयव-विशेष के आश्रित दोषों को निकालने के लिए या लेखन के लिए धूम, कवलग्रह अंजन, आश्च्योतनादि का प्रयोग पूय, मूढ़गर्भादि विविध शल्यों के निर्हरण के लिए छेदन, भेदन, लेखन, व्यधदि शस्त्रकर्म का प्रयोग इन सबको एकत्रित दोष निष्कासन का परिणाम करने के कारण शोधन भेषज कहा जाता है।

इसी तरह रोग विशेष की परिस्थिति के विचार से प्रयुक्त पाचन, दीपन, व्यायाम, उपवास, आतप, मारुतादि दोष शान्ति के लिए प्रयुक्त निर्वापण, विमलापन, उपलेपादि तथा प्रायोगिक धूम, नस्य, गण्डूस, कवलग्रह, अंजन आश्च्योतन, आलेप स्नानादि दोषों को समान स्थिति में लाने का एक परिणाम पैदा करने वाले होने से तब 'शमन' भेषज कहे जाते हैं।

अपतर्पण की तरह सन्तर्पण भेषज भी वल्य बृंहणादि गण भेद से असगन्ध शतावरी, वला, क्षीर काकोली आदि व्यक्ति-भेद से, मांस रस दुग्धादि भोजन, अनुवासन, बृंहणरूप वस्तिकर्म, स्नान, अभ्यंग, गण्डूष, अंजनादि अनेक प्रकार की होते हुए भी दुर्बल और क्षीण हुए शरीर वा शरीरस्थ अवयवों को पोषण व सबल करने वाले एक परिणाम के कारण बृंहण भेषज कही जाती है। इसको शमन भी कहते हैं।

आतुरावस्था की तरह स्वस्थावस्था में भी रसायन वाजीकरण रूप भेषज के प्रयोग हैं। वे ओजवर्धक, बलवर्धक होने के कारण बृंहण नाम से कहे जाते हैं।

उपरोक्त विविध भेदीय भेद युक्त होते हुए भी भेषज मात्र को द्विविध परिणामजनक होने के कारण सामान्य व सक्षिप्त सिद्धान्त से दो वर्गो ही में ग्रहण करली गई हैं। इन सबको विपरीत, विपरीत गुण, विपरीतगुण भूयिष्ठता वे विपरीत प्रभावोत्पादकता को ध्यान में रख रोगोत्पादक हेतु या रोग-निवारणार्थ प्रयोग करने पर अपने भेषज रूप परिणाम को सफल बनाने में देश काल मात्रादि सहायक कारणों की पूरी-पूरी अपेक्षा रहती है।

विना इन सहायी कारणों के ये अपने पूर्ण प्रभाव को सम्पन्न नहीं कर सकते, जैसा कि आचार्यों ने उपदेश किया है।

विपरीतगुणैर्देशकाल मात्रोपपादितैः।
भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसम्मताः ॥१॥

अभिप्राय यह है कि विपरीत गुण-धर्म वाली भेषज का देश, मात्रा, काल का ध्यान रख साध्य रोगों पर प्रयोग करने से रोग अवश्य निवृत्त हो जाते हैं।

दोष, रोग, भेषज का अवस्थानुसार विवेचन करके फिर चिकित्सा कर्म का प्रयोग किया जाय वह शतप्रतिशत फलदायक हो सकता है। इन सबका आवस्थिक ज्ञान शास्त्रों के सम्यक् श्रवण, मनन से, गुरुपासना या गुरु के पास प्रत्यक्ष अभ्यास से अनवरत रोग स्थिति का पुनः-पुनः अध्ययन करने से प्राप्त होता है, यह पहिले प्रतिपादित कर ही आये हैं।

परिणाम भेद से सन्तर्पण, अपतर्पण, रूप भेषज जिनका कि विविध रोगों में प्रयोग करना है आयुर्वेद शास्त्र में जाति भेद से जंगम, औद्भिद, पार्थिव नाम से व्यवहार किए जाते हैं।

प्राणियों से प्राप्त कर प्रयोग किए जाने वाले या प्राणियों के शारीरिक आवयविक भाग जिनका कि रोग विशेषों मे प्रयोग किया जाता है वे सब "जंगम" भेषज हैं। जैसे मधु, घृत, दुग्ध, दधि, मूत्र, विड्, नख, दन्त, खुर, चर्म, शृंग, केश, लोम, रोचन, पित्त, वसा मज्जा, रुधिर, मांस, रेत, अस्थि, स्नायु आदि।

(१) जो द्रव्य पृथ्वी को फोड़कर उत्पन्न होते हैं वे सब औद्भिद भेषज हैं। इनके चार भाग हैं एक वे जो विना फूल देकर पश्चात् फल देने वाले हैं जैसे वट, पीपल, उदुम्बरादि हैं जिनकी संज्ञा, वनस्पति है।

(२) दूसरे वे जो पहिले फूल देकर पश्चात् फल देने वाले है जैसे आम्र, कदली, जम्बीर लकुचादि इनकी संज्ञा वानस्पत्य है।

(३) तीसरी वे हैं जो फल पकने पर स्वयं समाप्त हो जाती हैं। इनकी संज्ञा औषध है जैसे गोधूमादि।

(४) चौथी वे जिनके प्रतान चलते हैं जो भूमि पर ही फ़ैलती हैं वे "विरुद्ध" संज्ञा वाली भेषज हैं। जैसे शंखपुष्पी इत्यादि।

उपरोक्त चारों प्रकार की भेषज, उनकी मूल, त्वक्, सार, निर्यास, नाल, स्वरस, पल्लव, क्षीर, फल, पुष्प, तैल, भस्म, क्षार, सत्व तथा कंटक, शृंग, कन्द तथा प्ररोहों का आवश्यकतानुसार प्रयोग होता है।

ये स्वभावत: भेषज द्रव्य जिनका रोग प्रतिकार के लिए प्रयोग किया जाता है, रस गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव से सम्पन्न होते हैं।

वस्तुत: देखा जाय तो द्रव्य विशेष में रहने वाले ये रस गुण, वीर्य, विपाकादि ही अवस्थानुसार उचित प्रयोग करने से धातुसाम्य का कार्य करते हैं।

इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य भौतिक संयोग विशेष से विभिन्न रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव वाला होता है। पर इनमें फिर रससाम्यता, गुणसाम्यता, वीर्य, विपाकसाम्यता भी होती है। जैसे इक्षु, मधु, शर्करा, मधुका, मधूक, काकोली आदि मधुर रस प्रधान द्रव्य हैं इसी तरह गुणादि साम्यता वाले भी अनेक द्रव्य मिलते हैं।

रोग विशेष में इनका प्रयोग किये जाने पर ये भेषज द्रव्य कहीं रस से, कहीं गुण से, कहीं वीर्य से, कहीं विपाक से, कही रस-गुण दोनों से, कहीं रस वीर्य विपाक तीनों से, कहीं रसादि पांचों से रोग-निवारण का कार्य करते हैं।

समान गुण-धर्मी होते हुए भी दो द्रव्य भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य करते हुए भी मिलते हैं। रस, गुण, वीर्य, विपाक की समानता होते हुए भी परिणाम में यह अन्तर क्यों दिखाई पड़ता है। वह द्रव्य के प्रभाव का, प्रभाव शब्द का अभिप्राय रस, वीर्य, विपाक संभिन्न द्रव्य का स्वभाव विशेष है। द्रव्य का यह स्वभाव द्रव्याश्रित रहने वाले रस, गुण, वीर्य विपाक को दबा कर कार्य करता है।

भेषज-द्रव्यों की यह विभिन्नतायें ध्यान में रख प्रयोग करने ही से विशेष फल की सिद्धि होती है।

उपरोक्त निर्दिष्ट की गई, जंगम औद्भिद, भेषज मृदु आवयविक होने से इनके रस, गुणादिकों की अधिक क़ाल तक स्थिरता नहीं होती। थोड़े समय में ही ये काल स्वभाव से हीन बलवीर्य हो जाती हैं। कालानुबन्ध के अतिरिक्त देश, काल, बीज; जल वायु, सम्पद् के औचित्य अनौचित्य से सभी गुण धर्मों में न्यूनाधिकता होती रहती है।

कालानुबन्ध से इनकी शक्ति का ह्रास देख आचार्यों ने उन द्रव्यों का अनुसन्धान व प्रयोग करना आरम्भ किया जो चिर काल तक स्थिर आवयविक स्थितियुक्त व प्रभूत वीर्य-सम्पन्न रह सकें। वे हैं धातु, उपधातु, रस, उपरस, रत्न, उपरत्नादि। इनकी संज्ञा है पार्थिव

द्रव्य। ये पार्थिव द्रव्य भी भेषज रूप में प्रयुक्त होने पर जंगमादि की तरह रस, गुण, वीर्य, विपाक प्रभाव द्वारा ही कार्य करते हैं।

परिणाम-भेद से दो प्रकार की, गति-भेद से तीन तरह की ये भेषज, व्यक्ति-भेद से अनन्त तरह की हैं। इनके प्रयोग भी कल्क, क्वाथ, फाण्ट, शीत कषाय, घृत, तेल, आसव, अरिष्ट, चूर्ण, वटी, अवलेहवर्त्ति चक्रिकादि रूप में अनन्त तरह से किया जाता है।

ये विविध भेषज रस-गुण-वीर्य-विपाकादि के तारतम्य भावों का विवेचन कर रोगों की यथावत् अवस्था में देश, काल, मात्रादि का ध्यान रखते हुए प्रयोग करने पर उन उन दोष विकृतियों, धातु विकृतियों, मार्ग विकृतियों, स्थान विकृतियों का अवश्य निवारण करती हैं। साथ ही और किसी प्रकार की अन्य विकृति को उत्पन्न नही करतीं। औषधियों के ऐसे प्रयोग भी सामने आते हैं जिनका उपयोग करने पर तत्काल वेदना विशेष के शमन के कारण रोग-निवृत होता हुआ दिखाई देता है। किन्तु ऐसे भेषज प्रयोग वस्तुत: व्याधि का प्रशमन नहीं करते। प्रत्युत व्याधि पैदा करने वाले हेतु विशेष का परिहार करने के कारण व्याधि-निवारक की तरह तद्वत् प्रतीत होते है।

पर उनमें हेतु विशेष को निवारण करने के गुण-धर्मों के साथ-साथ ऐसे अन्य गुण-धर्म भी रहते हैं जो अन्य स्रोतों व आशयों पर तत्काल या कुछ समय पश्चात् ऐसा प्रभाव पैदा करते हैं कि जिससे दूसरी विभिन्न व्याधि उत्पन्न हो रोगी के आतुर शरीर और भी आतुर कर अनर्थ की उत्पत्ति करते हैं।

इसी विचार से आचार्यों ने इस प्रकार की सदोष प्रयोग प्रणाली का निषेध कर एकान्तत: विशुद्ध प्रयोग प्रणाली की चिकित्सा का उपदेश किया है, तद्यथा—

> प्रयोग: शमयेद्व्याधिं योन्य मन्य मुदीरयेत्।
> नासौ विशुद्ध: शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥१॥
> तदात्वे चानुबन्धे च यस्यस्यादशुभंफलम्।
> कर्मणस्तन्न कर्त्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम् ॥२॥

भेषज का जो प्रयोग एक व्याधि का प्रशमन कर दूसरी व्याधि को पैदा न करे वही विशुद्ध प्रयोग है। जो एक व्याधि को दबा कर दूसरी व्याधि को पैदा करे वह औषध प्रयोग अशुद्ध है। जिस भेषज प्रयोग से तत्काल या कालान्तर में अशुभ पणिाम की उत्पत्ति हो वैसा चिकित्सा क्रम वैद्य को नही करना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्रसम्मत चिकित्सा पद्धति व उनके नियमों का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

अब दूसरे प्रश्न के (आ) भाग के उस अंश का उत्तर दिया जाता है जिससे आयुर्वेद पद्धति से चिकित्सा करने पर उसके फलाफल का सख्यादि प्रमाण द्वारा उत्तर चाहा है।

(ख) आयुर्वेद शास्त्रानुसार की जाने वाली चिकित्सा का परिणाम विशेषतः चिकित्सक वैद्य की योग्यता पर निर्भर है।

यदि चिकित्सक शास्त्रीय विषयों का पूर्ण मर्मज्ञ, तर्क-शक्ति-सम्पन्न, स्मृतिमान्, क्रिया-कुशल व तत्परता से युक्त है तो उसके द्वारा की जाने वाली चिकित्सा निःसन्देह अधिकांशतः फलवती ही होती है।

भषज, वैद्य, रोगी, परिचारक ये चिकित्सा के चार पाद माने गये है। प्रत्येक पाद अपने अपने पूर्ण गुणों से युक्त हो तो वह चतुष्पादपूर्ण चिकित्सा कही जाती है।

चिकित्सा का फलाफल इसके प्रत्येक पाद की पूर्णता अपूर्णता पर विशेष निर्भर है। क्योंकि यदि इन चार बातो मे एक भी पाद अपूर्ण या अव्यवस्थित है तो वैद्य उचित चिकित्सा करके भी इष्ट फल सम्पादन नहीं कर सकता।

हमारी पद्धति भेषज पाद का जो रूप है वह पाश्चात्य पद्धति के भेषज पाद से बहुत विभिन्न है।

पाश्चात्य चिकित्सा के भेषज परिमित औषध प्रयोग प्रयुक्त भेषज का अल्प समय तक असर रहना। प्रयोगो में विविध प्रकार के विषों का संमिश्रण, प्रयोग करने के थोड़े समय बाद ही परिणाम के साथ या परिणाम ह्रास से अन्य विविध उपद्रवों का उत्पन्न होना कुछ ऐसी बातें हैं जो देशी पद्धति में नहीं के समान हैं।

देशी औषधियें यहीं इस देश में उत्पन्न होती हैं। रसवीर्य परिपूर्ण, अपने अपने काल मे प्राप्त थोड़े व्यय से उपलब्ध सरल विधि से निर्मित हो जाती हैं। इस प्रणाली के काष्ठौषधि प्रयोग तो सर्वांश में हो निर्दोष है, रसादि प्रयोगों में भी बहुत थोड़े ऐसे योग हैं जिनमें विशेष व्यापद की सभावना रहती है। एक एक रोग के लिए प्रकृति, देश, काल बल, अग्नि व रोगावस्था की विभिन्नताएं ध्यान में रख अनेक योगों का संकलन है।

यही कारण है कि देशी पद्धति से प्रयुक्त की जाने वाली चिकित्सा प्रयोग बाहुल्य से निर्दोष विधि द्वारा सम्पादित होने से नवीन दशा में प्रयोग की जाने से अधिक समय तक स्थायी फल पैदा करने वाली होती हैं।

इसी से संग्रहकार कहते हैं।

> वीर्यवद् भावित सम्यक् स्वरसैरसकृल्लघु
> रस गन्धादि सम्पन्न काले जीर्णे च मात्रया ॥१॥
> एकाग्र मनसः युक्त भैषज्य म मृताय ते ॥

देशी चिकित्सा पद्धति की सफलता के लिए एक और भी स्वाभाविक हेतु है और वह यह है कि इस देश मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य के लिए इसी देश में उत्पन्न होने वाले अन्न और औषधियें सर्वदा अनुकूल रहती हैं।

क्योंकि इसी देश में उत्पन्न हुई भेषज का प्रभाव तुरन्त ही उसके शरीर के अनुकूल बन जाता है। आयुर्वेद शास्त्र मे व्याधि-निवृत्त करने वाली भेषज सात्म्य भी हो यह नियम नही, व्याधि निवारण करने तथा सात्म्य होने के हेतु भिन्न भिन्न हैं। सात्म्य का अर्थ है अनुकूल। अर्थात् जो द्रव्य अपने रसादि गुण धर्मो व अपने स्वाभाविक प्रभाव से अपने शरीर के प्रतिकूल न हो उसका नाम है "सात्म्य" एक रोग को निवारण करने वाली अनेक औष-धियें हो सकती हैं। जो औषध रोगी को सात्म्य है उसका प्रभाव उस बीमारी पर बहुत जल्दी होगा बजाय असात्म्य भेषज के।

यह उचित भी है क्योंकि जो द्रव्य उस व्यक्ति को दीर्घ काल से अनुकूल है उसका प्रभाव रोगावस्था मे भी विशेषतः अनुकूलता को ही सम्पादन करेगा।

फिर उस द्रव्य में यदि उस व्याधि को निवृत्त करने की भी शक्ति है तो उसका विशेष फलप्रद परिणाम उत्पन्न होना सर्वथा न्यायसंगत है।

देशी चिकित्सा की सफलता में यह हेतु प्रबल सहायक है।

सग्रहकार ने निर्देश भी किया है कि—

उचितो यस्य यो देश स्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
देशोऽप्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यं गुणजन्म च ॥१॥

चिकित्सा के फलाफल को प्रमाणित करने के लिए संख्यानुपात की आवश्यकता प्रगट की गई तदर्थ यह कहना है कि वैद्यों में डाक्टरों की तरह रजिस्टर रखने, रोगियों के सम्मति-पत्र प्राप्त कर संग्रह करने तथा नाम लिखने की प्रथा प्रचलित नहीं इसलिए रोगियों की संख्या व प्रमाणपत्रादि का विवरण देना मेरे जैसों के लिए कठिन काम है।

राज्य द्वारा देशी औषधालयों को स्थापना कर तथा आतुरालय स्थापित कर इस पद्धति के अनुकूल सब प्रबन्ध रख फिर देखना चाहिए कि इससे कितनी सफलता मिलती है। प्रतिशत संख्यादि अनुपात का ठीक ठीक फल तभी ज्ञात हो सकता है।

(ग) देशी चिकित्सा पद्धति के विषय में मेरी राय यह है कि अनेक जीर्ण रोगों में तथा महा रोगों में अन्य चिकित्सा पद्धतियों की अपेक्षा आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति विशेष फलप्रद होती है।

वात व्याधि, ग्रहणी, वात ग्रन्थि, अम्लपित्त उपदंशादि रोगों से पीड़ित अनेक रोगियों को चिकित्सा मैंने की है। इन रोगों के निवारण करने में आयुर्वेदिक औषधियों ने अनेक बार विस्मयोत्पादक चमत्कार दिखाये हैं।

परन्तु रजिस्टर आदि में नाम लिखने की पद्धति न रखने से उनका प्रमाण उपस्थित कर सकना शक्य नहीं।

अन्य चिकित्सा-पद्धतियों की चिकित्सा से आरोग्य प्राप्त न करने वाले, जीवन की आशा छोड़े हुए अनेक मुमूर्ष रोगी आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति से मेरे द्वारा स्वस्थ हुए हैं। उन में से पांच-छः के अब प्रमाण-पत्र प्राप्त कर उनकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ। ये सब महानुभाव राज्यमान्य या राजा सम सुप्रतिष्ठत हैं।

ऐसे पुरुष किसी भी चिकित्सा-पद्धति की ओर तभी आकर्षित होते है जब उसके द्वारा अनेक रोगों का परिणाम प्रत्यक्ष देख लेते हैं।

समिति के सदस्य महानुभाव ! इसी से अनुमान लगालें कि कितने रोगी इस चिकित्सा पद्धति से लाभान्वित होते हैं।

रोगी - परीक्षा

वैद्य बाबूलाल जोशी

[रोग विज्ञान बडा ही जटिल विषय है। विज्ञान की व्युत्पत्ति विशिष्ट ज्ञान से होती है। जैसे कि भगवान ने कहा है कि 'ज्ञानं तेऽह सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' रोगों का यह विशिष्ट ज्ञान आर्ष संहिताओं में स्थान २ पर कई प्रकार से बताया गया है। क्योंकि चिकित्सक की प्रथम कार्य यही है कि रोग (वेदना लक्षण) को समझे।

परीक्ष्य कारिणो हि कुशलाः भवन्ति—च. सू. अ. १० में यही बताया गया है कि जो ठीक प्रकार परीक्षा कर सके वही चतुर कहा जा सकता है, तथा वह चतुर चिकित्सक अपनी सामग्री के साथ रोगियों की रोग मुक्ति कर आरोग्य लाभ देता है, परीक्षा (१) द्विविधा (अनुमान, प्रत्यक्ष) (२) त्रिविधा (आप्तोपदेश के साथ) (३) चतुर्विधा (साध्य, कृच्छ्र साध्य, प्रत्याख्येय असाध्य) (४) षड्विधा (पांचों इन्द्रिय प्रश्न) (५) अष्टविधा व दोष धातु मलों के तत्तद् लक्षणों व आशय विकृति, श्रोतो विकृति आदि से कई प्रकार की कही है।

सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य विषय विज्ञान को ज्ञान के किसी एक अंश मात्र से नहीं जाना जा सकता। यदि परीक्षा ठीक प्रकार से नहीं हुई तो चिकित्सा के युक्तिज्ञान में महान धोखा हो सकता है। जिसका परिणाम रोगी व वैद्य के लिए हितकर नहीं होता। इस प्रकार अत्यन्त ही निगूढतम सूक्ष्मतम अशांश कल्पना के विषय को भली प्रकार समझने व समझाने के लिए विज्ञ लेखक श्री जोशी जो कि चरित्रनायक के विश्वस्त एवं श्रद्धालु शिष्य है, ने सरल भाषा में गागर में सागर की तरह प्रपत्र बनाए हैं।

इनके अध्ययन से पाठकों ने लाभ उठाया तो रोगी-हितों के साथ आयुर्वेद-हित भी सम्भव होगा।

—सम्पादक]

मैं अपनी रोगनिर्णायक पद्धति में कुछ प्रपत्रों का अनुशीलन करता हुआ रोग-परीक्षण कर चिकित्सा कार्य करता हूँ इससे मुझे चिकित्सा में बड़ी सुविधा मिलती है। ये प्रपत्र आर्ष संहिता के ही कुछ अंग हैं, सर्वसाधारण को समझने व समझाने में उपयोगी होंगे। मेरी यह मान्यता है कि रोगी-परीक्षा कई प्रकार से की जाने के बाद ही रोग निर्णय करना चाहिए। पहिले सभी तरह से रोग की परीक्षा कर निश्चय किया जाता है तो भविष्य में चिकित्सा करते समय कभी भी असफलता नहीं होती। परीक्षा करने की सक्षिप्त विधि प्रपत्रों में बताई जा रही है आशा है विज्ञ पाठक इसका अनुशीलन कर लाभ उठायेंगे तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

आतुर परीक्षा विधिः
Clinical Method

(1)	परिप्रश्न	Interogatory
(2)	प्रत्यक्ष	Observational
(3)	अनुमान	Inferential

आतुर बल प्रमाण परिज्ञानम्
Evaluation of the vitality of the patient as a whole man in terms of.

(क)	प्रकृति से	Constitution
(ख)	सारतः	Essential make up
(ग)	सहननतः	Compactness
(घ)	प्रमाणतः	Bodily proportions (Anthropomentry)
(ङ)	सात्म्यतः	Homologation
(च)	सत्वतः	Psychic make up
(छ)	आहार शक्तितः	Gastric capacity
(ज)	व्यायाम शक्तितः	Capacity for exercise
(झ)	वयस्तः	Age
(ञ)	देशतः	Habital

प्रकृति से Constitutional

(1)	गर्भशरीर प्रकृति	Genetic typical factors
	शुक्रशोणित प्रकृति	Genetic traits - Spermogermic
	कालगर्भाशय प्रकृति	Gestatory period and uterin condition
	मातुराहारविहार प्रकृति	The diet and regimen of the expectant mother
	महाभूतविकार प्रकृति	Proto elemental traits
(2)	जातशरीर प्रकृति	Paratypical or environmental factors
	जातिप्रसक्ता प्रकृति	Social
	कुलप्रसक्ता प्रकृति	Familial
	देशानुपातिनी प्रकृति	Climatic
	कालानुपातिनी प्रकृति	Seasonal factors
	वयोऽनुपातिनी प्रकृति	Age factors

प्रत्यात्म नियता प्रकृतिः

Phenotypical Characteristics indivisual constitution with reference to

आहार	Diet
विहार	Regimen (Behaviours)
निद्रा	Sleep
सात्म्यम्	Homologation
ओकसात्म्य	Acquired of homologation (habituation with regard to
औषध से	Drug
अन्न से	Food
पान से	Drink
चेष्टा से	Activities
भक्तिः	Proctivity
शौचम्	Cleanliness
शीलम्	Character
आचारः	Conduct
स्मृतिः	Memory
मेधा	Intelligence
आरम्भ	Initiative
गुणाः	Qualities
अन्तराग्निः	Gastric fire
समः	Regular
विषमः	Irregular
तीक्ष्णः	Acute
मन्दः	Dull
कोष्ठः	Bowel condition
क्रूरः	Hard
मृदुः	Soft
मध्यः	Ordinary
वातप्रवृत्तिः	Flow of flatus
मूत्रप्रवृत्तिः	Flow of urine
पुरीषप्रवृत्तिः	Flow of fleces
आर्तवप्रवृत्तिः	Flow of menstrual blood
स्तन्यप्रवृत्तिः	Flow of breast milk
स्वेदप्रवृत्तिः	Flow of sweat
सिङ्घाणकप्रवृत्तिः	Flow of nasal secretion
दूषिका (नेत्रमल) प्रवृत्तिः	Flow of sebum palper bab

प्रजननमल प्रवृत्ति	Flow of sebum preputii
त्वक्स्नेहप्रवृत्तिः	Flow of sebum cutaneous
कर्णमलवृद्धिः अवृद्धिः	Decrease or increase of cerumen
लालाप्रवृत्तिः	Flow of saliva
रक्तप्रवृत्तिः	Flow of blood
कफप्रवृत्तिः	Flow of phlegm
पित्तप्रवृत्तिः	Flow of bile
केशवृद्धिः अवृद्धिः	Increased or decreased hair growth
नखवृद्धिः अवृद्धिः	Increased or decreased nail growth
इन्द्रिय कर्माणि	Sense functions
सत्वम्	Mental condition
बलम्	Strength
पूर्वव्याधयः	Previous illnesses
परिणीतः	Married or unmarried condition

(4) मानसिक प्रकृतयः

Psychic types of constitution

(क) सात्विक प्रकृति

ब्राह्मसत्वम्
आर्षं सत्वम्
ऐन्द्र सत्वम्
याम्य सत्वम्
वारुण सत्वम्
कौबेर सत्वम्
गांधर्व सत्वम्

(ख) राजसिक प्रकृति

आसुर सत्वम्
राक्षस सत्वम्
पैशाच सत्वम्
सार्प सत्वम्

प्रेत सत्वम्	Ghost type
शाकुन सत्वम्	Avian type

(ग) तामस प्रकृति

पाशव सत्वम्	Bestial type
मात्स्य सत्वम्	Piscine type
वानस्पत्य सत्वम्	Vegetative type

(5) समप्रकृते लक्षणानि

The characteristics of the man belonging to the equi balance vitial type

समदोषः	Proper proportion of humors
समाग्निः	Regularity of the digestive function
समधातुक्रियः	Regularity of the functions of the body elements
सममलक्रियः	Regularity of the excretory function
प्रसन्नात्मा	Clarity of the self
प्रसन्नेन्द्रियः	Clarity of the senses
प्रसन्नमनाः	Clarity of the mind
सममांसप्रमाणः	Proper proportion of flesh
समसहननः	Proper compactness
दृढेन्द्रियः	Firmness of sense organs
क्षुत्पिपासा सहः	Capacity to endure hunger and thirst
शीतातप सहः	Capacity to endure cold and heat
व्यायाम सहः	Capacity for exercise
समजरः	Aging at the proper time all over the body
समसर्वरस सात्म्यः	Equally homologous to all tastes

रुगपगमनम्
स्वरवर्णयोगः
शरीरोपचयो
बलवृद्धिः
अभ्यवहार्याभिलाषो
रुचिराहारकाले
अभ्यवहृतस्य आहारस्य काले सम्यग्जरणम्
निद्रालाभो यथाकालम्
वैकारिकाणां स्वप्नानामदर्शनम्
सुखेनच प्रतिबोधनम्
वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः
मनोबुद्धीन्द्रियाणामव्यापत्तिः
मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टिः

निदानतः परीक्षा

Examination of the patient with reference to general signs and symptoms.

प्रत्यक्षेण (इन्द्रिय) Physical Examination

चक्षुषा परीक्षा Inspection Examination with the eye.

उपचयः	Increase
अपचयः	Decrease
ग्लानिः	Depression
हर्षः	Exhilaration
रौक्ष्यम्	Dryness
स्नेहः	Unctuousness
वर्णः	Colour
संस्थानम्	Location or shape
प्रमाणम्	Size
छाया	Shadow

विशेषतः परीक्ष्या Particulars

नखाः Nails
नयने Eyes
पक्ष्मणी Eye lashes
भ्रुवौ Eye brows
नासा Nose
दन्ताः Teeth
ओष्ठौ Lips
हस्तौ Hands
पादौ Feet
प्रभा Lustre
केशाः Hair of the head
लोमानि Body hair
मन्ये The sides of the neck
उच्छ्वासः Respiration
कुमारिके Pupils
मूत्रम् Urine
पुरीषम् Feces
छाया Shadow
प्रतिच्छाया Reflection

स्पर्शन परीक्ष्या—Examination with the hand

स्पर्श पंचविध :

(१) परिमर्शनम् Palpation
(२) प्रपीडनम् Pression
(३) आयमनम् Extension
(४) आकोटनम् Percussion
(५) लुञ्चनम् Traction

शीतता	उष्णता	Cold or heat
स्विन्नता	अस्विन्नता	Moist or dry
गुरुता	लघुता	Heavy or light
सुप्तता	असुप्तता	Insensitive or sensitive
भावता	अभावता	Present or absent
खरता	श्लक्ष्णता	Rough or smooth
स्तब्धता	अस्तब्धता	Rigid or loose
पतितता	उन्नतता	Depressed or elevated
सशूलता	नि:शूलता	Painful or painless
स्थिरता	अस्थिरता	Immovable or movable
मृदुता	कठिनता	Soft or hard
स्पन्दता	अस्पन्दता	Pulsating or non-pulsating
पृथुता	अक्षिप्तता	Diffused or limited
घनता	द्रवता	Solid or fluid

विशेषत: परीक्ष्या

अक्षिणी Eyes
कर्णौ Ear
पार्श्वे
भ्रुवौ Eye brows
शङ्खौ Temples
ग्रीवा Throat
मेढ्र Phallus
नाभि Umbilicus
तालु Palate
ओष्ठौ Lips
ललाटम् Fore head
हनु Jaws
नासिके Nose
पाणी Hands
अंसौ Shoulder girdle
पादौ Feet
जानुनी Knees
ऊरु Thighs
गुल्फौ Ankles
मणिके Wrists
स्फिचौ Hips
स्तनौ Breasts
उदरम् Abdomen
पार्श्वे Sides
पृष्ठेषिका Spinal column
वङ्क्षणौ Groins
गुदम् Rectum
वृषणौ Testes
पर्शुका Ribs

श्रवणेनपरीक्षा Examination with the ear
अन्त्रकूजनम्   Gurgling of the intestines
सन्धिस्फुटनम्   Craking of the Joints and Knuckles
अंगुलिपर्वभिः स्फुटनम्   Sound produced by knuckles
ध्वनिविशेष. फुफ्फुस हृदयादीनाम् Sound emanating from the heart, the lungs and other parts
स्वर विशेषाः Characteristics of the voice
अंगुल्याकोटनध्वनय Sound produced by percussion with the finger
ये चान्ये केचिच्छरीरोपगता शब्दा Any other sounds observable in the body
घुर्घुरकम् Gurgling (Groaning)
कठकूजनम् Moaning weezig
कल ध्वनिः Inarticulate
ग्रस्त ध्वनिः Impeded
अव्यक्त ध्वनिः Indistinct
गद्गद ध्वनिः Broken
क्षाम ध्वनिः Feeble
दीन ध्वनिः Low speech

रसनया परीक्षा Examination with the toung

आतुरमुख वैरस्य परिप्रश्नेन Change of taste in the patients mouth by interrogation
शरीरवैरस्यं यूकापसर्पणेन Vitiation of the body fluid by observing the exodus of lice etc. from the patients body
शरीरमाधुर्यं मक्षिकोपसर्पणेन Sweetning of the body fluid by observing the swarming of flies.
धारिलोहितम् श्वकाकादिभ क्षणेन Vital blood by its being accepted by dogs crones etc.
लोहितपित्तम् श्वकाकाद्यभक्षणेन Bilious blood by its being rejected by dogs crows itc.

घ्राणेन परीक्षा Examination with the Nose

सर्वशरीरगता प्रकृतिवैकारिका गन्धविशेषाः
इष्टाः ,,
अनिष्टाः ,,
वियोनयः ,,
विद्रुताः ,,

निदानतः परीक्षा परिप्रश्नेन

Examination of the patient with reference to disease's condition in General —By Interrogation

लिगम् Etiological factors General सामान्य Special विशेष
पूर्वरूपम् Premonitory symptoms ,, ,, ,, ,,
रूपम् Signs of Symptoms Pathognomonic
General सामान्य Special विशिष्ट
Pathognomonic
उपशय Homologatory Symptoms and
हेतु causative factors विपरीत Directly antagonistic
व्याधि Disease condition विपरीतार्थकारी Antagonistic in effect
अनुपशय Nonhomologatory signs and symptoms
विपरीत causative factors Directly antagonistic
विपरीतार्थकारी Disease condition Anta gonistic in effect
संप्राप्ति Pathogenesis (Disease Course)
जातिः दोषोत्पत्ति Origin of disease
आगतिः दोषवृद्धि Progress of disease
संप्राप्तिः रोगाभिनिवृत्ति Full development of.

अनुमानेन परीक्षा Examination by reference methodr

अग्निः Gastric fire   जरणशक्त्या By power of digestion

बलम् Strength   व्यायामशक्त्या   By capacity for exercise

श्रोत्रादीनि Sense faculties such at hearing etc.

शब्दाद्यर्थग्रहणेन By their power of perception

मन Mind	अर्थाव्यभिचरणेन	By the power of conceentration
विज्ञानम् Understanding	व्यवसायेन	By the purposeful nature of the action
रजः Passion	सगेन	By strength of attachment
मोहः Ignorance	अविज्ञानेन	By lack of understanding
क्रोधः Anger	अभिद्रोहेण	By violent action
शोकः Grief	दैन्येन	By dejection
हर्षः Joy	आमोदेन	By exhilaration
प्रीतिः Pleasure	तोषेण	By the sense of satisfaetion
भयम् Fear	विषादेन	By despair
धैर्यम् Fortitude	अविषादेन	By cheerfulness
वीर्यम् Vitality	उत्थानेन	By enthusiasm for undertaking (enter-prize)
अवस्थानम् Resolution	अविभ्रमेण	By absence of vacillation
श्रद्धा Indination	अभिप्रायेण	By likes
मेधा Intelligence	ग्रहणेन	By power of comprehension
सज्ञा Wits	नामग्रहणेन	By correct recognition
स्मृतिः Memory (modesty)	स्मरणेन	By power of recollection
ह्रीः	अपत्रपणेन	
शीलम् Character	अनुशीलेन	By conduct
द्वेषः Aversion	प्रतिषेधेन	By aboidence
उपाधिः Motive	अनुबन्धेन	By subsequent performance
धृतिः Steadiness	अलौल्येन	By the absence of fickleness
वश्यता Docility	विधेयतया	By compliance

वयोभक्ति सात्म्य व्याधिसमुत्थानानि Age, prodilection, homologation etiological factors

काल देशोपशय वेदना विशेषेण By the stage of life residence, homologatory signs and the type of pain respectively

गूढलिंगव्याधि : Disease with latent symptoms

उपशयानुपशयाभ्याम् By homologatory and non-homologatory tests

दोषप्रमाणविशेषम् Digree of the morbidity

अपचार विशेषण By intensity of provocative facto.r

आयुषः क्षयः Imminence of death अरिष्टैः By evil prognostic signs
उपस्थित श्रेयस्त्वम् Expectation of recovery
कल्याणाभिनिवेशेन By auspicious (wholesome) incination
अमलं सत्वम् clarity of mind अविकारेण By absence of disorder

हेतुविशेषतः परीक्षा Examination of the patient with reference to specific (Disttinc-tive) etiological factors.

कालस्य Time अयोगः Absence of contact अतियोगः Excessive contact
मिथ्यायोगः Erroneous contact

बुद्धिः	Understanding
इन्द्रियस्य	Perception
मुख्यम्	Predisposing
प्रेरणम्	Exciting
विप्रकृष्टम्	Remoti
सन्निकृष्टम्	Proximal
आध्यात्मिकम्	Endogenous
आदिबलप्रवृत्त	Genetic
जन्मबल प्रवृत्त	Congenital
दोषबल प्रवृत्त	Constitutional
आधिभौतिक	Exogenous (Environmental)
सघातबल प्रवृत्त	Injuries resulting from external impact
आधिदैविक	Providential
कालबल प्रवृत्त	Seasonal
देवबल प्रवृत्त	Super natural
स्वभावबल प्रवृत्त	Natural

वात

		प्राकृत	वृद्ध	क्षय
गुण	कर्म	उत्साह	कार्श्य	अंगसाद
लघु	रौक्ष्य	उच्छ्वास	कार्ष्ण्य	अल्पभाषित
शीत	ग्लानि	निःश्वास	उष्णकामता	अल्पचेष्टा
रुक्ष	विचार	चेष्टा	कम्प	संज्ञामोह
खर	वैशद्य	वेगप्रवर्तन	आनाह	अग्निसाद
विशद	लाघव	धातुसम्यग्गति	शकृद्ग्रह	प्रसेक
सूक्ष्म		अक्षपाटव	बलभ्रंश	
स्पर्श		चल	निद्रा,,	
ईषत्तिक्त		गतिशीलो	इन्द्रिय,,	
प्रायःकषाय		का समान मोक्ष	प्रलाप	
			भ्रम	
			दीनता	

८ मेधा (ज्ञान)	१८ निद्राल्पता	ईषदम्ल
९ धी (ज्ञान धारण)	····	ईषद्लवण
१० शौर्य		प्रायः कटु
११ तनु		
१२ मार्दव		
१३ प्रसाद		

पित्त
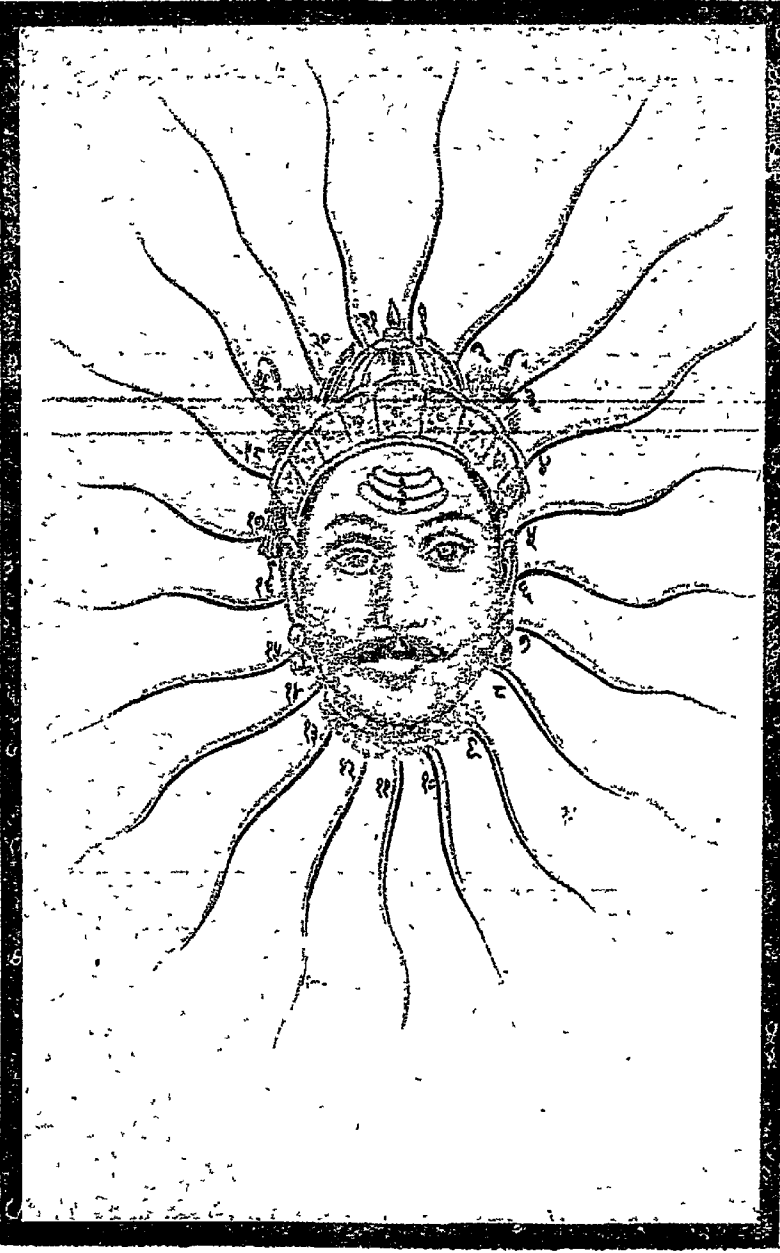
प्राकृत	वृद्ध	क्षय	गुण	कर्म
१ पक्ति	१४ पीत विट्	१९ अग्निमांद्य	उष्ण	दाह
२ ऊष्मा	पीत मूत्र	२० शीत	तीक्ष्ण	पाक
३ दर्शन	पीत नेत्र	२१ प्रभाहानि	सूक्ष्म	प्रभा
४ क्षुत्त	पीत त्वक्		लघु	प्रकाश
५ तृड्	१५ क्षुधा		रुक्ष	वर्ण
६ रुचि	१६ तृषा		विशद	
७ प्रभा	१७ दाह		रुपबहुल	

पित्त

चय	कोप	गुण	लक्षण	प्रकोपकारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कर्म
ीतता	उष्णता	उष्ण	उष्णासहा उष्णमुखा सुकुमारावदात गात्राः	कटु, अम्ल लवण	मध्यबलाः	ओष प्लोष दाह दवथु	उष्णता तीक्ष्णता	दाह उष्णता
ंसाथ	केसाथ		प्रभूतपिप्लुव्यंग तिलपिडकाः क्षुत्पिपासा वन्तः क्षिप्रव-	तीक्ष्ण, उष्ण	मध्यायुषा	धूमक अम्लक विदाह अन्तर्दाह	गमनशीलता, द्रव	पाक स्वेदाधिक्य
क्ष्णादि	तीक्ष्णादि		लीपलीत खालित्यदोषाः	क्रोध	मध्यज्ञान	अंसदाह ऊष्माधिक्य अतिस्वेद अंग गंध	अधिक रने का न होना	क्लेथ
ण	गुण		मृदु अल्प कपिलश्मश्रु लोमकेशाः	विदाही	मध्य विज्ञान	गंध अंगावदरणम् शोणितक्लेद	पित्त का श्वेत वर्ण	कोथ
		तीक्ष्ण	तीक्ष्णपराक्रमः तीक्ष्णाग्नयः प्रभूत अशन पानाः,	शरत्काल	मध्य वित्ताः	मांसक्लेद त्वग्दाह, त्वगवदरण	कच्चे मास के समान गन्ध,	खुजली
			क्लेशासहिष्णु, दंदशूकाः	मध्यान्ह	मध्य उपकरणवन्तः	रक्तविस्फोट	कटु अम्ल रस	स्राव
		द्रव	शिथिल मृदु सन्धि मांसा प्रभूत सृष्ट स्वेद मूत्र पुरीषा	रात्रिकामध्य		रक्तपित्त, मण्डल, हरितत्व, नीलिका,		लालिमा
				भोजनकी-		कामला, मुखतिक्तता,		
		विस्र	पूतिवक्षः कक्षा आस्य शिरः शरीर गंधा	विदग्धावस्था		मुख से दुर्गन्ध, तृषा, अतृप्ति		
		कटु अम्ल	अल्प शुक्र व्यवायापत्याः			मुखपाक, गलपाक, नेत्रपाक गुदपाक तिमिर		

साम	निराम
दुर्गन्धयुक्त	ताम्र
ईषतकाला	अनेकरंगी
कटु	पीत
बहल	अत्युष्ण
गुरु	तीक्ष्ण
हरित्	तिक्तरस
अम्ल	अस्थिर
स्थिर	(जल में फैलने वाला)
गुरु	गन्धशून्य
अम्लोद्गार	रुचिकर
कंठदाह	अग्निकर
हाद्दह	बलकर

उपक्रम—

तिक्त मधुर कषाय शीत स्नेह विरेक प्रदेह परिषेक अभ्यंग

सर्पि: पान,

मृदु सुरभि शीत हृद्य गन्ध,

शिशिरजलावगाहन

मनोऽनुकूल सुखस्पर्श (मुक्तामणि वैदूर्य पद्मराग, चन्द्रकान्त)

कुन्दमल्लिका मालाधारण

सुगन्धित जल के टाटे लगाना,

श्रुतिसुखद सगीत

समवयस्क अनुकूलमित्रो के साथ गोष्ठी

प्रिय संतानो का आश्लेष

मृदु स्निग्ध वस्त्रालङ्कारविभूषित प्रियतमा का निर्दयाश्लेष

चन्द्रकिरणों में धारागृहो का सेवन

मध्यान्ह में जलाशय किनारे स्थित बड़ी वृक्षों वाली वाटिकाओं में घूमकर समय बिताए।

दिवास्वप्न को छोड़ कर ग्रीष्मऋतुचर्या

श्लेष्मा-सोम

प्राकृत	वृद्धि	क्षय	गुण	कर्म
शीतत्व	अग्निसाद	भ्रम	द्रव	उत्क्लेद
स्थिरत्व	प्रसेक	उर:शून्य	स्निग्ध	स्नेह
स्निग्धत्व	आलस्य	शिर: शून्य	शीत	बन्ध
सन्धिबन्ध	गौरव	सन्धि शून्य	मन्द	विष्यन्द
सन्धिक्षम	श्वेतांगता	हृद्द्रव:	मृदु	मार्दव
बल,	शीतांगता	श्लथसन्धि	पिच्छिल	प्रह्लाद
ओज	श्लथांगता		रसबहुल	
स्नेह	श्वास		ईणत्कषाय	
गुरुता	कास		ईणदम्ल	
वृषता	अतिनिद्रा		ईषल्लवण	
क्षमा			प्राय: मधुर	
धृति				
लोभरहित				

कफ

चय	कोप	गुण	कफज लक्षण	प्रकोप कारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कर्म
तलता	उष्णता	स्निग्ध	स्निग्धांगा	मधुर, अम्ल, लवण	बलवन्तः	तृप्ति तन्द्राधिक्यम	स्नेह	श्वैत्य
साथ	के साथ	श्लक्ष्ण	श्लक्ष्णांगाण	स्निग्ध, गुरु	वसुमन्तः	निद्राधिक्यम् स्तैमित्यम्	शैत्य	शैत्य
नेहादि	स्नेहादि	मृदु	दृष्टि सुख सुकुमार अवदात-गात्रता	अभिष्यन्दी, शीत	विद्यावन्तः	गुरुगात्रता आलस्यम्	शौक्ल्य	कण्डु
ण	गुण	मधुर	प्रभूत शुक्र—व्यवाय-अपत्याः	आस्या सुख	ओजस्विनः	मुखमाधुर्यम् मुखस्राव	गौरव	स्थैर्य
		सार	सारसहत स्थिर शरीराः	स्वप्न सुख	शान्ताः	श्लेष्मोद्गिरणम् मलस्याधिक्यम्	माधुर्य	गौरव
		सान्द्र	उपचित परिपूर्ण सर्वगात्रताः	अजीर्ण दिवास्वप्न	आयुष्मन्तः	बलासक हृदयोपलेप	स्थैर्य	स्नेह
		मन्द	मन्दचेष्टा आहार विहाराः	अतिबृंहण वमन का अयोग		कंठोपलेप धमनी प्रतिचय	पैच्छिल्य	स्तम्भ
		स्तिमित	अशीघ्र आरम्भ क्षोभ विकाराः	भोजन के बाद		गलगण्ड अतिस्थौल्य	मात्स्न्य	सुप्ति
		गुरु	सार अधिष्ठित अवस्थितगति	बसन्त में		शीताग्निता उदर्द		क्लेद
		शीत	अल्पक्षुत तृष्णा सन्ताप स्वेददोषाः	दिन के पूर्वभाग में रात्रि के ,,		श्वेतावभासता मूत्र-नेत्रवर्चस्त्वम्		उपदेह
		विज्जल	सुश्लिष्ट-सार सन्धि बन्धनाः					बन्ध
		अच्छ	प्रसन्न-दर्शन आनना स्निग्ध वर्ण स्वराः					माधुर्य चिरकारित्व

साम	निराम
मैला	सामविपरीत
तन्तुयुक्त	निर्मल
बहल (गाढा)	स्वच्छ
प्रलेपी	पिंडाकार
पिच्छिल	विशद
आविल	झागयुक्त श्वेत
(दूधिया)	मधुर रस
कठलेपी	पाण्डुवर्ण
दुर्गन्धी	निःसार
क्षुधारोधी	जल पर तैरने वाला
उद्गारोधी	ष्ठीवन सरलता से निकलना
	मुखशोधी

उपक्रम —

कटु तिक्त कषाय रूक्ष उष्ण तीक्ष्ण स्वेद वमन शिरो विरेचन व्यायाम तीक्ष्ण मशोधन,

रूक्षगुणवाले कटु तिक्त कषाय रस के भोजन,

चिरकालीन पुराने मद्य,

धावन, लंघन, प्लवन, जागरण, कुश्ती,

सम्भोग,

रूक्ष द्रव्यो का उबटन,

उपवास, धूम्रपान, गण्डूष,

वसन्त ऋतुचर्या

पित्त

...षय	कोप	गुण	लक्षण	प्रकोपकारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कर्म
...तता	उष्णता	उष्ण	उष्णासहा उष्णमुखा सुकुमारा-वदात गात्राः	कटु, अम्ल लवण	मध्यबलाः	ओष प्लोष दाह शवथु	उष्णता तीक्ष्णता	दाह उष्णता
...साथ	केसाथ		प्रभूतपिप्लुव्यंग तिलपिडकाः क्षुत्पिपासा वन्तः क्षिप्रव-	तीक्ष्ण, उष्ण	मध्यायुषा	धूमक अम्लक विदाह अन्तर्दाह	गमनशीलता, द्रव	पाक स्वेदाधिक्य
...ष्णादि	तीक्ष्णादि		लीपलीत खालित्यदोषाः	क्रोध	मध्यज्ञान	अंसदाह ऊष्माधिक्य अतिस्वेद अंग गंध	अधिक स्ने का न होना	क्लेथ
.	गुण		मृदु अल्प कपिलश्मश्रु लोमकेशाः	विदाही	मध्य विज्ञान	गंध अंगावदरणम् शोणितक्लेद	पित्त का श्वेत वर्ण	कोथ
		तीक्ष्ण	तीक्ष्णपराक्रमः तीक्ष्णाग्नयः प्रभूत अशन पानाः,	शरत्काल	मध्य वित्ताः	मांसक्लेद त्वग्दाह, त्वगवदरण	कच्चे मास के समान गन्ध,	खुजली
			क्लेशासहिष्णु, दंदशूकाः	मध्यान्ह	मध्य उपकरणवन्तः	रक्तविस्फोट	कटु अम्ल रस	स्राव
		द्रव	शिथिल मृदु सन्धि मांसा प्रभूत सृष्ट स्वेद मूत्र पुरीषा	रात्रिकामध्य भोजनकी-		रक्तपित्त, मण्डल, हरितत्व, नीलिका, कामला, मुखतिक्तता,		लालिमा
		विस्र	पूतिवक्षः कक्षा आस्य शिरः शरीर गंधा	विदग्धावस्था		मुख से दुर्गन्ध, तृषा, अतृप्ति		
		कटु अम्ल	अल्प शुक्र व्यवायापत्याः			मुखपाक, गलपाक, नेत्रपाक गुदपाक तिमिर		

साम	निराम
दुर्गन्धयुक्त	ताम्र
ईषतकाला	अनेकरंगी
कटु	पीत
बहल	अत्युष्ण
गुरु	तीक्ष्ण
हरित्	तिक्तरस
अम्ल	अस्थिर
स्थिर	(जल में फैलने वाला)
गुरु	गन्धशून्य
अम्लोद्गार	रुचिकर
कंठदाह	अग्निकर
हाद्दह	बलकर

उपक्रम—

तिक्त मधुर कषाय शीत स्नेह विरेक प्रदेह परिषेक अभ्यंग
सर्पि: पान,
मृदु सुरभि शीत हृद्य गन्ध,
शिशिरजलावगाहन
मनोऽनुकूल सुखस्पर्श (मुक्तामणि वैदूर्य पद्मराग, चन्द्रकान्त)
कुन्दमल्लिका मालाधारण
सुगन्धित जल के छींटे लगाना,
श्रुतिसुखद संगीत
समवयस्क अनुकूलमित्रो के साथ गोष्ठी
प्रिय संतानों का आश्लेष
मृदु स्निग्ध वस्त्रालङ्कारविभूषित प्रियतमा का निर्दयाश्लेष
चन्द्रकिरणों में धारागृहों का सेवन
मध्यान्ह में जलाशय किनारे स्थित बड़ी वृक्षों वाली वाटिकाओं में घूमकर समय बिताए।
दिवास्वप्न को छोड़ कर ग्रीष्मऋतुचर्या

श्लेष्मा-सोम

प्राकृत	वृद्धि	क्षय	गुण	कर्म
शीतत्व	अग्निसाद	भ्रम	द्रव	उत्क्लेद
स्थिरत्व	प्रसेक	उरःशून्य	स्निग्ध	स्नेह
स्निग्धत्व	आलस्य	शिरः शून्य	शीत	बन्ध
सन्धिबन्ध	गौरव	सन्धि शून्य	मन्द	विष्यन्द
सन्धिक्षम	श्वेतांगता	हृद्द्रवः	मृदु	मार्दव
बल,	शीतांगता	श्लथसन्धि	पिच्छिल	प्रह्लाद
ओज	श्लथांगता		रसबहुल	
स्नेह	श्वास		ईषत्कषाय	
गुरुता	कास		ईषदम्ल	
वृषता	अतिनिद्रा		ईषल्लवण	
क्षमा			प्रायः मधुर	
धृति				
लोभरहित				

कफ

चय	कोप	गुण	कफज लक्षण	प्रकोप कारण	प्रयोजन	रोग	आत्मरूप	कर्म
शीतलता	उष्णता	स्निग्ध	स्निधांगा	मधुर, अम्ल, लवण	बलवन्तः	तृप्ति तन्द्राधिक्यम	स्नेह	श्वैत्य
के साथ	के साथ	श्लक्ष्ण	श्लक्ष्णांगाण	स्निग्ध, गुरु	वसुमन्तः	निद्राधिक्यम् स्तैमित्यम्	शैत्य	शैत्य
स्नेहादि	स्नेहादि	मृदु	दृष्टि सुख सुकुमार अवदात-गात्रता	अभिष्यन्दी, शीत	विद्यावन्तः	गुरुगात्रता आलस्यम्	शौक्ल्य	कण्डु
गुण	गुण	मधुर	प्रभूत शुक्र—व्यवाय-अपत्याः	आस्या सुख	ओजस्विनः	मुखमाधुर्यम् मुखस्राव	गौरव	स्थैर्य
		सार	सारसहत स्थिर शरीराः	स्वप्न सुख	शान्ताः	श्लेष्मोद्गिरणम् मलस्याधिक्यम्	माधुर्य	गौरव
		सान्द्र	उपचित परिपूर्ण सर्वगात्रताः	अजीर्ण दिवास्वप्न	आयुष्मन्तः	बलासक हृदयोपलेप	स्थैर्य	स्नेह
		मन्द	मन्दचेष्टा आहार विहाराः	अतिबृहण वमन का अयोग		कंठोपलेप धमनी प्रतिचय	पैच्छिल्य	स्तम्भ
		स्तिमित	अशीघ्र आरम्भ क्षोभ विकाराः	भोजन के बाद		गलगण्ड अतिस्थौल्य	मार्त्स्न्य	सुप्ति
		गुरु	सार अधिष्ठित अवस्थितगति	बसन्त में		शीताग्निता उदर्द		क्लेद
		शीत	अल्पक्षुत तृष्णा सन्ताप स्वेददोषाः	दिन के पूर्वभाग में रात्रि के ,,		श्वेतावभासता मूत्र-नेत्रवर्चस्त्वम्		उपदेह
		विज्जल	सुश्लिष्ट-सार सन्धि बन्धनाः					बन्ध
		अच्छ	प्रसन्न-दर्शन आनना स्निग्ध वर्ण स्वराः					माधुर्य चिरकारित्व

साम	निराम
मैला	सामविपरीत
तन्तुयुक्त	निर्मल
बहल (गाढा)	स्वच्छ
प्रलेपी	पिंडाकार
पिच्छिल	विशद
आविल	झागयुक्त श्वेत
(दूधियां)	मधुर रस
कठलेपी	पाण्डुवर्ण
दुर्गन्धी	निःसार
क्षुधारोधी	जल पर तैरने वाला
उद्गारोधी	ष्ठीवन सरलता से निकलना
	मुखशोधी

उपक्रम —

कटु तिक्त कषाय रूक्ष उष्ण तीक्ष्ण स्वेद वमन शिरो विरेचन व्यायाम तीक्ष्ण संशोधन,

रूक्षगुणवाले कटु तिक्त कषाय रस के भोजन,

चिरकालीन पुराने मद्य,

धावन, लंघन, प्लवन, जागरण, कुश्ती,

सम्भोग,

रूक्ष द्रव्यों का उबटन,

उपवास, धूम्रपान, गण्डूष,

वसन्त ऋतुचर्या

संमूर्च्छना

	चय (१)	कोप (२)	प्रसर (३)	स्थानसंश्रय	(पूर्वरूप बनना (४)	व्यक्ति (५)
वात	स्तब्ध कोष्ठता	उदर में चुभने की सी वेदना	विरुद्ध मार्ग गमन	उदर	गुल्म, विद्रधि, उदर, अग्निमांद्य आनाह	साम स्वेदावरोध,
	पूर्ण ,,	वायु संचार	(ऊर्ध्व अधः तिर्यक्		विसूचिका, अतिसार, प्रवाहिका विलम्बिका	मूत्रावरोध,
			आटोप	बस्ति	प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, मूत्रदोष	बलहानि गौरव
			(शोषक स्वभाव	मेढ्र	निरुद्धप्रकश, उपदंश, शूकदोष	वायु का असम्यक्
			से धातुक्षय)	गुद	भगन्दर, अर्श	संचार
			उष्णता	वृषण	वृद्धि	आलस्य अजीर्ण
पित्त	त्वचा पीत	अम्लोद्गार	चूसने की सी वेदना	ऊर्ध्वजत्रु	कर्ण, नासा, अक्षि, मुख, शिरोरोग	थूक का अधिक
	नखपीत	पिपासा	दाह	त्वचा, मांस,	क्षुद्ररोग, कुष्ठ, विसर्प	आना
	नेत्र पीत	दाह	धूमवत् उद्गार	रक्त		मलावरोध
			(कटु, उष्ण गुण से	मेद	ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड अलजी,	अरुचि
			धातुक्षय)	अस्थि	विद्रधि, अनुशयी	क्लम
				पाद	श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक,	(उपरोक्त लक्षण
				सर्वाङ्ग	ज्वर, सर्वाङ्गवातव्याधि, पाण्डु, प्रमेह, शोष,	से विपरीत
कफ	ऊष्मा की मंदता	अन्नद्वेष	अरुचि	शाखा	फोड़ा, फुनसी, अलजी, अपची, चर्मकील,	निराम)
	अंगों का भारीपन	अरुचि	अजीर्ण		अधिमांस, मस्सा, कुष्ठ, व्यंग, (बहिर्मार्गज)	
	आलस्य	हृल्लास	अनायास थकान वमन		विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श, विद्रधि	
			(स्रोतोऽवरोध से	मर्मास्थि	पक्षाघात, पक्षग्रह, अपतानक, अर्दित, शोष,	
			धातुक्षय	सन्धि	यक्ष्मा, अस्थिशूल, सन्धिशूल, गुदभ्रंश, शिरोरोग, हृद्रोग, बस्तिरोग	
				कोष्ठ	ज्वर, अतिसार, वमन, अलसक, विसूचिका, कास श्वास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा, (आभ्यंतर मार्ग में) विसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श, विद्रधि	

भिषजा परीक्ष्याणि

वर्ण	प्रकृति	वैकारिका	अरिष्टभूता
वर्ण ग्लानि हर्ष रौक्ष्य स्नेहाः	कृष्ण कृष्णश्याम श्यामावदात अवदात	नील श्याव ताम्र हरित शुक्ल	अर्ध प्रा. अर्ध वि. (सव्यदक्षिण) (ऊर्ध्वअध) (पूर्वपश्चिम) (अन्तर्बहि) नख नयन बदन मूत्र पुरीष हस्तपाद ओष्ठादि में भी, स्नेहोमुखार्धे रौक्ष्यंच तथैव ग्लानिः हर्षो नखदंतेषु पुष्पाणि दन्तसंश्रितः पंकः चूर्णकोवा
स्वर	हंस क्रौंचनेमि दुन्दुभि कलविंक काक-कपोत	भेक सूक्ष्म रूक्ष दीन अनुकीर्ण अनुच्चार	स्वरानेकता
गन्ध		चंदन कूठ तगर अगर मधु	
रस		कुणप आस्यवैरस्य अतिस्वादुत्वं	शुभाशुभाः अनिमित्तेन—नानापुष्पोपमगन्ध
स्पर्श	नित्योष्मणा मृदु श्लक्ष्ण सतां मांस शोणित (शीत) (दारुण) (खरता) (असद) वीतीभाव	स्विन्न शीत स्तब्ध दारुणवीत मांसशोणित स्रस्त व्यस्त च्युत	मक्षिका यूकाः मशकाः विरसादपसर्पन्ति मक्षिका भृशमायान्ति पाद जंघोरु स्फिगुदर पार्श्व पृष्ठेषिका पाणी ग्रीवा तालु ओष्ठ ललाट गुल्फ जानु वंक्षण गुद वृषण मेढ्रनाभि अंस स्तन मणिक पशुंका हनु नासिका कर्ण अक्षि भ्रू शंखा
चक्षु	दृष्टचांयष्य विजानीयात्पन्नरूपां कुमारिकाम प्रतिच्छायामयीयक्ष्मो	अत्युत्पिण्डित प्रविष्टजिह्म विषम मुक्तबन्धने प्रस्तुते सततोन्मिषिते	उच्छ्वास अतिदीर्घ (ह्रस्वोवा) मन्ये न स्पन्देयाताम् दन्ता परिकीर्णाः श्वेताः—जातशर्करा सततनिमिषिते, निमेषोन्मेषातिवृते विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके व्यस्तदृष्टिके नकुलान्ध्ये (दिवाशुक्ल) कपोतान्ध (रात्रीकृष्ण) अलातवर्ण कृष्ण पीत नील श्याव ताम्र हरित हारिद्र शुक्ल वर्ण

वर्ण	प्रकृति	वैकारिका	अरिष्टभूता
			केश लोमा न्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन् नवेदयेयुः उदरसिराः प्रकाशेरन् नखाः वीतमांसशोणिताः पक्वजाम्बववर्णा आयम्यमानाः अंगुलो नस्टेयु.
श्रोत्र		अशब्दस्य श्रोता, शब्द को नहीं सुनने वाला	संवृत्यांगुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्दं आतुरो न शृणोति
घ्राण			
रसनम्	स्पर्शनम् भक्ति शौच शील आचार	स्मृति आकृति गौरव लाघव गुणा वेदना उपद्रव छाया	विकृति बल ग्लानि मेधा हर्ष रौक्ष्य स्नेह तन्द्रा आरम्भ आहार विहार आहार परिणाम उपाय अपाय व्याधि व्याधि पूर्व रूप प्रतिच्छाया स्वप्नदर्शन दूताधिकारः

वेगरोध से होने वाले रोग व उनकी चिकित्सा

नाम	वेगधारण से उत्पन्न लक्षण	चिकित्सा कर्म	आहार
मूत्र	बस्तिशूल मेहनशूल मूत्रकृच्छ्र, शिरोरुजा विनाम वंक्षणानाह अश्मरी	बस्ति त्रिविधा भोजन से पूर्व घृतपान अवपीड़क नस्य	
पुरीष	पक्वाशय शूल शिरःशूल वाताप्रवृत्ति मलाप्रवृत्ति पिण्डिकोद्वेष्टन आध्मान ऊर्ध्ववायु परीकर्त हृदयोपरोध मुख से विट् प्रवृत्ति	स्वेद अभ्यंग अवगाहन वर्तयः वस्ति	प्रमाथि अन्नपान (विडभेदी)
शुक्र	मेढ्रशूल वृषण शूल अगमर्द हृत्पीड़ा मूत्र विबन्ध शुक्रास्राव ज्वर-वृद्धि अश्म, षण्ढता	अभ्यंग अवगाह पयोनिरीह मैथुन	शाली मदिरा चरणायुष
वात	वात-मूत्र-पुरीस-संगता, आध्मान क्लम रुजा पेट में गुल्म उदावर्त दृष्टि वध अग्निवध हृद्रवः	स्नेह स्वेद वर्तयः वस्ति वातानुलोमन	वातानुलोमन अन्नपान
छर्दि	कण्डू कोठ अरुचि व्यंग शोथ पाण्डुरोग ज्वर कुष्ठ हृल्लास वीसर्प कास श्वास	भुक्त्वाछर्दन धूम लंघन रक्तमोक्षण व्यायाम विरेक	रूक्ष अन्नपान
क्षवथु	मन्यास्तम्भ शिरःशूल अर्दित अर्धावभेदक इन्द्रियदौर्बल्य	उर्ध्वजत्रुगत अभ्यंग स्वेद धूम नस्य औत्तरभक्तघृत	वातघ्न अन्नपान
उद्गार	हिक्का श्वास अरुचि कम्प हृदय छाती का विबन्ध आध्मान कास	तीक्ष्ण अंजन अर्क विलोकन	
क्षुत्	कार्श्य दौर्बल्य वैवर्ण्य अंगमर्द अरुचि भ्रम अङ्गभङ्ग	हिक्कावत्	
जृम्भा	विनाम आक्षेप संकोच सुप्ति कम्प प्रवेपन	वातघ्न औषध	स्निग्ध उष्ण लघुभोजन
पिपासा	कंठशोष आस्यशोष बाधिर्य श्रम साद हृद्व्यथा मोह भ्रम	शीत तर्पण	
बाष्प	प्रतिश्याय अक्षिरोग हृद्रोग अरुचि भ्रम पीनस	स्वप्न प्रियाः कथा	मद्य
निद्रा	जृम्भा अङ्गमर्द तन्द्रा शिरोरोग अक्षिगौरव मोह	स्वप्न संवाहन	
श्रम श्वास	गुल्म हृद्रोग मोह	विश्राम वातघ्न क्रियाक्रम	
कास	कास वृद्धि श्वास अरुचि हृद्रोग शोष हिक्का	कासघ्न	

लोभ शोक भय क्रोध मानवेगान्विधारयेत् । नैर्लज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ।
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्यच । वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ।
स्त्रीभोगास्तेय हिंसाद्यास्तासां वेगान्विधारयेत् ।।

संहननतः परीक्षा: Examination of the patient with reference to the compactness of the Body formation.

संहननं, संघात, संयोजनमित्येकोऽर्थः: Compactness, Union and Assemblage are synonymous.

समसुभक्तास्थिः Bones which are symmetrical and well knit
सुबद्ध सन्धिः Joints that are well knit
सुनिविष्टमांसशोणितम् Well placed flesh and blood
सुसंहत शरीराः Those with well compacted body
बलवन्तः Are strong

असंहतशरीराः Those with ill-compacted body
अल्पबलाः Are weak

मध्य संहत शरीराः Those with moderately-compacted body
मध्यबलाः Are moderately strong

सात्म्यतः परीक्षा: Examination of the patient with reference to his Homologation

सर्वरससात्म्याः All the six tastes are homologous.
बलवन्तः Strong
क्लेशसहा Tolerant of hardships
चिरजीविनः Long lived

एकरससात्म्याः One of the tastes are homologous.
अल्पायुषः Low vitality
अल्प साधनाः Admit of treatment by limited means of medication

व्यामिश्रसात्म्याः Mixed homologation
मध्यबलाः Moderate strength

सत्वतः परीक्षा: Examination of the patient with reference to his psychic make-up

१. प्रवरसत्वाः The Highly endowed निजागन्तु महापीडासु अव्यथा इव
२. मध्यसत्वाः Moderately endowed अपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्ति-आत्मानम् परैश्चापि संस्तम्यन्ते
३. अवरसत्वाः Poorly endowed नात्मना नापि परैः सत्वबलं प्रतिशक्यन्ते उपस्तम्भयितुम् ।

स्रोतोवि

स्रोतों के नाम	मूल स्थान च०	मूल स्थान सु०	दुष्ट के विशेष विज्ञान	स्रोतो दुष्टि के कारण
प्राणवह	हृदय महास्रोत	हृदय रसवाहिधमन्य	अतिसृष्ट बद्ध अल्पाल्प अभीक्ष्ण सशब्द शूल उच्छ्वास	(अतिप्रवृति संगो सिराग्रन्थि विमार्गगमन) क्षय संधारण रौक्ष्य व्यायाम क्षुधित के दारुण
उदकवह	तालु क्लोम	तालु क्लोम	जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोम शोष अतितृषा	औष्ण्य आम भय अतिपान अतिशुष्कान्न सेवन तृष्णारोध
अन्नवह	आमाशय वामपार्श्व	आमाशय अन्नवाहि ,,	अरोचक अविपाक अनंन्नाभिलाष छर्दि अश्रद्धा अरुचि आस्यवैरस्य अरसज्ञता हृल्लास गौरव तन्द्रा	अकाल अतिमात्रा से अहित भोजन अग्निवैगुण्य गुरू शीत अतिस्निग्ध अतिमात्र भोजन अतिचिन्तन
रसवह	हृदयं दशधमन्यः	हृदयं रसवाहिधमन्यः	अंगमर्द ज्वर तम पाण्डु क्लैव्य साद कृशांग अग्निनाश वलि पलित	
शोणितवह	यकृत प्लीहा	रक्तवाहिनीधमन्य यकृत प्लीहा	कुष्ट विसर्प पिड़िका रक्तपित्त रक्तप्रदर गुदमेद्र आस्य पाक प्लीहा गुल्म पामा विद्रधि नीलिका कामला व्यंग पिप्लव तिल दद्रु चर्मदल श्वित्र कोठ मण्डल	विदाही अन्नपान स्निग्ध उष्ण दव आत पव अग्नि-सेवन से
मांसवह	स्नायु त्वक्	स्नायुत्वचरक्तवहधमनी	अधिमांश अर्बुद कील गलशालूक शुण्डिका अलजी पूतिमांस गड गण्डमाला उपजि-ह्विका	अभिष्यंदी स्थूल गुरु दिवास्वाप
मेदोवह	वृक्की वपावहनम्	कटि वृक्की	जटिली भाव केशों का आस्य माधुर्यंकरपाद सुप्तिदाह मुख तालुकण्ठ शोष बस्त गन्ध पिपासाम् आलस्यकायच्छिद्रेषु मल षटपद पिपीलिकाभिशरीर मूत्राभिसरण	अव्यायाम दिवास्वाप मेघ व वारुणी का अति-सेवन

अस्थिवह	मेदो जघनम्		अध्यस्थि अधिदन्त दन्त भास्थिभेद शूल वैवर्ण्य केशलोमश्मश्रु दोष	व्यायाम अतिसंक्षोभ अस्थिविघट्टन वातल द्रव्यों का सेवन
मज्जवह	अस्थि सन्धि		पर्वरुक् भ्रम मूर्च्छा तम स्थूल मूल अरुः पर्वज	उत्पेष अत्यभिष्यंदी अभिघात प्रपीडन विरुद्ध सेवन
मूत्रवह	बस्ति वङ्क्षणौ	बस्तिमेढ्रे	अतिसृष्ट अतिबद्ध पित्तमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहुलंमूत्र यन्तम् सशूलम्	मूत्र वेग में जल भोजन स्त्री सेवन मूत्रनिग्रह क्षीण व क्षत
शुक्रवह	वृषणौ शेफ	स्तनौ वृषणौ	क्लैब्य अहर्षण गर्भ स्राव पात मृत बन्ध्यत्व	अकाल योनिगमन निग्रह अतिमैथुन शस्त्र क्षार अग्नि
पुरीषवह	पक्वाशय स्थूलगुद	पक्वाशय गुद	कृच्छ्रेणाल्पाल्प सशूलमति द्रवमति ग्रथित-मति बहुचोपविशन्तम्	विधारण अत्यशन अजीर्ण में अध्यशन कृश दुर्बलाग्नि
स्वेदवह	मेदो रोम कूपा		अस्वेदन मति स्वेदन पारुष्य मतिश्लक्ष्णता मंगस्य परिदाहं लोमहर्ष	व्यायाम अतिसंताप शीतोष्ण का क्रम से असेवन क्रोध शोक भय।
आर्तववह		गर्भाशय आर्तववाहिधमन्य	कृच्छ्रेणालालामति वातावर्णं, गर्भपात, स्नान, अभिघात, दुष्ट संक्रमण	

सार

Examination of the patient with reference to the essential make up various system of his body

त्वक्सार		रक्तसार		मांससार		मेदसार	
स्निग्ध लोमा	Glossy	कर्णौ स्निग्ध रक्ता	Ears, glossy, ruddy	स्थिर	Firm	वर्ण स्नेह	Complexion
श्लक्ष्ण ,,	Smooth	अक्षि ,, ,,	Eyes	गुरु	Heavy	स्वर ,,	Voice
मृदु ,,	Soft	मुख ,, ,,	Mouth	शुभ	Well formed	नेत्र ,,	Eyes
प्रसन्न ,,	Clear	जिह्वा ,, ,,	Toung	मांसोपचित ,,	paded	केश ,,	Hair
सूक्ष्म ,,	Fine	नासा ,, ,,	Nose	शंख	Temples	लोम ,,	
अल्प ,,	Meagre	ओष्ठ ,, ,,	Lips	ललाट	Forehead	नख ,,	Nails
गम्भीर ,,	Deep rooted	पाणितल,, ,,	Palms	कृकाटिका	Nape of Neck	दन्त,,	Teeth
सुकुमार ,,	Delicate	पादतल ,, ,,	Soles	अक्षि	Eyes	ओष्ठ,,	Lips
सप्रभा ,,	Shining	नख ,, ,,	Nail	गंड	Cheeks	मूत्र ,,	Urine
		ललाट ,, ,,	Forehead	हनु	Jaws	पुरीष,,	Feces
		मेहन ,, ,,	Phallus	ग्रीवा	Neck		
		श्रीमद्	Auspicious	स्कन्ध	Shoulders		
		भ्राजिष्णु	Lustrous	उदर	Abdomen		
				कक्ष	Armpits		
				वंक्षण	Groin		
				पाणि	Hands		
				पाद	Feet		
				संधयः	Joints		

लाभ

त्वक्सार		रक्तसार		मांससार		मेदसार	
सुख	Happiness	सुख	Happiness	क्षमा	Endurance	वित्त	Wealth
सौभाग्य	Prosperity	मेधा	Talent	धृतिः	Resolution	ऐश्वर्यं	Authority
ऐश्वर्यं	Authority	मनस्विता	Magnanimity	अलौल्य	Stead fastness	सुख	Happiness
उपभोग	Ample means	सुकुमारता	Delicacy	वित्त	Wealth	उपभोग	Ample means
बुद्धि	Intelligence	मध्यबलः	Moderate strength	विद्या	Learning	आर्जव	Generosity
विद्या	Learning	असहिष्णुः	Intolerance	सुख	Happiness	सुकुमार	Mild medications
आरोग्य	Health			आर्जव	Rectitude		
हर्ष	Inthusiasm			बल	Strength		
दीर्घायुः	Longevity			आयु	Long life		
				आरोग्य	Health		

सार

अस्थिसार		मज्जसार		शुक्रसार		सत्वसार	
स्थूल पार्ष्णि	Thickness of the heels	मृद्वंगाः	Softness of their limbs	सौम्यप्रेक्षिणः	Gentle eyed	स्मृतिमन्तः	Remarkable for their memory
„ गुल्फ	„ „ Ankles	बलवन्त	Strength	क्षीरपूर्णलोचनाइव	Filled with milk	भक्तिमन्तः	„ „ Devotion
„ जानुः	„ „ Knees	स्निग्ध वर्ण	Glossy complexion	प्रहर्ष बहुलाः	Highly Sexed	कृतज्ञा	Gratitude
„ अरत्नि	„ „ Elbows	„ स्वराः	Glossy voice	स्निग्ध दशन	Glossy teeth	प्राज्ञा	Intelligence
„ जत्रुः	„ „ Collar bone	स्थूल सन्धयः	Thick joints	वृत्त „	Rounded „	शुचयो	Purity
„ चिबुकः	„ „ Chin	दीर्घ सन्धयः	Long joints	सार „		महोत्साहाः	Great enthusiasm
„ शिरः	„ „ Head	वृत्त „	Rounded „	सम „	Symmetrical teeth	दक्षाः	Efficiency
„ पर्वः	„ „ Digits			संहत „	Compact teeth	धीराः	Courage
„ नखाः	„ „ Nails			शिखर „	Beautiful teeth	सुव्यवस्थितगति	Steady gait
„ दन्ताः	„ „ Teeth			प्रसन्नवर्णा	Clear complexion	गम्भीर बुद्धि	Deliberate judgment
				प्रसन्नस्वराः	Clear voice	गम्भीर चेष्टाः	„ action

स्निग्धवर्णाः	Glossy complexion	कल्याणाभिनिवेशिनः	Devoted to good pursuits
स्निग्धस्वराः	Glossy voice		
भ्राजिष्णवः	Full of lustre		
महास्फिचः	Broad thighs		

लाभ

अस्थिसार		मज्जसार		शुक्रसार		सत्वसार	
महोत्साहा	Great enthusiasm	दीर्घायुषो	Long lived	स्त्रीप्रियोपभोगा	Favourite with the female sex	समरविक्रांतयोधिनः	Valorous fighters in the battle field
क्रियावन्तः	Industry	बलवन्तः	Strong	बलवन्त	Strong		
क्लेशसहाः	Endurance	श्रुतभाजः	Possesed of learning	सुखभाजः	Endowed with happiness	त्यक्तविषादाः	Free from dejection
स्थिरशरीराः	Compact and firm bodies	विज्ञानभाजः	,, knowledge	ऐश्वर्यभाज	,, Authority		
आयुष्मन्तः	Long life	अपत्यभाजः,	,, Progeny	आरोग्यभाजः	,, Health		
		संमानभाजः	,, Honour	वित्तभाजः	,, Wealth		
				संमानभाजः	,, Honour		
				अपत्यभाजः	,, Progeny		

रस (धमनीदश)

रस		स्थायी पोषक					
सार		(कारण)	क्षय	वृद्धि	रस दोषज रोग	प्राकृत	मूल
त्वक्सार	लाभ	गुरु द्रव्य	प्राकृतकर्म ह्रास	अग्निमांद्य	अश्रद्धा (अन्नद्वेष)	जीवन	हृदय
स्निग्ध रोम	सुख	शीत ,,	इतरधातुक्षय	उत्क्लेद	अरुचि (मुंह के नीचे अन्न नहीं उतरना)	तर्पण	दशधमनी
						धारण	
						द्रवानुसारी स्नेह	
श्लक्ष्ण रोम	सौभाग्य	स्निग्ध ,,	मुखशोष	प्रसेक	रस ज्ञान न होना	सौम्य	
मृदु ,,	ऐश्वर्य	अतिमात्रामें भोजन	रूक्षता	वमन	अग्निमांद्य	प्रीणन	
निर्मल ,,	उपभोग	अतिचिन्तन	तृष्णा	आलस्य	अजीर्ण	रक्तपुष्टि	
सूक्ष्म ,,	बुद्धि		आमाशयशून्यता	गौरव	अङ्गमर्द	यापन उपक्रम-लंघन	
अल्प ,,	विद्या		हृदय ,,	श्वेतता	तृप्ति	अवष्टंभन	
गंभीर ,,	आरोग्य		मनकी ,,	शत्यता	हृल्लास		
सुकुमार ,,	प्रहर्षण		श्रम	शैथिल्य	अंगसाद		
प्रभायुक्तत्वचा	आयुष्मान्		शब्दासहिष्णु	श्वास	गौरव		
निर्मल ,,	प्रमाण		हृद्घट्टन	कास	तन्द्रा		
मृदु ,	अंजलि ६		हृत्कम्प	अनिद्रा	ज्वर		
			हृद्द्रव	स्थूलता	हृद्रोग		
			हृच्छल		पाण्डुरोग		
			श्रम		स्रोतोऽवरोध		
			क्लम		कृशता		
			श्वास		मुखवैरस्य		
			कृशता		ग्लानि		
					तम		
					वली		
					पलित		
					क्लीबता		

मांस (स्नायुत्वक्)

मांससार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	प्रकोप कारण
शंख-गूढता	क्षमा	नितम्ब क्षीणता	नितम्ब स्थूलता	अधिमांस	अभिष्यन्दी भोजन
कृकाटिका ,,	धैर्य	कपोल ,,	कपोल ,,	अर्बुद	स्थूल ,,
नेत्र ,,	चांचल्यरहित	ओष्ठ ,,	ओष्ठ ,,	अर्श	गुरु ,,
कपोल ,,	धन	शिश्न ,,	शिश्न ,,	अधिजिह्वा	दिवास्वाप
हनु ,,	विद्या	जंघा ,,	ऊरु ,,	उपजिह्वा	
ग्रीवा ,,	सुख	उर ,,	बाहु ,,	उपकुश	
स्कन्ध ,,	सरलता	ग्रीवा ,,	जंघा ,,	गलशालूक	
उदर ,,	आरोग्य	कक्षा ,,	गौरव ,,	गलशुण्डिका	
कक्षा ,,	बल	पिण्डली ,,		अलजी	
छाती ,,	दीर्घायुष्म	रूक्षता		मांससंघात	
सन्धि ,,	शरीरपुष्टि	चुभने की सी		ओष्ठप्रकोप	
सन्धि स्थिरता	मेदपुष्टि	वेदना		गलगण्ड	
सन्धि गुरुता		श्रम		गण्डमाला	
शरीर भरा हुआ		धमनी शैथिल्य		मांस दुर्गन्ध	
		(रक्त भार न्यूनता)			

रक्त (यकृत्प्लीहा)

सार		कार्य	कारण विहार	प्रकोप आहार	क्षय	रोग		लक्षण विकृति वात
स्निग्धरक्तवर्ण		धातुपुष्टि	अतिक्रोध	प्रकृतिविरुद्ध	सिराशैथिल्य	पिडिका	मद	(तपाह्वआस्वर्णवर्ण)
,,	नेत्र	अग्निदीप्ति	,, शोक	मात्राधिक	रूक्ष त्वचा	त्वग्रक्तता	कम्प	कृष्णारुण
,,	मुख	बलमूल	,, चिंता	विषम	म्लान ,,	मूत्र ,,	स्वरभंग	तनु
,,	जिह्वा	वर्ण ,,	,, भय	पर्युषित	अम्लप्रिय	नेत्र ,,	निद्राधिक्य	रूक्ष
,,	नासा	सुख ,,	,, श्रम	अध्यशन	शीत ,,	नासादुर्गन्ध	आलस्य	फेनिल
,,	ओष्ठ	स्पर्शज्ञान ,,	,, उपवास	अजीर्ण	अग्निमांद्य	मुख ,,	तम	शीघ्रगति
,,	हथेली	जीवन	,, मैथुन	अतिभोजन		रक्तगुल्म	कण्डू	(न जमनेवाला)
,,	तलुए	पित्त(मल)	,, चंक्रमण	तिलतैल		उपकुश	व्रण	
,,	नख	आठअजली	,, अग्नि	खली		विसर्प	कोठ	
,,	ललाट		,, आतय	कुलत्थ		रक्तपित्त	पिडिका	पित्त
,,	शिश्न		,, वायु	माष	वृद्धि	तन्द्रा	दद्रू	नील
						मुखपाक	दाह	
प्रसन्नवर्ण			,, चोट	चंवला		विद्रधि	श्वित्र	हरित
,,	इन्द्रिय		,, तीक्ष्ण	सरसों	सिरापूर्णता	रक्तप्रदर	पामा	पीत
,,	कार्य		,, उष्ण	अलसी	नेत्ररक्तता	वातरक्त	रक्तमण्डलकुष्ठ	श्याम
समाग्नि			,, लवण	दही	त्वचा ,,	विवर्णता	चर्मदल	आमगन्धि
सुखयुक्त			,, क्षार	शुक्त		कामला	मशक	मक्षिका अप्रिय

पुष्टि ,,	,, अम्ल	तक्र	अग्निमांद्य	नीलिका	चींटी ,,
बल ,,	,, कटु	कूर्चिका	पिपासा	पिप्लु	(न जमने वाला)
	,, विदाही	मस्तु	गौरव	तिल	कफ
वर्ण	,, द्रव	सौवीरक	दौर्बल्य	न्यच्छ	ईषत्पाण्डु
वीरबहूटी जैसा	,, गुरु	खट्टे फल			(गेरू के समान)
लाल	,, स्निग्ध	कट्वर	अरुचि	व्यंग	पिच्छिल
	दिवास्वाप	हरे शाक	शिरःशूल	इन्द्रलुप्त	तन्तुमान्
	वमनवेगविधारण	पिण्डालु ,,	अम्लीका	प्लीहोदर	गाढा
	रक्तमोक्षणाभाव	गोधामांस	श्रम	रक्तार्श	स्निग्ध
	शरद्ऋतु	मत्स्य ,,			शीतल
		बकरी ,,	क्रोध	अर्बुद	मन्दगति
		भेड़ ,,			(शीघ्र जमनेवाला)
		जलज ,,	बुद्धिवैकल्य	अंगमर्द	मांसपेशी के समान
		आनूपज ,,	लवणमुखता	गुदपाक	
		बिलेशय ,,	शरीर दुर्गन्ध	मेढ्रपाक	सन्निपात
		प्रसह ,,			कांजी के समान
					दुर्गन्धी

मेद (वृक्कौ कटी)

सारता	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	कारण
वर्ण स्निग्धता	धन	सन्धियों का टूटना	उदरवृद्धि	मेदोज अण्ड वृद्धि	दिवास्वाप
स्वर ,,	ऐश्वर्य	सन्धिशून्यता	पार्श्व वृद्धि	अन्त्र वृद्धि	मेद्य सेवन
नेत्र ,,	सुख	आयास	कास	मेदो वृद्धि	वारुणी सेवन
केश ,,	दान	निष्प्रभ आँखें	श्वास	गलगण्ड	अव्यायाम
लोम ,,	भोग	त्वचा रूक्षता	दौर्गन्ध्य	अर्बुद	
नख ,,	सरलता	केस ,,	स्निग्धांगता	ओष्ठ प्रकोप	
स्वेद ,,	सुकुमारता	कर्ण ,,		सर्व प्रमेह	
दन्त ,,	असहिष्णुता	छोटा पेट		मधुमेह	
ओष्ठ ,,	(श्रम)	प्लीहावृद्धि		अतिस्थौल्य	
मूत्र ,,	अस्थिपुष्टि	मेदयुक्त मांस पर प्रीति		अतिस्वेद	
पुरीष ,,				मेदोग्रन्थि (Lipoma)	
विशाल देह					
स्वेद					
मार्दव					

अस्थि (जघन मेदसी)

सार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	कारण
पार्ष्णि स्थूलता	उत्साही	आस्थितोद	अध्यस्थि	अध्यस्थि	अतिव्यायाम
गुल्फ ,,	क्रियाशील	दन्त भंगुरता	अस्थ्यर्बुद	अधिदन्त	मानसिकक्षोभ
जानु ,,	क्लेशसहिष्णु	नख भंगुरता	Osteoma	दंतभेद	अतिघट्टन
मुट्ठी ,,	स्थिर	रूक्षता	अधिदन्त	अस्थिभेद	वातल आहार
कन्धा ,,	बली	केश झड़ना	केशवृद्धि	शूल	वातल विहार
ठोडी ,,	दीर्घायु	श्मश्रु झड़ना	नखवृद्धि	विवर्णता	
शिर बड़ा	मज्जापुष्ठि	लोम ,,		केश रोग	
पर्व बड़े	देह धारण	थकान		श्मश्रु रोग	
अस्थि ,,		संधि शैथिल्य		लोम रोग	
नख ,,		फक्क रोग		नख रोग	
दांत ,,					

मज्जा (अस्थिसन्धि)

सार	गुण	क्षय	वृद्धि	कारण	रोग
मृदु पुष्टांग	दीर्घायु	शुक्र की न्यूनता	सर्वाङ्ग गौरव	कुचलना	अन्धेरी आना
बलसपन्न	बलयुक्त	अस्थितोद	नेत्र गौरव	आघात	मूर्च्छा
स्निग्ध वर्ण	श्रुतयुक्त	सन्धितोद		दब जाना	भ्रम
स्निग्ध स्वर	सौभाग्ययुक्त	अस्थिशून्य		शोथ	अस्थिपर्वों पर व्रण
गम्भीर स्वर	वित्तयुक्त	दुर्बलता		विषमाहार	आँख आना
स्थूल सन्धि	शिल्पयुक्त	लघुता			पर्व भेद
विशाल सन्धि	अपत्ययुक्त				
गोल सन्धि	सम्मानयुक्त				
बड़े नेत्र वाले	स्नेहयुक्तयुक्त				
	शुक्रपुष्टीयुक्त				
	अस्थिपूरण				

शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च

सार	गुण	क्षय	वृद्धि	रोग	कारण
सौम्य	स्त्रीप्रिय	दुर्बलता	शुक्राश्मरी	क्लीबता	दूषित योनिगमन
सौम्यदृष्टि वाले	,, उपभोग	मुख का सूखना	अति प्रवृत्ति	स्त्रियों में उदासीनता	अकाल गमन
मानो दूध भरे नेत्र वाले	बलवान्	पाण्डुता		मैथुनाशक्ति	कामवेग रोध
अतिहर्ष	सुखयुक्त	शिथिलता		शुक्राश्मरी	अति मैथुन
श्वेत दन्तावली अस्थि नख	ऐश्वर्ययुक्त	आयास		शुक्रमेह	शस्त्र प्रयोग
स्निग्ध दन्तावली नख	आरोग्य युक्त	क्लीबता		गर्भ अस्थिरता	क्षार प्रयोग
घन दन्तावली अस्थि नख	वित्त युक्त	मैथुनाशक्ति		गर्भ स्राव	अग्नि प्रयोग
पुष्ट दन्तावली अस्थि नख	सम्मान युक्त	शुक्र की अच्युति			
सम दन्तावली अस्थि नख	संतान युक्त	विलंब च्यवन			
दृढ दन्तावली अस्थि नख	धैर्य	रक्तमिश्रित च्यवन			
सुन्दर दन्तावली अस्थि नख	च्यवन	शिश्न वेदना			
प्रसन्न वर्ण स्वर	प्रीति	वृषण ,,			
स्निग्ध वर्ण स्वर					
दीप्त विशाल स्फिक्प्रदेश					

अनल

भौम	दिव्य	उदर्य
काष्ठेन्धनज	उदकेन्धन	उभयेन्धनः
ऊर्ध्वज्वलनस्वभाव	पर्यग्ज्वलनशील	पर्यग्ज्वलशील
पचन समर्थ	वाड़व	आहार परिणाम कर
स्वेद समर्थ	विद्युद्	

समयोग	ऊष्मा	वायु	क्लेद	स्नेह	काल
	पचति	अपकर्षति	शैथिल्यम्	मृदुता	पर्याप्ति

परिणाम धातु साम्यकर

१ अपने स्थान में विजातीम द्रव्य को प्रवेश कराना। २ प्रविष्ट को निकालने की शक्ति।
३ प्रतिकूल भाग को अनुकूल भाग बनाना।

काल रोगनिर्द्धारण

संवत्सर	आतुरावस्था	
२ अयन	बहु प्रकार	शास्त्र
३ शीतोष्ण वर्षा	बहु रूप	गुरुपदेश
६ ऋतु	बहु उपयोगी	कर्मदर्शन
१२ मास	बहु अभ्यासबोध्य	अभ्यास मनन

(व्यापन्न अव्यापन्न ऋतु)

अपरिरक्षण (ऋतुचर्या उपेक्षण)

शीत वात आतप

भेषजनिर्धारण

साधारण ऋतु में संशोधन प्रवृत्ति— दूसरी ऋतुओं में विराम

आवस्थिकक्रियाकाल

बल शरीर मनःसामर्थ्य

व्याधिबल	अबल
निदानादि संपूर्ण	निदानादि अवयव रूप से
शरीर बल	पाचकाग्नि बल

(१) बल—दूसरे को दबाने के लिए शरीर तथा मन की समर्थता।
(२) उचित कार्य के श्रम से नही थकना।
(३) इन्द्रियों का अपना उचित कार्य करना।
(४) कर्मेन्द्रिय कुशलता।
(५) सातों धातुओं की उचित पुष्टि।

(१) सहज
शरीर मन का स्वाभाविक
बली पुरुष की सन्तान
बलिष्ठ देश में जन्म
बलिष्ठ समय में
बीज गुण सम्पत्
क्षेत्र गुण सम्पत्
शरीर सम्पत्
मनः सम्पत्
स्वभाव ससिद्धि
(बलजनक कर्म-संसिद्धि)

आहार सम्पद्— बली आहार, अभ्यवहरण शक्ति, जरण शक्ति
सात्म्य सम्पद्— घी, दूध, तैल, मांसरस, सर्व रस, क्लेशसह, चिरजीविनः

वायु के आवरण

वायु का प्रकोप क्षय-वृद्धि के अतिरिक्त आवरण से भी होता है। आवरण का अर्थ है पर्दा या ढकना,— वायु गतिशील द्रव्य है इसका लक्षण तर्कसंग्रह में—

शरीरान्तः संचारी वायुः प्राणः। सचैकोऽप्यु-पाधिभेदात्प्राणापानादि संज्ञां लभते।

ये सज्ञायें ५ हैं किन्तु वैदिक ग्रंथों में अन्य पांच वायु भी कहे हैं।
(१) नाग,—उद्गार (२) कूर्म—उनमेष (३) कृकर—क्षुधा (४) देवदत्त—जंभाई, तथा पांचवां धनञ्जय सर्वव्यापी है। जोकि मृत्यु के पश्चात् भी शरीर में रहता है। यह आवरण, वायु में अपने भेदों द्वारा तथा देहस्थ धातु, मल, दोषों द्वारा बन जाता है। ऐसी स्थिति में शरीर में नाला लक्षण रूप विकृतियें हो जाती हैं। इन विकृतियों की चिकित्सा के पूर्व यह भी जानना परमावश्यक हो जाता है कि कौन से दोष, धातु मल का आवरण बना है। क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में यदि संवत्सर का अतिक्रमण हो जाता है तो रोग असाध्यता या प्रत्याख्येयता को प्राप्त हो जाता है। इसकी चिकित्सा में वायु के उन ५ भेदों के स्थानों को ध्यान में रखते हुए आवरण हटाकर उसे अपने स्थान में लाने का प्रयत्न करें। जैसे उदानवायु को ऊपर की ओर तथा अपान को अनुलोमन करें। यह स्वभावतया अधोग है। समान वायु विकृति में अधोग (पृथ्वीसोमीय) या ऊर्ध्वग (शेष द्रव्य) द्रव्यों का उपयोग न करते हुए शमन चिकित्सा द्वारा ठीक करें। व्यान विकृति में यथा रोग शोधन व शमन चिकित्सा करें। किन्तु प्राण वायु की चिकित्सा धैर्य व प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें।

वायु	स्थान	कर्म
प्राण	मूर्धा, उरः कंठ जिह्वास्य नसा	ष्ठीवन, क्षवथूद्गार, श्वसा, आहार
उदान	नाभि उरः कंठ,	वाक्प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण
समान	स्वेदवाहि, दोषवाहि, अंबुवाहि, अंतरग्नि के समीप	अग्नि, बल, प्रद।
व्यान	सर्वशरीरग	गति, प्रसरण, आक्षेप, निमेषादि
अपान	वृषणौ, बस्ति, मेढ्र, नाभि, उरु, वक्षण, गुद, अन्त्र	शुक्र, मूत्र, शकृत्, आर्तव, गर्भस्रजः

वायु के आवरण, भेद एवं चिकित्सा

आवरण	लक्षण	चिकित्सा
पित्तावृत	दाह, पिपासा, शूल, तथा भ्रम कटु अम्ल लवण से विदाह होता है।	शीतल और उष्ण चिकित्सा को बार-बार (सैकड़ों बार) करना चाहिए तथा जीवनीय घृत, जांगल मांस, जौ, शाली खिलायें, तथा दूधयुक्त मृदु विरेचन देवें। दूधयुक्त बस्तियां देवें। बृहत्पंचमूल और बला से सिद्ध दूध देवें। अनुवासन के योग्य समय में मधुर औषधियों से सिद्ध तेल से अनुवासन देवें। यष्टीमधुतैल (अ.हृ.चि. अ. २२ श्लोक ४१ व ४५) से बला तैल से, घृत से तथा दूध से परिषेक उत्तम है। बृहत्पंचमूल के क्वाथ से या शीतल पानी से पित्तावृत्त वायु में परिषेक उत्तम है।
कफावृत	शीतलता, शूल, भारीपन, कटु होना आदि रसों का अधिक अनुकूल आना अरुचि छर्दि।	जौ के भक्ष्य, जांगल पशु-पक्षी-मांस, स्वेद, तीक्ष्ण निरुहण, वमन और विरेचन, पुरातन घृत, तिल और सरसों का तैल उत्तम है। वक्तव्य कडुवे तैल को खाना श्वास में उत्तम माना है।
रक्तावृत	त्वचा मांस के बीच दाहयुक्त पीड़ा, सुर्खी वाला शोथ मण्डल, जड़ता उत्पन्न होते हैं।	वात रक्त की चिकित्सा करें। गुडूची घृत, कैशोरगुग्गु, लू, गुडूची लौह।
मांसावृत	कठिन एवं विवर्ण शोथ, पिटिका तथा रोमांच होते हैं, चीटियों का चलना-सा प्रतीत होता है।	स्वेदन, अभ्यंग, मांस रस, दूध और स्नेह उत्तम है।
मेदसावृत	अरोचक, आढ्यवात स्निग्ध, कोमल और शीत शोथ अङ्गों में होता है।	प्रमेहनाशक, मेदोनाशक और वातनाशक औषध उत्तम है।

अस्थ्यावृत	अङ्गों में सूई चुभने की वेदनायुक्त शूल	घृत, तैल, वसा, मज्जा ये महा स्नेह (अथवा मध्यम नारायणादि तैल) उत्तम है
मज्जावृत	अङ्गों का मुड़ना, जम्भाई, ऐंठन या रस्सी आदि से लपेटे होने का अनुभव शूल (विनमनं-गात्रशैथिल्लिम् — तोडरः)	,, ,, ,, ,,
शुक्रावृत	शुक्र का अतिशय वेग होता है अथवा नहीं होता तथा गर्भोत्पत्ति नहीं होती है।	प्रहर्षण करना तथा कौंच, उड़द आदि शुक्र का मार्ग रुका हुआ हो तो विरेचन देवें। विरेचन के पीछे थोड़ा भोजन देकर पूर्वोक्त (प्रहर्षणादि) चिकित्सा करें। वायु से गर्भ के शुष्क होने पर सिंघाड़े, गुम्भारी और मुलहठी से सिद्ध दूध नागोदर, उपविष्टक, लीन आदि में उत्थापन बढ़ाने के लिए देना चाहिए।
अन्नावृत	उदर में वेदना जो भोजन के जीर्ण होने पर शान्त होती है।	पाचनीय औषध, वमन, दीपन, (आग्नेय गुणयुक्त), लघु, औषध उत्तम है।
मूत्रावृत	मूत्र की अप्रवृत्ति और वस्तिका आध्मान होता है।	खीरा, ककड़ी आदि गोक्षुरादि क्वाथ मूत्रल औषधियां स्वेद और उत्तरवस्तियां उत्तम हैं।
विडावृत	पक्वाशय और गुदा में अपान वायु का अवरोध होता है। स्नेह का पाचन, भोजन से आध्मान, अन्न से दबाया हुआ मल शुष्क देर से बाहर आता है।	एरण्ड स्नेह की भेदन वस्तियां उत्तम हैं।
सर्व धात्वावृत	श्रोणि, वक्षण, पीठ में शूल, वायु की विमार्ग गति, असुख और हृदय अतिशय पीड़ित होता है।	जो औषध कफ और पित्त का विरोधी न हो और वायु का अनुलोमन करने वाली हो जो अनभिष्यन्दी (क्लेद न करने वाला) स्निग्ध एवं स्रोतों का शोधन करने वाला, खान-पान या औषध ही बरतनी चाहिए।

		यापन बस्तियों को तथा प्राय: करके मधुर और स्नेह-बस्तियों को देवें। बल (दोष-बल) को अधिकता को देख कर मृदु विरेचन देना चाहिए। शिलाजतु का और गुग्गुलु का दूध से उपयोग श्रेष्ठ है। च्यवनप्राशावलेह इसी प्रकार आमल की रसायन आदि
पित्तावृत प्राण	भ्रम, मूर्च्छा, पीड़ा, दाह और अन्न के विदाह अवस्था में वमन	वातव्याधि चिकित्सा के अनुसार, प्राणादि-कोपजनित रोग आदि की दृष्टि से प्राणादि में जो कोई समीप हो उसके विचार से (जिस रोग में प्राण आदि जो समीपस्थ हो, उसकी ही तथा प्राण आदि में जो अधिक बलवान् हो) उसकी प्रथम चिकित्सा करे।
पित्तावृत प्रदान	अन्तर्दाह, बलक्षय, भ्रम, मूर्च्छा, शूल, शीतकामता छर्दि	आमल की रसायन, पटोलादि, गुडूच्यादिघृत
पित्तावृत व्यान	सब अङ्गों में दाह क्लम, शरीर के व्यापार का अवरोध, सन्ताप, पीड़ा, गात्रविक्षेप	" "
पित्तावृत समान	अग्नि का नाश, अतिस्वेद, बेचैनी, पिपासा, दाह, मूर्च्छा	" "
पित्तावृत अपान	मल में हारिद्र वर्ण, अत्यधिक आर्तव (रज की अधिकता, तथा योनि मेहन और वायु में सन्ताप)	" "
कफावृत प्राण	तन्द्रा, अरुचि, वमन, थूक का आना तथा छींक उद्गार, निश्वास और उच्छ्वास का अवरोध	रसोनप्रयोग
कफावृत	शरीर में भारीपन, अरुचि, वाणी और स्वर का पकड़ा जाना, बल और वर्ण	" "

उदान	का नाश		
कफा-	अस्थि और वाणि का अवरोध तथा	,,	,,
वृत	सब अंगों का भारीपन तथा चलने में		
व्यान	अतिशय लड़खड़ाता है।		
कफा-	अङ्गों का बर्फ की भांति ठण्डा पड़	रसोनक्षीर प्रयोग	
वृत	जाना, पसीना न आना तथा अग्नि		
समान	का मन्द होना		
कफा-	मूत्र और मल कफ के साथ प्रवृत होते	,,	,,
वृत	हैं। भिन्न वर्च कफमेह		
अपान			

वायु का वायु से आवरण

प्राणावृत	व्यान	सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्व, स्मृतिक्षय, बलक्षय
,,	समान	जड, गद्गद, मूकता
,,	उदान	शिरोग्रह, प्रतिश्याय, निश्वासग्रह, उच्छ्वासग्रह, हृद्रोग, मुखशोष
,,	अपान	छर्दि, श्वास
उदानवृत	प्राण	ओजोनाश, बलनाश, वर्णनाश, मृत्यु
,,	समान	
,,	व्यान	स्तब्धता, अल्पाग्निता, स्वेदाभाव, चेष्टाहानि
,,	अपान	
समानवृत	प्राण	
,,	उदान	
,,	व्यान	मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगसाद, अग्निक्षय, ओजक्षय, बलक्षय
,,	अपान	ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृद्गद, आमाशय शूल
व्यानावृत	प्राण	अत्यर्थस्वेदः, लोमहर्ष, त्वग्दोषः, सुप्तगात्रता
,,	उदान	
,,	समान	
,,	अपान	वमि, आध्मान, उदावर्त, गुल्म, अर्तिःपरिकर्तिका
अपानावृत	प्राण	मोह, अग्निमांद्य, अतिसार
,,	उदान	
,,	समान	

„ व्यान	विण् मूत्र शुक्र की अति प्रवृत्ति
कोष्ट	मूत्रग्रह, वर्चोग्रह, व्रध्नहृद्रोग, गुल्म, अर्श, पार्श्वशूल
सर्वाङ्ग	गात्रस्फुरण, गात्रभजन, सन्धिरुक्, सन्धिस्फुटनम्
गुद	विण्मूत्रवातग्रह, शूलाध्माश्मशर्करा
	जंघोरु त्रिकयात्पृष्ट रोग, शोष
आमाशय	हृद्रुक्, नाभिरुक्, पार्श्वरुक् उदररुक्, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, कास, कंठ-शोष, मुखशोष, छर्दि, मूर्च्छा मोह, पिपासा
पक्वाशय	अन्त्रकूजन, अन्त्रशूल, अंत्राटोप, मूत्रकृच्छ्रता, आनाह, पुरीष कृच्छ्रता, त्रिकपीड़ा
श्रोत्रादि	जिस जिस इन्द्रिय में स्थानसंश्रय करता है उस इन्द्रिय का वध
त्वग्	रुक्षा, स्फुटिता, भेद, वैवर्ण्य, स्फुरण, चुमचुमायन, सुप्ता, कृशा, कृष्णा, तोद, विस्तार रागयुक्त, पर्वरुक्
रक्त	तीव्ररुजा, संताप, विवर्णता, कृशता, अरुचि, अरुंषी भुक्तस्यस्तंभ:
मांस	अंगगौरव, अत्यन्त तोद, रुक्, अत्यन्त श्रमित
मेदोगत	मन्दपीड़ा काली व्रणरहित गांठें
अस्थि	अस्थिभेद, अस्थिशोष, पर्वभेद, सन्धिशूल, मांसक्षय, बलक्षय, अनिद्रा, संतत-रुक्, मज्जा, पीड़ाएं निरन्तर बनी रहना
शुक्र	शीघ्रस्राव, चिरस्राव, (गर्भ का शुक्रका) विकृत गर्भ का बनना
स्नायु	बाह्यायाम, आभ्यान्तरायाम, खल्लि, कौब्ज्य, सर्वांगरोग, एकांगरोग,
सिरा	मन्दरक्त, शोफ, सिराशोष,स्पन्दन, सुप्ति, तनुता, महत्ता,
सन्धि	वातपूर्णदृतिस्पर्श, शोथ, प्रसारण, आकुंचन मे पीड़ा

पंचमहाकषाय

क.सं.	गणनाम	अंग्रेजी नाम	यूनानी नाम	आयुर्वेदीय औषधियाँ
१	जीवनीय	Nutrients	मुगज्जी	जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुग्दपर्णी (वनमूंग), वनउड़द, जीवन्ती, मुलहठी।
२	बृंहणीय	Weight promotings drugs (Roborants)	मुसम्मिन वदन	दुग्धिका, असगंध, काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेतबला, पीतबला, वनकपास, विदारीकन्द, विधारा।
३	लेखनीय	Weight Reducing drugs (Revulsives)		नागरमोथा, कूठ, हल्दी, दारु हल्दी, वच, अतीस, कुटकी, चित्रक, करंज, सफेद वच।
४	भेदनीय	Purgatives	मुलय्यिन, मुसहिल	निशोथ, आक, एरंड, कलिहारी, दन्ती, चित्रक, करंज, श्वेत बुन्हा, कटुका, स्वर्णक्षीरी।
५	सन्धानीय	Union-Promoters		मुलेठी, गिलोय, पिठिवन, पाठा, मजीठ, मोचरस, धायकाफूल, लोध, प्रियंगु, कायफल।
६	दीपनीय	Stomachics and Digestives	मुस्तही	पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, अदरख, अम्लवेत, मरिच, अजमोद, गोडुम्बी, हींग।
७	बल्य	Tonics	मुकव्वी	ऐन्द्री, (गोरख ककड़ी) कोच बीज, शतावरी, माषपर्णी, क्षीरकाकोली, असगन्ध, सरिवन, कटुका, बला, अतिबला।
८	वर्ण्य	Complexion Promoters		चन्दन, नागकेशर, पद्मकाठ, खस, मुलहठी, मजीठ, अनन्तमूल, क्षीरविदारी, श्वेतदूर्वा, श्यामदूर्वा।
९	कण्ठ्य	Voice Promoters		अनन्तमूल, ईख की जड़, मुलहठी, पीपर, मुनक्का, विदारीकन्द, कायफल, हंसपदी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी।
१०	हृद्य	Cardiac Tonics		आम, आमड़ा, बड़हर, करौदा. वृक्षाम्ल, अम्लवेत, बड़ीबेर, छोटीबेर, अनारदाना, मातुलुंग।
११	तृप्तिघ्न	Appetisers		सोंठ, चव्य, चित्रक, वायविडंग, मूर्वा, गिलोय, वच, नागरमोथा, पीपर, पटोल।

१२ अर्शोघ्न	Anti Hemorrhoidals		कुटज, बिल्व, चित्रक, सोंठ, अतीस, हरड़, जवासा, दारुहल्दी, वच, चव्य ।
१३ कुष्टघ्न	Curative of Dermatosis		खदिर, हरड़, आंवला, हल्दी, भिलावा, सप्तपर्ण, अमलतास, कनेर, वायविडंग, चमेली के पत्ते ।
१४ कण्डुघ्न	Anti Pruritics		चन्दन, जटामांसी, अमलतास, लताकरंज, नीम, कुटज, सरसों, मुलहठी, दारुहल्दी, नागरमोथा
१५ क्रिमिघ्न	Anthelmintics	कातिल दीदान	नागरमोथा या सहिजना, मरिच, गण्डीर, केबुक, वायविडंग, निर्गुण्डी, किणिही, गोखरू, वृषपर्णी, मूषाकर्णी ।
१६ विषघ्न	Antidotes	तिरियाक फाद जहर	हल्दी, मजीठ, निशोथ, छोटी इलायची, कालानिशोथ, चन्दन, निर्मली, शिरीष, निर्गुण्डी, लसोड़ा ।
१७ स्तन्य जनन	Galactogogues		खस, शालि, साठी चावल, इक्षुवालिका, डाभ, कुश, काँस, गुन्द्रा, इत्कट, रोहिषतृण ।
१८ स्तन्य शोधन	Galacto Purifiers		पाठा, सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रजौ, चिरायता, कटुकी, अनन्तमूल ।
१९ शुक्र जनन	Semeno or Spermo-Poietic	मुवल्लिद मनी	जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, वनमूंग, वनउड़द, मेदा, शतावरी, उच्चटा, कुलिंग ।
२० शुक्र शोधन	Semeno or Spermo-Purifiers		कूठ, एलुवा, कायफल, समुद्रफेन, कदम्ब का गोंद, ईख, कांडेक्षु, तालमखाना, वसुक, खस ।
२१ स्नेहोपग	Adjuvants inoleation Therapy		मुनक्का, मुलहठी, गिलोय, मेदा, विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालपर्णी ।
२२ स्वेदोपग	Adjuvants in Sudation Therapy		सहिजना, एरंड, आक, श्वेतपुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, जव, तिल, कुलत्थ, उड़द, बेर ।
२३ वमनोपग	Adjuvants in Emetic Therapy		मधु, मुलहठी, कोविदार, (लाल कचनार) श्वेत कचनार, कदम्ब, विदुल, कुन्दरु, वनसीणिया आक, अपामार्ग ।
२४ विरेचनोपग	Adjuvants in Purgative Therapy		मुनक्का, गम्भारी का फल, फालसा, हरड़, आंवला, बहड़ा, बड़ीबेर, जड़बेर, पीलू ।
२५ आस्थापनोपग	Adjuvants in nonoily Enemeta		निशोथ, बेल, पीपर, कूट, सरसों, वच, इन्द्र जौ, सौंफ, मुलहठी, मैनफल ।

२६ अनुवासनोपग	Adjuvants in oily Enemeta		रास्ना, देवदारु, वेत, मैनफल, सौंफ, श्वेतपुनर्नवा, लालपुनर्नवा, गोखरू, अरणी, सोनापाठा।
२७ शिरोविरेचनोपग	Adjuvants in Errhiness		नकछिकनी, मालकांगनी, मरिच, पीपर, वायविडंग सहिजना, सरसों, अपामार्ग, श्वेत अपराजिता, नील अपराजिता।
२८ छर्दि निग्रहण	Anti Emetics	मुसकिन	जामुंन की पत्ती, आम की पत्ती, बिजौरा, बेर, अनार, जव, साँठी चावल, खस, मिट्टी, धान का लावा।
२९ तृष्णानिग्रहण	Anti Thirst drugs		सोठ, जवासा, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, चन्दन, चिरायता, गिलोय, सुगन्धवाला, धनिया, पटोल।
३० हिक्कानिग्रहण	Anti Hicough drugs	मुसक्किनफवाक	कचूर, पोहकरमूल, बेर, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गिलोय, हरड़, पीपर, जवासा, काकड़ासीगी।
३१ पुरीष सग्रहणीय	Intestinal Astringents		प्रियंगु, अनन्तमूल, आम की गुठली, सोनापाठा, (अरलु) लोध, मोचरस, लज्जालु, धाय के फूल, भारगी, कमल केशर।
३२ पुरीष विरजनीय	Corrective of facial Pigments		जामुन, कुन्दरुछाल, कौच, महुवा, सेमर, गन्धबिरोजा, भूनी मिट्टी, विदारीकन्द, नीलकमल, तिल।
३३ मूत्र संग्रहणीय	Urinary Astringents		जामुन, आम, प्लक्ष, बरगद, कपीतन, गूलर, पीपल, भिलावा, अश्मन्तक, खदिर।
३४ मूत्र विरजनीय	Corrective of Urinary Pigmento		कमल, नीलकमल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र, मुलेठी, प्रियंगु, धायफूल।
३५ मूत्र विरेचनीय	Diuretics	मुदिर्र बौल	बन्दाक या विदारीकंद गोखरु, पुनर्नवा, सूर्यावर्त, पाषाणभेद, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्रा, इत्कट
३६ कासहर	Bronchial Sedatives	मुजय्यल सुर्फा	मुनक्का, हरड़, आवला पीपर, दुरालभा, काकड़ासीगी, कटेरी, श्वेतपुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, भूम्यामल्की।
३७ श्वासहर	Bronchial Anti Spasmodics	मुसक्किन तनफ्फुस	कचूर, पुष्करमूल, अम्लवेत छोटी इलायची, हींग, अगर, तुलसी, भूम्यामलकी, जीवन्ती, चोरपुष्पी।
३८ शोथहर	Anti Dropsy drugs	मुहल्लिन वर्म	पाढल, अरणी, सोनापाठा, बिल्व, गम्भारी, कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरु।

३९ ज्वरहर	Anti Pyretics	मानिअ नौबत दुम्मा	अनन्तमूल, शर्करा, पाठा, मजीठ, मुनक्का, पीलु, फालसा, हरंड, आंवला, बहड़ा।
४० श्रमहर	Anti Fatigue drugs or Acopics		मुनक्का, खजूर, प्रियाल, बेर, अनार, अजीर, फालसा, ईख, यव, सांठी चावल।
४१ दाह प्रशमन	Anti Burning Syndrome drugs Refrigerants	मुस्फी, तक्लील हरारत मुसक्किन हरारत	लाजा, चन्दन, गम्भार, महुवा, शर्करा, नीलकमल, खस. अनन्तमूल, गिलोय, सुगंधवाला।
४२ शीत प्रशमन	Calefacients		तगर, अगर, धनियां, सोंठ, अजवायन, वच, कटेरी, अग्निमन्थ, सोनापाठा, पीपर।
४३ उदर्द प्रशमन	Pnti Urticarials		तिन्दुक, चिरौंजी, बेर, खेर, कदर, सप्तपर्ण, शाल, अर्जुन, विजयसार, अरिमेद।
४४ अगमर्दप्रशमन	Restoratives		सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, कटेरी, एरण्ड, काकोली, चन्दन, खस, छोटी इलायची, मुलहठी।
४५ शूल प्रशमन	Analgesics		पीपर, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, मरिच, अजमोद, अजगंधा, जीरा, गण्डीर।
४६ शोणित स्थापन	Haemostatics		मधु, मुलहठी, रुधिर, (केशर कुंकुमम्) मोचरस, मृत्कपाल, लोध्र, गैरिक, प्रियंगु, शर्करा, लाजा।
४७ वेदना स्थापन	Anodynes		शाल, कायफल, कदम्ब, पद्माक, तेजबल, मोचरस, शिरीष, जलवेत, एलुआ, अशोक।
४८ संज्ञा स्थापन	Resuscitatives		हींग, कट्फल, अरिमेद, वच चोरपुष्पा, ब्रह्मी, गोलोमी, जटामांसी, गुगुलु, कटुक।
४९ प्रजा स्थापन	Procreants		ऐन्द्री, ब्राह्मी, दूर्वा, दूर्वाभेद, पाटला, गुडूची, हरड़, कुटकी, कंघी, प्रियगु।
५० वयः स्थापन	Rejurenators		गिलोय, हरड़, आंवला, मुक्ता, श्वेताअपराजिता, जीवन्ती, शतावरी, मंडूकपर्णी, सरिवन, पुनर्नवा।

अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य

लेखक : मुनि कान्तिसागर, उदयपुर

[आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ-भण्डार बहुत बड़ा है। हमारे पूर्वज हमारे लिए बहुत बड़ी ग्रन्थ-सम्पत्ति छोड़ गए हैं। आयुर्वेद आज यदि जीवित है तो प्राचीन जैन यति, ऋषि मुनियों की स्व-साधना में अनुरक्त रहने वाले महर्षियों के बल पर ही आज तक आयुर्वेद टिका रहा है। मुनिश्री ने अपने लेख में विवरण दिया है कि, 'गुणरत्न माला' भाव मिश्रजी के भाव प्रकाश ही का अङ्ग माना है। सुधानिधि, सुख जीवन-प्रकाश, रसराज-बोध-प्रकाश आदि का परिचय भी प्रस्तुत किया गया है। काय चिकित्सा-सम्बन्धी, विशेषकर बाल और स्त्री-चिकित्सा पर भी प्रकाश डाला गया है। इस समय भारतवर्ष में लुप्त साहित्य जहा यत्र-तत्र बिखरा हुआ है उसका श्री मुनिजी के पास संग्रह भी है। श्री मुनि कान्तिसागरजी उदयपुर निवासी है। आपका अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य नामक लेख खोज पूर्ण है एवं पठनीय है। आप चरितनायक के प्रति अत्यन्त आस्थावान है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

विद्या-व्यसनी सुप्रसिद्ध विद्वान श्री महामहोपाध्याय विश्वेश्वरनाथजी रेऊ से विदित हुआ कि आयुर्वेद जगत के विख्यात विज्ञ और जोधपुर के लब्धप्रतिष्ठ राजवैद्य श्री यति-वर्य उदयचन्दजो चांणोद गुरां सा० का निकट भविष्य मे अभिनन्दन किया जा रहा है। इस पुनीत प्रसंग पर उनकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए एक 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भी भेट (समर्पित) किया जाएगा। मेरे परमपूज्य गुरुवर्य श्री उपाध्याय पद-विभूषित श्री सुखसागरजी महाराज सा० के साथ इनका वर्षो का सम्पर्क रहा है। बचपन में इन पंक्तियों का लेखक भी आपकी चिकित्सा से लाभान्वित हुआ है। अतः मुझे प्रसन्नता होना स्वाभाविक था। श्री यतिवर्य उदयचन्द्रजी की आयुर्वेद-विषयक सेवाए सर्वविदित ही रही है। आपने अपनी प्राचीन परम्परा को आज भी बनाए रखा है। यदि इन्हें यतियों की परम्परा के अन्तिम कहें तो अत्युक्ति न होगी। चिकित्सकों का परम सौभाग्य है कि ऐसे श्रमशील विद्वान् के अभिनन्दन का पावन प्रसंग प्राप्त हुआ है। यद्यपि आयुर्वेदविषयक ज्ञान इन पंक्तियों के लेखक का अत्यन्त सीमित रहा है, पर जहां तक अनुराग का प्रश्न है वह आयुर्वेद–चिकित्सा पद्धति में विश्वस्त रहा है।

विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वास्थ्यकामी होता है। सभी निरोगी जीवन की कामना करते हैं। समुचित स्वास्थ पर ही मानसिक विकास अवलम्बी है। स्वास्थ्म सुदृढ राष्ट्र की धुरी है। भारत की पुरातन विद्याओं में स्वास्थ्य विद्या का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इस विद्या-परम्परा को आयुर्वेद की सज्ञा दी गई हैं जिसका तात्पर्य दीर्घ और स्वस्थ

आयुष्य से है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने स्व-साधना में अनुरक्त रहते हुए भी एतद्विषयक साहित्य प्रचुर परिमाण में रच कर जो महदुपकार किया है उसे हम नहीं भूल सकते। सांसारिकता से विरक्त रह कर भी वे सार्वभौमिक दया अनुकम्पा को वे उपेक्षणीय कैसे रखते। अहिंसा में विश्वस्त और आश्वस्त मानव या साधक दूसरों को सुख पहुँचाने में ही आत्मसंतोष का वास्तविक अनुभव करता है।

यहां पर प्रसंगत: एक बात का उल्लेख करना अनिवार्य जान पड़ता है कि गुरांसा जिस परम्परा के अनुगामी रहे हैं उसने आयुर्वेद के विकास, संरक्षण और परिवर्द्धन में मूल्यवान् सहयोग दिया है। मेरा तात्पर्य जैन साहित्य प्रणेताओं से है। साहित्य सृजन के क्षेत्र में जैन यति-मुनियों ने न तो कभी साम्प्रदायिकता को पनपाया और न कभी जनोन्नय-नमूलक किसी भी कार्य से मुंह मोडा। सेवा करना उनकी नीति नहीं अपितु धर्म था। यही कारण है कि उन उदारचेता तपस्वियों द्वारा प्रणीत साहित्य सभी आवश्यक विषयों से परिपूर्ण है। कामसूत्र से लगा कर अध्यात्म जैसे विषयों तक उनका क्षेत्र व्यापक था।

एक समय था जब यूरोपीय प्राच्यतत्वविदों मे यह भ्रम फैला था कि प्राचीन भारतीय लोगों ने आध्यात्मिक, धार्मिक और तार्किक विषयों में ही प्रावीण्य प्राप्त किया था भौतिक विषयों को उन्होंने अछूता ही रखा। परिणामत: भौतिक याने प्रत्यक्ष तत्वों को न समझ सकने की परम्परा हिन्दू सभ्यता में आनुवंशिक रूप से उतर आई है। अर्थात् आध्यात्मेतर विषयों को आत्मसात् करने की बौद्धिक क्षमता भारतीयों में नहीं रही। यह अभियोग आयुर्वेद पर भी चरितार्थ होता है। सुप्रसिद्ध संस्कृत साहित्य के लेखक श्री ए० ए० मेकडोनल का निम्न वक्तव्य प्रेक्षणीय है—

1. 'With regard to the intrinsic value of the works of the old Indian writers on medicine, the opinion of competeot judges who have hitherto examined them is not favourable. Nor is it likely that the Indian mind, since it never showed any eptituda for natural science, should have accomplished anything great in this direction. Probably the only valuable contribution to surgery to which India can lay claim is the art of forming artificial noses.'

—'Imperial Cazetteer of India', Vol. II. p. 266.

उपर्युक्त वाक्यावली में पूर्वग्रह का स्पष्ट प्रदर्शन है। एक जर्मन विद्वान् हास ने तो यहां तक कह डाला कि "हिन्दुओं की वैद्यक विद्या का विकास १० से १६ शती तक का ही है।" कितना हास्यास्पद विश्लेषण है। परन्तु परवर्त्ती विद्वान् जोली ने इन मतों का निरसन "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसन" में भली भांति कर दिया है।

श्रद्धाजीवी मानस कभी-कभी भावुकतावश कह बैठता है कि पूर्णतया आध्यात्मिक जीवन

यापन करने वाले मुनियों का आयुर्वेद जैसे भौतिक विषय से क्या सम्बन्ध ? जैन मुनियों का विरक्त जीवन इससे कैसे बैठायेगा ? इन स्वरों में प्राणी मात्र को सुख पहुंचाने की प्रवृत्ति धूमिल हो जाती है। वे अहिंसा की सूक्ष्म व्यापकता से परिचित होने और दया का वास्तविक मर्म आत्मसात् किये होते तो शायद यह विचार ही उनके मस्तिष्क-पटल पर अङ्कित न होता। इतना ही नहीं प्राचीन जैन साहित्यानुशीलन से अवगत होता है कि आयुर्वेद की समस्त शाखाओं के विकास में क्रियाशील आचार्यों का प्रधान सहयोग रहा है। प्रभावक आचार्य को सर्व विषयों में निष्णात होना आवश्यक है। रसायन शास्त्रों के परम विद्वान् नागार्जुन के गुरु आचार्य पाललिप्तसूरि जी को यदि चिकित्सा का ज्ञान और अनुभव न होता तो मुरुण्ड राजा के मस्तक रोग का निवारण उन द्वारा सम्भव न था। कालिकाचार्य रसायनशास्त्र के न केवल सैद्धान्तिक विद्वान् ही थे अपितु इसका इन्हें सक्रिय ज्ञान था। कहने का तात्पर्य है कि न केवल जैन यति-मुनियों ने स्वतंत्र आयुर्वेद के प्रामाणिक और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का ही प्रणयन किया अपितु एतद्विषयक दुर्बोध कृतियों पर विस्तृत एवं आलोचनात्मक टीका टिप्पणी लिखकर सर्वाधिक लोक भोग्य भी बनाया। संस्कृतानभिज्ञ प्रेमियों के लिए कई रचनाओं पर स्तबक, टबा और बालावबोध या अनुवाद कर उसे सुरक्षित रख जो सेवा आयुर्वेद जगत की की है वह आज के वैज्ञानिक व शोध के युग में भी अभिनन्दनीय ही नही, अपितु अनुकरणीय है। नागार्जुन-रचित "योगरत्नमाला" जैसे कतिपय ऐसे ग्रंथ हैं जिन पर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत सुबोध वृत्ति समुपलब्ध है। ऐसी रचनायें उन दिनों की हैं जिन दिनों स्वल्प शैथिल्य भी समाज की दृष्टि में अक्षम्य अपराध माना जाता था। अपने प्रारम्भिक आचार और शास्त्रीय नियमों का पूर्णतया दैनिक जीवन व्यवहार में साकार करने वाले परम निःस्पृह मुनि ही इस कार्य के अधिकारी हो सकते थे। वे अपनी साधना और अनुभवों को छिपाने की अपेक्षा जन-कल्याणार्थ सार्वजनिक प्रदर्शन करने में तनिक भी सकोच नही करते थे। प्रयोग छिपाने से हमारी चिकित्सा के क्षेत्र मे कितनी हानि हुई यह बतलाने की आवश्कता नहीं। यहां जैनों द्वारा रचित आयुर्वेद की समस्त शाखाओं को परिपुष्ट करने वाले साहित्य की न तो समीक्षा करनी है और न क्रमबद्ध इतिहास ही उपस्थित करना है, पर यह कहने का लोभ भी संवरित नहीं कर सकता कि आज ६ दर्जन से अधिक एतद्विषयक रचनायें प्राप्त हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जहाँ तक राजस्थान का प्रश्न है, विशुद्ध आयुर्वेदीय परम्परा को सुरक्षित रूप से रखने और अधिकाधिक लोक भोग्य बनाने में सर्वाधिक सक्रिय योग जैन यति-मुनियों का ही रहा है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जिसकी गवाही मे शताधिक मौलिक और संकलित कृतियाँ समुपस्थित की जा सकती हैं।

संकलनों से मेरा तात्पर्य आम्नाय ग्रंथों से है। सम्पूर्ण भारत में इस प्रकार की अनुभूत प्रयोगों की शताधिक पोथियां उपलब्ध हैं, पर राजस्नाथ के जैन भडारों में तो इनका इतना

बाहुल्य है कि यदि उन सबका सामूहिक प्रकाशन किया जाय तो कई जिल्दें सरलता से तैयार हो सकती हैं। पुनः पुनः प्रयुक्त शास्त्रीय प्रयोगों की छाप तो ऐसे संकलनों पर होती है पर पारम्पर्य अनुभवमूलक योग भी हजारों की सख्या में पाये जाते हैं जो तत्काल अपना मूल्यवान् प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। ऐसे योग केवल काष्टादिक औषधों से ही सम्बद्ध नहीं रखते अपितु रासायनिक-धातु परिवर्त्तन और विषोपविषों से संबध रखने वाले योग भी मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ सिंग्रफ ही लें, शास्त्रीय दृष्टि से इसे गौ या महिषी के पय में खरल कर सात बार नीबू के रस मे घोट कर शुद्धि की पद्धति प्रचलित है पर पुराने अनुभवमूलक पत्रों मे इस पलाण्डु, घृत और पलाण्डु रस सयुक्त, नागर बेल के पान के रस के साथ बच्छनाग के चूर्ण में रखकर या उत्तम मद्ययोग से शुद्ध करने की कई प्रक्रयाएँ मिलती हैं। भल्लातक के हिंगुलु मिश्रित कई प्रयोग विभिन्न रोगों पर इन पक्तियो के लेखक ने शताधिक बार अनुभव किया है, पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। रासायनिक प्रयोग भी अव्यर्थ प्रमाणित हुए। जिन विशिष्ट रोगों को दूर करने के जिन धातुओं का वर्णन शास्त्रीय कृतियों में आया है उन-उन रोग-निवारणार्थ संबद्ध काष्टादिक वनस्पतियो के रस में यदि उन्हें भावित कर काम में लाया जाय तो कोई कारण नही कि चिकित्सक को असफलता का सामना करना पड़े। जैसे मधु-मेह के निरसन के लिये प्रयुक्त भस्मों को इस रोगनाशक वनस्पतियो के रसों के योग से बनाएं तो तत्काल फल मिल जाता है। इन पंक्तियों के लेखक ने हिंगलु तथा मधुमेह पर यह प्रक्रि-याए कई बार प्रयुक्त की हैं। कहने का तात्पर्य कि ऐसे संकलनो का बहुत बड़ा महत्त्व है। ऐसे आम्नाय ग्रंथ १४वीं शती से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं, सम्भव है इतः पूर्व के भी प्राप्त होते हों, पर मेरे संग्रह की कृतियो में जो सर्वाधिक प्राचीन हैं वे रचनाएं १५वी की ही हैं और सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों की पारम्परिक आम्नाये हैं। मुझे इन प्रयोगों ने कभी अपयश नही दिया। १० संकलन इन पंक्तिकाओं में लेखक के संग्रह में हैं। यद्यपि इनके प्रयोग बहुल-लतया वानस्पतिक होते हैं, अल्पव्ययी रुग्ण भी इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। यहां स्मरणीय है कि ऐसी रचनाओं में केवल प्रयोग ही संग्रहीत हों सो बात नहीं है, कई तो निदान संयुक्त भी प्राप्त हैं। १६वीं शताब्दी का एक सकलन मेरे संग्रह में जिनमें आपाद-मस्तक सर्वाङ्ग का वर्णन, रोग, कारण परिचर्या और चिकित्सा का विशद और प्रामाणिक विवेचन सकलित है। इसमें संग्रहकर्त्ता को जो योग जिस-जिस महानुभाव से प्राप्त हुआ उनके नाम भी विद्यमान हैं। जिन पर प्रयोग किया गया उनके नाम भी मिलते हैं, जैसे "सिंहवाहिनी" गुटिका के साथ महाराणा कुंभा का नाम जुड़ा है।

हां, तो कहने यह जा रहा था कि किस प्रकार शास्त्रीय कृतियों के गवेषण, प्रकाशन और अनुसंधान पर आज बल दिया जा रहा है उसी प्रकार ऐसे संकलनात्मक साहित्य पर सर्वाधिक ध्यान देने की परमावश्यकता है। यह हमारे पूर्वजों की वर्षों की शताधिक बार की परीक्षित

अमूल्य निधि है। इन संग्रहात्मक रचनाओं के अतिरिक्त भी अनपढ़ जनता और वयः प्राप्त मानव के कंठ में महान् औषधि प्रयोग वर्षों से चले आ रहे हैं, उनका भी लिपिबद्ध हो जाना अत्यन्त वांछनीय है। कभी-कभी अनुभव किया गया है कि जहां दिग्गज विफल हो जाते हैं वहां ये ग्रामीण कहलाने वाले मानव सफल होते देखे गये हैं।

आज का युग खोज और अन्वेषणप्रधान है। अनुसंधित्सुओं ने अपनी मूल्यवान् साधनाओं द्वारा कई ऐसी वस्तुओं पर प्रकाश डाला है कि उन चमत्कारों से आश्चर्यान्वित हो जाना पड़ता है। आयुर्वेद के उद्धारार्थ भी प्रचुर प्रयत्नों की आवश्यकता है। यही एक ऐसी रोग-निवारण पद्धति है जिसने शताब्दियों से मानव के स्वास्थ्य को सुरिक्षत रखने में बहुमूल्य योग प्रदान किया है। आज के सीमित अनुसंधानों ने प्रमाणित कर दिया है अयुर्वेद की शक्ति अपार है, क्रान्तदर्शी ऋषियो की साधना आज नवमूल्यांकन की अपेक्षा रखती है उन द्वारा प्रणीत और प्रकाशित आयूर्वेदिक साहित्य से भी अभी मूल्यवान् रचनाएं अप्रकाशित अवस्था में पड़ी हुई उद्धार की प्रतोक्षा में हैं। प्राचीन ज्ञानाकारों में, सम्भ्रान्त परिवारों में और मठ-मंदिरों में न जाने कितना साहित्य दिनानुदिन नष्ट हुआ जा रहा है, दीमकों का भोजन बन रहा है जिसका परिष्कार और प्रकाशन वांछनीय है।

इस प्रबंध में मैं अपने संग्रह के कतिपय अज्ञात या अल्पप्राप्त ग्रंथों का परिचय दे रहा हूँ जिनका सबंध आयुर्वे से है। यों तो संकलनात्मक प्रयोगों के १० बृहत्तर संग्रह तथा स्फुत पत्र इतने अधिक हैं कि उनकी संख्या १००० से कम नही है, पर यहा तो केवल उन्हीं का उल्लेख होगा जो स्वतंत्र कृतियां हैं। यदि कोई आयुर्वेदप्रेमी इनके प्रकाशन की व्यवस्था कर सके तो उत्तम है।

१ योगसुधानिधी

संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और परम साहित्यसेवी आफ्रेकट के "कैटलोगस-कैटलोगम" में इस कृति का उल्लेख, जहां तक मुझे स्मरण है, आया है और वहां बताया गया है कि इसकी एक प्रति इंडिया ऑफिस लायब्रेरी लंडन और लाहौर में किसी के संग्रहालय में है। अद्यावधि प्रकाशित श्री जोली, दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, अत्रिदेव गुप्तादि द्वारा आलेखित आयुर्वेद शास्त्र के किसी भी इतिहास मे इसका उल्लेख नही हुआ है। सर्वप्रथम यही इसका परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस मूल्यवान् रचना के प्रणेता जगदीश मिश्र के पुत्र वंदि मिश्र हैं। लेखक ने अपनी इस कृति में विशेषकर बाल और स्त्री चिकित्सा पर ही विचार किया है। वैद्यक परम्परा आनुवंशिक सस्कार के रूप में लेखक को प्राप्त है। जैसा कि प्रशस्ति से सिद्ध है। कवि के पूर्वज श्री भवानीदास स्वयं कुशल वैद्य और चिकित्सक थे। यदि मिश्र ने कृति में कई प्रयोगों में अपने पूर्वजों द्वारा प्रवर्त्तित संज्ञा दी है। कवि को प्रान्तोय चिकित्सा पद्धतियों का भी अनुभव था जैसा कि

निनामी की चिकित्सा में इस प्रकार उल्लेख किया है "तस्मिन्गुर्ज्जरदेशजात सुयवा दारस्य-चूर्ण क्षिपेदल्पपान विधानतो हरतितद्वाल्पस्यनिनामिकाम् ।"

ग्रंथकार ने बालक जन्म से लगाकर जब तक वह वयस्क नहीं हो जाता तब तक की पूरी चिकित्सा का वर्णन किया है। बिल्कुल अल्पावस्था में औषधि लेने की स्थिति नहीं होती उस के लिए लेप और धूप की व्यवस्था की गई है या माता को दवा देने का विधान निर्दिष्ट है। सर्व प्रथम दुग्ध शुद्धि और लक्षण का परिचय वर्णित है। तदन्तर षष्टिपूजा कार्तिकेयपूजन, वंशपूजा, शंखपूजा, नारायणपूजा, षोडश मातृकापूजा, कुलदेवता पूजा, हलपूजा आदि कृत्यों के बाद सूर्यावलोकन संस्कार सपन्न किया जाना बताया गया है। बालरोगों में दाह, कुकूण नाभि शोथ, गुदापाक, मुखस्राव, दतोद्भेद, निनामी, ज्वर, कास, हिक्का, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, भ्रम, उन्माद, अपस्मार, मूत्र के कई रोग, गुल्म, यकृतफ्लीहा शोथ, हृदयरोग, श्लीपद, विद्रधि, गृध्रसी, अस्थिसंधान, भगदर, नाड़ीव्रण, उपदश, कुष्ट, शुक, अम्लपित्त, अतिसार, दूध फेंकना, विसर्प, विस्फोट और क्षुद्र रोगादि पर सुंदर प्रकाश डाला गया है। कामला–पाण्डु की चिकित्सा का उदाहरण देना उपयुक्त जान पड़ता है।

अथ पाण्डुरोगे चिकित्सा

गोमूत्र शुद्ध मण्डूरं सर्प्पिषामधुनासह।
भक्षयेत्पाण्डुरोगघ्न पक्तिशूल हरं शिशोः ॥
लोहपात्रे स्थितंक्षीर सप्ताहं पथ्यभुक्शिशुः।
पिवेत्वावामलाहरं, ग्रहणी सोक नाशनम् ॥

अथ कामलायाम्

अंजयेत्कामलार्त्तानां चक्षुषी दोष शान्तये।
निशा गैरिक धात्रिभि र्द्रोणिपुष्पी रसेन च ॥
गडूचीपत्र कल्कं तु पिवेत्क्रेण वा शिशु।

उपर्युक्त सभी प्रयोग लेखक के शतशोनुभूत हैं।

कृति के अन्तःपरीक्षण से विदित होता है कि लेखक को शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त था। अपनी चिकित्सा पद्धति को प्रमाणभूत बनाने के लिए रावण कृत "कुमार तंत्र" का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। विशेषकर स्त्री चिकित्सा वाले प्रकरणों में तो बृहद्त्रयी का पूरा उपयोग परिलक्षित होता है। कौनसा प्रयोग कहां से लिया, यथास्थान सकेत स्पष्ट है। दोनों विभागों मे लेखक ने अनेक स्थान पर मंत्र और यंत्रों द्वारा भी रोग निवारण का उपदेश दिया है। प्राचीन अन्य एतद्विषयक कृतियों में इस प्रकार की परम्परा पाई जाती है विद्वत्परिचयार्थ कृति का आदि भाग उद्धृत है—

श्री गणेशाय नमः

नत्वा धन्वंतरी भक्त्वा चिकित्सां क्षीरनीरधिम्।
विलोक्य बुध्वा बहुशः कलाभिः संकलंकृतः ॥१॥

गदधर्मार्त्ति बालानां सुखाय भिषजां तथा।
क्रियते बन्दिमिश्रेण सोऽयं "योगसुधानिधिः" ॥२॥

रीराज्यरम्यं पुरभिष्टकाख्यं, मनोरमं श्रोत्रियमंदिरश्च।
अगस्तिगोत्रो वसतिस्म तत्र, सर्वैद्य पूज्योहि भवानीदासः ॥३॥

पुत्रोथ द्विजराजराजवन्वितपदः श्रीमान्सतां वल्लभः
स्फूहाद्गोत्रधरो बभूव भिषजां मान्स्य नारायणः ॥४॥

कल्याणोऽस्यसुतस्समस्त भुवनानन्दैकहेतुः तमतो।
जातोषां जगदीश्वरो भुविगतो विष्णोरिवांषस्वयम् ॥५॥

बन्दिमिश्रेणात्मजेनास्य सोय ग्रन्थः पुंसां व्याधिवधायप्वधामबद्धः।
सर्वे योगा यत्रमंत्रादयोस्मिन्सिद्धाएव श्रीभवानीवरेण ॥६॥

ग्रंथकार ने आत्मवृत्त देने में कृपणता कर दी है। जहां से मुझे यह प्रति प्राप्त हुई उन सज्जन का कथन है कि हमारी परम्परा मे यह प्रसिद्ध रहा है कि ये भाव मिश्र के प्रपौत्र थे जिसकी रचना भावप्रकाश प्राप्त है। परन्तु यह कोरी किंवदन्ती है, इसके पीछे कोई ठोस आधार नहीं है, अतः प्रमाणभूत ऐतिहासिक साधन जब तक न मिले तब तक इनका अस्तित्व समय अंधकार के गर्भ मे ही रहेगा, हां भाव मिश्र का समय सुनिश्चित होता तब भी कोई बात नहीं थी, पर उनका भी काल अज्ञात ही है। यहां तो इतना ही निसकोच कहा जा सकता है कि यह कृति आंग्ल संपर्क के बाद की है अर्थात् सत्रहवीं शताब्दी के अनन्तर ही इसका प्रणयन हुआ होगा कारण कि इसमें उपदश का स्पष्ट उल्लेख है। अनुसंधित्सुओं से निवेदन है कि यदि किसी के सग्रह में इसकी अन्य प्रति प्राप्त हो तो इन पक्तियों के लेखक को सूचित करने का कष्ट करें। इसकी मुद्रणा योग्य प्रतिलिपि मैंने तैयार कर ली है। इसका प्रकाशन नितान्त वाछनीय है।

गुणरत्नमाला—

हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन में सुप्रसिद्ध आयुर्वेद-गवेषक श्री जोली ने उपर्युक्त कृति का उल्लेख करते हुए सूचित किया है कि इसकी एक प्रति लंडन के "इण्डिया आफिस" संग्रहालय मे सुरक्षित है। श्रीयुत दुर्गाशकर भाई केवलरामजी शास्त्री ने भी अपने "आयुर्वेद के इतिहास" मे इसी बात को दुहराया है। इससे यही फलित होता है कि भारत में कही भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। मेरे उदयपुर-निवास-दरम्यान स्थानीय विद्वान् श्री आलम शाह खान सा० ने मुझे अपने संग्रह के पुराने हाथ के लिखे स्फुट पत्रों का ढ़ेर बताया

उसमें यह कृति आकस्मिक रूप से प्राप्त हो गई और इन्होंने मुझे अपने संग्रह के लिए सहर्ष समर्पित भी कर दी। सम्भव है अन्य विद्वानों के वैयक्तिक संग्रह में भी दूसरी प्रति उपलब्ध हो जाय, इस प्रति के प्रारम्भ के २ से लगाकर १४ पत्र विलुप्त हैं।

अभी तक भाव मिश्र की केवल एक ही रचना—"भावप्रकाश" प्रसिद्ध थी और जब इस कृति का नाम अनुसंधानकों ने सुना तो बड़ी प्रसन्नता हुई होगी। अन्वेषण का यह सामान्य नियम रहा है कि किसी भी कृतिकार की आत्मा को भी यदि पहचानना है तो उनकी रचनाओं का अनुशीलन नितांत वांछनीय है। जैसा कि मैं पूर्व ही में अपने आयुर्वेदिक सीमित ज्ञान का उल्लेख कर चुका हूँ, तथापि मैंने विषय की दृष्टि से भावप्रकाश को देखा और गुणरत्नमाला को भी समझने का प्रयास किया तो पता चला कि वह कृति भले ही स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती हो परन्तु वस्तुतः यह भावप्रकाश का ही एक अंग है। या यों कहना चाहिए कि भाव मिश्रजी ने प्रथम इसका प्रणयन किया तदनन्तर इसी का विस्तार भावप्रकाश में किया, कारण कि कृति का अधिक तो नहीं पर आंशिक जो परीक्षण किया और शालिग्राम वैश्य संपादित भावप्रकाश के साथ इसमें वर्णित विषयों का निरीक्षण किया तो स्पष्ट हो गया है। इसमें केवल द्रव्य गुण विज्ञान का ही समावेश है, आगे ऋतुचर्या, परिचर्या और सामान्य वातादि के गुण दोषों की चर्चा है और कृति समाप्त हो जाती है।

द्रव्य गुण विज्ञान का संक्षिप्त रूप मैं इसलिए कहता हूँ कि भावप्रकाश में वनस्पति नाम, पहचान के बाद गुणों का वर्णन किया है जब कि इसमे केवल गुणों का ही विवेचन है। इसके सभी श्लोक भावप्रकाश से मिलते हैं। वर्णन-क्रम भी भावप्रकाश के ही अनुकूल है। मेरा तो यही अनुमान है कि भाव मिश्र जी ने बाल बुद्धि वैद्यों के लिए विद्यार्थियों के लिए ही संक्षिप्त में तैयार किया है। चिकित्सा को छोड़ कर यदि इस गुणरत्नमाला को भावप्रकाश का संक्षिप्त संस्करण कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी।

गुणरत्नमाला से इतना नवीन ज्ञातव्य अवश्य प्रकाश में आया कि सुप्रसिद्ध विद्वान भाव मिश्र के पिता का नाम लटकन मिश्र था।

रसायनसार और सुखसंजीवन प्रकाश—

उदयपुर के निवासी सुखवाल विप्र की ये दोनों कृतियां हैं। ये अद्यावधि प्रकाशित हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों मे अनुल्लिखित कवि हैं। आयुर्वेद के इतिहासों में भी इनका नाम नहीं मिलता है। इन कृतियों का अपना-अपना महत्व है। दोनों का सम्बन्ध रसायन शास्त्र से है, जिनका उद्देश्य धातु-परिवर्तन विद्या से है। इन कृतियों का उद्धार कबाड़िय से किया गया है।

आयुर्वेद में रसायन की उपयोगिता सर्वविदित है। एक धातु को किसी दूसरी मूल्यवान धातु में परिवर्तित कर देना भारतीयों का ही कौशल है। नागार्जुन इस विषय के

आचार्य माने जाते रहे हैं। यद्यपि इन कृतियों पर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले महानुभाव बहुत ही स्वल्प विश्वास करते हैं, पर जिनकी रुचि इन ग्रथों में है और वर्षों से जो श्रम करते हैं वे सफल ही हुए हैं। चिकित्सा के क्षेत्र मे भी रसायन का अपना बहुत ही ऊचा स्थान है। रस-चिकित्सा शीघ्र फलदायिनी होती है। रस का तात्पर्य पारद मिश्रित औषध से भी है।

कवि की प्रथम कृति "रसायनसार" है जिसमें रसायन निर्माण की ३२ प्रक्रियाओं का विशद विवेचन है। दूसरी रचना में धातुओं की शुद्धि और कृत्रिम मणि रत्नों का विधान दिया गया है। तांबरा को स्वच्छकर माणिक्य रूप में कैसे परिवर्तित किया जाता है और अहिफेन आदि का निर्माण कैसे होता है, रत्नों पर पानी कैसे चढ़ाया जाता है आदि कई उपादेय विषयों पर कवि ने अनुभवमूलक प्रकाश डाला है। इन आश्चर्योत्पापश प्रयोगों पर साहसिक विश्वास होना कठिन ही है, अतः कवि ने बार-बार जनता से आग्रह किया है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, अनुभव और गुरुगम के आधार पर ही लिखा है, अविश्वास करने का कोई कारण नही है। इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में और भी इस विषय की रचनाऐं और स्फुट प्रयोग देखने में आये हैं, नहीं कहा जा सकता है इसमें कितना सत्यांश है। कृत्रिम मोती के लिए तो आज के युग में प्रमाण देने की आवश्यकता नही रहती।

कवि ने कृति में जो रचना-संवत दिया है उस से पता चलता है कि वह संख्या १७०० में विद्यमान था। "राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखितों की खोज" भाग एक मे इनकी एक और कृति "शकुन संवछरसार" उल्लिखित है। इसका रचनाकाल मेनारिया ने सं० १७६० दिया है जो विचारणीय है। कारण कि रसायनसार कवि ने आख्यनृत देते हुए इसका प्रणयन समय सं० १७०० भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार बताया है। श्री मतीलाल मेनारिया ने इसी हृदयानन्द जोशी को महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय (राज्य काल सं० १७६९-१७६०) का आश्रित बताया है पर अपने इस कथन के समर्थन में एक भी सम-सामयिक तथा कवि द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। मेनारिया स्वयं उदयपुर के निवासी और कथित अन्वेषक भी माने जाते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं है कि उन्होंने अपनी ही रिपोर्ट में प्रदत्त "नैउवै" शब्द को सही मान कर महाराणा के आश्रित रहने की कल्पना कर डाली हो ? रसायनसार मे "संवत सत्रह सइकरे" स्पष्ट अकित है।

कवि का लघुनाम "नन्द" था। ये भारती गुसांई के परम भक्त थे। कृति में बाबाइ भारती जी को याद किया है और इस रचना का पूरा श्रेय भी उन्हीं को दिया है। यह कहने की यहां शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती है कि उदयपुर के राजघराने से गुसांइयों का बहुत प्राचोन सबंध रहा है। १८वीं शताब्दी के जैन विज्ञप्ति पत्रों में और उदयपुर के तात्कालिक ऐतिहासिक वर्णनों मे इनका वैभव वर्णित है। लादूबास के गुसांई प्रसिद्ध हैं।

यहां पर स्पष्टता वांछनीय है कि यदि कवि महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय का आश्रित होता तो कम से कम आश्रयदाता का नामोल्लेख तो करता ही जैसा कि राज्याश्रित कवि ग्रंथांत में आश्रयदाता की ही कृति बता दिया करते थे, बल्कि इसके विपरीत मेनारिया ने जो उद्धरण दिया है उससे तो कवि का उदयपुर का होना तक प्रमाणित नहीं होता। आज भी उदयपुर में इस जाति के पर्याप्त घर हैं। विद्वत्वरचयित कृति के आदि अंत भागों के उद्धरण प्रस्तुत हैं—

कवि ने रसायनसार नाम "रसराज बोधप्रकाश" भी सूचित किया है—

रसराज बोधप्रकाश

आदि—

श्री गणेशाय नमः
अथ गुसांई भारथीजी कृत रसायण ग्रंथ लिख्यते

दोहा

अनमें गुरु इक भारती जिन घट कियो उजास।
और अनेक सुशिष्य गुरु बचने बचन प्रकास ॥१॥
जिनतें वस्तु भली मिलै सोई सतगुरु जान।
वस्तु भुला दे गांठ की सो कुसंग कुबषांन ॥२॥

चंद्रयनो

सपत धात उपधात चतुरदस जांनीये।
इनमें सब ही ख्यालषिलार वषांनीये ॥
उतपतिय है वैद्य षिलारी सब कहै।
हरि हां कैसी गुरगम होय सो तैसी विध लहै ॥३॥

धात हि धात वैद्य कहो उपधात यों।
कही धात उपधात आदि ज्यूं जांनियौ ॥
उतपति सब ख्याल षिलारी यों कहै।
थिरता वेध कलंक क्यो पैहचानिमैं ॥४॥

अन्त भाग—

संवत सत्रैह सईकरै, भादों उज्जल पक्ष।
तिथि पाचम रविवार दुत, रचना रची सु दक्ष ॥
सिषिवाल नि मैं सोभतो, जोसी हृदयानन्द।
चागिन गोत्रे चामुण्डा, पिता सु ताराचद ॥

नगर उदैपुर के विषै, कवि नंद को बास।
सद्य रसायन ग्रंथ को, जग में कर्‌यो प्रकाश॥

इति श्री ताराचन्द सुत सिषवाल गोत्रे हृदयानन्द विरचिते 'रसराजबोधप्रकाश' ग्रंथ धातुरवाद विचारनीय समाप्तं॥

सुखसंजीवन प्रकाश—

आदि—

सुखजीवन प्रकाश भाषा जोसी हृदयानन्द कृत लिख्यते

दोहा

कहै नंद कर जोरिकै, सुनि दशनामी राय।
सुखसजीवनप्रकाश को, सतगुर कथा सुनाय॥१॥

जो मति सुचि जीवै विदुर, नित प्रति चपल उपाय।
विधि-निधि वस्तु अनेक जिहां, पराधीन दुष पाय॥२॥

जो सद् विद्या जगत में, जिनमें षोट न होय।
कै हैं कृपासुं भारथी, सुष सुं जीव उपाय॥३॥

अन्त—

पल इक हीरा हीग सुं शुद्ध मंगाइयै।
दुगुनी नागरमोथ मध्य मिलाइयै॥

लसन कुली इक पोत सू च्यार पल का हियै।
हरि हां अष्ट निंबोरी मीग सु पालो सराहियै॥

उड़द मूंग की विष्ट तुकोरम जांनियै।
वीलागिरक बत्तीस परक्क ठांनियै॥

हरि हां टांक एक अफीम मसाला मांनियै।
गाडर दूध मिलाय रु बस्त घसाइयै॥

अति सूछम जब होई पीड बंधाइयै।
आले गर्द्ध के चर्म ताहि भराइयै॥

इति हीग पंचम विधि सम्पूर्ण

सुषसजीवन प्रकास जोसी हृदयानन्द कृत भाषा बाइसमी विधि समाप्तं॥

लंघनपथ्य निर्णय

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में पथ्य और लंघन का अमुक रोगों में विशिष्ट महत्व है। वस्तुतः पथ्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्व है। रोग विजारण में दोनों की उपयोगिता असंदिग्ध है। इस विषय पर मनीषियों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। यह

वैद्यक का ऐसा अंग है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। स्वास्थ्य को प्रकृतिस्थ बनाए रखने के लिये भी माह में एकाध बार लंघन करना समुचित ही है। जिस रचना पर यहां विचार किया जा रहा है वह सूचित परिचर्या का एक अङ्ग ही है। किस किस रोग में कितने दिनों तक अनाहार रहा जाय और किन किन रोगों में क्या पथ्य ग्रहण किया जाय आदि बातों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत है। यह बताने की शायद ही आवश्यकता प्रतीत होती हो कि पथ्य भी देशज होते हैं। इसमें विशेषतः मारू और जांगलादि राजस्थान के जलवायु को ध्यान में रखते हुए रोगी के पथ्य की व्यवस्था है। औषधि के परम सहयोगी तत्व पर पाश्चात्य-चिकित्सकों ने संभवतः इतना ध्यान नहीं दिया है।

इस कृति के प्रणेता हैं खरतरगच्छीय आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी की पारम्परिक मुनि लक्ष्मीनाथ वाचक जो दयातिलक के शिष्य थे। महामहोपाध्याय दयातिलक स्वयं कवि और संयमी संत थे। इनकी अन्य रचनाएं १८ वीं शती के दूसरे चरण की मिलती हैं। वाचक लक्ष्मीनाथ ने "लंघनपथ्य निर्णय" का प्रणयन महाराजा जयसिंह के राज्य में उन्हीं के पाट नगर जयपुर में सं० १७९२ माघ शुक्ला प्रतिपदा बृहस्पतिवार को दिया। इससे विदित होता है कि उनका संस्कृत भाषा पर अधिकार था। अपने अनुभवमूलक विचारों को बहुत ही सरल और सुबोध भाषा में उपस्थित कर सामान्य या स्वल्प-बुद्धि वालों के लिये महदुपकार किया है।

"जैन सिद्धान्त भास्कर" भाग ५, किरण २, पृष्ठ ११५ पर "लंघनपथ्य विचार" नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन समय सं० १७९२ ही है, पर वहां प्रणेता का नाम दीपचन्द दिया है।

कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है-

आदि

श्रीसर्वज्ञं नमस्कृत्य त्रयताप जिवारकः।
चतुर्गति प्रहर्त्ता च सर्वं सौख्य प्रदायकः ॥ १ ॥
परमात्मा परं ज्योति-श्चिदानन्दमयंमहः।
अज्ञानध्वान्त नष्टस्य केवलज्ञान दायकः ॥ २ ॥
सु वेषा च मनोज्ञा च मुक्ताभरण भूषिता।
हंसवाहिनी या सा सारदा वरदास्तुनः ॥ ३ ॥
गणनार्थं नमस्कृत्य किल विघ्न निवारकः।
मंगलं श्रेयकर्ता च गौर्यापुत्र नमोस्तु ते ॥ ४ ॥
धन्वतरिं नमस्कृत्य सर्वं रोगापहारकः।
आयुर्वेदस्य वक्ता च आयुर्दाता यशः प्रदः ॥ ५ ॥
महामहोपाध्याय श्री पूर्वं दयातिलक सद्गुरुन्।
तच्चरणं प्रणम्यादौ मया ग्रंथं विरच्यते ॥ ६ ॥

पंचेतान्नमस्कृत्य पंचेते विघ्नवारकाः ।
पंचेते श्रेयकर्ता च पंचेते च यश प्रदाः ।। ७ ।।

अन्त भाग—

विद्वज्जनान्य संपूज्य नमस्कृत्य गुरुं प्रति ।
सर्वशास्त्रादि संवीक्ष्यय आत्मबुद्धयानुसारतः ।।३३५।।
द्विनन्दमुनिभूपवर्षे मासे च माघ संज्ञके ।
शुक्ले प्रतिपदायां चवासरेभृगु संज्ञके ।। ३३६ ।।
सपूर्ण क्रियते ग्रंथ निर्णयपथ्यलंघनम् ।
श्रीजयपुरे महहरम्ये राज्ये जयसिंहभूपतेः ।। ३३७ ।।
पूर्णग्रंथ मनोज्ञश्च वैद्यानां च हिताबहे ।
मुखाधीत कृतौं येन विद्वन्मध्ये तु शोभते ।। ३३८ ।।
कपोल कलित चास्ति पूर्वाचार्यानुसारतः ।
वाचक लक्ष्मीनाथेन एकत्री कृत शास्त्रतः ।। ३३९।।
मया च मंदबुद्धया च कुर्यात्पथ्य च निर्णय ।
शुद्धाशुद्धं च विज्ञाय मम कोपो न कार्यतां ।। ३४० ।।
कृपा कुरुध्व भो संतो मम् विज्ञप्ति एव च ।
यावद्विजयते ग्रंथः तावच्चन्द्र दिवाकरौ ।। ३४१ ।।

इति श्री लंघनपथ्यनिर्णय ग्रंथ संपूर्ण ।।
शुभं भूयात् श्रीकृष्णोर्पणमस्तु ।।

वैद्यबोध

इसके प्रणेता चरणदासी संप्रदाय के संतप्रवर श्री अखैरामजी हैं। ये न केवल आध्यात्मिक साधक ही थे अपितु जन सेवा भी उनका आवश्यक व्रत था। प्रस्तुत रचना में उनके आयुर्वेद विषय ज्ञान का पाण्डित्य परिलक्षित होता है। ये "अनुभवी" संत थे वैसे ही एतद्धि कवि ने "ज्वर दर्पण" "वृंद विनोद", भावप्रकाश, सन्निपात लक्षण, त्रिशति, योगचिंतामणि, योगशतक, वीरसिंहावलोक, कालज्ञान, कुमारतन्त्र और बालचिकित्सा जैसे वैद्यक के प्रामाणिक ग्रथों का आधार स्थान-स्थान पर अंकित किए हैं। इन्हीं से उनका अध्यवसाय झलकता है। कृति में कवि ने दो बातों का विशेष ध्यान दिया है एक तो वह कि रोग निवारणार्थ जो भी औषधियां हैं सभी कष्टादि ही हैं जो लगभग राजस्थान में ही सरलता से सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं दूसरा अधिकतर उन रोगों का ही विवेचन है जिनका संबंध मुख्यतया राजस्थान की जनता से है, यद्यपि रोगों का जहाँ तक प्रश्न है इन्हें किसी प्रान्त विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है पर तो भी प्रान्तीय जलवायु की प्रतिक्रिया कुछ वैशिष्ट्य को लिए हुए तो रहती है। कुछ रोग तो राजस्थान की ही देन हैं जैसे स्नायु।

मेरे पास इसकी मूल प्रति लगभग ७ वर्ष से है और मैंने इसके कई प्रयोग आजमाये हैं, सफलता ही मिली है। इस में पक्षाघात की चिकित्सा बहुत सुंदर और विस्तार से लिखी है। वायुमात्र पर के लिए यह अव्यर्थ महौषध है।

पक्षाघात का तैल

सूचित बीमारी का प्रयोग यहां दे देना आवश्यक है—

देवदारू, कूठ, भारंगी, दोनों हल्दियें, त्रिकुटा, त्रिफला, पुष्करमूल, पाषाणभेद, कूडाबीज, वच, चित्रक, विधारा, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, ककोल, पद्माख, दोनों अजवाइन, नागरमोथा, पतीस, अतीस, अजमोद, सतावरी, पुनर्नवा, कुलिजन, जायफल, जांवत्री, कायफल, लौंग, अहिफेन, राई, मालकांगणी, कपूरकाचरी, इन सब वस्तुओं को कूट कर तैल बनाना चाहिए। इसमें आकड़ा, धतूरा, भांगरा, कुमार, अरंडी, सरजना, अडूसा, कटेरी, निर्गुण्डी आदि का रस पाचन करना-आवश्यक है। विधिवत् इस तैल की मालिश से कैसा भी पक्षाघात क्यों न हो तत्काल लाभ मालूम देगा। मैं इसका व्यवहार ७ वर्ष से कर रहा हूं, सामान्यतः यह तैल चोट, मोच, लग जाना, बादी आ जाना, चणक आदि अनेक वात विषयक रोगों पर आशीर्वाद सिद्ध हुआ है। जो जो लक्षण कृति में बताये हैं तदनुसार अनुभव होने पर इस की मालिश अधिक दिनों तक भी की जा सकती है। कवि ने तो परहेज बहुत विस्तृत बताया है पर विशेष ध्यान इस बात का रखना अनिवार्य है कि शीतल भोजन और पेय सर्वदा निशिद्ध है।

इसमें भी बाल और स्त्री चिकित्सा के स्वतन्त्र प्रकरण हैं। कई रोगों पर तो अनेक अनुभूत प्रयोग हैं और कतिपय पर तो एक ही प्रयोग है, पर वह रामबाण ही प्रमाणित हुआ है। आंख का केवल एक ही योग है, पर सभी चक्षु रोगों पर लाभदायक सिद्ध हुआ है।

कवि का विशेष वृत जानने के लिए भारतीय साहित्य का प्रथमांक देखना चाहिए जो आगरा विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

विद्वत्परिचयार्थं कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

आदि भाग—

श्रीगणेशाय नमः

अखैराम कृत वैद्यबोध ग्रंथ भाषा लिख्यते

प्रथम श्रीगणेशजी कूं मंगलाचरण कहत है—

छप्पै

एक रदन गज बदन सकल तत्वारथ भ्यासी।
जोग जुक्ति अहिनिशि भाल इक चंद प्रकासी॥

पाटंबर बनि पोति ढूंदि दरसीइ दुग्र छिय।
भुज कंकण नी क्रांतिलाल मुक्तताह लसंछिय॥
अखैराम गनपति सुमिरि बुद्धि अपूर्व बल दीजिये।
सरस उकति इच्छा तणी नवित प्रणम तुव कीज्जिये॥१॥

सुखदेवजी कूं स्तुति करत है—

दोहा

दिग अंबर द्विज पुत्र हैं, ध्यावैं अलख अभेव।
लोक तीन में गति सदा, जय-जय श्रीसुखदेव॥२॥

बहुरि हरिदेवजी कूं स्तुति करत है—

दोहा

जै जै श्री हरिदेवजी, तुम देवन के देव।
तुम सेवन पातक नसै, लहै अमरपुर भेव॥३॥
निराकार आकार हरि, अगम अगोचर देव।
कई रूप निह रूप हो, कोइय न पावै भेव॥४॥
गुरु किरपा जानी यही, हरि बिन और न कोय।
थिर चर कीट प्रजत में, व्याप रह्यो हरि सोय॥५॥

बहुरि चरणदासजी कूं स्तुति करत है—

दोहा

चरणदास सतगुरु तणां, चरण नमूं जिस दीस।
अलिव विघन दूरै हरै, निश्चय जानैं जगीस॥६॥

बहुरि छीनांजी की स्तुति करत है—

दोहा

गुरु छींनां गुन आगरे, दया दृष्टि अतिसार।
ताहि कृपा करि कीजियै, वैद्य ग्रंथ विस्तार॥७॥
गुरु छींनां किरपा करौ, लहू ग्रंथन की भेव।
बुद्धि सुद्धि मोहि दीजियै, अविनासी गुरुदेव॥८॥
गुरु छींनां परताप सूं, तम अज्ञान नसाय।
गुपत बात परगट लहै, आनन्द नाहि समाय॥९॥
अखैराम के सदगुरु, गुरु छींनां सुख कंद।
चिंता टारन भै हरन, मेटत सब सुख दंद॥१०॥
तुच्छ बुद्धि मम अलप है, ग्रंथ करन को चाव।
जैसे पिंगल पुरुष को, गिरि चढबे को चाव॥११॥

अखैराम की बीनती, गुरु ईश्वर सुनि लेह।
बुद्धि सुद्धिसुख धाम के, मो हिरदे सुख देह ॥१२॥

बार बार परनाम कर, कर जोडुं सरि नाय।
सतगुर तुम्हेरी सरन हो, सब संदेह मिटाय ॥१३॥

अन्त—

चौपाई

वैद्यबोध यह नाम बखान्यो, बहुत ग्रंथ को भेव सु ठान्यो।
मम मति अलप कहा उनपाना, ग्रंथ अपार कवन्नि सम जाना ॥

गुरु किरपा तैं ज्ञान लह्यो है, वैद्यबोध यह ग्रंथ कह्यो है।
पुनि वय देखि चिकित्सा कीजै, युक्ता-युक्त विचार जु दीजै ॥

देस काल अहु बन्हि विचारो, व्याधि औषधि सब चित धारो।
इह विचार करि दीजै सोई, अखैराम भाषित इह होई ॥

अथ ग्रंथ बचन—

तैल नीर मिषी जु कहेई, इनसे रिक्षा करि तुम लेई।
सिथल बंध तैं रिक्षा कीज्यो, मूढ पीय कै कर मति दीज्यो ॥

छप्पै

ख-सर-नाग-तुम जानि रूप धरि संवत कहियै।
माघ मास सुनि नाम पक्ष प्रथमा सुख लहियै ॥

पुनि विरंचि तिथि जानि सूर्य सुतवार बखांनूं।
ता दिन ग्रंथ समाप्ति होत अति हर्षित जानूं ॥

श्री सवाई जयनगर में ग्रंथ पूर्णता जानिये।
गुर प्रसाद तैं इह सही वैद्यबोध बखानिये ॥

इति श्री अखैराम कृत वैद्यबोध भाषायां बात रक्त उरुस्थंभन आम बात परिणाम सूल सूल उदावर्त्त हृद्रोग मूत्रकृच्छादि प्रमेह······।

इन पंक्तियों के लेखक ने इनके कतिपय प्रयोगों को पक्षाघात, मधुमेह, श्वास, खांस आदि आदि—कई बार अजमाया है, पर असफलता न मिलो।

लक्ष्मीप्रकाश

इसके प्रणेता पं० लक्ष्मीचंद जैन हैं। सं० १९३७ में इसे पूर्ण किया। इस रचना की विशेषता यह है कि इसमें प्रयुक्त लगभग सभी योग स्वानुभवमूलक हैं। कृतिकार ने स्थान-स्थान पर इसको सूचना दी है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें सर्वप्रथम रोग का निदान और पूर्व लक्षण विस्तार से किये हैं तदनन्तर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है।

जिन जिन सज्जनों से लेखक को योग प्राप्त हुए उनके नामों का भी कवि ने कृतज्ञता के साथ उल्लेख किया है। बागभट, माधवनिदान, भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रथों की सहायता ली गई है।

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

प्रथम हि जिनकूं सुमरिये, दूजी सारदा माय।
ज्ञानी गुन गावैं सदा, ध्यानी धरै जु ध्यान ॥१॥

सर्व हि विघ्न निवारिकैं, पंचपरमेष्ठी सार।
सदा काल तिनकौ नमौ, भवदधि पार उतार ॥२॥

वैद्य धन्वंतरि कौं नमौ, नमूं वागभट सार।
संस्कृत अनुसार मय, कहूं ज भाषा सार ॥३॥

अन्त भाग—

रोगी रोग निदान करि पीछे औषध देय।
वाको निकई जानिकै ताकी विधि करैय ॥

जाति चिकित्सा रोग की वात पित कफ आदि।
उलटि लपटि करि जांनियें सर्व रोग की लाधो ॥

लक्ष्मीप्रकाशज ग्रथ है पूर्व ग्रथ की साख।
माधवग्रथ निदान कृत भावप्रकाश की साख ॥

योगचिंतामणि उपाय करि चरक वागभट जान।
शारगधर इत्यादि सब एही उपाय बखांन ॥

साको अठारा में कह्यो उपरि दोय बधाय।
ता दिन मे वो ग्रथ है इह विधि कहो जिताय ॥

संवत उगणीसे अधिक वर्ष ऊपरि सैतीस।
वदि वैशाख एकादशी बुध दिन प्रगटीस ॥

सिघ लग्न में पूर्ण है लक्ष्मीग्रथ प्रकाश।
अल्प बुद्धि करि कीजिये ग्रंथ बरण को भाव ॥

शहर पचारी शुभ वसो जैनि जन को वास।
ता बिच मदिर जंन को भगवत को निज दास ॥

निज सेवक हैं भक्त जन बुध कुशाल अरु चाद।
ता कुल को अरुमान है ताके शिष्य नैनचंद ॥

ताकइ शिष्य मोतीराम है ताकै शिष्य श्रीलाल।
ताकै शिष्य लक्ष्मीचद है ताकै शिष्य महिलाल ॥

बुध लक्ष्मीचंद कीजियै ग्रंथ पढनी नहीं चंद ।
ता गुन बर्धन कारणे हित मिट करि आनन्द ।।

साधु संत दयाल की कृपा भई हित काल ।
बाल बुद्धि के कारणे प्रगट करि जो विचार ।।

पूर्व ग्रंथ की साख्य करि अल्प बुद्धि अनुसार ।
श्रद्धा शुद्ध जो होय करि बुध जन लेहु सुधार ।।

बुधजन लक्ष्मीचंद कृत आत्म हित के काज ।
तुच्छ बुधि करि कीजिये पूरण ग्रंथ समाज ।।

दोहा सवैया चौपई छप्पय सोरठा जान ।
एक सहस्र अरु सातसं ऊपरि बीस बखांण ।।

।। इति श्रीलक्ष्मीप्रकाश ग्रन्थ सम्पूरण ।।

मिति वैशाख कृष्णा ३० सं० १९४५ लिपीकृतं ब्राह्मण रामनाथेन सांपूणि मध्यं लिलेख ।। पठनार्थ बाबाजी श्री श्री १०८ जुगराजजी के तांई ।।

निघंटु—

किसी भी देश की चिकित्सा पद्धति में द्रव्य गुण विज्ञान का महत्व सर्वोपरि होता है। जब तक इस तत्व का समुचित ज्ञान नहीं होता तब तक वैद्य चिकित्सा अधिकारी नहीं माना जाता। प्राचीन भारतीयों ने इस पर बहुत ध्यान दिया है। चरक काल पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित होता है कि उस समय वैद्यों का इस पर ध्यान आकृष्ट हुआ था। चरक के "अन्नपान विधि" (सू, अ, २७) अध्याय में खाद्य वस्तुओं की विवेचना करते हुए प्रत्येक के गुण दोषों पर वैद्यक प्रकाश डाला गया है। सूत्र स्थान के ३८ वें अध्याय में ३७ द्रव्य गुणों की परिगणना है जो वैद्यकीय प्रगति की परिचायिका है। बाग्भट भी इसी का अनुसरण करते है। यहां ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पूर्व उक्त बात का स्पष्टीकरण वांछनीय है कि द्रव्य गुण विज्ञान के बीज चरक में होने के बावजूद भी इसके पृथक् विवेचन का युग वृद्धत्रयी के बाद का है। प्राप्त निघंटुओं में सर्व प्राचीन धन्वंतरि निघंटु को माना जाता है, पर वनस्पति शास्त्र के पर्यालोचन से उसकी प्राचीनता असदिग्ध नहीं है। ५ वीं शदा के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कोशकार अमरसिंह ने भी वनस्पतियों के नाम दिये हैं, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न था, वैद्यकीय नहीं था। मालवपति मुंज के समकालिक कवि हलायुध की अभिधान रत्नमाला और चक्रदत्त के "द्रव्यगुणसग्रह" को प्राचीन निघटु मानने में आपत्ति नही है। दोनों कृति चरक से परिचित थे। धन्वतरि का प्रभाव भी इन पर नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसकी कृति को "द्रव्यावली" की सज्ञा से अभिषिक्त किया गया है। बारहवी शतो के गुजराती विद्वान् शोढल को हम विस्मृत नही कर सकते जिनने वनस्पतियो का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने विचारों को विस्तार से उपस्थित किया। भेद-

प्रभेदों पर प्रकाश डाला। यह पहला व्यक्ति है जिसने अपने गदनिग्रह में अहिफेन का उल्लेख किया है। वैद्य केशव प्रणीत "सिद्ध मन्त्र" भी अनुपेक्षणीय नहीं। अति प्रसिद्धि प्राप्त यदि कोई निघंटु है तो वह मदनपाल निघंटु है जिसकी रचना १४वें शतक में होना प्रमाणित है। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र और महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरी नाथजी रेऊजी ने इसे कन्नौज का गहरबबार वंशीय माना है, पर प्रकाशित निघंटु की प्रशस्ति से स्वतः सिद्ध है कि वे जमनातटीय कच्छदेशीय नरेश थे जिसकी अवस्थिति दिल्ली के उत्तर से उत्तर की ओर रही है। मदनपाल ने अपने निघंटु की रचना करते समय एतद्विषयक अन्य सामग्री का भी एक पर्याप्त अध्ययन किया था। उस समय और निघंटु रहे होंगे। अभिधान चूड़ामणि भी एक मूल्यवान् कृति है जो मदनपाल, अभिधानरत्नमाला, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि के निरीक्षण के पश्चात् लिखी गई है। आयुर्वेदीय औषधि शास्त्र के क्रमिक विकास की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्व है। विस्मृत वनस्पतियों के नाम भी इसमें विद्यमान हैं। सापेक्षत: यह औषधियों के अधिक नाम देता है। यहां क्षेम शर्मा के "क्षेमकुतूहल" को विस्मृत नहीं कर सकते जिसकी रचना सं० १६०५ में हुई है। पाकशास्त्र का विशद् विवेचन इसी में प्राप्त होता है। कवि ने आत्मवृत्त देते हुए सूचित किया है कि मेरे प्रपितामह ने दिल्ली के सुल्तान की सेवा कर ११ ग्राम प्राप्त किये थे। कवि ने स्वय भी विक्रमसेन राजा की सेवा कर कुछ ग्राम पाये थे। पर वह कहाँ का नरेश था, कहना कठिन है। इसने उस समय के प्रचलित अन्य ग्रंथों का उल्लेख किया है, पर वे आज अप्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त राजवल्लभ कृत "द्रव्यगुणसंग्रह" (रचना काल सं० १७६० ई०) माधव कृत "द्रव्यावलि", आदि कई निघंटुसंज्ञक रचनाएं प्राप्त हैं।

सूचित निघंटुओं में राज निघंटु के बाद सर्वोत्कृष्ट जो सूचना देने वाला निघंटु उपलब्ध है वह है भावप्रकाश जिसकी रचना भाव मिश्र द्वारा हुई और उसकी एतद्विषयक एक और रचना गुणरत्नमाला है जिसका परिचय इसी प्रबंध में ऊपर की पक्तियों में दिया जा चुका है।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, वानस्तिक शास्त्र का विकास होता गया। वैद्यों के लिये इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। बिना परिचय के भेषज्य कल्पना असंभव है। पर आज बहुत कम ऐसे चिकित्सक हैं जिन्हें वनस्पतियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। पंसारियों पर निर्भर रह कर सफल चिकित्सक नही बना जा सकता है। ऊपर की पंक्तियों में निघंटुओं का विस्तृत अवलोकन इसलिये करना पड़ा कि मेरे संग्रह में एक ऐसा निघंटु है जिसका परिचय यहां दिया जा रहा है। यद्यपि यह कृति खडित है पर फिर भी इसका मूल्य कम नहीं होता। रचना काल और रचयिता अज्ञात हैं। इसका महत्व इसलिए भी है कि यह प्राचीन निघटुओं की अन्तिम कड़ी है संभव है १८-१९ वीं शती की रचना हो। इसमें प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रत्येक वनस्पति का नाम, गुण और किस

प्रदेश में अधिक प्राप्त होती है तथा वहां उसका क्या ग्रामीण नाम है, तत्रस्थित जनता उसे किस काम में विशेषतया लाती है आदि अनेक मूल्यवान् सूचनाओं का इसमें उपादेय संग्रह किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि इसकी रचना भावप्रकाश के बाद की है, कारण कि जहां कवि ने वनस्पतियों का वर्णन किया है वहां यह भी संकेत किया है कि अमुक वनस्पति के भावप्रकाश ने इतने विशेष नाम दिए हैं, और कैयदेव तथा धन्वंतरि ने इतने दिये हैं। प्रमाणस्वरूप गुणरत्नमाला का भी ६ स्थान पर उल्लेख है। ग्रंथकार अमरकोश और इन्द्रकोश के नाम भी देता है। इसकी दूसरी विशेषता है आयुर्वेद में प्रचलित औषध यूनानियों में क्या स्थान रखते हैं और उनके गुणों में वे क्या अन्तर बताते हैं। साथ ही यूनानी औषध पाषाणादिका पूरा परिचय देकर दोनों पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर वैद्य समाज पर महदुपकार किया है। इसमें कई प्रान्तीय नूतन वनस्पतियों का भी सविस्तृत वर्णन है जिसका उल्लेख अद्यतन निघंटुओं में नहीं मिलता। जो औषध प्राचीन काल में विदेशों से आते थे उनकी सूची पृथक् दे रखी है। प्रान्तीय औषध जैसे लोहवान कूर्माचल में प्राप्त होता है, ममीरा चीन से, रोषा जिसका तैल बनता है, बुरहान, पुर प्रान्त में अधिक मिलता है। अन्तः परीक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि इतना विस्तृत वर्णन तो भावप्रकाश में उपलब्ध नहीं। परवर्त्ती साहित्य में विकसित तथ्यों का समाविष्ट होना स्वाभाविक है।

यहां कुछ उद्धरण देना आवश्यक है—

जल भिलामा— भल्लातक मज्जा भिलोली इति दक्षिण देशे प्रसिद्ध बहुधा तत्रैव भोजनादौप्रचारः।

भृंगमारी (भैंठा)— मालवे च प्रसिद्ध पुष्पविशेषः नामः, क्वचिरभाषायां भटवांस इति प्रसिद्धः। आम्रस्यवाटिकायां भेटतरुः सुजायते किल नितरां हस्तद्वयोच्चमानः, पत्राणि ताम्बूल सदृशाणि॥

सोष— व्रजमण्डले तत्काष्टस्यदतधावनं कुर्वंति जनाः।

माण कंदः— बंगदेशे मानकच्छरि प्रसिद्ध।

माई— भावप्रकाशे पश्चिमदेशे मोई आईति लोके प्रसिद्धि इति वृक्ष विशेषः।

शाह पसंदः — ख्यातः श्याह पसंद स लता भेद एव हि पर्वत प्रान्ततश्चात्रदेशेपि समुरागतः जायते लक्ष्मणपुर (लखनऊ) प्रान्ते तद्वीजंमारुणं।

सुरवाली— इन्द्रप्रस्थेति प्रसिद्धा, व्रजदेशे मिलतीति प्रसिद्धा वर्षाकाले अवपितैवक्षेत्रे जायते तत्पत्र नलिकायाश्चशाकं कुर्वति जनाः।

तद्बीजानि सूक्ष्माणि कृष्णवर्णानि कांतियुतानि भवंति ।।
निघंट्वादौसुनिष्ण सितवार इति नाम्ना विख्यातः। मदननोदे तु
सुनिषण शितवारो पृथक् लिखितौ अन्य निघंटुषु भावप्रकाश कैय-
देव प्रभृतिषु एकैव लिखितः ।।

कपूर— अथ चीनकोपि अस्योपभेदः लोके चीनिया इति प्रसिद्ध तस्य
नामगुणाः

चीनकश्चीनकर्पूर कृत्रिमोधवलः पटुः।
मेघसारस्तुषारस्तु दीपकर्पूरजस्मृतः
चीनकः कटु तिक्तोष्ण ईषत्पीतककापहः ।।
कंठदोष हरोमेध्य पाचनक्रिमिनाशनः
पित्त प्रशमनः प्रोक्तः कुष्टकंडूतिनाशनम् ।
छर्दि प्रणाशन. सर्वव्याधिजन्मैककारणम्

तदुत्पत्तेर्विशेष लक्षणम्

शिरोमध्यंतलश्चति कर्पूरस्त्रिविधस्मृतः
शिरस्तंभाग्र संजात मध्यंपार्णतलेतल ।।
पुलकभावविशद शिरोजातं तु मध्यमे।
सामान्यंपुलकं स्वल्प तलेचूर्णं तु गौरवं ।।
स्तंभगर्भस्थित श्रेष्ठ स्तंभबाहये च मध्यमः।
स्वच्छमीषद्हरिद्राभं शुभतन्मध्यजं स्मृतं ।।
अदृष्टशुभ्र रुक्षं तु पुलकंबाहुजं स्मृत ।

स्वच्छ भृंगाभपत्रं लघुतर विशदं तोलनेतिक्तकं च ।
स्वादेशैत्यं सुहृद्यं बहलपरिमलं मौक्तसौरंभदायी ।।
निस्नेह दार्व्यपत्रौ शुभतरमतिचेद्राज्य योग्यं प्रशस्तं
कर्पूरं चान्यथाचेद्बहुतरमशने स्फोटदायिव्रणाय ।।

अदरं च भीमसेनी कर्पूर इति लोके विख्यातः तस्य नेत्ररोगेषु विशेषतः प्रचारः जयपुरे दक्षिणदेशेचास्यप्राप्तिः निघट्वादौ तदुत्त्तिर्लक्षणं न दृश्यते परन्तु बृद्ध पुरुषेभ्य एव श्रूयते पुराकिलमद्रदेश लाहोरनामकनगरे भीमसेननामावणिग्जनोन्यवसत् स च नानाविधौषधीनां-क्रयविक्रय व्यवहारार्थं बहुसग्रहं कृतवान् तत्र कर्पूरस्यापि आधिक्यमभवत् पुनश्चैवदैवयोगेन कदाचिदग्निनातद्ग्रहे दाहेजाते सर्वोषधिनामपि दाहोजातस्तत्रकर्पूरस्तुनानाविधौषधि संबंधेन-उड्डीयतद्गृहस्थोर्ध्वस्थितकाष्टादौसंलग्नः सच तमालोक्यातिशुभ्रंसुगधंगुणवत्तरं च सर्वतः संगृहीतवान् पुनश्चयस्यकस्यापि जनस्यनेत्रव्यथायांतर प्रयोगं प्रयोजितवान् तेनारोग्यमभवत् सच तं भीमसन कर्पूरमिदमित्यभिधायस्थायिवान इति सचाधुनाबहुकालेनोच्छिन्न एवासीत्

आधुनिकास्तु सामान्यकर्पूरंकस्तूरीकेशरादिनाना सुगंधिद्रव्यं संयुक्तं वन्हिनाउड्डीनंविधाय भीमसेनकर्पूरस्थाने सएवायमितिव्यवहरंति यत्रयत्रऔषध्यादि मयोगिक प्रयोजयंति ।।

नहीं कहा जा सकता भीमसेनी कर्पूर उत्पत्ति की किंवदन्ति में कितना सत्यांश है। पर कथा को खूब रोचक बनाया गया है । सूचित कर्पूर कृत्रिम है यह तो सत्य है ही ।

आगे चल कर चाय का भी ऐसा ही रोचक इतिहास और उसकी प्रयोग विधि बताई है, पर स्थान सीमित होने से उसे उपेक्षणीय रखना पड़ रहा है ।

इसकी रचना शैली बहुत सुन्दर और आकर्षक है । भाषा सरल और बोधगम्य होने के साथ वस्तु तत्व का प्रोद्घाटन कर देती है । इसमें वर्गो का विभाजन वस्तुपरक न होकर अकारादि क्रमानुसार जैसे कि, उदाहरणार्थ जैसे जैसे ककारादि वर्ग लिया तो कादिसूचक सभी वस्तुएं इसमें आ गई हैं, चाहे वह लता हो, वृक्ष हो या अन्न हो ।

क्या ही अच्छा होता इसकी पूर्ण प्रति उपलब्ध हो जाती ?

इन रचनाओं के अतिरिक्त 'संग्रहणी चिकित्सा पद्धति' हंसराज कृत 'भिषक् चक्रचित्तोत्सव' आदि कई कृतियां हैं जिनका वैद्यक शास्त्रों में अपना महत्व है, पर उन सबकी विशद चर्चा का यह स्थान नही है ।

यहां सूचित करना अनिवार्य है कि जिस प्रकार निघटुओ में वनस्पतियों का विवेचन सन्निविष्ट है उसी प्रकार औषधि कल्पों के कई संग्रह प्राप्त होते हैं, जिनमें एक ही औषधि का मांत्रिक महत्व प्रदर्शित रहता है और साथ ही रोगनिवारणार्थ भी प्रयोग संग्रहीत रहते हैं । जिस प्रकार मंत्र-गर्भित स्तुतियां रची जाती थीं उसी प्रकार औषधिगर्भित रचनाएं भी निर्मित हुआ करती थी । इस प्रकार की रचनाओं का श्रेय जैन कलाकारों को है । आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का ऐसा एक मंत्रौषधि गर्भित प्राप्त भी है ।

प्रकीर्णक आम्नाय संकलन

एक ओर जहां प्राचीन पद्धति का अनुसरण करने वाले मौलिक ग्रन्थ हैं, वहां दूसरी ओर गुरु-परम्परा प्राप्त आम्नाय संग्रहो की भी कमी नहीं है । शताब्दियों से प्रयुक्त योगों का उपादेय संग्रह ऐसी ही रचनाओं में सुरक्षित रहता है । रोग-निवारणार्थ इसकी उपयोगिता किसी मौलिक और शास्त्रीय कृति से कम नही है । सद्यः फलदायक इस प्रकार का साहित्य ही आज आयुर्वेदिक जगत मे सर्वाधिक उपेक्षणीय रहा है । राजस्थान के ज्ञानागारों में, मन्दिरों और मठो में जितना भी एतद्विषयक सग्रह है उसका परिशीलन अनिवार्य है । एक समय था जबकि स्वास्थ्य और शिक्षा का उत्तरदायित्व यतियों के सुदृढ़ कन्धों पर था, नगर गुरु का आसन यों ही सुशोभित नहीं किया जा सकता था, ऐसी स्थिति में सभी सम्प्रदायों के धार्मिक स्थान इस प्रकार के साहित्य से परिपुष्ट रहे हों तो क्या आश्चर्य है ? कई

ऐसे संकलन मैंने देखे हैं जिनमें चारित्र-पात्र आचार्यों की आम्नाएं उन्हीं के नाम से उल्लिखित हैं।

आयुर्वेद की ऐसी कृतियां भारतीय भाषा विज्ञान और नाप तौल के क्रमिक विकास और प्रसार पर भी आंशिक प्रभाव डालती हैं। जन-भाषा का वास्तविक स्वरूप इनमें उपलब्ध हो जाता है और किस-किस प्रदेश में कौन-कौन सा नाप प्रचलित था और कितने तोलों का सेर कहां प्रचलित था आदि अनेक मूल्यवान तथ्यों की जानकारी सहज ही संकलनात्मक रचनाओं से मिल जाती है। कहीं-कहीं तो मुद्राओं तक का उल्लेख होता है, उदाहरणार्थ सं. १६७५ का एक आयुर्वेद का गुटका मेरे संग्रह में है जो जयपुर के निकटवर्ती स्थान जोबनेर में प्रतिलिपित है। इसमें जितने भी नाप हैं सभी 'सेरशाही मुद्रा' में हैं। इससे साफ जाहिर है कि उन दिनों भी सेरशाह के सिक्के राजस्थान में प्रचलित थे और विविध प्रान्तीय मुद्राओं का भी उल्लेख है जिनका अपना महत्व कम नहीं है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

प्रान्तीय भाषाओं में क्षेत्रीय आयुर्वेदिक रचनाएं पर्याप्त प्राप्त हैं, उनका संशोधन अनिवार्य है। प्रकाशित रचनाओं को पुरानी प्रतियों पर ध्यान देना भी आवश्यक है। रस विषयक ऐसे कई ग्रथ हैं जिनका प्रकाशन होने के बाद भी पुरातन संस्करण महत्व रखते हैं। मेरे संग्रह में १५ शताब्दि के रस-रत्नाकर के कतिपय पत्र है जिनमें पारद शुद्धि के विवेचन के साथ तद्विषयक विविध मन्त्र दिए गए हैं।

आज आवश्यकता है आयुर्वेदिक विस्तृत इतिहास की, क्योंकि आज तक स्फुट इतिहास के अतिरिक्त विशद् और आलोचनात्मक इतिवृत्त तयार नहीं हुआ, जबकि सशोधनप्रधान युग में इसकी महती आवश्यकता है। पुराने प्रयोगों का उद्धार और इतिहास-लेखन पर यदि चिकित्सक समाज ने ध्यान दिया तो बहुत बड़ा कार्य हो जाएगा। यह प्रयास भी वांछनीय होगा कि आयुर्वेदिक कृतियों की स्वतन्त्र शोध करवाई जाय और उनका सामूहिक इतिवृत्त भी प्रकाशित हो, जिससे पता तो चले कि इस विषय की कितनी साधन-सामग्री हमारे पास सुरक्षित है। वैज्ञानिक युग में भारतीय चिकित्सा परम्परा को जीवित रखना है एवं पाश्चात्य पद्धति से टक्कर लेनी है तो इस क्षेत्र में सतत् संशोधन को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए, अन्यथा ऋषि-मुनियों की दुहाई देने मात्र से कार्य-सिद्धि असंभव है।

विष-विज्ञान (Toxicology)

लेखक : वैद्य बुद्धिप्रकाश आचार्य, आयुर्वेदवाचस्पति, जोधपुर

[श्री आचार्य, विद्यावागीश पं० धनराजजी के सुपुत्र है। और उदयाभिनन्दन ग्रन्थ के मन्त्री एवं सम्पादक-मंडल के सदस्य हैं तथा राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन (पजीयत) के प्रधानमंत्री रहे है। इतने रचनात्मक कार्यों के साथ ही साथ महावीर जैन दातव्य औषधालय में निःशुल्क सेवायें समर्पित करते हुए आचार्य आयुर्वेदाश्रम का सफलतापूर्वक संचालन कर रहे हैं व आयुर्वेदीय नियमउपनियमों के विशेषवेत्ता हैं एवं राजस्थान आयुर्वेद-परामर्शदातृ मण्डल के मान्य सदस्य है।

आपने झांसी विश्वविद्यालय से वैद्यवाचस्पति किया है और औषधिनिर्माण में विशेषता रखते है। अपने विष-विज्ञान पर अध्ययनयोग्य लेख लिखा है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]

अथर्ववेद के निम्नांकित मन्त्रों से प्रमाणित होता है कि हम भारतवासी वैदिक युग ही से विष-विज्ञानवेत्ता रहे हैं व हमारे देश में उस प्राचीन काल में भी विष सम्बन्धी विधि एवं निषेध नियम प्रचलित थे:—

"यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत्।
कान्दा विष कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥" १०।४।२२

(यत्) जो (विषम्) विष (अग्नौ) अग्नि में है, (पृथिव्यां) पृथिवी मे और (ओषधीषु) ओषधियों में है, और जो (कान्दाविषम्) कन्दों में है, व (कनक्नकं) धतूरे आदि मादक द्रव्यों मे है, 'हे सर्प', उनके द्वारा (ते विषम्) तेरा विष (निर् एतु एतु) सर्वथा दूर हो।

इस मत्र में निदेशित चिकित्सा सूत्रानुसार, आधुनिक विद्वान् वर्तमान में भी सर्प-विष-चिकित्सा दहन (अग्नौ), स्वर्ण नीरेय (Gold Chloride) (पृथिव्या), तिर्यक (Tixiyag) आदि ओषधियों (ओषधीषु) एवं प्रतिगरल लसीका (Anti Venene) (कनक्नकं), आदि से करते हैं। यही सिद्धांत आयुर्वेद दर्शनों में भी मिलता है— यथा:—

"जङ्गमं स्यादूर्ध्वभागम धोभागं तु मूलजम्।
तस्माद्दंष्ट्रिविषं मौल हन्ति मौलं च दंष्ट्रजम् ॥"

जंगम विष ऊपर की ओर गति करता है और मूलज अर्थात् स्थावर विष नीचे की ओर। अतएव परस्पर विरुद्धगति होने से दंष्ट्रिविष (जंगमविष) मूलज का और मूलज (स्थावर) जगम विष का घातक होता है। आधुनिकों द्वारा किया गया विषों का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का प्रतीत होता है:—
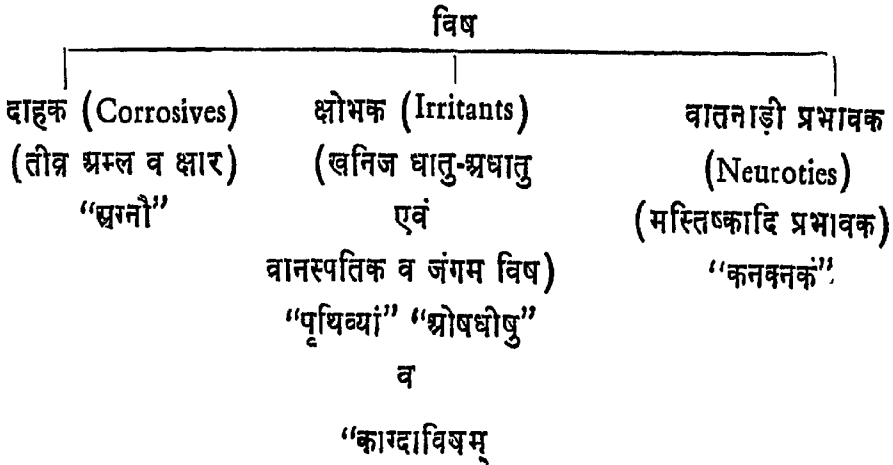
"ये अपीषन् ये अदिहन् ये आस्थन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिविषगिरिः कृतः॥४।६।७"

इस मत्र में व मंत्र संख्या ४।६।८ में विष के पदार्थों को पीसने, संग्रह करने, उत्पन्न करने, खानों से खनन करने व विषों को पृथक सुरक्षित रखने का निदेश है। इसी मूलाधार पर भारत में विदेशी शासकों द्वारा सन् १९०४ ईस्वी में पहला विष सम्बन्धी अधिनियम (Poisons Act) बनाया गया था। इसका प्रतिसस्कार सन् १९१९ ई० में हुआ जिसके प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक पञ्जीकृत चिकित्सक को विष-विक्रयार्थ अनुज्ञापत्र (License) स्वीकृत करवाना आवश्यक है। एक अन्य अधिनियम "प्राणघातक औषधि अधिनियम" (Dangerous Drugs Act), सन् १९३० ई० मे प्रभावशाली हुआ व उसके संशोधन सन् १९३३ व १९३८ ई० में हुए। यह अधिनियम प्राणघातक औषधियों के निर्माण, उत्पादन, संग्रह बिक्री व प्रयोग आदि के नियत्रण के सम्बन्ध में है। तीसरा अधिनियम, "औषधि अधिनियम" (Drugs Act) सन् १९४० ई० में लागू किया गया जिसके अनुसार प्रत्येक औषधालय में विषयुक्त औषधियों को पृथक अलमारी या पेटिका में बंद रखना व प्रत्येक शीशी आदि पर लाल रंग से "विष" शब्द सहित "नामपत्र" (Label) होना अनिवार्य है।

विष शब्द की निरुक्ति

आयुर्वेद दर्शन में 'विषादजननत्वाच्च विषमित्यमिधीयते' कहा गया है। महर्षि चरक व वाग्भट्ट के शब्दों मे 'जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसज्ञितः' अर्थात् विषपुरुष को देख कर सारा ससार विषण्ण हो गया, अतः उसे 'विष' सज्ञा है।

परिभाषा

आयुर्वेदीय आर्ष ग्रन्थों में विष-विज्ञान की सूत्ररूप परिभाषा 'अगदतन्त्रं नाम सर्पकीट-लूतामूषकादिदष्ट विष व्यञ्जनार्थं विविध-विष-संयोगोपशमनार्थंच', कह कर की गई है। स्थूलरूपेण, जिस शास्त्र मे विषों के प्रभाव, गुण व प्रकृति; विषों द्वारा उत्पादित लक्षण, घातक प्रभावों के विभिन्न स्वरूप, विष-क्रिया; एवं विष-प्रभावनाशक प्रतिकारों का उपदेश हो, उसे विष विज्ञान कहते हैं।

एक ही पदार्थ का युक्तियुक्त सेवन अमृतोपम अथवा आवश्यक होते हुए भी उसका अन्यथा सेवन घातक हो सकता है। यथा—दहातुलमणो (Salts of Potassium) का अल्प मात्रा में सेवन स्वप्नावस्था की अक्षुण्णता के लिए आवश्यक होते हुए भी उनका प्रचुर मात्रा में सेवन प्रचण्ड घातक विष हो जाता है। अस्तु, विष वह द्रव्य है जो किसी भी प्रकार के बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक प्रयोग से रुग्णावस्था, हानिप्रद प्रभाव अथवा मृत्युकारी हो। ऐसा द्रव्य स्थावर, जङ्गम अथवा कृत्रिम, किसी भी वर्ग का, और मुख, निःश्वास, त्वचा, श्लैष्मिककला या अन्तःक्षेपण आदि किसी भी प्रकार या मार्ग से प्रयुक्त किया जाने वाला हो सकता है।

वर्गीकरण (भेद)
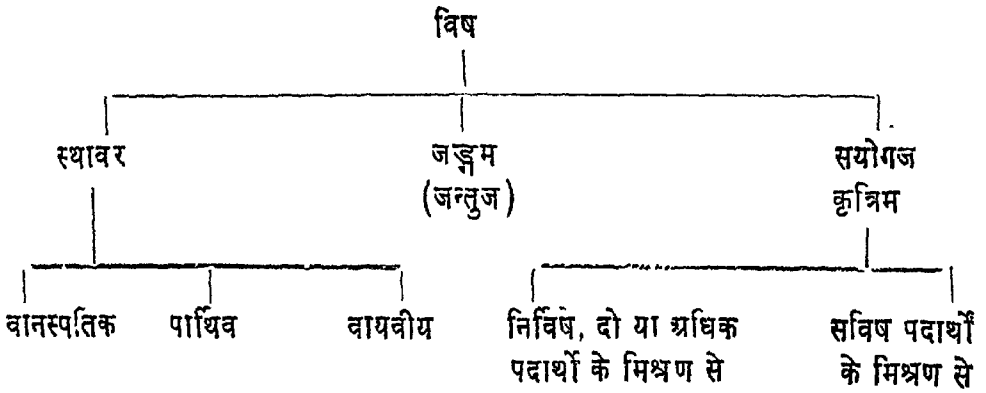
१ स्थावर विष

पूर्वाचार्यो ने आश्रय भेद व अधिष्ठानानुसार स्थावर विष के दस भेद कहे हैं, यथा—(१) मूल ८, (२) पत्र ५, (३) फल १२, (४) पुष्प ५, (५-६) व (७) त्वक्-सार व निर्यास ७, (८) क्षीर ३, (९) कन्द १३ व (१०) धातु २।

रसशास्त्रशाखा मे कंद विष ९ कहे हैं व उन्हें "विष" संज्ञा दी है, व अन्य वानस्पतिक विषों को "उपविष" माना गया है। उनके मतानुसार ९ विषों के नाम, १. कालकूट, २. वत्सनाभ, ३. शृङ्गक, ४. हालाहल ५. प्रदीपक ६. सौराष्ट्रिक ७. ब्रह्मपुत्र ८. हारिद्र व ९. सक्तुक हैं। मतान्तर में १३ विष कहे गए हैं, जिनमें १. प्रथम चार पूर्ववत्, २. ५-६ व ७ वें के स्थानों पर क्रमशः सर्षपक, कर्दम व मुस्ताक, ३. अन्तिम दो पूर्ववत्, व ४. इनके अतिरिक्त (क) मूलक, (ख) महाविष, (ग) कर्कट, व (घ) वालुक है। अपर मतान्तर में १८ विष कहे गए हैं जिनमें ८ को 'सोस्य' (खाने से मृत्युकारी) व १० को 'उग्र' (गंधमात्र से मृत्युकारो) माना गया है।

वे हैं:—

विष
सौम्य
उग्र
वत्सनाभ (Aconite)
सर्षप
मुस्तक
शृङ्गिक
सक्तुक
कौर्य
दाखक
सैकत
कालकूट
हालाहल
कर्कटक
मेषशृङ्गी
दर्दुरक
ग्रन्थि
हारिद्रह
रक्तशृङ्गी
केशर
यमदंष्ट्र
उपविष
करबीर (Oleander) कनेर
गुञ्जा (Abrus-Preuatoriua) चिरमी
विजया (Cannabss Indica) भांग
कनक (Dhatuta) धतूरा
जयपाल (Croton Seel) जमालगोटा
विषमुष्ठी (Nux-Vo-mica) कुचीला
भल्लातक (Narking Nut) मिलावा
अहिफेन (Opium) अफीम
स्नुही (Euphor-bia) थूहर
अर्क (ealos-ropis Gigantea) आक
लांगली (Gloriosa Superba) कलिहाही
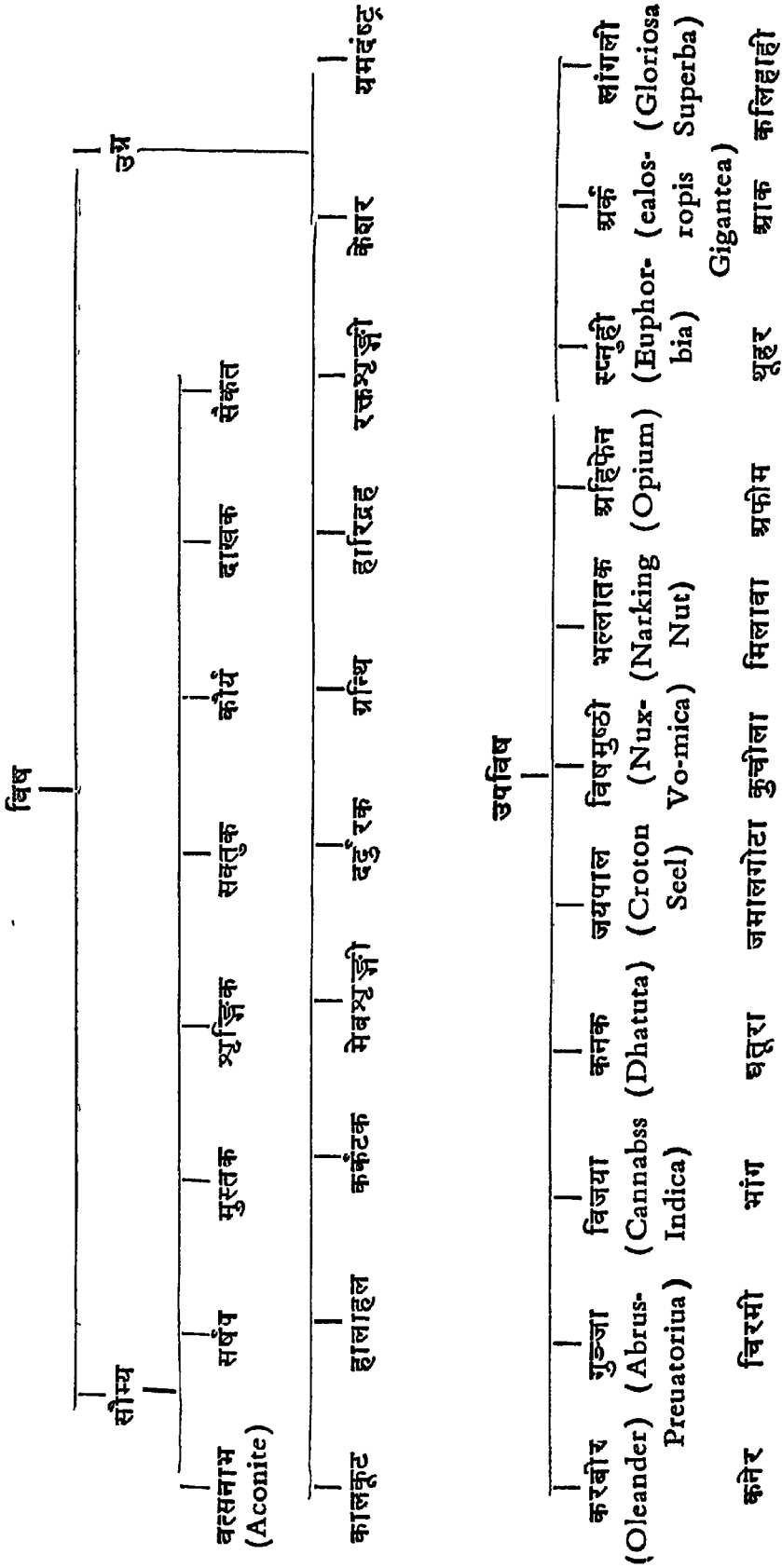
रसशास्त्रविद सभी रसोपरस, धातु-उपधातु व वज्र आदि को भी विष मानते हैं। आधुनिक विद्वान् इनके अतिरिक्त कतिपय वायवीय एवं अधातु खनिजों का भी उल्लेख करते हैं।

स्थावर विषों के महर्षि सुश्रुत ने ७ व चरक ने ८ वेग कहे हैं।

वेग

चरकोक्त	सुश्रुतोक्त
१. प्यास, मोह, दंतहर्ष, लाला प्रसेक, छर्दि व क्लम।	१. जीभश्यामवर्ण, जड़मूर्च्छा, व श्वास
२. विवर्णता, भ्रम, कंपकंपी, मूर्च्छा, जंभाई, व अंग चिमचिम।	२. कंप, शिथिलता, दाह, गले व हृदय मे दर्द
३. मण्डल, कण्डू, शोथ, व कोठ।	३. तालुशोष, आमाशय में तीव्र शूल व अक्षिशोथ
४. देह में शूल व मूर्च्छा।	४. पक्वाशय-आमाशय में तोद, कास, शिर का भारीपन, आंतों मे गड़-गड़ाहट व हिक्का
५. नीला दिखना व नेत्र के आगे अंधेरा।	५. कफस्राव, विवर्णता पर्वटूटना व पक्वाशय वेदना
६. हिक्का	६. अतिसार, बुद्धि व प्राणनाश
७. स्कन्धभङ्ग (स्कन्ध सन्धि का काम न करना)	७. स्कन्ध, पीठ व कटि टूट जाना, श्वासावरोध व मृत्यु।
८. मृत्यु	

२. जगम विष

पूर्वाचार्यों ने १६ प्रकार के जङ्गम विष कहे हैं, यथा—(१) दृष्टि, (२) निःश्वास, (३) दष्ट्रा, (४) नख, (५) मूत्र, (६) पुरीष, (७) शुक्र, (८) लाला, (९) आर्तव, (१०) मुखसंदंश (व कांटे), (११) विशर्दित, (१२) तुण्ड, (१३) अस्थि, (१४) पित्त (१५) शूक व (१६) शव। उन्होंने विषेले जन्तु ४५ कहे हैं, यथा—(१) सर्प, (२) विल्ली, (३) कुत्ता, (४) शृगाल, (५) भेड़िया, (६) रीछ, (७) व्याघ्र, (८) वदर, (९) मकर मण्डूक, (१०) पाक मत्स्य, (११) राजीव मत्स्य, (१२) गोह, (१३) शम्बूक, (१४) प्रचालक, (१५) ग्रह गोधिका (छिपकली), (१६) मकड़ी, (लूता) (१७) चिपट, (१८) पिच्चिटक, (१९) कषाय वासिक, (२०) सर्षपक, (२१) तोटक, (२२) वर्च, (२३) कोण्डिन्यक, (२४) चित्रशिर, (२५) सराव, (२६)

कुदर्शित, (२७) दारुकारि, (२८) मेदक, (२९) सारिमुखा, (३०) मूषक, (३१) मक्खी, (३२) कणभ, (३३) जौक, (३४) वृश्चिक, (३५) विश्वम्भर, (३६) वरटी, (३७) उच्चिटिंग, (३८) सूक्ष्म तुण्ड, (३९) शतपदी, (४०) शूक, (४१) बलमीका, (४२) भृगी, (४३) भ्रमर, (४४) समुद्र वृश्चिक व (४५) तरक्ष।

पूर्वाचार्यो ने ८० प्रकार के सर्प कहे हैं, यथा—(१) दर्वीकर २७, (२) मण्डली २६, (३) राजिमान १२, (४) निर्विष १२, एवं (५) वैकरञ्ज ३।

उन्होने कीटों के १६७ प्रकार कहे हैं, यथा—(१) वातप्रकोपक १८, (२) पित्त-प्रकोपक २४, (३) कफप्रकोपक १३, (४) सन्निपातप्रकोपक १२, (५) गोधेरक ५, (६) गलगोलिका ९, (७) शतपदी ८, (८) मण्डूक ८, (९) पिपीलिका ६, (१०) विश्वम्भरा १, (११) अहिण्डुका १, (१२) कण्डूका १, (१३) शूकवृंत १, (१४) मक्षिका ६, (१५) मशक ५, (१६) जलौका ६, (१७) वृश्चिक ३०, और (१८) लूता १६।

उन्होंने मूषक की १८ जातियां कही हैं, यथा—(१) लालन, (२) पुत्रक, (३) कृष्ण, (४) हसिर, (५) चिक्किर, (६) छुछुन्दर, (७) अलस; (८) कषाय, (९) दशन, (१०) कुलिंग, (११) अजित, (१२) चपल, (१३) कपिल-कोकिल, (१४) अरुण, (१५) महाकृष्ण, (१६) उन्दुर, (१७) महा-श्वेत, और (१८) कपिल-कपोताभ।

रस शास्त्र में सर्प-विष व पित्त-विषों का उपयोग मिलता है। वेदों में सैकड़ों सर्प-जातियो का उल्लेख है।

अर्वाचीन विद्वानों ने वर्तलान विषैले सर्पों का वर्गीकरण इस प्रकार दिया है :—

मक्षिकाओं में हरिभृंग (Cantharis) को आजकल प्रमुख माना जाता है। एक इंच लम्बी यह मक्खी प्रत्येक ऋतु में सभी स्थानों पर पाई जाती है। इसे सुखा कर चूर्ण कर हरिभृंगी (Cantharides) का प्रयोग होता है।

जल-संत्रास (Hydrophobia)

पागल कुत्ते, शृगाल व भेड़िया आदि जानवरों के काटने से जो विष उनके थूक द्वारा विषाणु (Virus) के उपसर्ग से उत्पन्न होता है उसे जल-संत्रास कहते हैं।

संयोगज विष

"संयोगजञ्च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते।
गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्

संयोगज विष दो प्रकार का होता है। (१) निर्विष द्रव्यों के मिश्रण से, जिसे "गर विष" कहते है व (२) सविष द्रव्यों के मिश्रण से बना, जिसे "कृत्रिम विष" कहते हैं।

पूर्व में स्थावर विषों को जङ्गम विषनाशक एवं जङ्गम विषों को जो स्थावर विष-नाशक कहा गया है वहां कारण 'प्रभाव' है। प्रभाववश ही कतिपय निर्विष द्रव्यों के मिश्रण भी घोर विष बन जाते हैं। यथा सम मात्रा में मिश्रित घृत व मधु। यदि घृत अकेला खाया जाय तो कदापि विष नहीं व इसी प्रकार केवल मधु खाई जाय तो वह भी विष नहीं किन्तु दोनों का सम भाग में मिश्रण सर्वथा "विष" है। महर्षि चरक ने अपनी संहिता के सूत्र स्थान में इस प्रकार के अनेक मात्रा, देश, काल, अग्नि, सात्म्य, वातादि, सस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार, उपचार, पाक, संयोग, हृद्, संपद् और विधि-विरुद्ध अनेक अहित कंद आहारों का वर्णन किया है। ये सभी पूर्वोक्त परिभाषानुसार प्रथम प्रकार के संयोगज विष हैं। इसी प्रकार प्रभाव के ही कारण अनेक आधुनिक तीक्ष्णाम्लादि भी प्रथम प्रकार के संयोगज विष के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

मल्ल के अनेक यौगिक यथा ताम्र मल्लीय (Copper Arsenate), मल्ल पंच शुल्बेय (Arsenic-penta Sulphide), मल्ल त्रिजारेय (Arsenic Trioxide) आदि द्वितीय प्रकार के संयोगज विषों के उदाहरण हैं।

उभय प्रकार के अनेक मद्य तत्तद्मिश्रणानुसार संयोगज विष हैं। प्राचीन आचार्यों ने मदात्यय को स्वतन्त्र रोग माना है जहाँ अर्वाचीन विद्वान् मद्यादि को वातनाड़ी-प्रभावक संयोगज विष मानते हैं।

प्रयोग मार्ग :—

शरीर में विष प्रविष्ट करने के निम्न वाह्याभ्यन्तर मार्ग हैं :—

१. आभ्यन्तर (क) निगरण द्वारा—यथा मुख से या गुदा में वस्ति से

(ख) अन्तर्विलयन द्वारा—यथा कर्ण, नासिका, योनि आदि में डाल कर

२. बाह्य (क) त्वचा पर लेपाभ्यञ्जन द्वारा

(ख) अधश्चर्मीय अन्तःक्षेपण द्वारा यथा त्वचान्त, पेश्यन्त व सिरान्त।

इन प्रयोगों का वर्गीकरण आधुनिक विद्वान दो भागों में करते हैं-(१) अन्न द्वारा प्रचूषणीय प्रयोग व (२) अन्यथा प्रयोग। मुख या गुदा द्वारा प्रयुक्त विषों का प्रचूषण अन्तःश्लैष्मिक कला द्वारा होता है। वे हृदय द्वारा सर्व शरीर में उदञ्चित होने के पूर्व याकृत प्रतिहारिणी द्वारा गतिशील होते हैं। स्वस्थ त्वचा पर लेपादि से केवल कुछ ही विष प्रभावशाली हैं। बहुधा-अपघर्षण, घात या खुले ब्रणों पर प्रयुक्त विषों का शीघ्र प्रचूषण होता है।

प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में दतौन, तैलाभ्यङ्ग, अंजन, अन्न, स्नान व धूम्र आदि में विष प्रयोगों का उल्लेख मिलता है।

विषों से प्रचूषणोत्तर आचरण :

प्रचूषण के पश्चात् विविध विष विविध काल तक देह धृत रह जाते हैं अथवा वमनादि द्वारा कुछ या समग्र ही देह से निकल भी सकते हैं। इस प्रकार धृत या परिवर्तित विष विभिन्न सस्थानों व अंगों में विभिन्न संकेद्रित रूप में रह सकते हैं। विषों का निरन्तर सकेद्रित सचय, उन्हीं या अन्य सस्थानों या अङ्गों में विषाद उत्पन्न कर सकता है यथा यकृत् में सीधा सचय स्थल पर या अन्य स्थल पर भी विषाद उत्पन्न हो जाता हैं, जैसा कि महर्षि सुश्रुत ने कहा है :—

'यत् स्थावर जङ्गमकृत्रिमंवा देहादशेपं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥२५॥

स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥२।२६॥

अर्थात् विष पच कर या औषधियों से नष्ट होकर अथवा दावानल, वायु या धूप से सूख कर या अपने ही स्वभाव से, गुणों मे कुछ न्यून होकर आशुघाती न रह कर कफ से आवृत्त होने के कारण कई वर्षों तक बना रहता है।

विषोत्सर्ग मार्ग

देह से विष का उत्सर्ग तद्रूप अथवा रासायनिक परिवर्तित रूप में होता है जिसके मुख्य मार्ग मल, मूत्र या चर्म हैं। कतिपय विषों का प्रदान लालास्राव, आम या लस्यस्राव में भी किया जा सकता है। ये या तो मलादि में उत्सृष्ट होते हैं अथवा उदासर्जित मात्रानुसार पुनः देह में प्रचूषित हो जाते हैं। कतिपय विष माता के दुग्ध द्वारा निकल जाते हैं जिससे

दुग्धाशी बच्चे विषाक्त हो जाते हैं। चरक में वातिक विष में पुलाक व नाड़ी स्वेद श्लैष्मिक में कफ स्वेद, वमन, विरेचन, नस्य व अंजन आदि द्वारा विविध मार्गों से विषोत्सर्ग करवाने का उपदेश मिलता है।

विषक्रियाएं—

लघु एवं विशद गुणयुक्त होने के कारण विष अस्थिर रहता है। जङ्गम विष ऊपर की ओर एवं स्थावर नीचे की ओर गति करता है। विषक्रियाओं के ४ भेद हैं—

१. 'दष्टविद्धयोदंशदेशे स्यात्' अर्थात् विष प्रभावित स्थान तक सीमित क्रिया। इसे 'स्थानीय कहते हैं।

२. 'क्षरति विष तेजसा ऽ सृक्' विष संपर्कित स्थान से परे होने वाली क्रिया—यथा यकृत, वृक्कादि मे, जिसे 'दूरस्थ क्रिया' कहते हैं।

३. 'पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति' जाठरअंत्रपथ आदि पर क्रिया, जिसे 'संस्थानीय क्रिया' कहते हैं।

४. 'सर्वतः पिण्डितं विषम्' 'एकाधिक संस्थान पर पिण्डितं विषम्' एकाधिक संस्थान पर क्रिया जिसे 'साधारण क्रिया' कहते हैं।

विष-प्रभाव बहुधा ऋतु एवं अप्रत्यक्ष प्रभावों के संयोग से उत्पन्न होते हैं अत: तत्सबंधी ज्ञान विष चिकित्सा में महत्वपूर्ण माना गया है। विषाक्त रोगी पर विष का कहाँ, कैसा व कितना प्रभाव हुआ है, यह समझ लेने के पश्चात् ही विष को बाहर निकालने या प्रतिविष देने या अन्य लाक्षणिक चिकित्सा करने का निर्णय लिया जा सकता है।

विषक्रिया परिवर्त्तक कारण

'प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद्घनात्यये' पूर्वाचार्यों ने विष वीर्य पर ऋतुओं का प्रभाव माना है। उपरोक्त वचनानुसार शरद ऋतु में विष का वीर्य मंद हो जाता है। इसके अतिरिक्त निम्न चार और कारण हैं—

१. मात्रा

विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तिं रसायनम्।
अहितस्याति मात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्॥

प्राय: यही समझा जा सकता है कि प्रचुर मात्रा में सेवित विष आशुघातक होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं प्रचुर मात्रा की उत्तेजना से वमन होकर विषोत्सर्ग होना भी संभव है यथा तुत्थ प्रयोग से। विष-प्रभाव विषमात्रानुसार विभिन्न होता है। मल्ल प्रचुर मात्रा में क्षोभक लक्षण व्यक्त किए बिना ही सहसा मारक होता है किन्तु प्राणहर मात्रा से न्यून मात्रा के शनैः शनैः प्रयोग से उसका संचय होकर चिरकाल पश्चात् मृत्यु होती है। जो विष संपूर्ण रूप से

बाहर न निकले किन्तु पचकर या विषघ्न औषधादि से न्यून गुण कर हो जाता है उसे 'दूषी-विष' कहते हैं।

२. उपप्रकार

(क) भौतिक

वायवीय अथवा वाष्पीय दशा में प्रयुक्त विष तुरन्त व अत्यन्त ऊर्जयाप्रभावी होते हैं। चूर्णो की अपेक्षा घोल त्वरा से प्रभावशाली होते हैं। ठोस अवस्था के विष मंथर गति से प्रभावी होते हैं एवं कभी कभी नितान्त अघातक भी सिद्ध हो जाते हैं।

(ख) रासायनिक मिश्रण

यदि किसी तीक्ष्णाम्ल का सेवन क्षार के साथ किया जाय तो विषैला प्रभाव प्रायः समाप्त हो जाता है।

कुछ विषों का मिश्रण अविष हो जाता है—यथा हरिजा (Baryta) व शुल्वाम्ल (Sulyhuric Acid) का मिश्रण। (पृथक् पृथक् प्रयुक्त हों तो दोनों ही महाविष हैं।)

कतिपय विष जो जल मे अघुलनशील हैं वे आमाशय के उदासर्जन में घुल जाते हैं व शीघ्रमारक हो जाते हैं—यथा ताम्रमल्लीय (Copper Arsenate)। यह आमाशय की श्लैष्मिक कला द्वारा प्रचूषणार्थं घुल जाया करता है।

(ग) यान्त्रिक मिश्रण

यान्त्रिक मिश्रणों से विष क्रिया पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है, यथा—तीक्ष्णाम्ल में पानी प्रचुर मात्रा में मिला कर देने से उसका प्रभाव न्यून या हीन हो जाता है—यथा शंखद्राव अर्क का प्रयोग।

यदि मल को पानी के साथ किसी पात्र में मिलाया जाय तो वह तलछुट हो जायेगा व बलि उसे कदापि ग्रहण नही करेगा।

३. सेवन-विधि

वायवीय अथवा वाष्पों के निःश्वसन द्वारा अन्तः क्षेपण व खुले व्रण पर प्रयोग द्वारा विष शीघ्र क्रियाशील होते हैं; व लस्यस्तर पर लगाने से, कोशीयऊति में प्रयोग से एवं श्लैष्मिक कला पर प्रयोग से क्रमशः, न्यून, न्यूनतर एव न्यूनतम क्रिया होती है। शुद्ध त्वचा पर प्रयोग से अत्यन्त हीन प्रभाव होने के कारण पानी की अपेक्षा तैल में घुली औषधियों का प्रयोग अधिक होता है। आमाशय व क्षुद्रान्त्र की प्रचूषण शक्ति, वृहदन्त्र व गुदा से अधिक होने के कारण मुख से निगरित विष, गुदबस्ति द्वारा प्रविष्ट विषों से अपेक्षाकृत शीघ्र क्रियाशील होते हैं। विष प्रचूषणा गति के अनुरूप ही विषोत्सर्जन को त्वरित कर देने से पूर्णतः

निर्विष स्थिति प्राप्त हो सकती है, अन्यथा विष, संस्थानों में संचित होता रहता है। भूखे पेट विष का प्रभाव अधिक होता है। मुख से भक्षित विषों की अपेक्षा अन्तःक्षेपित विष अधिक हानिप्रद होते हैं।

४. देहदशा

दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयेत्।
—च० चि० २३।६

विष यद्यपि तीनों दोषों को प्रकुपित करता है तथापि, दोष के स्थान व व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार अन्तर आता है।

भीतमत्ता बलोष्णक्षुत्तृषार्ते वर्धते भृशम्।
विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ प्राप्याल्पमन्यथा॥
—च० चि० २३।१६१

भयभीत, मद्युक्त, निर्बल, गर्मी से पीड़ित और भूखे प्यासे व्यक्तियों में विष अत्यन्त प्रवृद्ध होता है। तथा च यदि पुरुष की प्रकृति और काल विष के समान हो तो भी विष की वृद्धि होती है व इनकी विपरीत अवस्थाओं में विष की वृद्धि अल्प होती है।

अर्वाचीनों ने भी १. आयु, २. जाति स्वभाव, ३. वृत्त, ४. स्वस्थावस्था व ५. निद्रा व मदावस्था नामक ५ कारण माने हैं :—

(क) आयु :—

यद्यपि साधारणतया विष बालक व वृद्धों पर अधिक प्रभावशाली होता है तथापि कुछ द्रव्य यथा पारद-नीरेय (Calomel) बालकों द्वारा अधिक सहन होते पाये गये हैं। अनुभव में आया है कि बाल्यावस्था में रसौषधियां सेवन कराने से थोड़े ही दिनों में शरीर मोटा बन जाता है जहां बड़े मनुष्यों में मसूढों पर नीलवर्ण रेखा व लाला-वृद्धि की जांच, रसौषधि के सेवनकाल में हर १०-१० दिन के पश्चात्, करनी होती है।

(ख) असात्म्य

कुछ व्यक्तियों में किसी द्रव्य की खाद्य अथवा औषधोपयोगी मात्रा भी विषाद उत्पन्न कर देती है, जहां वही मात्रा अन्य व्यक्तियों के लिये उत्तम औषधि या भोजन साबित होती है। यथा लीलावती वटी। इसके सेवन से कुछ व्यक्तियों को कुछ भी असर नहीं होता जहां अन्य कुछ व्यक्तियों को वीसियों वमन व अतिसार हो जाते हैं।

(ग) वृत्ति सात्म्य

व्यसनी व्यक्तियों में कतिपय विषों की घातक मात्रा भी किसी सीमा तक विषैला प्रभाव नहीं डालती। हमारे एक रोगी श्री चांदमल जो २-२ रत्ती अहिफेन नित्य

प्रातः सायं सेवन करते हैं उन पर अहिफेन युक्त योग साधारण मात्रा में अप्रभावशाली रहते हैं।

(घ) काकतालीय

यद्यपि रोगियों पर स्वस्थ पुरुषों की अपेक्षा विष का प्रभाव शीघ्र होता है तथापि कतिपय रोगों में विषों की घातक मात्रा भी लाभप्रद होती है यथा धनुर्वात मे अहिफेन व जलोदर में स्नुहीक्षीर स्थानीय एक जलोदर के रोगी द्वारा एक बार में १ तोला थूहर का दूध पीकर १ चम्मच मिरचिया कंद स्वरस पीकर स्वास्थ्य-लाभ करना लेखक के ज्ञान में है। कुछ ऐसे भी रोग हैं जिनमें विषों की स्वल्प मात्रा भी घातक होती है यथा जीर्णकफज वृक्क शोथ में पारद।

(ङ) मद या सुप्तावस्था :—

कभी २ विष खाने के तुरन्त पश्चात् विषभक्षी निद्रा लेले तो विष का प्रभाव शारीरिक क्रिया के शिथिल हो जाने के कारण विलंबित हो जाता है। यही दशा मदमत्तता में विष भक्षण से होती है।

निदान—

यद्यपि राज्य-नियम भय से कोई भी व्यक्ति सत्य गाथा नहीं कहता, तथापि निम्न विशिष्ट लक्षणों से निदान किया जा सकता है :

१. पूर्वोक्त विषवेग ज्ञान से।

२. यदि स्वस्थ पुरुष में अकस्मात् वमन, अतिसार आदि लक्षण प्रकट हो जांय तो। किन्तु यहां यह विशेष दृष्टव्य है कि चिरकालीन विषों में विष लक्षण शनैः शनैः प्रकट होते हैं जिससे किसी रोग के होने का भ्रम होकर मिथ्या निदान हो जाने का भय रहता है। यथा विसूचिका, जहां ऐसे लक्षण सहसा प्रकट होते हैं। ऐसी स्थिति में सापेक्षिक निदान आवश्यक हो जाता है।

३. साधारणतया औषध भोज्य या पेय पदार्थों के साथ विष भक्षण के लगभग १ घंटे के भीतर ही लक्षण उपस्थित होने प्रारम्भ हो जाते हैं किन्तु विसूचिका, आमाशय-विदार (Rupture of Stomach) आदि रोगों मे भी ऐसे लक्षण, भोजन या जलपान के तुरन्त पश्चात् अकस्मात प्रकट हो जाते हैं। ऐसी दशा में सावधानी रखनी आवश्यक है। अभियुक्त कभी कभी जनपदोध्वंसनीय संक्रामक व्याधियों के प्रकोप के समय विष प्रदान कर स्थिति का अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं।

४. लक्षण अतिशीघ्र बढ़ कर घोर अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं जिससे मृत्यु अथवा शीघ्र विष से मुक्ति हो जाती है। कभी कभी मंद विष देह में रह जाता है जो चिर काल

तक कष्ट देता रहता है। एक विष का प्रभाव अन्य विषों से भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार किसी विष का न्यून मात्रा में प्रयोग, अल्प मात्रा में यौगपद्येन सेवित अन्य विष की सहायक शक्ति से शीघ्रमारक भी हो सकता है। यथा सुषव (alceohol) के साथ कोलमिहेय (Barbiturate)

५. एक ही प्रकार का भोजन या पान एक ही समय करने वाले सभी व्यक्ति समान-रूपेण एक ही काल में लक्षणान्वित होते हैं।

६. इन सभी लक्षणों के अतिरिक्त सब से अधिक प्रामाणिक वस्तु रासायनिक विश्लेषण है। एतदर्थ वमन, मूत्र व मल को सुरक्षित कर रासायनिक विश्लेषणात्मक परीक्षा करनी या करवानी अति आवश्यक है।

विष का संदेह होने पर वैद्य के कर्त्तव्य :

जहां तक वैद्य को पूर्ण प्रमाणित विश्वास न हो जाय कि अमुक व्यक्ति विषाक्त है, उसे कोई भी लिखित अथवा मौखिक राय व्यक्त नहीं करनी चाहिये। उसे संदेहित विष की प्रकृति पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे वह उचित उपचार द्वारा रोगी के प्राण बचा सके। मन्द विष के संदेह में २४ घंटों का मल-मूत्र व वमन संग्रह कर उनका परीक्षा के लिये भिजवाना नितांत आवश्यक है।

(क) साक्षी के लिए, चिकित्सा करने के पश्चात् तक भी वमन, आमाशय प्रक्षालन से प्राप्त द्रव्य व मल, मूत्र सुरक्षित रखें।

(ख) विष-सेवी के निकट बोतल, कप, कटोरी, गिलास आदि वस्तुएं जिनमें विष मिलाये जाने का संदेह हो जाय, पेषणकर्त्ता खरल व कागज का टुकड़ा जिसमें सेवनार्थ विष डाले जाने का सन्देह हो, उन्हें भी वैद्य अपने अधिकार मे ले ले। ऐसा न करने पर भारतीय दण्ड विधान की धारा २०१ के अनुसार साक्षीलोपन के अभियोग में वह दण्डनीय हो जाता है।

(ग) परहत्या के लिए दण्ड-प्रयोग का सन्देह होने पर वैद्य को अनिवार्यतः धारा ४४ दण्ड-विधि संहिता के अनुसार निकटतम पुलिस अधिकारी या न्यायाधीश को सूचना दे देनी चाहिए। इस प्रावधान के उल्लंघन करने पर भारतीय दण्ड विधान की धारा १७६ के अन्तर्गत वह वैद्य दण्ड का भागी होता है। उक्त धारा ४४ के अनुसार आत्महत्या का पुष्ट प्रमाण प्राप्त होने के पश्चात् भी वैद्य को अपनी ओर से किसी आत्महत्या की सूचना देना आवश्यक नहीं है किन्तु यदि इस विषय में उसे न्यायालय आहूत करे तो धारा १७५ दण्ड विधि संहिता के अनुसार उसे अपने ज्ञान के सभी तथ्य बता देने आवश्यक हैं। यदि उनमें से कुछ भी बात प्रच्छन्न रखदे या विकृत करदे तो वह भारतीय दण्ड विधान की धारा २०२ के अनुसार अभियुक्त समझा जाता है। मिथ्या सूचना देने पर भारतीय दण्ड विधान की धारा १९३ के अनुसार दण्डनीय होता है।

विषाक्त व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर वैद्य उसके लिए कदापि मृत्यु प्रमाण-पत्र न दे। ऐसी दशा में उसे निकटतम पुलिस अधिकारी को मृत्यु की सूचना अग्रिम कार्यवाही हेतु प्रेषित कर देनी चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

पूर्वाचार्यों ने विष चिकित्सा के २४ उपक्रम कहे हैं, यथा—१, मंत्र, २. अरिष्टा बन्धन, ३. उत्कर्तन, ४. निष्पीडन, ५. चूषण, ६. अग्नि से दग्ध करना, ७. परिषेचन, ८. अवगाहन, ९. रक्त-मोक्षण, १०. वमन, ११. विरेचन, १२. उपधान, १३. हृदयावरण, १४. अंजन, १५. नस्य, १६. धूम, १७. लेह, १८. औषध, १९. प्रधमन, २०. प्रतिसारण, २१, प्रतिविष, २२. संज्ञास्थापन, २३. लेप और २४. मृत-संजीवन।

आधुनिक विद्वान् केवल ४ उपक्रमों का वर्णन करते हैं, यथा—१. अशोषित विषों का निर्हरण, २. प्रतिविषों से, ३. प्रणालियों में चूषित विषों का निर्हरण व ४. सामान्य लक्षणों व उपद्रवों की चिकित्सा।

प्राचीनों का मंत्र उपक्रम सदैव; अरिष्टा-बन्धन, उत्कर्तन व निष्पीड़न, दंष्ट्र पुरुष के दंशस्थान से जब तक विष देह में नहीं फैले तब तक (दंष्ट स्थान के ऊपर बांधा जाता है, व दंष्ट स्थान को सम्यगतया निष्पीडन कर मर्मों को बचाते हुए मांस काटा जाता है); चूषण व रक्त-मोक्षण तत्पश्चात् क्रमशः प्रतिकरण, लेप, दाह, वमन, विरेचन, हृद्रक्षा, अंजन व नस्य, संज्ञा-स्थापन, उपधान व प्रधमन व धूम उपक्रमों से चिकित्सा की जाती है।

प्रत्येक वैद्य को विष-चिकित्सार्थ सदैव एक पृथक् पेटिका में विषघ्न औषधियां व उपकरण तैयार रखने चाहिएं जिससे व्यर्थ समय न खोना पड़े।

साधारण उपकरण

१, कैथेटर (कृश रबर नलिका Stomach Pump)
२. आमाशय प्रक्षालन यन्त्र
३. रबर की रज्जु (Rubber Tourniquet)
४. चाकू
५. १०-२० सी. सी. की एक रेकर्ड सिरिञ्ज
६. शिरा में औषध देने का यन्त्र
७. प्राणवायु सुंघाने का यत्र

साधारण औषधियां

१. श्वेतनक्षोद (Bleaching Powder)
२. चूर्णातुनीरेय (Calcium Chloride)

३. विष तिन्दुक (सत्व) (Strychnine)
४. दहातु प्रतिलोहकीय (Pot. Permengnate)
५. सर्प प्रतिविष व अन्य प्रकार के प्रतिविष।

अशोषित या असूचित विषों का निर्हरण

वायवीय पदार्थों के नि:श्वसन की स्थिति में रोगी को तुरन्त अभिनव हवा मे ले जाया जाना चाहिए। आवश्यकतानुसार कृत्रिम श्वास क्रिया व तत्पश्चात् शुद्ध जारक (Oxygen) भी ६ से ८ लीटर प्रति मिनट के हिसाब से देना चाहिए।

काटने या अंत:क्षेपण की स्थिति में तुरन्त ही व्रण के ऊपर के भाग पर तंग बंध लगा देना चाहिए व उसे प्रत्येक १० या १५ मिनट बाद २० या ३० सैकण्ड के लिए बारम्बार ढीला करते रहना चाहिए जिससे कोथ की उत्पत्ति न हो। बरफ या शीतल बन्ध लगा कर विष का निर्हरण प्रचूषण द्वारा करने की चेष्टा करनी चाहिए; किन्तु ऐसा करते समय मुख में व्रण न होने चाहिए। व्रण का छेदन कर उपयुक्त रासायनिक द्रव्य से विष को क्लीब कर देना चाहिए।

त्वचा या व्रण पर प्रयुक्त, योनि, गुदा या मूत्राशय में प्रविष्ट विष को, उन भागों को प्रचुर मात्रा में पानी द्वारा धो कर अथवा निर्दिष्ट रासायनिक घोलों द्वारा निर्विष करना चाहिए।

यदि विष निगला गया हो तो आमाशय प्रक्षालन द्वारा उसका निर्हरण करना चाहिए। यदि विष निगलने के २ से ५ घण्टों के भीतर ही यह क्रिया की जाय तो वह अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होती है। एतदर्थ आमाशय-उदञ्च अथवा एक रबर की नली आधा इंच व्यास की व लगभग ६ फ़ीट लम्बी ली जानी चाहिए जिसके एक छोर पर काच का निवाप (Funnel) लगा हो। इसके २० इंच के निशान तक शुद्ध घी से स्निग्ध कर वह नली मुँह द्वारा आमाशय में प्रविष्ट कर देनी चाहिए। ऐसा करते समय जिह्वा को अंगुली द्वारा ग्रसनी (Pharynix) के पीछे दबानी चाहिए। शनैः-शनैः २० इंच के निशान की प्राप्ति तक प्रविष्ट करते रहना चाहिए। प्रक्षालन करने के पूर्व यह विश्वास हो जाना आवश्यक है कि नली आमाशय में है, श्वास नलिका (Trachea) में नहीं है। रोगी को बायें पार्श्व सुलाना चाहिए व उसका शिर शय्या के ऊपले केसे नीचे लटकता रहना चाहिए जिसे एक परिचारक सम्भालता रहे। लगभग ½ पिंट उपयुक्त घोल नली के ऊपर स्थित निवाप द्वारा डाला जाय। जब निवाप रिक्त हो जाय तो उसके नीचे वाली नलिका को अंगुष्ठ व अंगुली से संपीडन कर आमाशय के तल से नीचे कर दी जाय जिससे निनाल क्रिया (Syphon action) द्वारा सभी अन्तर्वस्तुएं खाली हो जावें। यह क्रिया पुन: पुन: तब तक दोहराई जाय जब तक कि स्वच्छ व निर्गन्ध तरल बाहर न आ जाय। प्रथम

धोवन का अंश रासायनिक विश्लेषण व परीक्षणार्थ सुरक्षित रखा जाय। नलिका को आमाशय से निकालने के पूर्व उसी से आजातु शुल्लीय (Magnasium Sulphate) या क्षारातु शुल्वीय (Sodium Sulphate) २५० (ml.) म. ल. निवाये पानी मे; अथवा चन्द्रक्षार २ माशा ३०० ml. पानी में, या १०० ml. मद्रसा तरल (Liquid Parathin) १५० ml. पानी में मिला कर अथवा अन्य निर्विषकर्त्ता औषधियां आमाशय में डाल देनी चाहिए।

अधिमूर्च्छित रोगी की श्वास नलिका में कृश रबर नलिका (Catheter) प्रविष्ट करनी चाहिए। इसके पूर्व भिंचे दांत खोल कर मुख-खोलक-यंत्र (Mouth Cag) लगा देना चाहिए व ८ से १२ नम्बर तक के फ्रैंच कैथेटर शिशुओं व बालकों के लिए प्रयुक्त करने चाहिए जो लगभग १० इंच लम्बे हों, जिससे वे आमाशय में पहुँच सकें।

आमाशय नलिका दाहक विषों के लिए प्रांगविक अम्ल (Carbolic Acid) के अतिरिक्त कदापि प्रयुक्त नहीं की जानी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से अनिष्ट परिणाम हो जाते हैं। क्षोभक विषों मे भी नलिका सावधानी से प्रविष्ट करनी चाहिए।

नलिका के अभाव में वामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए या अंगुली या पंख मुंह में डाल कर वमन करानी चाहिए। प्रसंगवश कुछ वामक द्रव्य नीचे दिये जा रहे हैं:—

१. सैंधव लवण २ तोला या राजिका चूर्ण १ तोला, उष्णोदक ४ छटांक के साथ पिलायें।

२. केवल उष्णोदक प्रचुर मात्रा में पिलायें।

३. मैनफल ½ तोला उष्णोदक से, आदि।

यदि रोगी ने केरोसीन तेल या तीव्र क्षार या अम्ल खाये हों तो वमन कराना निषिद्ध है। यथावश्यकता स्वेदल, मूत्रल, व विरेचक औषधियां भी दी जानी चाहिए।

२. प्रतिविषों द्वारा विष निर्हरण:—

प्रतिविषों के प्रयोग विषों को निष्क्रिय करते हैं। इनके ३ प्रकार हैं:—

(क) यांत्रिक

यांत्रिक प्रतिविष वे हैं जो अपनी यांत्रिक प्रक्रिया से विष को अक्रिय कर देते हैं— यथा २ से ४ रत्ती की मात्रा में प्रयुक्त लकड़ी के कोयलों का श्लक्ष्ण चूर्ण कतिपय विषों का प्रचूषण करता है व अपने रंध्रों में लगभग सभी प्रांगारिक और कतिपय खनिज विषों का प्रतिधारण कर लेता है। इसी प्रकार स्नेह, तैल एवं अण्डे की श्विति श्लैष्मिक कला पर एक आवरण उत्पन्न कर विष क्रिया को रोक देते हैं व प्रपुंज्ज भोजन खाए हुए काच को अपने छिद्रों में लपेट लेता है व काच की विषक्रिया को रोक देता है।

(ख) रासायनिक

रासायनिक प्रतिविष वे हैं जो उनके सम्पर्क में आने वाले भक्षित विषों को अघातक व अघुलनशील यौगिक बना कर उनकी क्रिया का प्रतिविधान करते हैं। उदाहरणस्वरूप १. अम्लों के क्षार २. खनिज अम्लों के भ्राजा (magnesia) व क्षारीय प्रांगारीयण (aikal-ine Carbonates), ३. तिग्मिक अम्ल (oxalic Acid) के लिए चूर्णक (lime), ४. क्षाराभ (al Kaloids) के दिए श्विति (al bumin) व शल्कि (tannin) ५. नाग के लिए क्षारातु शुल्कीय (Sodium Sulphate)

यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सदैव केवल ऐसे ही द्रव्य एतदर्थ चुने जांय जो स्वयं अनपकारिन प्राय हों, जिससे उनके अति प्रयोग से भी अपकार का भय न रहे। उदाहरणस्वरूप दह क्षारक (Caustic Alkali) के सिरका या नींबू स्वरस ही प्रयुक्त किए जाँय खनिज, अम्ल, यथा- लवणाम्ल गंधकाम्ल आदि न काम में लाए जांय क्योंकि ऐसे प्रतिविष मूलविष की भाँति घातक हो जाते हैं।

यांत्रिक प्रतिविष

महत्वपूर्ण रासायनिक प्रतिविषों में आधुनिक विद्वान् दहातु अतिलोहकीय (Potassium Permangnate) को उच्च स्थान देते हैं। अहिफेन विष भक्षी को एक पिंट शुद्ध जल में इसका ५ से ८ रत्ती प्रक्षेप कर, घुलने पर पिलाते हैं। यह पदार्थ अपने जारेय गुण धर्म से रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा उक्त विष को अक्रियाशील कर देता है। इसका प्रयोगजारेय-द्रव्यों द्वारा विषाक्तों पर भी होता है यथा भास्वर Phosphorus उदेश्यामिक अम्ल श्यामेय hydrocy-anic acid Cyanides), कोलमिहिक अम्ल (Barpituric acid) व उनसे व्युत्पन्न विष, प्रमोली (Morphine) बार्हती (atropine) इत्यादि अन्य क्षाराभ। विष भक्षी जितना पी सके, वमन के पूर्व व पश्चात्, उक्त घोल उसे पिलाया जाय। यदि वह मूर्च्छावस्था में हो तो यही घोल उदर उदञ्च की सहायता से प्रविष्ट किया जाय। ऐसा करने के पूर्व वैद्य को चाहिए कि पुलिस व न्यायाधीश की जानकारी के लिए उदर को शुद्ध जल से धोकर उदर से प्राप्त धोवनकोरासायनिक जांचकर्त्ता के लिए बोतल में भर, नामपत्र (lable) लगा कर व सील करके रख दे क्योंकि दहातु अतिलोहकीय घोल से धोने के पश्चात् विष भक्षण का पुष्ट प्रमाण विद्यमान नहीं रहता। यदि शुद्ध जल से धोने में विलम्ब हो जाने से ऐसी स्थिति आने का संदेह हो कि रोगी प्राण त्याग देगा, तो उसके प्राणों की रक्षा के लिए वैद्य सहसा दहातु अतिलोहकीय घोल प्रयुक्त कर देने को भी मुक्त है।

यदि दहातु अतिलोहकीय अप्राप्त हो तो उस समय जम्बुकी निष्कर्ष (Tincture Iodine) का घोल, $\frac{1}{2}$ गिलास गरम पानी में १५ बूंद के हिसाब से मिला कर उदर प्रक्षालनार्थ बना कर प्रयुक्त करे, यह घोल क्षाराभों को तलछट कर देता है।

जहां संदिग्ध विष का संदेह हो अथवा १ से अधिक विषों के मिश्रण वाले संयोजक विष का संदेह हो वहाँ लकड़ी के कोयले का चूर्ण २ भाग शल्किक अम्ल (Tannic Acid) १ भाग व आजा (Magnesium Oxide) १ भाग मिलाकर १ गिलास पानी में उक्त मिश्रण २-३ तोला घोल कर पिलावें।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुभवानुसार लकड़ी के कोयले की १ माशा भर की मात्रा लगभग ४ रत्ती विष तिंदुकसत्व (Strychnine) के लिए प्रर्याप्त है। शल्किक अम्ल (Tannic Acid) क्षाराभों, मधुमेय (Glucosides) व अनेक अन्य खनिज विषों को तलछट कर देता है। आजा (Magnesium oxide) अम्लों को अक्रिय करता है और मल्ल का प्रति विष है। वैसे मल्ल का अधिक प्रभावशाली प्रतिविष तो जलीपित आयसिक जारेय (Hydrated Ferric oxide) है, किन्तु यदि वह न हो तो आजा से काम चलाया जाना चाहिये।

क्रिया-विरुद्ध प्रतिविष :—

ये शरीर की ऊतियों पर प्रभाव डालते हैं, विषों व विकरों (enzymes) पर प्रतिकूल क्रिया करते हैं। यदि चयन करने में त्रुटि रह जावे तो क्रिया-विरुद्ध प्रतिविष स्वयं मारक हो सकते हैं। बार्हती (atropine) का प्रयोग प्रमोमी (Morphine) के प्रतिविषके रूप में किया जाना आधुनिक विद्वान बताते हैं किन्तु ऐसा करने से प्रेरकचेता को पक्षाघात हो जाने का भय व उससे मृत्यु हो जाने की संभावना रहती है। अस्तु सावधानी से ही प्रति विषों का चयन करना चाहिये। बार्हती (atropine) एवं नमतफली (Pilocarpine), विष तिंदुक सत्व (Strychnine) एवं दुरेय (Bromides) नीरसु जलेद सह (with chloral hydrate), सूचीवीणा घण्टा एवं वत्सनाभ, समोहन (Chloroform) एवं मण्डल भूयित (anyl Nitrite) विशुद्ध क्रिया विरुद्ध प्रतिविष हैं। भल्लातक विष के लिये श्वेततिल+बकरी का दुग्ध+नवनीत क्रिया विरुद्ध प्रतिविष है। आदि।

आधुनिक विद्वानों का "बाल" (British Antic Lewisite) नामक रासायनिक यौगिक मल्ल अथवा पारद विष का उत्तम क्रिया विरुद्ध प्रतिविष है। यह देह की उक्त कोशाओं पर क्रिया करता है एवं ऊति विकरों (Acsine enzymes) में शुल्वोदल शाखिका (sulphydryl radicles) के साथ धातुओं को सम्मिलित होने से रोक कर उन धातुओं का विस्थापन करता है और ऊतिरस की ओर धकेलता है। विशेषतः वह प्रसर (Plasma) की ओर व वहां से मूत्र की ओर धकेलता है। इस भेषज के प्रयोग से मूत्रोत्सर्ग में वृद्धि होती है।

पहले २ दिन १० प्रतिशत "बाल" (B.A.L) व २० प्रतिशत धूपल (Benzyl) धूपीय (benzoate) का, भूमुद्गतैल (arachis oil) में बना घोल २ मीलीलीटर की मात्रा में पेश्यन्त गहरे वेध द्वारा नितंब देश में ४-४ घटे से प्रविष्ट किया जाता है। तदनु १० दिन

तक दिन में २ बार किया जाता है। इस यौगिक का प्रयोग सुवर्ण, भिदातु (Bismuth) आदि भारी धातुओं के विषों मे भी लाभदायक है। यकृत के क्षतिग्रस्त होने की दशा में इसका उपयोग निषिद्ध है। सोम शुल्बोय (Ephedrine Sulphate) की १।४ रत्ती की मात्रा इसका दर्प, यदि हो जाय, नष्ट करती है।

इसी प्रकार 'प्राणघातक' (Lethidrone) जो कि प्रमीली (Morphine) से बनता है वह प्रमीली, मीली (Codeine) शुक्त प्रमीली (Heroin), पैथोडीन (Pethidine) व प्रोद-मीली (Methadone) के विषों का सफल प्रतिविष है जो लीलया श्वसनक्रिया को सुधारता है व रक्तचाप के निपात को भी नियंत्रित करता है। इसका प्रयोग १/४ से १/३ रत्ती की मात्रा में शिरान्त, पेश्यन्त अथवा अधश्चर्मीय अंतर्वेष्ट द्वारा होता है। विष की प्रबलता-नुसार १५-१५ मिनट से अथवा ३-३ घंटों से किया जाता है।

चूर्णातु द्विक्षारातु वर्सीनेट (Calcium disodinm versenate) नामक नखरी अभिकर्ता नागविष का विशिष्ट प्रतिविष आधुनिकों ने खोज निकाला है। यह अन्य भारी खनिजों यथा ताम्र, केत्वातु (Cobalt), मृज्यात (Cadmium), रूपक (Nickel) व लोह (iron) आदि विषों पर भी उपयोगी है। इसका प्रयोग ५ प्रतिशत मधुम (Glucose) विलयन के मंथर शिरांत प्रवेश के साथ किया जाता है। मात्रा—१ कीलो मधुम विलयन में १/५ रत्ती ५ दिन पर्यन्त, एवं २ या ३ दिन तक आवश्यकतानुसार पुनरावृत्ति। इस औषधि की वटी ०.५ ग्रे० की मंद विष मे दिन में ४ बार दी जाती है।

देह में प्रणालियों में शोषित विषों का निर्हरण

ये प्रचुर मात्रा मे शिरामार्ग से प्रविष्ट होनें पर तरल विषोत्सर्जन में वृक्क की सहायता करते हैं। इसमे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अब्धातु को वृद्धि से कहीं क्लोम शोथ न हो जाय।

वामक, विरेचक, स्वेदल व मूत्रल औषधियां यथा मदनफल, चौंक, जायफल, अतीस, शोरा, यवक्षार आदि का प्रयोग इस कार्य के लिए किया जाता है। पूर्वाचार्यों ने एतदर्थ कई सफल प्रयोगों का उल्लेख किया है।

वृक्कावसाद की दशा में आधुनिकों द्वारा उदरगुहीय श्याश्लेषण (Peritoneal dialysis) किया जाता है।

कृत्रिम वृक्क कई विषों में उपयोगी होता है—यथा कोलमिहेय (Barbiturates) दुरेय (Bromide) टांकिक अम्ल (Boric Acid) नम्रलीय (Salicylates) एवं प्रोदल सुषव (Methyl Alcohol) में। रक्त हस्तान्तरण क्रिया, जिसमें नूतन आगामी रक्त प्रांगारएक-जारेय (Carbon Monoxide) व लोह लवणोंयुक्त हो वह बालकों में हितावह है।

साधारण उपद्रवों की उत्पत्ति एवं उनके उपचार

विषभक्षी के निम्न उपद्रवों का उपचार तुरन्त करना श्रेयस्कर होता है—

१. अभिघात, २. शूल, ३. अपर्याप्तश्वसन के कारण जारा (Oxygen) की कमी, ४. पारिणाहिक-परिचलन - समवसाद, ५. आक्षेप ६. अधिमूर्च्छा ७. यकृत अवसाद ८. श्वसनीसंसर्ग व ९. वृक्कद्वारा मूत्रनिर्माण बंद होना।

अभिघात में रक्तचापन्यूनता, वेगवती नाड़ी, स्वेदक्लिन्नचर्म, मंदतापक्रम, पीताभता की उपस्थिति प्रायः पाई जाती है। कभी कभी देहनीलता, अतिभार, वमन व उदर शूल क्षोमक एवं दाहक विषाक्त रोगियों में पाये जाते हैं।

अब्धातु न्यूनता, शूल एवं विगोपता मुख्य स्तम्भ हैं जो विषाक्तों में अभिघात उत्पन्न करते हैं, एवं कालान्तर में वृक्क अथवा यकृत पर दुष्प्रभाव डाल कर उनका अवसाद व तत्पश्चात् अभिघात उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार श्वसनीय संसर्ग या रक्त-प्रवाह भी अभिघात उत्पन्न करते हैं।

ऐसे उपद्रवों की शांति के लिए निम्न उपचार प्रशस्त हैं :—

१. रोगी को कम्बलों से ढक दें जिससे कम्प में लाभ हो। एतदर्थ बोतलों (गरम पानी वाली) व विद्युत आदात्राशय का प्रयोग नहीं करें। यदि तापमान १०२ फा. हा. से अधिक हो तो गरम पानी के तोलिये के प्रयोग से उसे न्यून कर दिया जावे।

२. मस्तक को निम्न तल पर रखे व पैरों की तरफ शैय्या के नीचे ९ इंच ऊंची ईंटें या पत्थर रखे जायं जब तक कि रक्त की हृत्कुंचन निपीड १०० एवं हृत्स्फारे निपीड ६० तक न आ जाय।

३. रक्ताल्पताजन्य अभिघात में रक्त-संक्रामण लाभदायक होता है। अभाव में ३ पाव के लगभग रक्त, प्ररस, या उसके प्रतिनिधि यथा शर्करा (Dextran) आदि प्रदान कर ५ प्रतिशत मधुम-साधारण लवण सहित का घोल ३ से ४ पिंट चढ़ा दें। यदि मूत्र की मात्रा २४ घण्टों में २५ तोला से न्यून हो जावे तो केवल ५ से ३० प्रतिशत मधुम का परिष्कृतवारि में बना घोल प्रयुक्त किया जाय। पारिणाहिक परिचलन समवसाद में ऋजु उपवृक्क द्रप्सन (Nor-adrenative drip) प्रयुक्त की जाय एवं रक्तचाप पर निरन्तर टकटकी रखी जाय व कालान्तर मे मैथेड्रीन नामक औषधि को १५ से ३० मिली ग्राम की मात्रा में शिरा मार्ग से प्रविष्ट की जाय। हृदय ग्रह हो तो तुरन्त बाह्य अभ्यङ्ग या हृदय में ३० मिलीलीटर की मात्रा में १ प्रतिशत अन्ववेतनी उदनीरेय (Procaine hydrochloride) या ३ मिली लीटर मात्रा में ५ प्रतिशत दहातु नीरेय (Potascium chloride) या १० प्रतिशत चूर्णातिनीरेय (Calcium chloride) २ से ४ मिलीलीटर की मात्रा में प्रविष्ट किया जाय।

४. शूल के लिए प्रमीली शुल्वेय (Morphine Sulphate) की १/६ से १/४ रत्ती अधश्चर्मी

सूची द्वारा प्रदेश अथवा पैथोडीन ५० से १०० मिली ग्राम पेशीय सूची द्वारा प्रवेश करना उत्तम माना गया है किन्तु यकृत के रोगी, श्वलन अवसाद आदि में इसका प्रयोग निषिद्ध है। बाहंती १/२०० रत्ती उदरशूल में व ३/४ से १ १/२ रत्ती ल्नूमीनोल या ५ से १० मिलीलीटर परासुव्युद Paraldehyde) पेश्यन्त सूची द्वारा प्रवेश करना आक्षेप व बेचैनी में उपयोगी है। विष तिन्दुकीसत्व (Strychnine) विष भक्षण से उत्पन्न आक्षेपों में कटुविषी अन्यचेतनी (Picrotoxin Procaine) का प्रयोग शिरामार्ग से फलप्रद होता है।

५. सभी अचेत रोगियों के लिए हवा के मार्ग मुक्त रखे जांय। वमन अंगुलियों के प्रयोग से कराई जाय। भिचे दांत खोलकर जिह्वा को अन्दर धँसने न दी जाय। मुख खोलक यंत्र (Mouth Gag) के प्रयोग से दांत चिपकने न दिये जांय। क्लोम शोथ की दारुणता नष्ट करने जरिय (Oxygen) प्रचुर मात्रा में दी जाय। वह नासिका कैथेटर से ५ से ६ लीटर प्रतिमिनट चढ़ाया जाय। जरिय को पानी के स्थान पर यथावश्यकता २० प्रतिशत दक्षुल सुषव (Ekhyl Alcohal) के साथ चढ़ाया जाय। प्रमीली व तिक्तीपर्णीय (Aminophyline) भी लाभप्रद है।

कृत्रिम श्वसन भी करवाना चाहिये। उदसर्ग वृद्धि सहित संतापीय वायु या धूम के कारण क्लोमनलीयग्रह में शुश्वीय वाहंती (Atropine Sulphate) १/१२० रत्ती का सूचोवेध या सोंम सुख द्वारा दिया जाना चाहिये। श्वसनीय संक्रमण की रोक थाम प्रति जैविकी (Antidiotics) यथा ५ से १० लाख इकाई के स्फट्य कूर्चंकी (Crystalline Penicillin) १/४ रत्ती स्ट्रेप्टोमाइसीन के साथ दिन में दो बार मांसपेशी द्वारा प्रविष्ट किया जाय। अथवा विस्तृत रंगावली प्रति जैविक यथा सूचीवेध या मुख द्वारा ऐक्रोमाइसीन का प्रयोग किया जाय। वायु-सन्ताप के कारण उत्पन्न फुफ्फुस से प्रतिक्षेप, चिरकालीन वमन, केन्द्र के विक्षोभ अथवा वृक्क या यकृत अवसादजन्य वमन का उपचार शिरा द्वारा मधुम प्रविष्ट कर करना चाहिए। क्षारातु मंडुक (Sodium Finytal) ल्यूमीनोल या बाहंती या लार्जेक्टल आदि शामक औषधियों का प्रयोग भी प्रशस्त है किन्तु यकृत अवसादयुक्त रोगियों को ये नहीं दिये जायेंगे।

१/६ या १/१२ रत्ती प्रमीली शुल्वीय (Morphine Sulphate) के सूचीवेध से क्लोम-शोथ का उपचार करना चाहिए व क्लोमनलीय ग्रह (Bronchial Spacine) का उपचार शिरा द्वारा तिक्ती पर्णयि (Aminophyline) द्वारा व जारेय (Oxygen) द्वारा किया जाना चाहिए।

रोगी की आहारपोषणीय स्थिति का सावधानीपूर्वक ध्यान रखना चाहिए। ५ से १० प्रतिशत मधुम कोल ३ लीटर तक प्रतिदिन दिया जा सकता है किन्तु सावधान रहना है कि अंत-प्रविष्ट तरल विनष्ट तरल से अधिक न हो जाय। कभी-कभी उदरनलिका से भी आहार व्यवस्था करनी पड़ती है।

विष के विप्रकष्ट 'प्रभावों का भी सम्यग्तया उपचार करना चाहिए, यथ व्राण, संकोच प्रवृत्ति आदि दाहक विषों में व मल्ल चिर विष में चेता कोप।

दक्ष काक मयूराणां मांसासृक मस्तके क्षते।
मूर्ध्नि देयमधो दष्टस्य र्ध्वदष्टस्य। च. चि. २३। ८१

यदि देह के नीचे के भाग में दष्ट हो तो मस्तक पर काक पदाकार क्षत करके ऊपर मुर्गा, कौवा या मोर का रक्तयुक्त मांस रख देना चाहिये। यदि देह के ऊपर के भाग में दश हो तो दोनों पैरों में क्षत करके वहां वह रक्तयुक्त मांस रखना चाहिये। ऐसा करने से विष ऊपर रखे मांस में संक्रमण कर जाता है।

सर्पदंश की अन्य चिकित्सा

१. विषस्तंभन

यह कार्य सबसे पहले रज्जुबंधन (Ligature) से होता है :—

सर्वं रेवादित: सर्पैः शाखा दष्टस्य देहिन।
दंशस्यो परिबध्नीयादरिष्टाश्चतु रंगुलैः.......
...सातु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विष प्रतिकारी मता। सुश्रुत क. ५।३ से ८ तक

यह कर्म, यथा उपदेश, केवल शाखाओं के देशों के लिए उपयोगी है 'शाखादष्टस्य' धड़ पर या शिर पर सर्प काटा हो तो इसका उपयोग नहीं होता। बधन के लिये रबड़ की रस्सी सबसे उत्तम है। रबड़ की रस्सी के अभाव में साफा, पगड़ी, धोती, रूमाल, सूतली आदि अन्य वस्तुओं का तुरन्त उपयोग कर लेना चाहिये क्योंकि समय लग जाने से विष फैलकर मृत्यु हो जाने का भय रहता है—यथा:—

मात्राशतं विष स्थित्वा देशेदष्टस्य देहिन:
कुर्याच्छीघ्रं यथा देहे विषवल्ली न रोहति। अष्टांग संग्रह

सर्प-विष अल्पकाल ही में दंश स्थान से प्रचूषित हो कर रक्त में मिल जाता है अत: चिकित्सा में शीघ्रता अपेक्षित है। दंश के दश मिनट से अधिक समय हो जाने पर यह क्रिया व्यर्थ हो जाती है। जिस स्थान पर केवल १ हड्डी हो वहीं पर अरिष्टा बंधन करना चाहिये। यदि दंश स्थान एक हड्डी के स्थान से दूर हो तो दंश स्थान के ४ अंगुल ऊपर १ बंधन और बांधना चाहिये। बंध कस कर बांधे जिससे सिरा व लसिकावाहनियों से रक्त व लसीका के प्रवाह पूर्णतया बंद हो जांय। धमनीगत रक्तप्रवाह रोकना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक २०-२० मिनट बाद ३०-३० सैकण्ड के लिये बंध ढीला कर दें ताकि शोथ न होने पावे।

२. विषनिर्हरण

दंश स्थान तथा उसके आसपास की त्वचा पानी से साफ कर चाकू आदि से भेदन

(incision) करते हुए दंश की गहराई के अनुरूप गहरा चीरा रक्तवाहिनियों एवं वात नाड़ियों को बचाते हुए लगावें। पश्चात् स्तनचूषक आदि की सहायता से रक्त निकालें। फिर एक और गहरा चीरा शोथ के किनारे तक लगावें। यदि इस क्रिया के पश्चात् भी शोथ आ जाय तो शोथ के किनारे तक १ और चीरा लगावें।

अंगुली के दंश में, जिस अंगुली के सर्प-दंश हुआ हो उसका अभ्युच्छेदन (Amputation रोगी स्वयं घरे अथवा वैद्य घरे।

> समन्ततः सिरां दंशाद्विध्येत् कुशलो भिषक्।
> रक्ते निर्ह्रियमाणेतु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्॥
> तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया। सु. क. ५।१४ व १५

इसमें दो बंध लगाये जाते हैं। पहला बंध इतना कस कर बांधा जाता है कि धमनीगत रक्तप्रवाह पूर्णतः बन्द हो जाय। इसके नीचे द्वितीय बंध लगाया जाता है जो सिरा व लसीकावाहिनियों के रक्त व लसीका-प्रवाह को बंद करता है। तदनु सर्प काटे हुए स्थान से रक्त ले जाने वाली सिरा को वेध कर ऊपर वाला बंध बीच बीच में १-२ मिनट के लिये शिथिल कर दिया जाता है जिससे धमनीय प्रवाह पुनः प्रारम्भ हो जाय। इस प्रकार ५० से ७५ तोला रक्त निकाला जाता है।

इस क्रिया के पश्चात् दहातु अतिलोहकीय (Petassium Pormenganate) को दंश स्थान पर खूब मले और ५ प्रतिशत इसके घोल से दंश स्थान का प्रक्षालन करे। २ प्रतिशत इसका घोल सूची द्वारा व पिचकारी द्वारा दंश स्थान के भीतर तथा अड़ोस-पड़ोस में १।२ इञ्च गहरा प्रविष्ट करे। इसी प्रकार श्वेतन क्षोद (Bleaching Powder) का प्रयोग दहातु अतिलोहकीय के स्थान पर होता है। सुवर्ण नीरेय (Gold Chloride) का १ से ५ प्रतिशत घोल भी इसी प्रकार उपयोग में लाया जाता है। सुवर्ण नीरेय एवं दहातु अतिलोहकीय द्वारा क्षत जो होते हैं वे अति विलम्ब से भरते हैं किन्तु श्वेतन क्षोद से यह उपद्रव नहीं होता। तिरियाक नामक औषधि (Tiriyaq) दंश स्थान पर डाल कर कपड़े की इससे भीगी पट्टी व्रण पर बांधी जाती है।

प्रतिगरल, सूची से दंश के आसपास प्रविष्ट किया जाता है। (Lyophilsed Polyvalent Anti Snake Venom Serum) नामक प्रति गरल लसिका का उपयोग प्रायः सभी सविष सर्पो के लिए उत्तम है। परिश्रुतवारि (distilled water) २० सीसी में एक मात्रा घोल कर दी जाती है। दूसरी मात्रा २० सीसी की प्रकोपानुसार २ घण्टे से व तीसरी ६ घंटे से दी जाती है जब तक कि विष-लक्षण निवृत्त न हो जांय।

उपद्रवों की चिकित्सा पूर्वोक्त प्रकार से करनी चाहिये।

वृश्चिक दंश चिकित्सा

वृश्चिक काटे हुए स्थान के कुछ ऊपर बंधन बांधे व हल्का चीरा लगा कर दहातु अतिलोहकीय के घोल से प्रक्षालन करें। काटने के स्थान पर प्राचेतनी (Cocaine) या नवाचेतनी (Novocaine) को सूची द्वारा प्रविष्ट करते हैं। यदि सूचीवेध सम्भव न हो तो नींबू के सत्व का चूर्ण उस स्थान पर रख कर पानी की २ बूंदें डाली जाती हैं जिससे वहां एक धीमी सी आवाज होकर शूल नष्ट हो जाता है। वत्सनाभ, दंतीबीज, चित्रकमूल, पुनर्नवा में से किसी एक को पानी में पीस कर लेप किया जाता है। प्याज पीस कर लेप करते हैं।

कीट पतंग दंश चिकित्सा

डंक निकाल कर उस स्थान पर जम्बुकी विलयन (Tincture Iodine) लगावें। फिर गरम सेक करे अथवा एलुवा का लेप लगावें।

अलर्क विष चिकित्सा

यह चिकित्सा संचय काल में ही व तुरंत की जानी चाहिये। कुत्ते के दंश स्थान को चारों ओर से निपीडन द्वारा पर्याप्त मात्रा में रक्त मोक्षण कराया जाय। फिर रसकपूर के घोल से धोवें व स्थान को भूमिक अम्ल (Nitric Acid) से जला दें।

कसारी एक को गुड में लपेट कर खिलाने से अलर्क विष नष्ट होता है। जल में रोगी को मुंह नहीं देखने दिया जाय।

प्रति-आलर्क (Anti Rabies) सूचीवेध इसकी सफल चिकित्सा मानी जाती है।

मकडी के विष में हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ व नाग केशर का समभाग में किया चूर्ण शीतल जल से लेप करना हितावह है। सीसक अवनेग (Lead Lotion) की पट्टी लाभकारी है।

गरविष चिकित्सा

सूक्ष्म ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्।
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्॥ च. चि. २३।२३८

हृदय-शोधनार्थ ताम्र-प्रयोग मधु के साथ व तदनु सुवर्ण प्रयोग गर विष-शमनार्थ उत्तम है।

विरुद्धाध्यशन क्रोध क्षुद्भयायास मैथुनम्।
वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवा स्वप्नं विशेषतः॥ च. चि. २३।२२७

विष के हट जाने के पश्चात् भी रोगी जब तक पूर्ण स्वस्थ न हो जाय तब तक विरुद्ध भोजन, अध्यशन, क्रोध, भूख लगने पर भी न खाना, भय, आयास, मैथुन तथा दिन में सोना त्याग दे।

अब हम कतिपय प्रसिद्ध विषों की जानकारी देते हुए विश्राम लेंगे।

दाहक विष

विष का नाम	घातक मात्रा	घातक काल	निदान	चिकित्सा
खनिज अम्ल (Mineral Acid)	सान्द्र वा संकेंद्रिकावस्था में स्वल्प भी	तुरन्त स्पर्श के बाद जलन होती है व कुछ घटों बाद कण्ठ में झटके के साथ या शोफ से मृत्यु हो जाती है। अगर २४ घटे में मृत्यु नहीं होती तो सप्ताहान्त मृत्यु होती है। जिसका कारण पूयिकप्रचूषण होता है। सप्ताहान्त के बाद मृत्यु महीनों बाद या कुछ साल बाद भूखे रहने से होती है।	मुंह में जलन के साथ दर्द होता है। जलन मुंह, गले और अंतरंग गले के हिस्से में होती है। ज्यादा मात्रा में विष के खा लेने से पेट व खाने की नलिका बुरी तरह से संक्षारित हो जाते हैं। इस दशा में वमन नहीं हो पाता क्यूंकि पेट की आंतें इसके अन्दर मौजूद पदार्थ को बाहर फेंकने में असमर्थ रहती हैं। आवाज भारी, अप्रिय एवं अस्पष्ट होजाती है। स्वासोच्छ्वास भी मुश्किल से होता है। आंखें फट जाती है व डूबीसी लगती है चमड़ी ठंडी रहती है, रक्त-	इसमें वमन कहीं करवाना चाहिये। अम्ल की संकेन्द्रिता को नष्ट करने के उपाय करने चाहिये। इसके लिए रोगी को दुग्ध में मेग्नेशियम ऑक्साइड या केल्शियम आक्साइड या एलमूनियम हाइड्रोक्साइड (कोई एक चार चम्मच दुग्ध १ पिंट) देवें। अगर श्वास के लेने में कुछ कठिनाई आवे तो कृतिम श्वास दिया जाना श्रेयस्कर है। दर्द से छुटकारा दिलाने के लिए अमीली का अन्तःक्षेप दिया जाना अच्छा रहता है। इसमें चन्द्रक्षार या किसी क्षारीय अंगारीय को नहीं देना चाहिये अन्यथा पेट की नली का निच्छिद्रण हो जाने का डर रहता है। अंडे की सफेद जर्दी, पिघला हुआ घी, जौ का पानी, साबुन का पानी तुरन्त देने से फायदा होता है। अगर अम्ल आंख में किसी कोमल अंग पर गिर गया है तो ३० मिनट तक पानी या नमक मिश्रित पानी से धोना लाभकारी रहता है।

			चाय काफी कम हो जाता है, नाड़ी की गति तीव्र लेकिन निर्बल होती है। लेकिन मृत्युपर्यन्त दिमाग बराबर कार्य करता है।	
शुल्वाम्ल (काचर का तेल) H_2SO_4 Sulphuric acid	संकेन्द्रिक १ ड्राम	१८ से २४ घण्टे	अगर अत्यंत संकेन्द्रिक अम्ल हुआ तो थोड़ीसी मात्रा से ही दम घुटकर मृत्यु होजाती है। विष खाये हुये व्यक्ति के मुख व गले में फफोले पड़ जाते हैं व ऐसा दिखता है जैसे उसका अंग जल गया हो।	सामान्य चिकित्सा में देखिये।
भूयिक अम्ल HNO_3 Nitric acid	संकेन्द्रिक २ ड्राम	१२ से २४ घण्टे	होठ, जिह्वा, श्लेष्मल कला ढीली पड़ जाती है और सफेद हो जाते हैं। कुछ देर बाद ये पीले होजाते हैं। दांत भी पीले पड़ जाते हैं। और दूसरी चमड़ी व कपड़े जो इस अम्ल का स्पर्श पाते हैं। पीले	

			पड़ जाते हैं । अगर ऐमोनिया का घोल इन पर डाला जावे तो ये पीले धब्बे नारंगी रंग के हो जाते हैं । जबड़ों का जुड़ जाना व संज्ञा नाश होना इसके विशेष रूप हैं ।	
उदनीरिक अम्ल HCl Hydro Chloric acid व विडीयिक अम्ल Muratic Acld	संकेन्द्रिक ४ द्राम	१८ से ३० घण्टे	यह अम्ल उपरोक्त अम्लों से कम कार्यशील है अतः इसके लक्षण व स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते । न तो ये चमड़ी पर धब्बे डालता है नही कपड़ों पर। गहरे रंग के कपड़ों पर यह रक्तिम भूरे रंग के धब्बे डालता है । इससे विषाक्त रोगी के होठों का पक्षाघात हो जाता है । यह इसका विशेष रूप है ।	सामान्य चिकित्सा में देखिये ।
उदतरस्विक अम्ल (H F.) Hydro Fluoric acid	४ द्राम	कुछ मिनट से २ घण्टे तक	जलन, वमन, समवसन्नता इसके लक्षण हैं । इससे बने जलन के घाव मुश्किल से भरते हैं । इससे विषाक्त रोगी के पेट में दर्द, वमन व उदरनलिका का निश्छिन्द्रण हो जाता है । रोगी	दुग्ध व अरण्डी का तेल विरेचक के रूप में देने चाहिए । चमड़ी के घाव धोने के लिये अम्ल के गिरने के तुरन्त बाद सोड़े के घोल से ग्रसित अंग को धोना चाहिये ।

			का मस्तिष्क व वृक्क क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। कण्ठ द्वार के बन्द होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।	
तिग्मिकाम्ल Oxalic acid COOH]	४ शाण	१ से २ घण्टे	तृषा, शूल, जलन, अम्लीय-स्वाद ये इसके लक्षण है। ये सब, मुंह, गले और पेट में महसूस होते हैं। शीघ्र ही वमन होने लगता है। और मृत्यु-पर्यन्त होता रहता है। वमन किया हुआ पदार्थ हरित-भूरा या काला (कॉफी से मिलता हुआ) होता है। कभी कभी वमन नही भी होता। बलात्मलोत्सर्जन की प्रवृत्ति (Tenesmus) होती है। लेकिन मलोत्सर्जन नहीं होता, कम होता है। अंग सुसुप्त होते हैं। नाड़ी की गति धीमी, निर्बल व व्याकुल होती है। श्वास त्वरित व उखड़ा हुआ होता है। समावसन्नावस्था अधिमूर्च्छावस्था में बदल जाती है व अन्त में मृत्यु हो जाती है।	चाक, अण्डे की सफेद जर्दी, दुग्ध के साथ दें। चूने का पानी सर्वोत्तम औषध मानी गई है। रोगी को क्षार (तीव्र) व ज्यादा पानी न दें। अरण्डी का तेल विरेचक के रूप में दें।

प्रांगविक अम्ल Carbolic Acid OH	४ ग्राम	२ से ४ घण्टे	संकेन्द्रितावस्था में खाये जाने पर शीघ्र ही खाने के बाद मुंह में जलन पैदा करता है। मुंह, गले व पेट में जलन व वमन होता है। वमन फेनीय साम पदार्थ निकलता है। वमन के कुछ देर बाद भ्रम होता है व समाव-सन्नावस्था को रोगी प्राप्त होता है। समावसन्नावस्था कुछ ही देर में अधिमूर्छावस्था में बदल जाती है। चेहरा पीला या श्याम वर्ण का हो जाता है। पुतलियां सिकुड जाती है। ताप-क्रम अधः-सामान्य हो जाता है व शरीर की त्वचा ठडी व क्लिन्नः हो जाती है, मुह कड़ा पड़ जाता है व सफेद हो जाता है। नाड़ी की गति लघु व दुर्बल होती है। श्वास धीमे २ आता है। श्वास में प्रांगविकाम्ल की गंध होती है। जबडी का जुडना व शरीर का एकदम सिकुड़ना भी सम्भव है। मृत्यु श्वसनीय प्रकरण केन्द्र के पक्षाघात से होती है।	साधारण वमन करवाने वाले पदार्थ वमन करवाने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि प्रांगविक अम्ल उदर नली को संज्ञाहीन कर देता है। अतः प्रथम उदर को उदर नलिका से खूब मात्रा में कोष्ण जल से धोना चाहिये। पानी में कुछ साबुन का घोल अथवा माधुरी (Glycerine) मिला कर धोना चाहिये। जब धोये हुए जल में एक खास किस्म की बू का आना बन्द हो जावे तब ५ तोला अरडी का तेल रोगी को देना चाहिए। सुषव इसमे नहो देना चाहिए। लेकिन त्वचा पर इसके कारण (Alcohal) बने घावों को धोकर दक्षुल सुषव (C_2H_5OH) और अरंडी का तेल लगाना अच्छा रहता है।

शुक्तिक अम्ल CH_3COOH Acetic Acid	१ शाण	१ से ४८ घंटे	शरीर का जो कोई भाग इससे छूता है नर्म हो जाता है व पीला मिश्रित सफेद रंग का हो जाता है। मुंह से पेट तक तीव्र शूल होता है। वमन, निगलने में कष्ट, आक्षेप व समावसन्नता इसके अन्य लक्षण हैं, इससे स्वास में रुकावट भी होती देखी गई है। काल भेद इसका निरन्तर स्वरूप है।	चूने का पानी देकर अम्लत्व दूर करना चाहिए, फिर दूध पिलाना चाहिए, दर्द से छुटकारा दिलाने के लिए प्रमीली का अतक्षेप देना चाहिये।
न्यासविक अम्ल (Tastaric acid) CHOH COOH | CHOH COOH	३/४ से १ तोला	७ से ९ दिन में	इसकी प्रकृति क्षोभक ज्यादा है बनिस्पत संक्षारण के। मुंह, गले व पेट में जलन होती है व वमन होती है। थकावट से मृत्यु सम्भावित है। कभी कभी आक्षेप भी हो सकता है।	चूने का पानी अम्लत्व दूर करने के लिये दे। विरेचन अरंडी के तेल से करें व प्रमीली अन्तःक्षेप से दर्द से छुटकारा दिलावें। चन्द्रक्षार १ से २ रत्ती दें।
कास्टिक पोटास KOH दहर्सजि ,, दहविक्षार (Sodium Hydroxide ,, or Caustic Soda) ,, NaoH ,,	१ १/४ माशा	२४ घंटे	जिह्वा का स्वाद कटु, स्निग्ध हो जाता है। वमन किया हुआ पदार्थ प्रबल क्षारीय होता है। जमीन पर पड़ने के बाद बुलबुले पैदा नहीं करता दस्त आना इनका विशेष	प्रथम क्षारत्व को दूर करने के लिए नीम्बू का रस या कोई और हलका प्राकृतिक अम्ल देना चाहिए फिर उदर को उदर नालिका से धोना चाहिए। धोने के बाद घृत, अण्डे की सफेद जर्दी देनी चाहिए। बर्फ के टुकड़े देना भी अच्छा रहता है। प्रमीला का उपयोग दर्दशमन के लिए किया जा सकता है।

यवक्षार K_2Co_3	,,			
सज्जीक्षार Kta_2 Co_3	२½ माशा		लक्षण है। दस्त के वक्त दर्द होता है। मल में खून व आंव निकलते हैं। इसमे उदर व मुंह में जलन होती है और बाद में यकृत के क्षत होने का भय रहता है। दम घुटने से भी मृत्यु हो सकती है।	
चूना[$Ca(OH)_2$] Calcium Hydroxide	बहुत ज्यादा खाने पर	२४ घंटे	मुंह, पेट, गले में जलन, वमन, उबाक, तृषा, ठण्डी व गीली चमड़ी, तीव्र, निर्बल नाड़ी, समासन्नावस्था और बाद में मृत्यु।	

क्षोभक विष

फेनाश्म (Arsenic)	२ ग्राम	१२ घंटे से ४८ घंटे	विषखाने के आधे घंटे बाद रोगी को ग्लानी व अवसाद महसूस होते हैं व उबाक आती है। फिर गले में व पेट में जलन होती है। निरन्तर तृषा व वमन इसके मूल लक्षण है। पहले वमन में उदर में स्थित पदार्थ निकलते हैं बाद में कुछ खून व आम निकलता है। इसका रंग गहरा-भूरा, पीला हरा व आसमानी होता है। ज्यादा मात्रा में बिना कुछ लक्षण दिखाए मृत्यु हो जाती है।	प्रथम कार्य इस विष के शमन के लिए विरेचन है। लेकिन अम्लीय विरेचक काम में नहीं लेने चाहिए। विरेचन के बाद शुद्ध घृत पिलावें। जौ का पानी पिलावें। प्यास बुझाने को बर्फ के टुकड़े दें। शरीर की गर्मी गर्म पानी की थेलियों के सेक से स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए। हृदय को सबल करने की औषधि देना भी उपयोगी सिद्ध होगा।

भास्व्य Phosphorus (वात नाडी प्रभावक)	½ से १ रत्ती	४ घण्टे से ७ दिन	शीर्षगत प्रभाव मूर्च्छा व मृत्यु दस्त हैजा की अवस्था के समान आते हैं।	साधारण चिकित्सा प्रकरण देखे।
Potassium cyanide KCN	५० मि०ग्रा०	तत्काल मृत्यु	जिस अंग में घाव हो वहां पर यह लग जाए तो उस अंग को काटकर वहा का खून निकाल देना चाहिए रक्त में एक बार यह मिल गया तो मृत्यु निश्चित है।	नहीं मालूम
घासलेट, मिट्टी का तेल, किरोसीन	१० मि० ली० से २५० मि० ली०	४ घटे से ४८ घंटे	उबाक, वमन, खांसी, ज्वर, कमजोरी, अवसाद, धीमा व उच्छ्रश्वास, मूर्छा, अधिमूर्छा व इसके बाद मृत्यु यह इसके रूप हैं। मृत्यु का कारण श्वासावरुद्ध होना है। पहले आंखे सिकुड़ती है बाद में अधिमूर्छावस्था में फैल जाती है।	उदर को धोना चाहिए। धोने के लिए चन्द्रक्षार मिश्रित कोष्ण पानी काम में लेना चाहिए। अगर श्वास रुकने लगे तो कृत्रिम श्वास देना चाहिए। शेष साधारण चिकित्सानुसार
पारद व उसके योगिक मर्क्यूरिक क्लोराइड	३ से ५ मा०	३ से ५ दिन	आधा घंटे बाद लक्षण दिखाइ देते हैं। गले में अवरुद्धता, स्वर कर्कश, श्वासावरुद्धता, मुख, जिह्वा व मसूडे क्षरित हो जाते हैं व उन पर भस्मांगश्वेत आवरण देखा जाता है। गरम जलन मुंह में महसूस होती है जो गले व पेट तक फैलती जाती	अगर स्वतः वमन नहीं हो रहा हो तो कोई वामक दे कर उदर को धोना चाहिए। धोने के लिए आजातु प्रागारिक ($MgCo_3$) मिश्रित गरम पानी काम में लेना चाहिए। अण्डे का सफेद भाग व वनस्पति आश्लेष (Vegitabla gluten) + माथित तक्र दीर्घ मात्रा में

			है। नाड़ी की गति लघु, तीव्र व व्याकुल होती है लक्षण सभी रोगियों में एक से नहीं होते। चाहे सभी ने समान मात्रा ली हो। यह ध्यान देने योग्य बात है।	देना हितकारी होता है। इसके देने के बाद प्रबल विरेचक देना चाहिए। शमनक पेय देना भी लाभप्रद है। ४ चम्मच प्राण्याङ्गार एक पिन्ट पानी में मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। आजातु शुल्बीय मिलाने से और भी ज्यादा फायदा होता है। वृक्क का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।
ताम्र व उसके लवण	अनिश्चित	१ से ३ दिन तक	विष खाने के १५ या २० घंटे बाद मुंह से लार गिरने लगते हैं, उदर में जलन, तृषा, उबाक, वमन इसके लक्षण हैं। वमन का पदार्थ आसमानी या हरा होता है। अंगों का पूर्ण पक्षाघात हो जाता है। इसके बाद डूबा २ सा लगता है। समासन्नता आ जाती है फिर मूर्छा जो कि चेतनावस्था में कभी नहीं बदलती आ जाती है व मृत्यु हो जाती है।	विरेचक की जरुरत नही। दूध व अण्डा खूब खिलावें। दर्द से छुटकारा पाने के लिए अमीली का अंतक्षेप दें।
कांच का चूरा	अज्ञात	अनिश्चित	यांत्रिक अभिचूषण से निश्छिद्रीकरण हो जाता है रोगी को झटका लगता है व मृत्यु हो जाती है।	खाने के लिए पहले चावल दें फिर वामक और विरेचक दोनों देकर उदर शुद्धि करें। समासन्नावस्था का पूर्ण सावधानी से उपचार करें।

(वातनाड़ी प्रभावक)				
दध्रु (Ether)	४ शाण	६ से ८ घण्टे	गले में जलन, पेट में जलन, वमन, आँखें धुंधली, शराब के नशे में हो वैसी हालत, खा लेने के थोड़ी देर बाद ही अचेतनावस्था को प्राप्त हो जाता है। फिर मृत्यु हो जाती है।	रोगी को प्राण वायु की अत्यन्त आवश्यकता होती है अतः दी जानी चाहिए ताकि उसका हृदय कार्य करना बन्द न कर दे।
नीरव अ्रल (Chloroform)	५% स्वांस वायु में	४ से ५ दिन	प्रथमावस्था में रोगी का शरीर संज्ञासून्य हो जाता है। रोगी अट-शंट बकने लगता है। नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है व रोगी को सारे शरीर में जलन महसूस होती है। यह अवस्था सिर्फ ४ मिनट तक रहती है फिर रोगी की आंखें निद्रावस्था में हो उस तरह बंद हो जाती हैं। यह द्वितीयावस्था है। इस अवस्था में रोगी ४० से ४५ मिनट तक रहता है। अगर स्वांस के साथ नीरवअ्रल का देना बंद कर दिया गया है तो। नहीं तो रोगी के शरीर का पक्षाघात होना चालू हो जाता है व हृदय के पक्षाघात से या जिह्वा के दबाव के कारण श्वांसावरुद्धता से रोगी की मृत्यु हो जाती है।	नीरवअ्रल की प्रतिशत घटाकर शून्य कर देनी चाहिये। सिर को नीचा करके जीह्वा को खींच कर बाहर निकालना चाहिये व कृत्रिम श्वांस देकर रोगी के श्वांस को रुकने से बचाना चाहिये व जरूरत पड़े तो प्राण वायु भी देना चाहिये।

नीरवम्रल Chloroform) का पीना	अनिश्चित	५ – ६ घण्टे	मुंह, गले व पेट में जलन। जलन के तुरन्त बाद वमन व विरेचन होता है। वमन में खून निकलता है। फिर बेहोशी आती है व रोगी अचेत हो जाता है। हृदय के पक्षाघात से या श्वसन प्रणाली के पक्षाघात से मृत्यु हो जाती है।	गरम पानी से उदर प्रक्षालन करना चाहिये उसके बाद भर पेट दूध पिलावें और प्रबल विरेचन देवें। फिर दुबारा उदर प्रक्षालन करें। इसके बाद सुरा पिलावें।
अंगार द्विजारेय (CO_2) Carbon dioxide	५% २५-३०% श्वास में मृत्युकारक ६०-७० प्रतिशत से तत्काल मृत्यु होती है।	अनिश्चित	सिर में भारीपन, भ्रम, कानों में भिनभिनाहट की आवाज, पेशियों में कमजोरी महसूस होती है। दम घुटकर मृत्यु हो जाती है।	रोगी को शुद्ध हवा में ले आना चाहिये। प्राण वायु देना चाहिये। श्वांस के रुकने पर कृत्रिम श्वांस देना चाहिये।
अंगार एक जारेय (CO)	६० से ९० प्रतिशत के सर्केन्द्रियता में वायु के १ प्रतिशत श्वांस लेने से	१ से ५ मिनट में मृत्यु होती है।	रासायनिक प्रक्रिया के कारण मृत्यु हो जाती है।	रोगी को स्वच्छ वायु देवें व कृत्रिम श्वांस दे। खुली हवा में रखें।

वानस्पतिक विष

क्र.सं.	विष नाम	मारक मात्रा	मारक काल	मृत्यु का क्रम व कारण
१	वत्सनाभ (Aconite)	१$\frac{1}{2}$ से ३ माशा (मूल चूर्ण) व टिंचर एकोनाइट की ६० बूंद	३ से ४ घंटे	इसे वातनाड़ी प्रभावक वर्ग का हृद् प्रभावक विष माना गया है। मुख कण्ठ, जिह्वादि सम्पर्क में आने वाले सभी भागों में झन झनाहट, दाह, लाला स्राव, शून्यता, वमन. उदर शूल नाड़ी दुर्बल मन्द, पुतलियो का कभी विस्फार कभी संकोच, श्वास क्रिया में कठिनता, श्वास प्रश्वासगति मंदता, त्वचा में कम्प, आक्षेप, श्वासावरोध, हृदयावसाद व मृत्यु।
२	अहिफेन (Opium) (निद्रालु) वातनाड़ी प्रभावक विष	२ से २$\frac{1}{2}$ रत्ती	८ से १२ घंटे	श्वासावरोध, दम घुटना व मृत्यु।
	(क) प्रमीली (Morphine)	१$\frac{1}{2}$ से २ रत्ती		
	(ख) मीली (Codeine)	$\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती		
३	गुञ्जा (Abrus Precatoreus (क्षोभक विष)	१ से २ रत्ती	३ से ४ दिन	हृदय का पक्षाघात व मृत्यु
४	जयपाल (croton seeds) (क्षोभक विष)	तैल २ से ३ बूंद मृत्यु बीज ४ नग	४ से ६ घंटे	विजलीयन (Dehydration) अवसाद व
५	कनक (Dhatura)	अनिश्चित १ पक्का फल या ५-७ बीजों का चूर्ण	१२ से २४ घंटे	श्वास, हृदयावरोध व मृत्यु

६ विजया (Canna bis-Indica)	अनिश्चित या १ से ३ माशा	१२ घंटे	श्वासारोध व मृत्यु
७ भल्लातक (Marking Nut)	६ माशा से १½ तोला	१२ से २४ घंटे	प्राय: अघातक (मृत्यु नहीं होती)
८ कुचीला (Nux Vomica)	१५ से २५ रत्ती	५ मि. से ५ घंटे तक	आक्षेप, पुतली फैलना, जबाड़े जकड़ना व मृत्यु
९ धान्यरुक् (Ergot)	अनिश्चित	२४ घंटे	दम घुटना व मृत्यु
१० एरण्ड (Caster Oil Seed)	तैल ३ से ५ तोला सत्व ⅙ रत्ती बीज १० से २० नग	८ से १२ घण्टे	विजलीयन (debydration) अवसाद व मृत्यु
११ अर्क (Callotropis Gigantea)	अनिश्चित्	½ से ८ घण्टे	अवसाद मृत्यु
१२ चित्रक रक्त (Plumbago Rosea)	"		प्राय: गर्भ पात के लिये प्रयुक्त होता है। जलन, दम घुटना, व श्वासावरोध व मृत्यु
१३ लाल मिरच (Capsicum Annum)	अनिश्चित		प्राय: अमृत्युकारी
१४ कनेर (Oleander)	श्वेत व पीत कनेर मूल १¼ तोला कराबिन १½ रत्ती श्वेत कनेर बीज ३ नग पिसे हुए पीतकनेर बीज ८ से १० तक	१० से १२ घण्टे	निगलने व बोलने मे कष्ट, अत्यधिक लाला स्राव, त्वरित श्वासक्रिया, विस्फारित नेत्र पेशियो में आक्षेप, तन्द्रा मूर्च्छा व मृत्यु
१५ इन्द्रायण (Colocynth)	३ से ६ माशा	३-४ दिन	वमन-विरेचन-शीतलता मंदनाड़ी, हृदयावसार व मृत्यु
१६ कलिहारी (Gloriosa Superba)	६ से ८ रत्ती	१२ घण्टे	वमन विरेचन, आक्षेप अवसाद व हृदयावरोध, स्वेद व मृत्यु

१७ कुमारित्ति (एलुवा) (Aloes)	३ से ६ माशा	१२ से ३६ घण्टे	रक्तातिसार अवसाद व मृत्यु
१८ कांभोज (रेवचीणी का सीरा) (Gamboge)	१ से ३ माशा	१२ से ३६ घण्टे	,, ,,
१९ तिधारा थूहर (Euphorbium)	१ चम्मच क्षीर या स्वरस	३ दिन	कोथ, अवसाद, मृत्यु
२० रतनजोत (Jatropha)	तैल की १२ से १५ बूंद या ५ बीज	१ से ३ दिन	वमन-विरेचन अवसाद व मृत्यु
२१ सत्यानाशी (Argemone Mexicana)	तैल ३० से ६० बूंद बीज ६ से ९ माशा	१ से ३ दिन	श्वास कृच्छ्रता यकृतवसाद, मृत्यु
२२ सुखदर्शन (Crinum Deflexum)	१ से २ तोला	१ से ३ दिन	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
२३ निशोथ (Ipomoea Turpethum)	१½ से ९ माशा	अनिश्चित	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
२४ तम्बाखू (Lobelia Inflata)	२ से ६ माशा	३ से ३६ घण्टे	पेशीय संकोच, सज्ञानाश, अवसाद, मृत्यु
२५ सूची वीणा वटा (Digitalis Purpurea)	३ से ६ माशा	¾ से २४ घण्टे	सन्निपात, हृदयावरोध, मृत्यु
२६ स्वेदन पत्र (Pilocarpus Microphyllus)	४ से ६ रत्ती	१५ मिनट से १० घंटे	श्वास कृच्छ्रता, आक्षेप, हृदयावसाद, मृत्यु
२७ विहपुषा (Savin)	तैल १ से ४ बूंद पत्ते २ से ५ रत्ती	४ घण्टे से ३ दिन	श्वास लेने में कठिनता, मूर्च्छावस्था, अवसाद, मृत्यु
२८ आकाश बेल (Cuscuta Reflexa)	१ से २ तोला	१ दिन	(गर्भपातार्थ प्रयोग) अवसाद, मृत्यु

२९ तालीश पत्र (Taxus Baccata)	१ चम्मच भरे पत्ते	४ से ८ घण्टे	नाड़ी क्षीणता, अवसाद, आक्षेप, सन्निपात, श्वास व हृदयावसाद, मृत्यु
३० काली कुटकी (Helleborus Niger)	अनिश्चित	अनिश्चित	रक्तचाप न्यूनता, स्वेदाधिक्य आक्षेप, संज्ञा-नाश, मृत्यु
३१ पारसीक यवानी (Hyoscyamus Niger)	१ से ४ रत्ती	२४ घण्टे	पक्षाघात, आक्षेप, अवसाद, मृत्यु
३२ सर्पिमाष (Calabar Bean)	६ से १० बीज	अनिश्चित	दम घुटना, मृत्यु
३३ हिरण्यतुत्थ्यति (Colchicum)	$\frac{१}{२०}$ रत्ती	३० घण्टे	निगलने में कठिनाई, तृषा, आक्षेप, अवसाद, मृत्यु
३४ काकमारी (Cocculus Subcrosus)	३ से ६ माशा	१ से ३ दिन	स्वेदाधिक्य, संज्ञानाश, श्वासावरोध, मृत्यु
३५ काला दाना (Pharbits Seeds)	बीज २ से ४ माशा सत्व १ से ४ रत्ती	अनिश्चित	क्षोभ, अवसाद मृत्यु
३६ बेहड़ा (Terminalia Bellerica)	१ से २ तोला	२ से ३ दिन	शिर शूल. सञ्ज्ञानाश, श्वास कृच्छ्रता, आक्षेप मृत्यु
३७ अरीठा (Sapindas Trifoliatus)	१० से ३० रत्ती	अनिश्चित	हृदयावसाद, मृत्यु
३८ जदवार (Delphinium Staphi Sagria)	२ से ३ माशा	८ घण्टे	वमन, अतिसार, स्वेदाधिक्य, आक्षेप, संज्ञा-नाश, मृत्यु
३९ विष तिन्दुकी सत्व (Strychnine)	$\frac{1}{4}$ से १ रत्ती	१ से ५ घण्टे	आक्षेप, हृदयावसाद, दम घुटना, मृत्यु
४० प्राचेतनी (Cocaine)	१ से १० रत्ती	५ मिनट से ३ घंटे	श्वास कृच्छ्रता, अवसाद. मृत्यु

४१ सुद्दाब (Ruta Graveolcus)	तैल ५ से ६ बूंद	अनिश्चित	क्षोभ, अवसाद, मृत्यु
४२ सहींजना (Moringa Pterygo Sperma)	¾ से १ तोला	१ से ३ दिन	रक्तचाप वृद्धि, अवसाद, मृत्यु
४३ कर्पूर (Camphor)	६ से १६ रत्ती	४ घण्टे से ३ दिन	आक्षेप, सन्निपात. संज्ञानाश, अवसाद, मृत्यु
४४ शकमुनिया (Scammony)	२ से ६ रत्ती	अनिश्चित	शोथ, अवसाद, मृत्यु
४५ पीतजातिमूल (Gelsemium)	१ से २रत्ती चूर्ण १२ बूंद तरल सत्व	३-४ घटे	आक्षेप, श्वासावरोध मृत्यु
४६ करमर्दफला (Atropa Belladona)	३ से ६ माशा	३ से २४ घटे	स्वेदाधिक्य, उन्माद, अवसाद, मृत्यु
४७ जुलापा (Jalap)	२ से ६ माशा	अनिश्चित	अवसाद, मृत्यु
४८ वनपलाण्डु (Urginea Scilla) या (Urginea Indica)	१२ से ३० रत्ती	२ दिन	अतिसार, वमन, आमाशय व आन्त्र में दाह, अवसाद, मृत्यु
४९ सर्पगन्धा (Rauwolfia)	३ माशा से ३ तोला	२ दिन	स्वेदाधिक्य, अवसाद, श्वासावरोध, मृत्यु
५० अचेतन (Coca)	१ से ३ माशा	१ से ६ घटे	श्वासावरोधन, हृद्गत्यवरोध, मृत्यु
५१ सर्पबूटी (मीना)	१ से ३ माशा	तत्काल	अवसाद, आक्षेप, मृत्यु
५२ नरसल (Lobelia Nicotianaefotia)	१ से ३ माशा	२ से ६ घटे	स्वेदाधिक्य, जलन्यूनता, अवसाद, मृत्यु
५३ विष गर्जर (Conium)	१ रत्ती चूर्ण या १० से १५ बूंद सत्व	५ मिनट से ४ घटे	आक्षेप अवसाद, मृत्यु
५४ बादाम कटु (Almond)		अनिश्चित	प्रायः अघातद

यान्त्रिक क्षोभक विष

१.	काच चूर्ण	अनिश्चित	२ घंटे से ६ दिन	रक्त वमन, सन्निपात, मृत्यु
२.	वज्र चूर्ण	"	अनिश्चित	अनिश्चित
३.	सूची	"	"	"
४.	पशुओं के केश	"	"	"

कुछ विशिष्ट लक्षण जो अनेक विषों में व रोगों में समानरूपेण व्यक्त होते हैं. उनकी सूची

१. नेत्र पुतलियाँ

(क) संकुचित विष :—(१) अहिफेन
(२) प्रमीली
(३) प्राङ्गविक अम्ल (Carbolic Acid)
(४) नीरसु जलीय (Chloral Hydrate)
(५) नफतफली (Pilocarpine)
रोग :— तृतीय नाड़ी क्षोभ (नेत्र)

(ख) विस्तीर्ण विष :—(१) करमर्दफला (Bellodona)
(२) पारसीक यवानी (Hyoscyamus)
(३) धतूरक (Stramonium)
(४) कनक
(५) वत्सनाभ
(६) पीतजातिमूल (Gelsemium)
(७) प्राचेतनी (Cocaine)
(८) तम्बाकू (Nicotine)
(९) सुषव (Alcohol)
रोग :- नेत्र की तृतीय नाड़ी का पक्षाघात

२. श्वास

(क) द्रुत विष :—(१) कनक
(२) प्राचेतनी (Cocaine)
(३) प्रांगार द्विजारेय (Carbon di-oxide
(४) नीरजी (Chlorine)
रोग :- श्वसनकज्वर

(ख) विलंबित विष :— (१) अहिफेन
(२) प्रांगार एक जारेय
(३) श्यामेय (Cyanides)
(४) नम्रलीय (Salicylates)
रोग :-यूरीमिया

३. त्वचा

(क) शुष्क — विष :— (१) करमर्दफला (Belladona)
(२) पारसीक यवानी (Hy.o Scyamus)
(३) कनक
रोग :– ज्वर, श्वसनक ज्वर

(ख) आर्द्र — विष :— (१) अहिफेन
(२) सुषव
(३) वत्सनाभ
(४) तम्बाकू व
(५) अंजन
रोग :– तीव्र आमवात

४. वमन — विष :—(१) दाहक एवं क्षोभक विष
(२) अम्ल
(३) सुषव
(४) ताम्र शुल्व (Copper Sulphate)
(५) अन्नविष (Food Poisoning)
(६) जम्बुकी (Iodin e)
(७) मल्ल
(८) सक्रव्यपव (Ly Sol)
(९) वत्सनाभ और
(१०) सूचीवीणाघटा (Digitalis)
रोग :– ऊर्ध्ववात, अम्लपित्तज क्षत, विसूचिका, अम्लपित्त

५. अतिसार — विष ;— (१) क्षोभक विष
(२) अन्नविष
(३) सूचीवीणा घटा और
(४) हिरण्यतुल्थ्यति Calchicum)
रोग :– प्रवाहिका, विसूचिका , मंथर ज्वर व क्षय ।

६. देहनीलता (Cyanosis) — विष :— (१) विनीली (Aniline)
(२) एण्टीफेब्रीन
(३) एक्सलजीन
(४) अहिफेन
(५) भूय धूपेन्य (Nitrobenzene)
(६) भा. ज. (Phosgene)
रोग :– हृद्रोग व श्वसन संस्थान के रोग

७. आन्त्र शूल

विष :—(१) नाग
(२) ताम्र
(३) मल्ल व
(४) धान्यरुक् (Ergot)
रोग :- स्रोतोवरोध

८. अपतान

विष :—(१) मल्ल
(२) अञ्जन व
(३) नाग
रोग :- हैजा, अतिसार, शीताङ्गता

९. आक्षेप

विष :—(१) विषमुष्टी
(२) कर्पूर
(३) श्यामेय (Cyanides) व
(४) कृमिद्रावि (Santonin)
रोग :- धनुर्वात शीर्षसौषुम्न ज्वर, अपस्मार हिस्टीरिया व बालकों के दाँतों के उपद्रव।

१०. अवसाद

विष :—(१) दाहक विष
(२) मल्ल
(३) तम्बाखू (Lobelia) (वमघास)
(४) ज्वरघ्नी (Antipyrine)
रोग :- अग्निरोहिणी, हैजा, ज्वर।

११. अधिमूर्च्छा

विष :—(१) अहिफेन
(२) प्रमीली
(३) वर्नोल
(४) ट्रिनोल
(५) शुल्वीय (Sulphonal)
(६) परासुब्युद (Paraldebyde)
(७) सुषव
(८) कर्पूर
(९) नाग
(१०) बार्हति (Atropine)
(११) पारसीक यवानी
(१२) श्यामेय (Cyanides)
(१३) प्राङ्गार एक जारेय
(१४) नीरवअल (Chloroform)
(१५) कीटघ्न (Insecticides)

रोग :- यकृत् या वृक्क अवसाद, मधुमेह, अपस्मार, हिस्टीरिया व बालकों के दाँतों के उपद्रव।

१२. प्रलाप

विष :—(१) कनक
(२) करमर्दफला (Belladona)
(३) पारसीक यवानी
(४) सुषव
(५) कर्पूर
(६) प्राचेतनी (Coccaine)
(७) प्रतिऊतितिक्ती (Anti Lystanine)
(८) दुरेय (Bromide)
(९) विजया व
(१०) मद्य

रोग :- श्वसनक ज्वर, क्षय, शीर्षसौषुम्नज्वर, उन्माद सन्निपात

१३. क्षेपरहितता

विष :—(१) कोलमिहेय (Barpiturate)
(२) प्रमीली
(३) दर्शव (Phenoe)

रोग :-स्नायुदौर्बल्य, व बाल पक्षाघात

४१. बिस्तर के कपड़े पकड़ना

विषः—(१) कनक
(२) सुषव
(३) मिट्टी का तैल

रोगः—मन्थर ज्वर में सन्निपात

१५. पक्षाघात

विष :—(१) विषगर्जर (Conium)
(२) वत्सनाभ
(३) पीतजातिमूल (gelsenium)
(४) मल्ल
(५) नाग व
(६) गरल प्रतिविष

रोग :- शीर्षाघात, हिस्टीरिया व सन्यास

१६. श्वेतमुख (Mucosa)

विषः—(१) सभी अम्ल व
(२) संक्रम्यपव (lysol)
(३) दाहक क्षार

रोग :-रस कर्पूर सेवी फिरंग रोगी

रोगों के समान लक्षणों को प्रकट करने वाले दो विषों का सापेक्षिक निदान

I मल्ल

लक्षण		मल्ल विष में	विसूचिका (हैजे) रोग में
(क)	कंठ में शूल	वमन के पूर्व	नहीं होता
(ख)	अतिसार	वमन के पश्चात	प्रायः वमन के पूर्व
(ग)	मल	मलोत्सर्ग के समय गुदसक्षोभ व उदर शूल, मल अतिरंजित, रक्त सह, पानी की तरह पतला जिसमें रक्त व पित्त हो व कभी कभी चावलों के धोवन सदृश।	सदैव चावलों के धोवन सदृश श्वेत व निरतर उत्सर्ग किन्तु पित्त व रक्त अनुपस्थित। कभी कभी रक्त आता है।
(घ)	वामित द्रव्य	आम, पित्त व रक्तयुक्त	जल या मस्तु सदृश, श्लेष्मा पित्त या रक्त नहीं।
(ङ)	रुजा	शोथ	सामान्य
(च)	शब्द	सामान्य	विशिष्ट, चीख वाला, भारी
(छ)	बलि	एक, दो या अधिक व्यक्ति जिन्हे विष दिया गया हो	महामारी के रूप में एक ही स्थान पर अनेक व्यक्ति रोगग्रस्त मिलेंगे
(ज)	अणुवीक्ष्य यन्त्र द्वारा परीक्षा	अतिसार व वमन पदार्थ में मल्ल की उपस्थिति	जीवाणु संवर्धन क्रिया करने पर विसूचिका के जीवाणु (Coma Bacille) पाये जाते हैं।

II विष मुष्टी

लक्षण	विष मुष्टी विष में	धनुर्वात में
१	लक्षण सहसा उपस्थित होते है	शनैः शनैः लक्षण प्रकट होते हैं।
२	विष भक्षण के तुरन्त पश्चात लक्षण प्रकट होते है।	प्रायः शरीर पर आघात का इतिहास मिलता है व तत्पश्चात लक्षण प्रकट होते हैं।
३	आक्षेपों के बीच के समय मांस पूर्णतः पेशियां शिथिल हो जाती हैं ।	ऐसा नहीं होता, थोडी बहुत सकुचितावस्था में रहती है।
४	विष भक्षी मे लक्षण त्वरा से बढ़ते है	लक्षण मंथर गति से बढते हैं मृत्यु २४

	व मृत्यु ४–६ घण्टो में हो जाती है या तत्पश्चात वह स्वस्थ होने लगता है	घण्टे तक कभी नही होती व मृत्यु या अच्छा होने में कुछ दिन लग जाते हैं।
५	ग्रीवा व मुख की पेशियो पर अन्त में प्रभाव प्रड़ता है व जबड़े अन्त में जकड़ते है शरीर की सभी पेशियों में एक साथ सकोच प्रारम्भ होते हैं व हनुस्तंभ कभी कभी होता है। मुख नही खुलता।	ग्रीवा व मुख की पेशियाँ पहले प्रभावित होती है व प्रारम्भ में ही जबड़े अकड़ जाते हैं और मुख बंद हो जाता है। शरीर की अन्य पेशियों में क्रम से संकोच होता है।
६	वमन व अतिसार का रासायनिक विश्लेषण करने पर विषतिन्दुकी सत्व या विषमुष्टी विष मिलता है।	सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा व्रण के स्राव की परीक्षा करने पर अथवा संवर्धन क्रिया से धनुर्वात के कीटाणु (Bacillus Tetanus) मिलते हैं।

चौरासी रत्न

लेखक — वैद्य परमानन्द शर्मा, साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम्. ए.
प्राचार्य-श्री नारायण आयुर्वेद महाविद्यालय, जोधपुर

[श्री शर्मा जोधपुर के अध्यवसायी वैद्य हैं। आप श्री नारायण आयुर्वेद रसायनशाला व औषधालय के साथ-साथ कई सहकारी समितियां तथा कांग्रेस के प्रमुख कार्य-कर्त्ता है तथा राजस्थान प्रान्तीय वैद्य-सम्मेलन के कई वर्षों तक प्रधान मन्त्री रहे तथा राजस्थान आयुर्वेदपरामर्शदातृमंडल के भी सदस्य रहे हैं। आपका खोजपूर्ण सद्य-परिचायक रत्नों पर लिखा लेख अत्युपयोगी है। चरित्रनायक के प्रति आपकी बड़ी आस्था है।

—वैद्य बाबूलाल जोशी, सम्पादक]
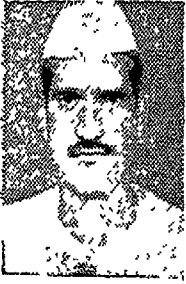
मूल्यवान् प्रस्तरों को संज्ञा रत्न है। इनका सर्वसाधारण के लिए प्राय: दुर्लभ दर्शन होता है अत: इनका संपूर्णतया ज्ञान प्राप्त नहीं होता। कहा भी है कि "रत्नादि सद्सज्ज्ञान मभ्यासादेव जायते" अत: निरन्तर अभ्यास से ही इसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है फिर भी अल्प बुद्धिमताम् हिताय तथा विज्ञ व्यक्तियों के सौकर्य के लिए संक्षेप में चौरासी रत्न के शीर्षक से लेख लिखा है, आशा है पाठकगण इससे प्रभावित होंगे।

(१) माणिक (माणक)-लाल रंग का होता है। (२) हीरा- श्वेत और गुलाबी रंग का होता है। (३) पन्ना- सब्ज और गुलाबी रंग का होता है। (४) नीलम- नीले रंग का होता है। (५) लसनीया- बिल्ली के आंख के समान होता है। (६) मोती- श्वेत होता है, किन्तु कहीं-कहीं काला व गुलाबी भी पाया जाता है। (७) मूंगा- लाल रंग का होता है। (८) पुखराज- पीला, सफेद एवं नीले रंग का होता है। (९) गोमेदक- लाल धूंए के समान होता है। (१०) लालड़ी- गुलाब के फूल के समान होती है। यदि यह २४ रत्ती के ऊपर हो तो लाल कहा जाता है। (११) फीरोजा- आसमानी रंग का होता है, किन्तु ये पत्थर नहीं कांकरों में उत्पन्न होता है। (१२) अेमनी- अधिक थोड़ा स्याहीपन लिए होता है। (१३) जबरजद्द- सब्ज स्याही लिए होता है। (१४) तुरमली- रग पांच प्रकार के, जात पुखराज की है। लेकिन हलका और नरम होता है। (१५) उपल- रंग नाना प्रकार का, और इसके ऊपर एक तरह अब पड़ता है। (१६) नरम- लाल जरदपन लिए होता है। (१७) सुनहला- सोने में धूंए के समान होता है। (१८) धुनेला- सोने में धूंए के समान होता

है। (१९) कटेला- बैंगन के समान रंग का होता है। (२०) संगे सितारा- बहुत प्रकार का रंग, ऊपर सोने का छींटा होता है। (२१) स्फटिक बिल्लोर सफेद रंग का होता है। (२२) गउदंता- गौ के दांत के समान थोडी जर्दी लिए सफेद रंग का होता है। (२३) तामड़ा- काला सुर्ख रंग का होता है। (२४) लुधिया- मजन्टा अथवा चिरमी (रत्ती) के समान लाल होता है। (२५) मरियम- सफेद रग का, इसको पालिश अच्छी होती है। (२६) मकनातीस- थोड़ा स्याहीपन लिए सफेद चमकदार होता है। (२७) सिन्दूरिया- सफेदपन लिए गुलाबी रंग का होता है। (२८) लीली- जात नीलम की है किन्तु नीलम से नर्म एवं थोड़ा जर्द होता है। (२९) बैरुज- हल्का सब्ज, इसकी खान (टोड़ा) में है। (३०) मरगज- जात पन्ने की रंग सब्ज, इसमें पानी नही होता। (३१) पितोनिया- सब्ज के ऊपर सुर्ख छीटेदार होता है। (३२) बांसी- सब्ज हलका और सगे सम से हल्का एवं नर्म होता है। लेकिन पालिश अच्छी होती है। (३३) दुरेलजफ- कच्चे धान के समान रंग का, पालिश अच्छी होती है। (३४) सुलेमानी- काला ऊपर सफेद डोरा। (३५) आलेमानी- भूरा रंगदार ऊपर डोरा, जात सुलेमानी की। (३६) जजेमानी- रंग पारे के समान, जात सुलेमानी की। (३७) सिवार- सब्ज ऊपर भूरे रंग की रेखा। (३८) तुरसारा- गुलाबीपन लिए जर्द होता है, पत्थर बहुत नर्म होता है। (३९) अहवा- गुलाबी ऊपर बड़े बड़े छींटे होते हैं। (४०) आबरी- कालापन लिए सोने माफिक होता है। (४१) लाजवरद- नीले रंग का होता है। (४२) कुदरत- काले रंग का होता है, सफेद एवं जर्द दाग होता है। (४३) चित्ती- काले ऊपर सोने का छींटा और सफेद डोरा मालूम देता है। (४४) संगेसम- जात दो, अंगूरी और सफेद, जिसमें अंगूरी अच्छा होता है। (४५) लास- जात मारवर की। (४६) मारवर- रंग पारे के समान, रंग लाल व सफेद मिला होने से मकराना कहलाता है। (४७) दाना फिरंग- पिस्ते के समान थोडा सब्ज होता है, इसके तीन भेद होते है (क) सोना कस (ख) लोहा कस (ग) चांदी कस (लोहे के टुकड़े पर नींबू के रस को निचोड़ कर रगडने से ये तीन कस होते हैं। वृक्कशूल में कटि में बांधने से आराम मिलता है।) अन्त के दोनों मिलता है, पहिला नहीं मिलता। (४८) कसौटी- काला रंग, इससे सोने के कस की परीक्षा की जाती है। (४९) दारचना- चने की दाल के समान पीला तथा लाल टिकिया के मुताबिक स्याह जमीन पर होता है। (५०) हकीके कुल बहार- सब्जपन के साथ जर्द मिला होता है, मुसलमान जपने की माला बनाते हैं, यह पत्थर जल में होता है। (५१) हालन- गुलाबी मैला, हिलाने से हिलता है। (५२) सिजरी- सफेद ऊपर श्याम दरखत दीखता है। (५३) सुवेन जफ- सफेद में बाल के समान लकीर होती है। (५४) कहरवा- पीला रग का, जिसका बोरखा तथा माला बनती है। (५५) झरना- महिया रंग का, जिस में पानी देने से सब पानी झर जाता है। (५६) सगेवसरी- आंख के सुरमे में पड़ता है। रंग काला होता है। (५७) दांतला- जरदपन लिए सफेद, पुराने शंख की माफिक होता

है। (५८) मकड़ी- सादापन लिये हुए काला, ऊपर मकड़ी के जाल के समान। (५९) संगीया- शंख के समान सफेद, इसका घड़ी का लाकेट बनता है। (६०) गुदरी- नाना प्रकार के रंगवाला होता है। इसे फकीर लोग पहिनते हैं। (६१) कासला- सब्जपन लिए सफेद होता है। (६२) सिफरी- सब्जपन लिये आसमानी रंग का होता है। (६३) हदीद- भूरापन लिये स्याह, वजन में भारी, मुसलमान इसकी तसबीह बना कर जप करते हैं। (६४) हवास- सोनापन लिये सब्ज होता है, औषधिप्रयोग में काम आता है। (६५) सींगली- जाति माणिक की, स्याही और सुर्खी मिला हुआ रंग होता है। (६६) ढेडी- काला रंग, इसके खरल तथा कटोरे बनते हैं। (६७) हकीक- अनेक प्रकार के रंगों वाला जिससे घड़ी के मुट्ठे व खिलौने बनते हैं। (६८) गोरी- अनेक प्रकार के रंगों वाला तथा सफेद सूत होता है, इससे कटोरे व जवाहर तोलने के बाट बनते हैं। (६९) सोचा- काले रंग का, इससे नाना प्रकार की मूर्तियां बनती हैं। (७०) सोमाक- लाल जर्द एवं कुछ स्याह माइल होता है ऊपर सफेद जर्द और गुलाबी छींटा होता है, इसके खरल तथा कटोरे बनते हैं। (७१) मूसा- सफेद रंग, इसके खरल तथा कटोरे बनते हैं। (७२) पनघन- कुछ सब्जपन लिये काले रंग का होता है। (७३) अमलीया- कुछ कालापन लिये गुलाबी रग का होता है। (७४) डूर- कत्थे के समान रंग का, जिसके खरल बनते हैं। (७५) तिलीमर- काला ऊपर सफेद छींटा, इसके भी खरल बनते हैं। (७६) स्वारा- सब्जपन लिये काले रंग का, इसके भी खरल बनते हैं। (७७) पायजहर- सफेद पारे के समान का रंग, विष के घाव पर लगाने से घाव सूख जाता है। (७८) सिरखड़ी- मिट्टी के समान रंग का होता है, खिलौने बनते हैं, घिस कर लगाने से घाव सूख जाता है। (७९) जहरमोहरा- कुछ सफेदपन लिये सब्जरंग का होता है, किसी विषमिश्रित चीज में इसको रख देने से विष का दोष जाता रहता है। (८०) रतुवा- लाल रंग का, रात्रि ज्वर में गले में बांधने से आराम होता है। (८१) सोनामक्खी- नीले रंग का औषधियों में उपयोगी। (८२) हजरते यहुद- सफेद मिट्टी के समान, मूत्ररोगों में लाभप्रद। (८३) सुरमा- काले रंग का, अंजन के लिये। (८४) पारस- काला रंग, लोहे पर लगाने से स्वर्ण हो जाता है।

मोती मिलने के प्रकार:—

(१) गज (२) मत्स्य (३) सर्प (४) वंश (५) शंख (६) खनि (७) शूकर।

मणियों के नाम:—

(१) सूर्यकान्त (२) चन्द्रकान्त (३) इन्द्रनील (४) पद्मराग (५) मरकत (६) सर्प (७) करकेतक (८) स्फटिक (९) वेदूर्य (१०) लसनियां (११) लाजवर्द (१२) पुष्पराग (१३) गोमेदक (१४) मासर (१५) विजना।

आयुर्वेदीयस्त्रिदोषसिद्धान्तः कीटाणुवादश्च

ले० : आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री, पण्डितमार्तण्डः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, जामनगरस्थः

श्रीमतामायुर्वेदमार्तण्डानाम्, प्राणाचार्याणाम्, वैद्यावतंसानाम्, महोपाध्यायानाम्, राजमान्यानाम्, स्वनामधन्यानाम्, आयुर्वेदचन्द्रोदयानामपि आयुर्वेदसूर्योदयानाम्, चाणोदगुरूणाम्, श्रीमदुदयचन्द्रभट्टारकमहाभागानां प्रस्तुतोऽयं हीरकजयन्तीसमारोहस्तदभिनन्दनग्रन्थसमर्पणमहोत्सवश्च । यथायं द्वयोरनयोः समारोहयोर्वर्तते शुभः समन्वयावसरः, तथा निबन्धेऽस्मिन् विषययोः शीर्षकनिर्दिष्टयोरपि यदि स्यात्समन्वयः तदा सुवर्णे सौगन्ध्यमिव सर्वमिदं स्यात्सुश्लिष्टमिति तदर्थं प्रयत्यते ।

आयुर्वेदस्य त्रिदोषवादः, पाश्चात्त्यानां कीटाणुवदश्च बहोः कालात्परस्परं विरुद्धौ मन्येते। तन्मूलक एव द्वयोश्चिकित्सापद्धत्योरनुयायिनामपि वर्तते चिरात् संघर्षः । वस्तुत आयुर्वेदस्य सर्वविधा प्रगतिरिदानीमवरुध्यते एतेनैव संघर्षेण । अतो महत्त्वपूर्णेऽस्मिन् विषये यदि स्यात् कथंचित् समन्वयः, तदा अनेकाः समस्याः समाधातुं श्क्येरन् ।

त्रिदोष सिद्धान्तः—

आयुर्वेदस्य त्रिदोषवादः सर्वतः प्रमुखः सिद्धान्तः । एतं मूलसिद्धान्तं पुरस्कृत्यैव स्वास्थ्यसंरक्षणस्य, रोगोत्पत्तेः, चिकित्सायाश्च सर्वे सिद्धान्ता व्याख्यायन्ते । तत्र—१. वातः, २. पित्तम्, ३. कफश्च—इत्येते एव त्रयो भावास्त्रयो 'दोषाः' इत्युच्यन्ते । यद्यपीमे त्रयो धातवोऽपि सन्ति, तथापि सुप्रसन्नेष्वेषु यथा धातुत्वं तथा कुपितेषु सर्वशरीरविकारकत्वाद् दोषत्वमपीति निग्रहानुग्रहरूपं द्विविधमेषां सामर्थ्यमुपलक्ष्य 'दोष' व्यपदेश एवायुर्वेदाचार्यैर्भूयसा कृतः । तत्र 'वातो' नाम 'वा गतिगन्धनयोः' इति धातोर्निष्पद्यमानो देहे जायमानानां सर्वविधानां धात्वादिगतीनां च सर्वविधानां गन्धनानां (संज्ञारूपचेष्टारूपसूचनानां) च वाचकः । तस्मात् शरीरे याश्च यावत्यश्च काश्चन गतयः क्रिया वा भवन्ति, ताः सर्वा आयुर्वेदे वातात्मिका मन्यन्ते । एतस्येयन्महत्त्वं यत् इतरयोर्द्वयोः पित्तकफयोरपि याः काश्चन क्रिया भवन्ति ताः अपि वातस्यैव । अत एव 'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः' इत्यादिक आभाणकोऽत्र प्रसृतः । शरीरे वर्तमानाः क्रियाः वातश्चेति अभिन्नौ पदार्थौ इति तु सारसक्षेपः अथ 'पित्तं' यद्यपि सुश्रुतेन 'तप संतापे' इति धातोर्वर्णव्यत्ययादिना निष्पादितम्, तेन च शरीरे ऊष्मोत्पादस्तस्य प्रधान कार्यं प्रतीयते, तथापि 'तप दाहे' इति, 'तप ऐश्वर्ये' इति चान्यावपि द्वौ धातू समुपलभ्येते । तयोरपि 'पित्त' शब्दनिष्पादने बाधकाभावादौचित्याच्च परिग्रहमुचितं मन्यामहे । तथा च ऊष्मातिरिक्ता अन्या अपि याः काश्चित् संघातभेदन

(डिसइण्टिग्रेशन)[1] पाचन, (डाइजेशन)[2] दहन (आक्सिडेशन)[3] प्रभृतयः पञ्चविधेषु पित्तेषु पाचकपित्तस्य, रसरञ्जनाद्या रञ्जकपित्तस्य, देहविलिप्ततैलौषधादिवीर्यपाचनवर्णभ्राजनादि-रूपा भ्राजकपित्तस्य, नयनकरणकरूपालोचनादिरूपा आलोचकपित्तस्य, बुद्धिसम्पाद्यानामनेकेषां कार्याणां साधनादिरूपाश्च साधकपित्तस्येति सर्वा अपि क्रियास्ताभ्यां धातुभ्यां पूर्वेण च संगृहीताः स्युः। अथ च 'कफो' नाम केनजलेन फलतिवर्धते' इति वा, 'केनस्फायते वर्धते' इति वा व्युत्पत्त्या देहे सर्वविधोपचयजनन-पोषण-बलाधान-श्लेषण-बोधन क्लेदनालम्बन-तर्पण रूपाः सर्वाः क्रियाः सम्पादयन् स्वनाम सार्थकं करोति।

कथं कुतश्चोत्पद्यन्ते वातादयो दोषाः—

वातदीनामुत्पत्तिविज्ञानाय 'पञ्चभूतसिद्धान्तः' इहापेक्षणीयो भवति। अयं सिद्धान्तोऽपि त्रिदोषसिद्धान्त इवातितमां विवादग्रस्तः। आक्षिपन्ति खलु पाश्चात्यपद्धत्यभिज्ञास्तदनुसारिणः केचन वैद्या अपि तत्त्वानभिज्ञा आयुर्वेदसिद्धान्तसर्वस्वायितानि पञ्चभूतान्यपि। पाश्चात्य-विज्ञाने हि संप्रति यानि प्रसिध्यन्ति अलिमान्त[4] संज्ञानि कदाचिद् द्वानवतिमितान्यपि परस्तात् शताधिकां संख्यामतिक्रान्तानि तत्त्वानि, तेषां कैश्चित् प्रयोगैः प्रदर्शितेन चाकचक्येनाकृष्टान् तान् बन्धून्न वयं प्रत्याक्षिपामः। केवलं त्वेतदेव ब्रूमो यत्—प्रत्येकस्मिन् वस्तुनि भवन्ति नानाविधाः कार्यकारणभावाः, गुणाः धर्माश्च। तस्मादेको विज्ञो येन दृष्टिकोणेन तद् वस्तु विवेचयति, तदन्योयदिभिन्नेन दृष्टिकोणेनतद्वस्तु विवेचयेत्तर्हि नासौ तस्य दोषो न वा परस्य विवादस्यावकाशः। अत एव यस्याथर्ववेदस्यायुर्वेद उपवेदस्तस्यैव विज्ञानभूते गोपथब्राह्मणेऽयं सिद्धान्तो व्यवस्थापितः—'नानाप्रवचनानि ह वा एतानि भूतानि भवन्ति। तद्यैन ह वा इदं विद्यमानं चाविद्यमानं चाभिनिदधाति, तद् ब्रह्म, तद् यो वेद स ब्राह्मणोऽधीयानोऽधीती इत्याचक्षते' इति (गोपथ० २।१३)तथा 'आत्मानं निरुध्य सगममात्रीं भूतार्थचिन्तां चिन्तयेत् सवितर्कं ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनुविन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात् सर्वस्मिन् वाकोवाक्ये' (गोपथ० १।३०) इति च।

तस्माद् 'अलिमान्तसंज्ञकतत्त्वरूपेण भूतानां विचारं चिकीर्षवस्तथा कुर्वन्तु, आकाशादि-भूतपञ्चकरूपेण विचारो येषामभीष्टस्ते तथैव कुर्वन्तु, नात्रान्योन्यं खण्डनालोचनावासरः।

वस्तुतस्तु, मानवदेहे पञ्चैव श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणरूपाणि ज्ञानसाधनानि सन्ति। तेषु चैकेकेन साधनेन यद्गुणाश्रयस्य भूतद्रव्यस्य साक्षात्कारोऽभूत्, तत्तदेव वास्तविकं भूतममन्यतेति भूतानि पञ्चैव सिध्यन्ति। अन्यानि कान्यपि भूतानि सन्ति, न वा सन्तीति स्वीकार परिहारौ न केनापि कर्तुं शक्यौ।

---

१. Disintegration   २. Digesion   ३. Oxidation   ४. Element

ये तु प्रतिदिनं परिवर्धमनानां नूतनतत्त्वानाम् 'अलिमान्त' संज्ञानां समूहभूतां पृथ्वीं, तथा मूर्तमेव जल तेजो वांयु च मन्यमाना आकाशंचावकाशमेव स्वीकुर्वन्त एषां मौलिकतत्त्वतां खण्डयन्ति, तेऽपि 'इलेक्त्राण'[1] 'प्रोत्तान'[2], न्युत्राणा'[3]दित्त्वानामाविष्कारे सत्यधुना स्वमतं परित्यजन्ति। आयुर्वेदीयतत्त्वज्ञानेऽपि भूतानि मौलिकतत्त्वानि न सन्ति, अपि तु सांयोगिकानि एकोत्तरगुणवृद्ध्या प्रवृत्तानि सन्ति। वर्गीकरणप्रक्रिया पदार्थतत्त्वबोधनमेवायुर्वेदाचार्याणामभिप्रेतम्, तथा च पाश्चात्यविज्ञानसिद्धानामलिमान्तानामपि पञ्चसु वर्गेष्वेव सन्निवेशः कर्तुं शक्यते—इति तेषामाक्षेपाय नास्ति किंचित् स्थानम्।

सिद्धायामेवं पञ्चभूतानां सत्तायाम्-भूतानां मूलतत्त्वस्य आकाशः सर्वप्रथमाऽवस्था, पृथिवी तु सर्वान्तिमाऽवस्था। मध्यागतानि वायुतेजोजलरूपाणि तत्त्वानि तु पृथिवीपर्यन्तानामवस्थानां विविधपरिणामः संजनकानि भवन्ति। अत एवोच्यते—

शीतांशुः क्लेदत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि सश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः॥
(सु० सू० ६।८ इति)

एते त्रयोऽपि भावा दिव्याः 'आधिदैविकाः' सन्ति। मानवाहारव्यवहारयोरूपयुज्यमानेषु स्थावरजङ्गमात्मकेषु औषधिवनस्पतिखनिजजैवादिपदार्थेषु ये भवन्ति एतेषां भौतिकाः परिणामाः अर्थाद् एतेभ्यो ये 'पार्थिवाः' उत्पद्यन्ते, त एव 'भौतिका' 'आधिभौतिका' वा भावाः कथ्यन्ते। तेषां खलु भौतिकानां भावानामुपयोगेन मानवादिशरीरेषु ये जायन्ते क्लेदकादयः, पाचकादयः गतिरूपा गतिसम्पादका वा भावास्ते खलु भवन्त्याध्यात्मिकाः भावाः। आत्मनि शरीरे वा मनसि वा समुत्पन्ना 'आध्यात्मिका' भवन्ति। तत्र शरीरे समुत्पन्नास्त्रिविधा भावा एव 'वातपित्तकफाः' उच्यन्ते, मानसास्तु सत्त्वरजस्तमांसि' कथ्यन्ते। शास्त्रेषु हि आध्यात्मिकानामाधिभौतिकानामाधिदैविकानां च भावानामेकत्वमेव स्वीक्रियते, अवस्थाभेद एव केवल तेषु तेषु रूपेषु। तदुक्तं श्रीमद्भागवते (२।१०।८)

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥ इति।

उक्तं चैतज्जगद्गुरुभिः श्रीशंकरभगवत्पादैर्ब्रह्मसूत्रभाष्ये—'न ह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरपि अध्यात्ममधिदैवत च तत्त्वमिदम्-'अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य 'तथा त एते सर्वेसमाः सर्वेऽनन्ताः (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति। तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्रा-

---

१. Electron २. Proton ३. Neutron

ध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति'। (ब्र० सू० शां० भा० ३।३।२७।४३ इति।
उक्तं च चरकेण—

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतेस्तथा॥
(च०चि० २६, २९२) इति

अवस्थाभेदे नामभेदोऽपि—

इत्थमत्र विश्वजीवातुभूतानां सोमसूर्यानिलानामधिदैवतभावानामेव शरीरे वातादिरूपेण परिणाम इति सिद्धम्। परन्तु अवस्थाभेदे नामभेदोऽपि व्यवहारसौकर्याय तेषु भवत्येव ते एव भावा अधिदैवतं सोमसूर्यानिलाः कथ्यन्ते, अधिभूत च कारणद्रव्यात्मना जलानलानिला उच्यन्ते, कार्यद्रव्यात्मना चाहारविहारादिषूपयुज्यमानानन्ततत्तद्द्रव्यनामभिरुच्यन्ते, अध्यात्मं चैते भावा क्रमशः कफपित्तवातनाम्ना व्यपदिश्यन्ते। यद्यपि भवति क्वचित्सांकेतिकभाषा-स्थलादौ आधिदैविकमूलतत्त्वनाम्नाऽपि व्यवहारः, परन्तु नासौ सार्वत्रिकः। यथा—

जिह्वामूले स्थितो देवि! सर्वतेजोमयोऽनलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमूले प्रतिष्ठितः॥
इति (प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्)

पाश्चात्यचिकित्सापद्धत्यनुयायिनोऽधुना मुखस्थलालायां बोधककफवद् यान् 'म्युसीन'[1] 'पेप्सीन'[2] प्रभृतीन् पैत्तिकान् कांश्चित्पदार्थान् वर्णयन्ति, त एवेह अनलभास्करचन्द्रादिनामभिरुच्यन्ते। सोऽयं वर्णनशैलीभेद एवाचार्याणां, न तत्र तत्त्वभेदे तात्पर्यं पर्येष्टव्यम्।

वातादीनां विश्वव्यापकत्वम्—

'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (कठ० ५, ९-१०)', पय, पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः' (यजुः० १८-३६) इत्यादिश्रुतिवचनैः वातरवीन्द्वात्मना वा, वाय्वग्निजलात्मना वा, वातपित्तकफात्मना वा सर्वमेतज्जगद् व्याप्तं वर्तते। नैकमण्वपि तादृशं किमपि वस्तु वा स्थानं वर्तते, यदेतैर्वातादिभिर्व्याप्तं, प्रभावितं, संवद्धं वा न स्यात्। सर्वत्रैव एषामबाधितं साम्राज्यं विराजते।

वातादीनां देहधातूनां च संघटनम्

उक्तस्त्रयाणां दोषाणां विकाशः पञ्चभ्यो भूतेभ्यः। तत्र-आकाषवायुभ्यां शरीरे वायोर्विकाशः तेजोजलाभ्यां पित्तस्य, जलपृथिविभ्यां च कफस्य विकाशः। अन्येषां चापि देहधातूनां पान्चभौतिकमेव संघटनम्। तच्चाधस्तादुपदर्श्यते—

---

१. Muein २. Pepsin

१. अद्भ्यो रसस्य
२. तेजोजलाभ्यां रक्तस्य
३. पृथिव्या मांसस्य
४. पृथिव्यद्भ्यो मेदसः
५. पृथिविवायुभ्यामस्थ्नाम्
६. अद्भ्यो मज्ज्ञः
७. अद्भ्यः शुक्रस्य
८. जलानलाभ्यां मूत्रस्य
९. पृथिव्याः पुरीषस्य
१०. अग्नेरार्तवस्य
११. अद्भ्यः स्वेदस्य
१२. अद्भ्यः स्तन्यस्य
१३. सर्वधातुभ्य ओजसः (सोमाच्च)
१४. सोमान्मनसः
१५. सूर्याद् बुद्धेः ।इतिः

एतत्संवादी डह्लणः स्वनिर्मितान् श्लोकानाह—

यद्यपि पञ्चभूतानां वाच्यः पाको द्विधा पुनः।
तथाप्यपां प्रधानत्वाद् रसः सौम्योऽभिधीयते ॥१॥ । धी
अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेमांसे तु पार्थिवाः।
मेदस्यम्बुभुवोरस्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ॥२॥
मज्ज्ञि शुक्रे वा सौम्यस्य मूत्रेऽम्बुशिखिनोर्गुणाः।
भुवो विश्यार्तवे त्वग्नेः प्रस्वेदस्तन्ययोरपाम ॥३॥
इति धातुमलेषूक्ताः गुणाः प्राधान्यतः स्थिताः।
प्रायेण भूगुणाः गर्भे स्तोकाद्यनुग्रहा इति ॥४॥

(सु० सू० १५।१४) इति।

त्रिदोषसिद्धांतेऽवान्तरसिद्धांताः—

आयुर्वेदरहस्यपरिबोधपूर्वकं प्राणाभिसरवैद्ययशोलब्ध्यै उक्तैर्वातपित्तकफैस्त्रिभिर्भावैः सह सम्बद्धा नानाविधा भावा विज्ञेया भवन्ति, यद्विज्ञानेनात्यावश्यकाः अवान्तरसिद्धांताः परिनिष्ठाप्यन्ते। तेषु कांश्चन दिग्दर्शनधिया नाममात्रेण परिदर्शयामः—

वातादीनाम्—

१. वृद्धिक्षयौ
२. परस्परं संसर्गः
३. परस्परं संनिपातः
४. धातुभिः संसर्गः
५. मलैः संसर्गः
६. विरोधिलक्षणानि
७. मिश्रितलक्षणानि
८. रोगप्रकृतिता
९. विकृतिकारणानि
१०. विकाराः सामान्यजाः,
११. विकारा नानात्मजाः
१२. दूष्याः
१३. स्थानानि
१४. तज्जरोगाधिष्ठानानि
१५. समस्त रोगमूलस्रोतस्त्वम्
१६. सत्त्वादिगुणैः सह सम्बन्धः

१७. रसैः सह संबंधः
१८. वीर्येण सह संबंधः
१९. विपाकेन सह संबंधः
२०. प्रभावेण सह संबंधः
२१. कल्पनायां को हेतुः ?
२२. प्रकृतिः (शरीरवाङ्मनः संबद्धाः)
२३. विकृतिः
२४. स्रोतांसि सामान्यविशेषात्मकानि
२५. प्राकृतकर्माणि
२६. वैकृतकर्माणि
२७. रोगविशेषदृष्टिः
२८. इन्द्रियेन्द्रियार्थविशेषसंबंधः
२९. वयोऽवस्थादिसंबंधः
३०. ऋत्वहोरात्रादिकालसंबंधः
३१. आहारविहारादिविशेषसंबंधः
३२. तिर्यगादिजन्तुविशेषसंबंधः

अलमेतावता। अन्येऽपि बहवः सन्ति विज्ञेया विशेषाः, परन्तु स्थानसमययोरभावान्न तत्र पदक्रमः कर्तुं शक्यः। वैज्ञानिकश्चिकित्सकोऽवश्यमेतान् विज्ञायैव कर्ममार्गमधिविशति।

वातादीनां प्रत्यक्षीकारः—

महानयं विषयः, पुरतोऽवस्थाप्यते आयुर्वेदभक्तानां यत्—"अधुना शवव्यवच्छेदपदार्थ-परीक्षणादिप्रणाली यन्त्रादिसाहाय्येनाभूतपूर्वामुन्नतिं लब्धवती। शारीराणां तन्त्रयन्त्राणाम्-न्येषां च सूक्ष्मतमानामपि भावानां तथा परिज्ञानं कृतमस्ति, यथाऽणुतोऽप्यणुतराणि वस्तूनि तेषां कार्याणि चापरिज्ञातानि न स्थितानि। परन्तु बहुशः कृतेऽपि परीक्षणे गवेषणे च वाता-दीनां त्रयाणां दोषाणां न क्वचिदपि किंचदपि चिह्नमधुनावामधि समासादितमिति"। नेताव-त्येव विश्रान्तिः, अपि तु रागद्वेषादिविहीनान्, निःस्वार्थान्, विश्वहितायात्मबलिदानं कृतवतो महामहिमशालिनो महर्षीन् प्रत्यपि निन्दावाक्यानि अभद्रा गालिश्च श्रोतुं बाधिता भवामस्त्रि-दोषविषयेऽत्युग्रनवीनतावादिनाम्। तानेतान् विप्रतिपन्नान् प्रेम्णाऽऽमन्त्रयामः— भोः! भोः! प्रत्यक्षैकमात्रजीविता बन्धवः! आगच्छत, मनो निष्कल्मषं समाधाय पश्यत, वातादीन् प्रत्यक्षं प्रदर्शयामः। मानवादिशरीरे हि त्वग्रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रांतपदार्थेषु तु न केषामपि विप्रतिपत्तिः स्यात्, तेषां निर्माणक्रमे विवादेऽपि, सूक्ष्मरचनाविवेचने नवीनानामेकाधिकारेऽपि च तदीयप्रत्यक्षीकरणे सर्वेषामेकमत्ये बाधकाभावात्। अथ तु क्रियाशरीरे विवेच्यमाने एतदतिरिक्तांस्तत्तेषामवयवानां विविधान् स्रावान्, तेषां कार्याण्यापि च यंत्रादिसाहाय्येना-धुना सौलभ्येन प्रत्यक्षीकुर्वन्त्येव सर्वे। तत्र—ये मधुरलवणरसवन्तः पुष्ट्युपचयादिजननाः पदार्थास्ते एवायुर्वेदेन कफवर्गे निवेशिताः, क्षाराम्लप्रतिक्रियावन्तः संघातभेदनपाचनदहना-दिक्रियाकारिणो एव स्रावपदार्था आयुर्वेदेन पित्तवर्गे परिगण्यन्ते, अथ ये निःस्रोतस्कग्रन्थ्या-दीनां स्रावा अन्यान् कांश्चित् शारीरभावान् स्वस्वक्रियाः सम्पादयितुं प्रभावयन्ति, प्रेरयन्ति, चालयन्ति, उत्तेजयन्ति वा, सर्वेषां च धात्वादीनां गत्यादिकान् नियमयन्ति, सर्वविधानि संज्ञाचेष्टावहानि नाड्यादितंत्राणि च परिचालयन्ति तरलविरलभावाभ्यां, ते सर्वे पदार्था इह वातशब्दव्यपदेशं लभंते-इति नव्यजनाभिमतेष्वेव पदार्थेषु वयं वातादीनां समन्वयाय संनद्धा

स्मः। यदि तेषां स्रावादय इमे प्रत्यक्षास्तर्हि आयुर्वेदस्य वातादयोऽपि प्रत्यक्षा एवेति दृढं प्रतिपादयामः केवल नाममात्रे एव विवादी विभेदगर्तश्च, न तु वस्तुतत्त्वे न खलु आयुर्वेदेन वातादयस्त्रय एकैकवस्तुरूपाः स्वीक्रियन्ते, अपितु विभिन्नकार्यकारिणां विभिन्नरूपाणां च नानाविधानां तत्त्वानां केनचित् सामान्येन पूर्वं पञ्चधा चैषान् परिकल्प्य, तदनन्तरं च तेषामपि अन्येन सामान्येन कल्पितास्त्रयो वर्गा एव वातादयस्त्रयः।

शंकासमाधाने:—

ननु, अतीव नवीनमिदमुपन्यस्यते, यदद्यावधि न क्वचिद् दृष्टं न चापि विश्रुतम्। पित्तकफयोर्हि द्रवत्वाभ्युपगमात् तयोः प्रत्यक्षीकृतेषु स्रावविशेषेष्वन्तर्भावेऽपि, वातस्य "वायोरात्मैवात्मा" (सु० सू० ४२।५) इत्यायुर्वेदसिद्धांताद् वायोर्द्रवत्वं प्रतिपाद्यमानं कथमिव संगच्छेत ? इति चेत्, श्रोतव्यम्—वैदिके विज्ञाने सर्वेषां ध्रुव-धर्त्र-धरुण[1]रूपाः (घन-तरल-विरलरूपाः) तिस्रोऽवस्थाः स्वीक्रियन्ते, यथा-जलस्य हिमं घनम्, आपस्तरलाः, सोमो विरल इति। इमाश्चावस्था पदार्थान्तरसंयोगविशेषमवाप्य स्वयं जायन्ते, पुरुषप्रयत्नेन वा जायन्ते। पृथिव्यप्तेजांसि पूर्वं वायुरूपाण्येव भवन्ति। स्वयं वायुश्च सूक्ष्मः प्राणरूपः पदार्थः, "प्राणो ह्येष योऽयेपवते" इत्यादिश्रुतेः। एकोनपञ्चाशद्विधश्चायं वायुर्विज्ञात आसीद् वैदिके विज्ञाने। तेषामनेकेषां समूहरूपोऽयं भौतिको वायुः। एतेषु च द्वौ वायू अम्भः सोमपवमानसोम[2]नामकावपि स्तः। अम्भःसोमो जलजननो दाह्यः पदार्थः, पवमानसोमस्तु अग्निजननो दाहकः पदार्थः। एतयोर्द्वयोर्योगादेवस्थूलं पेयादिरूपं जलं निष्पद्यते। एतदविज्ञानसूचमेकं जलनाम वर्तते 'वाताप्यम्' इति। एतन्निर्वचनाय निरुक्तकारस्तत्रभवान् महर्षिर्यास्को वक्ति-'वाताप्यमुदकं भवति, वात एतदाप्याययति" (नि० नै० ११३, पू० ५२०) इति। एतद्भाष्यकृद्दुर्गाचार्यः कथयति-"आप्यायतिर्वृद्ध्यर्थः, पुरोवातेन हि वृष्टिभूतमुदकं संवर्धते" इति। अन्यापि निरुक्तिरिह स्यात्-"वाताभ्यांदिवविधाभ्यामम्भः सोमपवमानसोमरूपाभ्यामाप्यते-लभ्यते" इति। ततेवमाधिदैविकेऽवस्थाविशेषे यदा वातविशेषाभ्यां जलप्रादुर्भावस्तदा अध्यात्ममपि वातविशेषयोः कयोश्चित् केषुचिदवयवेषु तदीयस्रावरूपेणोपलब्धिर्भवेत् तर्हि किमाश्चर्यम् ? ब्रुवन्ति हि क्रियाशारीरलेखकाः नवीना वैज्ञानिकाः संज्ञाचेष्टावहेषु नाडीतन्तुषु शाखाविभागस्थले संज्ञादिवहनप्रयोजनां परिस्रावोत्पत्तिम्। तस्मात्सुसंगतमेव तदिदं नवीनमप्यतीव प्राचीनं वैदिकं निरूपणम्। इदं त्ववधेयम्-नात्र प्राणरूपस्य वा विभिन्नवाय्व्य (गैसादि[3]) रूपस्य वा वायोः सर्वेयेव द्रवता स्यात्, विभक्तरूपेणापि तस्योपलब्धेः। यावदावश्यक तावदेव प्राकृतिकव्यवस्थया द्रवत्वं तत्र स्यात्। तदेव संक्षेपेण परीक्षितस्त्रिदोषसिद्धांतः। कीटाणुवादमधुना परीक्षामहे।

1– Solid-Liquid-Gases 2– Hydrogen and Oxygen. 3– Gases.

कीटाणुवादः—

आयुर्वेदीया चिकित्सा पद्धतिर्यथाऽऽधारीकुरुते त्रिदोषसिद्धांतं तथा पाश्चात्या चिकित्सा-पद्धतिराधारीकुरुते 'कीटाणुवादम्'। द्वयोरेतयोः पद्धत्योः सर्वा हर्म्यावलो उक्तसिद्धांतद्वयमूल-भित्त्योश्रयेणेव स्थितेति प्रत्यक्षम्। सिद्धांतपरित्यागे तु तत्कालमेव परिध्वसेत सा सा पद्धति-रेव। परन्त्वाश्चर्यमेतदेव यत्-या पद्धतिः प्रत्यहं स्वसिद्धांतान् परिवर्तितवती परिवर्तयति च, साऽपि उदरम्भरितामात्रलक्ष्येः केश्चन विष्टब्धा शाश्वतीममरामविचाल्यामपि अधुना न केवलं विचालयितुमेव, अपि तु मूलादुत्पाटयितुं प्रवर्तते, संचालयति च चीनभारतयोरिव तुमुलं सीमाविवादम्। आसीन्नाम कदाचन द्वयोरनयोः सिद्धांतयोः समन्वयोऽपि च सगमोऽपि च, यथाऽधस्तनाद् वेदमन्त्रादवगम्यते—

यत्रोषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥

(शुक्. १०, ८, ६७, ७) इति

मन्त्रेऽस्मिन् भिषजि नानाविधानां सिद्धौषधानां यथा विशिष्टं विज्ञानमावश्यकमुक्तम्, रक्षसां हननमहिम्ना यातनं चाप्यावश्यकत्वेनोपदिष्टम्। तत्र 'रक्षः' शब्दो राक्षसभूतप्रेतपिशा-चादीनामिव कीटाणूनामपि वाचको वेदे स्वीक्रियते, 'अमीव' शब्दस्तु सर्वथैव कीटाणुवाचकः। अनयोर्द्वयोर्यदर्थं पुनरुक्त्या प्रयोगः कृतस्तत्रास्ति किंचिद् विशिष्टं तात्पर्यम्। तत्र 'रक्षः' शब्दः "रक्षः रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ अक्षते-गच्छति इति वा" (निरुक्ते पृ० ३०८) इति व्युत्पत्तिभिर्बहिष्टः आक्रमणकारी कीटाणुरभिधीयते, यः खल्वागन्तुकान् रोगानु-त्पादयति, 'अमीवा' तु "अमरोगे" इति धातोर्निष्पन्नः शारीराग्नेर्मान्द्यादामप्रादुर्भावे सति आमयजनित आमयजनको वा आन्तरिकः कीटाणुर्भवति। भिषक् खलु औषधप्रयोगे रोगं समूलमुन्मूलयन् बाह्येभ्य. क्रिमिभ्यः आन्तरिकेभ्यश्चोभयविधेभ्यो रोगिणो रक्षां रक्षोहननेना-मीवचातनेन च कुर्यादिति स्पष्टमुपदिशति भगवान् वेदः।

क्रिमीणां (कीटाणूनां) विशिष्टं वर्णनमथर्ववेद—

उक्ताः खलु ऋग्वेदमन्त्रेण बाह्याह आभ्यन्तराश्च द्विविधाः कीटाणवः क्रिमयो वा। अथर्ववेदे तेषां विशिष्टमद्भुतं च वर्णनमुपलभ्यते। यथाऽऽधुनिकाः 'दीमक' पदबोध्यानां वम्रीणां मधुमक्षीकादीनां च पृथगेव कस्यचिज्जगतः कल्पनां कुर्वन्ति, तत्र च आहाराहर्त्तॄणां, भवननिर्मातॄणां, शत्रुनिराकरणाय योद्धॄणां व्यवस्थां दर्शयन्ति, तथेत्राथर्ववेदेन रोगसम्बद्धेषु क्रिमिषु 'स्थपति'-संज्ञया गृहनिर्मातॄणामण्डदायिनीनां मातृसंज्ञानां च स्पष्टं नाम उद्घोष्यते। क्रिमिषु योद्धारो 'राजसंज्ञयाख्यायन्ते, तेषां भ्रातॄणां स्वसॄणां चापि समूहरूपेणोद्भवतां नाम निर्दिश्यते। दृश्यतामधस्तनो मंत्रः—

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥

(अथर्व० ५,२३,११) इति ।

क्रिमयो यत्रापि देहावयवे पदं कुर्वन्ति, तत्रैव "क्रिमिः क्रव्ये मेधति" (निरुक्ते पृ० ४७२) इति निरुक्त्यनुसारमाममांसादीनि लभन्ते, तानि गवेषयन्तः किमिदानीमस्मद्भक्षणायावशिष्टम्, किं वाऽन्यत्र लप्स्यते इति गवेषणकरणात् 'किमिदिनः' इति व्यपदिष्टा दृढान् स्वनिवेशानुपनिवेशांश्च स्थापयन्ति, तत्र स्थिताश्च चिरं जीवन्तस्ते साधारण्येन कथंचित् शान्ता इव दृश्यमानाः पुनरुत्पातमारमन्ते । अतो वैद्येन तेषां दुर्गभूत निवेशा उपनिवेशाश्चापि ध्वंसनीयाः, यथोक्तम्—

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥

(अथर्व० ५, २३, १२) इति ।

इहोत्तरार्धेन ये क्षुद्रा इव प्रतीयमाना अण्डरूपाः स्युस्तेऽपि नोपेक्षणीया इत्युपदिश्यते । एतेषां क्रिमीणामुपद्रवान् विनाश्य मानवजीवनं स्वस्थं सुखि च सम्पादयितुं बहवो महर्षयो गवेषणां कृत्वा स्वसम्प्रदायानस्थापयन्, येषु केषांचिन्नामानि सगौरवं श्रूयन्ते वेदे यथा—

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥

(अथर्व० ५, २३, १०) इति

इह स्वल्पीयसि अवकाशे न परिपूर्णं विवेचनं कर्तुं शक्यम् । दिग्दर्शनमात्रमिह कृतम् ।

क्रिमीणां नामविशेषै रोगविशेषसम्बन्ध—

बहून्येषां क्रिमीणां नामानि वेदे आयुर्वेद च श्रूयन्ते, यैस्तेषां स्वरूपस्य, अवयवसंस्थानस्य, क्रियाकलापस्य, उत्पाद्यरोगादीनां च सम्बन्धः सुष्ठु परिचीयते । इह जिज्ञासूनां परिबोधाय रोगविशेषसबंधसूचकानि व्युत्पत्तिसहितानि कानिचिन्नामानि निर्दिशामः—

१ अजवा—

नास्ति जवः वेगो येषु ते 'अजवाः', मन्दसंचाराः इत्यर्थः । सुश्रुतेन क्रिमयः इमे पुरीषजा उक्ताः । अजवत्वादेते मलं विबध्नन्ति इति संभाव्यते ।

२ अन्त्रादा—

अन्त्राणि अदन्ति=खादन्ति इति अन्त्रादाः, अन्त्रेषु क्षतादि जनयित्वा पिच्छास्रावमन्यांश्च महास्रोतोदुष्टिजान् रोगानेते उत्पादयन्तीति शास्त्रेण वेद्यम् ।

३ उदरादा—
उपरम्=उदरगुहाम् अदन्ति इति व्युत्पत्त्या उदरच्छदायां कलायां जलोत्पादादिविकृति-कारिण एते क्रिमयः स्युरित्यनुमीयते। चरकेण क्रिमय इमे कफजा उक्ताः।

४ उदरावेष्टा—
उदरम् उदरस्थान्त्रादिभागान् आवेष्टयन्ति इत्युदरावेष्टाः, सर्पादिवत् ये अन्त्रादीनि वेष्टयन्ति ते तादृशा इमे क्रिमयः अ०हृ०, अ० सं०, शा०, मा० इत्यादिग्रंथेषु कफजाः प्रतिपादिताः।

५ उदुम्बरा—
उदुम्बरफलस्थकृमिवद् ये जायन्ते, ते उदुम्बराः। इमे अ०हृ०, अ०सं०, शा०, मा० ग्रंथेषु रक्तजाः कथिताः। रक्तं दूषयित्वा एते औदुम्बरकुष्ठोत्पादका भवन्ति इति नामसाम्यात् तर्कयितुं शक्यते।

६ औदुम्बरा—
उदुम्बरा एव औदुम्बराः (स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः)। इह दकारस्थाने डकारोऽपि पठ्यते, अर्थे तु न कश्चिद् भेदः। इमे चरकेण रक्तजा उक्ताः। इमेऽपि पूर्ववद् रक्तदुष्टिजनकाः कुष्ठोत्पादकाश्च।

७ ककेरुका—
ककन्ति=चाञ्चल्यं कूर्वन्ति इति ककेरुकाः, अतीव चञ्चलाः इत्यर्थः। "ककलौल्ये" इति धातुः। इमे क्रिमयः च०, अ०हृ०, अ०सं०, शा०मा० ग्रंथेषु पुरीषजाः कथिताः। इमे पुरीषविकृतिं विधाय तज्जान् रोगान् जनयन्तीति।

८ किकिशा—
किविकशानां=गर्भिण्युदराधोभागगतकण्डूजन्यचिह्नानां कर्तृत्वादिमे किविकशाः यद्वा—किं किं शरीरधात्वादिकं श्यन्ति=नाशयंतीति किविकशाः। "पृषोदरादित्वाद्" रूपसिद्धिः। इमे सुश्रुतेन रक्तजा उक्ताः।रक्ते कण्डूं जनयित्वा तद्घर्षणेन चिह्नविशेषजनका जायंते।

९ किप्या—
केन=येन केनापि शरीरधातुना भक्षितेन प्यायंते=पीनाः पुष्टा वा भवंति इति किप्याः। सुश्रुतेनैते पुरीषजाः प्रोक्ताः ततश्च—केन=कुत्सितेन पुरीषा दिना प्यायंते इति तथोक्ताः—इति व्युत्पत्त्यन्तरमपि कर्त्तुं शक्यम्। इमेऽपि पूर्ववत् पुरीष विकृतं कृत्वा तज्जान् रोगान् जनयेयुरिति प्रतीयते।

१० कुरवा—
को=पृथिव्यां रवः=सन्त्रासजनकः शब्दो नामप्रचारो वा येषां ते "कुरवाः"। यद्वा—कुत्सितः=निन्दितो रवः नामश्रुतिर्येषां ते 'कुरवाः'—यन्नामश्रवणमपि त्रासजनकं भवति तादृशा

इत्यर्थः : कफजा इमे अ०हृ०, अ०सं० ग्रन्थयोरुक्ता- इमे कफजान् रोगानुत्पाद्य जनपदोद्ध्वंस-कराजायन्ते इत्यनुमीयते।

११ कुष्ठजा—

कुष्ठे जायन्ते=कुष्ठोत्पत्त्यनन्तरं तल्लक्षणत्वेन ये समुत्पद्यन्ते ते कुष्ठजाः। सुश्रुतेन क्रिमय एते रक्तजा उक्ताः। कुष्ठे हि—रक्तं लसीकात्वंडमांसमित्येते धातवो दुष्यन्ति तत्र विदुष्टे रक्ते ईदृशानां क्रिमीणामुद्भवः स्पष्ट एव।

१२ केशादा :—

केशान् शिरःस्थबालान् अदन्ति इति केशादाः, केशान् विनाश्य खल्वाटत्वजनकाः इत्यर्थः। क्रिमय एते च०, सु०, अ०हृ०, अ०सं९, शा०, मा० ग्रंथेषूक्ता रक्तजाः भवन्ति।

१३ गण्डूपदा :—

गण्डूपदैः=भूनागैस्तुल्या;—गण्डूपदाः। एतादृशाः क्रिमयः केषांचिन्मलेन सह निर्गच्छन्ति। एते सुश्रुतेन पुरीषजा उक्ताः।

१४ चिप्पा :—

अङ्गुलिषु चिप्परोगजनकाः, चिप्पस्तु नखरोगविशेषः। एतेऽपि क्रिमयः सुश्रुतेन पुरीषजा उक्ताः।

१५ चिपिटा :—

आकारेण चिपिटत्वात् चिपिटाः, अर्थात्—सूक्ष्मत्वेऽपि गोललम्बाद्याकाररहितत्वेन चिपिटा येस्युस्ते चिपिटा। एते सुश्रुतेन कफजाः कथिताः।

१६ चुरवः —

चोरयन्ति=स्तेनयन्ति भुक्ताहारपरिणामभूतान् रसादिधातूनिति चुरवः, "चूर्णिया"—नामानः। चरकशार्ङ्गधरमाधवैरेते कफजाः सुश्रुतेन तु रक्तजा उक्ताः।

१७ दन्तादा :—

दन्तान् अदन्ति इति दन्तादा, दन्तवेष्टोपकुशादिरोगेषु जाता ये दन्तान् खादन्ति तादृशाः। केषांचिदेते प्रोक्तरोगान् विनाऽपि केवलं दन्तेषु प्रादुर्भवन्तस्तान् कृष्णबभ्रून् विधाय शनैः शनैः विशीर्णान् कुर्वन्तो दृष्टाः। सुश्रुतेन रक्तजाः कथिताः

१८ दर्भकुसुमा :—

दर्भाणां कुशानां पुष्पैः सदृशा ये आकृत्या भवन्ति, ते दर्भकुसुमाः, 'दर्भपुष्पा' वा वेदितव्याः। एते चरकसुश्रुताष्टाङ्गहृदयसंग्रहशार्ङ्गधरैः कफजाः कथिताः।

१९ दारुणा :—

दारयन्ति=शरीरचर्मादि विदार्य विपादिकाख्यं विकारं ये जनयन्ति, ते दारुणाः। एते सुश्रुतेन कफजा उक्ताः।

२० द्विमुखाः—

द्वे द्वे मुखे येषां ते द्विमुखाः, द्विमुखनामकसर्पवद् येषामुभौ भागौ मुखवद् भासेते, ते-द्विमुखाः। सुश्रुतेनेते पुरीषजा उक्ताः।

२१ नखादाः—

नखान् अदन्ति इति नखादाः। एते नखविकृतिजनका नखनाशका वा क्रिमयः सुश्रुतेन कफजाः कथिताः।

२२ परिसर्पाः—

परितः सर्पन्ति= एकत्रोत्पद्य परितो धावन्ति इति परिसर्पाः, सुश्रुते रक्तजाः।

२३ पिपीलिकाः—

पिपीलिकाः नाम लध्व्यः कीटिकाः, तद्वदाकारयुक्तत्वात् पिपीलिकाः। यद्वा-चरकानुसारं पिपीलिकाः=लिक्षाः। एते सुश्रुतेन कफजाः कथिताः।

२४ प्रलूनाः —

प्रलूयन्ते=छिन्ना भवन्ति, अर्थात्–एकस्माद् द्वौ, द्वाभ्यां चत्वारः, चतुर्भ्योऽष्ट इति क्रमेण प्रजायन्ते इति प्रलूनाः। एते सुश्रुतेन कफजाः उक्ताः।

२५ मकेरुकाः—

मङ्कन्ते=मुद्रिकादिमण्डनविशेषाकाराः प्रतीयन्ते इति मकेरुकाः ('रिंगवर्म'-प्रभृतयः। इह "मकि मण्डने" इति धातुः। च०, अ० हृ०, अ० सं०, शा० मा० ग्रन्थैरेते क्रिमयः पुरीषजाः कथ्यन्ते।

२६ मलूनाः—

मलात्=पुरीषादिरूपाद् ऊनाः=प्रमाणादिना हीनाः मलूनाः। मलूताः इति पाठे तु–मलेषु ऊताः=सुरक्षिताः, यद्वा–मलेषु उताः सन्तताः मलूताः स्युः। इमे शार्ङ्गधरमते पुरीषजाः क्रिमयः।

२७ महाकुहाः—

कुहयन्ते=विस्मापयन्ति, निमित्तलक्षणस्वरूपादिविज्ञाने व्यामोहमापादयन्ति इति कुहाः, महान्तश्च ते कुहाः—महाकुहाः—"ग्रेटेस्ट क्वैक्स" संज्ञाः। एते अ० हृ०, अ० सं०, शा०, मा० आदिभिः कफजाः कथिताः।

२८ महागुदाः—

महद् गुदं येषां ते महागुदाः। इमे क्रिमयो गुदभागे स्थूलाः, मुखभागे तु तनवः चरकेणैते कफजाः कथिताः।

२६ महापुष्पा

महत्=अतिप्रमाणं पुष्पम्=आर्तवं यैस्ते महापुष्पाः, प्रदरोत्पादका इत्यर्थः। एते सुश्रुतेन पुरीषजा उक्ताः। एतेन प्रदरे पुरीषविकृतेरपि सम्बन्धः सूच्यते।

३० मातरः—

मिमते, मान्ति वा=जनयन्ति अन्यान् क्रिमीन् ता मातरः। अन्येषामन्येषां क्रिमीणामुत्पादनार्थंमण्डदानमेव यत्कर्म ता मातरः। अ० हृ०, अ० सं०, शा० मा० चरकादिभिः क्रिमय इमे रक्तजाः कथिताः। क्रिमिजगत् पूर्वं सूचितमेव।

३१ रोमद्वीपाः—

रोमाणि द्वीपवत्=निवासाय द्वीपतुल्यानि येषां ते रोमद्वीपाः, शरीरस्थरोमनिवासिन। एते च०, अ० हृ०, अ० सं०, शा०, मा० आदिभिः रक्तजाः कथिता।

३२ रोमविध्वंसाः—

रोमाणि विध्वंसयन्ति=नाशयन्ति इति रोमविध्वंसाः—लोमशातना। एते क्रिमयोऽष्टाङ्गहृदयसंग्रहशार्ङ्गधरमाधवादिभिः रक्तजाः उक्ताः।

३३ रोमादा—

रोमाणि अदन्ति=भक्षन्ति इति रोमादाः, लोमशातना इत्यर्थः। एते चरकसुश्रुताभ्यां रक्तजाः कथिताः।

३४ लेलिहा—

पुनः पुनः अतिशयेन वा लिहन्ति=आस्वादयन्ति धातून् इति लेलिहाः। क्रिमय=एते च०, अ० हृ०, अ० सं०, शा०, माधवादिभिः पुरीषजाः कथिताः।

३५ विजवा—

विगतो जवो=वेगो येषां ते विजवाः—वेगशून्यगतयः इत्यर्थं। सुश्रुतेनोक्ताः पुरीषजाः एते।

३६ सलूताख्या—

लूताभिः=लूताविषेण सह वर्तन्ते इति सलूताः, 'सलूताः' इति आख्या येषां ते 'सलूताख्याः', लूताविषे उत्पन्नाः इत्यर्थः। एतेऽष्टाङ्गहृदयसंग्रहाभ्यां पुरीषजा उक्ताः। संभवतो लूतादंशेन प्रभाविते पुरीषे एते समुत्पद्येरन्।

३७ सशूलका—

शूलेन सह वर्तन्ते इति सशूलाः, सशूला एव सशूलकाः, शूलजनकाः इत्यर्थः, चरकमाधवाभ्यां पुरीषजाः एते कथिताः।

३८ सौगन्धिका—

सुगन्धे भवाः सौगन्धिकाः, शरीरे सुगन्धदुर्गन्धाद्युत्पादकाः इत्यर्थः, चरकाष्टाङ्गहृदयसंग्रहैरिमे कफजाः कथिताः।

३९ सौरसा—

सुरसे मधुरादिरसवद्द्रव्ये भवाः सौरसाः, मधुराद्यतियोगेन जायमाना इत्यर्थः। चरकाष्टाङ्गहृदयसंग्रहैः पुरीषजाः इमे कथिताः।

४० सौसुरादा—

सुहिताः=तृप्ताः सुरायाः=मद्यस्येति सुसुराः, सुसुरा एव सौसुराः, तान् अदन्ति इति सौसुरादाः, अतिशयमद्यसेवनेन जायमानाः इत्यर्थः। एते चरकाष्टाङ्गहृदयसंग्रहशार्ङ्गधरमाधवैः पुरीषजा उक्ताः।

४१ हृदयचरा—

हृदये हृदयं वा चरन्ति=गच्छन्ति भक्षन्ति वा इति हृदयचराः, हृद्रोगजनकाः इत्यर्थः। चरकेणैते कफजाः प्रोक्ताः।

४२ हृदयादा—

हृदयमदन्ति इति हृदयादाः, हृद्रोगकारिणः इत्यर्थः। इमेऽष्टाङ्गहृदयसंग्रहशार्ङ्गधरमाधवादिभिः कफजाः कथिताः—इति।

इत्थमेते आयुर्वेदीयसंहितादिग्रन्थेषुपलभ्यमानाः केचन 'कीटाणवः' व्युत्पत्तिमात्रेण किंचिद्रोगसम्बन्ध लक्ष्यीकृत्य प्रतिपादिताः। वेदेषु तु इतोऽपि विलक्षणा विलक्षणनामधराश्च परःशताः कीटाणवो विविधक्रियाव्याधादिसम्बन्धोपदर्शकाः समुपलभ्यन्ते। योऽय 'ममीवा' नवीनवैज्ञानिकैः कीटाणूपदेशे सर्वप्रथममुपादिश्यते, तस्य वेदसहितासु शतशो मन्त्रेषु नाम प्राप्यते। यजुर्वेदे तु प्रथम मन्त्रे नव 'अनमीवा', 'अयक्ष्मा' इत्येताभ्यां पदाभ्यां गोराशीः श्रूयते। अय 'गमीवा' सर्वप्रथमं गर्भघातकक्रिमित्वेन परिज्ञातः पश्चादनेकरोगसम्बद्धो विज्ञाच्छते स्म। तदुक्तम्—'अमीवा गर्भविध्वंसी क्रिमिर्वा रोग एव वा' (वैदिककोशे पृ०) इति। सर्वेषां वेदोक्तानां क्रिमीणां वर्णनार्थं तु पुस्तकमेकं निर्मातव्यमायतति इति केसांचिद् विलक्षणानां नाम्नां सूचिमेकामुपस्थाप्य विरंस्यामः। तद्यथा—दुर्णामा, अलिंशः, अलीशः, वत्सपः, पलालः, अनुपलालः, शर्कुः, कोकः, मलिम्लुचः, पलीजकः, आश्रेषः, वव्रिवासाः, ऋक्षग्रीवः, प्रमीली, सुनामा, अरायः, केशी, स्तम्बजः, तुण्डिकः, अनुजिघ्रः, प्रमृशन्, क्रव्यादः, रेरिहः, किष्की, स्वप्नदृश्यः, तिरीटी, स्वप्नत्सारी, जाग्रद्दिप्सन्, अवतोकाकृत्, मृतवत्साकृत्, कुसूलः, कुक्षिलः कुकुभः करुमः स्रिमः विषूचीनः करुन्धः कुकूरभा- दूर्शमृत—क्लीवप्रनर्ती वनधोषी सूर्या—तितिक्षी, बस्तवासी, दुर्गन्धिः, लोहितास्यः, मककः, असाहितात्मा, श्रोणिप्रतोदि, वधूपूर्वयायी,

शृङ्गहस्त:, आपाकेष्ठा:, स्तम्बज्योतिष्कर:, प्रहासी, पश्चात्प्रपद:, पुर:पार्ष्णि:, खलज:, शकृधमज:, उरुन्ड:, मट्मट:, कुम्भमुष्क:, अयाशु:, पर्यस्ताक्ष:, अप्रचङ्कश:, अस्त्रैण:, पण्डग:, संविवृत्सु:, आ ति:, उद्घर्षी, मुनिकेश:, जम्भयन्, मरीमृश:, उपेषन्, उदुम्बल:, तुण्डेल:, शालुड:, गर्भप्रतिमर्शी, अमञ्जातमार:, सूतिकानुशायी, स्त्रीभाग:, गन्धर्व:, पवीनस:, तङ्गल्व:, शायक:, नग्नक:, किमीदी, व्यास्य:, चतुरक्ष:, पञ्चपाद:, अनङ्गुरि:, वृन्तामिप्रसर्पी, वरीवृत:—इत्यादय. । कियद्वा परिगणयाम: । महदिदं गवेषणीयं वस्तु । मन्ये परिपूर्णतया कृते गवेषणे प्रातिमज्ञानशालिनां, योगीशानां च प्राचां महर्षीणां बुद्धिवैभवं वीक्ष्य दुर्दुरूढ़ातिरिक्ता: सर्वे एव नतमस्तका भवेयु: ।

कथमायुर्वेदीयं चिकित्साशास्त्रं त्रिदोषसिद्धान्तपुरस्कारेणैव प्रवृत्तम्—

कीटाणुवादस्य दिग्दर्शनेनानेन न खलु तिरोहितं स्यादेतस्य महत्त्वम् । परन्तु एतादृशे विज्ञानानुमते समृद्धे परिपूर्णे च साहित्ये सत्यपि सोऽयं कीटाणुवाद: किमर्थमुपेक्षित: किमर्थं चायुर्वेदे 'त्रिदोषवाद' एव चिकित्साशास्त्रे प्रामुख्यं लम्भित: इतिशका सर्वेषां पुरतोऽवतिष्ठते । एतदुत्तरं ब्रूम:—न खल्वायुर्वेदेन सर्वथा तिरस्कृत: कीटाणुवाद: । अन्यान्यरोगै: समानमेव 'क्रिमिनिदान' 'क्रिमिचिकित्सन' चोपनिबद्धमुपलभ्यने ग्रन्थेषु, क्रियते च सफलतया चिकित्साऽपि सर्ववैद्यै: । अथ च बहुषु रोगेष्वपि क्रिमीणां सम्बन्ध: स्पष्टमुद्घोषितो वर्तते । प्रसिद्धमेव 'सर्वाणि कुष्ठानि सक्रिमीणि (सु० नि० ५।५) इति वचनम् । अपि च—"कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच । औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम' (सु० नि० ५।३४) इति प्रतिपादनेन रोगसंक्रमणं कीटाणुद्वारकमेवेति आयुर्वेदाचार्याणां नास्त्यविदितम् । तथापि भगवत: पुनर्वसो: संहितोपदेशकाले एवाभूत् तादृशानामेकविधानामेवौषधानां गवेषणेच्छा चिकित्सकलोकस्य, समजायत च सार्वदिकस्य त्रिकालाबाध्यस्य चैकैविधस्यैव रोगहेतोर्जिज्ञासा येनोत्पद्येत प्रतिरोगं सारल्येन ज्ञानम् । दृश्यतां प्रमाणमग्निवेश:—"ननु भगवन् ! आदावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं, यथा प्रतिविहितै सिध्येदेवौषधमेकान्तेन" इति । भगवान् पुनर्वसुरात्रेय:—"शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधैर्वाऽपि अग्निवेश ! यथा प्रतिविहिते सद्ध्येदेवौषधमेकान्तेन, तच्च प्रयोगसौष्ठवमुपदेष्टुं यथावत् । न हि कश्चिदस्ति, य एतदेवमुपदिस्टमुपधारयितुंमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा" (च० सू०।१५।४५) इति । इह शिष्यस्य एकान्तेन सिद्धप्रदानामौषधानां जिज्ञासा स्फुटा भवति, गुरोस्तु तादृशं सामर्थ्यं योगमहत्त्वं च परिज्ञायते, येन प्रत्यक्षमिव सर्वे भावा: परिज्ञायेरन्, परन्तु आगामिनां जनानां शक्तिह्रासं पश्यता गुरुणा त्रिकालाबाध्यानां सर्वविधचिकित्सकपरिबोध्यानामेव सिद्धान्तानामुपदेशस्तेन विहित:—इति ।

ततश्च त्रिदोषवादे इव रोगमूलतया प्रसिद्धेऽपि कीटाणुवादे सर्वेषां रोगाणांमुत्पत्त्यादिप्रक्रियायास्तेन समाधानाभावात् 'त्रिदोषवाद' एव मुख्यो निरधारि महर्षिभि: । अधुना हि

रक्तादिपरीक्षणेन कीटाणूपलम्भे एव तं तं रोगविशेषं निश्चिन्वन्ति पाश्चात्यचिकित्सापद्धत्यनुयायिनः, तदनुपलम्भे तु पीडया व्याकुलेऽपि रुग्णे तं रोगं न स्वीकुर्वन्ति। तदीदृश्यां दशायां क्व कीटाणुभिः सह रोगस्यान्वयव्यतिरेकसम्बन्धः ?। एकस्या रुग्णाया मासिकर्तुसमाप्तिकाले असृग्दरे घोरतां गते 'केसरा'ख्यस्य रक्तार्बुदस्य कीटाणूनामनुपलम्भेऽपि पाश्चात्यचिकित्सकहस्तं रक्तार्बुदमेवोद्घोषयति, परामर्शं ददाति च गर्भाशयस्य विनिःसारणाय। एवमादिभिः कारणैर्निश्चीयते—रोगाणां मूलकारणं किंचिदन्यदेवास्ति, येन रोगे जनिते सति पश्चात्तेषां कीटाणूनामुपस्थितिः क्वचिद् भवति, न भवत्यपि क्वचिदिति येषां रुग्णानां प्रकृतिः कीटाणूनां प्रतिकूला भवति, तत्र ते नोपतिष्ठन्ते। अनुकूलायां प्रकृतौ तु तेषां प्रसारो भवत्येव। अपि च बहुत्र गोधूमाद्यन्नेष्विव, अनेकेषु काष्ठेष्विव चान्तर्धातुष्वेव केचन कीटाणवः प्रादुर्भवन्ति, तत्रैव च स्वनियतसृष्टिप्रक्रियया तेऽभिवर्धन्ते। तत्रापि आन्तरिकेणैव केनचित् कारणेन शरीरं क्षेत्रीक्रियते, येन क्वचिद् रुग्णे कीटाणवो जायन्ते, क्वचित्तु न जायन्ते। अपि च नव्यविज्ञानशालिभिः शरीरस्थरक्तादिषु परीक्षितेष्वेव कीटाणुविशेषाणां सत्ता साध्यते, न धुनावधि केनापि वायुमण्डलं परीक्ष्य ततो यन्त्रादिसाहाय्येन कीटाणूनां परिदर्शनं कारितम्। नूनं खाद्यपेयादिषु विदुष्टेषु विशिष्टक्रीमीणां सद्भावः प्रत्यक्षेण प्रदर्शयितुं शक्यः स्यात्, परन्तु नात्र विप्रतिपत्तिरायुर्वेदस्य। आहारशुद्धिर्हि सर्वतः प्रथमा परिगण्यत आयुर्वेदाचार्यैः। ये सन्ति तेषां स्वस्थवृत्तोपदेशास्ते परिपूर्णा एवेदृशेषूपदेशेः इतोऽप्यधिकाः सूक्ष्मता ऋषीणामुपदेशेषु लभ्यते दृष्टिदोषादिपरिहारादिका। अत एवाष्टसु आहारविधिविशेषायतनेषु प्रकृतिकरणसंयोगराशिष्विव देशकालोपयोगसस्थादिष्वपि आचार्याणा बलवदुपदेशः, अथ च भूयोऽपि "इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणम्, तन्मना भुञ्जीत" (च० वि० १) इति पूर्वोक्तस्यैवोपोद्बलनम्।

तदेवं सर्वरोगाणां निदानचिकित्सादिसंगतावसम्भविन्यां 'कीटाणुवादं' विषयविशेषे एव नियम्य सार्वकालिकी, सर्वरोगसंबद्धा च दोषाणामेव कारणता महर्षिभिः स्वीकृता। त्रिदोषसिद्धान्ते तु नानापरीक्षाभिः परीक्ष्य व्यवस्थापिते यानि लक्षणानि निश्चितानि तानि कालत्रयेऽपि न व्यभिचरन्ति, अनुक्तं नवोत्पन्नमपि च रोगं नामज्ञानेऽसत्यपि निर्णयन्ति। तैश्च चिकित्सायां साफल्यं लभ्यते कुशलचिकित्सकैः। उच्यते हि आचार्यैः—"सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वात (पित्तकफ) विकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोः (पित्तस्य कफस्य च) इदमात्मरूपमपरिणामि, यदुपलभ्य वातादिविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः" (च० सू० २०, १२-१८) इत्यादि।

अलमधिकेन। कुशलश्चिकित्सक उभयोर्वादयोर्यथार्हमुपयोगं विधाय सफलतामधिगच्छेद् इत्युक्त्वा सर्वेषां सौमनस्यमभिवाञ्छन् विरमामि विस्तरात्। शिवम्।

अन्नपान का प्रकृति से सम्बन्ध

वैद्य दौलतराम चतुर्वेदी,
ए. एम. एस. (का. हि. वि.)
निदेशक, आयुर्वेद विभाग, राजस्थान

[प्रातःस्मरणीय महामना मालवीयजी के निदेशकत्व में काशी विश्वविद्यालय से आयुर्वेद की शिक्षा लेने एवं पवित्रात्मा मालवीयजी से दीक्षित श्री दौलतरामजी चतुर्वेदी वर्त्तमान में राजस्थानी आयुर्वेद विभाग के निदेशक है। आप सरीखों की नियुक्ति में हजारों लाखों आशायें आपकी ओर उन्मुख है।

भारतीय संस्कृति तथा प्रकृति के आप कितनी सीमा तक परिचित हैं इसका उदाहरण "अन्नपान का प्रकृति से सम्बन्ध' है। पाठक इसका मनन करें, कारण कथनो को करणी में रूपान्तरित करने का आपका आव्हान समयोचित है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

प्रत्येक प्राणी के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्रिया-कलापों का सम्बन्ध मनुष्य शरीर मे स्थित पांच कोषों से प्रभावित होता है। प्राणी द्वारा ग्रहण किये गये आहार से सबसे प्रथम अन्नमय कोष का निर्माण होता है। इस कोश से ही अग्रिम मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश की उत्कृष्टता निर्भर करती है। अन्नमय कोश जितना सत्वप्रधान होगा उतने ही शक्तिशाली अन्य कोश भी होंगे। इस अन्नमय कोश को प्रभावशाली निर्मित करने की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक प्राणी अपने आहार-विहार पर पूर्ण रूप से सदा चिन्तन करता रहे। बिना किसी को पीड़ा पहुँचाये, बिना किसी दूसरे के भाग को ग्रहण किये, अपने शारीरिक श्रम ने न्यायपूर्वक प्राप्त अन्नपान से इस कोश के निर्माण मे सात्विक प्रभाव उत्पन्न होता है तथा इसके विपरीत अन्यायोपार्जित अशुद्ध, मर्यादाविहीन-अन्नपान के ग्रहण करने से तामसप्रधान अन्नमय कोश प्रदान होता है। इस कोश को सात्विकप्रधान बनाए रखने के लिए पुराणों में ऋषियों, राजाओं, व्यवसाइयों तथा सेवकों के अनेक आदर्श उदाहरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप अनेक ऋषि खेतों मे से दिन में अन्न सग्रहीत कर लिए जाने के उपरान्त तथा सायंकाल पक्षियों द्वारा खेत में पड़े हुए अन्न के दानों को चुग लिए जाने के उपरान्त रात्रि मे उनसे बचे हुए अन्न के दानों को एकत्रित करते थे। उस संकलित अन्न की राशि में से शष्टांश के लगभग राज्य कोष में करस्वरूप जमा कराने का प्रयत्न करते थे। इसके उपरान्त शेष अन्न को स्वच्छ कर मूलस्वरूप में ही गाय को खिलाते थे तथा उसके गोबर में विसर्जित किए हुए अन्न के कणों को प्रक्षालित कर हविष्यान्न का रूप दे कर शरीर यात्रा के लिए ग्रहण करते थे। इस पराकाष्ठा की आहार-शुद्धि का ही परिणाम था कि वे सृष्टि की प्रत्येक प्रक्रिया को हस्तामलकवत सदा दर्शन में समर्थ थे तथा भगवत तत्व से मान्य शक्ति के आराधन में आनन्दनिमग्न रहते थे। उनके लिए देश, काल की सीमाओं का कोई महत्व नहीं था। इस सभी का मूल कारण

अत्युत्कृष्ट अन्नमय कोश का परिणाम था। इसकी उत्कृष्टता के अनुपात से प्रबल मानसिक शक्तियुक्त मनोमय कोश निर्माण होता था। प्रबल मनोमय कोश से अत्यन्त प्रभावशाली प्राणमय व विज्ञानमय कोश तथा प्रबल विज्ञानमय कोश के अनुपात से ही संसार की नियन्ता शक्ति से सान्निध्य प्रदान करने वाले आनन्दमय कोश का उत्तम स्वरूप विकसित होता था। यह भारतीय विज्ञान परम्परा की एक अमूल्य निधि थी जो अब क्रमशः लुप्त होती जा रही है और उसी अनुपात से भारतीय संस्कृति तथा विज्ञान का ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है। आज भी वैद्यरत्न श्री सत्यनारायणजी शास्त्री तथा श्री चांणोद गुरां साहिब जैसे अनेक आयुर्वेद विज्ञान के प्रख्यात पियूषपाणि चिकित्सक इस महत्वपूर्ण वैज्ञानिक मर्यादा का पालन करने के महत्व को सिद्ध कर रहे हैं।

आज ऐसे रोगियों की कमी नहीं है जो कि केवल अन्नपान के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का पालन नही करने के कारण गम्भीर रोगों से ग्रसित हैं। आश्चर्य तो यह है कि वर्तमान विज्ञान की अन्नपान के विभिन्न घटकों की प्रदर्शनीय विश्लेषणात्मक बहुत बड़ी उपलब्धियां होने के उपरान्त भी आहार के महत्व को आयुर्वेद विज्ञान की तुलना मे नगण्य ही कहना चाहिए। इस विषय में अधिक विस्तार में न जाकर आयुर्वेद में तो

पथ्येसतिगतातस्य किमौषध निषेवणाम्।
पथ्येऽसतिगतार्तस्य किमौषध निषेवणाम्॥

इस श्लोक से रोगावस्था में आहार का महत्व दर्शाया गया है। आज की सभ्यता की विडम्बना के चाकचक्य में अन्नपान ग्रहण करने की सभी मर्यादायें तीव्र गति से लुप्त होती चली जा रही हैं। इस बात का कोई महत्व नहीं माना जाता कि ग्रहण किया जा रहा अन्नपान न्यायोपार्जित धन से क्रय किया हुआ है अथवा नही। आहार-निर्माण करने वाला व्यक्ति शुचि तथा स्वच्छ है अथवा नहीं, अन्नपान में प्रयुक्त पात्रादि संसर्गज दोष प्रभावहीन तथा समयानुकूल हैं अथवा नहीं, सहभोजी समानशील तथा व्यसनी है अथवा नही, तथा स्वस्थवृत्तानुसार भोजन है या नहीं। इसका प्रभाव भारत ही नही संसार के अधिकसंख्यक प्राणियों को आध्यात्मिक, मानसिक तथा शारीरिक ह्रास की ओर लेजा रहा है और दैव-गतिवश इस ह्रास को विकास की संज्ञा दी जा रही है।

मेरे विचार से तो श्री चांणोद गुरां साहिब जैसे आप्त जनों का आशीर्वाद बहुत समय तक संसार के स्वस्थ तथा रोगग्रसित प्राणियों को प्राप्त होता रहे तो इस क्रमिक ह्रास की गति मे कमी आ कर भारतीय परम्परानुसार विकास की ओर पग उठाने वाले अनेक प्राणियों को बल मिलता रहेगा। मैं आचार्य वाग्भट्ट की निम्न आकांक्षा के साथ अपना मन्तव्य-प्रकाश का समापन उचित समझता हूं—

भिषजां साधुवृत्तानाम्. भद्रं आगमशालिनाम्।
अभ्यस्त कर्मणाम् भद्रं, भद्रं भद्राभिलाषिणाम्॥

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता

अन्तर्गत लेख 'सांख्ये नाना मतानि' (संस्कृत में)

लेखक : स्वर्गीय आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

पण्डितमार्तण्डः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, जामनगरस्थः

[श्री शास्त्रीजी का यह लेख संस्कृत में है, इसे ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा रहा है। आयुर्वेद कौन से मूल विज्ञान के आधार से चल रहा है—इस विषय को एक व्यापक रूप देकर, उसके एक देश की एक ठोस सामग्री के रूप में आयुर्वेद जगत् को यह उत्तम भेंट दी गई है। प्रायः ऐसे मत देखने-सुनने में आते है कि 'आयुर्वेद के आचार्यों ने समस्त न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के सिद्धान्त लेकर, उन्हें अपनी अनुकूलता से समन्वित कर अपने सिद्धान्त पृथक रूप से गढ डाले है। परन्तु इससे दूसरी दिशा दिखा कर श्री शास्त्रीजी ने जो तथ्य उपस्थित किये हैं, उनसे आयुर्वेद का गौरव अत्यधिक बढ गया है। आप बतलाते हैं कि आयुर्वेद वेद या उपवेद ही नहीं, यह तो ऋगादि वेदों के वेदिताओं द्वारा भी मान्य है—"तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मत: (च०सू० १।४३)। दर्शन आदि अन्य समस्त शास्त्र वेद के अंगभूत है और वेद तथा आयुर्वेद से ही कुछ मूल सिद्धान्त लेकर उनका व्याख्यान कर रहे हैं। और भी आगे बढें तो न्यायदर्शन के भाष्यकार महामुनि श्री वात्स्यायन के शब्दों में कहा जा सकता है कि वैदिक सूक्तों के द्रष्टा महर्षियों ने ही उनके सिद्धान्तों के व्याख्यानार्थ दर्शनों का निर्माण किया था—"य एवाप्ता वेदार्थाना द्रष्टार: प्रवक्तारश्च, त एवायुर्वेद प्रभृतीनाम्" (न्या० २।१।६७)। जब तथ्य यह है, तब निष्प्रमाण बातें करना आयुर्वेद के हित में नहीं हो सकता।

शंका हो सकती है कि—"न्याय दर्शन में यदि आयुर्वेद का नाम इस गौरव के साथ दिलाया जा सकता है, तो आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता में भी 'साख्य' और 'योग' इन दर्शनों का नाम दिखाया जा सकता है, जिससे सिद्ध होता है कि आयुर्वेद के सिद्धान्त इन दर्शनों से ही लिए गये है। उदाहरणार्थ—"यथा आदित्य: प्रकाशकस्तथा सांख्यज्ञानं प्रकाशकमिति" (च०वि० ८।२४) इस शंका के समाधानार्थ श्री शास्त्रीजी का एक मौलिक निबन्ध "श्री सत्यनारायणाभिनन्दन" ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने सिद्ध किया है कि उपलब्ध दर्शनों के बनने के पूर्व समस्त तत्त्वज्ञान का नाम 'साख्य' यह था और उस तत्त्वज्ञान को समझाने के लिये महर्षियों ने संक्षेप और विस्तार वाले अनेक प्रकार आविष्कृत किये थे। उन सबके अन्तिम परिज्ञाता महर्षि तृतीय अत्रि थे, जिनका नाम विज्ञान के नाम से ही 'साख्य' प्रसिद्ध हो गया था। महर्षि कृष्ण आत्रेय जो आगे जाकर 'भगवान् पुनर्वसु आत्रेय' के रूप में प्रसिद्ध हुए, उन्हीं 'साख्य अत्रि' के स्वनामधन्य पुत्र थे। "आत्रेयोगौतम. साख्यः" इन शब्दों में चरक संहिता में (१।८) 'साख्यात्रि' का स्मरण हुआ है। जब भगवान् पुनर्वसु आत्रेय इन्द्रलोक से नवानीत, सूत्र रूप आयुर्वेद का अग्निवेश आदि शिष्यों के प्रति व्याख्यान करने लगे तब अपने कुल में प्रतिष्ठित उसी तत्त्वज्ञान 'साख्य' से समस्त सिद्धान्तों का उन्होंने समर्थन किया था। यह 'साख्य' तब कितने रूप में प्रचलित था तथा चरक संहिता में उनमें से कौनसा सांख्य लिया गया था, इन्हीं तथ्यों का दर्शन श्री शास्त्रीजी के गवेषणापूर्ण इस लेख से प्राप्त करने की प्रार्थना है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

अथातः सांख्यीयनानामतविज्ञानोयमध्यायं वक्ष्यामः, यथाहुराचार्याः ।

दार्शनिकयां मूलभित्तौ प्रतिष्ठिताः सत्वायुर्वेदोयसिद्धान्ताः ।

आयुर्वेदोयं दर्शनं तु सांख्यमेव । तथा हि भगवान् पुनर्वसूरात्रेयः—"यथादित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यज्ञानं प्रकाशकमिति" (च० वि० ८।३४) इत्येवं सांख्यमेव प्रशशंस, उदाजहार च सर्वत्र प्रायः सांख्यीयानेव सिद्धान्तान् दार्शनिकविषयविनिरूपणे । परन्तु कतिविधमस्ति सांख्यम् ? यद्यनेकविधं, तर्हि कतमदायुर्वेदवर्णितं सांख्यम्, आयुर्वेदस्यापि च ग्रन्थेषु सर्वत्र एकविधमेव तद् अनेकविधं वेति बहुशोऽत्र प्रश्नाः समुपत्तिष्ठन्ते । तेषां समाधानाय परीक्ष्यतेऽयं विषयः ।

देशविप्लवैः, वैदेशिकानामाक्रमणैः, विधर्मिणां विजेतॄणां षड्यन्त्रैः चिरोपद्रुतानां भारतीयानां किंकर्तव्यमूढतया चेत्यादिभिर्नानाविधैः कारणैर्वर्षपूगेभ्यः भारतस्य सर्वा धार्मिक्यः सामाजिक्यश्च व्यवस्था विपर्यस्ताः सन्ति । विच्छिन्नाः प्राचीना गुरुशिष्यपरम्पराः । यदि क्वचित्ताः सुरक्षिताः स्युः, तदापि विशालेऽस्मिन् देशे सार्वत्रिकप्रचाराभावान्न ताः सुखेन ज्ञातुं शक्याः । अतएव सर्वदर्शनेस्वादिमस्यात्यन्तं प्राचीनस्य च सांख्यस्य विषये नेदं सर्वेषां विदितमस्ति यद् एकविधानामेव पदार्थानां विविधशिष्यबुबोधिषया आचार्यैर्विविधाः शैलीभेदा आविष्कृता अभूवन्निति । सांख्ये नानामतानि च तत एव प्रचारं लेभिरे । अद्यतु ईश्वरकृष्णस्य सांख्यकारिकाणां प्रचलितानां सांख्यसूत्राणां वा सिद्धान्ताः एव सर्वसाधारणानां दृष्टौ सम्पूर्णं सांख्यमस्ति । परन्तु पंचसहस्रवत्सरेभ्यः पूर्वं सर्वे भारती ऋषयो मुनयश्च सांख्ये वर्तमानानामेवंविधानां मतमतान्तराणां पूर्णतया परिज्ञातार आसन्निति महाभारतस्य पौराणिकस्य वाङ्मयस्य च पर्यालोचनेन ज्ञातुं शक्यते ।

सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ (महा० शा० ३४९।६४)

इत्यादयः श्लोकाः केवलं परायणार्थाः, यद्वा गम्भीरतारहितस्य सरलस्याक्षरार्थस्य व्युत्पादनार्था एव न सन्ति । एतेषु प्रतिपादितं तथ्यं तु तदा परिज्ञायते, यदा विभिन्नेष्ववसरेषु संजातानामृषिमुन्यादीनां संवादेषु विभिन्नानामेषां मतानां परिदर्शनं क्रियते । दिग्दर्शनायेह तादृशानामेव केषाचिन्मतानां पर्यालोचनं विधीयते, येनायुर्वेद 'सांख्यदर्शनम्' कीदृशमस्तीति अव्याकुलं परिज्ञायेत । न हीदृशं पर्यालोचनं विना विविधासु संहितासु, एकस्यामेव संहितायां विभिन्नेषु प्रकरणेषु वा, परस्परं विरुद्धवदाभासमानाः केचन सिद्धान्तभागा आर्षत्वगौरवरक्षणपूर्वकं योजयितुं सुशकाः ।

साम्प्रतमुपलभ्यमानेषु सांख्याचार्याणां ग्रन्थेषु श्रीमदीश्वरकृष्णस्य सांख्यकारिकैव सर्वतः प्राचीनेति विदुषां मतम् । परन्तु पर्यालोचनया ज्ञायन्ते ईश्वरकृष्णादपि प्राचीना बहवः सांख्याचार्याः । स्वयमीश्वरकृष्णेनैव 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थस्य कपिलासुरिपंचशिखाद्याचार्याणां चोल्लेखः कृतोऽस्ति । 'अहिर्बुध्न्यसंहितायाम्' (१२।१८।१९) अपि लिखितमिदम्—

सांख्यरूपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः ।
उदितो यादृशः पूर्वे तादृशं शृणु मेऽखिलम् ॥
षष्टिभेद स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुने ! ॥ इत्यादि॥

प्राचाममीषामाचार्याणां निबन्धा अधुना न लभ्यन्ते इति तेषु कश्चन मतभेद आसीन्न वेति यद्यपि वक्तुं न शक्यते, तथापीदमवश्यं वक्तुं शक्यं यद् एकेनाचार्येण कस्यचिद्विषयस्य विवेचने या शैली स्वीकृता, तदन्येन तं विषयं ततोऽप्यधिकेन सारल्येन विवेचयितुम्, अन्येन वा केनचित्कारणेन, पूर्वापक्षया भिन्नैव शैली अवश्यमेवाश्रिताऽभविष्यत् । अन्यथा हि कचिदेकमेव विषयमेकयैव शैल्या विवेचयितॄणामनेकेषां ग्रन्थानां काऽऽवश्यकताऽऽसीदिति प्रश्नस्य समाधानं कठिनमेव । शैलोभेदे च सति पदार्थभदोऽपि न खलु न स्वाभाविकः । एतादृशानामेव विभिन्नपदार्थवादिनां केषांचित् सांख्याचार्याणामुल्लेखः श्रीमद्भागवते (११।२२।१-२५) प्राप्यते । तथाहि—

भक्तस्योद्धवस्य भगवन्तं श्रीकृष्ण प्रति प्रश्नः—

कति तत्त्वानि विश्वेश ! सख्यातान्यृषिभिः प्रभो ! ।
नवैकादश पच त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥१॥
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पचविंशतिम् ।
सप्तैकंनुव, षट्, केचिच्चत्वार्यैकादशापरे ॥२॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदशः ।
एतावत्त्व हि सांख्यानामृषयो यद्विवक्षया ॥३॥
गायन्ति पृथगायुष्मन्निद नो वक्तुमर्हसि ।

इह हि प्रश्ने—(१) अष्टाविंशतितत्त्ववादिनाम्, (२) षड्विंशतितत्त्ववादिनाम्, (३) पंचविंशतितत्त्ववादिनाम्, (४) सप्ततत्त्ववादिनाम्, (५) नवतत्त्ववादिनाम्, (६) षट्तत्त्ववादिनाम्, (७) चतुस्तत्त्ववादिनाम्, (८) एकादशतत्त्ववादिनाम्, (९) सप्तदशतत्त्ववादिनाम्, (१०) षोडशतत्त्ववादिनाम्, (११) त्रयोदशतत्त्ववादिनां च पृथगेकादशमतान्युल्लिखतानि सन्ति । तानि च तत्कालं प्रचलितान्यासन् । परमतत्त्वज्ञस्योद्धवस्यमतान्येतानि सर्वाणि हृदयगमानि यथार्थानि च निश्चित्यापि एतेषां विभेदे को वास्तविको हेतुरिति जिज्ञासोदयः स्वाभाविक आसीत् । भगवता श्रीकृष्णेन तूत्तरमित्थं दत्तम्—

युक्तं च, सन्ति सर्वत्र, भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायांमदीयामुद्गृह्य वदतां किं न दुर्घटम् ॥१॥
नैतदेव यथात्थं त्व, यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदता हेतुः शक्तयो मे दुरत्यया ॥२॥
यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदता पदम् ।
प्राप्त शमदमेऽप्यति वादस्तमनुशाम्यति ॥६॥

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ ! ।
पौर्वापर्यंप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥७॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥८॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं, गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥९॥ इति

अयं भगवद्दुक्तस्योत्तरस्याशयः—"सर्वमवेदमृषीणां सांख्यप्रतिपादनं युक्तमेव । यतो यथा ब्राह्मणाः (ब्रह्मवादिनो) भाषन्ते, तथैव सर्वत्र (सर्वेषु मतेषु) सन्ति, 'पदार्थाः' इति शेषः । भगवतो मायां (प्रकृतितन्त्रम्) विभिन्नदृष्टिभिः परीक्ष्य, विभिन्नैः प्रकारैर्वदतां तेषां मतेषु किमपि दुर्घटं नास्ति । यच्च तेषु किंचिदेव विवदन्ते यत्—"यथा त्वमात्थ, एतदेवं=तथा नास्ति, किन्तु यदहं वच्मि, तत् तथा वर्तते" इति । तेषामेवं खण्डनमंण्डनपूर्वकं विविदमानानां विवादेऽपि हेतुर्दुरत्यया भगवच्छक्तय एव । अनन्ताः सन्ति हि सृष्टिविज्ञाने कार्यकारणभावाः । तत्र कश्चिदेकेन कार्यकारणभावेन वस्तुतत्त्वं यदि परीक्षते, तर्हि इतरस्तद्भिन्नमेव कंचित् कार्यकारणभावमुपादाय तत्र विचारं प्रवर्त्तयति तत्रैकेन दृष्टे तत्त्वज्ञाने परः स्वदृष्टेन तत्त्वज्ञानेन गम्भीरतया साम्यमनवेक्ष्य यदि शंकते, यदि वा तत्खंडनं करोति, तदानीं द्वयोर्विवादो नासुलभः । यतो हि भगवच्छक्तयो दुरत्यया भवन्ति । न हि तासामियत्तया ईदृक्तया वा परिच्छेदः सरलः । यासां तु शक्तीनां व्यतिकरात्=परस्परं मिश्रणाद्, विवेकोनाग्रहणाद्वा योऽसौ विकल्पः=भेदघटितं ज्ञानं विवादपदमभूत्, स तु विकल्पः शमदमे प्राप्तेऽप्येति=स्वयमेव विनश्यति, तमन्वेव च वादोऽपिशाम्यति । इह च तत्त्वानां पौर्वपर्यप्रसंख्याने योऽसौ विभेदस्तत्र तु कारणमिदमेव यत्—तत्त्वानि परस्परमनुप्रविष्टानि भवन्ति, तत्र च यस्य वक्तुर्यथा विवक्षा भवति, तथैवासौ प्रसख्यानं करोति । क्वचितु पूर्वस्मिन् परस्मिन् वैकस्मिन्नपि तत्त्वे तदितराणि सर्वतत्त्वानि प्रविष्टानि दृश्यन्ते, ततश्चामीषां पौर्वापर्यम् (कार्यकारणभावो वा) प्रसंख्यानमभीप्सतां मुनीनां यद्वक्त्रं यथा विविक्तं भवति तथैव भवति । सर्वत्र च तन्मतेषु युक्तिसंभवात् तन्मतं तथैव (यथार्थत्वेन) वयमपि गृह्णीम" इति ।

अतितमामुदारोऽयं भगवतः 'समन्वयवादः', योहि विवादशांतये सर्वत्रैवोपयोक्तुं शक्यते क्रांतदर्शिभिः कविभिः । इयमेव पद्धतिर्भारतीयां संस्कृतिं चिराज्जीवयति । नात्र कस्यचिदपि विवादस्यावसरः । विश्वोद्भवस्थितिसहृतीनां जटिलां समस्यां समाधाय त्रितापसतप्तानां प्राणिनां सुखाय कल्याणमार्गदर्शने न कोऽप्यस्ति विमतः । किंतु स्वजीवनबलिदानेन विश्वशांतये कांश्चित्सिद्धांतानाविष्कृतवतां येषां कश्चिदपि स्वार्थो नासीत्, तेषां कीर्तिविलोपेन तत्त्वगवेषकाणामुत्साहहननं नितांतमनुचितम् । पूर्वं तेषां दृष्टिकोणोऽवगतव्यः । ततो यदि ततोऽप्याधिकेन प्रांजलेन प्रकारेण किमप्याविष्कृतं भवेत्, तदातदप्युपक्षेप्यम्, सति संभवे च तत्समन्वयोऽपि विधेयः । अन्यथातु स्वमतप्रदर्शनमात्रमेवालम् । खण्डनमण्डनादिपंकोत्क्षेपण-

प्रकारस्तु सर्वथाऽपि हेय एव। एतेन युगयुगांतराणां विवादाः स्वयमेवोपशाम्येयुः। विषमेऽपि समये न भवंति सर्वेऽपि मंदबुद्धयः। केचनेदृशा अपि नियतं भवंति, येऽधिकारिभेदाद् विविधैः-प्रकारैर्निरूपितेषु शास्त्रीयतत्वेषु स्वबुद्धिं, स्वरुचिं, स्वाधिकारं, स्वपरिस्थितिं, चानुरुध्य स्वकल्याणपर्याप्तानितत्वानि स्वयमेव परिचिनियुः। आस्तामिदम्।

भगवदुपदिष्टप्रकारमाश्रित्योद्दिष्टेषु एकादशस्वपि सांख्यप्रस्थानेषु सर्वत्रैक्यमेव प्रतियते, न तु मनागपि वैमत्यम्। तथा चैतानि मतानि भगवद्वचनैरेव व्याख्यायंते। (पौर्वापर्ये त्विह अधिकसंख्याकतत्ववन्मतं पूर्वमितिक्रमेण विपरिवर्त्यते।)

(१) अष्टाविंशतितत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

प्रकृतिर्गुण साम्यं वै, प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥१२॥
सत्व ज्ञानं, रजः कर्म, तमोऽज्ञानमिहोच्यते।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥१३॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नमोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४॥
श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रि कर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥१५॥
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रुप चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥
सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरुपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥१७
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यडं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥१८॥

भावार्थ—

मतेऽस्मिन् पुरुषः, मूलप्रकृतिः, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः, महान्, अहंकारः, खानिलानलजलेलाः पंचभूतानिः, श्रोत्रत्वाचक्षूरसनघ्रणानि पच ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयेन्द्रियं मनः, शब्दस्पर्शरूपरसगधाः पंच ज्ञानेन्द्रियाणां विषयाश्चेति सर्वाणि अष्टाविंशतिस्तत्त्वानि सन्ति। प्रकृतेः पृथक् त्रयाणां गुणाना स्वीकारे इदंबीजमस्ति यत्-तेषामुदयप्रलयौ दृश्येते, नत्वेव प्रकृतेः। पंचभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशकार्याणि, महादादीन्यष्टौ कारणानि च यस्यां पूर्वंत एवांतर्भूतानि सन्ति, तादृशी प्रकृतिरेतेषां गुणानां साहाय्यादेव सृष्टिस्थितिसंहाररूपा नाना अवस्था धारयति। अव्यक्तश्चेतनश्च पुरुषः प्रकृतेस्तासामवस्थानां केवलं साक्षिमात्रस्तिष्ठति। महदादीनि कारणतत्त्वानि पुरुषस्येक्षणशक्तेर्बलभवाप्य सर्वे विपरिणमयन्ति, विकुर्वते च। प्रकृतेराश्रेयण परस्परसहयोगेन च

तानि ब्रह्माण्डं रचयन्ति । ज्ञानम्, अज्ञानम्, कर्म, कालः, स्वभावश्चेत्यादयः पृथक् तत्वानि न सन्ति। प्रकृतेर्गुणः सत्त्वमेव ज्ञानम्, तमोगुणः एवाज्ञानम्, रजोगुण एव कर्म, गुणानां क्षोभहेतुरीश्वरः (चेतनतत्त्वमेव) कालः, सूत्रात्मा (महत्तत्त्वमेव) प्रकृतेः क्षोभरूपः स्वभावः। ज्ञानेन्द्रियाणां पंचविषयवदिह कर्मेन्द्रियसंबंधीनि गत्युक्तिमलोत्सर्गमूत्रोत्सर्गशिल्प (कार्य)-रूपाणि पंचकर्माणि पृथङ्न गणितानि, तेषां कर्मेन्द्रियाणामेव फलरूपत्वाद् इति ।

( ) षड्विंशतितत्त्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवेदन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥

भावार्थ—

एतस्मिन् मते त्रिगुणात्मिका प्रकृतिस्तत्परिणामरूपाणि कार्यकारणभावापन्नानि महदादीनि चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि, पचविंशतितमः पुरुषः, षड्विंशतितम ईश्वरश्चेति षड्विंशतितत्त्वानि मन्यंते । सत्वरजस्तमांसिगुणाः प्रकृतेः पृथङ् न मन्यंते । पुरुषः (जीवात्मा) अनादेः कालादविद्याग्रस्तत्त्वेन स्वयमात्मानं न विजानाति । स्वतः सर्वज्ञ ईश्वर एव तस्य ज्ञानप्रद इतीश्वरः पृथक् तत्त्वरूपः स्वीक्रियते । शिष्टं सर्वं पूर्ववत् ।

(३) पंचविंशतितत्त्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनाऽपार्था ज्ञानं न प्रकृतेर्गुणः । ११॥

भावार्थ

मतेऽस्मिन् प्रकृत्यादीनि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि, पुरुश्चैकः—

इति सर्वाणि पंचविंशतितत्त्वानि वर्तन्ते । इह जीवेश्वरयोः सत्ताचिन्मात्रतादिदृष्ट्यामनागपि भेदो नास्ति । अत एकस्मात्पुरुषाख्यतत्त्वादतिरिक्तं जीवेश्वरयोः पथक्तत्त्वत्वं मन्यते । ज्ञानं त्विह प्रकृतेर्गुणः । अन्यदखिलं पूर्ववदेव ।

(४) सप्तदशतत्त्ववादिनां सांख्यनां मतम—

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पंचपंचैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥१२॥

भावार्थः—

एतस्मिन् मते पंचभूतानि, पंचतन्मात्राः (विषया वा शब्दस्पर्शरूपरसगंधाख्याः) पंचज्ञानेन्द्रियाणि, एकं मनः, एकश्चात्मा (पुरुषः) इति सप्तदश तत्त्वानि सन्ति । प्रकृतिः, महान्,

अहंकार:, पंचकर्मेन्द्रियाणि, पांचभौतिको देहश्चेत्येषां पंचसु भूतेष्वेवान्तर्भाव: । शिष्टमन्यत् पूर्ववत् ।

(५) षोडषतत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ॥२१॥

भावार्थ:—

एतस्मिन् मते पंचभूतानि, पंच तन्मात्रा: (विषया वा), पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, एकं मनश्चेति षोडश तत्त्वानि । आत्ममनसोरिहैकत्वं मन्यते । शिष्टमन्यत्पूर्ववत् ।

(६) त्रयोदशतत्ववादीनां सांख्यानां मतम्—

भूतेन्द्रियाणि पंचैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥

भावार्थ

मतेऽस्मिन् पंच भूतानि, पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, एकं मन:, एको जीव:, एकश्चेश्वर इति त्रयोदश तत्वानि सन्ति । इह पंचानां तन्मात्राणां पंचानां कर्मेन्द्रियाणां, प्रकृतिमहदहंकाराणां च पंचभूतेष्वेवांतर्भाव: । शिष्टं सर्वे पूर्ववत् ।

(७) एकादशतत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

एकादशत्व आत्मासो महाभूतेन्द्रियाणि च ॥२४॥

भावार्थ

अस्मिन् मते पंच भतानि, पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, एकश्चात्मा इत्येकादश तत्वानि सन्ति । मनस आत्मन्यंतर्भाव:, अन्येषां तत्वानां च भुतेष्वंन्तर्भाव: । परिशिष्टमन्यत्पूर्ववत् ।

(८) नवतत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥२४॥

भावार्थ

मतेऽस्मिन् प्रकृति:, महान्, अहंकार:, भूतानि पंच इत्यष्टौ प्रकृतय:, नवमश्चैक: पुरुष इति नव तत्वानि सन्ति । अन्येषां षोडशानां विकाराणां तु प्रकृतावेवांतर्भाव: । शिष्टं पूर्ववत् ।

(९) सप्ततत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

सप्तैव धातव इति तत्रार्था: पंच खादय: ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासव: ॥१६॥

भावार्थ

एतस्मिन् हि मते जडवर्ग एकः, चिदेका, ईश्वरश्चैक इति त्रीणि तत्वानि मुख्यानि। तत्र जडवर्गे पंचभूतानि, चिच्च जीवः, परमेश्वरः परमात्मा वा जडजीवयोरुभयोराधारः- इति सप्तैव तत्वानि संति। प्रकृत्यादीनामंतर्भावो भूतेष्वेव। देहेंद्रियादीनामुत्पत्तिरपि भूतेभ्य एव भवतीतितानि पृथक् तत्वरूपाणि न स्वीक्रियंते। शिष्टमन्यत्पूर्ववत्।

(१०) षट्तत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

षडित्यत्रापि भूतानि पंचषष्ठः परः पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसंभूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥२०॥

भावार्थ

इह हि मते पंच भूतानि षष्ठश्च परमपुरुषः परमात्मा वैकः इति षट् तत्वानि। परमात्मा च स्वसृष्टैः पंचभिर्भूतैर्युक्तो देहदीन् सृजति, तत्र च जीवरूपेण प्रविशति। मतेऽस्मिन् जीवात्मनः परमात्मनि, प्रकृत्यादीनां च भूतेष्वंतर्भावः। शिष्टं पूर्ववत्।

(११) चतुस्तत्ववादिनां सांख्यानां मतम्—

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥२१॥

भावार्थ

एतस्मिन् मते पृथिवि, सलिलं, तेजः, आत्मा चे ति चत्वारि तत्वानि संति। वायुः सूक्ष्मतेजोरूपः एवेति न तत्वांतरम् आकाशं तु इंद्रियागोचरत्वेन न तत्वांतरं मन्यते। अन्येषां तत्वानां तु एतेभ्यः उद्भूतत्वादेतेष्वेवांतर्भावः। शिष्टं पूर्ववत्।

इति नाना प्रसंख्यानं तत्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्य युक्तिमत्वाद् विदुषां किमशोभनम्।

भावार्थ

इत्येवं=प्रदर्शितप्रकारेण ऋषिभिस्तत्वानां प्रसंख्यानं नानाविधं कृतमस्ति। नैतेषु मतेषु परस्परं कश्चन विरोधो, न वा काचनाप्ययुक्तता वर्तते। सर्वेष्वेषु समर्थनार्था युक्तयः= उपपत्तयः सन्तीति सर्वाणि मतानि न्यायानुकूलानि संति। सकलं, जगत्करतलामलकवद् विदतां विदुषां प्रतिपादनमशोभनं कथं नाम भवेदिति।

इत्थं श्रीमद्भागवते एकस्मिन्नेव स्थाने विभिन्नान्येकादश सांख्यप्रस्थानानि समुपलभ्यंते इति तेषां दिग्दर्शमिह कृतम्। श्रीमद्भागवते एवानेकेषु स्थानेषु अन्यविधान्यपि सांख्यमतानि समुपलभ्यंते, परंतु तेषां संकलनस्य नास्त्यत्रावसरः। केवलं तु सांख्यमेकविधमेव नास्ति, तत्र खलु वर्तंते नानामतानि इत्येतत्प्रदर्शनायैव इहेदं दिग्दर्शनं कृतमिति।

तत्र श्लोकाः—

परं प्रसंख्यानपरं यदेतत् प्रकाशितं सांख्यमतं विभिन्नम्।
नवं पुराणं च विवेच्य तत्तत् सख्यावदग्रेसरतां प्रयायात् ॥१॥

व्याख्याष्टकं भागवतस्य वीक्ष्य नानामतानां परिचायमनेयम्।
न कल्पितं किंचिदिहास्ति मेयं न वा हठाकृष्टमुपाहरामि। २॥

मतेषु नैतेषु परस्परेण कश्चिद् विरोधः परिभावनीयः।
शिष्यान् विनेतुं मुनिभिः प्रयुक्ताः शैलीप्रभेदा ननु केवलास्ते ॥३॥

मनीषिणः संग्रहविस्तराभ्यां निरुपयते विषयान् पृथग्वत्।
प्रावीवृतंस्तेऽम्बुनिधिं क्वचित्तु क्वचित् समुद्रं चुलुकेऽप्यकार्पुः ॥४॥

नानामतानीत्थमभिप्रयतो यत्किंचिदेकं मुनयोऽग्यकार्पुः।
यत्रोचितं यद् विषयोपयोगि निरूपितं तत्र तदेव विद्भिः ॥५॥

मुनिश्चतुर्विंशतिकं पुनर्वसुमतं जगादात्रिकुले प्रतिष्ठितम्।
लभामहे सुश्रुतसंहितागतान् सांख्यप्रमेयांस्त्विह पंचविंशतिम् ॥६॥

अन्यान् विशेषानपि चाग्रिमेष्वध्यायेषु वक्ष्यामि गवेषणेन।
विवेकपूर्वं परिगृह्य सर्वांल्लाभान्वितास्तेभिषजो भवेयुः ॥७॥

आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुकूल अभिनव चिकित्सा का समन्वय

अन्तर्गत लेख 'आयसाङ्ग प्रतिसन्धानम्' (संस्कृत में)

लेखक : स्वर्गत आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

पण्डितमार्तण्डः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, जामनगरस्थः

[श्री शास्त्रीजी का मूल लेख जो संस्कृत में है, उसके पढने को पूर्व यह परिचय पढ लिया जायगा तो अधिक लाभप्रद होगा। विद्वान् लेखक 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' जैसे आचरण से 'ऐसा होना चाहिये, वैसा होना चाहिये' आदि शब्द कह कर शान्त नहीं हो गये हैं, प्रत्युत अभिनव चिकित्सा विज्ञान विशेषतः उसके सर्जिकलविषय को किस प्रकार पचा कर आयुर्वेदसात् किया जा सकता है, इसका एक अभिनव आदर्श उपस्थित कर आयुर्वेदज्ञों को जागने, उठने और आयुर्वेद-रक्षार्थ सन्नद्ध हो जाने की प्रेरणा देने में समर्थ हो सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी विश्पला की कटी हुई जङ्घा के स्थान में अश्विनी कुमारों ने जब लोहे की जङ्घा जोड़ी थी, तब श्री शास्त्रीजी भी वहाँ उपस्थित थे और अपनी आंखोंदेखी घटना की यह रिपोर्ट इन्होंने लिखी है। विशुद्ध और सरल संस्कृत भाषा में रचे गये श्लोकों को पढ़ कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि ये श्लोक नये हैं। और इनमें चित्रित विषय भी 'माडर्न थेरेपी' का है। बात यह हुई है कि २४ फ़रवरी १९६२ के हिन्दी दैनिक हिन्दुस्तान के अंक में 'विज्ञान के प्रगतिशील पग:चिकित्सा की नवीन देन' नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसे देखते ही श्री शास्त्रीजी को आयुर्वेद की हीन दशा पर बड़ा विचार हुआ—कैसी विकट स्थिति है कि आयुर्वेद के हृदय को चीर कर विदेशी लोग इन विषयों को हड़पते जा रहे हैं और अपना नाम देकर यशस्वी बनते जा रहे हैं, किन्तु आयुर्वेदज्ञ लोग कुम्भकर्णी नींद में सोये हुए हैं। तत्काल 'आश्विनावदानम्' (गोल्डन डीड्स आफ अश्विनीकुमारास्) नाम से समस्त आधुनिक सर्जरी को आयुर्वेदसात् करने का संकल्प कर लिया गया। सर्वप्रथम उस समाचार पत्र के विषय को ही आत्मसात् किया गया। उसमें स्फटिक के टुकडे का दिखाना है, तो भारतीय संस्कृति के अनुकूल इसमें स्फटिकनिर्मित शिव के दर्शन कराने का वर्णन है। अम्बुलेंस कार को 'अम्युल्लास रथ नाम दिया गया है। स्ट्रेचर को 'रुग्णाभिवहन यान' कहा गया है। सुश्रुतसंहिता के रक्षाकर्म को न केवल उचित समय में ही उपयुक्त किया है, प्रत्युत चिर काल से इन श्लोकों के पाठ मात्र से कृतकृत्यता मान लेने और अधिक हुआ तो इसे जादू-टोना कह कर मखौल उड़ा देने में ही पाण्डित्यप्रकर्ष समझा जाता था। यह प्रथम अवसर है कि श्री शास्त्रीजी ने 'एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः' इस श्लोकार्थ पर ध्यान आकृष्ट कर उपवर्णित समस्त देवताओं को शरीर के घटक विभिन्न प्राण सिद्ध किया है और 'उदानं विद्युतः पान्तु' इस पर 'वधुत्पुरुष' नाम से एक पृथक ही निबन्ध बनाया है। यह सब इस लेख से पृथक संकलन है। अस्तु, हम आशा करते हैं कि श्री पाठकों को इस सामग्री से पर्याप्त प्रेरणा मिलेगी।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

अथात आयसाङ्गप्रतिसन्धानीयमध्यायं वक्ष्यामः, यथा चक्रतुरश्विनोविश्वपलायाः।

कदाचित् खेलनृपतिर्युयुधे शत्रुभिः सह।
तत्पत्नी विश्पलाख्या च पत्युः साहाय्यके गता ॥१
वीरा च वीरपत्नी च रणे तस्मिन् सुदारुणे।
रक्तबीजैश्चण्डिकेव युध्यमानारिभिर्बभौ ॥२
देवात्सा रणसंमर्दे शत्रुभिः पर्यवार्यत।
शस्त्रपाणिभिरत्युग्रैश्छिन्नजङ्घा च सा कृता ॥३
तदाऽऽहतानां सेवार्थं सज्जेष्वेकतमेन सा।
अभ्युल्लासाह्वयेनाशु यानेनानीयतार्दिता ॥४
अश्विनौ देवभिषजौ तत्रासाते चिकित्सितुम्।
तौ देवौ तां समाश्वास्य शीघ्रं नैरुज्यहेतवे ॥५
शल्यकर्माभिनियते भवनेऽनयतां द्रुतम्।
रुग्णामिवहने यानेऽनुपघातसुखे जनैः ॥६
स्वास्तीर्णे तत्र पर्यङ्के शाययित्वा च तां सतीम्।
स्फाटिकं शिवमन्वक्ष द्रष्टुमादिशतां यलाम् ॥७
पश्येतं देवमीशानं भद्रे ! मा दुःखमावह।
अयं यथा शुद्धबुद्धो निर्लेपो जगतीपतिः ॥८
तथा त्वमसि कल्याणि ! न कष्टं त्वयि किंचन।
विस्मृत्य सर्वानाधाञ् शिवमेवानुचिन्तय ॥९
कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च।
रक्षाकर्म करिष्यावो ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥१०
पान्तु त्वां मुनयो ब्रह्मा दिव्या राजर्षयस्तथा।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥११
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥१२
उदानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥१३
कामांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्यमिन्द्रोऽभिरक्षतु।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥१४
चक्षुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥१५

रेतस्त्वाऽऽप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
आकाशं खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥१६
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्मात्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥१७
एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥१८
दृढं कुरु मनः साध्वि ! त्वं पीडारहिता ह्यसि
शुद्धात्मासि दुःखशोकैः सम्बन्धो नैव ते क्वचित् ॥१९
विनिद्राहि सुखं सुप्याः सर्वार्ति विस्मर द्रुतम् ।
सामृतैः पाणिभिः स्पृष्ट्वा कुर्वंस्त्वामार्तिवर्जितम् ॥२०
योगिनावश्विनौ देवौ मनः शक्त्या समन्त्रया ।
यदेवमूचतुः साऽपि निदद्रौ विश्पला तदा ॥२१
पुनस्तां मोहयन्तौ तावूचतुर्निद्रितां सतीम् ।
न त्वां छिन्दन्ति शस्त्राणि न त्वां दहति पावकः ॥२२
न च त्वां क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।
अच्छेद्यासि ह्यदाह्याऽसि क्लेद्या शोष्या च न ह्यसि ॥२३
सच्चिदानन्दरूपाऽसि का ते पीडा यता भव ।
उक्त्वेवमद्भुतं कर्म कर्तुं देवौ व्यवस्थितौ ॥२४
अन्ये च शिक्षिता देवा भिषजः परिवार्य तौ ।
सज्जोपस्करभैषज्याः सेवार्थं समुपस्थिताः ॥२५
निर्मलाम्बरधारिण्यस्तत्र देव्याश्चिकित्सकाः ।
समुपातस्थुरादाय सर्वोपहरणानि च ॥२६
यथाविभागं संकेतान् स्मरन्तस्ते सुसज्जिता ।
कश्चिद् हृद्गतिसाम्यं तु संपश्यन् यन्त्रभास्थितः ॥२७
अन्यो नाडी परीक्षायां व्यापृतोऽभूत् समाज्ञया ।
सशस्त्रयन्त्रां स्थगिकां करयोरितरोऽग्रहीत् ॥२८
रक्तमात्ययिके वाह्यं दातुं सज्जोऽपरोऽप्यभूत् ।
यत्तत् कोषेषु प्रागेव यत्नादासीत् सुसञ्चितम् ॥२९॥
रक्तेन विश्पलाया यत् सख्याय सुपरीक्षितम् ।
स्वच्छं सजीवं सद्यस्कमिव यद् दोषवर्जितम् ॥३०
तत्रासन् शुद्धकोष्ठेषु निर्मलायोमयानि च ।
उच्चवचान्यङ्गकानि नैकसंख्यानि सर्वशः ॥३१

यानि प्रतिनिधिरूपाणि सत्यानीव विनिर्बभुः।
कानिचित् पूर्णरूपाणि खण्डखण्डानि कानिचित् ॥३२
यद् यथा यत्र युज्येत सामञ्जस्यं च यस्य यत्।
काले तच्च तथा तत्र व्यवहर्तुं परीक्षितम् ॥३३
अथ विद्युत्समुद्ध्यमानं प्रज्वाल्य त्वरितं सुरैः।
बदरीत्वक्कषायस्तु पाचितः पावितः पटैः ॥३४
रसचूर्णं तत्र रक्तं तुवरी चापि मेलिते।
ततस्तेन कषायेण दस्रः सर्वं व्युदस्तवान् ॥३५
आघातजे व्रणे लग्नं रक्तं मृज्जं रजोऽपि च।
सिराभ्यः प्रवहद् रक्तं सन्दशीभिरवारुधत् ॥३६
नासत्यस्तु समादायाध्यर्धधारं लवित्रकम्।
चिच्छेद चर्म जङ्घास्थं क्षुण्णास्थ्नो व्यपनीय च ॥३७
मांसपेशीः समग्राश्च सिराश्च धमनीस्तथा।
वातनाडीस्तथा स्नायूर्यथाशक्यमरक्षयत् ॥३८
जङ्घास्थि चान्तरं बाह्यं द्विकं क्षुण्णं निरस्तवान्।
तत्स्थाने चायसीं जङ्घामथ भावद्वयात्मिकाम् ॥३९
यथार्हमानसंमेयां पूर्ववत् संन्यवीविशत्।
पादेनाधस्तदूर्ध्वं च जानुना समधात् सुधीः ॥४०
चलं सन्धिं संरक्षन् कीलकैः सुनियोज्य सः।
मांसपेशीस्तदुपरि सन्यधात् ससिराः पुरा ॥४१
रक्तादीनां प्रवाहार्थं सिराजालं समन्ततः।
धमनीश्चापि नाडीश्च यथायथमुपाहरत् ॥४२
अतीव चटिलं जाल तासां सन्धाय सर्वशः।
पुनः प्राकृतवच्चक्रे यथावत् पूर्ववत् स नः ॥४३
दुष्करं चाद्भुत तद् हि दृष्ट्वा सर्वेऽपि विस्मिताः।
प्रशंशसुर्महात्मानावश्विनो साधु साध्विति ॥४४
दस्रस्त्र्यस्रां चन्द्रवक्रां सूचीं सन्दंशनिग्रहाम्।
बिडालान्त्रमयेनाशु दोरकेणाभ्ययोजयत् ॥४५
तयाञ्जसा चर्म सर्वं निषोव्य च यथायथम्।
अच्छिन्नामिव तां जङ्घां कृत्वा पूर्णां न्यदर्शयत् ॥४६
बदरीत्वक्कषायार्द्रप्लोतेनाऽऽप्रोञ्छ्य लेपनम्।
काशीशाद्यघृतेनात्र क्षतस्थानानि चावृणोत् ॥४७

रक्षोघ्नेन च चूर्णेनावकीर्य स हि जङ्घिकाम् ।
तूलप्लोतैर्विशुद्धैस्तु समन्तात् प्रावृणोद् बुधः ॥४८
मृदुनाऽपि दृढेनाथ वस्त्रपट्टेन कौशलात् ।
पर्यस्तबन्धमुन्नीय न्यबध्नात् पश्यतां सुधीः ॥४९
व्रणा यावद् विरोहेयुर्नोत्कीलेच्चापि सेवनम् ।
तावत् समाहिता तिष्ठेद् विश्पलेति समादिशत् ॥५०
तस्मिन्नेव क्षणे राज्ञी विश्पला प्रत्यबुध्यत ।
जङ्घां स्वां संहितां दृष्ट्वा प्राक् प्रसन्नाऽभवच्च सा ॥५१
किन्तु रक्तप्रवाहस्याधिक्याद् दौर्बल्ययोगतः ।
मूर्च्छामापद्य सहसा शुभे नेत्रे व्यमीलयत् ॥५२
तत्क्षणादेव बाह्यस्य रक्तस्यानुप्रवेशने ।
समाज्ञापयतां देवावश्विनौ स्वसहस्थितान् ॥५३
तदर्थं पूर्वतः सज्जं यदासीत् सुपरीक्षितम् ।
काचकूपीभृतं रक्तं तत्क्षणाद् दातुमुद्यतः ॥५४
वसुधानाभिधो देवः शृङ्गं काचमयं मुखे ।
सूच्या शुषिरयाऽऽयोज्य निर्विषं शुद्धमातनोत् ॥५५
शृङ्गे तत्राथ कूपीस्थं रक्तं भृत्वा विधानतः ।
भूयः सूचीमुखं शुद्धं कृत्वा रन्ध्रं परीक्ष्य च ॥५६
सिरामेकां समुद्यम्य विश्पलाबाहुकूर्परे ।
अन्तर्भागस्थितायां तु तस्यां सूचीं न्यवेशयत् ॥५७
शृङ्गपश्चिमसंस्थेन नोदनेन शनैः शनैः ।
विनुदन् परिमाणेन रक्तमाभरदादृतः ॥५८
सिराद्वाराच्च तद्रक्तं शीघ्रमेत्य हृदन्तरे ।
तत्र शुद्धं प्राकृतवन्निखिलं वपुरत्वगात् ॥५९
अतर्पयद् विश्पलायाः प्राणानप्रीणयच्चताम् ।
अथ सूचीं विनिष्कास्य सिरारन्ध्रं निरुध्य च ॥६०
परितस्तच्च संमर्दः शनकैर्विहितो यदा ।
तदा चैतन्यमापन्ना विश्पला निर्व्यथा बभौ ॥६१
अश्विनौ च द्विसप्तध्यं तामाविर्होत्रादयश्चतुः ।
अष्टवारं दक्षिणाद्याः प्राबध्नन् द्रष्टुमादृताः ॥६२
व्यथा व्यतिकरेऽल्पेऽपि निराचक्रुर्व्रतं हि तम् ।
पट्टबन्धपरीवर्तं चतुः पञ्चाहतो व्यधुः ॥६३

व्यलिखन्नखिलावस्था देहोष्ण्यादि च पत्रके।
तत्रैव च समादेशान् कर्तव्यान् समुपालिखन् ॥६४
कर्म कस्यामवस्थायां किं कार्यं किं कृतं तथा।
कस्य कः परिणामोऽभूदिति चाकलयन्नमी ॥६५
मोदिनी, प्रमुदोल्लासा, हासिनी, चारुवादिनी।
विनिता, सरला, भद्रा, सुबन्धुनंन्दिनी, सुधा ॥६६
एकादशेमा देव्यस्तु सुधानेभ्यो द्विशो द्विवशः।
अहर्दिवं तत्सेवार्थं नियुक्ताः कर्मकोविदाः ॥६७
निर्मलास्ताः शुभाः शुभ्राश्चन्द्रिकानिर्मिता इव।
तस्या हितानुध्यायिन्यो लोभमोहादिवर्जिताः ॥६८
पर्यायक्रमतो राज्ञीं पर्यावृण्वन् यतस्ततः।
क्षेतेऽपि कासितेऽप्यस्याः पयापृच्छन्ननेकधा ॥६९
आश्वासन्त्यः स्वास्थ्याय गात्रसंवाहनादिकम्।
यथेष्टमाचरन्त्यश्च प्रेम्णा सर्वाः सिषेविरे ॥७०
काश्चिदोषवदानार्थं भणिपात्रकराः स्थिताः।
काश्चिन्नीरनिपायन्त्यः सौवर्णामत्रपाणयः ॥७१
अपरा भोज्यद्रव्याढ्यपात्र्यो प्रात्रेयिकाः स्थिताः।
अभावानुभवस्तस्या न मनाक् स्यादितीरिताः ॥७२
सुपथ्य सुपचंस्वादु रुच्यं रम्यं सुगन्धि च।
भोजनं समये दातुं नियुक्ताः पाचिकाः शुभाः ॥७३
यथाज्ञप्तं यथाशुद्ध यथास्वास्थ्यावहं च यत्।
तत्तथैवाशु समये समुपस्थाप्य भेजिरे ॥७४
नामोन्नामधरस्तस्याः सर्वसौविध्यसंभृतः।
राजहंसच्छदापूर्णतूलिकादिविभूषितः ॥७५
गेन्दुकैरुपधानैश्च यथास्थानं परिष्कृतः।
पादाधानशिरोधानपृष्ठाधानाद्यनूनितः ॥७६
हस्तापादादिविन्यासकार्यार्थं विविधैर्वृतः।
संनिवेशकदण्डाद्यैः, परिवर्त्योत्तरच्छदः ॥७७
रयिद्योयन्त्रयुक्तत्वाद गानवादित्रसुन्दरः।
आह्वनाद्यर्थनिर्बद्धघण्टिकावाननिन्दितः ॥७८
विद्युद्दीपप्रकाशार्थं स्वच्चकादिमनोहरः।
विद्युद्व्यजनसंजातसुखवातामिवीजितः ॥७९

मलमूत्रविनिष्ठेवामत्रैः स्थाने निवेशितैः ।
समये सुसुखं लभ्यैर्यथायथमुपाश्रिता ॥८०

आवश्यकैस्तथैवान्यैर्युक्तः परिकरैः शुभैः ।
पर्यङ्कः कल्पितो देव्या विश्वकर्मविनिर्मितः ॥

तत्र स्थानासनस्वप्नान् यथासुखमसो व्यधात् ।
देहोन्मार्जनवस्त्रादिपरिवर्तनसंस्क्रियाः ॥८२

केशकल्पनमन्यच्च देव्यः सर्वमसाधयत् ।
सुमुखी सुप्रसन्ना सा यतः स्वास्थ्याय व्यश्वसीत् ॥८३

एवं परिचरद्भिस्तैस्ताभिश्च परिसेविता ।
मासेन विश्वलारूढव्रणाऽभूत् स्वास्थ्यमाप च ॥८४

पट्टबन्धादिकं सर्वं व्यपनीयाथ पश्चिमः ।
विधिर्व्यवसितो देवैरश्विभ्यां विनियोजितैः ॥८५

यत्र तस्याश्च जङ्घाया वर्णभेदो विलोकितः ।
सवर्णीकरणं देवास्तस्यास्तत्रैव संव्यधुः ॥८६

अथ लाक्षाद्यतैलेन कुशला महिलाः सतीम् ।
निलिम्पादिष्टविधिना ममृदुर्मृदुभिः करैः ॥८७

पुष्टावर्णप्रभायुक्ता बलं प्राप्य रराज सा ।
तेन, रस्यैः स्थिरैर्हृद्यैराहारैरपि सोऽपुषत् ॥८८

एवं व्यापत्तिपाथोधिं विश्पला समुदातरत् ।
सुखिनी सर्वथा स्वस्था जङ्घाच्छेद न चास्मरत् ॥८९

शनैः शनैरथामूं ते चालयाभासुरङ्गणे ।
दत्तहस्तावलम्बा सा देवीस्कन्धाश्रका स्वयम् ॥९०

उत्सेहे चलितुं धीरा क्रमशोऽभ्यावर्धनी ।
ततः स्वल्पेन कालेन पूर्ववत् समदृश्यत ॥९१

राजा खेलोऽप्यतः पूर्वं शत्रून्निर्जित्य रंहसा ।
स्वराजधानीं संप्राप्तः प्राशिषत् स्वप्रजा मुदा ॥९२

विश्पला यर्ह्यनुज्ञाता स्वहर्म्यमनुसेवितुम् ।
तदाऽसौ सैनिकैः पौरैरमात्यैश्चाहृतोऽगमत् ॥९३

ब्रह्मघोषेण गीताद्यैर्वादित्रैरुत्सवेन च ।
रथमारोप्यमणिमज्जातरूपपरिष्कृतम् ॥९४

पुरं निनाय धर्मात्मा सर्वेषां प्रीतिमावहन् ।
चकार चाश्विनं यागं तद्यशः परिकीर्तयन् ॥९५

अश्विनोरवदानं च तदेतत्प्रसृतं भुवि ।
शिक्षिता भिषजोऽयन्तेऽपि तदेतत्कर्तुमादृताः ॥९६

इत्याचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्रिसंकलिते आश्विनावदाने आयसाङ्गप्रतिसन्धानाध्यायः ॥

आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता

अन्तर्गत लेख 'आरम्भवादादिवादचतुष्टयविज्ञानम्' (संस्कृत में)

लेखक : स्वर्गत आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

[आयुर्वेद के मौलिक विज्ञान का सर्वप्रथम सिद्धान्त 'कार्यकारणभाव' है। प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। किसी भी वस्तु के जन्म को 'बाई-चान्स' वा 'एक्सिडेण्टल फैक्ट' नहीं कहा जा सकता। केवल कार्यकारण भाव को समझ ने में ही कुछ फेर रह जाता है। क्योंकि सृष्टि में कार्यकारणभाव एक नहीं, अनेक हैं। उदाहरणार्थ—एक 'फाउण्टेन पेन को लें। उसके अलग अलग अवयव उसके 'समवायिकारण' है, उन अवयवों का परस्पर यथोचित संयोग 'असमवायि कारण' हैं और अवयवों को जोड़ कर फाउण्टेन पैन का रूप देनेवाले औजार, उसका निर्माता, कारखाना आदि सब 'निमित्त कारण' हैं। इन सब कारणों से होने वाली पैन की निष्पत्ति 'सक्रम' है, अर्थात्-उसमें कौनसा अवयव कहां जुड़ा हुआ है तथा किस प्रक्रिया से ? यह सभी को परिज्ञात होता है। यदि उस पैन को खोले या विघटित करें तो उसी लक्षित क्रमसे कर सकते है। ऐसे ही घट, पट आदि संसार के अनन्त पदों का कार्य कारण भी होता है। परन्तु पारद और गन्धक से निर्मित कज्जली उससे निर्मित चन्द्रोदय आदि में इस प्रकार की सक्रम निष्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती। अंधेरे में पड़ी हुई रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है और उससे जो एक नये सर्प का उद्भव हो जाता है, वहां पर भी नवोत्पन्न भ्रमजनित सर्प कार्य रूप से भासित तो अवश्य ही होता है, किन्तु उसकी तो कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है, सत्ता तो उसके अधिष्ठान की है। इस प्रकार इन तीनों उदाहरणों में कार्यकारणभाव भिन्न भिन्न है।

पहला उदाहरण 'आरम्भवद का है दूसरा 'परिणामवाद' और तीसरा 'विवर्तवाद का है। परन्तु सभी अपने वादों के अनुसार' ही अन्य उदाहरणों की भी संगति बैठाना चाहते है। अत एव सब में पारस्परिक मतभेदों का अवसर खड़ा हो जाता है। आचार्योंने सूक्ष्म तथा पदार्थ तत्वका पर्या लोचन कर पूर्वापरभाव से सब वादों को व्यवस्थित कर दिया था।

प्रस्तुत निबन्ध में विद्वान लेखक ने 'आरम्भवाद' संघातवाद, परिणावाद' और 'विवर्तवाद' इन चार बादों का प्रौढ किन्तु सरल सस्कृत में बहुत ही मनोरञ्जक रीति से वर्णन किया है, जो न केवल आयुर्वेदज्ञों के लिये ही अपितु दार्शनिक आदि वाङमयका अध्ययन करने वालों के लिये भी उतना ही अवश्य अध्येतव्य बन गया है। श्री शास्त्रीजी का यह निबन्ध जिज्ञासुओं के लिये पाठ्य-पुस्तकको काम देना-ऐसा विश्वास अनुचित नहीं कहा जायगा।

इस निबन्ध के संकलन में मूल सिद्धान्त के निरूपण के अनन्तर उसके स्पष्टीकरण के लिये तथा उठी हुई शकाओं के निराकरण के लिये प्राचीन शास्त्रार्थपद्धति से नैयायिक बौद्ध सांख्य और वेदान्तों का जों सवाद प्रस्तुत किया गया है, वह एक दरूह विषय को भी किस प्रकार मनोरम रीति से समझाया जाय-इसका अभिनव आदर्श उपस्थित करता है। दर्शन ग्रन्थों मे निरूपित में विषय विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए प्राप्त होते है और उनका एकसाथ विवेचन तथा समन्वय विद्वानों के लिये भी दुष्कर हो जाता है, परन्तु श्री शास्त्रजी के प्रस्तुत निबन्ध ने उन सब कठिनाइयों को दूर कर दिया है। विशेषता यह है कि जहां मूल ग्रन्थों मे अपने अपने वाद या सिद्धान्त को ही प्रमाणिक मनाने का आग्रह बना रहता है और फलत विवाद कभी समाप्त ही नहीं होता, वहां श्री शास्त्रीजी ने सब वादों के लिये प्रथम मध्यम और अन्तिम कक्षाएं निश्चित कर सबको समन्वित कर दिया हैं तथा विषयभेद से सबको समान आदर देकर विवाद को सदा के लिये समाप्त कर दिया है। इस प्रकार इस निबन्ध के प्रारम्भ में दिये गये श्लोकों में की गई प्रतिज्ञा में श्री शास्त्रीजी पूव सफल हुए हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

निरूपित वादों में से आयुर्वेद 'परिणामवादी' है। भोजन का निर्माण, उसका अशन, उससे रसासङमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रादिका उद्भव, कुपित दोष और दूष्यों के समूर्च्छन से रोगोत्पत्ति औषधियों का निर्माण आदि सभी कार्य आयुर्वेद में 'परिणामवाद' पर आश्रित है। क्योंकि निर्मित वस्तु की रचना में कोई भी क्रम लक्षित नहीं होता, सभी उपदानों की रूपान्तर में परिणति देखी जाती है। इस परिणामवद का रोचक तथा शास्त्रीय पद्धति से प्रतिपादन आयुर्वेद की मौलिक वैज्ञानिकता के एक पहलू के स्पष्टीकरण परम सहायक होगा यह निश्चित है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

अथातः आरम्भवादादिवादचतुष्टयविज्ञानीयध्यायं वक्ष्यामः, यथाहुराचार्याः ।

सिद्धान्तितः कारणकार्यवादः पूर्वं समेदः स्वपरागमोक्तः ।
तत्रापि सूक्ष्मेक्षिकया विदद्भिः पक्षान् कृतान् सप्रति दर्शयामि ॥
आरम्भपक्षः कणभक्षपक्षः संघातपक्षश्च भदन्तपक्षः ।
सांख्यादिपक्षः परिणामपक्षो वेदान्तपक्षश्च विवर्तपक्षः ॥
पक्षाः पृथग्वत् प्रतिभान्ति येऽमी स्वस्वाग्रह चात्यजतां बुधानाम् ।
कुर्वन्ति वैज्ञानिकवर्गमुख्यास्तेषां प्रयोगं जहतो हठं स्वम् ॥
आयुर्विदाम्नायसमर्थनेऽमून् यथार्हमायोज्य भिषग्वरेण्याः ।
सुपुण्यभाजः स्युरिति प्रथिम्ना सारल्यमाधाय निवेदयामि ॥

क्रमोत्पत्तिक्रमध्वंसौ कार्यस्यारम्भ इष्यते ।
यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः स उच्यते ॥
अतात्त्विकोऽन्यथाभावोऽध्यासः संपरिकीर्तितः ।
कार्यकारणभावेऽमी त्रयः पक्षाः समीक्षितुः ॥

चतुर्णांवादानां सारः

(१) अवयवावयविरूपेण कार्यद्रव्यस्य सक्रमा उत्पत्तिः, अवयवविभागाच्च कार्यद्रव्य-नाशः इति आरम्भवादस्य संक्षिप्तं स्वरूपम् । अयं वादो वैशेषिकाणां नैयायिकानां च ।

(२) उत्पत्तिविनाशवन्तः क्षणभंगुराश्च परमाणवः, तेषां संघाता एव द्रव्याणि—इति संघातपक्षः । स च बौद्धानाम् ।

(३) दुग्धस्य दधिभाव इव एकस्यैव द्रव्यस्य विभिन्नावस्थासु संक्रमः इति परिणाम-वादः । यथा—बीजे पृथिव्यामुप्ते सति जलसेकादिसामग्रीसन्निधाने च सति बीजावस्था तिरोभवति, अंकुरावस्था तु आविर्भवति । द्रव्यन्तु द्विविधावस्थानुगतमेव, बीजावयवत्वेन दृष्टस्यैव द्रव्यस्येदानीं अंकुरघटकतया ग्रहचमाणत्वात् । सोऽयं सांख्यानां सिद्धान्ततः । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः—इति योगदर्शने च व्यास-भाष्यम् ।

(४) सांख्यसिद्धान्त एव स्वल्पवैलक्षण्येन वेदान्तानामप्यभिप्रेतः । तेषामपि व्यावहारिक-पदार्थेषु एषैव प्रक्रिया । मूलकारणान्वेषणायां नेयं प्रक्रिया फलवतीति तु तेषां विप्रतिपत्तिः । मूलकारणस्य चैतन्यरूपतास्वीकार एव तेषां विशेषः खलु । तस्य चैकस्य ब्रह्मण एव विवर्त्तोऽयं निखिलः संसारः । सोऽयं विवर्तवादो वेदान्तिनाम् । स्वरूपोपमर्दनं विनाऽन्यथाभावो विवर्तः इति (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये, १ पृष्ठे टिप्पणी) ।

अथैषां विस्तरोऽभिधीयते—

आरम्भवाद:—

आरम्भवादो नाम न्यायवैशेषिकदर्शनयोः कार्यकारणविषयकः एको मुख्यः सिद्धान्तः। इयं हि तेषां वाचोयुक्तिः—मृत्तिकाकपालिकाकपालद्यवयवैर्घटादयः, सूत्राद्यवयवैश्च पटादयोऽवयविनः आरभ्यन्ते। आरम्भश्चैषां पूर्वमसतामेवाभिनवोत्पत्तिः। तत्र हि अवयवादीनां पूर्वेषां कारणानामुपमर्देन कार्याणामवयविनामुत्पत्तिर्दृश्यते।

अयमाशयः—

"यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति"--इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारेण सर्वो लौकिकः कर्ता सर्वेषामवयविनां कार्याणां निष्पादनाय तत्तदवयवान् कारणभूतानुपादाय, तान् विभिन्नैः साधनैर्यथायथं संयोज्य च पूर्वम्विद्यमानमेकं नवीनं कार्यमारभते। अलौकिकः कर्त्ता: ईश्वरोऽपि तदनुगा देवाश्च अपि तथैव क्षित्यंकुरादिकमन्यद्वा विविधं कार्यजातमारभन्ते इति। उत्पन्ने च कार्यमात्रे नाम च, रूपं च, क्रिया चेति त्रितयमभूतपूर्वंनवीनमेवोत्पद्यते। तदुदाहरणानि—

(क) घटनामकस्य कार्यस्य यादृशं रूपमाकारो वा घटावस्थायामुत्पद्यते, तादृशो न ततः पूर्वमृत्तिकाद्यवस्थायां भवति, न चापि तद्घटध्वंसावस्थायाम्।

(ख) घट इति नामापि यादृशंघटावस्थायां भवति, न तादृशंतदुत्पत्तेः पूर्वं भवति, न वा तद्घटध्वंसानन्तरम्।

(ग) जलानयनादीनि कर्माण्यपि यादृशानि घटावस्थायां भवन्ति, न तादृशानि तदुत्पत्तेः पूर्वं मृतिकाद्यवस्थायां भवन्ति। न वा तद्घटध्वंसानन्तरमेव भवन्ति।

इत्थमेव—

(क) घटनामकस्योत्पन्नस्य कार्यस्य आकाररूपादिकं तदवस्थे एव तस्मिन् दृश्यते, न तूत्पत्तेः पूर्वम्, ध्वंसानन्तरं वा।

(ख) पटः इति नामापि तदवस्थे एव अस्मिन् प्रयुज्यते, न तु पूर्वपश्चाद् वा

(ग) देहावरणशीतोपनोदनादीनि कर्माण्यपि पटावस्थायामेवोपपद्यन्ते, न तु सूत्रतन्त्वाद्यवस्थायाम्, ध्वंसानन्तरं वा।

एतैरुदाहरणादिभिः सिध्यति यत्—घटपटादयःपूर्वंकारणावस्थायामसन्तोऽभिनवा एवोत्पद्यन्त। अयमेव 'आरम्भवादः', 'असत्कार्यवादो' वा। एष एव सर्वत्र स्वीकर्तुमुचितः इति।

आरम्भवादस्यावश्यकता—

इह परमाणुस्वरूपनिरूपणं कृतिमस्ति प्रथक्प्रकरणे। स हि परमाणुरन्तिमोऽवयवः। तत्र द्वयोः परमाण्वोर्मेलनेन द्व्यणुकं तत्कार्यमुत्पद्यते। त्रयाणां द्व्यणुकानां मेलनेन तु 'त्रसरेणु'

मभि तत्कार्यं" जायते । इत्थं क्रमशः कारणकार्यभावविकासे परीक्ष्यमाणे लघुभ्यःपदार्थेभ्यो महत्तों पदार्थानामुत्पत्तिर्निश्चीयथे । इदं च प्रत्यक्षप्रयोगसिद्धमनुभूयते ।

विश्लेषणप्रक्रियया कारणकार्यधारायाः परीक्षणे क्रियमाणे तु स्थूलं वस्तु क्रमशो-विश्लिष्यमाणं विभज्यमानं च पर्यवसाने परमसूक्ष्मपरमाणुरूपेणैव परिनिष्ठितं भवति । परमाणोरपेक्षया तु किंचिदपि सूक्ष्ममन्यद् न भवति । यस्य हि वस्तुनो न भवन्त्यवयवाः, यदपेक्षया चान्यल्लघिष्ठं न भवेत् यत्र हि अवयवावयविधारा विश्राम्यन्ती तदन्तिममवयवमात्रं सूचयेत्, तद्वस्तु 'परमाणुः' इति परिभाष्यते । अतिसूक्ष्मत्वेनेन्द्रियाग्राह्यत्वात्परमाणुरतीन्द्रिय उच्यते । एकाधिकानां परमाणूनां द्वित्र्यादिक्रमेण संयोगाद् अनुक्रमं स्थूला स्थूला ये पदार्था जायन्ते, तेऽवयविनः कथ्यन्ते । अयमेव स 'अवयवावयविभावो' नाम ।

प्रत्येकवस्तुनोऽवयवास्तस्य 'कारणानि' कथ्यन्ते, तैरारब्धोऽवयवी तु 'कार्यम्' उच्यते । इह कारणकार्यभावेऽवयवास्ते केवलं समवायिकारणानि एव भवन्ति, कारणद्वयमन्यदपी-हापेक्षितं भवति असमवायिकारणम्, निमित्तकारणं चेति । तत्र—अवयवानां संयोग एव असमवायिकारणम्, संयोजनसाधनान्येव निमित्तकारणानि । सर्वोऽप्ययं कारणकार्यभावः प्रपंचितस्तद्विज्ञानीयाध्यायें । तत्र—

कार्यकारणयोर्भेदो न्याये वैशेषिकेऽपि च ।
अभेदं च तयोः प्राहुः सांख्या वेदान्तिनस्तथा ॥

अयं भावः

तन्तवः पटस्य कारम्, पटश्च तन्तुभ्य उत्पद्यते इति तेषां कार्यम् । तन्तवः पटाद् भिन्ना इति प्रत्यक्षसिद्धम् । न हि पटोत्पत्तेः पूर्वं तन्तुषु कस्यापि पटबुद्धिर्भवति, न वा कश्चित् तन्तूनेव पटं मन्यमानस्तैः शीतमपनिनीषति । अपि च तन्तवो बहवः पटश्चैक इति संख्या-भेदोऽपि तत्र अस्ति । नामरूपकर्मभेदस्तु पूर्वमुक्त एव । एवं पंचभिः प्रकारैः परीक्षणे कार्यकारणयोर्भेदः एव सिध्यति न्यायवैशेषिकमते । सांख्यानां वेदान्तिनां च मतं तु वक्ष्यते । (इह नामरूपकर्मबुद्धिसंख्याः पञ्च परीक्षणप्रकाराः) ।

न्यायवैशेषिकमते कारणावस्थायां कार्यंसर्वथैवासद् भवति । असदेव तदुपादानकारणेन नूतनमुत्पाद्यते । अत एवायम् 'असत्कार्यवादः' उच्यते । किं च–कार्यकारणयोरेवं भेदेऽभ्युपग-म्यमानेऽसंबद्धादेव कारणात् कार्योत्पत्तिर्मा भूदिति तयोः संबन्धविशेषोऽपि स्वीक्रियते 'समवायः' इति । एतत्सम्बन्धादेव उपादानकारणं समवायिकारणमुच्यते । समवायोऽस्त्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या समवायस्याधारोऽनुयोगी वा 'समवायी' इत्युच्यते । तदित्थं यत्राप्ययमुपादानोपादेय-भावः, अवयवावयविभावः, कारणकार्यभावो वा भवति, तत्र सर्वत्रैवं 'आरम्भवादः' सिद्धान्तो-ऽवतरति, कारणभूतानवयवानुपादाय तत्संयोगेन जन्यस्य कार्यस्यारम्भमात्राधीनत्वादिति ।

सृष्टिसंहारयोरारम्भवाद–

नायमारम्भवादी मानवादिभिर्निष्पाद्यमानेषु घटपटादिष्वेव कार्येषु केवलं समन्वेति, प्रत्युत जगदीश्वरस्य जगत्सृष्टिसंहारक्रमेऽप्ययमेव वादः समन्वेति इति निरूप्यमाणया सृष्टि-संहारप्रक्रियया ज्ञातुं शक्यते। तथा हि–

सृष्टेश्चिकीर्षयेशस्य विश्लिष्टेषु मिथः पुरा।
परमाणुषु सर्वेषूद्भवत्यारम्भिका क्रिया॥
तेषु द्वयोर्द्वयोर्योगाज्जायन्ते द्व्यणुकास्ततः।
त्रिभिस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यस्तु त्र्यणुकानां समुद्भवः॥
एवं क्रमान्महाभूमिजलतेजोऽनिलोद्भवः।
प्रलये तु परेशस्य लोकानां सञ्जिहीर्षया॥
पराणुष्वेव चारम्भप्रतिद्वन्द्विक्रिया भवेत्।
तेषां द्वयोर्द्वयोर्योगनाशाद् द्व्यणुकनाशनम्॥
क्रमेण द्व्यणुकादीनां नाशादेवं भवेल्लयः।
दोधूयमानास्तिष्ठन्ति नित्यास्ते परमाणवः॥
सर्वकार्यद्रव्यनाशरूपोऽसावान्तरो लयः।
अनित्यकार्यमात्रस्य नाशमाहुर्महालयम्॥ इति (न्यायप्रदीपे)

अयमाशयः—

यदा हि महेश्वरः सृष्टिं चिकीर्षति, तदा तस्य चिकीर्षावशात्, सृष्टेः पूर्वंमिथो विश्लिष्टतया नभसि दोधूयमानेषु सर्वेषु पृथिवीजलतेजोवायूनां चतुर्विधेष्वपि प्रत्येकमनन्तेषु परमाणुषु काचनारम्भिका क्रिया उद्भवति। तया क्रियया द्वयोर्द्वयोः परमाण्वोः संयोगो भवति, तेन च विभिन्नाः असंख्याताश्च द्व्यणुकाः जायन्ते। तत्र–द्व्यणुकोत्पत्तौ द्वौ द्वौ परमाणू समवायिकारणम्, परमाणुद्वयसंयोगोऽसमवायिकारणम्, परमेश्वरः, तज्ज्ञानम्, तदिच्छा, तत्कृतिः, कालः दिक्, प्रागभावः, धर्माधर्मनिरूपमदृष्टम्, प्रतिबन्धकसंसर्गाभावः–इत्येतत्सर्वं निमित्तकारणम्। एतानि हि कार्यमात्रं प्रति साधारणानि निमित्तकारणानि—इति प्रकरणान्तरे प्रोक्तम्।

एवं द्व्यणुकोत्पत्त्यनन्तरं महेश्वरस्यैवेच्छावशात् तेषु द्व्यणुकेष्वपि आरम्भिका क्रिया समुद्भवति। ततश्च त्रिभिस्त्रिभिर्द्व्यणुकैरेकैकं त्र्यणुकमारभ्यते त्रसरेणुनामि। अत्रापि त्र्यणुके (त्रसरेणौ) त्रीणि द्व्यणुकानि समवायिकारणम् तेषां संयोगोऽसमवायिकारणम्, ईश्वरेच्छादिकं तु निमित्तकारणम् इति बोध्यम्। असंख्याता एव ते त्रसरेणवः।

एवमेव त्र्यणुकेष्वपि सजातीयेषु ईश्वरेच्छावाद् आरम्भिकाक्रिया समुद्भवति। ततश्च तादृशक्रियाविशिष्टैश्चतुर्भिश्चतुर्भिस्त्र्यणुकैः एकैकं चतुरणकमुत्पद्यते। तान्यपि चतुरणुकानि असंख्यातान्येव भवन्ति।

चतुरणुकोत्पत्तौ सत्यां तत्राप्यारम्भकक्रियोद्भवे पंचभिश्चद्वरणुकैर्मिलितैरेकं स्थूलं कार्यमारभ्यते 'पंचाणुकं' नाम। पंचाणुकैरपि यथायथं मिलितैरन्यत् स्थूलतरं कार्यमारभ्यते, स्थूलतरैस्तु स्थुलतमं कार्यमारभ्यते।

इत्थं च पूर्वपूर्वकार्यापेक्षयोतरोतरं स्थूलकार्योत्पत्तिक्रमेण महती पृथिवि, महत्यः आपः महत् तेजः, महान् वायुश्चोत्पद्यते-इति सृष्टिप्रक्रिया।

प्रश्नः– ननु, त्रिभिः परमाणुभिरेकं द्व्यणुकं कुतो नारभ्यते ? द्व्यणुकद्वयेनैव वा कुतो न त्र्यणुकोत्पत्तिः ?

उत्तरम्ः– द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यां द्व्यणुकोत्पत्तावुपपद्यमानायां, तदतिक्रमेण त्रिभिः परमाणुभिर्द्व्यणुकोत्पत्तिस्वीकारे गौरव स्याद् इति प्रथमकल्पनानंगीकारः। द्वितीयेऽपि द्व्यणुकत्रयस्थाने द्व्यणुकद्वयेवि त्र्यणुकोत्पत्तिस्वीकारे तस्मिन्महत्वानुपपत्तिः स्यात्। त्रसरेणौ हि अपकृष्टं महत्वं सिद्धांतितमस्ति। कार्यस्य महत्वं तु कारणमहत्व कारणबहुत्वं वा हेतुर्भवति-तच्च त्रसरेणुगतमपकृष्टमहत्वं त्रिभिरेव द्व्यणुकैः समुत्पद्यमानं परीक्षया सिद्धम्। तस्माद्यथोक्तमेव परम्।

उक्ता सृष्टिप्रक्रिया। अथ संहारप्रक्रियायामपि-यदा परमेश्वरस्य कार्यद्रव्यसंजिहीर्षा भवति, तदा सर्वप्रथमं परमाणुष्वेव आरम्भप्रतिद्वंद्विनी क्रिया भवति। ततः परमाणुद्वयस्य विभागः,ततो द्वयोः परमाण्वोः संयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः, ततस्त्र्यणुकाशः, एवं चतुरणुकादिनाशकमेण महती पृथिवि, महज्जलम्, महत्तेज, महान् वायुश्च, विनश्यति। अयमेव अवांतरप्रलयः इत्युच्यते। 'सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवांतरप्रलयः", इति ल्लक्षणात्। "महाप्रलयस्तु सर्वभावकार्यध्वंसः" । भावकार्याणि च अनित्यानि द्रव्याणि, अनित्यगुणाः, अनित्यानि कर्माणि च बोध्यानि।

प्रश्नः– ननु (क) मीमांसकाः सृष्टिप्रलयौ न स्वीकुर्वंति। ते हि संसारप्रवाहो बीजांकुरन्यायेन अनादिरनंतः, नैव सृष्टिसद्भावे किमपि प्रमाणं, न चापि वा प्रलयसद्भावे प्रमाणम्-इत्याहुः।

(ख) आर्हता अपि भवप्रवाहमनादिमनंतं चाचक्षते। भवप्रवाहस्यानादित्वात् तस्य कार्यत्वाभावादेव च ते ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वं न मन्यंते। तद् भवदुक्ते सृष्टिप्रलयसद्भावे किं मानम्? न हि निर्मानमुच्यमानं माननीयं स्यात्।

उत्तरम्ः– "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) इत्यादयो नानाश्रुतयः सृष्टिप्रलयसद्भावं बोधयन्तित इति सर्वप्रधानमाप्त्ववचनमेवात्र प्रमाणम्।

इत्थं यदा जगतः सृष्टिपलयावुभावपि प्रमाणप्रतिपन्नौ भवतः, यदा च परमाणुभ्यः एव सृष्टिः प्रारम्भ सिद्धो भवति, तदा उक्तक्रमेण तत्र अवयवावयविभावः, कार्यका[illegible]भावोऽपि

वाऽवश्यं मंतव्यो भवति । तथा च तत्र आरम्भवादस्वीकारोऽपरिहार्य एव भवति ।

प्रश्नः– ननु 'आरम्भवादो' नाम 'असत्कार्यवादः' इत्युक्तं पुरस्तात् । अस्मिन् हि वादे असत एव कार्यस्याभिनव एव उत्पादो मंयते । किंतु तत्स्वीकारे—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २।१६)

इति श्रीमद्भगवद्गीताप्रतिपादितः सत्कार्यवादो विरुध्यते । कोऽत्र प्रतीकारः ?

उत्तरम्:– एतस्य श्री मद्भगवद्गीतावचनस्य तात्पर्यमन्यदेव । तथा हि-"भावा-भावौ द्वौ पृथगेव पदार्थौ भवतः । नानयोरैक्यं संभवति, न वैकोऽन्यरूपेण परिणमति । अर्थात्-भावः कदाचिदपि अभावरूपतां न गच्छति, अभावोऽपि च न कदाचिद् भावरूपतां धत्ते । नवा नवास्तु ये पदार्था उत्पद्यंते, तेषां विनाशोऽभावोऽपि वा भवत्येव'-इति । तदेतेन असत्कार्य-वादस्य न काचित् क्षतिः । प्रदर्श्यमानानि श्रुतिवचांस्यपि सर्वथा असत्कार्यवादस्य समर्थनमेव कुर्वंति । तथा हि—

(क) देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि (ऋ० १०/७२।३)

(ख) सं चोदय चित्रमर्वाग्राध इंद्र वरेण्यम् ।
असदित्ते विभु प्रभु ॥ (ऋ० ११९।५)

(ग) विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य ।
असत उत्सो गृणाते नियुत्वान्माध्मो अशुः पवत इंद्रियाय । (ऋ० ९।८९।६)

(घ) इदं वा अग्रे नैव किंचरासीत् । न द्योरासिन्न पृथ्वी नांतरिक्षम् ।
तदसदेव सन् मनोऽकुरूत-'स्याम्' इति । (तै० ब्रा० २।२।९)

(ङ) असद् वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत ।
तस्मात् सुकृतमुच्यते । (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) ॥

(च) असद् वा इदमग्र आसीत् । (शतपथब्राह्मणम् ६।१।१) ॥ (इति न्यायवैशेषिकमतम्)

संघातवादः—

बौद्धा अपि असत्कार्यवादं वदंतः संघातपक्षमुपस्थापयंति ।

तद्यथा—

परमाणुगणैरेव सिद्धं भूमिघटादिकम् ।
तदन्यकल्पनाऽपर्थित्यादि बौद्धमतं वचः ॥

(न्यायप्रदीपे)

नैयायिकवैशेषिकाणां मते द्रव्स्य समवायिकारणं तदमयवा:, जन्यद्रव्यं चावयवि। पूर्वमुक्ते कार्यद्रव्योत्पत्तिक्रमे समवायिकारणाभ्यां द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेक्स्य ड्यणुकस्योत्पत्तिरित्यादिः क्रमो वर्णितः। ड्यणुके हि द्वो परमाणु अवयवों, ड्यणुकं तु स्वयमवयवो। "समवायिकारणे-पमर्दन ततो भिन्नमेव नवीवं कार्यमवयवि समुत्पद्यते" इति सामान्यः सिद्धांतः।

अत्र बौद्धा कथयन्ति —

"विभिन्नाकाराकारिताः परमाणुपुंजा एव घटपटादिनानापदार्थरूपतयाऽवभासन्ते, तत्र अवयवविनामकस्य नवीनपदार्थस्य कल्पनाऽपार्था एवेति। न च अवयविनः परमाणुपुंजत्वे परमाणोरप्रत्यक्षत्वात् घटाद्यवयविनामपि अप्रत्यक्षत्वापत्तिः स्यादिति वाच्यम्, दूरस्थकेशवद् एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वे बाधकत्वाभावात्। न च तथापि पूंजस्थ-परमाणूनां बहुत्वात् एको घटः इत्येकत्वप्रतीतिरनुपपन्ना स्यादिति वाच्यम्, "एको धान्यराशिः इति लौकिकप्रतीतिवत् तस्याः प्रतोतेरपि सूपपन्नत्वात्"–इति। अत्र पुंजः, संघातः, समूहः, राशिः–इत्यादिशब्दानामेकोऽर्थः।

बौद्धनैयायिकयोः शास्त्रार्थः

(१) नैयायिकः

अवयविनोऽस्वीकारे परमाणुपूंजमात्रस्य घटादिपदार्थत्व स्वीकारे च परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्याप्यतिन्द्रियत्वाद् घटादीनामप्रत्यक्षत्वापत्तिदोषस्तदवस्थ एवेति हेतो बौद्धमतं न सम्यक्। यत्तु केशदृष्टान्तेन प्रत्यक्षत्वं साधितम्, तदपि न, दूरस्थस्यापि केशस्यातीन्द्रियत्वा-भावेन तत्प्रत्यक्षेऽपि, तत्साम्येन परमाणुप्रत्यक्षस्य साधयितुमशक्यत्वात्। दूरस्थकेशो हि नातीन्द्रियः,, संनिधाने तस्येन्द्रियग्राह्यत्वात्–इति।

बौद्धः—

ननु कथं नैयायिकादिमतेऽपि अतीन्द्रियपरमाण्वारब्धानां त्रसरेण्वीनां प्रत्यक्षं स्यांत्?।

(२) नैयायिकः—

अस्मन्मते दृश्यद्वयणुकैर्जनिते त्रसरेणौ महत्त्वमुत्पद्यते, अणुत्वं च व्यपगच्छति। "द्रव्यीय-चाक्षुषप्रत्यक्षं च समवायेन महत्त्वस्य कारणत्वात्' त्रसरेणोः प्रयक्षं निर्बाधमेवेति। बौद्धमते तु अवयवावयविभावास्वीकारेण त्रसरेणोर्जन्यावयविज्वाभावान्न तत्र महत्त्वं चायते इति तस्याप्रक्षयक्षत्वापत्तिरेव स्यादिति।

बौद्धः—

नन्वस्मन्मतेऽपि अदृश्यपरमाणुपूंजाद् दृश्यपरमाणुपुंजस्य समुंपन्नंवाद् 'अयं घटः' इति प्रत्यक्षप्रतीतेर्नानुपपत्तिरिति।

३ नैयायिकः—

नैदं सम्यक्, कार्यधर्मस्य कारणधर्मानुरोधित्वेनादृश्यास्य दृश्यानुपादानत्वस्वीकारात्। एतद्वैपरीत्येनादृश्यस्यापि दृश्योत्पादकत्वस्वीकारे तु अदृश्यस्य चक्षुरिन्द्रियस्योस्मणः सन्तानस्य चापि कदाचिद् दृश्यत्वप्रसंगेन चाक्षुषः साक्षात्कारः स्यात्, न तु तथा दृश्यते। तस्माद् अदृश्यं न दृश्योपादानमित्येव सिध्यति।

बौद्धः—

ननु कटाहस्थतैलघृतादौ वटकशष्कुल्यादिपरिपाचनकाले तत्र अदृश्यो वन्हिर्भवति, अत एव तत्र आकस्मिकतयाऽपि जलादिप्रक्षेपे सति दृश्यस्य वन्हेरुत्पत्तिर्जायते। एवं च अदृश्यमपि दृश्योपादानं भवत्येवेति।

(४) नैयायिक—

कटाहस्थतैलघृतादावपि तदन्तःपातिनो दृश्यस्य दहनस्यावयवा दृश्या एव, न त्वदृश्याः। दृश्यैरेव तैर्वन्हेरवयवैर्दृश्यभूतस्य स्थूलस्य वन्हेरुत्पत्तिरवगम्यते। अन्यथा तु दृश्यः स्थूलो वन्हिरपि दृश्यः (चक्षुःप्रतिवेद्यो) न भवेदिति।

बौद्धः—

ननु नैयायिकमते ह्यणुकमदृश्यम्, यदि ह्यदृश्यं दृश्योपादानं न भवेत्, तर्हि अदृश्यात्-तस्माद्ह्यणुकाद्दृश्यस्य त्रसरेणोरुत्पत्तिः कथमिव भवति?।

(५) नैयायिकः

न वयं दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित् स्वभावादाचक्ष्महे। अर्थाद् दृश्यत्वादृश्यते कस्यचित्पदार्थस्य स्वाभाविकौ स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नौ धर्मौ न भवतः। किन्तु महत्वोद्भूतरूपालोकादिकारणासमुदायवशाद्दृश्यत्व भवति, तदभावे चादृश्यत्वं भवतीति दृश्यादृश्यत्वयोर्विवेकः तथा च नैयायिकानां त्रसरेणौ महत्त्वमुद्भूतरूपं च उत्पद्यते इति तस्य दृश्यत्वं भवति, द्व्यणुके तु न तथात्वम्, तत्र महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणकलापाभावात्।

बौद्धः—

ननु एवं परमाणोरपि पुंजावस्थायां दृश्यत्वम्, इतरथा त्वदृश्यत्वमिति का क्षतिः?।

(६) नैयायिकः—

बौद्धमते नेयं दृश्यत्वादृश्यत्वव्यवस्था वर्तते। यतो हि परमाणुपुंजे न महत्त्वं वर्तते, न चाप्युद्भूतरूपादिकमस्तीति सर्वथा अवयविपदार्थस्वीकारः कर्त्तव्य एवेति सिद्धम्।

(३) सत्कार्यवादः परिणामवादश्च—

अयं हि सांख्यानां सिद्धान्तः। वेदान्तिनामप्यसौ ईषत्परिवर्तनेनाभिमत एव। बहूनि वेदवचांसि तु अत्र आधारीक्रियन्त एव, किन्तु—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(—श्रीमद्भगवद्गीता २।१६)

इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनमत्र सर्वतोऽपि विशिष्ट आधारः। दर्शनानां सर्वस्वमिदं पद्यम्। सांख्यं च वेदान्तश्चोभावपि स्वस्वप्रक्रियाभेदवादेनदाधारीकुरुतः। अयं तदर्थः—"यः पदार्थोऽसन् भवति, तस्य कदाचिदपि सत्ता नैव भवति। यश्च पदार्थः सन् भवति, तस्याभावोऽपि नैव भवति। तत्त्वदर्शिनः पार्यन्तिकं विचारं कृत्वा सिद्धान्तमेतं निरणैषुः"-इति। अयमाशयः— सत्तावतां पदार्थानां कालत्रयेऽपि सत्ता निर्बाधा। यस्य त्वेकस्मिन्नपि काले सत्ता न भवति, तस्य कस्मिंश्चिदपि काले सत्ता नैव भवति, एतेन सिध्यतियद्—यत्त्रैकालिकं सत्यम्ः तदेव हि वास्तविकं सत्यम्। कादाचित्कतया भासमानानां पदार्थानां तु वास्तविकी सत्ता न भवति इति।

सांख्यदर्शनेन सत्कार्यवादस्य स्थापना उपर्युक्तसिद्धान्ताधारेणैव क्रियते। सांख्याः कथयन्ति—"जगत्यस्मिन् न किमपि नवीनं कार्यमुत्पद्यते। यत्किमपि पूर्वमस्ति, तस्यैवाभिव्यक्तिमात्रमिह भवति। तद्यथा—

(क) तिलेषु तैलं पूर्वमेव तिष्ठति, यन्त्रनिष्पीडनेन तु तदभिव्यक्तिः क्रियते।

(ख) दध्नि नवनीतं पूर्वमेव भवति, दध्नो मन्थनेन तु तदभिव्यक्तिः क्रियते।

(ग) मूर्तिकारः कश्चिद्शिलाखण्डमेकमादाय, टंकाद्युपकरणैष्टंकयित्वा, अनावश्यकानंशान् परिहृत्य च तस्माच्छिलाखण्डाद्यथारुचि रामकृष्णगजसिंहमयूरादीनां मूर्तिरभिव्यंजयति नासौ बाह्यां कांचित्सामग्रीमुपादत्ते, केवलं शिलाखण्डे पूर्वं सतीमेव प्रतिमामसौ प्रकटयति।

एतैरुदाहरणैः सिध्यति तत्—तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः, शिलायां प्रतिमा चैते पदार्थाः पूर्वत एव सिद्धा आसन्, अनावश्यकांशावरणेन तु तेषामव्यक्तावस्थाऽऽसीत्। आवरणवारणेन च तेषां व्यक्तता जाता। नात्र नवीनं किमप्युत्पादितम्। तस्मात् 'कार्यस्योत्पत्तेः पूर्वमपि स्वकारणेऽव्यक्तरूपेण स्थितं सदैव भवति"—इति व्युत्पत्त्या सोऽयं सिद्धान्तः 'सत्कार्यवादः' इत्युच्यते। "कारणस्यैवावस्थाविशेषः कार्यम्" इति तु तत्संक्षेपः। पचभिर्हेतुभिः 'सत्कार्यवादं' साधयन्ति सांख्याः। ते च यथा—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥
(सांख्यकारिका—९) इति ॥

अयमर्थः—

कार्यसद्भवति, कारणव्यापारात्प्रागपि विद्यमानं भवतीत्यर्थः। यतो हि—

(क) असतः करणं नैव भवति, न हि शिल्पिसहस्रेणापि आकाशकुसुमं शशश्रृंग वोत्पापयितुं शक्यते, न वा सिकताभ्यस्तैलं निष्क्रष्टुं शक्यते, असत्त्वादेव तस्य तस्य वस्तुनः।

(ख) यत्कारणं यस्योपादानं भवति तदेव हि तन्निष्पादनायगृह्यते, यथा—दध्यर्थिना क्षीरमेवोपादीयेत, नान्यत्। तैलार्थिना तिला एवोपादीयन्ते, न सिकताः। अन्योऽप्यर्थः—उपादानानाम्=कारणानां ग्रहणम्=कार्येण सह सम्बन्धः। कार्येण सम्बद्धमेव कारणं कार्यस्य जनकं, नासम्बद्धम्। सम्बन्धश्च असता कार्येण सह न संभवति। तस्मात् सिध्यति कार्यमुत्पत्तेः प्रागपि अव्यक्ततया सदेवेति।

(ग) असम्बद्धस्यापि कार्यस्य जन्यत्वे स्वीक्रियमाणे असम्बद्धत्वसामान्यात् सर्वस्मादेव कारणात् सर्वं कार्यं संभवेत्—जलादपि दधि, सिकताभ्योऽपि तैलम्, पाषाणादपि पुष्पम् इत्यादिकं सर्वमेव तथात्वेऽनियतमुपलभ्येत। न त्वेवमस्ति। अत एवोच्यते—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसंगिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

(घ) ननु असम्बद्धमपि कार्यं तदेव कारणेन जन्यते, यत्र यत्कारणं शक्तं स्यात्। यथा-तंतवः पटे शक्ता एव पटोत्पादकाः। एवं च सति कार्यस्यासत्त्वाभ्युपगमेऽपि न दोषः। शक्तिश्च कार्यदर्शनादनुमियते। तेन नाव्यवस्था इत्यत आह-शक्तस्येति। शक्तं कारणं शक्यमेव कार्यं जनयति, नत्वशक्यम्। तच्च असम्बद्धत्वे नैव संभवति। सम्बन्धश्चासतः सता सहन संभवति। सम्बधे स्वीकृते तु सिध्यति सत्कार्यमिति।

(च) कारणभावाच्चापि कार्यं सद् भवति। अर्थाद्- यद्रूपं कारणं भवति, तद्रूपमेव कार्यं लोके दृश्यते इति कार्यस्य कारणभावोऽभ्युपगम्यते। कारणं च सद् भवतीति तदभिन्न कार्यं कथमसद् भवेत्? ततश्च सिध्यति कार्यं सदेवेति।

अयमत्र सारः—

कारणमेव हि विक्रियमाणं कार्यरूपेण परिणमति। मृदेव रूपांतरपरिणता घटो भवति तंतव एव रूपांतरमधिगताः पटो भवति, दुग्धमेव रूपांतरितं दधि जायते-इति जागतिकावस्थादर्शनन कारणस्यैवावस्थाविशेषः कार्यमिति फलति। एवं च कारणकार्ययोर्भेदः एव सिध्यति। कारणाभिन्नं च कार्यं स्वोत्पत्तेः पूर्वमपि सदैव भवति-इति।

परिणामवादः :—

सांख्यानां 'सत्कार्यवादः' एव 'परिणामवादः' कथ्यतेः कारणमेव कार्यरूपतया परिणमति-इति सिद्धांतस्योदाहृणानां दर्शितत्वात्। परन्तु सकलस्य जगतः प्रकृतिरेवैकं कारणमभ्युपगम्यते, सा चैका, तत् कथमेकस्यास्तस्याः प्रकृतेः नानारूपं विचित्रं जगदुत्पन्नमिति प्रश्नस्य समाधानाय प्रकारांतरेणापि 'परिणामवादो'ऽयमुपयुज्यते। तथा हि—

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत प्रति प्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥
(सांख्यकारिका १६) इति ।

प्रयमर्थः :—

जगत्कारणं प्रकृतिः सत्त्वादिगुणात्रयात् सर्गप्रलयरूपं द्विविधं कार्यं जनयति । तत्र गुणानां साम्यावस्थात प्रलयः, वैषम्यावस्थातश्च सर्गः । गुणास्तु परिणामशीलाः क्षणमपि परिणामं विना भावतिष्ठन्ते । प्रलयावस्थायां ते विसदृशपरिणामं विहाय सदृशपरिणामा जायन्ते । तदा हि सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमश्च तमोरूपतया प्रवर्तते । तेन च गुणाना-मेषां साम्यावस्था जायते । स एव जगतः प्रलयः सृष्टिसमये तु गुणाः सदृशपरिणामं विहाय विसदृशपरिणामाः सन्तो महदादिकमुत्पादयन्ति । परन्तु सर्गरूपायां प्रकृतौ प्रवृत्तौ गुणास्ते परस्परं गुणप्रधानादिनानाभावैर्मिलित्वा प्रवर्तन्ते इति । यथा वारिदविमुक्तमेकमेव सलिलं मधुरैकरसमपि भिन्नभिन्नभूतविकारानासाद्य जम्बीरनारिकेलादिरसरूपतया परिणमन् मधुराम्ल-लवणतिक्तकटुकषायभावं प्रतिपद्यते, तथैव त्रयाणां गुणानां नानात्वरूपं विशेषमाश्रित्य प्रकृतेरपि नानाविधाः परिणामा जायंते इति ।[1]

सृष्टेरादिकारणं प्रकृतिः 'सत्कार्यवादेन' सांख्यैः साध्यते, एकस्मात्कारणाज्जायमाना विविधता तु तैः 'परिणामवादेन' समर्थ्यते इति तु परमार्थः ।

सत्कार्यवादस्योपयोगिता:—

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मध्ये युयुत्सुं समुपस्थितं स्वजनं दृष्टवा, विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसं, कृपयाविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्, विषीदन्तमर्जुनमुद्बोधयितुं भगवान् प्रहसन्निव "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्"-इत्यादिभिर्वाक्यैः स्वोपदेशं प्रारेभे । तत्र- (१) प्राणा-पगमस्थित्योरननुशोच्यत्वम्, (२) सर्वात्मनां त्रैकालिकसत्तावत्त्वम्, (३) देहांतरप्राप्तेर्बाल्य-कौमारयौवनजरावदवस्थापरिवृत्तिमात्रत्वम् (४) मात्रास्पर्शजानां सांयोगिकानां शीतोष्ण-सुखदुः खादीनां द्वंद्वानामागमापायित्वेनानित्यत्वं, वास्तविकसत्तारहितत्वं चेत्येतत्सर्वं प्रति-पाद्य संयोगजाना भावानामनुशोचनस्य व्यर्थता समुपदिष्टा । तत्र-

प्रश्नः :– शीतोष्णत्वादीनां संयोगजत्वादनित्यत्वं तु कथंचिन्मन्तव्यं स्यात्, किन्तु तेषां वास्तविको सत्ता न भवतीति कथं श्रद्धेयम् ? सन्ति जगति बहुव संयोगजा भावाः, सत्ताऽपि तेषां वास्तविको दृश्यते, तैर्बहूनि कार्याण्यपि सिध्यन्ति, तेषां नाशाद्यवस्थायां तीव्रमन्दमति-साधारणाः सर्वे एवानुशोचनमपि कुर्वन्त्येव । दृश्यन्तामिहोदाहरणानि–

---

(१) दृश्यतमेतत्संवादि चरकवचनम्-"एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नम्, न्यूनपतिरेकविशेषान्महाभूतानां भूतानामिव स्थावरजंगमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः । षड्तुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेक-विशेषः" (च० सू० २६।४०) इति ।

(१) शरीरमिदं शुक्रशोणितसंयोगोद्भवमिति सर्वे विदन्ति, एतस्य वास्तविकी सत्तामप्यनुभवन्ति, अनुशोचनमपि जगति शरीरसम्बन्धा देव सर्वं भवति ।

(२) गन्धकशोरकांगारैर्मिलितैराग्नेयचूर्णमुत्पद्यते, येन महान्तः पर्वता अप्युत्साद्यंते । तत्तस्य वस्तुसत्ता किं न स्वीक्रियेते ? तस्य संयोगजस्याग्नेयचूर्णस्य वस्तुसत्तानंगीकारः किमु उपहासास्पदं न स्यात् ?

(३) दुग्धे सरः (सन्तानिका) अग्निवायुसंयोगादुत्पद्यते । किमु तस्यापि वस्तुसत्ता न स्वीक्रियेत ?

शतं सहस्रं चैतादृशान्युदाहरणानि सन्ति, येषां वस्तुसत्तानंगीकारं न कश्चिदपि विपश्चित् कुर्यात् । यदि तु तेषां वास्तविकी सत्ता स्वीक्रियते, तर्हि तेषां सर्वथैवाशोच्यत्वं कथमिव सिध्येत् ।

उत्तरम्ः—

प्रश्नस्यास्य समाधानार्थमेव भगवान् सर्वदर्शनसारं "नासतो विद्यते भावो"-इति पद्यमवातीतरत् । सत्कार्यवादेनैव हि प्रश्नोऽयं यथार्हं समाधीयते इति तथैव प्रतिपादितमपि प्राक् ।

अथायुर्वेदेऽपि महीयानुपयोऽस्य सत्कार्यवादस्य परिणामवादस्य वा । तथा हि-

(क) अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये ।
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत् ॥
सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥
—(चरकसंहिता-सू० अ० २८।३४-३५)

इति चरकोक्त्यनुसारं सर्वैरेव स्वस्थवृत्तानुपालनेन रोगा नोत्पद्येरन्नित्यर्थं प्रयतितव्यम् । परंतु सर्वभूतानां सर्वासु प्रवृत्तिषु सुखार्थासु मतास्वपि अपरीक्षका अज्ञानादेव सुखसाधनमिकमिति कृत्वाऽमार्गेऽपि प्रवर्तन्ते, जायंते च रुग्णाः । यद्येवं रोगा जायेरन्, तर्हि तेषां विनिवृत्तिरपि कर्तव्या भवति । सर्वमिदं यथार्थज्ञानमंतरा न कर्तुं शक्यम् । क आत्मा ? किं शरीरम् ? किंमूलं शरीरम, लोकेन वा शरीरस्य कः संबधः ? किं स्वास्थ्यम् ? के रोगाः रोगा आगमापायिनो वा नित्या वा ? तन्नाशनं मानवकृतिसाध्यं न वा ? किं चिकित्सातत्त्वम् ? इत्यादीनां विषयाणां सम्यक् परिज्ञानमेव हि यथार्थज्ञानम् । यथार्थज्ञानेन यो हि परीक्षकस्तम्—

श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम् ।
वाग्विशुद्धि शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥
-(चरकसहिता सू० अ० २८।३७) इति ।

स्वास्थ्यानुवर्तने परमावश्यकाह्यते गुणाः । एतद्गुणयुक्त एव "प्रशमः पथ्यानाम्, अनिर्वेदो वार्तलक्षणाम्, विज्ञानमौषधीनाम्" (च० सू० २५।४०) इत्याद्युपदेशान् पालयेत् । अन्ये तु

तानुल्लंघय "विषादो रोगवर्धनानाम्, आयासः सर्वापथ्यानाम्, शोकः शोषणानाम्, असद्ग्रहणं सर्वाहितानाम्" (च० सू० २५।४०) इत्यादिवचनानां लक्ष्यभूता अस्वास्थ्यदुःखमेवानुभवन्ति। ईदृग्विधेष्ववसरेषु 'सत्कार्यवाद' एव देहलाभादीनां तत्रोद्भूतानां विकारादीनां च सांयोगिकत्वेनानित्यत्वं परिबोध्य धैर्यमवष्टम्भं च जनयति। तद्यथा-

जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वाभावोपरमः सदा॥
शीघ्रगत्वाद्यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते।

(च० सू० अ० १६।) इति।

यत्तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित्।
परिहर्तुं, न तत्प्राप्य शोचितव्यं मनिषिभिः॥

(च० सू० अ० २८।४४ इतिच।

(२) 'सत्कार्यवादः', 'परिणामवादो' वा कार्यकारणयोरभेदं बोधयत् हेतुलिंगौषधरूपेषु त्रिष्वेवायुर्वेदस्यन्धेषु व्याप्रियमाणिश्चिकित्सकस्य अभ्रांतं ज्ञानं जनयित्वा महांतमुपकारमादधाति। तथा हि-"दुष्टा दोषा एव धातून् प्रदूष्य रोगरूपतया परिणता भवन्ति"-इति बोधयन् 'सत्कार्यवादो'ऽयं हेतुलक्षणयोः सामान्येन विकारनिर्णयस्य मार्गं दर्शयति। तद्यथा-

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥
व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते॥

-(चरकसंहिता सू० १८।४२,४३) इति।

तथा—"सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपविशन्ति बुद्धिमन्तः"—इत्यादिषु नानास्थलेषु दोषाणामेव परिणामविशेषा रोगा इति स्पष्टं परिबोध्यते।

(३) अपि च—आहारपरिणामजा एव देहे निखिला धातवः—इत्यादि "स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति" इत्येवं विधैरनेकैर्वचनैः परिबोध्यते, इतीदृशेषु स्थलेषु सर्वत्रः सत्कार्यवादाभिन्नपरिणामवादेनैव निस्तारः।

(४) अपि च—यथा श्रीमद्भगवद्गीतायां मात्रास्पर्शजानामागमापायिनां सुखदुःखादि द्वन्द्वानां तितिक्षितव्यत्वं सत्कार्यवादेन अणुप्राण्यते, तथवायुर्वेदेऽपि। तथा ह्युच्यते—

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविध(सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः॥
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् ।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदना ॥
(चरकसंहिता शा० १।१३३-१३५) इति ।

इत्थं सूक्ष्मपरोक्षणेन पदे पदे 'सत्कार्यवादस्य' 'परिणामवादस्य' वाऽऽयुर्वेदे उपयोग उपलभ्यते ।

सांख्यनैयायिकयोः शास्त्रार्थः—

(१) नैयायिकः—

ननु तैलदधिमूर्त्यादीनुदाहरता सांख्येन सत्कार्यवादस्थापनायां 'यत्किमपि पूर्वमस्ति, तस्यैवाभिव्यक्तिमात्रस्य' सिद्धान्तता स्वीकृता । बाह्यसामग्र्यास्तूपादानमात्रमपि तेन निषिद्धम् । तदिदमनुभवपथादपेतम् । लोके ह्यन्यथैव व्यवहारो दृश्यते । तथा हि—

(क) घटादिनिर्माणाय बाह्यैवोपादीयते मृत्तिका ।

(ख) पटनिर्माणाय च तन्तवो बाह्या एवोपादीयन्ते ।

(ग) कटककुण्डलाद्यलंकारकरणाय च सुवर्णपिण्डखण्डं बाह्यमेवोपादीयते–इति ।

अपि च–शरीराऽऽग्नेयचूर्णदुग्धसरादयो ये संयोगजा भावा नवीनतयोत्पाद्यमाना निर्दिष्टाः, येषां च सत्तापि वास्तविकी साधिता, तेषामपि समुचितं समाधानं सांख्येन न कृतम् । तत्कथं युक्तिप्रमाणरहितं वाङ्मात्रसाधितं 'सत्कार्यवादं' प्रतिपद्येमहि ? ।

सांख्यः—

उपादानेषु भवन्ति नाना अवस्थाविशेषाः । यावदेकाऽवस्था भवति, तावदपरास्तिरोहितास्तिष्ठन्ति । नवाभ्यां नामरूपाभ्यां वस्तुनिर्मातारस्तु पूर्वाभवस्थां विपरिवर्त्य यथेच्छं नवामवस्थामुद्भावयन्ति ।

तद्यथा:—

(क) चूर्णपिण्डदयो मृत्तिकाया एवानेकेऽवस्थायाविशेषाः

(ख) पटादयस्तन्तूनामेवावस्थाप्रकाराः ।

(ग) कटककुण्डलादयोऽपि सुवर्णस्यैवकाश्चनावस्थाः—इति ।

एतेषु सर्वेषूदाहरणेषु पूर्वावस्थापरिवर्तनेनावस्थान्तरमात्रपरिणतिर्भवति, न तु क्वचिदसतो वस्तुनो नवीनमुत्पादनं कृतं मन्तव्यम् । येऽपि केचन संयोगजा भावा दृष्टान्तीक्रियन्ते, तत्रापि ये तत्त्वविशेषाः याश्चापि शक्तयो अनेकत्र विप्रकीर्णा भवन्ति पूर्वम्, ता एवैकत्र संयोज्य रूपांतरपरिणताः प्रकटीक्रियंते, न तु इहापि किंचिन्नवीनमुद्भाव्यते । तद्यथा—

(क) शरीरोद्भवे शुक्रशोणितयोः पृथगवस्थितानवयवान् संयोज्यावस्थांतरपरिणामो विग्रहवान् विधीयते, न तु पूर्वमसतः कस्यचिन्नवीनकार्यस्योत्पत्तिः क्रियते ।

(ख) आग्नेयचूर्णनिर्माणोदाहरणेऽपि गंधकसोरकेंगालेषु पृथक्पृथगंशतःस्थिता विध्वंसिनो शक्तिस्तदुपादानानामेकत्र मेलनेनाछिव्यक्तिं नीयते ।

(ग) दुग्धसरोत्पादस्थलेऽपि खरताऽग्नेर्वाय्वोश्चांशः, द्रवता च दुग्धस्यांशः। अग्न्युत्तापकाले दुग्धेऽग्नेर्वाय्योश्च प्रवेशेन खरत्वं तद्गुणोऽभिव्यज्यते, द्रवत्वं त्वधुनाऽपि तत्र स्थितमेव । इह दुग्धाग्निवायूनां संमिश्रणमात्रं तेन च रूपांतरापत्तिमात्रमेवाभूत्, न काचिन्नवीना निर्व्यत्तिः।

(२) नैयायिकः—

ननु भावपदार्थेष्वियं व्यवस्था आस्ताम्सत्कार्यवादेन रूपांतरपरिणतिनमि, अभावे तु वस्तुनः सर्वथैव विनाशो भवति, ततश्चादर्शनमुपेयुषि वस्तुनि, क्व तद्वस्तु ?, क्व तद्रूपांतरम् ?, क्व च तद्रूपांतरपरिणतिः ? । तस्मादसत एवोत्पत्तिरिहाभ्युपेया भवति, न तु कारणे अव्यक्ततया सतः कार्यस्याभिव्यक्तिरिति ।

सांख्यः—

न हि विनाशस्थलेऽपि वस्तुनः सर्वथाऽभावो भवति । अवस्थापरिवर्तनं त्वेव इहापि भवति । उदाहरणं यथा—शीतकाले सलिलसंपूरितः कश्चित् सरोवरो ग्रीष्मे यदि विशुष्यति, तर्हि तेन तस्य सर्वथैवाऽभावो भवतीति नैव मन्तव्यम् । किन्तु सरोवरनीरं ग्रीष्मे द्रवावस्थां विहाय वाष्पावस्थां गच्छति, वर्षासु तु तद्भूयो घनतामवाप्य द्रवतामुपैति । तदेवमवस्थानां चक्रमेव शश्वद्विपरिवर्तते, न तु सतोऽभावः, असतश्चोत्पत्तिर्भवति ।

(३) नैयायिकः—

ननु उक्तः पूर्वंन्यायवैशेषिकमतेन 'आरम्भवादः' । तस्मिंश्च बौद्धमतसमीक्षावसरे" अयमेको घटः अटामेक पटः", इत्याद्येकत्वव्यवहारस्थले पुंजीभूतानामनेकेषां परमाणूनामवयविद्रव्यत्वस्वीकारमन्तराऽनुपपद्यमानस्यैकत्वव्यवहारस्योपपादनाय अवयवावयविव्यवहारश्चापि साधितः। अवयवावयविभावे (कारणकार्यभावे) तु सर्वथा 'आरम्भवादः' एवोपपद्यते, नान्यः कश्चिदिति कथमिह 'सत्कार्यवाद' स्थापनप्रयासः ? ।

सांख्यः—

'आरम्भवादः' खलु प्राथमिककक्षायामधीयानानां शिक्षणस्य प्रक्रियामात्रम् । तेन हि शिक्षमाणानां तेषां कारणकार्यधारा सुगमा भवति । स्थूलतयाऽनेकेषां वस्तूनामुत्पादनक्रमोऽपि हृदयंगमो भवति । परन्तु आरम्भवादस्य "अणुभ्योऽवयवेभ्यो महत्तोऽवयविन उत्पत्तिर्भवति"—इति सिद्धान्तो न खलु सार्वत्रिकः। 'परिणामवादेनापि एकस्माद् वस्तुनोऽपरस्य वस्तुनः परिणतिः साधितैव । यथा—दुग्धाद्दध्नो निष्पत्तिरिति ।

(४) नैयायिकः—

ननु तत्रापि दुग्धदध्युदाहरणे तापनातंचनदानादिविधिभिर्दुग्धपरमाणूनां परस्परं विश्लेषणे

सति, दुग्धं विनश्यति, उष्णतासंयोगेन चाभिनवरूपरसादिप्रादुर्भावे सति दधिपरमाणूनां निष्पत्तिः, ततश्च दध्न उत्पत्तिर्भवतीति 'आरम्भवाद' एव देदीप्यते।

सांख्यः—

निःसारा खल्वेषा कल्पना, प्रत्यक्षविरुद्धा च। यतो हि दधिभावेन निष्पाद्ये दुग्धे निरंतरं दृष्टिं समाधाय कश्चिद्यदि पश्यंस्तिष्ठेत्, तर्हि नैतादृशः कश्चिदवसरः प्राप्येत, यत्र दुग्धस्य विनाशेन परमाणुरूपतापत्तिरतीन्द्रियत्वं चाध्यक्षीक्रियेत। दुग्धमेव तु शनैः शनैर्दधिभावेन परिणमत् तत्र लक्ष्येत। ततश्चारम्भवादस्य मूलं 'परमाणुवादः' एव न युक्तियुक्तः सिध्यति, कुतस्तरामन्यत्!।

किंच—परमाणूनामतीन्द्रियत्वस्वीकारोऽपि स्वकीयं परिभाषामात्रम्। यतो हि—एकस्य परमाणोरतिसूक्ष्मत्वेन प्रत्यक्षासम्भवेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षं भवत्येव। एवं चैकस्य परमाणोः प्रत्यक्षाभावेऽपि तत्पुंजभूतानां घटपटपर्वततर्वादीनां प्रत्यक्षतायां न किंचित् बाधकमुत्पश्यामः। अन्यथा द्व्यणुकत्रयस्य (षण्णां परमाणूनां) मेलनेन निष्पन्नस्य त्रसरेणोः प्रत्यक्षं भवति, ततोऽपि महतां घटादीनां तु नेति को वा विचारकः प्रतीयात्?।

(५) नैयायिकः—

ननु प्रत्यक्षे महत्वं कारणं भवति, "द्रव्यीयचाक्षुषप्रत्यक्षे समवायेन महत्त्वं कारणम्"-इति नियमात्। परमाणूनां त्वणुत्वमेव न महत्त्वम्—इत्येकस्य परमाणोः प्रत्यक्षाभाववत् तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षाभाव एव। तत् कथमिह तत्प्रत्यक्षत्वापादनम्?।

सांख्यः—

अणुत्वं महत्वं च न कौचिद् विशिष्टौ गुणौ भवतः। तौ हि आपेक्षिकौ। प्रदेशावगाहस्यैव नामविशेषोऽणुत्वम्, नामविशेषश्च महत्त्वम् ततश्च योऽधिकं प्रदेशमवगाहते, सोऽल्पप्रदेशावगाहकापेक्षया 'महान्' इत्युच्यते, यश्चाल्प प्रदेशमवगाहते, सोऽधिकप्रदेशावगाहकापेक्षया 'अणुः' इत्युच्यते। परमाणूनां पुंजस्तु अधिकप्रदेशावगाहितया 'महान्' इत्येवोच्यते, प्रत्यक्षयोग्यश्च भवतीति न किंचिदसमंजसम्।

(६) नैयायिकः—

ननु नामरूपकर्मभेद एव सर्वत्र भेदसाधकः, ततश्च परमाणुतत्पुंजयोः सति नामरूपकर्मभेदे कथं न तत्र भेदः? किंहेतुकश्चाभेदः?।

सांख्यः—

सेनायां समवेतानां प्रत्येकं मनुष्याणां कृते 'सेना' शब्दो न व्यवह्रियते, किन्तु मनुष्यविशेषाणां समुदाय एव हि 'सेना' शब्दवाच्यो भवति। तत्रापि एको मनुष्यो न विशालं प्रदेशमवगाहते, तत्समूह एव त्ववगाहते—इति तत्र नामभेदो भवति। एतेन रूपस्य=संनिवेश-

स्यापि भेदः सिध्यति। किं च—एको मनुष्यो महान्तं भारवन्तं व पाषाणं वा स्तम्भं वा नोत्थापयितुं प्रभवेत्, मनुष्यसमूहस्तु संगत्य तत्कार्यंसाधयेत्। एतेन एकापेक्षयाऽनेकेषु कर्मभेदोऽपि सिध्यत्येव।

एवं च नाम्नो रूपस्य कर्मणश्च नवीनतायां भिन्नतायां वा सत्यामपि मनुष्याणां सेना समुदायो वा तेभ्यो भिद्यते इति तु न कश्चिदपि मतिमान् स्वीकुर्यात्।

वनवृक्षदृष्टांतोऽप्यत्र सुयोजः। अर्थात्—सजातीया विजातीया वा पृथक्पृथग्वृक्षव्यक्तयो 'वृक्षाः' इत्युच्यंते। तत्समुदायविवक्षायां तु 'वनम्' इति शब्दस्तत्र प्रयुज्यते। तत्र नामरूपकर्मादिभिन्नत्वेऽपि न वनं वृक्षसमुदायादतिरिच्यते। न खलु नैयायिकोऽपि सेनां मनुष्येभ्यो वनं च वृक्षेभ्यः पृथङ्मन्यते। ततश्चायमेव न्यायः परमाणुतदारब्धघटपटादिषु च कार्यजातेष्वपि किमिति न योजनीयः? अत्रापि संनिवेशरूपावस्थाविशेषवशादेव अभिनवानां नामरूपकर्मणां व्यवहारः संगच्छते।

अयमाशयः—

एकोऽपि मृत्कणः कियंतंचिज्जलांशं धर्तुं मशकदेव, समुदायावस्थायां तु अधिकजलाहरणं तेन विधीयते। तथैव एकस्तंतुरपि शरीरस्य कियंतचिदंशमाच्छादयितुं प्रभवति स्मैव, समुदायेन पटावस्थायां तु पूर्णशरीराच्छादनं तेन सुकरमभूत्। परन्तु नैतावता घटे मृत्तिकातः पटे च तंतुतो भेद आपादयितुं शक्य इति।

(७) नैयायिकः—

ननु साधितः पूर्वमारम्भवादे परमाणुद्व्यणुकादिक्रमेण सृष्टि रचनाप्रकारः परमाणुसिद्धिरप्यस्मन्मते प्रत्यक्षप्रयोगसिद्धा। तथा हि-"स्थूलात्सूक्ष्मान्वेषणक्रमेण कार्यकारणधारायाः परीक्षणे क्रियमाणे अंते तादृशः किश्चित् पदार्थो मन्तव्यो भवति, यस्माद् हि नाणीयोऽस्ति किंचित्, यस्य चावयवा न कर्तुं शक्यंते। स च पदार्थः 'परमाणु' संज्ञः, अतिसूक्ष्मत्वेन चक्षुरादीद्रियाग्राह्यत्वात् परमाणुः 'अतिद्रियः' उच्यते। सोऽन्तिमोऽवयवः एव नावयवी। तादृशानामेकाधिकानां परमाणूनां मेलनेन तु क्रमशो ये द्व्यणुकादयो नवा नवाः भावा उत्पद्यंते, त एव ह्यवयविनः कथ्यंते। एवं सत्यपि यदि नवीनपदार्थोत्पत्तिर्न स्वीक्रियते, तर्हि घटपटतरुपर्वतादयः सर्वे भावाः परमाणुपुंजा एव वक्तव्याः स्युः, परमाणोरतीद्रियत्वाच्च तत्समूहा अप्यतोंद्रिया एव स्युः। तथात्वे तु कस्यापि वस्तुनः प्रत्यक्षं नैव स्यात्। किन्तु भवति प्रत्यक्षं सर्वेषामीदृशानाम्। तस्मात् परमाणुभ्यो दृश्यानां पदार्थानामतिरिक्तानामेवोत्पत्तिर्मंतव्या भवति। "अयमेको घटः, अयमेकः पटः" इत्याद्येकत्वप्रतीतीनामाधारत्वायापि अवयविनः पृथक्तास्वीकार आवश्यकः-इत्याद्युक्तमेव पुरस्तात्।

सांख्यः—

समाधानमपि बहुश उक्तमेव नेदमधुनाऽधिकं क्षोद क्षमते। "एका सेना, एकं वनम्" इत्यादिविधया यत्र प्रतीतयो जायंते, तत्र हि न किंचिदप्येकं वस्तु नवीनमुत्पन्नं दृश्यते।

अनेकेषां सैनिकमनुष्याणां समूहस्य अनेकेषां वृक्षाणां समूहस्य चैकत्वबुद्ध्या विषयीकारादेव तत्रैकताप्रतीतिर्भवति। तथैवैकत्वबुद्ध्युपगृहीतेषु घटपटादिरूपेषु परमाणुपुंजेष्वपि निर्बाधैवैकताप्रतीतिः।

(८) नैयायिकः—

निरुक्तमतानुसारेण तु एकत्वप्रतीतिः काल्पनिकी सिध्यति। किन्तु कल्पनाऽपि तस्यैव वस्तुनः स्यात्, यत्क्वचित् स्वरूपतोऽपि स्थितं स्यात्। यथा हि—सिंहनामकस्य प्राणिनः क्वचित् सत्यरूपेण विद्यमानत्वे एव तदुपमया कश्चिद् वीरः 'सिंहः' इत्युच्यते। सिंहस्य सर्वथैव वास्तविकत्वाभावे तु मनुष्ये सिंहशब्दस्य प्रयोगस्यावसरः एवं नास्ति।

भवन्मते तु एकत्वप्रतीतिः क्वचिदपि वास्तविकी नास्ति। यतः परमाणोः प्रत्यक्षत्वाभावेन तत्रैकत्वप्रतीतिरपि नैव भवति। तदतिरिक्तस्य नवीनस्य वस्तुनस्तु उत्पत्तिर्भवन्मते नास्तीति मुख्यस्यैकत्वस्य ज्ञानं क्वचिदपि नैव स्यात्। मुख्यं विना तु काल्पनिकस्य ज्ञानमपि नैव युक्तियुक्तं भवतीति।

सांख्यः—

"मुख्यप्रतीतेराधारेणैव काल्पनिकी प्रतीतिर्भवति" इति नास्तीदृशः कश्चिन्नियमः, कल्पनापरम्परयाऽपि निर्वाहस्य स्फुटमुपलम्भात्। उदाहरणं च यथा—बीजगणिते कस्यचिदंकस्य 'अ', 'ब' रूपत्वाभावेऽपि तत्कल्पनामात्रेणैव एकस्य महतः शास्त्रस्य रचना जाता।

तस्मात्—नैयायिकवैशेषिकाणां युक्तयः केवलं प्रारम्भिकयां शिक्षायामेवोपयुक्ताः, न त्वग्रिमेषु गम्भीरेषु विचारेषु। ततश्च "असत उत्पत्तिर्न भवति, ततश्च विनाशो न भवतीति", सिद्धान्तः स्थिरतामेति। तेन च संयोगजानां पदार्थानामतिरिक्तत्वाभावोऽपि सिध्यति। सोऽयं 'सत्कार्यवादः' तदपरपर्यायः 'परिणामवादः' एव समुचितत्वाच् शरणीकरणीयः इति।

श्रुतिवचनोपन्यासेन सत्कार्यवादस्योपसंहारः—

प्रदर्श्यमानानि श्रुतिवचनान्यपि सत्कार्यवादमेवोपबृंहयन्ति प्रमाणयन्ति च।[1] तथा हि—

(क) यो नः पिता जनिता यो नः सतो अभ्या सज्जजान।
यो देवाना नामधा एक एव त सप्रश्न भुवना यन्त्यन्या ॥ (तै० सं० ४।६।२।३)

(ख) नू च पुरा च सदनं रयीणा जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्।
सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ (ऋ० १।९६।७)

(ग) बण्महां असि सूर्य बलादित्य महां असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महां असि ॥ (ऋ० ८।१०१।११)

---

[1] श्रुतिवचसामेषां व्याख्यानं तु विस्तृतिमयान्नैव क्रियते रसिकैः।
स्वयमकैर्मूलग्रन्थेषु वचास्यनुसन्धाय व्याख्यानं द्रष्टव्यम्।

(घ) त्वायुधस्यते सतो भुवनस्य पते वयम् ।
इन्दो सखित्वमुश्मसि ॥ (ऋ० ६।३१।६)

(ङ) विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः ।
व्यानशिः पवसे सोमधर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥ (ऋ० ६।८६।५)

(च) सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्त्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥ (ऋ० १०।५३।१६)

(छ) असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥ (तै० उ० २।६)

(ज) तत्सदासीत्, तत्समभवत् । (छान्दोग्य० ३।३।१६।१)

(झ) सदेवेदमग्र आसीत्, कथं त्वसतः सञ्जायेत । छान्दोग्य० ६।६।२।१,२)

(ञ) सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो भवति ।

(ट) सन्मूलमन्विच्छ ! (छान्दोग्य० ६।६।२।१)

(ठ) सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् । (छान्दोग्य० ६।६।२१)

(ड) सद्धीदं सर्वम् ।

(४) विवर्तवादः, अद्वैतवादः, अध्यासवादः—

"प्रतिष्ठितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः" । (संक्षेपशारीरकम्)

प्रतिपादितः पूर्वं सांख्यसिद्धांतानुसारं सत्कार्य-परिणामवादः । अधुना 'विवर्तवादो' वेदान्तिनां निरूप्यते । अद्वैतवादाध्यासवादयोरपि च तत्रैवान्तर्भावः । इदमपि पुरस्तादुक्तमेव यत् 'सत्कार्यवादो' वेदान्तिनामप्यभिमतः । केवलं तु जड़ायाः प्रकृतेः स्थाने ते विश्वस्य मूलं सच्चिदानन्दघनं ब्रह्मैवैकं मन्यन्ते इति । सत्कार्यशब्दस्य तु वेदान्तिमते इत्थं व्युत्पत्तिः— "सतो ब्रह्मण एव कार्यमिदं विश्वम्, सति ब्रह्मण्येवेदं विश्वरूपं कार्यम्, सच्च कार्यमसच्च द्वेधा इदं यत्किंच" ॥ इति ।

सत्कार्यवादसर्वस्वायितस्य "नासतः"० इति गीताश्लोकस्य सांख्यसिद्धान्तानुसारं य आशयो वर्णितः, वेदान्तदर्शनाचार्यास्ततोऽप्यग्रे विचारयन्ति, यत्—सांख्यसिद्धान्ते यासामवस्थानां परिवर्तनं स्वीक्रियते, ता अवस्था अवस्थावतः पृथक्सन्ति, तद्रूपा वा ? । यदि पृथक्सन्ति इत्युच्येत, तर्हि नवनवावस्थोत्पत्तिस्वीकारेण असतः प्रादुर्भावः, पूर्वावस्थानिवृत्तिस्वीकारेण च सतोऽभावो मन्तव्यो भवति । तथा सति तु "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः" इति सिद्धान्तस्य दृढ़ता व्यपगच्छति । यदि तु अवस्थाया: अवस्थावता द्रव्येण सह तादूरूप्य मंगीक्रियते, तर्हि अभिनवानांघटपटादिद्रव्याणामुत्पादनाय कारणव्यापारस्य वैयर्थ्यमापद्यते । तैलावस्थाया हि तिलावस्थातोऽभिन्नत्वे सति तिलनिपीडनव्यापारस्य नास्ति किमपि प्रयोजनमिति भावः ।

इह सांख्या अवस्थाऽवस्थावतोः कथंचिद् भेदं कथंचिच्चाभेदं मत्वा भेदाभेदाभ्यामिदं समर्थयन्ते । किन्तु वेदान्तिनः परस्परविलक्षणयोर्भेदाभेदयोः सहानवस्थानं पश्यन्तोऽवस्थाऽवस्थावतोः सम्बन्धमनिर्वचनीयं प्रतिपादयन्ति । अवस्थाऽवस्थावतोर्भेदाभेदाभ्यामिव सत्वा-

सत्त्वाभ्यामप्यनिर्वचनीयत्वं वेदान्तिनाम् । अवस्था हि नैव 'सती' वाच्या, अवस्थावद्द्रव्यमतिरिच्य तस्याः स्वातन्त्र्येणानुपलम्भात्, न चापि वा साऽवस्था 'असती' वाच्या, अवस्थावद्द्रव्यस्यैकत्वेऽपि तत्रावस्थाकृतभेदानां स्फुटमवभासात् ।

वास्तविकी सत्ता कस्य ?

पूर्ववर्णितस्य परतन्त्रस्यानिर्वचनीयस्य च पदार्थस्य वास्तविकी सत्ता नाभ्युपगम्यते । एकमेव हि मूलतत्त्वं वास्तविकं 'सद्' भवितुमर्हति, यद्धि कदाचिदपि 'असद्' न भवति। अवस्थास्तु वास्तविकसत्ताभावाद् असद्रूपा एव । इदमेव मुख्यं तात्पर्यं "नासतः०" इति श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकस्यापि ।

लौकिकदृष्टान्तः—

व्यवहारभूमावपि अवस्थानां वास्तविकी सत्ता नांगीक्रियते । तत्र दृष्टान्तः—"धनिकः कश्चित्सुन्दरमेकं सुवर्णाभरणं कारितवान्, तद्घटने तत्र रत्नादिप्रतिवापे च सुवर्णमूल्याद्-अप्यधिक धनं योजितवांश्च । अथ दैवान्निर्धनतां गतोऽसौ तदाभूषणविक्रयाय सुवर्णव्यापारिणमासाद्य तस्य मूल्यमकथयत् । तेन चासौ प्रत्युक्तः—"भद्र ! मुंच आभूषणघटनादिमूल्यवार्ताम्, सुवर्णमात्रमूल्यमेव दीयमानं प्रतिगृहाण" इति । सिद्ध्यत्येतेन दृष्टान्तेन यद्—व्यवहारेऽपि सुवर्णादि द्रव्यमेव वास्तविकम्, कटककुण्डलाद्याः कृत्रिमास्तदवस्थास्तु न वस्तुसत्यः, काल्पनिक्यस्तु ताः केवलम् ।

वस्तुसतस्तत्त्वस्य गवेषणाः—

उपर्युक्तोदाहरणे यद्यपि सुवर्णवस्तुसत् कथितम्, तथापि तस्याऽप्युत्पत्त्यादिविचारे तेजःपृथिवीभ्यां तदुद्भवे सिद्धे, तदप्यवास्तविकं सिध्यति, सिध्यति तु वास्तविकत्वं तेजोंऽशस्य पृथिव्यंशस्यां च । एवं क्रमशो विश्लेषणे यदा कार्यकारणादपृथगवतिष्ठेत-द्वयोरद्वैतमेव प्रतीयेत, तदा च पृथिवी जलात्, जलं तेजसः, तेजो वायोः, वायुश्चाकाशाद्-इत्यभिन्नत्वमेवैषामंततः सिद्ध्येत् । ततोऽप्यग्रे मूलगवेषणायां तु आकाशोऽहंकारात्, अहंकारो महत्तत्त्वात्, महत्तत्त्वं प्रकृतेः, प्रकृतिश्चापि स्वमूलाद् ब्रह्मणः पृथङ् न सिध्यति । ब्रह्मैव तु सर्वमूलमद्वैतं 'सत्' तत्त्वं सिध्यति ।

नव्यविज्ञानसंमतिः—

आधुनिकेन विज्ञानेनापि तत्त्वपृथक्तापरीक्षणेन महांस्तत्त्वविस्तरः कृतः । विज्ञानेनानेन भारतीयः 'पंचभूतवादः' सर्वथैवावास्तविकः साधितः । परीक्षणेन पृथिव्यप्तेजोवाय्वकाशास्तन्मते मूलतत्त्वानि नैव सिध्यन्ति । सर्वेषामेषां सांयोगिकत्वमेव तु स्फुटतरं सिध्यति । उत्पद्यते हि आर्द्रजनोषजनयोर्योगेन (रासायनिकसंयोगेन) व्यवहार्यजलनिष्पत्तिः, अनेकेषां तत्त्वानां योगेन च पृथिवीनिष्पत्तिः । अग्नेर्वायोश्चापि विभिन्नतत्त्वसंयोगजत्वमेवास्थीयते वैज्ञानिकैः । तदित्थं पंचानां भूतानां सांयोगिकत्वेनावास्तविकत्वेन च नवीनविज्ञाने मूलतत्त्वानि आर्द्रजनोषजनादीन्येव मन्यंते ।

तदीयानां मूलतत्त्वानां संख्या तु शतमप्यतिक्रांता वर्धते एव दिने दिने। परंतु विचारकैः गंभीरविमर्शानंतरं साधितमिदं यत्नवीनविज्ञानाभिमतान्येतान्यपि सर्वाणि न सन्ति मूलतत्त्वानि, किंतुसंयोगजन्यान्येवैतानि अपि, अवस्थाविशेषा वा एते केषांचित्पदार्थानाम्। एतेष्वपि बहुतरं परिवर्तनं परस्परं विलोक्यते। मूलतत्त्वानि तु केवलं द्विविधान्येव भवितुमर्हन्ति-'इलैक्ट्राण'-'प्रोत्तान'संज्ञकानि। द्विविधान्येतान्यपि कस्माच्चिदेकस्मादेव मूलतत्त्वादुद्भूतानि इति स्वीकृतमधुना नव्येन विज्ञानेन। किं तन्मूलतत्त्वमिति विचारे तु भारतीयं वेदशास्त्रमनादेः कालाद् घोषयतीत्थम्-"सदेव सोम्य। इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" ( ) इति। अत्र 'एकम्' इत्यस्य 'सजातीयविजातीयस्वगतेतिभेदत्रयशून्यमित्यर्थः। अधुनातनं विज्ञानमप्यद्य चिराद् विभ्रम्य तत्रैवागतमि (क) यहो। भारतीयसिद्धान्तगाम्भीर्यगरिमा।

अभेदेऽपि यैर्भेदभ्रान्तिर्भवति, ते भेदा विद्वद्भिस्त्रेधा विभक्ताः—

[1] सजातीयभेदः, विजातीयभेदः, स्वगतभेदश्चेति। तदुदाहरणानि यथा—

(क) विजातीयभेदः— व्यापिन्या वृक्षत्वजात्या वटपिप्पलोयरभेदेऽपि अस्ति कश्चन भेदहेतुर्येन वटः पिप्पलो न, पिप्पलस्तु वटो न भवति। स च भेदहेतुर्वटत्वपिप्पलत्वजात्योर्भिन्नत्वम्, वटत्वजातिर्भिन्ना पिप्पलत्वजातिश्च भिन्ना इति यावत्। ततश्च वटपिप्पलौ भिन्नजातीयौ भिन्नावेव वृक्षौ भवतः। अर्थ तयोर्भेदो 'विजातीयभेद' उच्यते।

(ख) सजातीयभेदः— वटजातीयाः पिप्पलजातीया वा ये यावन्तो वृक्षाः सन्ति, तेष्वपि परस्परं भेदो भवति। न ह्येको वृक्षोऽपरो भवति, सर्वेषामेव भिन्नत्वेनानुभवात्। वटत्वजात्या पिप्पलत्वजात्या वा समानत्वेऽपि सोऽयमीदृशो भेदः 'सजातीय भेदः' कथ्यते।

(ग) स्वगतभेदः :— अथैकस्यां वृक्षव्यक्तावपि मूलस्कंधशाखाप्रशाखापत्रपुष्पफलाद्यवयवेषु परस्पर भेदो भवति। न हि मूलमेव स्कंधादिकम्, न वा स्कंधादय एव मूलादिकम्। सर्वेषामेषामवयवानां विभिन्नोल्लेखेन पृथक्त्वेन च भेदानुभावत्। सोऽयमीदृशो भेदः 'स्वगतभेद' उच्यते।

इत्थमेव (१) मनुष्याणां पशूनां च जातिभेदमूलकः पारस्परिको भेदो 'विजातीयभेदः कथ्यते। (२) मनुष्येष्वेव वा पशुष्वेव वा व्यक्तिभेदनिबन्धनः पारस्परिको भेदः सजातीयभेद उच्यते। (३) एकस्मिन्नेव मनुष्यादिशरीरे मुखनासाकर्णकण्ठोदरादिष्ववयवेषु परस्पर समनुभूयमानो भेदः 'स्वगतभेद' इति कथ्यते।

एवं च यत्र कुत्रापि यश्च कश्चनापि प्रतीतिपथमवतरन् भेदो जातिं च, व्यक्तिं च, अवयवांश्चेति त्रीनेवाधारीकृत्य विजातीयसजातीयस्वगतेतिनामभिस्त्रिभिः प्रकारैराविर्भवति। एभ्यस्त्रिभ्योऽतिरिक्तश्चतुर्थस्तु नास्तिकश्चिद् भेदः इति। एतैर्भेदैः सर्वथा विरहितं ब्रह्म तु अद्वयमभिन्नमविभक्तमद्वैतमूर्ति व्यवह्रियते। समष्ट्या वा व्यष्ट्या वा व्यक्त्या वा प्रकृत्या वा विकृत्या वा यत्किमप्यत्र भासते, तत्सर्वं ब्रह्मैव नान्यत् अत एवोक्तम्।

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

(तै० ब्रा० २।८।९) इति।

पारं त्वद्यापि दूरेऽस्तिः—

भारतीयमार्षविज्ञानं यदेकं मूलतत्त्वं प्रतिपादयति, तत्तु अधुनापि सुतरां विप्रकृष्टं पाश्चात्त्यसार्यंसदृष्टेः। यत्तु [1]इलैकत्राण-प्रोत्ता-ननामकस्य तत्त्वद्वयस्य लक्षणमुच्यते नव्यवैज्ञानिकैः— तदनुसारेण तु तद्द्वयंशतपथब्राह्मणे वर्णितं 'यत् जूः' इति नामकं तत्त्वद्वयमेव सिध्यति। "इण् गतौ" इति धातोर्हि शतरि सिद्धं'यत्' इति रूपम्, तच्च गतितत्त्वस्य वायोः पूर्वावस्थारूपस्य वाचकम्। 'जूः' इति तु "जु गतौ" इतिधातोः 'जवते अत्र' इति व्युत्पत्त्या क्विपि निष्पन्नं रूपम्। तच्च स्थितितत्त्वरूपस्याकाशस्य पूर्वावस्थाया रूपस्य प्रतिपादकम्। तयोश्च द्वयोः शब्दयोर्मेलने 'यच्च जूश्च' इति 'यज्जूः' इति निष्पद्यते। निरुक्तोक्तयाऽतिपरोक्षवृत्त्या तु शब्दोऽयं 'यजुः' इति रूपं धत्ते। यजुश्च वेदः, सृष्टेरारम्भकं प्राणतत्त्वमिति यावत्। तदुक्तम्—"अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः—यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद् यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च। यच्च जूश्च तस्माद् 'यजुः'। एष एव यत्, एषो हि एति। तदेतद् यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः" !
—(शतपथब्राह्मणे १०।३।५।१२) इति। वैदिके विज्ञाने सर्वमपीदं क्षरपुरुषस्यैव रूपम्। क्षरोऽक्षरात्, अक्षरश्चाव्ययाद् उद्भवति। अव्ययश्च तस्याद्वैतस्य मूलतत्त्वस्य मायाशबलितं रूपम्। एवं विचारो यदि प्रवर्त्त्येत, तदानीं भारतीयविज्ञानस्यानेकाः श्रेण्योऽधुनाऽपि पारणीया अवशिष्यन्ते—इति प्रतीयते। आसां श्रेणीनामाभासोऽप्यद्युनावधि बहुभिर्नासादितः। आध्यात्मिकमाधिदैविकं च विज्ञानं सहायत्वेनापुरस्कृत्य केवलं भौतिकेन विज्ञानेन स आभासो लभ्योऽपि नास्ति—इत्यास्तामप्रस्तुतम्।

तदिदमेव वेदान्तवेद्यं—"यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह"—इत्यादिरूपेण वर्णितं वास्तविकं मौलिकं च तत्त्वमस्ति। तदालम्बनेनैव असतो जगत्प्रपंचस्य काल्पनिकी सत्ता। मनश्च वाक्यं यत्किंचित् गुणविशिष्टं यत्किंचिद्धर्मविशिष्टं वाऽपि पदार्थमभिजानीतो वर्णयतश्च। मूलतत्त्वं तु तत् सर्वथा गुणधर्मादिशून्यम्, ततश्च तन्मनोवागतीतं व्यवस्यन्ति सुधियः। अवस्थाविशेष एव हि गुणधर्मादिकम्। अवस्थास्तु पश्चादुत्पद्यन्ते इति कुतस्तरां मूलतत्वं तुतत् सर्वथा गुणधर्मादिशून्यम् ततश्च तन्मनोवागतीतं व्यवस्यन्ति सुधियः। अवस्थाविशेष एव हि गुणधर्मादिकम्। अवस्तास्तु पश्चादुपद्यन्तो इति कुतस्तरां मूलतत्त्वे तत्सम्भवः ?।

---

[1] 'इलेक्ट्रोन'-'प्रोटोन' शब्दयोः संस्कृतीकरणमिदम्। "इला=भूमिरेवैकं त्राणं—विश्रान्ति=स्थानं यस्य, विद्युतपरमाणुम्य आरम्य पृथिवी यावद् भूतानां क्रमिकविकासाभ्युपगमात्। इत्थमेव प्र च उच्च तान=विस्तारो यस्य" इति यथार्थयोगार्थेन तयोर्देवभाषासंस्कारस्य स्वारस्ययात्।

(१) प्रश्नः—

ननु मूले पूर्वमविद्यमानं तदसद्गुणधर्मादिकं सत्कार्यवादानुसारं ततो नोत्पत्तुमीष्टे ।

उत्तरम्—

कार्पाससूत्रन्यायेन तत् समाधीयतेऽभियुक्तैः । यथा—असदेव कार्पासे सूत्रं तत उद्भवति, तथैव मूलतत्त्वे असत्य एव गुणधर्मावस्थास्ततो जायन्ते । न तु कुतश्चनान्यतस्तदागम इति । तासां तु प्रापंचिकीनां गुणधर्माद्यवस्थानां वास्तविकत्वं नावकल्पते ।

(२) प्रश्नः—

ननु, प्रतिभासमानानां प्रापंचिकपदार्थानां विनाशेन अभावे प्रतीते सति यदि तत्र 'असत्त्वम्' मन्येत, सत्त्वेनाभिमन्यमानस्य मूलतत्त्वस्य तु प्रतिभासो नास्तीति तदपि 'सद्' इति कथयितुं न शक्येत, तर्हि द्वयोरेव सदसतोः सत्तायामसिद्ध्यन्त्यां 'शून्यवाद' एव बौद्धधानामत्र प्रसज्जेत ।

उत्तरम्—

सूक्ष्मविचारेण प्रश्न एष समाधीयते, शून्यवादप्रसंगश्च निवर्तते । तथा हि—सतो मूलतत्त्वस्य प्रतीतिर्यद्यपि पृथक्त्वेन नैव भवति, गुणधर्मादिशून्यत्वेन तस्य इन्द्रियमनआद्यगोचरत्वात्, तथापि प्रातिभासिकेष्वेव सर्वेष्वसत्सु सतस्तस्यानुगतैकाकारा प्रतीतिरवश्यमनुभूयते । "अस्ति घटः', 'अस्ति पटः" इत्यादिस्थलेषु 'अस्ति' इति शब्दोल्लेखेन सर्वत्र सत्ताया अनुगतत्वेन प्रतीयमानत्वात् । भवति हि तत्र घटपटादिबुद्धीनां परिवर्तनम्, न तु कदाचित् सत्ताबुद्धेः परिवर्तनं भवति, ध्वस्ते घटे 'घटखण्डाः सन्ति' इति खण्डेषु सत्तायाः सम्बन्धात् चूर्णितेषु खण्डेषु 'मृत्तिकाऽस्ति' इति मृत्तिकया सह अस्तिबुद्धेः सम्बन्धात्, जलक्लिन्नायां मृतिकायां तु 'पकोऽस्ति' इति पंकेन सहास्तिबुद्धेः सम्बन्धाच्च, अन्ततः कस्यापि पदार्थस्याप्रतीतावपि 'नास्ति' इति नञुल्लिखि-तेनाभावेन, सहास्तिबुद्धेः सम्बन्धाच्च । एवमस्तिबुद्धेः सत्तायाः क्वचिदप्यभावो न भवतीति सिद्धम् ।

वस्तुसत्तत्त्वस्य सच्चिदानन्दमयत्वम्—

उक्तेयं सत्ता ज्ञानबलेन सिद्धयति । वयं यज्जानीमस्तदर्थम् 'अस्ति' इति प्रयुञ्जमहे । ततश्च ज्ञानस्याप्यभावो नैव सिद्धयति । सत्ता च ज्ञानं चेत्युभयमेवास्माकं प्रियम् । भवति हि सर्वेषां प्राणिनां सर्वदा पदार्थानां संजिघृक्षा, भवति च सर्वेषां सर्वदा सोत्कण्ठं तज्जिज्ञासा ! ततश्च सत्ता च, ज्ञानं च, प्रियता (आनन्दः) चेत्येतत्त्रयं (सच्चिदानन्दघनत्वम्) मूलतत्त्वस्य ब्रह्मणो रूपं सर्वत्रैवाभिव्याप्तं शश्वदपरिवर्तनीयं च । एतत्त्रयमेव 'सत्' पदार्थः ।

यास्त्वत्र घटत्वपटत्वादिसंवलिता अपरा बुद्धयः, तासां हि परिवर्तनशीलत्वान्न मुख्या सत्ता, किन्तु काल्पनिकी । सर्वाधारतया व्यवसितं यद् 'सद्ब्रह्म', तत्रैवैता विकल्प्यन्ते । किंच सत्ता

च, ज्ञानं च, आनन्दश्चेति त्रयमेकस्यैव रूपम्, न तु पृथक्, परस्परभिन्नतायास्तत्राप्रतिभासात्। "यदेव ह्यस्ति तदेव ज्ञायते, यदेव ज्ञायते तदेव ह्यस्ति। यदेव हि ज्ञायते अस्ति च तदेव प्रियम्"—इति प्रयोगानुभवेन तिसृणां प्रतीतीनामेकतैव सिद्धयति। तदेवम्—एकस्य मूलतत्त्वस्य सिद्धौ नास्ति कोपि 'शून्यवाद'स्य प्रसंगः इति।

अयमत्र निष्कर्षः—

योऽर्थः क्वचिदस्ति, क्वचिच्च नास्ति, दिग्देशकालपरिच्छिन्नोऽसौ न वस्तुसन्न तस्य वास्तविकी सत्ता। तत्सत्ताया वास्तविकत्वे, असतस्यस्याभिनवोत्पत्तिस्वीकारे च सतोऽभावः, असतश्च भाव आपद्येयाताम्। उभयमप्येतद् 'अपसिद्धान्तः'। तस्माद् दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिस्मात्रमूर्तेरेव वास्तविकी सत्ता मन्तव्या भवति।

प्रश्नः—

ननु वस्तुसत्त्वेनाभिमतस्यात्मनो ब्रह्मणो वाऽपि सुषुप्तिदशायां प्रतीतेरभावात् त्रैकालिकी सत्ता न सिध्यति। ततश्च भूयोऽपि 'शून्यवाद' एव परिनितिष्ठति।

उत्तरम्—

सुषुप्तिदशायामपि प्रतीतिसामान्याभावो (प्रतीतेः सर्वथाऽभावो) नैव भवति, "सुखमहस्वाप्सम्, नकिंचिदवेदिषम्"–इति जागरितस्य स्मरणेन तात्कालिक्याः प्रतीतेः साधनात्। स्मरणं ह्येदमानन्दस्याज्ञानस्य च भवति। यदि प्रतीतिरत्र सर्वथैव नाभविष्यत्, तर्हि तादृशं स्मरणं कथमभविष्यत्। तस्मादत्रेयमेव प्रतिपत्तिर्यत्—सुषुप्ताविन्द्रियाणां मनसश्च प्रलीनत्वाद्वृत्त्यात्मकं ज्ञानं (प्रतिभासो) यद्यपि न भवति, तथापि आत्मस्वरूपस्य मुख्यस्य ज्ञानस्य तु सत्ता सदैवाबाधिता तिष्ठति। अतो नैवात्र असत उत्पत्तिः, सतश्चाभावः सिध्यति। तदेवम् तत्त्व केवलमेकमेव, तदाधारेणैव निखिलं जगत्परिकल्पितं वर्तते इति 'अद्वैतवाद' एव पर्यवसानम्। "नासतः०" इत्यादिगीताश्लोकस्यापि तत्रैव तात्पर्यम्।

इत्थमत्र निरूपिताः कार्यकारणभावे सुप्रसिद्धाश्चत्वारः पक्षाः। अन्येषां केषांचित् पक्षाणां संभवित्वेऽपि नेह वर्णनं क्रियते, तेषां विशिष्योपयोगाभावात्। अधुना हि अभिनचिकित्साशास्त्राध्ययनात् पूर्वं 'फिजिक्स' नाम्ना 'केमिस्ट्री' नाम्ना च प्रसिद्धे नव्यविज्ञानस्य द्वे शाखे अनिवार्यतयाऽध्येतव्ये नियमिते। तयोरुपयोगः स्वरूपं चाधस्तादुपवर्ण्यते—

अनात्मकानां द्रव्याणां जडाना विविधात्मनाम्।
तापप्रकाशशब्दानां विद्युच्चुम्बकयोरपि ॥१॥
भारायतनमानाद्यान् गुणान् धर्मांश्च बोधयेत्।
यत्, तद् भौतिकविज्ञानं विद्वद्भिः परिभाषितम् ॥२॥
सर्वं यन्त्रादिनिर्माणं कालेऽस्मिन् यत्प्रजायते।
तदेतस्यैव साहाय्यादिति तस्योपयोगिता ॥३॥

नानाविधानां द्रव्याणां संयोजनवियोजनैः ।
क्रियाविशेषैरन्यैश्च रूपांतरविनिर्मितिम् ॥४॥

नानावायव्यजातानामुत्पत्तिं च यदादिशेत् ।
तद्रसायनविज्ञानं विद्वद्भिः परिकीर्तितम् ॥५॥

उपादानाश्यौषधानां वस्तूनां चोपयोगिनाम् ।
एतद्विज्ञानसाहाय्यान्निर्मीयन्तेऽधुनातनैः ॥६॥

इति (अभिनवौद्भिज्जविज्ञानात्)

इह वर्णितं भौतिकविज्ञानं 'फिज़िक्स' नाम्ना प्रसिद्ध्यति, रसायनविज्ञानं च 'केमिस्ट्री' नाम्ना ।

तत्र 'फिजिक्स' नाम्नो विज्ञानभागस्यारम्भवादप्रतिपादकाभ्यां न्यायवैशेषिकाभ्यां सुतरां निर्वाहः क्रियते, तत्र पदार्थानां स्थूलतया गुणधर्मादिविवेचनस्य क्रियमाणत्वात्, 'केमिस्ट्री' इति प्रसिद्धस्य विज्ञानभागस्य निर्वाहस्तु परिणामवादप्रतिपादकाभ्यां सांख्ययोगदर्शनाभ्यां सुतरां साध्यते इति तेषां शास्त्राणां मुख्यसिद्धान्तयोः 'आरम्भवाद'—'परिणामवाद' योरायुर्वेदे विशिष्योपयोगः ।

केचित्तु—'प्रकृतिसमसमवाय', 'विकृतिविषमसमवाय' श्चेति नाम्ना प्रसिद्धौ यावायुर्वेदस्य द्वौ सिद्धान्तौ स्तः, तयोः प्रथमः 'प्रकृतिसमसमवायः' 'फिजिक्स' विज्ञानस्य इति वदन्ति ।

'संघातवाद'स्तु केवलं दृष्टिकोणभेद एव । समुत्पन्ने कस्मिंश्चिद् वस्तुनि परमाणुपुञ्ज-बुद्धिर्वा क्रियताम्, अवयविबुद्धिर्वा न कश्चिद् विरोधः इति सोऽपि वादः कथंचित्स्वीकार्यपक्ष एवायातीति सूचितं नैयायिकसांख्ययोः शास्त्रार्थप्रदर्शने ।

वेदान्तिनां 'विवर्तवादः' खलु समपयुज्जते चरकोक्तायां नैष्ठिक्यां चिकित्सायाम् । सा चैवं व्यावर्णिता भगवता पुनर्वसुनात्रेयेण—

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते ।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥१६॥

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः ।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया ॥१७॥

यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया ।
यया नालम्बते किंचित् सर्वं संन्यस्यते यया ॥१८॥

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता ॥१९॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः ।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥२०॥

इति (च० शा० अ० ५)

विशेषतस्त्वन्तिमः श्लोको द्रष्टव्यो यत्र विवर्तवादमूलो 'अद्वैतवादः' साधु पुरस्कृतोऽस्ति। इत्येवं चत्वारो वादा अत्र यथायथं निरूपिताः। भवन्ति चात्र—

इहायुर्वेदाध्येतृणां दर्शनानि बुभुत्सताम्।
लाभायेदं समुद्दिष्टं स्पष्टं वादचतुष्टयम् ॥१॥

सौविध्यमनुलक्ष्य स्वं यदि भिन्नतयेक्ष्यते।
एकमेव स्थितं वस्तु तद्भ्रमः सया न कस्यचित् ॥२॥

यस्य यत्रोपयोगः स्यात् कार्यकारणभावतः।
तत्तथैवेक्षणीयं स्यान्नात्र दोषोऽस्ति कश्चन ॥३॥

इति वादचतुष्टयम्

आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तानुकूल अभिनव चिकित्सा विज्ञान का समन्वय

अन्तर्गत लेख : 'क्षीरोत्पत्ति विज्ञानम्' (संस्कृत में)

लेखक : स्वर्गीय आचार्यश्रीहनुमत्प्रसादशास्त्री

पण्डितमार्तण्डः, विद्याभूषणः, विद्यावागीशः, जामनगरस्थः

[विज्ञान मूलतः स्वयं अखण्ड है। उसमें विषय भेद से जो खण्ड खण्ड होने का प्रतिभास होता है, उस समय वह सर्वथा दूर हो जाता है, जब कि दो या अधिक विज्ञान सत्य की सीमा में पहुंच कर परस्पर मिल जाते हैं। प्रकाश में दीपक, चिमनी, लालटेन, बल्ब आदि का जब तक सम्बन्ध रहता है, तब तक वह भी पृथक् पृथक् न्यूनाधिक रूप में ही भासित होता है। परन्तु सब को एक स्थान में लाते ही एक प्रकाश दूसरे प्रकाश में मिल कर तद्रूप बन जाता है। इस स्थिति को जानने वाला वैज्ञानिक कार्यकारणभाव से संगत सभी विज्ञानों का समादर करता है।

इस दृष्टि से देखने पर श्री शास्त्रीजी के प्रस्तुत लेख में न केवल आयुर्वेद और अभिनव इन दो विज्ञानों का समन्वय ही किया है, अपितु अभिनव विज्ञान को आयुर्वेद के चरणों में समर्पित कर उसे सायुज्य मोक्ष भी दे दिया है—अभिनव विज्ञान का आयुर्वेद में सर्वथा लय ही कर दिया है।

बालतन्त्र पर ऋषिप्रणीत 'काश्यपसंहिता' नेपाल के राजगुरु पं० श्री हेमराजजी के पुस्तकालय में अर्धाधिक खण्डित स्वरूप में उपलब्ध हुई थी और श्री यादवजी द्वारा सन् १९३८ में सर्व प्रथम प्रकाश में आई थी। श्री शास्त्रीजी ने उसका जो प्रतिसंस्कार आरम्भ किया था उसका एक अध्याय यहां 'क्षीरोत्पत्तिविज्ञानम्' नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

यदि यह बता न दिया जाय कि अमुक श्लोक पुराने हैं और अमुक नये, अथवा अमुक विषय आयुर्वेद का है और अमुक नये विज्ञान का तो उन्हें सहसा पहचान लेना बहुत ही कठिन होगा। प्रत्येक आयुर्वेद-प्रेमी हर्ष का अनुभव करेगा कि उनके आयुर्वेद की भाषा संस्कृत है, जिसमें सभी विषयों को समुचित रूप में प्रकाशित करने की क्षमता है और प्रस्तुत विषय भी संस्कृत के माध्यम से आयुर्वेद में विलीन होकर आयुर्वेदीय ही बन गया है।

यदि इस प्रकाश का उपयोग एक व्यवस्थित रूप में हो तो आयुर्वेद के अभ्युदय की दिशा में बहुत कुछ कार्य हो सकता है। अब समय आ गया है कि बिना विलम्ब के आयुर्वेद के विलुप्त तन्त्रों का पुनरोद्धार किया जाय। इसके प्रारम्भ का दर्शन श्री शास्त्रीजी के इस लेख से हो सकता है।

वैद्य बाबूलाल जोशी, संपादक]

बाल कल्याणतन्त्रं नाम प्रति संस्कृता काश्यप संहिता:

अथातः क्षीरोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ॥२

कृतनित्यक्रियं शान्तं जितात्मानं प्रजापतिम् ।
शिष्यसंघैः परिवृत महर्षिभिरभिश्रितम् ॥३

हितोपदेशैरखिलान् पाययन्तमिवामृतम् ।
बालापत्याः सपतिका ऋषिपत्न्योऽग्रतस्थिरे ॥४

बालपालनसर्वज्ञं ज्ञानविज्ञानभास्करम् ।
तन्त्रकर्तारमन्वक्षं दृष्ट्वा तं प्रणता भुवि ॥५

प्रजानां पितृभूतस्य शरण्यस्य महात्मनः ।
शुश्रूषन्त्यो वचस्तस्य पप्रच्छुरिदमादरात् ॥६

भगवन् ! जन्मिनोऽनेकान् पदार्थानाहरन्ति ये ।
तेषां तु बालकाः क्षीरमात्राहाराः कथं स्थिताः ॥७

कथमुत्पद्यते क्षीरं, नारीणामेव तत्कथम् ।
कथं दुष्यति तत्क्षीरं परीक्षा चास्य कीदृशी ॥८

दुष्टं कथं विशोध्यं स्यात्क्षीरं, किं तद्विवर्धनम् ।
कश्चाहारविधिर्ब्रह्मन् ! स्तन्यशोधनकालिकः ॥९

शुद्धस्य लक्षणं किं स्याद्, दोषाः केऽशुद्धसेवनात् ।
स्तनपाकः कथं स्त्रीणां, किं वज्रं किमु कीलकम् ॥१०

कस्तस्य साधनोपायस्तुमुक्त्वाऽनुगृहाण नः ।
दृष्टिदोषादपि स्त्रीणां स्तनयो स्वप्रजायते ॥११

श्रुतमेतद्, भगवता किमु तत्रोपदिश्यते ।
क्षीरपाने विधिः कः स्यान्मात्रा का, समयः कियान् ॥१२

कृपयाऽऽचक्ष्व सर्वं नो येन लभ्येत नैपुणी ।
इति तत्प्रश्नसंहृष्टः कश्यपस्ता महामुनिः ॥१३

पुत्रिकाः ! इति संबोध्य प्रवक्तुमुपचक्रमे ।
यथाप्रश्नं व्याहरामि श्रूयतामवधानतः ॥१४

धात्रीपयोधरपयोव्यतिरिक्तं न किंचन ।
बालकस्यास्ति पोषाय क्षीराहारस्ततः शिशुः ॥१५

तद्ध्यारोग्यकरं तस्य जीवनं पुष्टिवर्धनम् ।
अलं प्रकृतिभूतत्वात्क्षीरं तद्देहवृद्धये ॥१६

आहारे यदपेक्ष्यं स्यात्तत्वं तत्तत्र संस्थितम् ।
दन्ताद्यभावे कठिनो नाहारस्तस्य संस्तुतः ॥१७

क्षीराभावो जनन्याश्चेन्न गीर्यंतात्पयोऽथवा ।
तदाऽऽजं क्षीरमस्येष्टं गव्यं वा स्वल्पमात्रया ॥१८

आहारपाकजरसप्रसादो मधुरोऽखिलात् ।
देहात्प्राप्तः स्तनौ स्तन्यमुच्यते, शुक्रवद्धि तत् ॥१९

कन्यानां संवृता दुग्धहारिण्यः स्तनयोः पुरा ।
गर्भितानां प्रजातानां चैताः स्युर्विवृताः पुनः ॥२०

तन्व्यस्ताः स्तनयोः काश्चित्पराः स्थूला भवन्ति च ।
स्थूला आसन्नविशाः स्युर्मुखान्यासां तु चूचुके ॥२१

स्तनयोरन्तरे दुग्धस्राविणो ग्रन्थयोऽणवः ।
तत्स्रावं दुग्धहारिण्यस्तन्व्यः स्थूला नयन्ति हि ॥२२

स्थूलाभ्यश्चूचुकच्छिद्रैश्चुष्यमाणो निरेत्यसौ ।
कासांचिच्चूषणाभावेऽप्यभिक्षरति बिन्दुशः ॥२३

यावदायुः स्तनौ पुंसामविकासौ हि तिष्ठतः ।
स्त्रीणां तु वृद्धिः स्तनयोर्यौवने संप्रजायते ॥२४

यदा गर्भं दधत्येतास्तदा वृद्धिरितोऽधिका ।
स्रोतसां दुग्धग्रन्थीनां चैधनं तत्र कारणम् ॥२५

स्रोतांस्यार्तववाहीनि गर्भितानां हि योषिताम् ।
रुध्यन्ते न ततस्तासामार्तवं संप्रदृश्यते ॥२६

अधः प्रतिहतं चोर्ध्वमागतं तूपचीयते ।
रूपान्तरे परिणतमपरेति निगद्यते ॥२७

शिष्टं चोर्ध्वतरं यातं प्रतिपन्नं पयोधरौ ।
पीनोन्नतस्तनीः कुर्यान्नारीस्तदपि निश्चितम् ॥२८

स्रावोऽपत्यस्य संस्पर्शाद् दर्शनात स्मरणात्तथा ।
अंकाधिरोहणाच्चापि स्नेहाधिक्यात्प्रवर्तते ॥२९

आहारपाकजो यादृग् रसो भवति तादृशम् ।
स्तन्यमुत्पद्यते, तद्धि भवेदाहारसंभवम् ॥३०

पुरुषेष्वाशयाः सप्त, नारीषु तु त्रयोऽधिकाः ।
तेषु स्तन्याशयौ द्वौ स्तः स्तनयोः संप्रतिष्ठितौ ॥३१

तासामेव ततः स्तन्यं न पुंसां संप्रवर्तते ।
एतद्देहवैचित्र्यमीशलीलाविनिर्मितम् ॥३२

गर्भाशयान्तर्नारीणां बीजकोशौ नराण्डवत् ।
अन्तःस्रावस्तयोः स्तन्यप्रवृत्तिं विनियच्छति ॥३३

ईस्त्रैणाख्यः[1] स हि स्रावः पोषयेच्च स्तनावृतौ ।
दुग्धं प्रवर्तयेच्चापि, मासि मासि स्रवेदयम् ॥३४

तद्वत्पोषणकग्रन्थेरन्तः स्रावोऽपि दुग्धकृत् ।
मात्र हेतुर्भवेद् दृश्यः स्वभावात्सर्वमप्यदः ॥३५

वस्तुतः सर्वतो देहे प्रज्ञानाख्यं मनः स्थितम् ।
वात्सल्यं या तु तद्वृत्तिस्तया बीजं प्रभावितम् ॥३६
स्रावं प्रवर्तयेत्काले स्तन्यं चापि प्रवर्तयेत् ।
अन्येषामपि चांगानां क्रियास्तद्वृत्तिहेतुकाः ॥३७

असात्म्याजीर्णविषमविरुद्धगुरुभोजनैः ।
कट्वम्ललवणक्षारसविषक्लिन्नसेवनैः ॥३८

पायसं कृशरां गौडं मन्दकं चापि माहिषम् ।
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥३९

भुक्त्वाऽभ्यासाद् दिवास्वप्नैर्मद्यस्यातिनिषेवणैः ।
अस्वप्नैर्निशि चिन्ताभिर्मनसश्चातिखेदनैः ॥४०

व्यवायक्रोधमात्सर्येस्तथा रोगादिकर्शनैः ।
शारीरायासजननैः सर्वथाऽऽयासवर्जनैः ॥४१

दोषप्रकोपणैरन्यैर्वेगोदीरणधारणैः ।
लंघनाद्यैश्च कुप्यन्ति दोषा देहेषु योषिताम् ॥४२

---

१. 'ईम्' इति निपातो गर्भवाचकतया परिगृह्यतेऽत्र, "य ईं चकार०" (ऋ० २।३।२०।३२) इत्यादिमन्त्रे श्रीभगवद्दुर्गाचार्यैर्निरुक्तव्याख्याने तथैव व्याख्यातत्वाम् । स्त्री—स्त्यायतः अस्यां शुक्रशोणिते इति स्त्री । स्त्रियाः=स्त्रीभवनयोग्याया अयं स्त्रैणः, स च तस्या बीजस्य स्रावविशेषः । स हि स्रावो गर्भाशयं गवस्तत्र गर्भधारणावस्थोचितं परिवर्तनं करोतीति—ईम्=गर्भः, तदनुकूलः स्त्रैणः=स्त्रीबीजस्रावः 'ईस्त्रैणः' उच्यते । अयमेव पाश्चात्यैः—"ईस्ट्रिन—(De(c)strin) इत्यभिधीयते ।

ते च स्तन्यवहाः प्राप्य तत्स्तन्यं दूषयन्ति हिः ।
दुष्टं तत्सप्तधैकैकद्वन्द्वसर्वविकल्पनात् ॥४३

संप्राप्त्या लक्षणैर्दुष्टी रसवर्णमुखेन च ।
परीक्ष्यते यथावत् तां शृणुतावहिताः शुभाः ॥४४

रूक्षाद्यैर्हेतुभिर्वायुः कुपितः स्वैः प्रकोपणैः ।
क्षीराशयौ स्तनौ प्राप्तस्तत्र स्तन्यं प्रदूषयेत् ॥४५

स चैव कुपितो वायुः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
विधत्ते फेनसंघात तत्तु कृच्छ्रात् प्रवर्तते ॥४६

तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।
वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति ॥४७

स चैव कुपितः स्तन्यस्नेहं शोषयतेऽनिलः ।
तद् रूक्षं पिबतो रौक्ष्याद् बलह्रासः प्रजायते ॥४८

यच्छ्यावारुणवर्णं स्यात् कषायानुरसं तथा ।
विशदं चाप्यनालक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवाधिकम् ॥४९

लघ्वतृप्तिकरं तस्य फेनिलं कृशताकरम् ।
कर्तृ वातविकाराणां तत्क्षीरं वातदूषितम् ॥५०

तत्रास्य स्वदते क्षीरं तेन कृच्छ्राच्च वर्धते ।
विरसं वातसंसृष्टं बालकस्तत्पिबन् पयः ॥५१

क्रुद्धमुष्णादिभिः पित्तं स्तनौ प्राप्तं स्वहेतुभिः ।
विधत्ते स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम् ॥५२

विकृतौ नियमाभावात्ताम्राभासं भृशोष्णवत् ।
तिक्ताम्लानुरसं तद्वत्कटुकानुरसं च यत् ॥५३

कुणपं रक्तगन्धि स्याद् यच्च पित्तविकारकृत् ।
पित्तोपसृष्टं विज्ञेयं तत्क्षीरं च भिषग्वरैः ॥५४

विवर्णस्तेन स्विन्नश्च स्यात् तृष्णग् भिन्नविट् शिशुः ।
नित्यमुष्णशरीरश्च तं स्तनं नाभिनन्दति ॥५५
क्षीरं प्रकुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं चापि गच्छति ।
तत्पिबन् पाण्डुरोगार्तः कामली च भवेच्छिशुः ॥५६
गुर्वादिभिर्हेतुभिस्तु क्रुद्धः श्लेष्मा स्तनौ गतः ।
तत्क्षीरं स्नेहयुक्तत्वादतिस्निग्धं करोति हि ॥५७

अत्यर्थशुक्लमधुरं लवणानुरसं तथा ।
घृततैलवसामज्जगन्धि पिच्छिलतन्तुलम् ॥५८

उदपात्रेऽवसीदच्च यच्च श्लेष्मविकारकृत् ।
श्लेष्मोपसृष्टं तत्क्षीरमभिज्ञेयं विजानता ॥५९

कुन्धनश्छर्दनस्तेन लालास्रावी शिशुर्भवेत् ।
नित्योपदिग्धस्रोतस्को निद्राक्लमसमन्वितः ॥६०

कासश्वासाभिभूतांगः प्रसेकतमकार्दितः ।
यदा स्तन्यं प्रकुरुते पिच्छिलं तु कफोऽधिकः ॥६१

लालासुच्छूनवक्त्राक्षो जडः स्यात्तत्पिबञ्छिशुः ।
गुरुत्वात्तु कफः कुर्याद्यदा दुग्धस्य गौरवम ॥६२

गुरु तत् प्रपिबन् बालो तदाहृद्रोगमृच्छति ।
अन्यांश्च विविधान् रोगान्कुर्यात्तद् दूषितं पयः ॥६३

लक्षणानां तु संसर्गात्संनिपाताच्च तत्पयः ।
संसष्टं सनिपतितं यथावत्परिलक्ष्यताम् ॥६४

विशिष्टरसजुष्टे तु क्षीरे बालग्रहा अपि ।
पीडयन्तः प्रदृश्यन्ते शिशुं स्तन्ये समाश्रिताः ॥६५

रेवती लवणे स्तन्ये शैयाम्ले शीतपूतना ।
मुखमण्डी कषाये स्याच्च शकुनी कटुतिक्तके ॥६६

स्कन्दषष्ठीग्रहौ ज्ञेयौ व्यापन्ने सान्निपातिके ।
पूतना स्वादुकटुके शेषाः संसृष्टदोषजाः ॥६७

बहुविण्मूत्रता स्वादौ कषाये मूत्रविड्ग्रहः ।
तैलवर्णे वली तुल्यो घृतवर्णे महाधनः ॥६८

यशस्वी धूमवर्णे तु शुद्धे सर्वगुणोदितः ।
तस्मात्संशोधनपरा नित्यं धात्री प्रशस्यते ॥६९

कषायपानैर्वमनैर्विरेकैः पथ्यभोजनैः ।
वाजीकरणसिद्धैश्च स्नेहैः क्षीरं विशुध्यति ॥७०

त्रिफला सत्रिकटुका पाठा मधुरसा वचा ।
कोलचूर्ण त्वचो जम्ब्वा देवदारु च पेषितम् ॥७१

सर्षपप्रसृतोन्मिश्रं पातव्यं क्षौद्रसंयुतम् ।
एतत् स्तन्यस्य दुष्टस्य श्रेष्ठं शोधनमुच्यते ॥७२

शृङ्गवेरपटोलाभ्यां पिप्पलीचूर्णचूर्णितम् ।
यूषपथ्यं विदध्याच्च ह्यन्नपानं च यल्लघु ॥७३

धातकीपुष्पमेला च समंगा मरिचानि च ।
जम्बूत्वचं समधुकं क्षीरशोधनमुत्तमम् ॥७४

नाडिका सगुडा सिद्धा हिंगुजातिसुसंस्कृता ।
क्षीरं मासरसो मद्यं क्षीरवर्धनमुत्तमम् ॥७५

वाजीकरणसिद्धं वा क्षीरं क्षीरविवर्धनम् ।
घृततैलोपसेवा च बस्तयश्च पयस्कराः ॥७६

पाठा महौषधं दारु मूर्वामुस्तकवत्सकाः ।
सारिवारिष्टकटुकाः केरातं त्रिफला वचा ॥७७

गुडूची मधुकं द्राक्षा दशमूलं सदीपनम् ।
रक्षोघ्नश्च पटोलश्च गणः क्षीरविशोधनः ॥७८

लाभतः क्वथितस्तेषां कषायः स तु सेवितः ।
क्षीरं शोधयति क्षिप्रं चिरव्यापन्नमप्युत ॥७९

सक्षौद्रः कफसंसृष्टे सघृतः शेषयोर्भवेत् ।
नेत्येके श्लेष्मणः स्थानात् क्षीरं हि कफसंभवम् ॥८०

मसूराः षष्टिका मुद्गाः कुलत्थाः शालयो घृतम् ।
गव्यमाजं पयः काले लवणं चाप्यनोद्भिदम् ॥८१

आहारविधिरुद्दिष्टः स्तन्यशोधनकालिकः ।
गुर्वन्नस्नेहमांसानि दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥८२

शोधनाद् वा स्वभावाद् वा यस्याः क्षीरं विशुध्यति ।
तस्याः क्षीरप्रजनने प्रयतेत विचक्षणः ॥८३

मधुराण्यन्नपानानि द्रवाणि लवणानि च ।
मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते ॥८४

वराहमहिषादूर्ध्वं मांसानां च रसो हितः ।
लशुनानां पलाण्डूनां सेवन शयनं सुखम् ॥८५

क्रोधाध्वभयशोकानामायासानां च वर्जनम् ।
अपया या भवेत्तस्या एतत् क्षीरविवर्धनम् ॥८६

वटादीनां च वृक्षाणां क्षीरिकायाश्च वल्कलम् ।
पाव्यः कषायः क्वथितः क्षीरं तेन पुनः शृतम् ॥८७

पाक्यं गुडविडोपेतं सघृतं शालिमाशयेत् ।
अपि शुष्कस्तनीनां तत् क्षीरोपजननं परम् ॥८८

शालिषष्टिकदर्भाणां कुशगुन्द्रेत्कटस्य च ।
सारिवावीरणेक्षूणां मूलानि कुशकाशयोः ॥८९

पेयानि पूर्वकल्पेन श्रेष्ठं क्षीरविवर्धनम् ।
स्वभावनष्टे शुष्के वा दुष्टेऽसाध्वीक्षिते हितम् ॥९०

अव्याहतबलांगायुररोगोवर्धते सुखम् ।
शिशुधात्र्योरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥९१

संभवन्ति महारोगा अशुद्धक्षीरसेवनात् ।
तेषामेवोपशान्तिस्तु शुद्धक्षीरनिषेवणात् ॥९२

तृणं कीटं तुषं शूक मक्षिकांगमलाष्टकम् ।
केशोर्णास्थ्यादिक विद्याद् वज्रमित्युपचारतः ॥९३

सहान्नपानेन यदा धात्री वज्रं समश्नुते ।
पच्यमानेन पाकेन ह्यनन्तत्वान्न पच्यते ॥९४

अपच्यमानं विक्लिन्नं वायुना समुदीरितम् ।
रसेन सह संपृक्तं याति स्तन्यवहाः सिराः ॥९५

सर्वं स्रोतांसि हि स्त्रीणां विवृतानि विशेषतः ।
तत् पयोधरमासाद्य क्षिप्रं विकुरुते स्त्रियाः ॥९६

रूपाणि पीतवज्रायाः प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ।
अजीर्णमरतिर्ग्लानिररनिमित्त व्यथाऽरुचिः ॥९७

पर्वभेदोंगमर्दश्च शिरोरुग् दवथुग्रहः ।
कफोत्क्लेदो ज्वरस्तृष्णा विड्भेदो मूत्रसंग्रहः ॥९८

स्तम्भः स्रावश्च कुचयोः सिराजालेन संततः ।
शोथशूलरुजादाहैः स्तनः स्प्रष्टुं न शक्यते ॥९९

स्तनकीलकमित्याहुर्भिषजस्तं विचक्षणाः ।
कीलवत्कठिनोंगेषु बाधमानो हि तिष्ठति ॥१००

एष पित्तात्मना शीघ्रं पाकं भेद च गच्छति ।
कफाच्चिरं क्लेशयति वातादाशु विवर्धते ॥१०१

शाखाशिरोभिस्तु यदि विमार्गान्न प्रपद्यते ।
आकृष्यमाणं बालेन क्षिप्रं निर्धर्वति स्तनात् ॥१०२

निर्दुह्यमानमुत्पीडाद् वज्रं सक्षीरशोणितम् ।
अथवाऽभ्येति सहसा प्रत्यक्षं चोपलभ्यते ॥१०३

घृतपानं प्रथमतः शस्यते स्तनकीलके ।
स्रोतांसि मार्दवं स्नेहाद्यान्ति वज्रं च च्याव्यते ॥१०४

निर्दोहो मर्दनं युक्त्या पायनं च गलेन च ।
शीताः प्रलेपाः सेकाश्च विरेकः पथ्यभोजनम् ॥१०५

स्रावणं चाविदग्धस्य दोषदेहव्यपेक्षया ।
पक्वस्य पाटनं कुर्यान्मृजां विद्रधिवच्च तत् ॥१०६

परवर्द्धितभोक्त्री च परालालिततर्पणा ।
परवेश्मरता धात्री मुच्यते स्तनकीलकात् ॥१०७

दर्शनीयौ स्तनौ पीनौ सुजातौ संहतौ समौ ।
सुकरौ पर्यकीलौ च दृष्ट्वा त्वीच्छन्ति दुर्हृदः ॥१०८

ततो रुजामवाप्नोति कार्यं, तन्त्रावचारणम् ।
परिहृत्यामममांसं तु निशि नेयं चतुष्पथम् ॥१०९

एतच्छ्रुत्वा वचस्तथ्यमृषिपत्न्यः प्रहर्षिताः ।
प्रशशंसुर्महात्मानं कश्यपं लोकपूजितम् ॥११०

इति ह स्माह भगवान् कश्यपः ।

इति क्षीरोत्पत्तिर्नामाध्याय।

पित्तशामक—

तिक्त-स्वादुकषाय शीतपवन् छाया निशाव्यंजनम् ।
ज्योत्स्नाभूगृहवारियंत्र जलजं स्त्रीगात्रसंस्पर्शनम् ।
सर्पिक्षीर विरेक सेकरुधिर स्रावो प्रदेहाधिकम् ।
पानाहारविहारभेषजमिदं पित्तप्रशान्ति नयेत् ॥

तिक्त, मधुर, कषाय आदि रस शीत वायु, शीत छाया, शीत रात्रि, व्यंजन (लक्षण) घी, दूध आदि पदार्थ, विरेचन, रक्तस्राव, शीतसेक, प्रलेप, चिकित्साक्रम उपरोक्त पित्त को शान्त करने वाले उपक्रम हैं ।

कफशामक—

रुक्ष क्षार कषाय तिक्त कटुक व्यायामनिष्ठीवनम् ।
स्त्रीसेवाहनि युद्ध जागरजल क्रीड़ापदाघातनम् ।
धूमं नस्य शिरोविरेकवमनं स्वेदोपवासादिकम् ।
पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माण मुग्रं जयेत् ॥

रुक्ष—

कषाय, तिक्त, कटुक क्षार, व्यायाम, थूकना, व्यवाय, राह चलना, लड़ाई लड़ना, जल-क्रीडाएँ, कुश्ती, धूम्र, (तीक्ष्ण) नस्य तीक्ष्ण, शिरोविरेचन, वमन, स्वेदन, लंघनादि उपक्रम कफ को शान्त करते है ।

हेमन्त वर्षाशिशिरेषु वायोः पित्तस्य वर्षाति निदाघयोश्च ।
कफस्य कोपः कुसुमागमे च कुर्वीत यत्नं विधीवित् विधिज्ञैः ॥

हेमन्त, वर्षा, शिशिर ऋतु में वायुशामक, ग्रीष्म, शरद् ऋतु में पित्तशामक, बसन्त ऋतु में कफशामक उपक्रम करे ।

ज्वराभिभूतः षडहे व्यतीते विपक्वदोषः कृत लंघनानि ।
योभेषज वैद्यवरः प्रयुङ्क्ते निः संशयहन्त्यचिरेण रोगात् ॥

ज्वर रोगी को छः दिन लंघन करा के छः दिन बीत जाने पर जो वैद्य औषध उपयोग करता है वह शीघ्र ही उस रोगी को स्वस्थ कर देता है ।

ज्वर के असाध्य लक्षण

यस्ताम्यति स्वपिति शीत लगात्रयष्टिः,
अंतर्विदाह सहित स्मरणादयेतः ।
सश्वासकः द्रविति रामचय सशूलं,
न वर्जयोद्भिषग्ज्वरलक्षणांतम् ॥

ज्वर-पीड़ित रोगी में छटपटाहट, देह का शीतांग हो कर पड़ा रहना तथा अन्तर्दाह-

युक्त स्मरणशक्ति का निकल जाना, उर्ध्व श्वास हो जाना, शूल लक्षणों के साथ आम संचय वाले बीमार की चिकित्सा न करे।

राजयक्ष्मा का स्वरूप (मंत्री मण्डल)—

कासश्वासौ पुरोगौ दुरतिगमतमाः व्याधिरष्टौत्रयोधाः।
शोषो उच्चैरपिच गुरुतरो यस्य योषित् विशूची॥
मंत्री मंदाग्निरुग्रः सहजसहचरास्तेत्रिदोषा शरीषा।
तृष्णा वाताधिरुढो हृदयभुविनृणां राजते राजरोगः॥

राजयक्ष्मा का अर्थ होता रोग राट् राजा की उपाधि की विशेषता बताते हुए कवि वर्णन करता है कि इसके आगे चलने वाले हैं कास व श्वास तथा बड़ी मुश्किल से ठीक होने वाले आठ हैं इसके योद्धा, तथा शोष है इसका गुरु तथा उसकी स्त्री है विशूची तथा मंत्री है मन्दाग्नि, स्वाभाविक मित्र है त्रिदोष, तृष्णा व वायु की सवारी पर चढ़ा हुआ क्षय रोग मनुष्यों के हृदय पर राज्य करता है।

आम—

अजीर्णाद्यो रसोजातः सचितोहिक्रमेणनै।
आमसज्ञा स लभते. शिरोगात्ररु जाकरः॥

अजीर्ण आहार से जो रस होता है उसका क्रम से संचय होने से आम कहलाता है। इसके लक्षण हैं शिर, गात्र में पीड़ाएँ होना।

योषापस्मार—

अदक्ष पुरुषोत्पन्नः सपत्नीविहितस्तथा।
दैवाज्जातस्तृतीयश्च चतुर्थं सूतिकागदात्॥

(अर्थ) उपरोक्त पद्य में हिस्टीरिया के चार कारण बताये है। पहला अदक्ष पुरुषोत्पन्न। यह रोग प्राय: स्त्रियों में होता है तथा उसका प्रथम कारण उनकी मानसिक विचारसरणी को समझने में अदक्ष होते है ऐसी कोमल कमनीयाओं में हो जाता है, अत: इसका प्रथम कारण हुआ पुरुष की नासमझी, दूसरा कारण बताया है सपत्नी विहित, इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईर्ष्या आदि मानसिक उद्वेगों से तथा तीसरा कारण है दैव याने भाग्य आदि से अर्थात् पूर्वजन्म में कृत कर्मो के फलोपभोग से, चतुर्थ है सूतिका रोग, प्रसूति के पश्चात् की निबलता में इस प्रकार योषायस्मार के ४ कारण बताये हैं।

आसप्त रात्रात्तरुण ज्वर माहुर्मनीषिणः।
मध्यं चतुर्दशाहं तु पुराणमथचोत्तरम्॥

सात दिन तक ज्वर संज्ञा को तरुण ज्वर कहते है। चवदह दिन तक के ज्वर तथा इसके वाद के ज्वर को पुराण ज्वर कहते हैं।

आम ज्वरस्यालिंगानि न द द्यात अभेषजम्।

आम ज्वर के लक्षणों में औषधि न दें।

तृष्णा गरीयस घोरा सद्यः प्राणविनाशिनी।
तस्माद्देयं तृषार्ताय पानीयं प्राणधारणम्॥

तृष्णा बड़ी भयंकर होने से शीघ्र प्राणों को नष्ट करती है, अतः प्यासे को प्राण-धारक जल दें।

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयतिज्वरम्।
पाययेद्दोषहरणं मोहादाय ज्वरे नृपः॥

आमदोष में औषधि देने से फिर ज्वर तीव्र हो जाता है। जो व्यक्ति अज्ञान से आम ज्वर में दोषहरण औषधि पिलाता है—

प्रसुप्तं कृष्णसर्पं तु कराग्रेण परामृशेत्।

वह सोये हुए काले सर्प को अपने हाथ से छूता है।

अपक्वमलसंपात कुवैद्यः कुरुते यदि।
तदा कष्टमवाप्नोति रोगी प्राण विनाशनम्॥

जो कुवैद्य कच्चे मल को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है तो रोगी के लिए कष्ट या मृत्युदायक हो जाता है।

पंचभिरपक्वं च सुपक्वं सप्तमे दिने।
तस्मिन्नेवदिनेवैद्यो पातयेद्रोगिणोमलम्॥

५ दिनों तक ज्वर अपक्व तथा सातवें दिन सुपक्व। उस दिन के बाद रोगी के मल का शोधन करें।

औषधिकाल—

प्रातरेवोपयुजीत भेषजं सर्वदा बुधैः।
साधारणो विधिस्त्वषः विशेषस्तु निगद्यते॥

वैद्य को औषधि-प्रयोग प्रातःकाल करना चाहिए क्योंकि यह विधान औषधि-प्रयोग का साधारण कहा है।

समयाः पंचविज्ञेयाः नृणामौषधिभक्षणे।
भास्करस्योदये जाते दिवसाहारकर्मणि।
तथा सायंत नाहारः निशिचापि मुहुर्मुहुः।

औषधि लेने के ५ समय होते हैं—प्रातःकाल, प्रात.कालीन भोजन के समय, सायं-कालीन भोजन के समय, रात्रि में बार-बार, इस प्रकार ५ औषधि समय हैं।

पित्तकफे च कुपिते विरेकाय प्रशस्यते।
वमनाय च भैषज्यं प्रभाते लेखनाय च।
एवं स्यात्प्रथमोकालः भैषज्यग्रहणे नन्दणाम्।

पित्त-प्रकोप, कफ-प्रकोप, विरेचन, वमन, लेखन के लिये औषधि प्रातःकाल दें। यह प्रयोग का मुख्य व प्रथम काल है।

मध्यान्हे भोजनस्यादौ ग्रासे रुचिकरैः सह।
अरुचौ भेषजंग्राचं रुच्य वन्हिकरं च यत्॥

मध्यान्ह में भोजन से पूर्व, अरुचि आदि रोगों मे रुचिकर ग्रास बनाकर दी जाय।

आहारे चार्द्धसंयुक्ते भेषजं ग्राहयेद्भिषग्।
समाने मारुतोद्रेके मंदाग्नौ चाग्निदीपनम्॥

समान वायु की प्रकोपावस्था से हुई मंदाग्नि में अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए आहार के आधे प्रयोग के बाद औषधि प्रयोग करे।

दद्याद्भोजनमध्ये तु भैषज्यं कुशलो भिषग्।
व्यानकोपेच भैषज्यं भोजनांते समाहरेत्॥

व्यानवायु प्रकोप में भी भोजन के मध्य में भोजन के बाद औषधि प्रयोग करें।

कंपाक्षेपक हिक्कासु प्रागतेचौषधभजेत्।
एवं द्वितीयकालस्य प्रोक्तो भैषज्यकर्मणि॥

वातकंप, आक्षेपक, हिक्का में औषधि भोजन के पूर्व तथा भोजन के अंत में दें। इस प्रकार द्वितीय औषधिकाल के बारे का वर्णन हुआ।

सायं भुक्तो प्रतिग्रासमुदान कुपिते मले।
आहारे भैषजं प्राज्ञः स्वरभगादिकारिणि॥

उदानवायु के कुपित होने पर सायंकालीन भोजन के प्रतिग्रास में औषधि का प्रयोग करें जैसे स्वरभंग आदि में।

क्रुद्धे प्राणेपि सांध्यस्य भोजनाते प्रशस्यते।
औषधं प्रायशो वैद्यैः प्राणाः स्वस्थकरं परम्॥

प्राणवायु के प्रकोप में भोजन के बाद औषधि प्रयोग किया जाता है।

हिक्का छर्दि तृषा श्वासः रोगेषुच मुहुः मुहुः।
अन्नेन सहितं ग्राहृन्न भेषज सर्वदा बुधैः॥

हिक्का, छर्दि, तृष्णा, श्वास रोगों में अन्न के साथ या बार-बार औषधि प्रयोग करें।

पाचनं शमनं चोर्द्धजत्रुदोषेषु भेषजम्।
प्रदोषे निशि तद्ग्राह्यं बृंहणंयच्च लेखनम्॥

उर्ध्वजत्रुगतरोगों में पाचन, शमन, बृंहण आदि औषधियें रात्रि में प्रयोग करें

औषधिग्रहणेचैव पंचकालाः प्रकीर्तिताः।
प्रातःकालः भवेच्छ्रेष्टो तेषु साधारणः मतः ॥

इस प्रकार औषधि लेने के जो पांच समय हैं उनमें प्रातःकाल का समय सर्व-श्रेष्ठ कहलाता है।

इति श्री तपागच्छे उपाध्याय कवि हस्ति रुचि विरचितो वैद्यवल्लभो नाम ग्रन्थः समाप्तः।

पूज्यपाद चिकित्सकसम्राट्, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस, महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य पंडित श्री उदयचन्द्रजी भट्टारक महोदय द्वारा लिखित्

केन्सर (Cancer) (अर्बुद) रोग एवं चिकित्सा

किंचिच्चात्रविलिख्यते

श्री गणेशं नमस्कृत्य ध्यात्वा धन्वन्तरिं तथा
अर्बुद व्याधिज्ञानाय।

आज केन्सर कहा जाने वाला रोग प्राचीन काल में बहुत कम देखने में आता था, या उस समय के सीमित साधनों तथा सम्पर्क की न्यूनता से कम दृष्टिगोचर होता था, परन्तु यह सत्य है कि त्रिकालदर्शी अमित अध्यवसायी श्रमशील आप्तपुरुषों की दृष्टि से यह तिरोहित नहीं रहा। यदि इस रोष का शब्दार्थ जैसे कि आजकल बताया जाता है असाध्य या अरिष्ट अवस्था। इन्हें उन-उन विशिष्ट व्याधियों की अवस्था रूप में या स्वतंत्र रूप से यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध होता है, क्योंकि विभिन्न वर्गीकरण के आधार पर नानाभेदक कारणों से उत्पन्न संख्या करने योग्य परिगणित रोगों को असंख्य भी अन्य प्रकार से कह सकते हैं। यह अवश्य है कि प्राचीन वाङ्मय सूत्र रूप में तथा यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। यह भी सही है कि इस रोग की अवस्थाए पुराने समय से ज्ञात व चिकित्सित रही हैं इसमें दो राय नहीं हो सकतीं, तथा असाध्यता के प्रति चिन्तित नहीं होना यह उनकी स्पष्ट घोषणा भी रही है। इस रोग की कृच्छ्र-साध्यता व असाध्यता को देखते हुए यद्यपि सूत्ररूपीय वर्णन पर्याप्त नहीं कहा जा सकता फिर भी उसकी विशदता सबके सामने है। आर्षग्रन्थों के बाद के आचार्य भी इसके लिए मौन नहीं हैं साथ ही आजभी भारत के विशिष्ट चिकित्सक इसकी अवस्था को समझ कर सफल चिकित्सा कर रहे हैं, परन्तु आज के समय आधुनिक चिकित्सा की श्री-वृद्धि व चकाचौंध के सामने प्रायः गतानुगतिक हो कर अन्त में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बन कर असहाय हो जाते हैं। कारण कि प्रतिपतिज्ञ चिकित्सक ही विशेषास्थितियों को समझ कर रोगी के प्राण बचाते हुए यशस्वी हो सकता है।

यह रोग वृद्धावस्था में होने वाला रोग है यह भी धारणा बदलती जा रही है, कारण कि स्वास्थ्य व संचार की दृष्टि से जैसे आज का जगत प्रगति कर रहा है ठीक इसी तरह यह रोग भी १४ वर्ष के नवयुवक कुमारों में भी देखा जाने लगा है। यह अवश्य है कि निदान विषयक परिस्थिति बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर ली गई है, क्योंकि बायोप्सी के द्वारा

तन्तुओं या कोषाणुओं को प्रत्यक्ष कर इसकी निर्णायकता बहुत-कुछ सुधरी हुई कही जा सकती है।

कैन्सर का पर्यायवाची शब्द है 'कर्कट' या केकड़ा। यह शब्द ग्रीक भाषा के कार्सिनोस से बनता है जिसका अर्थ होता है—कर्कट। कर्कट शब्द संस्कृत के कर्क से बना हुआ है। उदाहरण के तौर पर सूर्य के राशि-चक्र की चतुर्थ राशि को कर्कट कहते हैं जिसे पाश्चात्य ज्योतिष-शास्त्री कैन्सर कह कर संबोधित करते हैं। भू-मण्डल पर कल्पित अक्षांश रेखाओं में से भूमध्य रेखा के उत्तर में २३.२८ वाली अक्षांश रेखा को सस्कृत में 'कर्क रेखा' जिसे कि 'ट्रोपिक ऑफ कैन्सर' कहा जाता है। यह अपने नजदीक के धातु में कर्कट के सदृश आसन जमा लेता है। इसीलिए इस प्रकार के अर्बुद को कैन्सर या हिन्दी मे कर्कटार्बुद कहा जाता है।

कर्कट शब्द की व्युत्पत्ति २ धातुओं से है—(१) कृञ् हिंसायाम्, (२) कटे वर्षावरणयोः। इसका अर्थ होता है—देह के आवरण धातु का नाश करना, या शरीर के पोष्य तत्वों का नाश करता हुआ जिस अवयव या अग में इसकी स्थिति हो रही है उस अवयव में छा जाना होता है। इस तरह उन अवयवों से होता हुआ निकटस्थ मर्म भाग या शरीर के रन्ध्रों के कार्य में बाधा डाल कर घातक बन जाता है।

अर्बुद शब्द के कई अर्थ किए जा सकते है। अरं बुन्दति इस व्युत्पत्ति से अरं से अत्यधिक बुन्दति अर्थात् दिखाई देना, स्पष्टतया इस व्युत्पत्ति से उभार वाले (उत्सेधलक्षण) गुण की ओर संकेत होता है।

अर्बुद का अर्थ १०० करोड़ भी है जो कि संख्येयाग्र न होने से असंख्य कोषाणुओं की उत्पत्ति उस प्रदेश में हो जाती है की व्यंजना होती है।

अर्बुदोमांसकी लेऽस्त्री पुरुषो दशकोटिषु (र. को.)

अरिवत् बुन्दति की व्युत्पत्ति से शत्रु की तरह का व्यवहार होना, प्रकट होता है।

अर्बगतौ धातु को मूल माना जाय तो भी इसका अर्थ वृद्धि स्वभाव वाला विकार होता है।

उपरोक्त व्युत्पत्तियों से इसके मुख्यतया तीन अर्थ बनते है—उत्सेध, वृद्धिशीलता, तथा घातकता—ये ही तीनों रोग के गुण अपितु मनुष्य या रोगी के लिए दुर्गुण इसमें पाये जाते हैं।

अर्बुद की परिभाषा

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः समूर्च्छिताः मांसमसृक्-प्रदूष्य।
वृत्तस्थिर मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलचिरवृद्ध्यपाकम्।
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं तमर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति। सु. नि. ११-१३-१४

उपरोक्त सूत्र में अर्बुद को समझाने के लिए कई विशेषण दिए हैं। इन विशेषणों का भाव्य आधुनिक विकृति विज्ञान को देखने से समझने में और सुविधाएं मिल सकती हैं जैसे कि अर्बुद के अर्थ में असंख्य प्रसरणशीलता रूढ़ि है उसी को उपरिलिखित लक्षणों में मूल प्रक्रिया वृद्धि कहा है। अर्बुद की वृद्धि ऐसी है कि वह देह के लिए उपयोगी न हो कर प्रत्युत अपकारी तथा घातक सिद्ध होती है। यह वृद्धि इस प्रकार क्यों सिद्ध होती है? प्रकृति का अर्थ है—साम्यता। जब तक दोष धातु मल की अपने-अपने प्रमाण में उचितता रहती है तब उस देह को स्वस्थ या प्रकृतिस्थ कहते हैं। परन्तु जब किसी भी स्थान मे इसमें विषमता होती है तो विकृति बनना प्रारम्भ हो जाती है। यह वृद्धि व ह्रास से होती है। अर्बुद रोग की ह्रास व वृद्धि होती है जो अति विचित्र है। अभिप्राय यह कि अर्बुद के रूप में स्थानीय तन्तु की जो अतिवृद्धि होती है वह अनुपयोगी तथा बहुधा घातक होती है। यह अर्बुद की प्रधान विशेषता है कि इसमे कोषाणुओं तथा तन्तुओं की रचना जो कि देह मे रहने वाले कोषाणुओं की रचना से कुछ वैषम्य रख कर शरीर का अथवा यों कहिए कि शरीर के तन्तुओं का पोषण खा कर केवल अपने आप बढ़ते रहते हैं। इस प्रकार शरीर के किसी भी एक प्रदेश में पैदा होने वाली अनुपयोगी शोफ या अनियन्त्रित बढ़ौत रूपी एक नवीन रचना वाले तन्तु-समूह को अर्बुद कहा जाता है। इस तरह अर्बुद स्वयं पुष्ट होता जाता है तथा शनैः २ दिन प्रतिदिन पोषण के अभाव से क्षय होता जाता है।

रोगाश्चोत्सेध सामान्यादधिमांसार्बुदादयः। च. सू. १८-३३

चरक संहिता मे इस रोग को त्रिशोथीय अध्याय में संकेत किया है, जिसे सामान्य लक्षण उत्सेध बताया गया है। जिसे सुश्रुत ने शोफ कहा है वह आधुनिक इन्फ्लेमेशन (Inflamation) से सर्वथा भिन्न स्वेलिंग (Swelling) होता है क्योंकि इन्फ्लेमेशन में शोफ के अतिरिक्त 'वेदना', 'तापाधिक्य' तथा 'संरम्भ' रहते हैं जबकि इसमें ये तीनों लक्षण नही होते। इसीलिए इस रोग मे चिरवृद्धि तथा अपाकम् अर्थात् जीर्णवृद्धि तथा पाकाभाव रहता है। तथा इस वृद्धि से बनने वाला स्राव शरीर के लिए अनुपयोगी तथा हितकर नहीं होता। यह सत्य है कि इस वृद्धि के कोषों से भी एक प्रकार का स्राव होता है। यदि यह वृद्धि महास्रोत के ऊपर के भाग के समीप में है तो यह स्राव मुंह से निकलता रहता है तथा अधोभाग में होने से गुदादि छिद्रों द्वारा एक प्रकार का सान्द्र लवण-स्राव निकलता रहता है। तथा स्वयं अपने मौलिक तन्तुओं पर ही परिपुष्ट की तरह बढ़ता रहता है। साधारण अर्बुद अतिरिक्त पिण्ड वाले अनुपयोगी तन्तु द्वारा देह के पोषण पदार्थ को चूसता रहता है तथा अजगर की तरह काम कुछ भी नही करता। यदि इस तरह देह में एक ओर पड़ा रहे तो शरीर को कृश व क्षीण बनाता रहता है, परन्तु इन्हीं का स्थान किसी मर्म प्रदेश में हो या प्रमाण में इतना बढ़ जाय कि जीवनोपयोगी क्रियाओं में बाधा अथवा पोष्य पदार्थों को

अति त्वरा से छीनता रहे तो घातक हो जाता है या कुछ प्रकृति से ही घातक होते हैं जिनके कि बारे में आगे बताया जाएगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अर्बुद इन्फ्लेमेशन से विशिष्ट उत्सेध लक्षण वाला अनुपयोगी वृद्धि वाला शोफ है। इसके लिए नी ओप्लेसिया (Neoplasia) जिसका कि अर्थ इस प्रकार है।

(1) Formation of new tissue.

(2) Formation of new tumours or neoplasms.

Neoplasms=Any new growth, usually applied to a tumour an abradant new growth.

इसका अर्थ है किसी नए तन्तुओं का निर्माण, अथवा नवीन वृद्धि या अर्बुद का निर्माण। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे कोई उपयुक्त निर्माण की प्रक्रिया तो नहीं होती परन्तु अनियन्त्रित वृद्धि होती रहती है। इसे नियन्त्रित करने वाले उपाय गवेषणा या अनुसन्धान के विषय बने हुए हैं।

अन्तःशरीरे मांसासृगाविशान्तियदा मलाः।
तदा संजायते ग्रन्थिः गंभीरस्थः सुदारुण। च. सू. अ. १७

यह अन्तःशरीर में होने वाली ग्रन्थि के बारे में आचार्य का संकेत है। इसमें दोष मलरूप बन शरीर में नवोन विकृति का निर्माण करते हैं।

वायु का मार्ग जब श्लेष्मा के द्वारा रुक जाता है तब उसी श्लेष्मा का अनेक प्रकार से विभेद कर कफाशय मे इसकी प्रारम्भिक रचना हो जाती है।

अर्बुद स्वरूप—

यह एक ऐसा रोग है जिसमें शरीर के किसी की एक अंग की आवृति में वृद्धि हो कर परिवर्धन आरम्भ होता है। जिसमे ये विशेषताये बताई गई हैं।

वृत्ताकारता, स्थिरता, मन्द वेदना, विशालता, महामूलता, चिरवृद्धि, अपाकशीलता, मांसोपचय और शोफरुपता। अर्बुद का पर्यायवाची शब्द Tumor, Tumour ट्यूमर जिसका अर्थ है उत्सेध या सूजना जिस तरह बुद्बुद की आकृति गोल २ उभार के रूप में है उसी तरह अर्बुद भी शोफात्मक उभार है। शरीर का अन्तिम अवयव जो सूक्ष्म परमाणुस्वरूप होता है उसीमें विकृति प्रारम्भ होती है। किसी भी धातु में साधारणतया जो वृद्धि होती है वह सेल्स कोशाणु के विभाजन से संख्या वृद्धि से होती है। परन्तु उनकी आकृति जिनकी कि एक सीमा होती है उतनी ही रहती है। इस सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं होता। साथ ही सेल्स के विभाजित से तथा संख्या दृष्टि से जो वृद्धि होती है उसकी भी एक सीमा है। तथा इस बढ़ौत या वृद्धि में कोशाणु में रहने वाले अन्त परिवर्तन (Enygmes) कारणभूत होते हैं। तथा इनका नियन्त्रण कोशाणु में रहने वाले जीन्स (Genes) जो कि

क्रोमो सोम Chromo some या पित्र्य सूत्रों में रहते हैं द्वारा होता है तथा इस अन्त:परिवर्तन करने वाला डिसाक्सोरीबो न्यूक्लिक एसिड Desoxyribo Nuclic Acid (D. N. A.) नामक रहता है जो अर्बुद का कारण है ऐसा अनुमान है।

इस अन्तपरिवर्तन द्रव्य से कोशाणु अपने आकार प्रकार में बढ़ने लगता है तथा वृद्धि निरतर चालू रहती है, साथ ही अपने पड़ौस के कोशाणुओं के पोषक पदार्थ को हड़पता रहता है। इस तरह इसके निकट के कोशाणु पोषणाभाव से नष्ट होते रहते है तथा ये कोशाणु स्वयं पुष्ट होते रहते हैं व बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार की वृद्धि दूसरे अन्य रोगों में होकर कालांतर में पुनः प्राकृत स्वरूप में आ जाती है परन्तु इस रोग में पुनरावर्तन नहीं होता। विकृति विज्ञानविद् इसकी तुलना गर्भशरीर के कोशाणु से करते हैं कारण दोनों में शीघ्र गति से वृद्धि होने की साम्यता पाई जाती है। परन्तु गर्भ कोशाणु अपनी विशिष्ट मर्यादा तक आकर रुक जाते हैं किन्तु केन्सर या अर्बुद के कोशाणु में वृद्धि चालू रहती है। तथा ये अपनी शक्ति आकार बढ़ाने में लगाते हैं तथा और कुछ करते नहीं।

प्रत्येक कोशाणु मे प्रायः २ कार्य होते हैं (१) शर्करा का दहन। (२) श्वसन इसमें से दूसरा कार्य तो केन्सर कोशाणु करते नहीं परन्तु अपनी पुष्टि के लिये इन्हें पोषण पदार्थ की आवश्यकता रहती है जिसे वह प्रचुर मात्रा मे समीपस्थ कोशाणु से ग्रहण करता है तथा समीपस्थ कोशाणुओं को भी अपने ही स्वभाव परिवर्तित करता है। इस तरह यह एक दृढ़ दुर्ग बना लेता है, जिसकी यदि उचित चिकित्सा हो तो ये लीनावस्था में रहते हैं परन्तु अनुकूल अवस्था मे पुनः बढ़ने प्रारम्भ होते हैं। यहां मांसोपचय या मांस संघात से मांसतन्तु की इसमें अतिवृद्धि होती है। स्थिर जो इसका स्वरूप है वह साधारण अर्बुदों का है। जिन साधारण अर्बुदों में सौत्रिक तन्तुओं का आवरण बन कर उन बढ़ी हुई वृद्धि के चारों ओर एक घेरा हो जाता है परन्तु घातक या कर्कटार्बुद मे जिनमें कि इनकी वृद्धि इतनी शीघ्र गति से होती है कि उन पर आवरक कचुक नहीं बन पाता तथा केकड़े के पंजों की तरह इसकी आकृति चारों ओर फैली रहती है। परन्तु स्थिर शब्द से यही ज्ञात होता है कि वृद्धि करते हुए अर्बुद के चारों ओर घेरा पड़ जाने से यह स्थिर होकर पड़ा रहता है। इनका प्रमाण बड़ा तथा इनका मूल भी विशाल होता है तथा इन साधारण अर्बुदो मे वृद्धि का क्रम धीरे २ होता है और पाक नही होता। यह पकने या पूय पड़ने की स्थिति नही होती। यह प्रक्रिया बिना पित्त के नही होती अपितु इनमें कफ दोष तथा मेदोधातु की विशेषता से दोष स्थिर तथा अर्बुद की स्थिति ग्रथित होकर पड़ी रहती है। अर्बुद की स्वाभाविक विशेषता है अपाकता।

न पाक मायान्ति कफाधिकत्वान्मेदो बहुत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिर त्वाद्ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु॥

सु. नि. ११-२१

यह एक प्रकार के अर्बुद के रूप में उत्पन्न हो कालांतर में इसके पृष्ठ पर बहुत अंकुर पैदा हो जाते हैं, जिससे इसकी आकृति महामूल गोभी के फूल के सदृश छोटा या बड़ा होता है।

अर्बुद परिचय

जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान में इसकी घातकता तथा साधारणता का वर्णन पहिले बताया गया है इससे इस रोग को समझने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। क्योंकि आज कहा जाने वाला "केन्सर" नाम जिसके कि बहुत लक्षण इससे मेल खाते हैं। फिर भी समय २ पर विद्रधि, वल्मीक आदि जिनके बारे में सम्भावना की जाती है। यद्यपि विद्रधि का पाक होता है, तथा यह शीघ्रकारी रोग है जब कि अर्बुद चिरकाली है, तथा विद्रधि में पाक होता है जब कि अर्बुदों में पाक नहीं होता।

न पाक मायान्ति कफाधिक त्वन्मेदो बहुत्वच्च विशेष तस्तु।
दोषास्थिर त्वाद्ग्रथना च्चतेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्ग तस्तु॥

इससे अर्बुदों का पाक न होना यह स्वभावसिद्ध लक्षण है। अर्बुद शरीर के मांसल स्थानों पर २०-४० वर्षो तक स्थिर तथा न पकने वाले देखे गये हैं।

जब तक केवल मात्र उत्सेध लक्षण तथा वृद्धि की प्रक्रिया है तथा इसके चारों ओर आवरण है या आवरण नहीं है तो इसकी संज्ञा अर्बुद कहलाती है।

अर्बुद के असाध्य लक्षणों में "संप्रस्तुतं मर्मणियच्च जातम्" कह कर यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि जिस समय अर्बुद कोशिकाओं में बनने वाला स्रावका अर्बुद में क्षत होकर स्राव होने लगता है तो यह रोग असाध्य हो जाता है। साथ ही केन्सर का पर्याय-वाची शब्द होता है–कर्कट या केकड़ा–इस प्राणी के शरीर की अपेक्षा इसके पंजे लम्बे तथा बलवान् होते हैं ठीक इसी प्रकार जब अर्बुद की आकृति की समानता हो तो इसकी संज्ञा जैसे कि कर्करार्बुद या केन्सर सार्थक हो जाती है। सभी अर्बुद एक स्थिति में नहीं होते। इसकी पार्थक्यता स्पष्ट लक्षणों में जानी जा सकती है।

जब निरंतर यह वृद्धि क्षय रूप प्रक्रिया अर्थात् अर्बुद कोशाणुओं को निरन्तर बढ़ौत तथा देहस्थ धातुओं का क्षय होता हो गया तो यह वृद्धि जिसमें क्षत हो गया है उस अवयव या प्रदेश के मांससिरा स्नायुतन्तुओं को खाते रहते हैं जिससे भीतर ही भीतर रिक्त स्थान तथा चारों ओर अर्बुद कोशाणुओं का जाल बिछ जाता है। इस प्रकार उस अर्बुद की आकृति वल्मीक की आकृति की बन जाती है।

मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिः विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात्।
तोदक्लेद परीदाह कण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृतः।
व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तनिलोद्भव॥ सु. नि. अ. १३

जिसमें अनेक स्रोतों वाहिनियें बन जाती है तथा शीघ्र प्रसरणशील हो जाता है, अर्थात् अर्बुद की इस अवस्था में शीघ्र व दूर २ तक के धातुओं में दोषों की गति पहुंच जाती है अतः इस अवस्था में अर्बुद को वल्मीकार्बुद कहा जाता है।

कारण

कफ प्रधानाः कुर्वन्ति मेदो मांसास्रगाः मलाः।
वृत्तोन्नतं यं श्वयथुं स ग्रन्थी ग्रंथनात्स्मृतः।
महत्तु ग्रान्थितोऽर्बुदम्-अ. ६-२६-१-१४

ग्रंथि की विधि संप्राप्ति वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, सिराज, व्रणज से ९ प्रकार की बताई है। जब कि अर्बुद को वात, पित्त, रक्त, मांस और मेद हेतुभेद से ६ प्रकार का बताया है। सारे ही अर्बुदों में मेद तथा कफ दोष की अधिकता रहती है जिसका कि परिणाम अर्बुद की स्थिरता तथा अपाकशीलता है।

गम्भीर वात रोगिणामर्बुद प्रादुर्भाव इतिलेकिन् यह भी ऐकान्तिक सत्यता नहीं हो सकती तथा इस रोग के ये ही विशिष्ट हेतु हैं इसके बारे में भी दृढ़ता से नहीं कहा जा सकता, फिर भी सामान्य कारणों के विचार में जैसा कि शास्त्रज्ञ प्रतिपादित करते हैं वह विचार्य है।

आयुर्वेद के दृष्टिकोण से इस रोग का सामान्य कारण कफ-दोष है, तथा मुख्य दूष्य है मेदत तथा इनमे जिस २ विशेष स्थान पर विकृति स्थान संश्रय करती है उसी उसी विशिष्ट नाम से संबोधित किया जाता है। आचार्य चरक ने इसे शोथ रोगों में परिगणित किया है, क्योकि इसमें उत्सेध सामान्य लक्षण रहती ही है। उत्सेध लिंग श्वयथुं वदन्ति,। निज व आगन्तुज दो प्रकार के शोथ भेदों को सर्वांगज, अर्द्धांगज, तथा अवयवाश्रित, नाम से ३ उपभेद कहे है। इस रोग के निज तथा आगन्तुज दोनों ही कारण हो सकते हैं निज कारण जैसे उपरिनिर्दिष्ट कफ व भेद की दुष्टी आभ्यन्तर विकृति संभवत: D. N. A. डिसाक्सरीबो न्यूक्लिक एसिड (Desoxyribo Nuclic acid) तथा आगन्तुज जैसे कि मासार्बुद की उत्पत्ति के लिये आचार्य ने बताया है।

मुष्टि प्रहारादिभिरर्दि तेदगे मासं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम्। सु. नि. ११

उपरोक्त पद्य में मांसार्बुद के कारण मुष्टिप्रहार, या मुष्टिप्रहारजन्य अंग में अर्दित होकर मांस दुष्टि हो जाना (शोथरूपबनना) इस प्रकार से इसके कारणों के बारे में कुछ विचार किया गया है। तथा इसकी भयानकता को परिलक्षित कर इसकी जानकारी के लिये अनेक संस्थाऐं बनीं, सर्वप्रथम जर्मन शरीर विकृति विज्ञान के विशेषज्ञ वार चाऊ ने इस रोग का कारण किसी स्थान पर बराबर क्षोभ Erritation बना रहना माना है इसके लिये उदाहरण देते हुए जैसे काश्मीर प्रदेश में जहां कि शीताधिक्य रहता है, शोत

से बचने के लिये वहां के निवासी जलते हुए कोयलों को सिगड़ी में डाल कर पेट पर बांधते हैं, इन कोयलों के लगातार सेक से पेट के नीचे की त्वचा झुलस जाती है, तथा बहुधा उस स्थान में केन्सर रोग बन जाता है। इसी तरह मिट्टी से बने तम्बाखू पीने के पाइपों के बराबर होठ पर रखे रहने से ओष्टार्बुद पाये गये हैं। इसी तरह कारखानों की चिमनियें साफ करने वाले व्यक्तियों में जिनको कि अंडकोष की त्वचा में लगातार काजल लगने से तथा संघर्षजन्य क्षोभ से अर्बुद होना पाया गया है। हिलते दांतों का निरन्तर घर्षण, तथा कभी २ दांत के उत्पाटन से दंतार्बुद तथा धूम्रपान के अत्युपयोग से जनित क्षोभ भी अर्बुदों की उत्पत्ति में सामान्य कारण होते पाये जाते हैं।

ई० सन् १८८० में कौनहिम नामक विद्वान् ने यह सुझाव दिया कि अर्बुद रोग के कारण तन्तुओं Tissues में भ्रूणावस्था के अवशेषों का रह जाना (आदि बल प्रवृत्ति) है इसीसे मलाशय जिव्हा, तथा लम्बी अस्थियों के सिरों में पैदा होने वाले अर्बुद बनते हैं।

ई० सन् १९०० में इसके निम्न कारणों पर प्रकाश डाला गया—

(१) निरंतर क्षोभ,

(२) रासायनिक पदार्थ (आर्सेनिक, टार आदि के प्रयोगों से)।

(३) वायरस (विषाणु)।

ये अनुमानगम्य जीवाणु हैं जो अतिसूक्ष्म होने से किसी भी यन्त्र से देखे नहीं जा सके हैं। इसके लिये रुग्णका रक्त लेकर फिल्टर पेपर से छान लिया जाय, तथा स्वस्थ प्राणियों में ऊपर छनने से बचे द्रव्य तथा छने हुए द्रव्यों की सूची बना कर देने पर यदि ऊपर के द्रव्य का कोई अनिष्ट परिणाम न हो तथा नीचे के द्रव्य के सूची-वेध से यदि रोगोत्पत्ति बन जाय तो यह सिद्ध हो जाता है कि अणुवीक्षण से भी नहीं दिखाई देने वाला कोई चेतन द्रव्य है जो रोगोत्पादक बनता है उसे वैज्ञानिक भाषा में वायरस नाम से संबोधित किया जाता है।

(४) विकिरण Radiation

(५) अधिक हारमोनी का उपयोग।

इस तरह साधारण हेतु का विचार, जन्मजात, अन्तःस्रावों का उत्तेजन तथा वाइरस ३ प्रकार से किया जाता है।

शास्त्रज्ञों का यह भी कहना है कि यह रोग माता-पिता द्वारा (सहज) भी हो सकता है तथा नहीं भी होता, आयु की दृष्टि से यह प्रायः वृद्धावस्था में देखा जाता है, तथा आहार की दृष्टि से पीत नवनीत yellow butter का चूहों पर प्रयोग करने से इस रोग की उत्पत्ति चूहों में देखी जा सकती है।

रशियन शास्त्री कोफ्रान्स्की का मन्तव्य है कि यह रोग संक्रामक नहीं है। इस रोग से पीड़ित रोगियों की सेवा करने वाले परिचारकों में यह नहीं होता, न ही इसका प्रसार जनपदोध्वंस के रूप मे कभी हुआ।

आयुर्वेद मत से इस रोग की गणना कर्मज व्याधियों में की जा सकती है। क्योंकि इसका निदान अल्प तथा विहार महान् होता है।

इसी प्रकार गुद प्रदेश के अर्बुद के लिये विरेचन के कल्पों में 'फिनाप्थे लीन' नामक द्रव्य जो कि पेट्रोलियम से निकाला जाता है की भी संभावना हो सकती है। तथा गर्भाशय के अर्बुदों का कारण इन दिनों में प्रयोग किये जाने वाले लूप भी बन रहे हैं।

कभी २ व्रण या तिल की परिणति भी अर्बुद के रूप में हो जाती है।

इस प्रकार तथा अन्य भी कई कारण हो सकते हैं परन्तु आयुर्वेद मत से मुख्य कर्म कारण है क्योकि इस रोग की भयानकता के समकक्ष किसी विशेष कारण की निश्चिति नहीं।

मधुर रस के अति योग से होने वाले रोगों में अर्बुद नाम आया है।

स एवं गुणोऽपि एक एव अत्यर्थ मासेव्यमानो कासश्वा।
अर्बुद श्लीपद बस्तिगुदोषलेपाभिष्यन्द प्रभृतीञ्जनयति। सु. सू. ४२-१०

यद्यपि मधुर रस का उपयोग धातुवर्धन तथा बलकृत् है फिर भी इसके अति उपयोग से अर्बुदादि रोगों को पैदा करने वाला होता है।

सम्प्राप्ति

गात्र प्रदेशेक्वचिदेवदोषाः संमूर्च्छिताः मांसम सृक्प्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूल चिरवृद्धयपाकम्।
कुर्वन्तिमांसोपचयतु शोफं तदर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति।

मेद और मांस तथा रक्त में पहुंचे कफ प्रधान दोष गोल और उठी हुई गांठ के समान ग्रथित शोथ को ग्रन्थि तथा यही महान् होने पर अर्बुद कहलाती है। ऐसा हृदयकार ने संकेत किया है। यह पहिले कहा जा चुका है कि इसकी गणना अवयवाश्रित शोथ में की है। इसका कोई निश्चित स्थान नही है चाहे शरीर का बाह्य प्रदेश या अंतः प्रदेश में कफ प्रधान दोष बढ़कर मांसोपचय रूप वृद्धि करते हैं। कफ का मन्द गुण से यह रोग चिरकारी होता है, तथा बिना पित्त के संसर्ग से अपाकी रहता है, तथा अश्मोपमम् से कफ का गुरुत्व गुण की दुष्टि बताता है। साथ ही अर्बुद का यदि स्राव हो तो कफयुक्त क्लेद दुर्गन्ध वाला, पिच्छिल, (घृतवसामज्जावत्) तथा स्थिरता इस प्रकार इसमें स्नेह, शैत्य, गौरव, स्थैर्य पैच्छिल्य, इन कफ के आत्मरूपों से श्वैत्य, स्थैर्य, गौरव, स्नेह, सुप्ति, क्लेद उपदेह, चिरकारित्व श्लेष्म विकार कर्मों की अभिव्याप्ति पायी जाती है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि दोष सम क्षीण या वृद्ध सभी दशाओं में सब स्रोतों में वहन करते हैं। वृद्धि के समय जिस अवयव में इनका स्थान संश्रय विशेष प्रमाण में हुआ करता है उसमें रोग के लक्षण सविशेष व्यक्त होते हैं।

केन्सर की उत्पत्ति या इति कर्त्तव्यता के बारे में रौस आदि ने यह विचार रखा कि यह रोग दो प्रकार की प्रक्रिया से होता है।

(१) शरीर के कोषाणु ही रहस्यमय रूप से अर्बुद कोषाणुओं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। (२) उत्तेजक या क्षुब्ध कारणों से असली केन्सर के कोषाणुओं में बन जाते हैं। इनमें पहिले कारणों को प्रारम्भकर्त्ता Initiator और दूसरी अवस्था पैदा करने वाले कारण वृद्धिकर्त्ता Promoter कहते हैं जैसे कारणों में तारकोल आदि रसायन पदार्थ कारण बताये हैं, यदि तारकोल का प्रयोग खरगोश की त्वचा पर किया जाय तो कुछ दिनों पश्चात् वहां मस्से पैदा हो जाते हैं। और धीरे २ ये दबने लगते हैं। किन्तु फिर उस स्थान पर तारकोल को लगाया जाय तो ये पुनः बढ़ने लगते हैं।

सामान्यतया प्रकृति का नियम है कि कोषाणु अपनी सीमा में रहें। यदि किसी एक संस्थान तन्तुओं Tissues को निकाल कर दूसरे संस्थान तन्तुओं में लगा दिये जांय तो कुछ दिन बाद वे तन्तु जिस संस्थान में लगाये गये हैं उसके अनुरूप बन जाते हैं इससे यह नियम बनता है कि प्रत्येक कोषाणु अपनी सीमा में रहें और दूसरों को अपनी ओर न बढ़ने दें। इस प्रकार की शक्ति प्रत्येक कोषाणु में रहती है। यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि अनुकूल परिस्थितियों में कोषाणु वृद्धि होना स्वाभाविक प्रवृति है। तथा एक अवरोधक प्रक्रिया के द्वारा नियन्त्रण भी होता रहता है। कोशिकाएं अपने अन्दर से *Self marker* स्वयंचिन्हक अणु बाहिर फेंकती रहती है जिससे कि समीपस्थ कोषाणु अपनी विशेषता प्रकट करते हैं जिससे पास में रहने वाली कोषिकाऐं उन्हें पहिचान कर उनका स्थान नहीं लेतीं। लेकिन जहां का भाग निकाला गया है उस रिक्त हुए स्थान में कोशिकाऐं बढ़ कर उस स्थान को घेर लेती हैं। जैसा कि भग्न या व्रण आदि स्थितियों में होता है।

यहां यह शंका पैदा हो सकती है कि जब अर्बुदादि रोगों में निम्न प्रकार की कोशिकाऐं पैदा होती हैं उस समय ये उन्हें क्यों नहीं नष्ट कर देतीं—उत्तर आयुर्वेद का सहज सात्म्यत्व है। इसके लिये विचार किया जाता है कि प्रत्येक कोषिका में विशेष प्रकार के तत्व Antigens रहते हैं जो विरोधी से नष्ट होने से बचाते रहते हैं। अर्बुद की उत्पत्ति के समय ऐसी सुरक्षात्मक प्रक्रियाऐं काम नहीं करती हैं। तथा विजातीय समझ कर इन कोशिकाओं को बाहर निकालने का प्रयत्न करती हैं, तथा अनुकूल उत्तेजना पाकर ये बढ़ते रहते हैं और अर्बुद का रूप धारण कर लेते हैं।

अर्बुद के स्थान विशेष का कोई निश्चित नियम नहीं है जैसे इंग्लेण्ड में गर्भाशय

तथा स्तन के अर्बुद के रोगी विशेष मिलते हैं, हॉलेण्ड तथा इटली, जापान में आमाशय अर्बुद के रोगी विशेष प्राप्त होते हैं। भारत में प्रायः सभी प्रकार के रोगी पाये जाते हैं।

वैषम्यगमनं पुनर्धातूनां वृद्धि ह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च।
यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेश विनाशंवा प्राप्नोति।
च. शा. अ. ६–४

जब शरीर में धातुऐं विषमता को प्राप्त होती हैं तब यह शरीर क्लेश या विनाश को प्राप्त होता है। धातुओं का वैषम्य होने का तात्पर्य धातुओं के बढ़ने घटने से है। यह धातुओ का वढना घटना आंशिक रूप में या प्रकृति से होता है। यहां वैषम्य गमन से तात्पर्य विषम अवस्था से है। इसलिये स्वभाव से ही धातुओं की विषमता रोगकारक नहीं मानी जाती। धातुओं का वृद्धि ह्रास होना ही वैषम्य माना जाता है। इसमें धातुओं की एकदेशीय वृद्धि एवं ह्रास अभिप्रेत है, जिससे कि क्लेश अथवा विनाश परिणाम होता है वृद्धि व ह्रास के साथ जब तक उस २ धातु का विकार कारित्व दिखाई न दे तब तक वैषम्यगमन शब्द का प्रयोग शुद्ध नहीं और रोगोत्पत्ति दोषवृद्धि की अवस्था में उस २ प्रदेश में हुआ करती है।

यौगपद्येन तु विरोधीनां धातूनां वृद्धि ह्रासौ भवत.

विरोधी धातुओं का वृद्धि व ह्रास एक साथ होते हैं। शरीर में जो एकदेशीय वृद्धि एवं क्षय होता है वह वैषम्य है वृद्ध कोशाणु भी अपनी वृद्धि के लिये समीप के कोशाणु का पोषण खेंच लेता है इससे उनमें ह्रस होता है इस प्रकार जो वैषम्य होता है वह समयोपरांत दोष, दूष्य, निदान व स्थान विशेष के अनुसार अपने लक्षणों वाला रोग पैदा करता है। यह रोग कोशाणु वृद्धि का रोग है। प्रत्येक कोशाणु में प्रायः २ कर्म होते हैं, (१) द्राक्षोज का विघटन Glycolysis, (२) श्वसन Respiration अर्बुद कोशाणु में दूसरा कार्य नही होता, अपने बढ़ने वाले आकार प्रकार के लिये पोषक तत्वों की आवश्यकता रहती है, और ये तत्व प्रचुर मात्रा में लेता रहता है और समीपस्थ कोशाणु इनके Amino acids के अभाव में मर जाते हैं या इन्हीं कोशाणुओं में घुस कर अपने सदृश बना लेते हैं। इस प्रकार ये कोशाणु अपना दुर्ग बना लेते हैं तथा अपने समान परम्परा का निर्माण करता है। ठीक चिकित्सा से यह स्थिति लीनावस्था में रहती है, फिर अनुकूलावस्था पाकर फिर बढ़ने शुरू होते हैं। आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार अर्बुद शरीर के किसी एक भाग में उत्पन्न हो सकता है और उस रचना सम्बन्ध या सादृश्य किसी भी तन्तु से संभव है। अर्बुद स्थानीय तन्तु व समग्र शरीर से पोषण छीन कर पनपता रहता है। अर्बुद के कोशाणु भी स्थानीय मधुकोषाकृति (acinar) मे अवकाश बनाते हैं तथा उनसे श्लेष्मा का स्राव करते हैं। परन्तु उस स्राव से शरीर को कोई लाभ नही पहुचता। मूल

अवयव के समान अर्बुद से हार्मोनों की भी उत्पत्ति होती है, परन्तु ऐसे अर्बुद कम होते हैं और उनके ये प्रभाव हार्मोनों की अत्यधिक उत्पत्ति के कारण होते हैं। और इनके ये प्रभाव देह के लिये लाभप्रद या उपयोगी नहीं होते। अतः इन्हें शरीर समीपस्थ छिद्र द्वारा बाहिर निकालने का प्रयत्न करता है। घातक स्थिति में इनकी वृद्धि बराबर होती रहती है इससे देहतन्तुओं का क्षय होता रहता है और इसी स्थिति से प्राणी की इहलीला समाप्त हो जाती है।

पूर्वरूपः—

महत्तु ग्रन्थितोऽर्बुदम् ॥ अ० हृ० उ० २६

इसकी पूर्वरूपावस्था ग्रन्थि है। ग्रन्थि की स्थिति इतना मात्र ही पूर्वरूप की अभिव्यक्ति है साथ ही संप्राप्ति में बताए गए दोषों की वृद्धिक्षय से देह में होने वाले धातुओं की वृद्धि व क्षय के लक्षणों से इसकी प्रारम्भिक अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि इस रोग की रूपावस्था कृच्छ्रसाध्यता उत्पन्न कर देती है। इसलिए ग्रन्थि अवस्था में ही ग्रन्थि के भेदों के अनुसार सुज्ञ चिकित्सक को विचार करना चाहिये।

बढ़ा हुआ मांस गलगण्ड अर्बुद, ग्रन्थि, गिलटियां, ऊरूवृद्धि, उदरवृद्धि, कण्ठ में, तालु में, जिह्वा में अधिमांस पैदा करता है।

क्षय हुआ मांस इन्द्रियों में दुर्बलता, गण्ड और नितम्ब में शुष्कता, तथा सन्धियों में वेदना पैदा करता है। बढ़ा हुआ मेद– मांस की तरह गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि तथा थोड़े से परिश्रम से भी थकान एवं श्वास होते हैं तथा नितम्ब स्तन उदर लटकने लगते हैं। मेद के क्षीण होने पर कटि में स्पर्शज्ञान का नाश प्लीहा की वृद्धि और अगों मे कृशता होती है। अस्थिवृद्धि में अधिक अस्थि व अधिक दांत अर्बुद के रूप में पैदा होते है।

अस्थि क्षीण होने पर अस्थियों में वेदना, और दन्त, केश, नख, आदि गिरने लगते हैं।

मज्जा वृद्धि में नेत्र और दूसरे अंगों में भारीपन तथा पर्व सन्धियों के मूल में स्थूलता तथा देह में कष्टसाध्य फोड़े होने लगते हैं।

मज्जा क्षय में अस्थियों में खोखलापन चक्कर आना व आंखों के सामने अंधेरा होता है। रक्तवृद्धि में विसर्प, प्लीहारोग, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, उपकुश, कामला, व्यंग, अग्निनाश, मूर्च्छा, त्वचा, मूत्र तथा आंखों में लालिमा होती है। रक्तक्षय में अम्लरस तथा ठंडी वस्तुओं में रुचि, शिराओं की शिथिलता Low blood presser और रुक्षता होती है।

रस वृद्धि में मांस अग्निमांद्य, लालास्त्राव, आलस्य, भारीपन, श्वेतवर्णता, शिथि-

लता, शीतलता व श्वास कास व निद्राधिक्य रहता है। रस क्षय में, शरीर में रुक्षता, थकान, शोष, ग्लानि व शब्द सुनने में असहिष्णुता होती है।

रूप:—

वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्त मनल्पमूलं चिरवृद्धय पाकम्।
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं तदर्बुद शास्त्रविदो वदन्ति।

गोलाकृति में स्थिर रहने वाला साधारण पीड़ा कर महन्त तथा गम्भीर मूलवाले शनैः शनैर्वर्द्धन स्वभावी, पाकरहित, मांस संघात युक्त शोफ को अर्बुद कहते हैं।

वातज अर्बुद—

आयम्यते व्यथ्यत एतितोदं प्रत्यस्यते कृत्यतएति भेदम्।
कृष्णोऽमृदुर्वस्ति रिवाततश्च भिन्न-स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम्।

जिस अर्बुद में ग्रन्थि को अन्दर से चौड़ा कर रहा है, (आयमन) व्यथा की स्थिति चलती रहती है, (तुदन) सुई की सी पीड़ाऐं, फेंकी जा रही है, या काट रहा है, या भेदन कर रहा है— अर्बुद का वर्ण कृष्ण, स्पर्श में कठोर, भरे हुए मूत्राशय के समान तथा कदाचित् फूटवे पर केवल रक्तस्राव होता है।

पित्तज अर्बुद—

दन्दह्यते धूप्यति चोषवांश्च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवे दुष्णम तीव चास्रम्।

जिस अर्बुद में जलन, अतिशय सन्ताप, या चोषण तथा पचन स्वभाव, इसके साथ २ भीतर से प्रज्वलन, वर्ण में लाल या पीला तथा फूटने पर अत्यन्त गर्म रक्त अति मात्रा में स्रुत होता है।

कफज अर्बुद—

शीतोऽविवर्णो ऽल्परुजोऽतिकण्डूः पाषाणवत्संहन नोपपन्नः।
चिराभिवृद्धिश्च कफ प्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्ल घनं च पूयम्।

स्पर्श में शीत तथा विकृत रंग और थोड़ी पीड़ा करने वाला, अत्यन्त जिसमें खुजली हो तथा जिसका संगठन पत्थर की तरह कठोर तथा देरी से बढ़ौत तथा इससे होने वाला स्राव श्वेत तथा चिक्कण पूय आती है।

दोषप्रदुष्टो रुधिरंसिरास्तु सपीऽयसंकोच्य गतस्तु पाकम्
सास्राव मुन्नह्यति मांसपिण्डं मासाङ्कुरैराचित माशुवृद्धिम्।
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु।
रक्तक्षयोपद्रव पीडीतत्वात्पाण्डुर्भवेदर्बुद पीड़ितस्तु।

दोष रक्त द्वारा रक्तवाहिनियों में स्थान संश्रय करने पर स्राव के साथ मांस-

पिण्ड को बांध लेता है जो चारों ओर मांस के अंकुरों से युक्त शीघ्रवर्धनशील होता है, इस अर्बुद में से निरन्तर रक्त स्राव होता रहता है इसलिए इसे असाध्य माना जाता है । इस प्रकार संतत रक्त स्राव से इस रोगी को पाण्डु हो जाता है।

अवेदनं स्निग्ध मनन्यवर्णं मपाक मश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्ट मांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांस परायणस्य ।
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तम् ।

अब मांसार्बुद के लक्षण बताये जाते हैं कि इसमें पीड़ा नहीं होती, ये त्वचा के रंग वाले चिकने तथा पत्थर के समान ठोस तथा हिलाने पर नहीं चलाए जा सकते तथा स्पर्श स्निग्ध होता है। इनकी उत्पति प्रायः दुष्ट मांस वाले के तथा मांसभक्षियों में विशेष होती है तथा यह असाध्य है।

अष्टांगहृदयकार ने अपने ग्रन्थ में स्थान विशेष के अनुसार निम्न भागों के अर्बुद का विशेष विवरण वर्णन किया है। यद्यपि इसकी उत्पति गात्र के किसी भी प्रदेश में संभव हो सकती है फिर भी उन २ स्थितियों को ध्यान में रखना भी उपयुक्त है अतः उनका संक्षिप्त विवरण निम्न है।

जलार्बुद—

जलबुब्दुदवद्वात कफादोष्ठे जलार्बुदम्—

इसका कारण मिट्टी के पाइप का अधिक प्रयोग हो सकता है इसका प्रारम्भ उपदंश-व्रण, जीर्णमुखपाक तथा स्फुटित ओष्ठ की दरार से होता है। यह ९० प्रतिशत अधरोष्ठ में होता है। प्रारम्भ में मस्से या गांठ की शकल बनती है इसे ही जलबुद्बुद की समानता दी है फिर इसके किनारे बाहर की ओर मुड़ जाते हैं। और व्रण बड़ा हो जाता है, अधोहनु के नीचे की लसिका ग्रन्थियां बढ़ी हुई प्रतीत होती हैं। इस तरह वात कफ दोष की इसमें दुष्टी रहती है।

गलार्बुद—

जिह्वावसाने कण्ठादावपाकं श्वयथुर्मलाः ।
जनयन्ति स्थिर रक्त नीरुजंतद्गलार्बुदम् ।

जीभ में:— जीभ के बाहिर के किनारे पर उसके ⅔ भाग में होता है, इसके भी कारण जलार्बुद वाले कारण हो सकते हैं। यह शल्काभ कोषाणुओं से पैदा होता है। जिसमें लालास्राव बहुत होता है तथा वेदना कान की तरफ जाती हुई अनुभव होती है जिह्वा को बाहिर निकालने तथा ग्रासनिगिरण में कष्ट होता है, मुख से दुर्गन्ध के साथ ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं। इसमें श्वासनली के अवरोध से या रक्तस्त्राव से तथा आहार की पूर्ण मात्रा न जाने से निर्बलता हो कर मृत्यु हो जाती है।

इसी तरह कण्ठादी से अन्न प्रणाली में होता है। जिसके कारण अत्यधिक उष्ण आहार से होता है, इससे अन्न प्रणाली में रुकावट, कास तथा पीड़ा जिस २ स्थान पर अर्बुद का प्रसार हुआ है होती रहती है। इसका व्रण जब श्वास प्रणाली में फूट जाता है तो मृत्यु हो जाती है।

नेत्रार्बुद—

वत्मन्तिर्मांसपिण्डाभः श्वयथुर्ग्रथितोऽरुजः।
सास्रैः स्यादर्बुदो दोषैर्विषमो बाह्यतश्चलः।

यह आंख के अन्दर के रंगीन पर्दों का अर्बुद है इससे आंख की दृष्टि शक्ति जाती रहती है। इसके भाग रक्त के साथ यकृत् में पहुँच कर वहां नया अर्बुद बना लेते हैं। रक्त मिश्रित दोषों द्वारा पलकों में मांसपिण्ड के आकार का शोथ हो अर्बुद हो जाता है।

कर्णार्बुद—

शाफोऽर्शोर्बुद मीरितम्।
तेषुरुक्पूतिकर्णत्वं बधिरत्वं च बाधते।

इसमें शोथ, रुजा, कर्णपूय तथा कर्णेन्द्रिय की कार्य शक्ति नष्ट हो जाने से बाधिर्य हो जाता है।

नासार्बुद—

सर्वेषु कृच्छ्रोच्छ्वसनं पीनसः प्रततं क्षुतिः।
सानुनासिकवादित्वपूतिनाशः शिरोव्यथा।

नासार्बुद में कठिनाई से श्वास आना, पीनस निरन्तर छींक आना, नाक से बोलना, पूतिनासा, और शिर में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं।

आमाशयार्बुद—

आमाशय की श्लैष्मिक कला में ग्रंथियां होती हैं जो कई प्रकार के स्राव निर्माण करती हैं। उनमें मुख्यतया लवणाम्ल को बनाने वाली हैं।

अर्बुद की उत्पत्ति उन्हीं कोषों में होती है जिनसे कि स्राव निकलता है। इनमें भी एक स्राव निकल कर अर्बुद में प्रवेश करता रहता है जिससे इसकी आकृति चपड़ी के समान अर्धस्वच्छ पिण्ड में हो जाती है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। प्रायः इसके होने में पुरुषों की आयु ४० से ६० वर्ष तक की है।

इसकी उत्पत्ति स्वस्थ आमाशय में नहीं होती परन्तु असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम रोगों के सामान्य कारण के अनुसार जिह्वातिलौल्य से अत्यधिक मद्य, गर्ममसाले आदि तीक्ष्ण द्रव्य व गरम चाय, काफी आदि का प्रयोग करने वालों में आमाशय की श्लैष्मिक कला में निरंतर क्षोभ होता है। और कालान्तर से अर्बुद

को उत्पत्ति हो जाती है। आमाशय व्रण भी इसके कारण बन जाते हैं। इसको सम्यक् समझने के लिये आकृति अनुसार इसके ५ भेद किये जाते हैं।

(१) फूलगोभी के समान आकृति, तथा कालान्तर में क्षत उत्पत्ति,

(२) असमान किनारे के क्षत के रूप में,

(३) अलग २ गुच्छों के समूह में,

(४) बोतल की आकृति में (सौत्रिक तन्तु निर्माण),

(५) जीर्ण आमाशय व्रण के उपद्रव रूप में,

आमाशय के घातक अर्बुदों में ९९ प्रतिशत कर्कटार्बुद होता है।

लक्षण–

अग्निमान्द्य, अपचन, उदर वेदना, वमन आदि उपस्थित होने पर इस रोग का सन्देह किया जा सकता है। वेदना प्रायः भोजन के पश्चात् होती है। परन्तु कभी २ पहिले वेदना होती है जो कि भोजन कर लेने पर शान्त हो जाती है। पाचक रसों के परीक्षण से लवणाम्ल की न्यूनता प्रतीत होती है। जिससे अग्निमांद्य व अवास्तविक अजीर्ण बना रहना है। तथा अरुचि व वमन की इच्छा होती रहती हैं तथा आमाशय में बनने वाले रक्त रंजक द्रव्यों की भी न्यूनता रहती है जिससे रस व रक्त की पूर्णमात्रा नहीं बन पाती परन्तु इन बढ़ने वाले कोशाणुओं को इनकी अधिक आवश्यकता होती है इस तरह रक्ताल्पता हो जाती है।

यदि अर्बुद आमाशय के हार्दिक द्वार के पास है तो रोगी को निगलने में कष्ट होता है, तथा यह भी प्रतीति होती है कि ग्रास नीचे से ऊपर आ रहा है। और अगर वमन हो तो वान्त द्रव्य काफी के रंग के समान निकलता है। धीरे धीरे यह फैलता हुआ मुद्रिका द्वार तक पहुंच उसका अवरोधक बन जाता है।

साथ ही साथ रोगी का बलमांस क्षण होता रहता है। तथा मेदः क्षय आदि के साथ अर्बुद में शीर्णता पैदा हो जाती हैं। चिकित्सा की दृष्टि से इसके ७ भेद किये जा सकते हैं।

(१) अग्निमांद्य व अपचन से जनित अव्यक्त लक्षण,

(२) अरुचि, रक्ताल्पता, दुर्बलता के साथ शनैः शनैः बढ़ने वाला,

(३) हार्दिक द्वार के प्रभावित होने से अन्नमार्ग में अवरोध होना,

(४) मुद्रिका द्वार के प्रभावित होने से अवरोध होना,

(५) कामला, यकृत्, जलोदर, व उदर्यकला के साथ गुप्त रूप से होना,

(६) आमाशय के जीर्ण क्षत के उपद्रव रूप में,

(७) केवल मात्र उदर में पिण्डवत् स्थिर उत्सेध के रूप में।

परोक्ष

कुछ समय बाद आमाशय में उत्सेध लक्षण वाले पिण्ड की स्पर्शता। यह आमाशय के मध्य होने पर पर्शुकाओं के नीचे, तथा मुद्रिका द्वार में होने पर ऊर्ध्व भाग में अनुप्रस्थ रूप से स्पर्श किया जा सकता है।

क्षकिरण की सहायता से आमाशय में बेरियम प्रवेश मे शिथिलता तथा पूर्ति की अनियमितता दिखाई पड़ती है।

रक्त–

प्रायः रोगियों में रक्ताल्पता रहती है। तथा मल के साथ अव्यक्त रक्त की परीक्षा सकारात्मक होती है।

पाचक रस परीक्षा में लवणाम्ल की न्यूनता मिलती है।

आमाशय धावन की परीक्षा मे अस्वाभाविक कोषों की उपस्थिति होती है।

लाल रक्तकणों की तलछट गति की वृद्धि मिलती है।

रोग मीमसा–

आमाशय व्रण (अन्नद्रवशूल) में भोजन के कुछ समय बाद वेदना की उत्पत्ति होती है। तथा पहिले वेदना होने से भोजन के बाद शान्ति मिलती है। किन्तु आमाशयार्बुद मे भोजन के बाद वेदना निरन्तर होती है। भोजन से कोई अन्तर नही होता।

ग्रहणीजक्षत (परिणामशूल) में कुछ समय के लिये वेदना शान्ति होती है परन्तु इसमें वेदना बनी रहती है।

क्षकिरण परीक्षा द्वारा एक छल्ले के आकार की छाया, लवणाम्ल की न्यूनता आदि इसे प्रकट कर देती है।

घातक पाण्डु रोग से विभेदक करने के लिये रक्त परीक्षा मे श्वेताणुओं की संख्या वृद्धि तथा रक्तरंजक की वृद्धि घातक पाण्डु का सूचक माना जाता है वहां मल मे अव्यक्त रक्त की उपस्थिति अर्बुद का सन्देह पैदा करता है।

साध्यासाध्यता–

रोग निर्णय के पश्चात् रोगी १ वर्ष जीवित रहता है क्योंकि इसका स्वभाव है कि अवशिष्ट कोशाणु पुनः वृद्ध होकर रोग की स्थिति बना लेते है। रोगी को उपयुक्त पथ्य तथा विश्राम के सहारे भी काफी आराम दिया जा सकता है। किन्तु रक्ताल्पता व दुर्बलता तथा हार्दिक द्वार या मुद्रिका द्वार के अवरोध हो जाने पर शस्त्रक्रिया से आयुवृद्धि करने की कोशिश करते है।

गलार्बुद—

जिह्वावसाने कण्ठादावपाकं श्वयथुर्मलाः
जनयन्ति स्थिरं रक्त नीरूजतद्गलार्बुदम् ।

गले में कई प्रकार के अर्बुद होते हैं। प्रारम्भ में यह धारणा थी कि यह रोग बुढापे में ही होता है। लेकिन अब छोटे बच्चों व जवानों में भी यदा कदा इससे पीड़ित रोगी प्राप्त होते हैं, यह अवश्य है कि अधिकतर इससे पीड़ित वृद्ध रोगी ही अधिक उपलब्ध होते हैं।

(१) इसकी प्रारंभिक अवस्था में बहुत से रोगी गले में कोई चीज चुभ रही है अथवा गिलन में कुछ अवरोध की सी प्रतीति होती है—इसी अवस्था में यदि चिकित्सा हो गई तो ठीक अन्यथा यह अवरोध बढ़ जाता है तथा लाला स्राव सतत होने लगता है, तथा द्रव प्राय आहार लेने की ही क्षमता रह जाती है। किन्तु शनैः शनैः यह भी अवस्था बन्द हो जाती है—इससे अत्यधिक दुर्बलता बढ़ती रहती है तथा अन्त श्वास लेने में भी अत्यधिक कठिनाई हो जाती है।

इसकी ग्रन्थि कर्णमूल के नीचे, श्वास नली के ऊपर, अन्नप्रणाली के प्रवेश मार्ग में, मुखविवर के पश्चात् उपजिह्वका के नीचे, गलछिद्र के पार्श्व पेशियों के ऊपर प्रारम्भ में उत्पन्न होते हैं। इनकी संख्या एक या एक से अधिक भी हो सकती है। तथा धीरे धीरे बढ़ने लगते हैं। यहां तक कि यह समय दस से १५ वर्ष तक का भी हो सकता है। इस अवस्था में कोई विशेष कष्ट रोगी के शरीर में नही होता अतः इस ओर रोगी तथा चिकित्सक दोनों की ही प्रायः लापरवाही रहती है। यद्यपि दोषों का स्थान संश्रय हो चुका है परन्तु दोष अल्प होने से लीनावस्था में रहते हुए भूय हेतु की प्रतीक्षा करते है। इनकी अनुकूलस्थिति प्राप्त कर वे पुनः बढ़ने लगते हैं तथा कुछ समय में ही अश्मोपम व अप्रचाल्य की स्थिति में यह ग्रन्थि बन जाती है। इसी के साथ २ रोगी के शरीरस्थ धातु क्रमशः शोर्ण होने लगते हैं तथा इस शीर्ण अवकाश में वायु की वृद्धि होती रहती है। तथा गलावरोध या स्वर भद की स्थिति में किसी भी प्रकार के कठिन पदार्थ (पार्थिव) के गिलन असंभव होता जाता है। केवल तरल मय (जलीय) पदार्थ पर जीवन निर्वाह करता है अर्थात् यदि दूध के साथ थोड़ी भी दुग्धसतानिका चली जाय तो प्रबल वेग से कास होता है, तथा दोनों आँखें ऊपर की ओर तन जाती हैं इस तरह की महा भयानक यन्त्रणा में रोगी अपना जीवन व्यतीत करता है।

स्वरभेद—

गले के अर्बुद में प्रायः यह लक्षण मिलता है। इसमें रोगी का गला अकस्मात् बैठ जाता है। यक्ष्माजन्य स्वर भंग में भी गला बैठता है परन्तु यक्ष्मा में ज्वर कास के बाद

स्वर भंग होता है जब कि अर्बुद के स्वर भेद में पहिले गला बैठता है। तथा कालान्तर में अर्बुद वृद्धि से ज्वर भी हो सकता है परन्तु अवरोध तथा स्वर भेद पहिले होते हैं।

सरक्तष्ठीवन—

यह इसकी प्रारंभिक अवस्था का लक्षण है, इससे चिकित्सक भी व्यामोहित हो जाते हैं तथा रासायनिक, भौतिक तथा आणुवीक्षणिक परीक्षा में क्षय कीट की उपलब्धि न होने से साधारण औषधि देकर रोगी का समय यापन करते रहते हैं। तथा दंतवेष्ट से रक्त आता है कहकर टाल देते हैं।

वस्तुस्थिति में इस समय ग्रंथि में व्रण हो जाता है तथा यह घावयुक्त व्रण शीघ्रता से बढ़ कर चारों ओर फैलता रहता है।

मांसांकुरवृद्धि—

प्रारंभ में जैसा कि उपरोक्त श्लोक में बताया गया है जीभ के नीचे श्वासप्रणाली या अन्नप्रणालो के पास मटराकार मांसपिण्ड बनता है तथा धीरे धीरे चारों ओर कई मांसपिण्ड हो जाते हैं, इनको वृद्धि के साथ साथ इनसे बहुत दुर्गन्धित स्राव होने लगता है।

द्वितीयावस्था—

इस अवस्था में अर्बुद में व्रण बन जाता है तथा रोगी के मुंह से गाढी अत्यधिक लाला स्रवित होती है। कभी कभी इसमे पूय भी आने लगती है, तथा रोगी थूकते थूकते परेशान हो जाता है। भोजन करने में अत्यन्त कठिनाई होती है अतः अशक्त होकर चारपाई पकड़ लेता है। पूय मिश्रित लाला स्राव से रोगी के चारों ओर अत्यन्त दुर्गन्ध फैली रहती है। शरीर में अत्यधिक वेदना निरतर बनी रहती है। अंर्बुद में से अकुर निकल निकल कर निकटस्थ अंगों को घेरते रहते हैं। रोगाक्रान्त स्थान के चारों ओर उत्सेध हो जाता है। इसके बढ़ने पर धड़ तथा गला एक हो जाता है, तथा उस प्रदेश की क्रिया संपूर्णतया बन्द हो जाती है। तथा शोथ में कीड़ा रेंगता सा प्रतीत होता है। साथ ही कफज या पित्तज ज्वर हो जाता है, रोगक्षमता का अभाव होता जाता है तथा शरीर में रुक्षता, शुष्कता, खरत्व आदि की वृद्धि होती रहती है। वात वृद्धि के साथ वातज कास हो जाता है जिससे रात्रि में नींद नहीं ले सकता तथा कास वेग में रक्त स्राव होता है। तथा कभी २ यकृत् फुफ्फुस आदि अगों में अध्यर्बुद की उत्पत्ति हो जाती है।

तृतीय अवस्था—

इस अवस्था में बनी ग्रथियों में शीर्णता होनी प्रारभ होती है जिससे व्रण में से रस रक्त तथा पूय स्रुत होने लगती है। तथा रोगी का शरीर पाण्डु, तथा ग्रन्थियों के गलते रहने से गले में छिद्र भी हो जाते हैं, तथा निद्रानाश, वमन, रक्तस्राव, वाक्यावरोध, तीव्र श्वास आदि होकर रोगी मृत्यु प्राप्त करता है।

जिह्वार्बुद—

ऊर्ध्वजत्रुगत रोग प्रायः कफवृद्धि से हुआ करते हैं साथ ही जिह्वा के इतस्ततः जो लालाग्रन्थियां रहती हैं उनमें एक प्रकार के पाचक स्राव का निर्माण होता है इसी दृष्टिकोण से मिथ्याहार विहार से कफ तथा पित्त दोष विकृत हो वायु के साहचर्य से जिह्वार्बुद की प्रक्रिया निर्माण करते हैं।

कारण— जीर्ण यकृत् विकार, रक्तविकृति (पित्तज या उपदंशज) आमाशयिक रस में पेप्सीन नामक प्रोटीन विश्लेषक स्राव की न्यूनता, ताम्बूल (मयजर्दे का अतिसेवन, अतिमद्यपान, आदि।

जिह्वा उदरस्थ विकृति को बताने वाला मुखगुहा स्थित दर्पण है—उदरगुहा की जीर्ण या तीव्र विकृति को यह स्पष्टतया प्रकट कर देती है इसीलिए अष्टविध परीक्षा में इसकी परीक्षा भी एक महत्वपूर्ण परीक्षा बताई गई है। किसी भी प्रकार का उदर रोग क्यों न हो उसका सम्बन्ध जीभ से रहता ही है।

प्रारम्भ में जीभ पर एक छोटा सा अर्बुद पैदा होता है और शनै २ बढ़ कर जिह्वा को आक्रांत कर लेता है। तथा फट कर क्षत का रूप धारण कर लेता है। जिसका परिणाम यह होता है कि जिह्वा में छेद की स्थिति। और इसके बाद जिह्वास्तम्भ हो जाता है। साथ ही यदाकदा फूलगोभी के समान मांसांकुर निकल आते है इस प्रकार मुख के भीतरी अवयवों को घेरता जाता है।

प्रथमावस्था—

दाह एवं वेदना— अर्बुद की स्थिति में वेदना का प्राचुर्य तथा क्षत हो जाने पर दाह विशेष होता है। रक्त स्राव, सफेद मल की या पूययुक्त स्राव की तह जम जाना, मुख में दुर्गन्ध, निगिरण में कष्टानुभूति।

द्वितीयावस्था—

अर्बुद के आकार में वृद्धि तथा क्षत होने, व्रण का भीतर के अवयवों में गम्भीर प्रवेश, फिर अर्बुद तथा क्षत मे शीर्णता होना, जिससे लाला स्रावाधिक्य, कभी २ इस स्राव में रक्त की उपस्थिति तथा अनियमित ज्वर आदि रहते हैं तथा अर्बुद एवं क्षत के गम्भीर रूप के प्रसार से निगलने की शक्ति अतिमंद हो जाती है।

तृतीयावस्था—

इस समय अर्बुद अति गम्भीर रूप धारण कर लेता है जिससे सपूर्ण गलछिद्र फूल कर अर्बुदमय बन जाता है अर्थात् चारों ओर अर्बुद शिखर निकल आते हैं अतः स्वर भेद, कास तथा ज्वर, रक्तस्राव तथा श्वास कष्ट तथा आहार ग्रहण न होने से दौर्बल्य बढ़ते जाते हैं तथा रोगी के प्राणान्त हो जाते हैं।

स्तनार्बुद—

कारण—स्तनपायी बच्चे के शिर का आघात भी कारण हो।

प्रथमावस्था—प्रारम्भ में स्तन का कोई भी भाग प्रभावित हो सकता है जिसमें लाल होकर फूल जाता है—कभी चूचुक प्रभावित हो अन्दर प्रविष्ट हो जाता है तथा संकोच होने लगता है जिससे एक प्रकार का खिचाव होता रहता है। कभी कभी—

सक्षीरौ वाप्य क्षी रौवा प्राप्य दोषाः स्तनौस्त्रियाः
प्रदूष्य मांस रुधिरं स्तनरोगायकल्पते।

दोनों स्तनों मे या एक स्तन में सिरा जाल फैल जाता है। बालविधवाओं में इसका प्रसार शनैः शनैः होता है, तथा वन्ध्या स्त्रियें इससे पीड़ित अधिक मिलती है। इसमें केवल मात्र उत्सेधलक्ष होते हैं।

द्वितीयावस्था—उत्सेध में कठोरता होने लगती है, अधिक कठोरता से वेदना भी बढ़ने लगती है जो रात्रि में असह्य हो जाती है। वेदना के साथ त्वचा संरम्भ भी होने लगता है तथा स्तन विदीर्ण हो जायगा की अनुभूति होती है। इसके साथ ही वक्षस्थल अन्य ग्रंथियां भी इससे आक्रान्त हो जाती हैं। प्रायः कक्षाग्रन्थियां विशेष बढ़ जाती हैं।

तृतीयावस्था—

अर्बुद मे क्षत होकर रक्त स्राव होना प्रारंभ हो जाता है, इसके बाद पूय व लसी का तथा अर्बुद कोषिकाओं का स्राव होने लगता है। इसके साथ ही स्तन के मांसकाक्षय होना प्रारम्भ होता है। मांसक्षय होने से ऊपर की चर्म संकुचित हो भीतर की ओर प्रविष्ट हो जाती है। रुग्णा अत्यधिक दुर्बल होती रहती है।

गर्भाशय अर्बुद—

इन्हें २ भागों में विभक्त किये जा सकते है :

(क) गर्भाशय गात्र की कला से उत्पन्न होने वाला,

(ख) गर्भाशय ग्रीवा के योनिगत भाग के आवरण से उत्पन्न—

एक ही अवयव में पैदा होने वाले इन दोनों में अंतर होता है। गर्भाशय ग्रीवा का अर्बुद बहु प्रजाता में होता है कुमारियों में नहीं, निष्कर्ष यह भी हो सकता है कि बहुप्रसव भी ग्रीवार्बुद का एक कारण है। तथा यह ४५ से ५५ वर्ष की स्त्रियों में ही देखा जाता है। और यह दो स्थानों मे प्रायः संभव होता है। (१) ग्रीवा की श्लैष्मिक कला से (२) ग्रीवा के योनिगत भाव के शल्कीय अपिस्तर (Squamous Epithelium) से, इसमें पहिले को अंतःग्रैवेयक Endceruical तथा दूसरे प्रकार को अपिस्तरीय Epitheliomata कहते है।

(१) अन्तःग्रैवेक ५ से ७ प्रतिशत रोगियो में उपलब्ध होता है।

(२) अपिस्तरीय ३ प्रकार का है। (१) फूलगोभी के समान रचना वाले (Gauli flower like) (२) गुफा के समान आकार वाले Excuualing ulcer (३) चिपटे उभरे व्रण सदृश कठिन आकृति वाले Raised flat induration–इनमें पहिले लाला वर्ण के होते हैं तथा उनसे रक्त स्राव अधिक होता है। यदि संक्रमण हो कर कोथ हो जाय तो दुर्गन्धित पूय मिश्रित रक्त का स्राव होता है। दूसरे प्रकार में इतना अधिक स्राव नहीं होता तरन्तु रक्तरंजित स्राव होता है।

(१) **इनके प्रसार के कारण**—अतिनिकट के अवयवों में बढता हुआ समीपस्थ अंगों को आक्रान्त कर लेता है।

(२) **लसीका बाहिनी**—अर्बुद के अणु लसीका वाहिनियों द्वारा स्रवित हो अर्बुद पैदा कर देते हैं।

(३) **वपन**—गर्भाशय निष्कासन शस्त्र क्रिया के बाद योनि के ऊर्ध्व भाग में अर्बुद होने के दृष्टान्त मिलते हैं।

गर्भाशय ग्रीवार्बुद के लक्षण—

इनमे मुख्यतया ४ बातें देखने को मिलती हैं। रक्त स्राव, दुर्गन्धित स्राव, अस्वस्थता, तथा वेदना।

(१) **रक्तस्राव**—प्रारंभ में अनियमित रक्तस्राव होता रहता है तथा ऋतुकाल में अति आर्तव प्रवृत्ति होती है। आर्तवनाश के बाद अर्थात् ४५ से ५० वर्ष की आयु के बाद गर्भाशय से रक्तस्राव होना अर्बुद की कोशिकाओं के विकास को प्रकट करता है।

(२) **दुर्गन्धित स्राव**—इसमें विशेष प्रकार की सड़न की गन्ध रहती है जो कि सुश्रुत ने रजोदोष को मूत्रपुरोष गन्धी या पूतिपूयनिम कही है।

(३) **अस्वस्थता**—रोग वृद्धि के साथ २ रक्ताल्पता पाण्डुता अग्निमांद्यता, मूत्रविषमयता आदि लक्षणों की बढोत होती जाती है।

(४) **वेदना**—अर्बुद के परिचायक लक्षणों में मन्दरुजा बताई गई है परन्तु अर्बुद से जब उस प्रदेश में रहने वाले वातसूत्र प्रभावित हो जाते हैं तो वेदना तथा योनिकण्डू आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

स्पर्श परीक्षा से स्पर्श करने पर रक्तस्राव बढ़ जाता है तथा रुग्ण प्रदेश की शीर्णता होने लगती है। तथा प्राकृत अवस्था में गर्भाशय ग्रीवा चल होती है किन्तु अर्बुद की स्थिति में काठिन्य (अश्मोपम) तथा स्थिर लक्षण होने से अचल हो जाती है।

गर्भाशय गात्र का अर्बुद—

गर्भाशय गात्र का अर्बुद प्रायः ५० से ६५ वर्ष की अवस्था के मध्य देखा जाता

है, तथा अधिकतर उन स्त्रियों में यह रोग मिलता है जिन्होंने कभी गर्भ धारण नहीं किया। प्रारम्भ मे गर्भाशय की आभ्यन्तर कला में स्थौल्य होकर ग्रंथि के रूप में पैदा होता है, फिर इसकी वृद्धि के साथ २ कला में क्षत होकर व्रण का रूप बन जाता है। व्रण वृद्धि के अनुसार गर्भाशय का आकार बढ़ता जाता है। तथा इसी के उपद्रवस्वरूप डिम्ब ग्रन्थियों मे, फुफ्फुस कला मे यकृत् में गर्भाशय ग्रीवा में अर्बुद उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण—

आर्तव नाश के बाद पुन: आर्तक की प्रवृत्ति इसका मुख्य लक्षण है। प्रारम्भ में यह स्राव तनु तथा अल्प होता है कि रोगवृद्धि के साथ २ यह स्राव अधिक होने लगता है जिससे रुग्ण मे रक्ताल्पता आदि उपरोक्त लक्षण बढ़ते रहते हैं।

फुफ्फुस और श्वास प्रणालीका अर्बुद—

इसके कारण धूल, धूआं तथा गैसों से हुए क्षोभ से होते हैं। तथा यह उपद्रव रूप मे भी हो जाता है। यह प्राय: प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था तक हो सकता है।

लक्षण—उरोरुक्, कफ में रक्त का आना, कास तथा श्वास में कठिनाई होती है, रोगी दिनप्रतिदिन क्षीण होता जाता है, कफ परीक्षा से अर्बुद कोषाणुओं की उपस्थिति मिलती है।

यकृत् अर्बुद

यह उपद्रव रूप में तथा रोग रूप में मिलता है। यह गौर वर्ण वालों की अपेक्षा कृष्णवर्णीय पुरुषो मे अधिक मिलता है।

लक्षण—यकृत् दांई ओर पसलियों के नीचे बढ़ने लगता है, मन्दज्वर रहता है, तथा इसके साथ प्राय: जलोदर भी हो जाता है। तथा स्पर्श से पीड़ा प्रतीत होती है। बड़ी आयु में बिना कारण से यकृत् बढ़ जाने पर इसकी संभावना करनी चाहिये।

पौरुष ग्रथिका अर्बुद—

यह प्राय: वृद्धावस्था में होता है। मूत्राशय से प्रारंभ होने वाली मूत्र प्रणाली के प्रारंभिक १ इच भाग में ग्रन्थि होती है जिसे पौरुष ग्रंथि कहते हैं।

इस ग्रन्थि की वृद्धि को अष्ठीला कहते हैं। इस ग्रंथि के बढ़ने पर उत्पन्न हुए मूत्राघात में २० प्रतिशत इसके अर्बुद के कारण मूत्राघात होता है। यह प्राय: कठोर अर्बुद है।

लक्षण—प्रारंभ मे मूत्राघात इसके बाद मूत्रारक्तता, अशक्ति बनी रहती है। शनै: शुक्रप्रपा तथा गवीनियों को घेर कर मूत्र प्रणाली नष्ट कर देता है। गुदा में अंगुली डाल कर परीक्षा करने पर अष्ठीला के समान ग्रंथि प्रतीत होती है।

अस्थि अर्बुद

यह प्रायः जवानी में होते हैं। प्रायः लम्बी अस्थियों के सिरे प्रभावित होते हैं। प्रारम्भ में एक बड़ा स्थिर उभार (अश्मोपमम्, अप्रचाल्यम्) होता है जिसके ऊपर की शिराऐं फैली हुई दिखाई देती हैं। शनैः शनैः फट कर व्रण का रूप धारण कर लेता है।

अर्बुद की घातकता

साव्येष्वपीमानितु वर्जयेतु सम्प्रस्तुतं मर्मणियच्च जातं स्रोतस्सु व।
यच्चाभवेदचाल्यम् यद्दिरर्बुदंच्च भवेदसाध्यम्। सु. नि. ११-१६-२०

जिन अर्बुदों का स्राव होता हो तथा मर्म प्रदेश वा स्रोत में हो तथा जिसे चलाया नहीं जा सकता हो अथवा जिस अर्बुद से उपद्रव रूप में दूसरा अर्बुद हो गया हो तो असाध्य समझें। आधुनिक दृष्टिकोण से अर्बुद का अध्ययन (१) सूक्ष्म तन्तु रचना विज्ञान, तथा (२) कोशाविज्ञान से निश्चय किया जाता है।

इन्हीं उपरोक्त दोनों दृष्टियों से घातक अर्बुद की विशेषताओं का वर्णन किया जाता है। जिसके अन्तः सरण पुनर्भवन, आशुवृद्धि, न्यष्टि सम्बन्धी, अधोभूति ध्रुवत्वहानि दूर प्रसार आदि विभाग किये जाते हैं।

(१) अंत सरण Infiltration घातक अर्बुद का प्रसार कर्कट के पंजे की तरह समीपवर्ती तन्तुओं में फैलता है। इसके फैलने को रोकने वाला कोई आवरण इस पर नहीं होता।

(२) पुनर्भवन Recurrence फिर हो जाना। अर्बुदों में शस्त्रक्रिया के बाद भी फिर हो जाने की स्थिति हो जाती है।

शशेषदोषाणि हियोऽर्बुदानि करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति।

(३) आशुवृद्धि Rapid growth अर्बुद का शीघ्र प्रसार इसकी घातकता बताती है। कारण कि अर्बुद कोशाणुओं की बढ़ौत अतिशीघ्र हो रही है।

(४) न्यष्टि सम्बन्धी परिवर्तन Nuclear changes—अर्बुद कोशाणुओं की न्यष्टि की बढ़ौत हो जाती है जिससे इनकी उत्पादन क्रिया में बढ़ौत हो जाती है तथा कोशाम्बु की न्यूनता इससे कोशाणु क्रिया का लोप होता जाता है।

(५) अधोभूति Anaplasia निम्न कोटिका तन्तु बनना जितना निम्न कोटिका तन्तु होगा उतनी ही अधिक घातकता समझनी चाहिये।

(६) ध्रुवत्वहीनता Loss of Polarity कोषाणु अपने तन्तुओं में निश्चित स्थिति से रहते हैं, इन स्थितियों में परिवर्तन जिन अर्बुदों में हो जाय तो घातक समझें।

(७) दूरग प्रसार—लसी वाहिनियां द्वारा दूर २ प्रदेश में प्रसार हो जाना इत्यादि लक्षण घातकता को प्रदर्शित करते हैं। अब साधारण व घातक अर्बुद के बारे में लिखा जाता है।

साधारण	घातक
१. ये चिर वृद्धि होने से इसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु का कंचुक बन जाता है।	१. आशु वृद्धि होने से आवरण नहीं बन पाता।
२. कंचुक के कारण वृत्तं व स्थिरम् पिण्डाकार होता है।	२. अनिश्चित आकार तथा प्रसार केकड़े के पंजों के समान परवर्ती तन्तुओं में फैला रहता है।
३. कंचुक द्वारा मर्यादित होने से निःशेष अर्बुद को निकाल दिया जा सकता है।	३. संपूर्णतया छेदन नहीं हो पाता अतः पुनर्भवन हो जाता है।
४. अर्बुद वृद्धि की प्रक्रिया मन्द होती है।	४. वृद्धि प्रक्रिया शीघ्रतर होती है।
५. पाक नहीं होता।	५. कभी कभी पाकोत्पत्ति हो जाती हैं।
६. एक ही अर्बुद रहता है।	६. प्रसार अत्यधिक तथा अध्यर्बुद की उत्पत्ति।
७. वृद्धि या प्रसार गुब्बारे की तरह होता है।	७. केकड़े के पंजे की तरह दूरवर्ती तन्तुओं में होता है।
८. व्रण नही होता है।	८. क्षत होते हैं।
९. मन्दरुजम् होती है।	९. पूयोत्पत्ति के समय वेदना होती है।
१०. रक्तस्राव प्रायः नही होता।	१०. अत्यधिक रक्त स्राव होता है।
११. रोगी को पाण्डु नहीं होता।	११. रक्त क्षयोपद्रव पीड़ित त्वाल्पाडु र्भवेदर्बुद पीड़ितस्तु।
१२. सूक्ष्मा रचना मे परिवर्तन होती है।	१२. सूक्ष्म रचना अधोभूति की होती हैं।
१३. अघातक।	१३. घातक।
१४. साध्य।	१४. असाध्य।

कर्कटार्बुद के लिये आधुनिकों ने पीछे प्रारंभ होने वाले ३ विशेषण दिये हैं।

(१) प्रोलीफरेरिव (२) प्रोग्रेसिव, तथा (३) पर्सिस्टेन्ट प्रोलीफरेटिव का अर्थ है कि अधोभूति के तन्तुओं का निर्माण होना—इनका आगमन कहीं बाहर से नही होता अपितु निज तथा आगन्तु कारणों से देहस्थ धातु का या अवयव के घटक कोषों का ही रूपान्तर होकर अर्बुद के कोषों के रूप म परिणमन हो जाता है। जिनमे यह विशेषता होती हे कि अपारवेग से संख्या वृद्धि होकर उस प्रदेश के मूल कोषों को खाते जाते हैं इससे उस प्रदेश की आकृति तथा कार्यों का उत्तरोत्तर क्षय होता जाता है।

(२) प्रोग्रेसिव—का अर्थ है विकासशील—इस उपरोक्त बताई गई प्रक्रिया में विकास होता जाता है—अर्थात् अभी वैज्ञानिक जगत् मे यही निर्णीत है कि रोगज विकृति एक

बार भी लुप्त हो जाय तो इस रोग की निर्णायकता ठीक नहीं हुई है। अभिप्राय यह कि संप्राप्ति का निर्माण हो जाने के बाद यह रोगी के जीवन का साथी रहती ही है।

(३) पार्सिटेंट—जिसका अभिप्राय है स्थिरल क्षण जो लक्षण एक बार हो जाते हैं वे स्थिर रहते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचनों से इसकी सुदृढ़मूलता का परिचय होता है, इस रोग का प्रादुर्भाव स्त्रियों या पुरुष में किसी भी अवयव में हो सकता है परन्तु फिर भी प्रतिशत के विशेष उपलब्ध होते हैं। स्त्रियों में गर्भाशय तथा स्तन के अर्बुद से विशेष उपलब्ध होते हैं। यदि महिलाओं में रक्तवर्णा तथा दुर्गन्धयुक्त रक्त रूप स्राव निरन्तर रहे तो इस रोग की संभावना की जा सकती है खास करके प्रौढ़वय में रजोनिवृत्ति के बाद मासिक चालू होने की स्थिति बनती हैं तो इस रोग की संभावना विशेषतया करनी चाहिये।

यदि स्तन में छोटी छोटी अस्वाभाविक कठिन ग्रन्थियें हों तथा चूचुक से अप्राकृत स्राव होता हो तो स्तनार्बुद की आशंका की जानी चाहिये।

पुरुषों में अन्नप्रणाली, श्वासप्रणाली, व गलार्बुद विशेषतया देखे जाते हैं। यदि प्रौढ़वय में क्षुधानाश, अरुचि, अपचन, आदि लक्षण हों तो इस रोग के आम पक्वाशय में होने की संभावना करनी चाहिये। अन्नपान के निगिरण में छाती पर अवरोध होना अन्न प्रणाली के अर्बुद की प्रतीति कराता है। तथा शनैः २ द्रवप्रायः आहार ही लिया जाना शक्य बन रहा है इसकी संभावना बढ़ जाती है।

इसी प्रकार स्वर भेद बराबर रहता हो तो अर्बुद की ओर ध्यान करना चिकित्सक कर्त्तव्य हो जाता है।

पोषण संस्थान के ऊर्ध्व अंश में अर्बुद होने पर अर्बुद का स्राव कफष्ठीवन के द्वारा प्रचुर रूप में होता है साथ ही अर्बुद के दोषों ने जहां भी स्थान संश्रय किया है उस प्रदेश मे निरन्तर वृद्धि व कठिनता होती जाती है तथा उत्तर गुद या अधर गुद में होने से मलावरोध तथा गुदाद्वारा पिच्छिल दुर्गन्धयुक्त स्राव होता रहता है।

त्वचा पर स्थित तिल या व्रण अपनी आकृति को बदलने लगे तो इसकी संभावना की जा सकती है।

नाभेरुपरिजाः पक्वाः यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः।
जीवत्यधो निः स्रुतेषु स्रुतेपूर्ध्वे न जीवति।

रूप

चित्र में बताये गये के अनुसार इसके ३ भेद होते हैं। कार्सिनोमा, सारकोमा, एन्डोथीलि ओमा।

(१) कार्सिनोमा

इसके मुख्य कारण नाजुक प्रकृति वाले व्यक्तियों में चाय, कॉफी, गरम मसाले, मद्य

आदि का अधिक प्रयोग भी हो सकता है, जिनसे शरीरस्थ शल्काम Squamous या स्तम्भाकार Columnar कोशिकाओं मे इसकी प्रक्रिया बनती है। पह प्रायः ४० से ६० वर्ष की आयु के होती है। तथा लसी का वाहिनियों द्वारा इसका दूर २ के अनुसार इसके ३ भेद होते हैं।

(क) ग्रन्थीय Glandular यह बहिः स्रावी स्तंभाकृति कोशिकाओं से उत्पन्न होने वाला अर्बुद उन २ सभी अवयवो में उत्पन्न हो सकता है जिनमें कि स्राव पैदा होता है जैसे स्तन, गर्भाशय, अन्नप्रणाली, गुर्दे, पित्ताशय, ग्रैवेयक आदि में।

(ख) शल्काभ Squamous.

इसका कारण निरंतर क्षोभ का होना है जैसे शिश्न की अग्रत्वचा के अधिक लम्बी होने पर मूत्र का कुछ अंश रुका रहता है इससे मूत्रेन्द्रिय का अर्बुद पैदा हो जाता है जिन जातियों में खतना का रिवाज है उनमें यह रोग नहीं मिलता है, यह प्रायः शल्काभ अकारण से पैदा होता है।

(ग) आधार कोषाणुजन्य Bagal Celled, इस अर्बुद की आकृति चूहे से कतरे हुए व्रण के समान हो जाती है, यह चेहरे के ऊपर के दो तिहाई भाग में मिलता है, यह भी प्रायः ४० वर्ष से ऊपर की आयु में होता है, और प्रायः आँखों के अन्दर या बाहर के सिरे के समीप से शुरू होता है। प्रारम्भ में एक दाना होता है जो कि फट कर व्रण का रूप ले लेता है, इसका नाम कृन्तक व्रण भी दिया जा सकता है।

(२) सार कोमा

यह योजक तन्तु Connective tissue में पैदा होता है। और १० से २० वर्ष को आयु मे मिलता है। इसकी वृद्धि बडी शीघ्रगति से होती है तथा रक्त संवहन द्वारा शरीर के दूसरे भागों में पहुँच कर नए २ अर्बुद पैदा हो जाते हैं जैसे अस्थियों में, मांसावरण में, गर्भाशय मे। कई बार लसी का ग्रन्थियों मे भी पैदा हो जाता है, इनकी कोशिकाएँ गोल या तकुए के आकार की होती हैं। इसकी उत्पत्ति त्वग्सवर्णी मस्सों मे या दृष्टिपटल में हो तो इसे घातक रंगार्बुद कहते हैं।

(३) एन्डोथीलि ओमा—

धात्वाशयान्तर्मर्यादा कला के लक्षणानुसार इसकी उत्पत्ति लसीका वाहिनियां की भीतरी दीवार तथा सीरम में उत्पन्न होता है, या फुफ्फुसावरण, उदरच्छदा तथा मस्तिष्कावरण में इस प्रकार के अर्बुद देखे जा सकते हैं।

अर्बुद के असाध्य लक्षण

संप्रस्रुतं मर्मणियच्च जातं स्रोतः सुवायच्च भवेद चाल्यम्।
यन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदतच्च भवेदसाध्याम्।

जिन अर्बुदों में से स्राव होने लग जाय अथवा जिनकी उत्पत्ति स्रोतों में या मर्म प्रदेश में हुई है तथा द्विदोषज हैं या जिस अर्बुद का उपद्रव रूप में अध्यबुंद होगा या हो तो असाध्य समझें।

पीछे यह बता दिया गया है कि केन्सर असाध्य रोग है। और केन्सर का विनिश्चय प्रत्यक्षतया बायोप्सी द्वारा किया जाता है तथा आयुर्वेद की दृष्टि से ये रोग जिनके लक्षणों की भी संभावना हो सकती है।

मेदोजस्वर भेद का कठ के केन्सर के साथ तथा पाषाण कठिन ग्रंथि का लिम्फेटिक ग्लेड्स के केन्सर के साथ तथा रजोविकृति में बताये गये मूत्रपुरीष गंधी आर्तव, पूतिपूयनिभ आर्तव, का गर्भाशय केन्सर के साथ वाताष्ठीला का प्रोस्टेट के केन्सर के साथ संभावना प्रदर्शित की है।

आचार्यों ने "नास्त्यलाभ्यान्प्रति सास्म चिन्ता,
अर्थं विद्यायशोहानिमुप क्रोशम संग्रहम्,
प्राप्नुयान्नियतं वैद्योयोऽसाध्यान्समुपाचरेत्।

कह कर असाध्य रोगियों की चिकित्सा न करने की अपनी सम्मति प्रदर्शित की है।

इस अर्बुद में मेरी गुरुपरम्परा से चिकित्सा की जा रही है। चिकित्सा अर्बुद की स्थिति में ही हो सकती है, अर्थात् जिन अर्बुदों से स्राव नहीं हो रहा है तथा जिन पर किसी भी प्रकार की शस्त्रक्रिया तथा गम्भीर क्षकिरण न दी गई हो उस प्रारम्भिक स्थिति में इस रोग पर "अर्बुदारि वटी" जो एस. जे. ए. फार्मेस्युटिकल वर्क्स, जोधपुर द्वारा निर्मित है इसका प्रयोग अर्बुद के वात, पित्त, कफ, रक्त इन अर्बुदों के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न क्वाथों के अनुपान से अर्बुदारि वटी का सेवन कराया जाता है जिससे हमें पूर्ण सफलता मिली है। अनुपान के क्वाथ निम्न हैं।

वातार्बुद में अनुपान के क्वाथ्य द्रव्य—

पुनर्नवा शठी रास्ना हवुषा शतपदी शिवा।
निर्गुण्डी अश्वगधाच कट् फलामलकी निशा।

पित्तार्बुद में क्वाथ्य द्रव्य—

श्रीखण्ड मुस्तकं मांसी पर्पटस्सारिवा शिवा।
धान्यकोशीर धात्रीच कृतमालस्य पुष्पकम्।

श्लेष्मार्बुद में क्वाथ्य द्रव्य—

भार्गी कर्कट शृंगीच गोजिह्वा भेषजं कणा।
चाम्पेय मधुयष्टीच लाक्षा मुस्तक वासकम।

रक्तस्रावी अर्बुद में

मधुपुष्प मृगेन्द्राणी मुस्ता मांसी चसारिवा
समंगामल की भिक्षु मुशीर रक्त चन्दनम्।

चरित्रनायक के प्रति असिम भक्तियुत

सौम्यमूर्ति श्री दौलतरामजी चतुर्वेदी
निदेशक-आयुर्वेद विभाग राजस्थान अजमेर
लेख पृष्ठ संख्या ६९८ पर

चरित्रनायक के साहित्यिक वन्धुवर
चरक के प्रतिसंस्कर्ता

पं० सत्यनारायण शास्त्री
वाराणसी

चरित्रनायक के भावुक भक्त

बाबू ईश्वरचन्द्र घोषाल
संयुक्त व्यवस्थापक
श्री उदयाभिन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ जोधपुर

चरित्रनायक के कर्मनिष्ठ भक्त
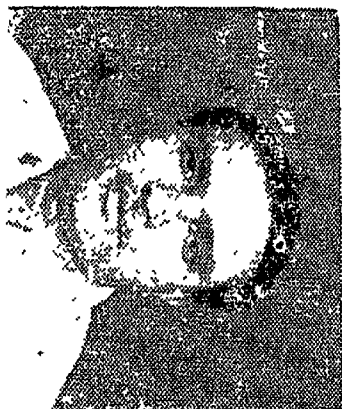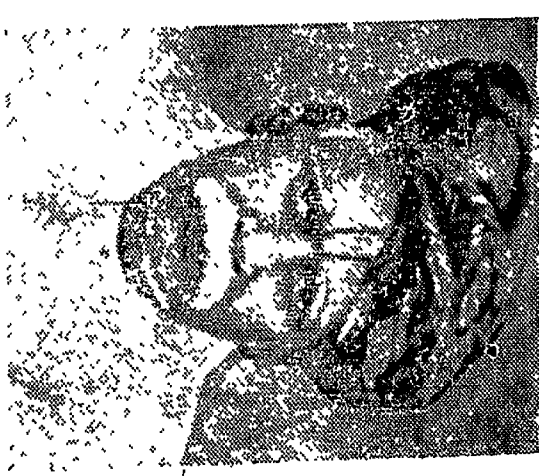
श्री दौलतराम चौधरी
कार्यवाहक-अध्यक्ष
श्री उदयाभिन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ जोधपुर

चरित्रनायक के विश्वासु

चिकित्सक रत्न
स्वर्गीय वैद्य गोविन्दचन्द्रजी
(धोकलजी)
व्यवस्थापक सरदार औषधालय
जोधपुर

चरित्रनायक के प्रति गुरुवद् भक्ति रखने वाले

स्वर्गीय वैद्य श्री खूबचन्द्र शर्मा जोधपुर

चरित्रनायक के साथ जोधपुर नरेश

२१ वे आयुर्वेद महासम्मेलन जोधपुर प्रदर्शनी का निरीक्षण करते हुए।

चरित्रनायक के प्रति श्रद्धावान
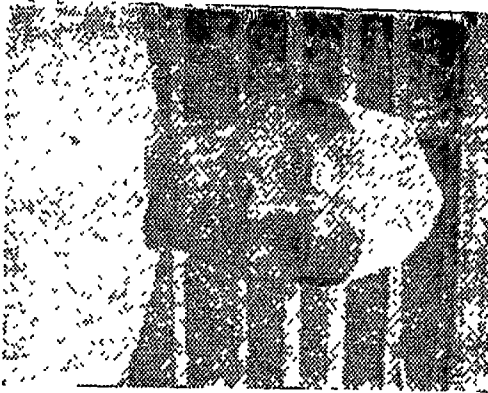
वैद्य रामनारायण शर्मा
आयुर्वेदाचार्य
वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन झांसी

चरित्रनायक के सहचर

आयुर्वेद मार्त्तण्ड
श्री मणिरामजी महाराज
श्री धन्वन्तरि मंदिर
रतनगढ

अध्यक्ष, आयुर्वेद संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय
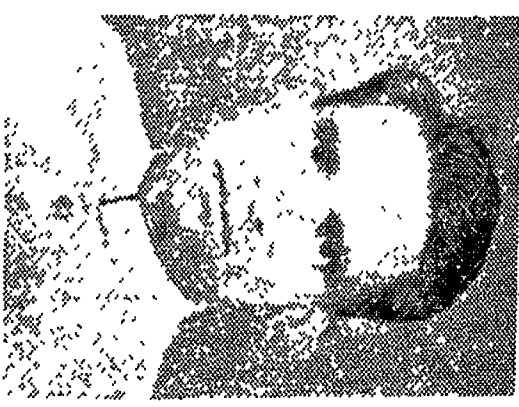
श्री प्रभुदत्त शास्त्री
प्राचार्य-राजकीय-आयुर्वेद
महाविद्यालय उदयपुर

आपका लेख पृष्ट सं० २९६
पर है।

चरित्रनायक के परम श्रद्धालु श्रावक
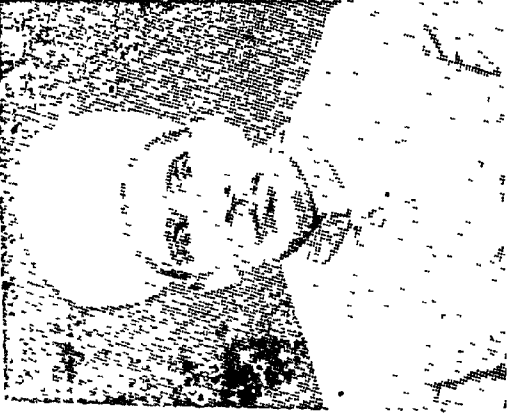
श्रेष्टीवर्य गुमानमलजी पारख
(तिवरी वाले)
कोषाध्यक्ष
श्री उदयाभिनन्दन
हीरक जयन्ती ग्रन्थ

चरित्रनायक के प्रति अनन्त आस्थावान

वैद्यराज ऋषिदेव सोलंकी
भिषगाचार्य
लेख पृष्ठ ३२१ पर

चरित्रनायक के सुहृद्वर
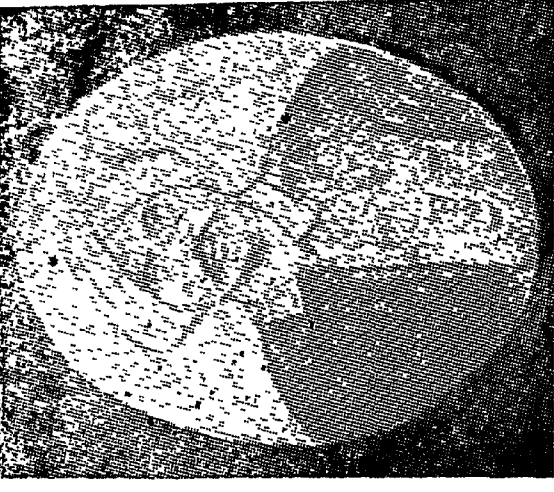
प्राणाचार्य श्री गोवर्धन शर्मा
छांगाणी, विद्यावाचस्पति
आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, नागपुर

श्री उदयाभिनन्दन–हीरक जयन्ती ग्रन्थ

खण्ड ३

आतुर परिचर्या

ले०—वैद्य देवीदत्त व्यास, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य
प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद धात्री-कल्पद प्रशिक्षण केन्द्र, जोधपुर

[वैद्य श्री देवीदत्तजी, आयुर्वेदाचार्य, ग्राम बुडकिया निवासी पण्डित श्री रामवल्लभजी के सुपुत्र है। आपने वाद विवाद प्रतियोगिता में स्वर्ण-पदक प्राप्त किया है एवं भारत के प्रमुख विद्वान् पण्डित प्रेमशंकरजी, भिषगाचार्य (सचालक, आयुर्वेद विभाग) के प्रमुख शिष्य रहे है। सन् १९४३ से ही आपने चिकित्सा-सेवा में निरंतर सलग्न रहने का व्रत ले लिया था और अनवरत सेवा-भावी रहते चले आ रहे है। चिकित्सा-सेवा एक ऐसा दुरूह कार्य है जो मनुष्यता का लेश मात्र अभाव होने पर चिकित्सक ही नाम के साथ जुडा रह जाता है। श्री देवीदत्तजी के हृदय में ऐसी निर्बलता लेश मात्र भी नहीं है। आप आयुर्वेद विभाग, जोधपुर, में निरीक्षक एवं आयुर्वेद चिकित्सालय, जोधपुर, में प्रधान चिकित्सक रह चुके है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ में भी आपका सक्रिय सहयोग निरंतर रहा है और रहता चल रहा है।

वैद्य बाबूलाल जोशी
सम्पादक]
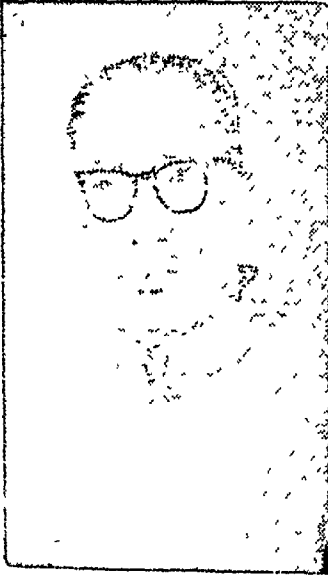
आतुरपरिचर्या धन कमाने का व्यवसाय नहीं अपितु सेवा का मार्ग है जिसकी समानता ईश्वर पूजा से हो सकती है—जैसे पूजा या प्रार्थना से मन को शान्ति मिलती है एव ईश्वर भी प्रसन्न होता है। तद्वत् रुग्ण व्यक्ति जो कि असहाय हो चुका होता है ऐसे पीड़ित एवं दुखी मानव की सेवा से परमात्मा की प्रसन्नता के साथ मन को शान्ति प्राप्त होती है। अत: इसे अर्थोपार्जन का व्यवसाय न मान कर मुख्यतया सेवा को ध्यान में रखते हुए कार्य करे। कस्तेन न कृतो धर्म: कांच पूजां न सोऽर्हति।

परिचारक के गुण—

अनुरक्त: शुचिर्दक्ष: बुद्धिमान् परिचारक:।

रोगी की ऐसी सेवा की जावे कि उसे अपने परिवार वालों का अभाव न खले अर्थात् वह अपने घर से आतुरालय को अधिक सुख-सुविधा-युक्त अनुभव करे। पवित्रता

के साथ समय-समय पर वेग त्याग की व्यवस्थाओं का सम्पादन कराए। शस्त्र-क्रिया के बाद समय समय पर बन्धन व औषधि की व्यवस्था करना याद रखे। रोगी का तापमान नाडी-गति, श्वास संख्या, मलमूत्र त्यागने की संख्या, रक्तभार आदि को निश्चित समय पर अंकित रखे। अपने से उच्च अधिकारियों का सम्मान करे व अनुशासन में रहता हुआ आज्ञा का पालन करे। हमेशा मधुरभाषी हो। रोगी को रोग के अतिरिक्त सभी प्रकार की मानसिक एवं शारीरिक प्रसन्नता रहे यही परिचर्या का गुण है।

अच्छी परिचर्या के लिए आवश्यक चार गुण—

(१) रोगी और असमर्थ की परिचर्या में प्रीति (घृणा-अभाव)
(२) दृढ़ शरीर सपत्ति (रोगी को उठाना, पकड़ कर रखना)
(३) समान वृत्ति (जाति देशादि के भेदाभाव का न होना)
(४) सोत्साह श्रम (अपने कर्त्तव्य मे आलस्य को न आने देना। जैसे औषधि पिलाने, भोजन देने, मलमूत्रादि को तत्काल व्यवस्था आवश्यक होती है।)

परिचर्या का इतिहास—

रोगाक्रान्त व्यक्ति अपने दैनिक कार्यो को करने मे असमर्थ हो जाने से असहाय हो जाता है। इस असहायावस्था में सहायक होना ही परिचर्या है, अभिप्राय यह है कि परिचर्या का इतिहास भी रोग के साथ प्रारम्भ होता है। आयुर्वेद शास्त्र के रचयिताओं ने चिकित्सा को चार भागों में बता कर उसमें एक पाद परिचर्या के लिए उद्घोषित किया। इससे सिद्ध होता है कि अनादिकाल से यह प्रचलित रही है। इतिहासकार इसे दस कालों में विभक्त करते हैं।

(१) आयुर्वेदकाल — जो पाँच हजार से अधिक पुराना है।
(२) हीपोक्रीटीसकाल — यूनान में हीपोक्रीटीस का समय।
(३) ईसामसीह — जिसे लगभग दो हजार वर्ष का कहें।
(४) सेन्ट जोन्स — १२ वी शताब्दी 'सेन्ट जोन्स एम्बूलेसन एसोसिएशन' सस्था कार्य करती है।
(५) आगेन्स्टाईनीयन — १७ वी शताब्दी में फ्रांस मे हुई।
(६) सेन्ट बिसेन्ट — परिचर्या के साथ रोगियों को शिक्षा दी जाने लगी।
(७) सिस्टर्स एसोशिएशन— १९ वी शताब्दी में इग्लैंड में।
(८) फ्लोरेन्सनाइटेंगल — युद्ध-स्थलों मे घायल व असहाय रोगियों की सेवा।
(९) ब्रिटिश नर्सेज एसोसिएशन — इसकी स्थापना फेनाविकी ने की।
(१०) बोम्बे नर्सेज मिडवाइफ्स एन्ड हेल्थ विजिटर्स कौंसिल — इस संस्था ने परिचारिका रजिस्टर रखना, अभ्यास कर्म निश्चित करना, परीक्षाये आदि कार्य किया है।

ये उपरोक्त एलोपैथिक चिकित्सालयों से संबंध हैं तथा समय समय पर इनमें विकास होता रहा है। मध्ययुग में आयुर्वेद विज्ञान का राज्याश्रय न होने से यह विज्ञान चिकित्सकों तक ही सीमित रहा, अब जब कि राज्याश्रय होने लगा तो इसकी महत्ता के साथ बताया जाने लगा है।

परिचर्या का शिक्षण

परिचर्या की शिक्षा के प्रारंभ की आयु लगभग बीस वर्ष की होनी चाहिए, क्योंकि युवावस्था सुदृढतम स्वास्थ्य ही श्रमशील हो सकता है तथा शरीर-संपत्ति को और योग्य-तम बनाने के लिए व्यायाम तथा खेलकूद मे सुरुचि उत्पन्न की जावे।

परिचर्या के शिक्षण के प्रारंभ में शरीर-रचना शरीर-क्रिया तथा प्रथमोचार बताए जांय। परिचारक अपनी जीवनयात्रा को साधारण सुख से यापन कर सकता है किन्तु श्रीमन्त नहीं बन सकता, अतः इसका व्रत लने के लिए इस धर्म को हृदयपूर्वक पालन करने का व्रत लेकर ही इस व्यवसाय में प्रवेश करना चाहिए। क्योंकि इसके व्रत में सहानुभूति के साथ मन तथा विचारों मे प्रगल्भता होनी चाहिए जिससे कि मानव स्वभाव का निरीक्षण किया जा सके।

शिक्षण संस्था—

परिचर्या की शिक्षण संस्था आतुरालय से सम्बन्धित रहनी चाहिए, क्योंकि इसमें प्रायोगिक ज्ञान अपेक्षित है तथा वह आतुरालय से ही प्राप्त हो सकता है। इस संस्था के शिक्षक आतुरालय के अधिकारी होने से शिक्षा देने का सोदाहरण कार्य किया जाता है तथा इन लोगो का निवास भी आतुरालय के समीप हो, जिससे कि शिक्षण के अतिरिक्त शील, नीति तथा स्वास्थ्य पर दृष्टि रखी जासके।

आतुरालय—

प्रायः गरीब जानता के लिये आतुरालय धर्मार्थ हों, तथा इनके अधिकारियों को भी चाहिये कि वे अवैतनिक अथवा अल्पवैतनिक हो। कभी २ ऐसे आतुरालयों में परिचारक भी अपनी सेवाएं स्वयं समर्पित करते है। ऐसे आतुरालयों मे स्वल्पव्यय से शिक्षण ले सकते हैं।

इस प्रकार की सस्थाओं को चलाने वाले मण्डल तथा उसमें अध्यक्ष व मंत्री तथा इनके अतिरिक्त सर्वाधिकारी चिकित्सा शास्त्र के निष्णात भी रहते हैं। आतुरालय मे परिचर्या का संपूर्ण दायित्व आर्या Metern पर निर्भर रहता है। आर्या के द्वारा ही रोगियों के निदान, चिकित्सा तथा शस्त्रक्रिया मे एक दूसरे चिकित्सको द्वारा सहयोग कराया जाता है। आर्या सर्वदा चिकित्सकों की आज्ञा को विना प्रतिरोध के पालन करती है। परिचारकों को भी सर्वदा आर्या के उदाहरण को निरंतर स्मरण रखना चाहिये।

सर्वाधिकारी चिकित्सक (आतुरालय प्रभारी)

शिक्षा के कार्य के साथ सब ओर देखभाल करना, आतुरालय के अन्य चिकित्सक, तथा आर्या, परिचारिका तथा नौकरों के कार्यविभाग की जाँच, व्यवस्था तथा छात्र-छात्राओं को सैद्धान्तिक व प्रायोगिक शिक्षण की व्यवस्था करते हैं।

आर्या—

आर्या शब्द अपने में उदात्त अर्थ रखता है, तथा इनके पास कार्य करने वाली भगिनियां तथा इनके सहायक परिचारिकाऐं व छात्राएँ, हैं। आर्या ही परिचारिका के कार्य विभाग को बाँटती है तथा उनके अवकाश, शिक्षण, भोजन व्यवस्था व आवासगृह की देखभाल रखती है।

परिचर्या की संस्थाओं के प्रकार—

(१) सहायक धात्री Assistant Midwife एक वर्ष का
(२) उच्च धात्री Midwife डेढ़ वर्ष का
(३) परिचारिका General Nursing तीन वर्ष का
(४) आरोग्य प्रचारिका Health Visitor एक वर्ष का

पाठ्य-क्रम के अनुसार ही इनका राज्य सेवा में वेतन क्रम रहता है।

परिचर्या की नीति—

परिचारक को चाहिये कि उसे अपने जीवन मे निम्न प्रतिज्ञाऐं शपथपूर्वक आचरण करनी होंगी।

(क) मैं व मेरा ज्ञान रोगियों के हित के लिए उपयोग करूँगा।
(ख) कोई भी विष किसी के भी द्वारा मांगने पर नहीं दूंगा।
(ग) गर्भपात का उपदेश नहीं दूगा। इसमें मदद नहीं करूँगा।
(घ) जिस परिवार में कार्य करूँगा उसमे रोगी के अतिरिक्त दूसरी ओर ध्यान नहीं दूंगा।
(ङ) रोगी के सम्बन्धी सारा रहस्य गुप्त रखूंगा।

परिचर्या के नियम—

उपरोक्त प्रतिज्ञाओं को पालन करते हुए निम्न नियमो का अनुशीलन करे।

(क) स्वास्थ्य रक्षा के लिये तन, मन, वचन से पवित्र रहे।
(ख) छात्रावस्था मे शिक्षा के साथ सद्गुण अर्जन करे।
(ग) दया, सहानुभूति, प्रसन्नमुख रहते हुए दूसरों के प्रति प्रीतिकर उचित व्यवहार करता रहे।

(घ) मधुरभाषी के साथ निश्चय वृत्ति हो।
(ङ) चिकित्सकों की आज्ञा-पालन करे।
(च) रोगी के रोग के बारे में पहिले आर्या से व आर्या की अनुपस्थिति में चिकित्सक से कहे।
(छ) प्रत्येक कार्यकलाप में योग्यता, श्रद्धा व निष्ठा रखे।
(ज) अपनी भूलों को स्वीकार करे व बताने वाले का स्वागत करे और निरन्तर ज्ञान वृद्धि का प्रयत्न करे।
(झ) सब से मित्रता का व्यवहार करे परन्तु कार्य के समय व्यर्थ विनोद से बचे।
(ञ) जाति, धर्म, धनवान आदि के भेदों को गौण समझते हुए परिचर्या को ही उत्तम माने।
(ट) शिक्षा, सगठन, सहिष्णुता तथा उत्साही रहे, परमुखापेक्षी न बने।

परिचर्या रोगी के घर पर करे तो याद रखने योग्य बातें—

(क) रोगी का कमरा स्वच्छ रखने की व्यवस्था करे।
(ख) स्वयं के लिये मिले स्थान को भी पूर्ण साफ रखे।
(ग) रोगी के नौकरों के साथ आदर के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करे।
(घ) कम खर्च में उत्तम व्यवस्था करने का प्रयत्न करे।
(ङ) आवश्यक होने पर रोगी के गृहकार्य में भी यथासाध्य मदद दे।
(च) रोगी तथा रोगी के घर में हुए दुःखो के प्रति विवेकपूर्वक कार्य करे।

परिचारक का गणवेश—

गणवेश साधारण कपड़े का हो जिस पर उस्तरी की जा सके। साथ हो अपने शरीर के समान हो। आस्तीन मोड़ने लायक हो, सिर पर सफेद रुमाल बंधा हुआ, सफेद मोजे तथा हर समय घड़ी, थरमामीटर, फाउन्टेनपेन व नोट बुक साथ रहे।

गणवेश की पवित्रता—

गणवेश सदा स्वच्छ रखे। कार्य करते हुए यह ध्यान रखे कि वह खराब न हो। परन्तु गणवेश के खराब होने के भय से कार्य मे शिथिलता न आने दे। केश-संवरण ठीक तथा सादगीपूर्वक हो। तीव्र सुगन्धित तैल आदि का प्रयोग न करे तथा जेवर न पहिने।

आतुरालय के अधिकारी—

मुख्यतया आतुरालय मे निम्न अधिकारी होते हैं :—१. प्रधान प्रभारी, २. आर्या (मेट्रन)।

प्रधान प्रभारी—आतुरालय में सर्वाधिकारी प्रधान चिकित्सक होता है। वह चिकित्सा सम्बन्धी कार्य की देखभाल अपने आधीनस्थ वैद्यों, परिचारक, परिचारिकाओं का कार्य-विभाजन तथा आतुरालय के कार्य का उत्तरदायित्व उस पर होता है।

आर्या (मेट्रन)—रोगियों की परिचर्या की देख-भाल, छात्र व छात्राओं के शिक्षण की व्यवस्था, आतुरालय में सफाई तथा दूसरे कार्य ठीक हो रहे हैं या नहीं, को देखना तथा कहीं-कहीं छात्रावास का प्रबन्ध भी करते हैं।

आतुरालय में व्यवहार—

शिक्षार्थी छात्र छात्राओं तथा परिचारक, परिचारकों को आर्या के आदेश के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। अतः सदैव आर्या के प्रति सम्मान की भावना रखे और उसकी आज्ञा को सम्यक् प्रकार से पालन करें। तथा सदैव अपनी भूल को स्वीकार करने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए क्योंकि भूल को छिपाने के लिए कई झूठ बोलने पड़ते हैं।

बहुत ही निकट के संबंधियों के अतिरिक्त छात्र व छात्राओं को कभी भी किसी युवा स्त्री पुरुष के साथ एकांत का वार्तालाप व विनोद न करें, न ही उनके घर जाएँ।

शिक्षण-संस्था में व्यवहार—

छात्र तथा छात्राएँ अपने निवासस्थान के कमरे को साफ रखें। शौचालय, स्नानघर आदि का प्रयोग स्वच्छता के साथ करें। इसी प्रकार कक्षा तथा छात्रावास को भी स्वच्छ रखें तथा शोर-गुल न करें। छात्रावास में निश्चित समय पर भोजन करें, समय पर बत्ती बुझावे। यदि छात्रावास की कोई वस्तु टूट-फूट जाय तो छात्रावास के अधिकारी को सूचित करें।

शिक्षण के उपाङ्ग—

शिक्षण के अतिरिक्त मनोरंजन के लिए खेल-कूद, वाद-विवाद, भाषण, कविता-लेखन आदि में रुचि रखें।

रोगी से सम्बन्ध—

सेवाभाव को लक्ष्य में रखते हुए सहानुभूति के साथ बहुत ही सावधानीपूर्वक रोगी की सेवा करनी चाहिये। आतुरालय में रोगी स्वयं को सुखी परिवार में रहता हुआ सा अनुभव करे। रोगी से मिलने के लिए आने वाले सम्बन्धियों के साथ अच्छा व प्रेमपूर्वक व्यवहार हो।

परिचर्या में सदाचार—

(१) अपने से वरिष्ट अधिकारियों के साथ आदरपूर्वक व्यवहार करें। उनके साथ बात करते हुए श्रीमान्, महोदय, सर आदि सम्मानित शब्दों का संबोधन करें।

(२) परिचर्या से सम्बन्धित अधिकारी वर्ग एवम् परिचर्या करने वालों को आर्या, वहिनजी आदि शब्दों से संबोधित करें।

(३) रोगियों को उनकी जाति अथवा पद के अनुसार पण्डितजी, ठाकुर साहिब, सेठ साहब, शर्मा साहब आदि शब्दों से सम्बोधित करें।

(४) प्रतिदिन प्रारम्भ में अपने अधिकारियों को तथा साथ कार्य करने वालों को अथवा पढने वालो को अभिवादन करें।

(५) अपने अधिकारियों को सेनापति तथा स्वयं को सिपाही समझकर उनकी आज्ञा पालन करें।

(६) चिकित्सक व आर्या के साथ आतुरालय में रहें।

(७) आतुरालय के नियमानुसार गणवेश रखें।

(८) आतुरालय में निश्चित समय के अतिरिक्त समय मे आतुरालय के अधिकारियों व कर्मचारियों के अतिरिक्त किसी को भी न आने देवें। न ही विवरणपत्रक देखने देवें।

(९) अधिकारियों की उपस्थिति में बैठें नही। यदि रोगी की व्यवस्था करना हो तो ठीक तरह से बैठ कर करें।

(१०) अधिकारी के आदेश को खड़े होकर शान्तिपूर्वक सुनना चाहिये। उत्तर देना आवश्यक होने पर नम्रतापूर्वक उत्तर दें।

(११) दूरभाष से बात करते समय धीरे-धीरे व सम्मानपूर्वक बोलें।

(१२) वरिष्ठ अधिकारी के साथ उसके पीछे चलें। यदि अधिकारी के लिए मार्ग नया हो तो दिखाने के लिए आगे चले। अधिकारी के साथ जोर-जोर से न बोलें तथा पैर बजाते हुए न चले, किवाड़ तथा खिड़कियां धीरे से खोले।

(१३) आतुरालय की कीर्ति शिष्टाचार पर निर्भर है अतः शिष्टाचार का आग्रहपूर्वक पालन करने का ध्यान रखें।

अच्छा आतुरालय—

अच्छे आतुरालय वे ही कहे जा सकते हैं जिन्हे कि वहाँ के अधिकारी, कर्मचारी, शिक्षार्थी अपना घर समझ कर कार्य करते है। शिक्षार्थी वहाँ के चिकित्सकों, उपचिकित्सकों को पूजनीय तथा धात्री एव कल्पद एक दूसरे को बहन भाई मानते हुए आतुरालय के रोगियो को अतिथि के समान आदर-सत्कार देते हैं।

शिक्षक वर्ग भी शिक्षार्थियो को पुत्रवत् समझते हैं। अभिप्राय यह है कि आतुरा-

लय के सभी व्यक्तियों का एक ही उद्देश्य तथा जयघोष हो कि रोगी-सेवा भगवत्सेवा है—तथा इसकी सम्यक् पूर्ति रोगियों के लिये स्वच्छ आवास रखना, उत्तम भोजन, वस्त्र शुद्धि तथा अच्छी से अच्छी औषधि का प्रबन्ध सुव्यवस्थित रूप से हो तो उन्हें अच्छे आतुरालय कहते हैं।

आतुरालय में कक्ष (वार्ड)

वार्ड मे रोगी के लिए सब प्रकार की सुविधा का प्रबन्ध रहता है—पास ही में स्नानघर, शौचघर, हाथ मुंह धोने का स्थान, चाय, दूध आदि का कमरा, बर्फ की पेटी, रोगियों से मिलने आने वाले व्यक्तियों के लिये बैठने का स्थान, प्रयोगशाला, औषधि तैयार करने का कमरा, भण्डार आदि होते हैं। साधारण काम करने के लिये वार्डबॉय, हरिजन आदि होते हैं।

सब से जरूरी कार्य है वार्ड की सफाई, अतः समय पड़ने पर सफाई के कार्य करने वाले कर्मचारियों की अनुपस्थिति में शिक्षार्थी तथा अन्य कर्मचारियों को वार्ड को अपना घर समझते हुए सब प्रकार के कार्य को करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये।

कार्य-विभाजन—

आतुरालय में रोगी-परिचर्या के लिये सभी प्रकार के कर्मचारियों का २४ घण्टे रहना ज़रूरी है तथा यह सम्भव नही कि सभी कर्मचारी बराबर २४ घण्टे रहे। इसलिये कर्मचारी कम होने पर १२-१२ घंटे और अधिक होने पर रात्रि को १२ घण्टे तथा दिन में कार्य ८ घण्टे लिया जावे। इस प्रकार इसे २ भागों में बांटा जाना चाहिये।

(१) **दिन पाली** २ **रात्रि पाली**

(१) **दिन पाली**—इसका समय प्रातः ८ बजे से सायं ८ बजे तक है।
इस अवधि मे उसे निम्न कार्य करने होते हैं।

(क) वार्ड में चिकित्सक के निरीक्षण करने के लिये आने से पहले झाड़ू दिलवाना, पुँछवाना, बिछौने ठीक कराना आदि सफाई व व्यवस्थासम्बन्धी कार्य पूरे हो जाने चाहिये।

(ख) रोगी के मांगने पर मलमूत्र के पात्र की व्यवस्था करवाना।

(ग) व्यवस्थापत्र मे लिखे अनुसार ठीक समय पर नास्ता, दूध, चाय, फल, भोजन औषधि आदि की व्यवस्था करना।

(घ) रोगी के लिये आवश्यक वायु, धूप और प्रकाश की उचित व्यवस्था का प्रबन्ध करना।

(ङ) धोबी को धोने के लिये दिये जाने वाले कपड़ों को नोट बुक मे लिखना

और धुल कर आने पर नोट बुक में लिखे अनुसार गणना कर आलमारी में रखना। गन्दे कपड़ों को अलग रखना। फटे कपड़ों को सम्बन्धित अधिकारियों से आज्ञा लेकर रद्द करवाना अथवा उनसे वार्ड में काम आने वाली वस्तुएँ बनाने की आज्ञा लेना।

(च) अपनी ड्यूटी पूरी हो जाने पर ड्यूटी पर आने वाले कर्मचारी को सभी चीजें संभलाना तथा आगे के काम के लिए भली प्रकार समझना होता है।

(२) रात्रिपाली

इसका समय सायं ८ बजे से प्रातः ८ बजे तक होता है।

(क) रात्रिपाली में सोना नहीं चाहिये। नींद लेना अपराध माना जाता है। यदि नीद आने लगे तो कोई ऐसा साधारण काम जैसे सुइटर बुनना, फूलपत्ती बनाना, पुस्तक, समाचार पत्र आदि पढ़े जा सकते है किन्तु इनमें भी इतना तल्लीन न हो जाय कि वार्ड की सुधि ही न रहे।

(ख) प्रत्येक रोगी के पास जाकर उसकी आवश्यकताओं की यथासंभव पूर्ति करना।

(ग) आवश्यकतानुसार नींद लाने वाली औषधि, गर्म पेय देना, रोगियों के ओढने के वस्त्र को ठीक करना आदि में ध्यान रखना चाहिये।

(घ) रात्रि को रोगियों के सो जाने पर कार्य कम रहता है अतः आतुरालय सम्बन्धी दूसरे कार्य जैसे रूई, गॉज आदि काटना, गोलिये बनाना आदि करें।

(घ) दिवस पाली में बताये गये सं० ख, ग, घ, च आदि के कार्यों को करें।

साधारण कर्त्तव्य—

रात्रि और दिवस पाली वाले आते जाते समय कार्य-भार एक दूसरे को सम्हलावें तथा कार्य ग्रहण-पत्र मे सभी बातें ठीक तरह से लिख देना चाहिए। यदि कोई औषधि तथा अन्य आवश्यकीय वस्तु न हो तो तत्काल व्यवस्था करनी चाहिये। अधिक बीमार रोगियो को आध-आध घटे में सम्हालते रहना चाहिये। नाड़ी व श्वास की गति-संख्या गिनते रहना चाहिये। पसीना पोंछना, मलमूत्र आदि के पात्र की व्यवस्था करना, शीत से बचाव, जल तथा अन्य जरूरी पेय देना, आदि बातों पर ध्यान देवें। रोगी की अवस्था खराब हो तो अपने से वरिष्ठ अधिकारियों को सूचित करें। शिक्षार्थियो को नये आने वाले रोगियों के प्रश्नों का शान्तिपूर्वक उत्तर देना चाहिये और अधिकारियों को सूचना देते रहना चाहिये। आतुरालम में प्रवेश पाने के लिए आतुरालय से सम्बन्धित चिकित्सक का व्यवस्थापत्र लाया हो तो वह आर्या को दिखा कर रोगी को कौनसी शय्या पर स्थान देना है आदि बातों की जानकारी लेकर रोगी की उचित व्यवस्था करें। रोगी के व्यवस्था-पत्र

में रोगी का नाम, पूरा पता, उसके सम्बन्धी का नाम, टेलीफोन हो तो उसके नम्बर, व्यवसाय, धर्म यदि वैद्य द्वारा आया हो तो चिकित्सक का नाम, प्रविष्ट करने वाले चिकित्सक का नाम, रोग का नाम, निदान सम्बन्धी आवश्यकीय बातें आदि ठीक प्रकार से लिखनी चाहियें।

रोगी के लिये आवश्यकीय सामान जो आतुरालय से नहीं दिया जाता है अथवा रोगी लेना न चाहे उसकी सूची बना कर उसके सम्बन्धी को दे दें। यदि रोगी के पास जेवर, नकद रुपया आदि हो तो वह भी रोगी के सम्बन्धी को सम्हला देवें। आतुरालय के अतिरिक्त समय मे आने के लिये आवश्यकतानुसार आज्ञा पत्र दे देवें।

प्रविष्ट हुए रोगी की नाड़ी की गति, श्वासगति, तापमान आदि लिखें। रोगीपत्रक, तापमापकपत्रक और आहारपत्रक आदि भी तैयार कर लेवें। यदि वैद्य द्वारा रोगी के मल, मूत्र, रक्त आदि की परीक्षा का उल्लेख हो तो परीक्षा कराने की व्यवस्था करें। आकस्मिक रोगों से पीड़ित रोगियों के प्रवेश पर विशेष ध्यान देवे तथा उसके लिए वैद्य द्वारा व्यवस्थापत्र मे लिखी गई औषधि तथा शस्त्र-क्रिया का निर्देश किया गया हो तो उसकी व्यवस्था शीघ्र करे। सभी प्रकार के रोगियों के पास बीडो, सिगरेट, तम्बाकू, अफीम, गांजा, भांग, शराब आदि नशीली वस्तुऐं न रहने देवें।

रोगी की विदायगी का प्रकार—

रोगी को घर या दूसरे आतुरालय मे भेजते समय सम्मानपूर्वक मेहमान की भांति विदा करना चाहिये। रोगी के जाते समय मौखिक या लिखित रूप में आतुरालय के सबध मे अपनी सम्मति लिखने के लिये कहना चाहिये ताकि कर्मचारी गण अपनो भूलों को सुधार कर काम ठीक तरह से करने में प्रयत्नशील हो सकें।

रोगो के जाने के बाद उसके काम में आये कपड़ों को धोने के लिये डाल देवें। बिछौना, तकिया आदि धूप मे रखें। पलंग को धो कर उस पर मिट्टी का तैल या तारपीन तैल का घोल लगाएँ और पलंग पर नया बिछौना बिछा देवें तथा रोगीपत्रक, तापमानपत्रक आदि आवश्यक चीजें ठीक कर देवे तथा सुरक्षित रखें।

वार्ड में स्वच्छता—

सफाई करने की सब वस्तुओं को, जो अधिक भारी न हों, उन्हें एक जगह इकट्ठी कर धोने के लिए साफ पानी, ब्रुश, तौलिया आदि लेवें तथा साफ कर पोंछते रहें।

(१) वार्ड के फर्श को पोंछने के पहिले झाड़ू से अच्छी तरह से साफ करा कर फिर कपड़े से पुंछवावें।

(२) पालिश की हुई वस्तुओं को कपड़े से झाड़ कर पोंछ लें और कभी कभी हलका सा पालिश भी करे

(३) किसी भी चीज को घसीट कर न ले जावें।

(४) सूतिकागार और शस्त्र-क्रियागार को प्रतिदिन अच्छी तरह धुलवा कर पुंछवाना चाहिये। इसी प्रकार वार्ड के फर्श को भी कम से कम सप्ताह में एक बार पानी से धुलवाना और फिनायल भी छिड़कवाना चाहिये।

(५) पानी, चाय आदि खाने पीने की चीजों तथा अन्य कोई भी वस्तु से वार्ड की फर्श खराब हो जाय तो उसी समय साफ करनी चाहिये।

(६) ताम्बे, पीतल की वस्तुओं पर पालिश कर चमकाना चाहिये।

(७) क्षय रोगी या अन्य छूत से फ़ैलने वाले रोगों के रोगियों के बर्तनों को निशान कर अलग ही रखें और उन्हें पानी में उबाल लिया करे।

(८) शौचालय और मूत्रालय मे फिनायल छिड़कवाना चाहिये तथा इनकी स्वच्छता पर पूरा पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये क्योंकि प्रायः इनको सफाई पर ध्यान कम दिया जाता है।

(९) मलपात्र व मूत्रपात्रों को पानी से धुलवा कर फिनायल के घोल से धुलवाना चाहिये।

(१०) पीकदानी को भी साफ पानी से धुलवा कर पानी में उबलवा कर कीटाणु-नाशक घोल से साफ करें।

(११) वार्ड मे मक्खियां हों तो फिलट का प्रयोग करें।

(१२) गद्दे, तकिए आदि में खटमल न हो जांय इसका पूरा ध्यान रखें तथा खटमल हो जाने पर उन्हें धूप में डलवाना चाहिये व उचित व्यवस्था करवानी चाहिये।

शय्या—

आतुरालय में काले व सफेद रंग के लोहे के पलंग ६ फुट लम्बे, ३ फुट चौड़े तथा २६ इंच ऊँचे होते हैं। पायों के नीचे छोटे २ पहिये भी होते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं।

बिछौना करने की सामान्य रीति—

पलंग पर दरी डालकर उस पर गद्दा बिछाएँ, गद्दे पर चद्दर लगाएँ। चद्दर को ठीक लगाकर समेट कर गद्दे के नीचे के भाग में मोड़ देवे, तकिया लगा देवें, तथा रोगी को ओढ़ने के लिये हलके गर्म रंगीन कम्बल तह करके रख दें। रोगी के बिछौने के गद्दों में चावल की घास, नारियल-जटा तथा रूई होती है। विदेशों में घोड़े के बाल भी भरे जाते हैं।

बिछौना इस प्रकार किया जावे कि रोगी को कोई कष्ट न हो अर्थात् व्यवस्थित व सामान्य, हो बिछौने पर लेटने से रोगी को पूर्ण आराम मिले। बिछौने की सफाई करते समय, बिछौना बदलते समय, तथा इसे व्यवस्थित करते समय पूरा ध्यान रखें कि रोगी को

किसी भी प्रकार का कष्ट न होने पाए। इसका पूरा ध्यान रखें कि किस रोगी को सरका कर किसको करवट मोड़कर, और किसको उठाकर बिछौना करना है, या इसके लिए आर्या से पूछ लेवे। शास्त्रक्रिया किये रोगियों को, वसनक पीड़ितों को, फुफ्फुसावरण प्रदाह वाले रोगियों को या हृद्रोगियों को धीरे से उठाकर बिछौना साफ करें। कपड़े का भार भी रोगी पर न पड़े इसका पूरा ध्यान रखें।

बिस्तर करने में सावधानियाँ—

(१) यदि रोगी उठने योग्य हो तो उसे पलंग के पास कुर्सी पर बैठाकर कम्बल ओढ़ने को दें।

(२) रोगी के हिलडुल न सकने पर यथायोग्य करवट बदलवा कर कन्धे तथा साथल पीछे हाथ देकर व्यवस्थित करें।

(३) रोगी बैठा हो तो इधर उधर बैठाकर ठीक करें।

(४) करवट लेने योग्य रोगी को करवट बदलवा कर चादर मोमजामा आदि निकालकर नये बिछा देवें।

(५) करवट नहीं लेने देना हो तो सिर से पैर की ओर नये वस्त्र आँटे लपेट कर रोगी को उठाकर सरका कर ठीक करें।

(६) रोगी को उठाने की मनाई हो तो अलग बिछौने या स्ट्रेचर पर उठाकर शय्या ठीक कर लेटा देवें।

प्रकार—

शय्या-भेद से रोगी दो प्रकार के होते हैं।

(१) शस्त्रक्रिया किये हुए (२) औषधि लेने वाले। औषधि लेने वाले रोगियों की शय्या—

इसके ५ प्रकार हैं।

(१) **साधारण शय्या**—जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

(२) **आकस्मिक प्रसंग पर**—उपरोक्त शय्या में गर्म जल की थैलियां रख दी जाती हैं।

(३) **वृक्क व आमवात रोगियों की**—चद्दर के बराबरी मोमजामा, अधिक कम्बलें, रेत की थैलियां, जल या वायुपूरित बिछौने होते हैं।

(४) **हृद्रोगियों की**—बहुत से तकिये, वायुपूरित चक्र होते है।

(५) **फाऊलर्स**—इसे आवश्यकतानुसार बनाया जा सकता है। श्वास, हृद्रोग तथा शास्त्रक्रिया के बाद प्रयोग करते हैं—

शस्त्रक्रिया किये हुए रोगियों की शय्या–इस के सात भेद हैं।

(१) शस्त्रक्रिया के पश्चात्—ऊपर ओढने के वस्त्र की तेहरी तह पैरों की ओर रखें। गर्म जल की थैलियां, वमनपात्र, जिह्वा, सन्दश, रबर का मोमजामा, पैरों की ओर से शय्या को ऊँचा रखने के लिये पड़वाये, बिछौने के नीचे के हिस्से पर मोमजामा रखें।

(२) गलग्रथियो की शस्त्र-क्रिया के बाद—मोमजामा, सिरहाने के नीचे रखने के लिये तौलिये, चूसने के लिए बर्फ, मुंह से आने वाले रक्त को पोंछने के लिए शोषक वस्त्र आदि रखें।

(३) उदर की शस्त्र-क्रिया के बाद—रबर के वायुचक्र, जलपूरित सिरहाना मोम-जामे से ढका घुटने के नीचे रखने के लिए तकिया, यदि रोगी बेहोश हो तो मलमल के टुकड़े से घुटने व साथल बांध दें।

(४) भग्न शय्या—भग्न अंग के नीचे कठोर न दबने वाला बिछौना करें। इसके लिये गद्दे के नीचे छिद्र वाले लकड़ी के तख्ते रखें।

(५) हाथ पैर कटे रोगियों को शय्या—शय्या पर लम्बा मोमजामा रहे और काटे गये अवयव के चारो ओर रेत की थैलियां लगाएँ जिससे रोगी का कटा अंग हिल-डुल न सके। इन रेत की थलियों पर कोटाणुनाशक घोल छिड़का हुआ हो। शय्या के पास ही रक्तस्राव को रोकने के लिए पट्टी रखें। कटा अंग का सिरा कार्यरत कर्मचारी को दिखता रहे। यदि रक्तस्राव बन्द न हो तो तत्काल चिकित्सक को सूचित करें।

(६) विभाजित शय्या—इसमे रोगी के ओढ़ने व बिछाने के वस्त्रों के दो भाग होते हैं। एक भाग दूसरे भाग पर रखा रहता है। दोनों मिलने के स्थान पर सेफ़्टी पिन लगा देते हैं। इनमे जिसको भी बदलना आवश्यक हो उसे बदल दिया जाता है।

(७) प्लास्टर के पश्चात्—इसमें लेटा कर प्लास्टर किया जाता है।

शय्याओं का उपकरण—

वायु या जलपूरित बिछौने, तकिये। इनमें हवा या जल भरा जाता है। ये लम्बे समय तक लेट रहने वाले रोगियों के लिये आवश्यक होते हैं। इन उपकरणों के प्रयोग के बाद भी इनकी सावधानी रखे। इनके कोने मे नली लगी होती है, जो हवा या जल भरने के बाद बन्द की जाती है। ऐसे उपकरणों को काम लेने के बाद इनके बाहर की ओर फ्रेंच की चाक मिट्टी के चूर्ण को लगा कर सुरक्षित रखें तथा इनके भीतर थोड़ी वायु भरी रहे जिससे रबर की दोनों तहें आपस मे नही चिपके। इनमें भरने का जल इतना गर्म रहे कि रोगी को थोड़ी थोड़ी उष्णता मिलती रहे। जल को १५-१५ दिन बाद परिवर्तन कर दें। जल में कुछ जन्तुनाशक द्रव्य मिला दें। जलपूरित या वायुपूरित बिछौने के नीचे काष्ठ की पट्टी रखें।

वायु चक्र—ये रबर के बने हुए गोल आकार में होते हैं जिनमें पम्प या मुंह से हवा भर दी जाती है।

पलंग के पड़वाए—

ये खाट के ऊपर या नीचे की ओर के पायों को ऊंचा करने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। ये लकड़ी के बने गट्टे जिनकी ऊँचाई ४ से २४ इंच तक हो सकती है।

शय्या के नीचे पायों को ऊँचा उठाना—

मानसिक आघात, बस्ति तथा उदर के रक्तस्राव को रोकने के लिए योनि, अंडकोष पर शोथ होने पर शय्या के नीचे की ओर पडवाये लगाये जाते हैं।

शय्या के ऊपरी भाग की तरफ के पायों को ऊँचा रखना—

शिर या छाती से रक्तस्राव होने पर उदर और श्रेणा गुहा के स्राव को बाहर निकालने के लिए तथा श्वास की गति को ठीक करने के लिए शय्या के ऊपर के पायों को ऊँचा रखते हैं।

पालने—

ये लोहे और लकड़ी के मोड़ खाए हुए अर्द्धचन्द्राकार झूले होते हैं। ये बीच में चपटे और इनके दोनों ओर के बाजू मुड़े हुए होते हैं। इन्हें रोगी की शय्या पर इस प्रकार रखते हैं कि रोगी के जिस हिस्से पर या शरीर पर वस्त्र का भार न पड़े। इस प्रकार वह अवयव या शरीर पालने के मध्य में रहता है और उस पालने पर ऋतु व रोगी की अवस्थानुसार वस्त्र ओढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार वस्त्र का भार रोगी के शरीर पर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त शरीर के जिस भाग का स्वेदन करना हो वहाँ पालना रख कर चारों ओर कपड़ा ढंक देते है परन्तु यह अवश्य ध्यान रखा जावे कि उस समय लोहे से बना पालना न रहे अपितु लकड़ी का बना हो।

बिछौने पर कुर्सी—

रोगी को बैठा कर उसकी पीठ को सहारा देने के लिए स्प्रिंग (मय केनवास) लगा देते हैं जिसके सहारे रोगी आराम से बैठने का सुख प्राप्त कर सकता है।

शय्या पर मेज—

शय्या पर बैठे रोगी के सामने मेज रख देते है जिससे रोगी भोजन कर सकता है अथवा श्वास रोग में इस पर झुक सकता है।

आतुरालय के वस्त्रों व सामान की निगरानी—

(१) वस्त्रों का वर्गीकरण कर अलग अलग रखें—जैसे पाजामे, कोट, कम्बलें आदि।

(२) प्रत्येक कार्य के लिए जो वस्त्र आवश्यक हों वही बाहर निकालें अधिक कपड़े बाहर निकालने से कपड़े अधिक गन्दे होते हैं तथा धुलाई में भी व्यय अधिक आता है।

(३) कपड़ों पर डोरे या किसी पक्के रंग का चिह्न लगादें जिससे चोरी में नहीं जाय, तथा जाने पर आसानी से पता लगा सकें।

(४) वार्ड का कपड़ा किसी को भी मांगने पर उधार न दें।

(५) धोबी को कपड़े देते समय व उससे लेते समय नोट करें व मीलान कर लें।

(६) गर्म वस्त्रों को औषधि छिड़क कर रखें।

(७) रबर की वस्तुओं को साफ कर फ्रेंच चाक का चूर्ण लगा कर रखें। उन पर तेल नही लगाएँ।

(८) फटे कपड़े तथा अन्य अयोग्य वस्तुओं को सम्बन्धित अधिकारी को बता कर रद्द किये जाने की पुस्तक में लिखें।

(९) कपड़े पर रक्त लगा होने पर पहले ठंडे पानी से धोकर बाद में साबुन से साफ करें।

(१०) खाट पर जंग लग जाने पर नमक या नींबू रगड़ कर साफ करें।

(११) आयोडिन के दाग को निकालने के लिए नौसादर चूर्ण को काम में लें।

(१२) स्याही का दाग दूर करने के लिए दूध या नीबू-रस को काम में लें।

(१३) अन्य किसी प्रकार के दाग को सुरासार स्पिरिट या पेंट्रोल से साफ करें।

शय्या पर मल मूत्र त्याग की व्यवस्था--

शय्या के चारों ओर परदा लगा कर शय्या पर मोमजामा बिछा कर रोगी बैठ सकता हो तो मोमजामे पर मलपात्र रख बैठा देवें। नही बैठ सकता हो तो कमर के नीचे हाथ डाल कर रोगी को थोड़ा ऊपर उठा कर मलपात्र सरका देवे तथा मूत्रपात्र भी रख दें। मल-मूत्रपात्र तामचीनी के बने होते हैं।

मलपात्र प्रकार—

(१) सपाट—चपटा और जीभ के आकार का

(२) गोल—गोल और ऊँचा

(३) परफेक्सन—शरीर को सुविधानुसार

मूत्रपात्र—पुरुषों के लिए सुराही के आकार का लम्बे मुंह वाला तथा स्त्रियों के लिए चौड़े मुंह का होता है।

मुखमार्जन—

दिन में २ बार सुगन्धित दन्त मंजन या दतौन दें। तीव्र रोगों में चिमटी से रूई का फोमा पकड़ कर दांत व मसूड़े साफ करें।

स्नान—

रोगी चल कर स्नान घर में जाने योग्य हो तो स्लीपर व वस्त्र पहिने हुए को ले जाएँ। स्नानघर की खिड़कियें बन्द कर दें। स्नान के लिए उष्णजल, शरीर पोंछने के लिए तौलिया, साबुन, तेल आदि आवश्यक वस्तुएं रखें। स्त्रियों के लिए स्त्री परिचारिका तथा पुरुषों के लिए पुरुष परिचारक स्नान की व्यवस्था करें।

शय्या स्नान—

शय्या के पास पानी की तपेली, भगोना, साबुन, तेल, तौलिया, कुल्ला करने का पात्र, दन्तमंजन आदि २ आवश्यक सामान रख देवें। खिड़कियां बंद कर शय्या के चारों ओर परदा लगाएँ। तौलिये को गर्म पानी में भिगोकर थोड़ा निचो लेवें। इस तौलिये से सर्वप्रथम चेहरे को पोंछें बाद में दूसरे अंगों को पोंछें। इस प्रकार शरीर के प्रत्येक अग को पोंछ कर साफ करें फिर वस्त्र पलटा देवें। गर्म जल की थैलियां पास में रखें और पीने को गर्म पेय दें। स्नान के बाद परदा हटा देवें तथा खिड़कियां खोल दें। इस स्नान में साबुन के जल से स्पंज से भी साफ करलें तथा कम्बल बिछाकर दूसरी कम्बल ओढ़ा देवें।

शय्या पर बाल धोने की विधि—

तीन मोमजामे, सेंपू, स्नानीय चूर्ण या द्रव, जलपात्र, तौलिया, परात आदि शय्या के पास रखें।

रोगी का कुर्ता या जंफर आदि वस्त्र बगल के नीचे कर देवें और गले के चारों ओर मोमजामा बांध देवें तथा गद्दे के सिरहाने के हिस्से को मोड़ कर उस पर दूसरा मोमजामा फैला देवें। तीसरा मोमजामा शय्या पर फैलाकर परात रख देवें। सेंपू को बालों में मलकर धीरे-धीरे बाल धोवें। इसके बाद बालों को तौलिये से पोंछ, सुखा कर कंघी कर लेव।

शय्या व्रण—

लम्बे समय तक शय्या पर लेटे रहने से तथा क्षीणता बढ़ती रहने पर पीठ, नितम्ब आदि २ स्थानों पर व्रण हो जाते हैं। इन्हें शय्या-व्रण कहते हैं।

प्रारंभ में ये स्थान लाल हो जाते हैं तथा धीरे-धीरे इन स्थानों में दर्द होता है, त्वचा छिल जाती है, इसके बाद व्रण हो जाते हैं, फिर इन पर लसीका या मैल जमा हो जाता है। इस प्रकार व्रण धीरे-धीरे गहरा तथा उसके किनारे लाल तथा मोटे हो जाते हैं।

शय्याव्रण को उत्पन्न करने वाली अवस्थाएँ—

(१) बेहोश रोगियों में, (२) असहाय स्थिति वाले रोगियों में, (३) पक्षाघात में, (४) मूत्र बराबर टपकने वाले रोगियों में, (५) कीटाणुओं के तीव्र आक्रमण से, (६) रोगी की अत्यन्त कृश अवस्था में, (७) शोथ होने से व्रण हो जाते हैं।

शय्याव्रण के स्थान—

पीठ के बल लेटे रहने वाले रोगियों में मणिक के पीछे का भाग, अंशफलक, कशेरु का कंटक, त्रिकास्थि अनुत्रिकास्थि और टखने के पीछे का भाग आदि २ उभारों पर जैसे जंघास्थि के उभारों एव घुटने के बाहर के स्थान आदि स्थानों पर व्रण हो जाते हैं।

शय्याव्रण के प्रतिरोधक उपाय—

शय्या व्रण होने वाले शरीर के उभरे हुए भागों पर जहां भी व्रण होने की संभावना हो वहां दिन मे दो बार खार साबुन तेल मिली हुई औषधि का मिश्रण, या तेल स्पिरिट का मिश्रण लगावें। जिंक और बोरिक पाउडर छिड़कें तथा इन स्थानों में संराम्भ तथा वेदना बढ़ती जाय तो चिकित्सक को सूचित करें।

शय्या व्रण होने वाले भागों पर दबाव कम करने के लिए वायुपूरित बिछौने या चक्र अथवा जलपूरित बिछौनों का प्रयोग करें। वेदना वाले स्थानों पर रूई की गद्दी बांधे। ओढने के वस्त्र का भार रोगी पर न पड़े इसके लिए पालने का प्रयोग करें तथा बिछौने मे कूड़ा-करकट तथा सलवट न रहे इसका पूरा ध्यान रखें। सिलाई किये हुए वस्त्र रोगी के नीचे न आएँ तथा मलत्याग के लिए टूटे हुए मलपात्र का उपयोग न करें तथा मलपात्र रखने तथा निकालने मे पूर्ण सावधानी रखे।

तापमापक यन्त्र—

मनुष्य की उष्णता नापने के लिए काच का बना हुआ एक नलिकाकार यन्त्र होता है जिसे तापमापक यन्त्र या थर्मामीटर कहते हैं। इस यन्त्र के नीचे का भाग पतला होता है, ऊपर का भाग नीचे के भाग की अपेक्षा मोटा और लम्बा होता है। यह सारा यन्त्र अन्दर से पोला होता है और यह पोला भाग नीचे के पतले भाग से अधिक गहरा होता है। इस नीचे के भाग में पारा रहता है तथा इसी भाग को शरीर की ऊष्मा मापने के लिए मुंह, बगल आदि स्थानों में लगाया जाता है। इस यन्त्र के ऊपर के भाग में ९५° से ११०° तक अंक लगे होते है। नीचे का पारे का भाग शरीर में निश्चित स्थानों पर लगाने पर शरीर की उष्णता से पारा ऊपर के पोले भाग में चढ़ता है। यह पारा जिस अंक तक जाकर ठहर जाता है वही शरीर की गर्मी मानी जाती है। मनुष्य की उष्णता साधारणतया ९८.४ होती है और ज्वर आने पर उष्णता इससे आगे बढ़ जाती है। यह कभी-कभी किसी के १०८° तक भी बढ़ जाती है। लेकिन १०४° या १०५° से अधिक बहुत कम देखने को मिलती है।

तापमापक यन्त्र ½ से ५ मिनिट तक रोगी की जंघा, बगल, मुंह, गुदा आदि स्थानों में लगाया जाता है। गुदा में लगाने का एक विशेष प्रकार का थर्मामीटर आता है। प्रायः इसका प्रयोग काख, मुंह में किया जाता है।

तापमान लेने के स्थान—(त्वचा पर) काख, जंघा, घुटने के पीछे मुख, गुदा आदि।

त्वचा पर तापमान लेना—

काख, जंघा और घुटना इनमें से जहां पर भी थर्मामीटर लगाना हो वहां का पसीना पोंछ लें। यदि काख में बाल अधिक हों तो बालों की तह में लगाएँ। अभिप्राय यह कि थर्मामीटर का स्पर्श त्वचा से हो।

मुंह से तापमान लेना—रोगी की जिह्वा के नीचे थर्मामीटर के पारे वाला भाग रखें और होठ बन्द कर दें।

अत्युष्ण, अतिशीत, अन्न-पान लेने के बाद, मुंह में व्रणशोथ होने पर, बेहोश अवस्था में प्रलाप के समय। छोटे बच्चों का तापमान मुंह का न लें।

गुदा से तापमान लेना—इसके लिए एक विशेष प्रकार का थर्मामीटर आता है। इसके पारे वाले भाग पर २ इंच तक वैसलोन लगाकर ½ इंच तक गुदा में प्रविष्ट करें। इसी प्रकार योनि मार्ग में भी प्रयोग किया जा सकता है।

प्रत्येक थर्मामीटर को कितने समय तक लगाना यह उस पर लिखा होता है। जितना समय लिखा हो उससे दूने समय तक और विशेष परिस्थिति मे ५ मिनट तक भी रखा जाता है।

त्वचा से मुंह में आधा डिग्री तक तथा मुंह से गुदा मे ½ से १ डिग्री तक तापमान अधिक आता है।

विभिन्न तापमान—

मध्यम ज्वर	१०१°	से	१०३°	तक
तीव्र ज्वर	१०३°	से	१०५°	तक
स्वाभाविक	९७०	से	९८.४०	तक
शीताङ्ग	९५ से कम।			

तापमान लेने से पूर्व ध्यान देने योग्य बातें—

थर्मामीटर को हमेशा कीटाणुनाशक घोल में रखे। या कार्य में लेने से पूर्व कीटाणुनाशक घोल से धोकर साफ कपड़े से पोंछ लें। फिर थर्मामीटर को हाथ से पकड़ कर झटका देकर पारे को ९५ नीचे ले आवें। फिर पारे वाले भाग को रोगी के शरीर में पहिले बताए स्थान में रख देवें। आधे से पांच मिनिट तक रख, निकाल कर देखें कि पारा किस अंक पर ठहरा है उसे नोट करलें, फिर झटका देकर पारे को यथास्थान ले आएँ।

तापमान वृद्धि के कारण—

व्यायाम के बाद, गर्म जल से स्नान करने के बाद, आग सेकने के बाद, उष्ण वातावरण मे तथा सायंकाल तापमान बढ़ जाता है।

तापमान कम करने के उपाय—

पसीना लाने वाली औषधियों का प्रयोग, सिर पर बर्फ की थैली का प्रयोग, अथवा जल की पट्टी का प्रयोग, तथा जलार्द्र कपड़े से पोंछने से तथा शीत जल की बस्ति से तथा नमक और घी को तलवों पर मलने से तापमान कम होता है।

नाड़ी विज्ञान—

शरीर की रक्तवाहिनियो मे उनकी आकृति के अनुसार रक्त बहता रहता है। हृदय की प्रत्येक सिकुड़न से ३ से ४ औन्स तक रक्त धमनी में फेंका जाता है। इससे महाधमनी द्वारा सब धमनियों में आघात पहुंचता है। इस प्रत्येक आघात की तरंग को नाड़ी की गति कहते हैं।

नाड़ी देखने के स्थान—

(१) मणिबन्ध के ऊपर अंगुष्ठ के मूल में।
(२) नीचे के जबड़ों पर
(३) कान के पास
(४) जघा के पीछे
(५) पैर पर टखने के पार्श्व में।

उपरोक्त ५ स्थानों में से मुख्यतया (१) मणिबन्ध की नाड़ी देखने का ही अधिक प्रचार है।

नाड़ी देखना—

नाडी को विश्रांति के बाद देखे। व्यायाम के बाद, चलकर आने पर तथा गर्म पेय पीने के बाद तथा मद्य आदि नशीली चीजें पीने के बाद नही देखें। कोहनी मुड़ी हुई, हाथ शिथिल करा कर मणिबंध के स्थान पर तीन अंगुलियां रख कर देखें।

नाड़ी के स्पन्दन एक मिनिट तक गिनें या १५ सेकण्ड तक गिन कर चौगुना करलें।

स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी-गतिस्पन्दन ७२ से ८० तक।

नवजात शिशु मे प्रति मिनिट गति		१४०
१ वर्ष के शिशु को	,,	१२०
२ वर्ष से ५ वर्ष तक	,,	१००
५ ,, से १० ,,	,,	९०
वृद्धावस्था मे	,,	७२ से कम।

श्वास गति लेना—

श्वास की गति जानने के लिये अपना एक हाथ रोगी के उदर या छाती पर रख दें, तथा गिनते रहें। इसके साथ ही नियमितता, दीर्घता और रीति पर भी ध्यान दें।

श्वास गति बढ़ाने वाले कारण—

व्यायाम, मनोविकार, ज्वर, फुपफुस तथा हृद्रोग, एट्रोपीन औषधि की प्रतिक्रिया से गति बढ़ जाती है।

श्वास की गति कम होने के कारण—

विश्राम, निद्रा, थकावट, बेहोशी, आघात लगने पर, अफीम जैसी मादक औषधि के सेवन से श्वास गति कम हो जाती है।

श्वास गति से नाड़ी गति चौगुनी होती है परन्तु श्वसनक आदि ज्वरों में श्वास गति बढ़ जाने से निपात बदल जाता है।

श्वास के प्रकार—

(१) दीर्घ श्वास : इसमें उच्छ्वास अधिक समय रुकता है। रक्तस्राव, मानसिक आघात, शीतांग आदि अवस्थाओं में ऐसा होता है।

(२) मन्द श्वास : मादक द्रव्य के सेवन के बाद श्वासगति मन्द हो जाती है। कभी-कभी १ मिनट में ८ से १० बार तक हो जाती है।

(३) अगंभीर (छिछला) श्वास : इससे वायु थोड़ी सी लेकर शीघ्र बाहर निकाल दी जाती है। श्वसनक, फुपफुसावरण प्रदाह में।

(४) कठोर घर्घर श्वास : यह रोगी की अत्यन्त बेहोशी की अवस्था में होता है। इसमें नींद के खुर्राटे की अपेक्षा अधिक कठोरता रहती है।

(५) कर्कश श्वास : नाक के भीतर रुकावट होने से ऐसा श्वास होता है।

(६) शू शू शब्द श्वास : फुपफुसों में प्रतिबन्ध होने पर ऐसा श्वास होता है।

(७) अतिकृच्छ्र श्वास : नाक या गले में गाँठें होने पर श्वास बाहर निकलने में कठिनता होती है।

(८) बैठ कर श्वास लेना : तमक श्वास में रोगी को बैठ कर श्वास लेना अच्छा लगता है।

(९) छिन्न श्वास : श्वास रुक रुक कर कभी शीघ्र या विलम्ब से आना, जैसे वृक्कविकार, हृद्रोग, बहुत ऊँचे पहाड़ों पर।

श्वासावरोध के कारण—

(१) फुफ्फुसों में जल भर जाना
(२) कोयले के गैस मे श्वास लेने से
(३) पोटाशियम साइनाइड के समान विष के शरीर में प्रसार से
(४) श्वसन केन्द्र निर्जीव हो जाने पर

विवरण-पत्र भरना—

विवरणपत्रक में तारीखवार तापमान, नाड़ीगति, श्वासगति, मल-मूत्र की संख्या लिखे। प्रायः विवरण-पत्र प्रातः तथा सायंकाल भरते हैं, किन्तु रोगाधिक्य की अवस्था में ४-४ या ६-६ घण्टे बाद भरना पड़ता है।

विवरणपत्रक सुन्दर, सूक्ष्म तथा स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये, जिससे कि पढ़ा जा सके। बस्ति, सूचीवेध तथा जो भी क्रियाएँ की जाँय वे ठीक प्रकार से अङ्कित रहनी चाहिएँ। पत्रक के भरने के समय स्याही के धब्बे या गन्दे हाथ न लगे इसका ध्यान रखा जावे। पत्रक भरने का उद्देश्य रोग की स्थिति और चिकित्सा सम्बन्धी जानकारी रखना है जिससे कि परिचारक व उपवैद्यों तथा वैद्यों को चिकित्सासम्बन्धी ज्ञान रहे।

औषधि प्रकार—

औषधि ४ प्रकार की मानी गई है।

(१) उद्भिज्ज : इसमे वृक्ष की शाखा, पत्ते, फल, मूल, जड़, बीज और छाल आती है।

(२) प्राणिज : इसमें प्राणियों के अवयव प्रयुक्त होते हैं।

(३) खनिज : खान से निकलने वाले द्रव्य

(४) रासायनिक : रससिन्दूर, रसकपूर, पर्पटी आदि।

औषधि रखना—

औषधि रखने के लिये वार्ड के समीप के कमरे में आलमारियें होती हैं। औषधालय से औषधि तैयार कर वार्ड मे लाते हैं तथा वहाँ यथोचित स्थान पर रख देते हैं। सीरम तथा वेक्सीन आदि शीत स्थान में रखी जावे।

विषैली औषधियाँ—

जहरीली औषधियों को वार्ड में अलग ताला लगाकर रखें। इनकी बोतलें भी विशिष्ट प्रकार की, तिकोनी, खुरदरी तथा नीले रंग की हों। लेबिल पर लाल अक्षरों में विष लिखा रहे।

औषधि देने का प्रकार—

(क) प्रवाही : उदर में सेवन योग्य

(१) द्रावण—एक या अनेक द्रव्यों को जल में घोल कर दिया जाता है। (ग्लूकोज जल, लवण जल)।

(२) मिश्रण—एक या अनेक औषधियाँ जल में ठीक प्रकार से हिला कर दी जाती हैं। (द्राक्षासव, अशोकारिष्ट)।

(३) कषाय—ऽ। भर जल में २ तोला क्वाथ द्रव्य डाल कर चतुर्थांश रहने पर छानकर पिलाया जाता है।

(४) पायस (इमल्शन)—किसी भी तैल को द्रव में मिश्रण बनाने के लिये पहिले जल में गोंद मिला कर घोट कर तैल मिलाने से सफेद दूध के रंग का गाढ़ा मिश्रण पायस कहलाता है।

(५) अच्छ पान—घृत, एरण्ड तैल, कोडलिवर ऑइल आदि शुद्ध रूप में पिलाने को अच्छपान कहते हैं।

(ख) उदर में सेवनीय ठोस औषधियां :

(१) चूर्ण—एक या अनेक औषधियों को कूटकर सूक्ष्म वस्त्र से छानकर शहद, दूध, जल व अन्य तरल पदार्थ के साथ पिलाते है।

(२) वटी—औषधियों को पीस कर किसी भी द्रव के साथ घोट कर गोल गोल गोलियाँ बना ली जाती हैं।

(३) वटिका (टेबलेट्)—औषधियों के चूर्ण को मशीन से चपटी वटिकाऐं बना ली जाती हैं।

(४) केप्सुल—यह नली आकार की जिलेटीन से बनी पतली डिब्बियाँ हैं। इनमें औषधि रख कर बंद कर देते हैं। इनसे औषधि का स्वाद तथा गन्ध रोगी को अनुभव न होने से अरुचि नहीं होती तथा जिन औषधियों का दांतों में लगना हानिकर होता है जैसे अमीररस, देवकुसुमादिवटी आदि उनका इससे प्रयोग सुकर होता है। इन्हें बीज निकाली मुनक्का में डाल कर भी लिया जा सकता है।

स्नेहन—

स्नेह ४ तरह के होते हैं (१) घी, (२) तेल, (३) वसा, (४) मज्जा इन्हे रोगी के कोष्ट मृदुमध्य, अथवा क्रूर का परीक्षण कर तीन या चार पांच दिन तक उपरोक्त स्नेह पिलाये जाते हैं। मात्रा २ से ४ तोले—शीतकाल मे दिन में तथा उष्णकाल में रात्रि मे प्रयोग करें।

स्नेह प्रयोग के बाद रोगी का स्वेदन किया जाता है ।

वाष्प स्वेद—

घड़े में औषधियां व जल डाल कर आंच पर रखा जाता है, घड़े पर ढक्कन लगा, ढक्कन में नलिका लगाकर वाष्प पेटी द्वारा समस्त शरीर का या रुग्ण एकांग का स्वेदन किया जाता है ।

ताप स्वेद—

गड्ढा खोद कर उसमें दोषविरुद्ध औषधियों को जलाकर गड्ढे को गर्म कर उसमें दोषविरुद्ध औषधियों के पत्ते बिछाकर उस पर रोगी को लेटा कर स्वेदन कराएँ ।

स्नेह स्वेद—

हलवा आदि से पोटली बना कर स्निग्धस्वेदन किया जाता है ।

उष्म स्वेद—

केल्हू या ईंट, नमक आदि को गर्म कर सेंक करने को उष्म स्वेद कहते हैं ।

स्नेहन तथा स्वेदन ये दोनों स्तम्भरूप कर्म हैं जो कि शोधन से पहिले आवश्यक होते हैं ।

केस्ट—

गेहूँ के आटे से बनी पतली गोल चपटी डिब्बियां हैं, इनका भी प्रयोग पूर्ववत् होता है ।

अवलेह—

औषधियों को उबाल छान कर उसमें गुड़ शर्करा आदि मिला चासनी बना चाटण जैसा तैयार करते हैं जैसे—च्यवनप्राश, वासावलेह आदि ।

(ग) विविध—

बाष्प—

तेज गरम जल में औषधि मिलाकर या किन्हीं द्रव्यों के क्वाथ बनाकर आवश्यक अंग पर बांध देते हैं—

नस्य—

नाक द्वारा लिये जाने वाले चूर्ण, तेल आदि कट्फलादिनस्य, षड्बिन्दूतेल ।

गण्डूष—

मुख व कंठरोगों में औषधिमिश्रित पतले पदार्थ से कुल्ले करवाने को गण्डूष कहते हैं जैसे स्फटिक द्रव, नमक द्रव आदि ।

धूम्रपान—

यह प्रायः श्वास रोगों में अथवा कफज रोगों में कराया जाता है—जैसे श्वास रोग में धत्तूरपत्र मैनसिलका ।

(घ) बाह्य प्रयोग—

(१) मरहम—वेसलीन या मोम आदि में औषधि मिलाकर व्रणों पर लगाया जाता है।

(२) मर्दन—औषधियों से बने या शुद्ध तेल से मालिश करने को मर्दन कहते हैं।

(३) लेप—औषधियां बारीक पीस जल में मिलाकर गर्म कर स्नेह मिला कपड़े पर लगा कर या योंही लेप किया जाता है।

धावन—

जल में कीटाणुनाशक औषधि मिला व्रण को धोया जाता है, उसे धावन कहते हैं।

सेंक—

औषधि जल में मिलाकर गर्म करके या गर्म पानी में औषधि डाल कर उसमें कपड़ा भिगोकर दर्द वाले स्थान पर सेंक किया जाता है। अथवा तैल आदि में मिलाकर या हलवा बना कर पोटली स्वेद दिया जाता है। वैसे गर्म पानी की थैली का, केलू का रेत से, नमक आदि से सेंक किये जाते है। चरकने १३ प्रकार का तथा सुश्रुत ने ४ प्रकार का स्वेद कहा है।

अञ्जन—

आँख मे लगाने वाली औषधि को अजन कहते हैं। विविध प्रकार के सुरमे। औषधियों को गुलाब जल मे घोलकर आश्च्योतन बनाते हैं तथा कुछ औषधियों की गोलियें बना जल में घिसकर लगाते हैं—चन्द्रोदयावर्ती।

रक्तरोधक द्रव—

सद्य: व्रण के रक्तस्राव को रोकने के लिए टिंचर आईडोन आदि का प्रयोग करते हैं।

अन्तः क्षेपण (सूची वेध)—

शीघ्र असर करने के लिये औषधि का सीधा रक्त में प्रयोग किया जाता है। ये औषधियें द्रवरूप में तथा सूक्ष्म चूर्ण या वटिका के रूप में आती हैं जिन्हें परिस्रुत जल मे मिला कर सूची द्वारा त्वचा में मांस में तथा शिरा में अथवा नाड़ियों में संधियों आदि में प्रयोग किया जाता है।

शरीर में अन्य मार्गों द्वारा दी जाने वाली औषधियां—

ग्लीसरीन से बनी बत्तियें तथा हिंग्वादिवर्ती गुदा से मल निकालने के लिये प्रयोग की जाती है। इससे तत्काल बाद क्रिया होती है। इसी प्रकार देह के अन्य स्रोतों में भी औषधि का चूर्ण तथा द्रव के रूप मे उपयोग किया जाता है।

औषधि देने की विधियों का संक्षिप्त विवरण—

मुंह से निगला कर, चूसा कर, गुदा में बस्ति या वर्ती के रूप में, श्वास मार्ग के लिए भाप, धूम्र, मर्दनार्थ, धावन आदि अनेक रूपों मे व्यवहार किया जाता है।

लेप—

ये तीन प्रकार के हैं—(१) दोषघ्न (२) विषहर (३) वर्ण्य

लेप आधा अंगुल मोटा, पौन अंगुल या एक अंगुल मोटी परत के रूप में लगाया जाता है।

उपनाह—

अलसी, राई, गेहूँ का आटा, कोयला, खड़िया आदि द्रव्यों को गर्म कर पीस कर पानी मिलाकर गाढ़ा हलवे के रूप मे बनाकर लेप किया जाता है।

विकेशिका—

विसंक्रमित गोज को व्रण की अवस्थानुसार शोधन रोपण तैलों में भिगो कर प्रयोग किया जाता है।

औषधियों के मुख्य वर्ग—

(१)	वेदनाशामक वर्ग	—	वेलाडोना, धत्तूरा आदि
(२)	चेतनाहर ,,	—	क्लोरोफार्म, ईथर मद्य आदि
(३)	कृमिघ्न ,,	—	विडंग, कपोला, नीमफल आदि
(४)	ज्वरघ्न ,,	—	चिरायता, गिलोय, करंज, कुनैन आदि
(५)	कीटाणुनाशक वर्ग	—	नीमक्वाथ, फिटकिरी, कार्वोलिक एसिड
(६)	उत्तेजक ,,	—	कस्तूरी, मृतसंजीवनीसुरा, ब्रान्डी आदि
(७)	पौष्टिक ,,	—	लौह, च्यवनप्राश, जीवनीय आदि
(८)	कीटाणु प्रतिबन्धक वर्ग	—	सीरम

रोगी को औषधि देने की विधि—

दाहिने हाथ से बोतल को उठावें। बाएँ हाथ के अगूठे व अंगुली से कार्क को पकड़ कर निकाले। बोतल लेते व रखते समय लेबिल को ध्यान से पढ़ें। यदि दवा निकालते समय बोतल को हिलाना आवश्यक हो तो उसे इस प्रकार हिलाए कि बोतल में झाग पैदा न होवे। औषधि मेजर ग्लास में डाल कर देखें कि आवश्यकीय चिन्ह तक औषधि आई है या नहीं। मेजर ग्लास में ली हुई औषधि को जहाँ तक हो सके पुनः बोतल में न डालें।

रोगी को समय पर औषधि दें। यह भी ध्यान रखें कि रोगी ने औषधि ली है या नहीं। भोजन से पूर्व दी जाने वाली औषधि भोजन से २ घंटे पूर्व तथा भोजन के बाद दी

जाने वाली औषधि १५ मिनिट बाद दें। यदि रोगी सोया हुआ हो तथा रात्रि में दी जाने वाली औषधि देना आवश्यक होने पर जगा कर दें। विरेचक औषधि तीव्र हो तो प्रातःकाल जल्दी दें तथा साधारण रेचक औषधि रात्रि को सोते समय दें।

तैल वाली औषधि देने के बाद मुख-शुद्धि के लिए चूसने को मौसम्बी दें। खराब स्वाद वाली औषधि देकर फल, दूध या जल पिलाएँ। इसी प्रकार चूर्ण फँका कर जल व दूध आदि दें। दुर्गंधयुक्त औषधि नाक दबा कर पिलाएँ। गोली निगलवा दें, यदि निगली न जा सके तो चूर्ण करके दें। परन्तु अमीर रस आदि तो निगलवाने ही चाहिएँ। प्रायः आतुरालयों में रोगियों को ब्रान्डी, मृतसजीवनी सुरा, ह्विस्की लाइकर आदि मद्यों का प्रयोग किया जाता है। इनमे १६ से २० या ४० से ४५ प्रतिशत मद्य की मात्रा होती है।

वैक्सीन—

कीटाणुओं को काच-नलिका में रख उपयुक्त आहार तथा अनुकूल वातावरण में उन्हे बढ़ाए जाते है। जब निश्चित सीमा में बढ़ जाते हैं तब आवश्यक गर्मी देकर मार दिए जाते हैं। फिर इसमें उचित मात्रा में कार्बोलिक एसिड डाल देते हैं जिससे कि कोई जीवित शेष न रहे। अब इनकी परीक्षा कर इनके विष की मात्रा निश्चित की जाती है और उसी के अनुसार वेक्सीन की मात्रा निश्चित कर त्वचा के नीचे प्रयोग किया जाता है। इससे शरीर में रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होती है।

सीरम—

स्वस्थ घोड़े या अन्य जानवर को प्रारम्भ में थोड़ी मात्रा में रोगोत्पादक कीटाणुओं के विष की मात्रा दी जाती है। धीरे-धीरे यह मात्रा इतनी बढ़ादी जाती है कि वह कई घोड़ों के लिये मारक हो सकती है। जब इस प्रकार इनके रक्त मे अत्यधिक कीटाणु-नाश की शक्ति उत्पन्न हो जाती है तब उसकी शिरा वेध कर रक्त निकाल कर उससे सीरम तैयार किया जाता है।

आहार का महत्व—

परिचर्या और उपचार का मुख्य परिणाम रोगी को ठीक भोजन कराना है। स्वस्थ तथा रोगी जीवन में प्राचीन तथा वर्तमान समय में आहार का बड़ा महत्व माना गया है। आयुर्वेदशास्त्र में बताया गया है कि यदि रोगी पथ्यपूर्वक रहे तो उसे औषधि सेवन की आवश्यकता नहीं हो पाती अर्थात् बिना औषधि के भी उपयुक्त आहार और पथ्य रखने से रोगी रोगमुक्ति पा सकता है तथा अपथ्य आहार से रहने पर औषधि प्रयोग करता भी रहे तो रोगों से छुटकारा नहीं मिल सकता अतः आहार की महत्ता स्वतः परिलक्षित हो जाती है।

आहार के गुण—

(१) आहार में देह की बढ़ौत करने वाले तत्व रहें।

(२) देह में ऊर्जा तथा ऊष्मा देने वाले तत्व पूर्ण हों।

(३) उपयुक्त मात्रा में जीवनीय तत्व हों।

(४) नमक

(५) जल

(६) कुछ ऐसे तत्व भी रहें कि उदर में पचा हुआ आहार यथा समय मलरूप में गुदा द्वारा स्वतः बाहर आ जाय—

१. खाद्योज
२. श्वेतसार
३. स्नेह
४. लवण
५. जल
६. जीवनीय तत्व

आहार की मात्रा—

मात्रा सर्वग्रह तथा परिग्रह के रूप में लिये गये सर्व रस वाले आहार का पचन हो जाय वही मात्रा कहलाती है। आजकल इसकी कल्पना आहार मे उत्पन्न उष्णांक से की जाती है। अनैच्छिक मांस की क्रियाऐं देह मे निरन्तर होती रहती है अत: मध्य प्रमाण के पुरुष के लिए एक अहोरात्र में ३००० उष्णांक प्रतिदिन अपेक्षित हैं।

रोगानुसार आहार के लिये ध्यान देने योग्य—

सर्वाङ्गशोथ, रक्तभाराधिक्य, मस्तिष्क में रक्तस्राव होने पर दिन भर में जल एक पाइन्ट से अधिक न दें।

शोथ रोग, वृक्क रोग नमक नही देना चाहिये।

मधुमेह मे श्वेतसारीय पदार्थ दे तथा शर्करा बिल्कुल नहीं दें।

आतुरालय में आहार—

(१) दुग्धाहार : दूध १॥ किलो तक शक्कर २०० ग्राम

(२) तक्राहार : दही ॥ किलो से रोगी की इच्छानुकूल

(३) द्रवाहार : यूष, पेया, विलेपी, दूध, शक्कर

(४) लघुआहार : कृशरा (चावल ५० ग्राम, दाल २५ ग्राम) दूध १ किलो, शक्कर ७५ ग्राम

(५) पूर्णाहार : इसके २ भेद हैं।

(क) शाकाहार

दूध १०० ग्राम, शक्कर ५० ग्राम, चावल २५० ग्राम, दाल ७५ ग्राम, शाक १५० ग्राम, आलू १०० ग्राम, रोटी २५० ग्राम, घी २५ ग्राम, नारियल २५ ग्राम, मिर्च मसाला २० ग्राम, चाय १० ग्राम।

(ख) मिश्राहार

दूध १०० ग्राम, शक्कर ५० ग्राम, चावल १५० ग्राम, दाल ५० ग्राम, मांस १५० ग्राम, शाक १५० ग्राम, आलू १०० ग्राम, रोटी २०० ग्राम, मक्खन २५ ग्राम, घी २५ ग्राम, चाय १० ग्राम, नमक १० ग्राम।

रोगियों को भोजन परोसना—

भोजन का रंग आकर्षक होना चाहिये तथा भोजन के पात्र तथा अन्य सामान और भोजन देने वाले कपड़े तथा हाथ आदि ठीक तरह से साफ होने चाहियें। रोगी द्वारा पूछे जाने पर प्रश्नों का उत्तर प्रेमपूर्वक मीठे शब्दों में दिया जाय। असमर्थ रोगियों को भोजन करने में आवश्यक सहायता दे। बच्चों को भोजन देते समय उनके कपड़े खराब न हों इसका ध्यान रखा जावे। भोजन के समय घृणा, चिन्ता, शोककारक कोई बात न हो इसका पूरा ध्यान रखें।

रोगी का निरीक्षण—

अपनी ड्यूटी के समय, समय समय पर रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिये। जैसे नाड़ो, श्वास, मलमूत्र-विसर्जन, प्रलाप, वमन, प्यास, निद्रा और मूर्छा, लेटने की स्थिति आदि पर ध्यान रखें।

(१) लेटने की स्थिति—

रोगानुसार रोगियों के लेटने की स्थिति भिन्न भिन्न होती है। जैसे हृदय व श्वास-रोगों में प्राय: बैठा रहता है। फुफ्फुसावरण प्रदाह में रोगी-पीड़ित पार्श्व से लेटता है।

(२) निद्रा व विश्राम—

रोगी कितने समय तक सोता है इसका भी पूरा ध्यान रखें।

(४) मुख-कांति—

लाल चेहरे से ज्वर, पीलेपन से कामला, श्वेताभ से पाण्डु, चिन्तातुर से हृद्रोग का बोध होता है। उदर रोग तथा श्वसनक में नेत्र तेजस्वी मुमूर्षु का चेहरा कुछ श्यामवर्ण का, नेत्र निस्तेज तथा अन्दर धंसे हुए, कर्णपाली मुर्झाई हुई व शीत हो जाती है।

(४) जिव्हा—

मलावरोध में जीभ मैली, रक्ताल्पता मे श्वेताभ, आन्त्रिक ज्वर में मलयुक्त तथा किनारे लाल, अजीर्ण में मोटी, आमाशय रोगों में फटी हुई व उस पर छाले होते हैं।

(५) वमन—

वमन प्रायः उदर तथा अन्त्र के रोगों में, आमाशय संकोच से होता है। अधिक कास से भी वमन हो जाता है। भोजन के बाद (अम्ल) अम्लपित्त में होता है। वमन का निरीक्षण करते समय उसमे रक्त, पित्त आदि क्या हैं इसका ध्यान करे।

(६) कास—

कण्ठ या फुफ्फुस रोगों में कास होता है, कास में कफ आता है या नही, कफ के साथ रक्त तो नही आता तथा कफ किस वर्ण का है।

(७) मल मूत्र परीक्षा—

मल और मूत्र की मात्रा, तथा समय, मलमूत्र के समय शूल मरोड़ तो नहीं होते, तथा इनमे रक्त तो नही आता या आम तो नहीं है इनकी परीक्षा करें।

मूत्र परीक्षा—

(१) परिमाण, (२) प्रतिक्रिया, (३) वर्ण, (४) विशिष्ट गुरुत्व,
(५) अल्ब्यूमिन, (६) शर्करा, (७) स्फुरित, (८) यूरिक एसिड
(९) रक्ताणु, (१०) पूय, (११) रक्त पित्तश्लेष्मा की परीक्षा की जाती है।

(१) परिमाण—

चौबीस घन्टे मे १॥ से २ किलो तक मूत्र निकलता है। शीतकाल, अति जलपान, व्यायाम आदि के अभाव से मात्रा बढ़ जाती है।

(२) प्रतिक्रिया—

इसकी परीक्षा के लिए कागज के लाल व नीले टुकड़े आते हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होने पर डुबोने पर नीला कागज लाल हो जायगा और क्षारीय होने पर लाल कागज नीला हो जायगा। इस प्रकार अम्लीय तथा क्षारीय प्रतिक्रिया की जाँच करे।

(३) वर्ण—

मूत्र का वर्ण हल्का पीला, सूखे गेहूं के पौधे जैसा होता है।

(४) विशिष्ट गुरुत्व—

इसे मापने के यन्त्र को मूत्रमापक (यूरिनोमीटर) कहते हैं जो एक प्रकार की काँच की नली होती है जिसके नीचे के हिस्से में पारद या शीशा लगा होता है तथा ऊपर की नली मे स्केल लगा होता है जिस पर १००० से १०५० तक अक होते हैं।

परीक्षा के लिये मूत्र को परीक्षा-नलिका में डाल कर उपरोक्त यन्त्र को डालते हैं। यह यन्त्र मूत्र मे जितना डूब जाय उस अंक को नोट कर लेते हैं और यही गुरुत्व है। स्वस्थावस्था के मूत्र का गुरुत्व १०१५ से १०२५ तक होता है।

(५) अल्ब्यूमिन (श्विति)—

परीक्षानलिका में मूत्र डाल कर एसेटिक एसिड १० प्रतिशत का द्रव मिला कर अम्लीय प्रतिक्रिया बनाएँ, फिर नलिका को टेढी कर स्पिरिट लेम्प पर नलिका के मध्य भाग को गर्म करें, अब यदि उसमें बादल सा गंदलापन दीखे तो स्फुरित व अल्ब्यूमिन का संदेह होता है अतः इसमें फिर उपरोक्त द्रव का घोल बूंद बूंद डालें, गर्म करते रहें। यदि गंदलापन न रहे तो स्फुरित, तथा रहे तो अल्ब्यूमिन समझें।

(६) शर्करा—

परीक्षानलिका में ५ cc. बेनडिक्ट्स सोल्यूशन डाल कर उसमें ८ या १० बूंद मूत्र मिला कर २ मिनट तक गर्म करें। शीत होने पर वर्ण से ज्ञात करें।

मूत्र का वर्ण	शर्करा प्रतिशत
१. हल्का हरा, कुछ गंदला	·१ से ·५ प्रतिशत तक
२. गहरा हरा (साफ)	·५ से १ ,,
३. पीला ,,	१ से २ ,,
४. लाल ,,	२ से अधिक ,,

(७) रक्त—

मूत्र की एक बूंद फिल्टर पेपर पर रख उस पर १ बूंद बेंजोडीन घोल की डालें-इस पर हाईड्रोजन पर ओक्साइड तीन प्रतिशत की एक बूद डालने से रंग नीला हो जाय तो रक्त समझें।

(८) पूय—

मूत्र को थोड़ी देर रखने से नीचे तलछट जमता है। उस तलछट में समान मात्रा में लाइका पोटास मिलावें, यदि पूय होगी तो चिकना पदार्थ बन जाएगा।

(९) पित्त—

चौड़े मुंह के प्याले में मूत्र लेकर गंधक का चूर्ण छिड़कें, यदि मूत्र में पित्त है तो गंधक तैरता रहेगा।

(१०) यूरिक एसिड—

इसके मूत्र मे कण रहते हैं जिनका वर्ण रक्ताभ पीत होता है—यह सूक्ष्मवीक्षण से देखने पर प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

(११) परीक्षा के लिये मूत्र भेजना—

साधारणतया परीक्षा के लिये प्रातःकाल का मूत्र रखा जाता है। इसे गिलास (जो कि ऊपर से चौड़ी, नीचे से संकरी) में डाल कर उस पर रोगी के नाम का चिट, दिनांक, रोगी, शय्या-संख्या तथा वार्ड नम्बर लिख भेजें।

यदि परीक्षा के लिए २४ घण्टे का मूत्र लेना हो तो प्रातः ८ बजे से दूसरे दिन ८ बजे तक का मूत्र ले, तथा इसमें से परीक्षा के लिये मूत्र भिजवावें।

आयुर्वेद मूत्रपरीक्षा चरित्रनायक ने इसी ग्रंथ में अन्यत्र दे दी है अतः पुनरुक्ति न हो इसलिये इसे यहां नहीं दी है। उसे वही देखें।

मल परीक्षा—

पाचक संस्थान सम्बन्धी अधिकांश रोगों का विनिश्चय के लिए मल परीक्षा आवश्यक होती है। रोगी द्वारा दी गई सूचनाओं का विश्वास न कर चिकित्सक को मल-परीक्षा करानी ही चाहिए।

परीक्षा के लिए थोड़ा सा मल भी किसी पात्र में लाया जा सकता है परन्तु अच्छा यह होगा कि संपूर्ण मल मंगवाया जावे। इसका भी ध्यान रखा जावे कि मल में मूत्र न मिला हो।

मल परीक्षा—

(१) मल-मात्रा, (२) समय, (३) वर्ण, (४) गंध, (५) प्रतिक्रिया, (६) अन्य वस्तुऐं (बिना पचे अंश, आम, पूय, रक्त, पित्ताश्मरी, क्रिमि आदि)

(१) मल मात्रा—

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में मल की मात्रा में भिन्नता रहती है और कभी कभी तो एक ही व्यक्ति में अलग अलग समय में मल का परिमाण अलग-अलग होता है। लेकिन साधारणतया चार से आठ छटांक तक मध्य मात्रा है।

(२) समय—

प्रायः प्रातः सायं दो बार अथवा २४ घण्टे मे एक बार शौच का समय है, परन्तु यह व्यक्ति विशेष की प्रकृति पर भी निर्भर करता है, फिर भी बार बार मल त्याग की प्रवृत्ति रुग्णावस्था प्रकट करती है।

(३) वर्ण -

साधारणतया मल घन या अर्ध घन गोल आकार में निकलता है, परन्तु मलाशय संकोचनी पेशी का अधिक संकोच (जो कि गुदचीर में) से मल पतले रूप में होता है।

परन्तु अधिक संकोच जैसे कर्कटार्बुद, फिरंग, पूयमेहजन्य व्रणों में तब मल फीते के समान होता है।

कभी कभी आन्त्रिक ज्वर, ग्रहणी, क्षयज अन्त्रशोथ में मल द्रव रूप से होता है।

बड़ी आंत के विकारों में मल चिपचिपा आता है।

वर्ण—

स्वस्थावस्था में मल का वर्ण हल्के बादामी से गहरा बादामी रंग तक हो सकता है। परन्तु वर्ण भोजन वर्ण पर भी निर्भर रहता है। परन्तु इसकी आकृति का वर्ण आंतों मे गिरने वाल पित्त पर निर्भर करता है। जैसे—

हल्का पीला वर्ण—कामला में जब कि पित्त का पथ रुद्ध हो जाता है तथा वसा के सम्यक् न पचन से भी यही वर्ण हो जाता है।

पित्त-प्रणाली में पित्त का अवरोध हो जाने पर भी कामला हो जाता है।

अग्न्याशय विकार या ग्रहणी-विकार से वसा का पाक न होने से भी मल का वर्ण राख सदृश हो जाता है।

अन्त्रया पक्वाशय में रक्तस्राव होने से अथवा लौह, विस्मिथ, मेगनीज तथा कोयले आदि के खाने पर कृष्णवर्ण का मल उतरता है।

अर्श, वृहद्अंत्रवण, शोथ, कर्कटार्बुद में मल में लाल रक्त लगा हुआ होता है।

अतिसार, प्रवाहिका में आम में लिपटा रक्तयुक्त मल आता है।

अन्त्रशोथ, अपचन, बाल्यावस्था में हरे पीले वर्ण का मल होता है।

विशूचिका में मल गन्ध वर्णरहित चावलमंड के समान होता है।

श्वेतसार के संधान से झागयुक्त पीले वर्ण का मल आता है।

गन्ध—

मल की गन्ध आहार द्वारा ली जाने वाली प्रोटीन पर निर्भर है। प्रोटीनों के विघटन से गन्ध बनती है। आहार तत्वों के सम्यक् पचन होने पर गन्ध असह्य नहीं होती, परन्तु श्वेत सार के संधान में खट्टी बदबू आती है।

तीव्र प्रवाहिका तथा कर्कटार्बुद में बहुत बुरी गंध हो जाती है।

मल में मूत्र मिल जाने पर अमोनिया की सी गंध हो जाती है।

प्रतिक्रिया—

मल की प्रतिक्रिया उदासीन होती है, परन्तु श्वेतसार तथा वसा की उपस्थिति तथा अमीबिक प्रवाहिका में अम्लीय तथा बेसीलरी प्रवाहिका में प्रोटीन की विद्यमानता से क्षारीय होती है।

प्रतिक्रिया मालूम करने के लिये लिटमस पेपर के टुकड़े को भिगो कर उस पर थोड़े मल को रगड़ें, जिस प्रकार के पेपर का वर्ण बदलता है उसी तरह की प्रतिक्रिया जानें।

अपक्व अंश—

मल मे इनकी उपस्थिति यह प्रकट करती है कि इनका सम्यक् पचन नही हो रहा है, इसमें अन्न तथा आमाशय विकार हो सकता है।

आम—

क्षुद्रान्त्र विकृति मे आम मल से लिपटा रहता है। बड़ी अन्त्र की विकृति में आम व मल पृथक २ होता है। मल को पानी में घोलने से आम तैरता रहता है।

मलपूयता—

बड़ी आंत अथवा मलाशय में जीर्ण व्रण के कारण से क्षय, फिरंग तथा कर्कटार्बुद से, जीर्ण अमातिसार मे मल के साथ पूय आती है। अधिक मात्रा में पूय की उपस्थिति अन्न के निकट किसी विद्रधिका फट जाना प्रकट करती है।

मलरक्तता—

अंत्र या मलाशय से रक्त आने पर मल में शुद्ध रक्त के रेशे दिखाई देते हैं, जैसे अर्श, मलाशय व्रण की स्थिति में, कभी २ मलशुष्कता से मलावरोध में मल की कठोरता से मल के ऊपर रक्त लगा हुआ आता है। यह मलाशय की केशिका जाल के टूटने से होता है।

अन्त्र के प्रारंभिक भाग, आमाशय व्रण, केन्सर से आया हुआ रक्त काले रंग का होता है।

मल में अधिक रक्त होने पर मल को पानी में घोलने से मल का लाल रंग हो जाता है।

मल में पित्ताश्मरी—

जल से मल को धोने पर अश्मरी के कण नीचे बैठते हैं।

मल में क्रिमि—

क्रिमि परीक्षण के लिये रोगी को तीव्र रेचन दे, फिर प्रातः रोगी के मल को ६० नम्बर चालनी में रख कर पानी डालें, इससे मल का अधिकांश भाग पानी के साथ बह जाता है और चालनी में आहार के अपक्व अंश तथा क्रिमि अण्डे बच जाते हैं जिन्हे काच पर रख उसे काले कागज पर रख देते हैं। इसके लिये मेग्नीफाइंग ग्लास की सहायता भी ली जाती है।

परीक्षा के लिये मल भेजना—

(१) दिन रात मे मल त्याग की संख्या कितनी रही ?

(२) मल का रंग, गंध तथा आकृति क्या है ?

(३) वायु निकलने में अवरोध तो नहीं ?

(४) यदि मल में रक्त, आम, पूय, क्रिमि, पत्थर, बटन, सिक्का आदि पदार्थ हों तो नोट करलें तथा इन्हें साफ पानी से धोकर फार्मेलीन के घोल में रखें।

परीक्षा के लिये मल को साफ बर्तन में रख उस पर रोगी के नाम की चिट, समय, दिनांक और आतुरालय के रोगी का हो तो शय्या संख्या, वार्ड संख्या लिख कर भेजें।

परीक्षा के लिये कफ भेजना—

चौड़े मुंह वाले ढक्कनदार साफ बर्तन या शीशी में रख कर उस पर रोगी का नाम तथा आतुरालय का रोगी हो तो शय्या संख्या, वार्ड संख्या लिख कर भेजे।

कफ परीक्षा—

कफ की मात्रा, वर्ण, गाढ़ा या पतला, गन्ध तथा उसमें रक्त, पूय आदि की उपस्थिति की परीक्षा करे।

(१) श्वसनक ज्वर में तथा साधारण कास में केवल कफ या कभी कभी कफ के साथ रक्त भी दिखाई देता है। यह अवस्था श्वसनक की मध्य अवस्था में भी मिलती है।

(२) श्वसनक की समाप्ति में तथा क्षय रोगों मे कफ के साथ पूय आती है।

(३) क्षय रोग में कभी कभी कफ के साथ झागयुक्त रक्त भी दिखाई देता है।

(४) फुफ्फुसों के सड़ने की अवस्था में कफ दुर्गन्धयुक्त आता है।

(५) आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह तथा अश्रुगैस के प्रयोग से कफ में अत्यन्त झाग आते हैं।

कफरोगी की परिचर्या—

कफ में रक्त आने पर रोगी को धैर्य बंधाएँ तथा ष्ठीवन के लिए ढक्कनदार पीकदानी रखें। पीकदानी को कृमिघ्न विलयन से भी साफ करें। इकट्ठे हुए रोगियों के कफ को लकड़ी के बुरादे या घास डाल कर जला दें।

वमन—

आमाशय-संकोच से आमाशय में रहने वाले द्रव्यों को मुंह द्वारा बाहर फेंक दिये जाने को वमन कहते हैं।

वमन के कारण—

१. पाचन संस्थान की उत्तेजना से आमाशय क्षोभ से,
२. आहार में वामक पदार्थ की उपस्थिति,
३. पित्ताशयाश्मरी,
४. मूत्राशय अश्मरी की वेदना से,
५. गर्भाशय वेदना,
६. गर्भावस्था,
७. उदर में रक्तस्राव,
८ दुर्गन्ध, घृणित पदार्थ को देखना,
९. नौका, जहाज, मोटर आदि की यात्रा, झूला झूलना,
१०. मस्तिष्क में दबाव बढ़ना, मस्तिष्कावरण प्रदाह, आघात,
११. शरीर में विष-प्रवेश, कीटाणुजनित विष,
१२. मूत्र संस्थान के रोगों मे (युरिया के शरीर में संचय से)।

वमन सम्बन्धी प्रश्न—

१. उबाक के साथ मुंह में जल आता है या नही ?
२. वमन का समय, भोजन से पूर्व या बाद में वमन मात्रा क्या है ?
३. किसी विशिष्ट पदार्थ के भोजन से वमन होता है ?
४. उदर पीड़ा होकर वमन होता है ?
५. क्या वमन हो जाने से उदर पीड़ा शान्त हो जाती है ?

६. वमन में सम्पूर्ण द्रव्य बाहर आ जाता है या थोड़ा द्रव्य बाहर आकर शेष उदर में चला जाता है ?

७. शिरःशूल के बाद वमन होने पर शिरःशूल शान्त हो जाता है क्या ?

परीक्षा के लिये वमन द्रव्य भेजना—

साफ पात्र में वमन द्रव्य रख, ढक्कन लगा उस पर रोगी के नाम की चिट, दिनांक। आतुरालय का रोगी हो तो शय्या सख्या, वार्ड संख्या लिख कर भेजें।

अहोरात्र में वमन कितनी बार हुआ ? उसकी मात्रा क्या है ? उसमें रक्त पित्त श्लेष्मा तो नही ? वमन का वर्ण तथा गंध क्या है ?

वमन से रक्त प्रायः आमाशय से आता है, तत्काल का रक्त लाल रंग का तथा कुछ देर आमाशय मे रुकने से काफी चूर्ण के रंग का आता है।

वमन रोगी की परिचर्या—

वमन से रोगी को चक्कर, घबराहट, बेहोशी आती है तथा यदाकदा रक्ताधिक्य से उपरोक्त बातें बढ़ जाती हैं अतः रोगी को धैर्य दें। मौसम गर्मी का होने पर हवा करे। तथा सोडा बाई कार्ब (श्वेतक्षार व शर्करा) ग्लूकोज को पानी में मिलाकर थोड़ी थोड़ी देर बाद पिलाएँ, बर्फ चुसावें तथा नीवू जल ग्लूकोज (शर्करा, लवंग जल, अमृतधारादि) मिला कर दें। यदि उत्क्लेश बना रहे तो ब्राण्डो दें। वमन को देखने पर स्वयं परिचारक को वमन होने की आशंका हो तो यह स्थिति रोगी पर प्रकट न होने दें।

रक्त परीक्षा—

रक्त-परीक्षा में निम्न बातें मालूम की जाती हैं—

(१) रक्त का वर्ण (हेमोग्लोबिन का परिमाण)
(२) रक्ताणु का अनुपात (गणना)
(३) रक्त-स्कन्दन का समय
(४) विडाल परीक्षा
(५) रक्तशर्करा तथा रक्त में यूरिया की मात्रा जानना
(६) रक्ताणुओं का नीचे गिरने के समय की जाँच
(७) रक्तपरिवर्तन के लिए रक्त का वर्गीकरण

रक्त परीक्षा विधि

अंगुली या कर्णपाली को स्पिरिट से साफ कर विसंक्रमित सुई चुभोकर रक्त निकालकर काचपट्टी पर लेकर उसे दूसरी काचपट्टी के किनारे से फैलादें, फिर इस पर काच की गोल टिकिया लगा विशिष्ट विधियों से रंगकर अणु विक्षण यंत्र से देखा जाता है, इसी प्रकार उपरोक्त स्थानों से निकाले हुए रक्त को एक पिपेट नलिका द्वारा लेकर रक्ताणुओं की गणना करनी चाहिये।

परीक्षा के लिये अधिक रक्त लेना हो तो शिरा-रक्त लिया जाता है, इसके लिये बाहु पर रबड़ की पट्टी बांधकर शिरा फुलाकर विसक्रमित सूची द्वारा सीरीज से रक्त लिया जाता है, रक्त को कुछ समय तक जमने से रोकने के लिये सोडा साईट्रास विलयन मिलाते हैं।

रक्त के वर्ण की परीक्षा के लिये हेमोग्लोबिनो मीटर तथा रक्ताणुओं का अनुपात गिनने के लिये हेमोसाईटो मीटर काम में लिया जाता है। इसी तरह उपदेश की परीक्षा के लिये "कानटेस्ट" तथा मंथर ज्वर की परीक्षा के लिये बिडालटेस्ट आदि पद्धतियां प्रयुक्त होती हैं।

परीक्षा के लिए रक्त को भेजना—

उपरोक्त प्रकार से रक्त लगाई हुई काच की पट्टी साफ कागज में लपेट कर या परीक्षा नलिका मे ५ C°C रक्त लेकर मुंह बन्दकर परिचय पत्र, शय्या संख्या, वार्ड नम्बर, दिनांक आदि लिख कर भेजें।

रक्त में शर्करा की मात्रा

स्वस्थावस्था मे भोजन से पूर्व ०'०६ से ०.१२ तक होती है। भोजन के बाद ०'१८ प्रतिशत से अधिक हो जाय तो वृक्क द्वारा निकाल दी जाती है।

रक्त में यूरिया की मात्रा—

रक्त में यूरिया की मात्रा स्वस्थावस्था में ०'०२ से ०'०५ प्रतिशत तक होती है। इसकी मात्रा रक्त में जितनी अधिक होगी उतनी ही भयावह मानी जाती है। रोगी ०'१ प्रतिशत की अवस्था मे एक वर्ष से अधिक नहीं जीता। ०'६ प्रतिशत में मृत्यु हो जाती है।

रक्त में श्वेताणु संख्या—

रक्त श्वेताणु ७००० से १०००० तक होती है जिनका प्रतिशत निम्न प्रकार से है।

क्षुद्रलसीकाणु	—	२० से २५ प्रतिशत
बहुरूपमीगीयुक्त श्वेताणु	—	६५ से ७० प्रतिशत
वृहल्लसीकाणु	—	३ से ५ प्रतिशत
अम्लरंगेच्छुश्वेताणु	—	१ से २ प्रतिशत

रोगी परीक्षा—

रोगी परीक्षा तीन प्रकार से, छः प्रकार से तथा आठ प्रकार से है:

तीन प्रकार—

१. दर्शन (रोगी को देखना, प्रकृति से, या विकृति – लक्षणों से)
२. स्पर्शन छूना, इससे निम्न भावों का ज्ञान होता है—
   (क) निरन्तर फड़कने वाले अङ्गों का ज्ञान
   (ख) „ गर्म रहने वाले „ की उष्णता
   (ग) „ मृदु „ मार्दव
   (घ) संधिस्रंश, भ्रंश, च्यवन, शैथिल्य
   (ङ) रक्त मांस की न्यूनता
   (च) स्वेदाभाव

(छ) स्तम्भता

३. प्रश्न :—साधारण व विशिष्ट प्रश्नों से—

'प्रश्नैस्तु विद्यादखिलं रोगवृत्तान्तमादितः ।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश से रोगी परीक्षा की जाती है—

छः प्रकार—

पांचों इन्द्रियां व प्रश्न से ।

रोगी के शरीरगत संपूर्ण शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि इन्द्रियार्थों को चिकित्सक अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा परीक्षण करें परन्तु इसमें रस ज्ञान अपवाद है—इसके लिए अनुमान प्रमाण द्वारा जैसे यदि रोगी के शरीर पर जूं चले तो (शरीरवैरस्थ) तथा मक्खियें आकर बैठने पर (देहमाधुर्य) तथा रक्तपित्त अवस्था में जब यह जानना आवश्यक हो कि क्या यह जीव रक्त है ?

उस समय रक्त को कौए या कुत्ते के सामने रखें, यदि ये प्राणी इसे खाएँ तो जीव-रक्त समझ कर इसे तत्क्षण रोकने की चिकित्सा करें अन्यथा वैकारिक रक्त की उपेक्षा की जाय । प्रमेहादिरसज्ञाने रासनी ।

कर्ण द्वारा—

आंतों का कूजना, सन्धियों में फूटन, पर्व शब्दों तथा हृदय फुफ्फुस आदि के शब्द-विशेषों का परीक्षण करे ।

'तत्र श्रौतीपरीक्षास्यादुरोरोगेषु तद्यथा ।
उरसिश्रूयते वायुः सश्लेष्मा बुद्बुदायित ।।'

नेत्र द्वारा—

रोगी का वर्ण कृष्ण, कृष्ण श्याम, गौर श्याम या गौर, प्राकृतिक या वैकृतिक, विभक्तवर्ण ऊपर-नीचे, दाँए-बाँए, ग्लानि, रौक्ष्य, पिप्लव, व्यंग, तिल तथा उपांगों के नख, नेत्र, वदन, मल, मूत्र, पुरीष, हाथ, पांव, ओष्ठ आदि के प्राकृतिक तथा वैकृतिक वर्णों की तथा प्रमाण, छाया, प्रभा आदि की परीक्षा करें । 'चाक्षुषीतु भवेद्वर्णापचयादि प्रदर्शिनी ।'

नासिका द्वारा—

घ्राण से आतुर शरीर के स्रावों, मल, मूत्र, पुरीष स्वेदादिका शुभ व अशुभ गन्धों से पुष्पित आदि का परीक्षण करें । 'घ्राणेन ज्ञायते गन्धः श्लेष्म पूयासृगादिषु ।'

त्वचा से—

हाथ द्वारा प्राकृतिक व वैकृतिक उपरोक्त स्पर्शज्ञान करें ।

'त्वाची परीक्षा शीतोष्ण धमनी गतिबोधिनी ।
यकृत्प्लीहादि संस्थान सूचनार्थापिसोच्यते ।।'

अष्टविध—

रोगाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत् ।
नाडी मूत्रं मलं जिह्वां शब्द स्पर्श दृगाकृतिः ।।

रोगी की ८ प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये ।

१. नाड़ी, २. मूत्र, ३. मल, ४. जिह्वा, ५. शब्द, ६. स्पर्श, ७. नेत्र, ८. आकृति ।

रोग परीक्षा—

रोग ज्ञान पांच प्रकार से होता है ।

१. निदान—साधारण तथा विशिष्ट, दोष, व्याधि, दोष व्याधि

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम, व्यभिचारी, दूर, निकट, स्थायी,

२. पूर्वरूप, सामान्य, विशिष्ट

३. रूप

४. उपशय

हेतु विपरीत
व्याधि विपरीत
हेतु व्याधि विपरीत
हेतु विपरीतार्थकारी
व्याधि विपरीतार्थकारी
हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी

औषधि, अन्न, विहार से १८ प्रकार ।

५. संप्राप्ति ।

संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थान संश्रय तथा प्रकट हो जाना ।
इससे
संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल, काल, उपरोक्त प्रकार से प्रति रोग की परीक्षा की जाय ।

रोगीपरीक्षा की तैयारी—

रोगीपरीक्षण कक्ष में रोगपरीक्षा सम्बन्धी सामान सजा हुआ रहे । रोगी को आराम

से बैठा कर या लेटा कर--आवश्यक तथा परीक्षणीय स्थानों के वस्त्र हटा कर सरलता-पूर्वक एकाग्रचित्त से परीक्षा करे।

वक्ष परीक्षा—

उर: परीक्षा करते वक्त रोगी को चित्त लेटाएँ तथा पृष्ठ की परीक्षा करने पर आगे झुका कर पालगती लगा कर बैठाएँ तथा जिस पार्श्व की परीक्षा करनी हो रोगी का मुंह उसकी विपरीत दिशा में रखावे।

उदर परीक्षा—

रोगी को लेटा कर घुटनों को संकुचित करा हाथ से स्पर्श परीक्षा करें।

गुदा परीक्षा—

दाहिने हाथ मे रबर का मोजा या केवल अंगुली पर रबर की टोपी पहिना कर वेसलीन लगा लें। रोगी को बांई करवट लेटायें या घुटने को ऊपर की ओर मोड़ कर गुद-दर्शक यन्त्र को गुदा में डाल कर या अंगुली को गुदा मे डाल कर परीक्षा करें। परीक्षा से पूर्व मलाशय तथा मूत्राशय खाली रखें।

योनि परीक्षा—

रुग्णा को चित्त लेटाएँ तथा उपरोक्त प्रकार से योनिदर्शक यन्त्र या अंगुली से परीक्षण करें।

इसी तरह नाक, कान, गला आदि का परीक्षण भी यन्त्रों की सहायता से करे।

पाचन संस्थान-परीक्षा

१. प्रश्न—

(क) क्षुधा—अधिक या कम, सच्ची या मिथ्या, क्या ठीक समय पर लगती है? अभक्ष्य पदार्थो की तो इच्छा नहीं होती?

(ख) तृषा—अधिक या कम, तथा समय—

(ग) सवेदना— „ „ (शोध, अजीर्ण गुरु भोजन)

(घ) दाह— „ „ (अम्ल पित्त में भोजन के बाद)

(ङ) गौरव— „ „ भोजनोत्तर

(च) मुखस्वाद—

(छ) वमन— कब तथा इससे शान्ति या कष्ट

(ज) शौच— अतिसार है या विबन्ध?
विपर्यय से तो नहीं होता?

मात्रा, वर्ण, उसमें कफ या रक्त तो नहीं ?

अधोवायु की क्या स्थिति है ?

२. दर्शन

(क) मुख (ओष्ठ दंत, दन्तवेष्ठ) जिह्वा, गला, मलद्वार का वर्ण—नील, श्वेत, फोड़े फुन्सियां, मल, पूय, शोथ, रक्तिम आदि प्राकृतिकता व विकृति।

(ख) उदर—नग्न कर देखे। उसमें शोथ, अर्बुद उभार तो नहीं ? श्वासोच्छ्वास के साथ उदर की दीवार उठती बैठती है या नहीं। अन्त्र की गति तो नहीं दीखती ?

३. स्पर्शन—

रोगी को लेटाकर पैरों को संकुचित कर सपाट हाथ से परीक्षा करें। मृदु हैं या कठोर ? उदर की दीवार तनी हुई सख्त तो नहीं ? दबाने से पीड़ा तो नहीं होती है, यदि होती है तो कहां ? उदर में ग्रन्थि, अर्बुद, शोथ आदि है। यदि है तो दीवार में या उदर के भीतर ? क्या हिलाने से हिलता है ?

श्वासोच्छ्वास से हिलता है क्या ? लसीका ग्रन्थियां प्रतीत होती है ?

उदरवृद्धि मे नाभिस्थान का माप लें।

जल, वसा, डिम्ब यकृत्, प्लीहा, आध्मान मे बड़ जाता है। तरंग परीक्षा से जलोदर निर्णीत किया जाता है।

यकृत्—

यह यकृत् व कौड़ी प्रदेश में महाप्राचीरा के नीचे पसलियों की आड़ में मध्य रेखा से तीन इंच बांई ओर तक रहता है।

ऊर्ध्वधारा—

बांई पांचवीं पर्शुकान्तर से ३ इंच से प्रारम्भ हो कर दांई ओर चूचुक रेखा में पांचवी पर्शुका के किनारे वक्षरेखा में सातवी पर्शुका के पीछे स्कन्धास्थि रेखा में नवमी पर्शुका से गुजरती हुई पृष्ठवंश के नवमे कशेरुका तक जाती है।

अधोधारा—

नीचे की पसलियों की आड़ से जाती हुई बांएँ सिरे से जा मिलती है।

स्पर्शन—

सपाट हाथ से अगुली का किनारा ऊपर रखते हुए स्पर्शन करें। क्या तर्जनी को कोई चीज तो नही स्पर्श होती ?

यदि है तो पर्शुका से कितनी नीचे मृदु है या कठोर ?

नवजात शिशुओं मे यकृत् नाभि तक रहता है।

ठेपन—

ठेपन से दोनों धाराओं को ज्ञात करें।

मृदु ठेपन का शब्द जहाँ रिक्त से ठोस हो जाय वहीं अधोधारा जाने। पर्शुकाओं ५
ऊर्ध्व धारा को जानने के लिये कठोर ठेपन करें।

कामला, यकृत् शोथ, पित्ताश्मरी, सौत्रिक वृद्धि, तीव्रज्वर, अजीर्ण, अग्निमान्द्य
यकृत् बढ़ जाता है।

प्लीहा—

यह मध्य रेखा से बांईं ओर कौड़ी प्रदेश तथा वाम अनुपार्श्विक प्रदेश में ।५
दशम, ग्यारहवीं पर्शुकाओं की आड में रहती है। प्लीहा की आकृति हथेली के ९ ९
होती है।

स्पर्शन—

रोगी को लेटा कर उदर में बांईं ओर दबा कर करें, जहाँ सिरा मालूम दे चिन्ह ल।.
लें, तथा वह मृदु है या कठोर ?

ठेपन—

बांईं ओर नीचे से ऊपर की ओर ठेपन करें। जहाँ शब्द हो जाय वहीं अधोधरा
समझें।

विषम ज्वर, तीव्र संक्रामक रोग, श्वेताणुवृद्धि, जीर्ण ज्वरों मे बढ़ जाती है।

आमाशय—

आमाशय की आकृति स्थिर नही होती, फिर भी यह परीक्षा अवश्य की जाय कि
यह विस्तृत तो नही हो रहा है।

उपान्त्र या उण्डुकपुच्छ—

जहां अर्बुदांतरिक रेखा दाहिनी ऊर्ध्व रेखा से मिलती है उससे एक इच नीचे उंडुक
पुच्छ है।

वृहदन्त्र—

उपांत्र से प्रारम्भ होकर ऊपर जाता है (आरोही) यकृत् तथा प्लीहा के बीच
(अनुप्रस्थ) तथा प्लीहा से नीचे की ओर जाने वाला (अवरोही) है।

वृक्क—

इसके ऊर्ध्व, अध तथा वृन्त तीन भाग हैं।

ऊर्ध्व—

मध्य रेखा से २ इंच बाहर पर्शुकाधो रेखा तथा वृक्षोऽस्थि के मध्य है।

मध्यवृन्त—

पर्शुकाधो रेखा पर मध्य से २ अन्तर पर।

अध:—

अर्बुदान्तरिक और पर्शुकाधो रेखा के बीच में मध्य से तीन इंच के अंतर पर स्थित है।

वृक्क का $\frac{2}{3}$ भाग पसलियों की आड़ में रहता है।

रुग्णावस्था मे स्पर्श किया जा सकता है।

त्वाची परीक्षा शीतोष्ण धमनीगति बोधिनी।
यकृत्प्लीहादिसंस्थान सूचनार्थापिसोच्यते॥

श्वसन संस्थान परीक्षा

प्रश्न—

रोगी के परिवार में तमक श्वास, कास, यक्ष्मा तो नहीं ? रोगी का व्यवसाय धूल, आटा, कपास के कारखाने में तो नही है ? रोगी दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहा है ? तथा रात्रि मे ठंडा पसीना आता है ?

कास—

शुष्क है या आर्द्र, कास के समय पीड़ा प्रतीत होती है ?

कफ—

आता है तो कैसा ? गाढ़ा, पतला, वर्ण क्या है ? क्या उसमे रक्त आता है ? पानी मे डूबता है क्या ? रक्तकण, पूयकण, फुफ्फुस तन्तु आदि तो नही ?

दर्शन—

क्या नथने फूलते है ?

होठ या नाक के पास पिडिकाएं हैं ? (फुफ्फुसावरण प्रदाह)

मुख कपोलो का वर्ण नीलाभ है ? (फुफ्फुसावरण प्रदाह)

कपोल लाल हैं ? (फुफ्फुसप्रदाह)

श्वासगति सख्या का नाड़ी से निपात क्या है ?

श्वास गभीर है या गाध—वक्ष व उदर हिलते हैं या नहीं ?

वक्ष का परिमाण—छोटा है या बड़ी आकृति का है ?

दोनों ओर सम है या विषम ? दोनो का प्रसार सम है या विषम ?

फुफ्फुस—

शिखर —अक्षक से एक इच ऊपर

अग्रधारा—दूसरी उपपर्शुका सन्धि के पास दूसरी ओर की अग्रधारा से मिलकर चतुर्थ उप पर्शुकातक दांई तरफ छठी उपर्शुका तक जाकर अधोधारा से जा मिलती है।

अधोधारा—दशम पृष्ठ कशेसका तक जाती है।

पाश्चात्यधारा—सातवें ग्रीवा कशेरुका तक ऊपर जाती है।

दाहिना फुफ्फुस दो दरारों से तीन खण्डों में विभक्त है।

वाम „ एक दरार से दो „ „

फुपफुसा वरण—

दो तहों मे २ होते हैं।

स्पर्शन—

सम है या विषम ? प्रसार कैसा हो रहा है ?

शब्द स्पर्श—

दोनों ओर वक्ष पर सपाट हाथ रख कर रोगी के उच्चारण को सुनें। यदि कहीं जल भरा है तो तरंग प्रतीति नहीं होगी। ठोस या कोटर होने पर तरंग बढी हुई मालूम देती है।

ठेपन—

समान स्थानों पर ठेपन कर तुलना करें।

गुंजन है या नही ? (जीर्ण कास श्वास, सुनारों में वायुकोष्ठ विस्तृति से गुंजन बढ़ा हुआ होता है।)

ठोस होने पर कम (फुफ्फुसप्रदाह यक्ष्मा में)

तरल होने पर कम (आर्द्रफुपफुसावरण प्रदाह में)

श्रवण—

फुफ्फुसों मे वायु के जाने आने के शब्द कैसे सुनाई देते हैं ? क्या इनके साथ अन्य वैकारिक शब्द हैं ?

स्वरयंत्र पर—

उच्छ्वास सब सुनाई देता है। निःश्वास एक तिहाई भाग।

प्रणालीय श्वास—

मृदु व सरल होता है। यह लम्बा होता है। खण्डीय फुपफुसप्रदाह से पीड़ित खंड पर आर्द्र फुफ्फुसावरण प्रदाह में फुफ्फुस का शब्द अधिक कर्कश सुनाई देता है।

तरल हो तो कम „ „

सहगामी शब्द (वैकारिक)

आर्द्र व शुष्क—घर्षण

आर्द्र—

करकरायन—तरल में से वायु के आने जाने से
मृदु—केशघर्षणवत् सुनाई देता है।
मध्य—स्थान छोटा तथा थोड़ा तरल होने पर ,, ,,
कठोर—स्थान बड़ा अधिक तरल होने पर ,, ,,

शुष्क (कूजन)—

सूक्ष्म—शोथ-प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहजन्य तीव्र कास तमक श्वास मे
स्थूल—कपोत कूजनवत्, तीव्रकास, वायुप्रणाली तथा टेंटुवे के शोथ में

घर्षण—खर आवरणों की रगड़ से-

मृदु—आर्द्र फुफ्फुसावरण के प्रारम्भ में जब कि तरल नहीं बना होता
कर्कश—शुष्क ,, प्रदाह में
शब्द श्रवण—बढना : फुफ्फुस ठोस होने पर
,, घटना : फुफ्फुसावरण में तरल होने पर

रक्त वह संस्थान परीक्षा—

प्रश्न—

क्या हृदय-प्रदेश मे पीडा होती है ?
पीड़ा किधर जाती है ?
पीड़ा हर समय रहती है या कभी कभी ?
पीड़ा वहाँ से वाम हाथ या कन्धे की ओर जाती है ?

धड़कन (हृद्रव)—

हर समय रहती है या श्रम से बढ़ जाती है ?
चक्कर आते हैं क्या ?
बेहोशी (मूर्च्छा) होती है तो कितने समय के अंतर से ?
श्वास – श्रम से होता है या बिना श्रम से ?
निद्रा – कैसी आती है ? गाढ़ या स्वप्नमय ?
हाथों पैरों मे शोथ तो नहीं हो जाता ?
क्या ष्ठीवन मे रक्त आता है ?

दर्शन—

पलको के नीचे तथा नख तथा तालु पृष्ठ का वर्ण देखें। नीला, पीला, भुसभुसा तो

नहीं। क्या ग्रीवा में धमनी की फड़कन दिखती है ? अंगुलियों के सिरे मोटे व नीले तो नहीं हो रहे हैं ? हृदय प्रदेश पर धड़कन से कितना स्थान घिर रहा है ? धड़कन नियमित है या नहीं ?

शब्द श्रवण के लिए स्थान—

१. बांएँ मध्यस्थ कपाट के लिये हृदयकोण पर चूचुक से १। इंच नीचे

२. दांएँ मध्यस्थ कपाट के लिये–वक्षोऽस्थि के नीचे कौड़ी पर

३. फुफ्फुसी या धमनी के कपाट के लिए–वक्षोऽस्थि के बांएँ किनारे के बाहर दूसरी पर्शु कान्तर पर

४. वृहद्धमनी कपाट के लिए–दूसरी बांईं उपपर्शु का वक्षोऽस्थि सन्धि पर—

हृदयविस्तृति में श्रवणस्थान बदल जाते हैं। प्राय: क्षेपक कोष्ट फैलते हैं।

आकुंचन के समय लू ३ ब् शब्द होता है।

प्रसार के समय डप् " "

हार्दिक विकृति २ प्रकार की होती है—

१. व्यापारिक, २. ऐन्द्रियक

व्यापारिक—

आकुंचन के समय दीर्घ तथा मृदु होता है।

ऐन्द्रियक—

आकुंचन व प्रसार दोनों समय सुनाई देता है।

इसके रोधक तथा प्रत्याभक भेद भी हो सकते हैं।

मूत्र परीक्षा

क भौतिक—

१ मात्रा—१½ सेर

२ वर्ण—पीला-सा, फीके रंग का, संतरे जैसा, हरितकृष्ण, हरितपीत

३ द्रवता

४ गंध

५ गुरुत्व १०१५ से २५

६ निक्षेप, तलछट

फॉस्फेट्स—(क्षारीय में) डाइल्यूट एसेटिक एसिड से अलग हो जाता है। पूय वैसी ही रहती है।

यूरेट्स—अत्यम्लीय गाढ़े मूत्र में—मूत्र रंजक के प्रमाण से इसका रंग गाढ़ा सुर्खी जैसे होता है।

यूरिकाम्ल—का वर्ण लाल मिर्च के समान

आक्जलेट्स—

(ख) रासायनिक—

१ प्रतिक्रिया—क्षारीय, अम्लीय

२ क्लोराइड्स—सोडियम (अधिक) पुटेशियम् (थोड़ा) (१ तो. प्र. दि.)

३ फोस्फेट्स—क्षारीय सोडियम, पुटेशियम्, अमोनियम् भौम कैल्सियम् मैग्नेसियम् प्र. दि. २-३ माशे।

४ सल्फेट्स

५ आक्जेलेट्स—(कैल्शियम्) (अम्लपित्त में बढ़ जाते हैं)

६ यूरिया—२५ से ४० ग्राम प्रतिदिन ३'। प्र. औंस ६ ग्रेन

७ अमोनियम्—½ से १ ग्राम प्र.दि.

८ यूरिक एसिड—०'४ से ०'७ तक प्र.दि.

९ क्रिएटीन

१० हिप्यूरिक एसिड

मूत्र में उपस्थित द्रव्य—

क प्रोटीन

ख रक्त

ग शर्करा

घ पित्त

ङ पूय—एसिटोन – डाई एसेटिक एसिड

तलछट—

मूत्र के कुछ देर पड़े रहने से बर्तन के पैंदे में कुछ निक्षेप जमता है जो कि देखा जा सकता है। यह म्यूकस आम के कारण जमता है। क्षारीय प्रतिक्रिया वाले मूत्र में सफेद रंग का भारी पदार्थ जिसे कि फोस्फेट कहते हैं। यदि अम्लीय प्रतिक्रिया है तो साधारणतया हलके गुलाबी रंग के यूरेट्स देखे जाते हैं।

असाधारण निक्षेप रक्त के कारण से जिनका कि वर्ण लालिमा लिये चोकलेट के समान तथा पूय अवलंबित अवस्था मे रहती है।

मूत्र मे छ प्रकार के तत्व प्राप्त होते हैं जो कि रोग के परिचायक है। एल्ब्यूमिन, शर्करा, कीटोनबोडिज, रक्त, पूय और पित्त।

मूत्र में एल्ब्यूमिन—

मूत्र में प्रोटीन की उपस्थिति वृक्क की विकृति को प्रदर्शित करती है लेकिन यह आवश्यक नहीं कि प्रधानतया वृक्क व मूत्र वह संस्थान रुग्ण हो गया है अतः साधारणतया मूत्र में अल्ब्यूमिन की उपस्थिति हो रही है।

सूक्ष्म जन्तु—

जिन्हें सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जा सकता है उन्हें सूक्ष्म जन्तु कहते हैं।

ये दो प्रकार के होते हैं

१. जीवाणु — प्राणि वर्ग के

२. कीटाणु = वनस्पति वर्ग के

जीवाणु—

जिनसे विषमज्वर, प्रवाहिका (अमीबा) उपदंश (कर्षिणी)

कीटाणु—

ये दो प्रकार के हैं

१. शलाकाकार (बेसीलस)

२. बिन्दुकाकार (कॉकस)

" समूहरूप में (स्टेफिलोकाकस)

" पंक्तिबद्ध (स्ट्रेप्टोकाकस)

" युग्म (गोनोकाकस)

कीटाणु आधे से एक घण्टे में एक से दो हो जाते हैं। एक घंटे का समय वृद्धि का होने पर २४ घटे में एक से एक करोड़ साठ लाख हो जाते हैं। आधे घटे से तीन पद्म हो जाते है।

इनकी वृद्धि में निम्न सहायक होते हैं—

१. अनुकूल तापमान (शरीर सदृश)

२. अभीष्ट भोजन (देहमल)

३. समुचित क्षेत्र (रुग्णसंस्थान)

४. उपयुक्त परिस्थिति (आर्द्र व अंधेरे स्थान)

कीटाणु स्वयं हानिप्रद नहीं परन्तु इनका विष जो कि दो प्रकार से उत्पन्न होता है हानिकारक है।

१. विष जो उनसे जीवित अवस्था में बनता है।

२. विष जो उनके मरने से हुई सड़ांघ से बनता है।

देह में इनका प्रवेश—

१. श्वास द्वारा वायु से २. व्रणों पर धूल मिट्टी से ३. स्पर्श से ४. थूक मलमूत्र दूषित वस्तुओं के संपर्क से ५. दूषित आहार से ६. मक्खी-मच्छर द्वारा ७. कुत्ते चूहों के काटने से ८. संक्रमवाहकों द्वारा फैलता है।

स्वस्थ पुरुषों की ऊंचाई के अनुसार आयु एवं वजन-तालिका

क्रम संख्या	पुरुषों की ऊँचाई (फुट और इंच) में	आयु २० वर्ष में (पौण्ड)	३० वर्ष में (पौण्ड)	४० वर्ष में (पौण्ड)	५५ वर्ष में (पौण्ड)
१	५—००	११४	१२१	१२५	१२८
२	५—१	११७	१२४	१२८	१३५
३	५—२	१२१	१२८	१३३	१३६
४	५—३	१२५	१३२	१३७	१४१
५	५—४	१२८	१३६	१४२	१४५
६	५—५	१३२	१४०	१४५	१४९
७	५—६	१३६	१४४	१४९	१५४
८	५—७	१४०	१४८	१५५	१५८
९	५—८	१४४	१५३	१५८	१६३
१०	५—९	१४८	१५८	१६३	१६८
११	५—१०	१५३	१६३	१६८	१७३
१२	५—११	१५८	१६८	१७३	१७८
१३	६—००	१६३	१७२	१७८	१८३
१४	६—१	१६८	१७७	१८४	१८८
१५	६—२	१७३	१८२	१८९	१९४
१६	६—३	१७८	१८८	१९५	२००

स्वस्थ स्त्रियों की ऊँचाई के अनुसार आयु एवं वजन-तालिका

क्रम सख्या	स्त्रियो की ऊँचाई (फुट और इच) में	आयु २० वर्ष में (पौण्ड)	३० वर्ष में (पौण्ड)	४० वर्ष में (पौण्ड)	५० वर्ष में (पौण्ड)
१	५—००	११०	११५	१२०	१२८
२	५—१	११३	११८	१२४	१३२
३	५—२	११६	१२२	१२८	१३६
४	५—३	११९	१२६	१३२	१४०
५	५—४	१२३	१३०	१३६	१४४
६	५—५	१२७	१३४	१४०	१४८
७	५—६	१३१	१३८	१४४	१५३
८	५—७	१३५	१४२	१४८	१५८
९	५—८	१३९	१४६	१५२	१६३
१०	५—९	१४३	१५०	१५५	१६८
११	५—१०	१४७	१५४	१६२	१७३
१२	५—११	१५२	१५९	१६७	१७८
१३	६—००	१५६	१६४	१७२	१८३
१४	६—१	१६२	१६९	१७८	१८८

मान परिभाषा—

इम्पीरियल पद्धति और दशांस पद्धति दोनों ही आजकल औषधियां तोलने के काम में आती हैं।

इम्पीरियल—

लम्बाई

१२ इंच	=	१ फुट	१० मिलीमीटर	=	१ सेन्टीमीटर
३ फुट	=	१ वार (गज)	१०० सेन्टीमीटर	=	१ मीटर
१ इंच	=	२·५ सेन्टीमीटर			
३९ इंच	=	१ मीटर			

शुष्क चूर्ण—मान

६० ग्रेन	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औन्स
१६ औन्स	=	१ पौन्ड
१५.४ ग्रेन	=	१ ग्राम
१ औन्स	=	२८.४ ग्राम

वजन

१००० मिलीग्राम	=	१ ग्राम
१००० ग्राम	=	१ किलो
१ किलो	=	२.२ पौन्ड

घन नाप—

१००० क्यूबिक सेन्टीमीटर	=	१ लिटर

द्रव-मान—

६० मिनिमम	=	१ ड्राम
८ ड्राम	=	१ औन्स
२० औन्स	=	१ पोइन्ट
२ पोइन्ट	=	१ क्वार्ट
४ पोइन्ट	=	१ गेलन
३५.२ औन्स	=	१ लिटर
१ पोइन्ट	=	५६८ सी. सी.
१ चायचम्मच	=	१ ड्राम
१ डेजर्टस्पून	=	२ ड्राम
१ टेबलस्पून	=	४ ड्राम
१ वाइनग्लॉस	=	२ औन्स
१ चायकप	=	४.६ औन्स
१ गिलास	=	८.१० औन्स

८० तोला	=	१ सेर
४० सेर	=	१ मन
२७ मन	=	१ टन
२० मन	=	१ खण्डी
१ तोला	=	१ रुपया १८० ग्रेन
२½ तोला	=	१ औन्स
३९ तोला	=	१ पौन्ड

ज्वर

ज्वर के अधिष्ठान या ज्वर की प्रकृति ३ शारीरिक दोष तथा २ मन के दोष हैं। इसकी प्रवृत्ति दक्ष द्वारा अपमानित रुद्र के क्रोध से होती है, यहां प्रज्ञापराध से दश इन्द्रियों द्वारा मिथ्या आहार-विहार से रुद्र (पाचकाग्नि) के क्रुद्ध हो जाने का रूपक बताया गया है। जिसका प्रभाव अंगमर्द, अरुचि, तृष्णा, संताप तथा हृदय में पीड़ा होती है, जिसके कि लिंग के शरीर संताप (वैचित्य, अरति, ग्लानि) तथा मनःसंताप इन्द्रिय विकृति से अभिप्रेत है। ज्वर की अवस्था मे सौम्य (ठंड लगना) तथा आग्नेय (उष्णता की अधिक प्रतीति होना) है। यह सौम्य तथा आग्नेय स्थिति अतर्वेग से जिसमें देह के भीतर अधिक जलन, प्यास लगना, प्रलाप, श्वासवेगाधिक्य, भ्रम, सन्धिशूल, अस्थिशूल, स्वेदावरोध आदि के

लक्षणों में तथा बहिर्वेग उपरोक्त आभ्यंतरीय लक्षणों में कमी होने से इसकी सुखसाध्यता मानी जाती है।

ज्वर ऋतुओं के अनुसार अपने २ प्रकोप काल में होने से प्राकृत तथा दूसरी ऋतु में होने से वैकृत कहलाता है।

दोष—ऋतु	अनुवल	प्रा
कफ—वसन्त में	वातपित्त	कृ
पित्त—शरद में	कफ	त
वायु—वर्षा में		

प्राकृत कफ व पित्त के साध्य हैं जबकि वातज प्राकृत तथा वैकृत ज्वर कृच्छ्र साध्य माने जाते हैं। साध्यता—बलवान् व्यक्ति में दोषाल्पता से, तथा बलिष्ठ बहुकारण से कृच्छ्र साध्यता तथा इन्द्रिय नाशकर्तृत्व शक्ति से असाध्यता मानी जाती है।

सन्निपतित दोषों से ऋतु, दूष्य, व दोष, तथा प्रकृति के साम्यता से संतत रसवाहो स्रोतों मे गुरु दोष प्रसृत हो काल, दूष्य व प्रकृति की समानता मे उत्पन्न होता है, जिसके १२ आश्रय तथा ७, १०, १२ दिन की मर्यादा होती है। सतत यह रक्ताश्रयी कालवृद्धि-क्षयात्मकता से अहोरात्र में २ बार ज्वर होता है। अन्येद्युः इसका दोष सश्रय मेदोवाही शिराओं में होने से एक बार २४ घण्टे मे ज्वरकारक होता है। तृतीयक इसका दोष सश्रय मांसस्रोतों मे होने से एकान्तर से ज्वरकारक बनता है। चतुर्थक का दोष सश्रय भी मेदो-मार्ग में तथा ७२ घण्टे में ज्वरकारी बनते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी में बीज के रहते हुए भी कुछ बीज अपनी-अपनी ऋतु मे ही उत्पन्न होते हैं ठीक इसी प्रकार अपने-अपने नियत समय में उत्पन्न होने वाले ये ज्वर विषम ज्वर के नाम से कहे जाते है।

उपरोक्त ज्वरों को लक्षणों के अनुसार दूष्यों से सम्बन्ध निश्चित करना चाहिए। क्योंकि दोष दूष्य समूर्च्छना ही इति कर्त्तव्यता रूप सम्प्राप्ति है। अतः यदि दोष रस में समूर्च्छित है तो—गुरुता, दीनता, उद्वेग, अंगसाद, छर्दि अरुचि आदि होते हैं। तथा रक्त आश्रित होने पर उष्णता, पिडिकाएं तृष्णा तथा बार-बार रक्तष्ठीवन होता है। मांस मे आश्रित होने पर अंतर्दाह, तृषा, मोह, अग्निसाद, अतिसार आदि होते हैं। मेद में आश्रित होने पर अतिस्वेद, अतितृषा, प्रलाप, बार-बार वमन होता है। अस्थि आश्रित होने पर विरेचन, वमन, अस्थिभेद, कूजन। मज्जा में ज्वर रहने पर हिक्का, श्वास, कास, अंधेरी आदि होते है। शुक्राश्रित होने पर शुक्रमोक्ष व प्राणनाशकारी है। इनमे रस, रक्त, मांस मेदाश्रित साध्य तथा अस्थि मज्जागत कृच्छ्र साध्य तथा शुक्रगत असाध्य कहलाता है।

ज्वर ८ प्रकार का है—वात, पित्त, कफ, वातपित्त, पित्तकफ, कफवात, सन्निपात व आगन्तु से होते हैं। इनमें से ७ पूर्वोक्त दोषज तथा ८ वाँ आगन्तु है।

आगन्तु के कारण ४ हैं अभिघात (चोट) अभिचार अभिशाप (सिद्धगंधर्वयक्षादि) अभिषंग—कामक्रोध, लोभ, द्वेष तथा भूताभिसंक्रमण से है ।

संप्ताप्ति उपरोक्त कारणों से जब आद्य रस धातु दूषित हो जाता है तो उससे पोषण पाने वाले अग्नि-स्थान दूषित हो जाते हैं तथा अग्नि को अपने स्थान से बाहिर शरीर में निकाल कर समस्त शरीर में सतापवृद्धि तथा साथ ही साथ देहस्थ स्रोतोऽवरोध भी उत्पन्न कर शरीर एवं मन को संतप्त कर देते हैं ।

ज्वर प्रारंभ होने से ७ दिन तक तरुण या नवज्वर तथा इसके बाद पुराणज्वर कहलाता है । इनमें अरुचि, अविपाक, तथा उदर गौरव से आम ज्वर मलप्रवृत्ति, उत्क्लेश से पच्यमान, दोष त्याग से निराम ज्वर कहा जाता है ।

चिकित्सा तरुण ज्वर में—लंघन, स्वेदन, शृत जल, यवागू, तिक्त रसों के पाचन, वमन आदि दे । पुराण ज्वर मे सर्पिष्पान, रेचन, निरुह, स्रंसन बस्ति (अनुवासनव निरुह) शिरोविरेचन, अभ्यंग, प्रदेह परिषेक, अवगाहन धूपन अंजन आदि का प्रयोग करें ।

ज्वर—

शरीर में ताप के बढ़ जाने को ज्वर कहते हैं । जिस समय स्वेद मलमूत्रादि स्रावों का ह्रास तथा नाड़ीगति तीव्र हो जाती है । ताप-वृद्धि जन्तुओं के विष से होती है, विष-ताप वृद्धि दो प्रकार से करता है—

(१) रक्त में चलता हुआ मस्तिष्क के ताप केन्द्र को क्षुब्ध कर

(२) ,, ,, प्रत्येक कोष को क्षुब्ध कर

सप्राप्ति—कीटाणु विष को नष्ट करने का शरीर की ओर से प्रयत्न ही ज्वर है । इसकी तीन अवस्थाऐ हैं—

१. ज्वर चढ़ना २. स्थिर रहना ३. उतरना

ज्वर दो प्रकार से चढ़ता है :

अकस्मात्—विषम ज्वर, मसूरिका प्लेग

शनैः शनैः—आन्त्रिक ज्वर यक्ष्मा ।

ज्वर तीन प्रकार से उतरता है :

अकस्मात्—विषम ज्वर खः फुफ्फुसप्रदाह

शनैः शनैः—आन्त्रिक ज्वर यक्ष्मा ।

मिश्रित— ,,

तीन प्रकार—

(१) संतत — कई दिनों तक सम अवस्था में रहे। दिन रात में २ अंश से अधिक न पडे।

(२) अविसर्गी — ज्वर सदा चढ़ा रहे, २ अंश से अधिक अन्तर पड़े।

(३) विसर्गी — २४ घण्टे में एक बार अवश्य उतर जाय।

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक—

शमन—

ज्वरों में इन पर ध्यान रखा जावे—

विश्राम, मलशुद्धि, भोजन (सुपाच्य हल्का तरलमय);

जल (शृतशीत) षडंग, औषधि।

उपद्रव—अति तीव्रताप, १०५° से अधिक अति तीव्रताप है। इसे कम करने का प्रयत्न करें।

बाह्य शिर तथा मस्तक पर गुलाब जल, सिरका, बर्फ की पट्टी, बर्फ की थैली, बस्ति से शीतल जल, कोहनी के नीचे बाहु, घुटने के नीचे टांगों को गर्म जल में रख कर ठण्डा पानी डालते जाएं।

निद्रानाश—

विषरक्तता से होता है। निद्रा से देह कोषों को विश्राम मिल जाता है। १ घण्टे की नींद सेरों औषधियों के बराबर है।

प्रलाप कम्पन—

विषरक्तता से होता है। कोष्टबद्धता दूर करें तथा निद्रा से कम हो जाता है। ब्रोमाइड्स बरतते हैं—पर हृदयावसाद का भय रहता है।

हृदयावसाद—

ज्वरों का विष हृदय पर बुरा असर करता है। यदि नाड़ीगति १५० से ऊपर हो जाय तो अरिष्ट लक्षण समझें। ऐसी स्थिति में हृदय को उत्तेजन करने के लिए रससिन्दूर, मकरध्वज, कस्तूरी भैरव, द्राक्षासव, सूचीवेध, (कपूरतैल कस्तुरी) मिश्रित करें।

एक ही ज्वर में उपरोक्त चारों लक्षण होने से अभिन्यास ज्वर कहा जाता है जो अरिष्ट होता है।

विषम ज्वर, मलेरिया, मौसमी बुखार

परिचय—

यह वारी से आने वाला मच्छरों के काटने से होता है। जिसमें ठंड लग कर ज्वर चढ़कर कुछ देर रहता है। फिर पसीना आकर उतर जाता है।

कारण—

इसके जीवाणु को प्लैज्मोडियम कहते हैं। इनका प्रसार मच्छरों से होता है। ये गन्दी व सीली जगहो मे दिन मे छिपे रहते हैं, रात मे काटते हैं। इनमें मादा मांसाहारी होने से काटती है। और रक्त में से जीवाणुओं को लेती है। तथा इसके शरीर में जीवाणु बढते हैं। तथा उसकी लाला ग्रन्थियों द्वारा स्वस्थ शरीर मे जाते हैं। यह क्रिया १० दिन में होती हैं।

मानव शरीर मे रक्ताणुओं मे चले जाते हैं। और नियत समय तक रक्ताणुओं में रह कर उन्हें खाते हैं। यह नियत सम—

चातुर्थिक में ७२ घण्टे

तृतीयक (वि.) मे ४८ घण्टे

इस प्रकार नये रक्तकण पकड़ते है। इस तरह बारंबार अधिकाधिक रक्ताणु नष्ट होते हैं। इनके निकलने के समय मे शीत लगता है। कारण जीवाणु विषरक्त में मिलता है।

संप्राप्ति—इस प्रकार रक्तकण नष्ट होते हैं तथा जीवाणु बढ़ते रहते हैं। इससे रक्तक्षय, प्लीहावृद्धि, यकृद्वृद्धि, रक्तरंजक बढ़ जाना साथ ही पित्तरजक की मात्रा बढ़कर कामलावत् वर्ण होना तथा कृष्णरंजक होकर मूत्रकावर्ण कृष्णलोहित हो जाता है। यूरिया अधिक बनने से रक्त का गाढ़ापन होता है। इसमे वृहल्लसीकाणु बढ़ जाते हैं।

परीपाक काल ११ से १८ दिन।

ज्वर की तीन अवस्थाएं होती हैं। प्रथमावस्था—शिर-पीड़ा, अंगमर्द उत्क्लेश, शीत लगना। २ घण्टे।

द्वितीयावस्था—उष्णताप्रतीति, मुख लालसुर्ख, नाड़ी-गति तीव्र, आकृति और वेग अधिक, ज्वर अति तीव्र १०३, १०५, अवस्था ३-४ घण्टे।

तृतीयावस्था—पसीना आना, पसीने से शान्ति और मूत्र त्याग होना जिसका रंग गाढा होता है।

उपद्रव—

अतितीव्रताप, प्रलाप, आन्त्रिक ज्वर, फु० प्रदाह, प्लैहिक सौत्रिक वृद्धि, वृक्कशोथ।

प्रतिबन्धक—मच्छरों से दूर रहें, कूड़ा-करकट गन्दगी को पास न रखें।

शमन—क्विनाइन, ज्वरांकुश, करंजादिवटी, मल्लस्फुटिका, कुटकी, चिरायता, पर्पट, गिलोय आदि।

श्वसनक ज्वर (Lober Pneumonia) खं० फु० प्र०

परिचय—

एक या दोनों फुफ्फुसों के खंडों में शोथ होता है। तीव्रज्वर, श्वास, कास, ।२वं।. होते हैं।

कारण—

तृतीयक, वात श्लैष्मिक, प्लेग, प्रतिश्याय तथा शिशिर व वसन्त ऋतु में, वृद्धावस्था, क्षीण व्यक्तियों में होता है। उष्णव आर्द्र स्थान से अकस्मात् शीत शुष्क स्थान पर आना, दूषित धूलिमय वायु में निवास, श्रम, विषमज्वर, वृक्कशोथ, यकृतशोथ, अनियमित आहार-विहार, मद्यादि मादक द्रव्यों का सेवन, कुसमय स्नान।

संप्राप्ति—

कीटाणु गलच्छिद्र से फुफ्फुसों में जाकर फुफ्फुस कोषों में शोथ पैदाकर उन स्थानों को ठोस बना देते हैं जिसमे ५ से २४ घण्टे लगते हैं। इस। शोथयुक्तस्थानों मे वायु पहुँचने से मृदुकरकरायन होती है। ज्वर तीव्र व विषरक्तता हो जाती है।

साध्यावस्था में ७ दिन बाद ठोस से द्रवीभूत होकर श्लेष्मा बाहिर निकलता है।

लक्षण—

शीतपूर्वक तीव्रज्वर, पार्श्वशूल, शुष्ककास, कफ में रक्त, तीव्रश्वसन, नथने फूलना, कपोल लाल. ष्ठीवन में श्लेश्मा बहुत थोड़ी घनचिक्कन आती है।

२-३ दिन में पीड़ा कम, कास सुगमता से श्लेष्मा अधिक पतली आने लगती है।

अनिद्रा, प्रलाप, बेहोशी आदि भयानक लक्षण हैं।

दर्शन—रुग्णपार्श्व उभरा हुआ श्वासक्रिया में कम उठता है।

स्पर्शन—शब्द-स्पर्श बढ़ जाता है।

ठेपन—पहिले गुंजन, फिर ठोस हो जाता है।

श्रवण—मृदुकरकरायन, घर्षण, प्रणालीय, कोष्ठीय आदि में सुनाई देते हैं।

चिकित्सा—स्वच्छ वायु तथा प्रकाशयुक्त समशीतोष्ण स्थान में रखे। पूर्ण विश्राम दें। लघु सुपाच्य भोजन दें। आध्मान हो तो शृत शीत जल दें। विषरक्तता को रोकने के लिए शौच और मूत्र ठीक आता रहे। मूत्रल, स्वेदल, श्लेष्मल औषधियाँ देते रहें। निद्रा की ओर ध्यान दिया जावे। पार्श्वशूल में नारायण, पंचगुण, तैल की मालिश कर सेक करें। तथा लक्ष्मी विलास, विषाण तथा कटकार्यादि क्वाथ आदि दें।

लाक्षारसाभं यः ष्ठीवेद्रक्तं श्वासज्वरार्दितः ।
स्त्यानफुफ्फुसमूलस्य तस्य श्वसनकोमतः ।।

आन्त्रिक ज्वर, मोतोझरा, मन्थर ज्वर, टाइफाइड (Typhoid)

परिचय—

इस तीव्रसंक्रामक रोग मे क्षुद्रान्त्र की लसीकाग्रन्थि समूह में शोथ और व्रण हो जाते हैं, ज्वर शनैः २ बढ़कर उतरता है इसमे तीन सप्ताह लगते हैं।

कारण—इसके कीटाणु को वैसीलस टाइफोसस कहते हैं।

संप्राप्ति—रोगाणु अन्त्र में जाकर वहाँ की लसीकाग्रन्थियों में शोथ पैदा कर देता है। दूसरे सप्ताह में व्रण हो जाते हैं।

परिपाककाल १० से २४ दिन सीमा ५ से २० दिन।

लक्षण—

प्र० अ०—शिरःशूल, अंगमर्द, अवसाद, ज्वर दिनोंदिन तीव्रज्वर की अपेक्षा नाड़ी-गति मन्द, जिह्वामलिन, श्वेत, उसमें लाल २ अंकुर कुछ कुछ उभरे हुए किनारे लाल, उदर वायुपूर्ण, नाभि के नीचे दबाने से पीड़ा, सात दिन में ज्वर १०४. तक पहुँच जाता है।

द्वि० अ०—ज्वर सप्ताह तक वही स्थिर रहता है। प्रलाप, कम्प, उदर पर गुलाबी रंग की पिडिकाऐं कभी २ ग्रीवा, वक्ष, उदर पर श्वेत वर्ण की छोटी छोटी पिडिकाऐं निकल आती हैं। जिह्वा शुष्क व फट जाती है। होठों और दांतों पर मल जम जाता है (मुख चिन्तित, आंखे स्तब्ध व तेजहीन, व्रण में धमनिका के फटने से रक्तयुक्त मल होता है। उदरक कलाशोथ होने पर तीव्रताप, विषरक्तता, अतिसार, रक्तस्राव कभी यह अवस्था कभी २ से ४ सप्ताह तक चलती है।

तृ० अ०—ज्वर शनै. शनैः कम होता है। इस प्रकार इस सप्ताह में ज्वर व सब लक्षण दूर होते हैं।

च० अ०—दुर्बलता व अन्त्र के व्रण भरने लगते हैं।

इसमें १५-२० प्रतिशत मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—

अतितीव्रताप, विषरक्तता, प्रलाप, आध्मान, रक्तस्राव, उदरककला शोथ, फुफ्फुस-प्रदाह, वृक्कशोथ, शय्याव्रण।

चिकित्सा—

परिचारक को अपनी व दूसरों की रक्षा के लिए स्वच्छता का विशेष प्रबंध रखना चाहिये।

भोजन—मृदु, तरलमय व लघु दें। पूर्ण विश्राम दें। लेटाये रखें। लेटने से शय्या-व्रण का विशेष भय रहता है। अतः करवट बदलते रहें तथा रेक्टीफाइड स्पिरिट लगा कर बोरिक, जिङ्क आदि डस्टिङ्ग पावडर मलें।

अथास्य दोषपाकेन नैरुज्ये सम्भविष्यति।
प्रायस्तृतीये सप्ताहे क्वचित्तुर्येऽथवा पुनः॥

श्लेष्मक ज्वर (Influenza)

कारण—

एक प्रकार का दण्डाकार कीटाणु (वैसिलस इन्फ्लुएन्जा) है। जिसका प्रसार दूषित वस्त्रों व वायु द्वारा शरद, शिशिर व बसन्त ऋतु में जनपदोंद्ध्वंस के रूप से होता है।

संप्राप्ति—

श्वासयन्त्र में इसकी दुष्टी होती है, कभी कभी अन्नमार्ग भी दूषित होता है।

लक्षण—

यह अकस्मात् होता है जिसमें शिरःशूल, कटिशूल, कंठशूल, कंठदाह, तीव्रशुष्ककास, मुख व आँखें रक्तिम, प्रलाप, कंपन, जिव्हा मैली व फूली हुई, नाड़ी गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। रक्त में श्वेताणु कम तथा क्षुद्र व वृहत् लसीकणुओं का निपात बढ़ जाता है। इसकी चार अवस्थाऐं होती हैं :—

१. साधारण—उपरोक्त लक्षणों के साथ ५ से ७ दिन तक ज्वर रहता है।

२. श्वसनक —अतितीव्र कास, रक्तयुक्त ष्ठीवन, टेंटुएं से वायु-प्रणाली तथा फुफ्फुसों में फैलता हैं।

३. आन्त्रिक—उपरोक्त लक्षणों के साथ उत्क्लेश, वमन, अतिसार, कामला आदि हो जाते हैं।

४. वातिक—ज्वर, प्रतिश्याय, कासक्षीणता के साथ बेचैनी, प्रलाप, निद्रानाश, पक्षाघात, शीर्षावरण प्रदाह आक्षेपक आदि होते हैं।

परिपाक काल—तीन से चार दिन।

सीमा—एक से पांच दिन।

उपद्रव—

हृदयकार्यविरोध, पक्षाघात, फुफ्फुसप्रदाह।

चिकित्सा—

गोजिह्वादिक्वाथ, त्रिभुवनकीर्ति, मरिच्यादिवटी, दालचीनी तथा नीलगिरी तैल का

वाष्प स्वेद दे। रोगी को पृथक स्वच्छ वायु प्रकाशयुक्त स्थान में रखें। भोजन मृदु सुपाच्य तरलमय दे। मल-शुद्धि पर ध्यान रखें।

नैरुज्यं स्वल्पदोषस्य शीघ्रं यद्यपि जायते।
बलहानिश्चराय स्यात्कृच्छ्रा तु बहुदोषता ॥

सन्धिक ज्वर-आम वात ज्वर (Rheumatic Fever)

व्रणशोथरुजातोदैः सन्धीनापीडयन् भृशम्।
ज्वरो घोरः स हृद्रोगः सन्धिको नाम कथ्यते ॥

यह तीव्र रोग है जिसमे ज्वर, सन्धिशोथ, हृदय की कला में शोथ हो जाता है।

कारण—हेमन्त या शिशिर ऋतु में आर्द्र तथा उष्ण प्रदेश में होता है। इसका कोटाणु पंक्तिबद्ध बिन्दुकाकृति है।

संप्राप्ति—गलग्रथियों द्वारा रक्त मे जाकर सन्धियों में तथा रक्तधरा कला में शोथ पैदा कर देता है। रक्त में तक्राम्ल तथा फाईब्रिन बढ़ जाती है जिससे रक्त स्कंदन विलम्ब से होता है।

लक्षण—अकस्मात् शीत से ज्वर, अगमर्द, कंठदाह, ग्रीवास्तम्भ, गलग्रंथियें शोथ-युक्त होकर कोहनी, घुटना आदि सन्धिये रक्तमय व शोथयुक्त होकर असह्य पीड़ा हो जाती हैं। नाड़ी भरी हुई मृदु, अत्यधिक स्वेद तथा मल-मूत्र व रक्त की न्यूनता होती जाती है।

कीटाणु विष हृदय के कपाटों में शोथ पैदा कर खराब कर देते हैं जिससे हृदय में मर्मर शब्द सुनाई देने लगता है। हृद्विस्तृति हो जाती है।

उपद्रव—हृदयावकरण शोथ, फुफ्फुसावरण शोथ, कंठशोथ, अति तीव्र ज्वर, मस्तिष्कावरण शोथ आदि चिकित्सा—

पूर्ण विश्राम, लेटाये रखें, मृदु भोजन दें, आमल की गुड क्वाथ तथा गुग्गुलु प्रयोग करे। सन्धि शोथ पर सेक कर गर्म कपड़ा लपेटें। कभी कभी मृदु विरेचन बस्ति दें।

सः श्रमश्वासशोथाद्यैः क्रमात्सीदन् जहात्यसून्।

श्वेतातिसार सग्रहणी (Sprue)

परिचय—

अन्नमार्ग में श्लैष्मिक कला के जीर्ण शोथ के कारण जीर्णातिसार मुख पाक क्षीणता श्वेतवर्ण का अतिसार, फूला हुआ व झागदार मल होता है।

कारण—

मोनिलिया साइलोसिस कीटे, खाद्योज की कमी, वसाप्रोटीन का अधिक उपयोग, अमीविकप्रवाहिका।

संप्राप्ति—

अन्त्र की दीवार की श्लैष्मिक कला व ग्राहकांकुर क्षीण होकर उस स्थान में सौत्रिकतन्तु बन जाते हैं, साथ ही अग्न्याशय शोथयुक्त व वसामय तथा यकृत् प्लीहा संकुचित हो जाते हैं। जिह्वा की श्लैष्मिक कला फूल जाती है और उसमें व्रण बन जाते हैं। इसी तरह आमाशयिक कला के क्षोण हो जाने से आमाशायिक रसपूर्ण मात्रा मे नहीं बनता। इस प्रकार आहार का सम्यकलीनीकरण नहीं होता। अत: रोगी दिनोंदिन क्षीण व रक्तहीन होता जाता है।

लक्षण—

अजीर्ण, अम्लोद्गार, आध्मान और मल का वर्ण श्वेत हो जाता है तथा उसमें अपक्व द्रव्य व वसा मिली रहती है, मल फूला हुआ रहता है। जिह्वा का किनारा व अग्र भाग लाल व छोटे छोटे शोथ युक्त छाले तथा वृण हो कर वहाँ के स्वादांकुर संकुचित हो नष्ट हो जाते हैं जिससे जिव्हा शुष्क, रक्ताभ व श्लक्ष्ण हो जाती है। यह चिरस्थायी जीर्ण व्याधि है। रक्ताणुसंख्या न्यून, श्वेताणुन्यून, मल व मुख व्रणों में कीटाणु मिलते हैं।

पथ्य—केला, अनन्नास, सन्तरा, सेव, नासपती, आड्रू, लीची।

यकृत्—यकृतसत्व, कांजी तक्र।

अर्श, बवासीर पाइल्स (Piles) हैमेराइड्स (Haemorrhoids)

परिचय—

गुदा के निम्न भाग में शिराओं की फूली हुई अवस्था को अर्श कहते हैं।

संप्राप्ति—

गुदा मे शिराऐं लम्बाई के रुख होती हैं, मल त्यागने व प्रवाह के समय मल द्वारा जोर पड़ने से शिराऐं फूल जाती हैं। इसके दो भेद हैं: शुष्कार्श स्रावीअर्श, शुष्कार्श (बाह्यार्श)।

श्लैष्मिक कला में शिथिलता होकर शोथ हो जाना।

चिकित्सा—उष्म स्वेद या उपनाह करें तथा मृदुरेचन दें।

रक्तार्श, अन्तरीयार्श, स्रावीअर्श।

आरम्भ में मृदु होते हैं। परन्तु कुछ काल पश्चात् दृढ़ और उठे हुए प्रतीत होते

है। तथा गुदा से बाहर आ जाने पर जब अंदर प्रविष्ट नहीं हो पाते तो वहाँ व्रण हो जाते हैं जिससे शूल, वेचैनी आदि होती है तथा रक्त गिरता रहता है।

चिकित्सा—नागकेशर, तिल व मक्खन का प्रयोग करें।

प्रवाहिका

यह बहुत सी आन्त्रिक व्याधियों का लक्षण है जब कि आँतों में शोथ व व्रण होकर शौच प्रवाहण के साथ उतरता है, मल में रक्त व श्लेश्मा आता है।

इसके २ भेद हैं—बैसिलरी, अमीबिक।

(१) बैसिलरी—(कारण) इसका प्रसार ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में मल से दूषित आहार पदार्थों द्वारा होता है।

संप्रति—कीटाणु बड़ी आंत या छोटी आंत में शोथ पैदा कर व्रण बना देते हैं। व्रणों से कला के टुकड़े गिरते हैं, जिससे प्रवाहण होता है—मल में रक्त, कफ व कला के टुकड़े मिलते हैं।

परिपाक काल १ से २ दिन।

लक्षण—अकस्मात् उदर पीडा शुरू होकर मल-त्याग की इच्छा होती है—पहिले साधारण मल, फिर रक्त व कफ आते हैं और पेट मे ऐंठन होती है। रोगी चाहता है मलागार से नही उठे। ज्वर १००° रहता है। विडालसटेस्ट से इसका निश्चय हो जाता है।

चिकित्साशमन—

लंघन १ दिन, इसके बाद तण्डुलोदक, मुद्गयूष कृशरा के बाद रोटी दें।

सर्व प्रथम एरण्ड तैल अभयादि सौम्य विरेचन देकर संग्राहक औषधि दें। कुटजारिष्ट, सिद्धप्राणेश्वर, कर्पूर रस आदि।

अमीबिक—

कारण—इसका जीवाणु एन्ट अमीबा हिस्टोलिटिका है।

संप्राप्ति—जीवाणु आंतों मे बैठ कर इसे पैदा करते हैं।

लक्षण—लक्षणपूर्ववत् भेद यह है कि इसमें ज्वर नहीं होता। तथा शौच के समय कुछ विलंब होता है।

उपद्रव—उदरक कला शोथ, अन्त्र मार्ग संकोच, यकृद्विद्रधि चिकित्सा पूर्ववत्।

विशूचिका

परिचय—

यह अति तीव्र सक्रामक रोग है जो कि महामारी के रूप में कीटाणु दूषित आहार द्वारा फैलता है। इसमें वमन, अतिसार, उद्वेष्टन, मूत्राभाव होते हैं।

कारण—जुड़ा हुआ दंडाकार कीटाणु कॉलेरा विब्रियो है।

इसका प्रसार ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में प्रायः कर तीर्थ स्थानों में अधिक होता है। उदर रोगियों या कुपथ्यसेवियों में अधिक होता है।

संप्राप्ति—कीटाणु क्षुद्रान्त्र की दीवार में पहुँच कर अपने विष को रक्त में मिला कर रोग पैदा करते हैं। क्षुद्रान्त्र की लसीका ग्रंथि समूह में शोथ हो जाता है तथा अत्यधिक द्रवत्व निकल जाने से रक्त का घनत्व १०६५ से १०६५ तक हो जाता है। इससे वृक्कों मे मूत्र बनना बन्द हो जाता है।

परिपाक काल कुछ घण्टे से ५ दिन तक।

लक्षण—

प्र० अ० अतिसारावस्था—इसमें उदर-शूल होकर पीले रंग के, फिर फीके, जल्दी जल्दी तथा बाद में चावल के पानी के समान ५–१० मिनिट के बाद होने लगते हैं, साथ ही साथ वमन भी होते हैं, पहिले आमाशय के द्रव्य फिर क्षुद्रान्त्र के पित्त, फिर इनका वर्ण भी तण्डुल जलवत् हो जाता है। बाह्यताप कम परन्तु गुदा में १०३ होता है।

द्वि० अ० शीतकायावस्था—अतिक्षीण चेहरा पिचका हुआ, आँखें अन्दर धंसी हुई, (त्वचा) शीत शुष्क नीलाभ, झुर्रियायुक्त (मूत्र) पहिले कम पीछे बन्द हो जाता है। नाडी अति क्षीण, तीव्र रक्तभार कम, वाक् शक्ति धीमी होकर अन्त में सन्यस्त होकर प्राण त्याग देता है।

तृ० अ०—कुछ घण्टों या दिनों के बाद रोगी के वमन अतिसार कम हो जाते हैं। वर्ण भी बदलता है। तथा मूत्र आने लगता है। ज्वर होकर संज्ञावान हो जाता है।

चिकित्सा—

प्रति-पथ्यापथ्य पर विशेष ध्यान दें। बाजार की कोई चीज न खाएँ एव उबाल कर ही खायें।

रोगी को एकान्त में या संक्रामक आतुरालय में भेज दें। उसके मलादि का पूर्ण प्रबन्ध रखे। कॉलेरावेक्सीन से रोग क्षमता बढ़ती है। रोग की निवृत्ति के बाद कमरे को भली प्रकार शुद्ध करे। शमन-उष्ण कमरे में रखें, चूसने को बर्फ, यवमूष, ब्रान्डी दें, फिर जल-मिश्रित अधपका दूध दें। संजीवनी वटी लोंग से, प्याज का रस आदि दे।

उपद्रव—

मूत्राभाव में उष्ण लवण जल से मूत्राशय का प्रक्षालन करें। वृक्क प्रदेश पर सेक करें।

उद्वेष्टन—

पिण्डलियों पर राई का लेप करें।

वमन—

आमाशय, कौड़ी प्रदेश पर राई का उपनाह लगाएँ।

शीतकायावस्था—

मकरध्वज, कस्तूरी भैरव, मृतसंजीवनी, सुरा, नमक जल का सूची वेध दें।

धनुर्वात (Tetanus)

परिचय—

इस संक्रामक रोग में हनुस्तम्भ तथा मांस-पेशियों के संकोच से शरीर धनुष की आकार का हो जाता है।

कारण—

दण्डाकृति धनुर्वात कीटाणु है—जो पशुओं के अन्त्र में रहता है और उनके मल के साथ बाहिर आता है।

संप्राप्ति—

क्षतस्थान से कीटाणु प्रविष्ट हो कर बढ़ता हुआ अपने विष को मस्तिष्क के गत्यु-पादक क्षेत्रों मे शोथ व क्षोभ पैदा करता है।

परिपाक काल—

दो से चौदह दिन।

लक्षण—

सर्व प्रथम हनुस्तंभ की प्रतीति होती है, फिर स्तब्धता बढ़ कर सब मांसपेशियों में संकोच होता है। इससे शरीर धनुष की आकृति में पार्श्व या पीठ की ओर झुक जाता है। इससे असह्य पीड़ा होती है, ज्वर अतितीव्र ११० डिग्री से ११२ डिग्री तक होकर रोगी के प्राण हर लेता है।

चिकित्सा—

धनुर्वात विरोधी रक्त रस दे, पीड़ा रोकने के लिए अहिफेन आदि का लेप करें।

अम्लपित्त (Acid Dyspepsia)

परिचय—

आमाशय में अम्ल रस अत्यधिक बनता है।

कारण—

अधिक धूम्रपान, विरुद्ध, दुष्ट, अम्ल, विदाही, तीक्ष्ण पदार्थों का अत्यधिक सेवन।

लक्षण—

कौड़ी प्रदेश में जलन व क्षोभ होता है तथा भोजन के एक ही घण्टे बाद खट्टे डकार आते हैं।

चिकित्सा—

शतपत्रादि चूर्ण, द्राक्षादि चूर्ण, जहर मोहरा, अविपत्तिकर चूर्ण आदि।

अतिसार (Diarrhoea)

परिचय—

पतले मल का शौच बार बार आना अतिसार कहलाता है।

संप्राप्ति—

तीक्ष्ण, क्षोभक तथा दुष्पाच्य आहार के सेवन से अन्त्र में क्षोभ हो कर अपकर्षणी गति बढ़ जाती है, तथा अतिसार हो जाता है।

कारण—

जल, उदरकृमि, दूषित विष।

लक्षण—

मल का बार बार द्रवीभूत हो अपक्वावस्था में आना, तथा उदरशूल तथा उद्वेष्टन होना।

अभिनव—आम तथा पक्व अतिसार।

आम—मल जल में डालने पर डूब जाता है।

क्षय

परिचय—

यह तीव्र संक्रामक रोग है, जिसमें इसके कीटाणु विभिन्न अंगों में जाकर गण्ड बनाते हैं तथा मृदु होकर फट जाते हैं या रोग शांति के समय खटिकमय बनते है। ज्वर, क्षीणता अनियमित स्वेद लक्षण होते हैं।

कारण—

बैसिलस टयूबरक्लोसिस कीटाणु है। यह दीर्घजीवी महाप्राण है। ४ प्रकार का माना गया है।

जल-जन्तुओं का, पक्षियों का, पशुओं का, मनुष्यों का, पहले दो प्रकार के मानव के शरीर में रोग पैदा करने में असमर्थ है।

प्रसार—

थूक से तथा क्षयपीड़ित गौ के दूध से विशेषतया प्रसार होता है। नगरों का घन निवास तथा पूर्ण शुद्ध आहार की अप्राप्ति भी है।

संप्राप्ति—

कीटाणु गंड में बैठते है, वही से विष रक्त में मिल कर लसीका वाहिनियां द्वारा फैलता है।

सर्वांग का, फुफ्फुसों का, शीर्षावरण का।

(१) राजयक्ष्मा, तपेदिक, थाईसिस, पल्मोनरी ट्यूबरक्लोसिस। यह फुफ्फुसों में होता है। वायु मंदिर, सूक्ष्म वायु प्रणालियों में कीटाणु गड बनाते हैं। वेग भेद से इसके ४ प्रकार हैं।

(१) तीव्र खंडीय फुफ्फुसप्रदाहिक राजयक्ष्मा
(२) ,, प्राणालीय ,, ,,
(३) जीर्ण ,, ,, ,,
(४) ,, सौत्रिकतन्तुमय ,,

(१) तीव ख. फु प्र. यक्ष्मा—

इसमें फुफ्फुसखड प्रवाहित होते हैं, ज्वर अविसर्गी रात्रि स्वेद, रक्तष्ठीवन तथा रोगी वहुधा ४ से ६ सप्ताह में मर जाता है।

(२) तीव्र प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहिकक्षय—

इसमें ज्वर अनियमित, रात्रिस्वेद, ष्ठीवन पूय मय हरा व कीटाणुयुक्त तथा वलिगत-रूप धारण कर लेता है। रोगी ३ से ४ सप्ताह में मर जाता है।

(३) जीर्ण प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाहिकक्षय—

प्राय: यही भेद दिखाई देता है, यह कम भयानक है। यह केवल एक भाग में ही (प्राय: फुफ्फुसशिखरों पर) मन्द ज्वर, शुष्ककास, अंगमर्द, रोगी निर्बल, रात्रि स्वेद। इसका ज्ञान वड़ी देर से होता है। इसका प्रारंभ गुप्त रूप से होता है। इसमें ६ मास से ३ वर्ष तक रोगी जीवित रहता है।

(४) जीर्ण सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा—

यह वहुत धीरे-धीरे वढ़ता है, कभी कभी मन्द ज्वर, अनियमितस्वेद क्षीणता, दुर्वलता, कास, रोगी को इसका ज्ञान तक नही रहता। रोगी १० से २० वर्ष तक जीवित रहता है।

अन्त्रिकक्षय—

इसमें क्षुद्रान्त्र का अन्तिम भाग और बृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग प्रभावित होता है। अन्त्र की वृति में ग्रन्थियां बनकर मृदु होकर फट कर व्रण बन जाता है। फिर पूय स्राव मल द्वारा बाहर निकलने लगता है।

लक्षण—

ज्वर, क्षीणता, मलबद्धता, शूल अन्त्र परीक्षा से क्षयकीट, लसीका ग्रन्थियां बढ़ी हुई प्रतीत होती है।

गण्डमाला—

गलग्रन्थियों में क्षयकीट बैठ कर उनमें शोथ व बाद में व्रण पैदा कर देते हैं जिन्हें अपची कहते हैं। फिर नाड़ी व्रण हो जाते हैं। इस रोग की परीक्षा अणुवीक्षण से तथा एक्सरे द्वारा तथा रक्त-परीक्षा से रक्तकणों के नीचे गिरने का समय (उच्च) तथा श्वेताणु कम हो जाते हैं।

चिकित्सा—

सूर्य प्रकाश, विश्राम, स्वच्छ वायु, पौष्टिक भोजन से शरीर कोषों को सहायता मिलती है। तथा वे रोगाणुओं से युद्ध कर उनके चारों ओर कैलशियम की दीवार बन जाते हैं।

आहार—

७ बजे प्रातः दूध व अण्डा
१० „ „ भोजन सब्जी रोटी
२ „ मक्खन, मलाई, बिस्कुट, दूध
५ „ दूध, फल, या मांस-रस
७ „ रात्रिभोजन इच्छानुसार
१० „ „ दूध

शुश्रुषा—

प्रसन्न चित्त व आशान्वित रहें।

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं तु जीवितम्।
तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्ष्मिणो बल रेतसी॥

इस अवस्था में कोष्ठ में जो आहार पहुँचता है उसका प्रायः मल बनता है—अल्पाल्प मात्रा में ओज बनता है। इसलिए यक्ष्मा रोगी के मल की रक्षा करें क्योंकि सर्व धातु क्षय की अवस्था में रोगी के बल का आधार केवल मल है। मल को तोड़ देने मात्र से यक्ष्मा रोगी का देहपंजर शिथिल हो जाता है। ऐसी अवस्था में विरेचन दिया जाय तो रोगी-

प्राणहारी होता है। मलावरोध हो तो बादाम रोगन, गुलकन्द, बनफसा दें। वासा, वसंत-मालती, जयमंगल आदि का प्रयोग करें।

अग्निरोहणी

कक्षाभागेषुये येस्फोटा जायन्ते मांसदारुणाः। अंतर्दाह ज्वरकरा दीप्तपावक सन्निभा।
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वापक्षाद्वाहन्तिमानवम्। तामग्निरोहिणीविद्यादसाध्यां सान्निपातिकीम्।

परिचय—

तीव्र संक्रामक व आशुकारी रोग महामारी के रूप में फैलता है जिसमें तीव्र ज्वर प्रलाप, लसीका ग्रन्थिवृद्धि विशेष लक्षण पाये जाते हैं।

कारण—

दण्डाकार कीटाणु 'बैसलस पौस्टिस' कहते हैं। यह पिस्सुओं द्वारा फैलता है, पिस्सू चूहों से इसके कीटाणु लेते हैं व मानव शरीर में फैलाते हैं।

सप्राप्ति—

पिस्सू डेढ फीट ऊँचा उड़ता है, अतः मानव के निम्न स्थानों में काटता है, तथा लसीकावहिनियों द्वारा ऊपर जाकर रक्त मे मिलता है। लसीकाग्रन्थियां इन्हें रोकती हैं जिससे वे बढ़ जाती हैं। तथा पूय होकर फट जाती हैं।

यह ग्रंथियों मे नही रुक कर रक्त में फैलता है तो कीटरक्तता हो जाती है जो कि भयानक अवस्था है।

लक्षण—

शीतपूर्वक ज्वर, मस्तक शूल, भ्रम, वमन, उत्क्लेश दुर्बलता, नाड़ी अति तीव्र—दूसरे या तीसरे दिन ग्रथि-वृद्धि।

चिकित्सा—

यह महामारी के रूप में फैलती है अतः प्रतिबंधक चिकित्सा की ओर ध्यान दें। चूहो को भगायें तथा कृमिघ्न धूप व गैसो का प्रयोग करे। घुटने तक जुर्राब व इसके वेक्सीन का प्रयोग करें।

शमन—

ग्रन्थि पर दशांगलेप, अर्कपत्र, अर्कक्षीरादि लगाएँ तथा सौरम आदि का प्रयोग करें।

मसूरिका

परिचय—

यह एक तीव्र संक्रामक ज्वर है जिसमें पिडिकाऐ निकलती है। पहिले लाल, फिर तरलमय होकर पकती हैं, फिर खुरण्ड बन कर शनैः २ झड़ जाता है।

कारण—

इसका अति सूक्ष्म कीटाणु है जिसका अभी पता नही लग सका। इसका प्रसार खुरण्ड आदि के उडने से होता है। संपूर्ण जीवन में एक बार होता है। यह बच्चों में अधिक होता है। यह प्राय: वसन्त ऋतु में फैलती है।

संप्राप्ति—

इसके कीटाणु रक्त में संचार करते हुए उप चर्म में आकर बैठ जाते हैं, वहां का वर्ण रक्तमय शोथयुक्त हो जाता है जहां हाथ लगाने पर त्वचा में मसूर के दाने की तरह ग्रथियां प्रतीत होती हैं। फिर इनमें श्राव होकर छाले हो जाते हैं, ये ही स्फोट बन कर खुरंड बन जाते हैं, कीटाणु तरल पूय व खुरंड में रहते हैं, यहीं से प्रसार करते हैं। परिपाक काल, १० से १४ दिन, सीमा ५. से २३ दिन।

लक्षण—शीत से अतितीव्र ज्वर, शिर:शूल, वमन उत्क्लेश व बलहीन होकर खाट पकड़ लेता है। दूसरे दिन रक्तवर्ण की पिडिकाऐं हो जाती हैं। तीसरे या चौथे दिन वास्तविक पिडिकाऐं पहिले मुख, कलाई, हाथ आदि पर फिर शीघ्र ही सारे शरीर में निकल आती हैं। कभी कभी श्वलैष्मिक कला पर भी निकल आती है। पांचवें दिन तरल भर जाता है, छाले बनने पर ज्वर कम हो जाता है। ७वें दिन पीप होकर ज्वर बढ़ जाता है, तथा रोगी की पूय से दुर्गन्ध आती है। नौवे दिन पिचकती है। ग्यारहवें दिन फटने लगती हैं। इसके बाद ३-४ दिन मे अच्छा हो जाता है।

कोष्टबद्धता, जिव्हा शुष्क मैलो, नाड़ी भरीतीव्र रहती है। पिडिकाओं का कम या न निकलना भयानक लक्षण है। ३०-४० प्र० श० मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—

तीव्रकास, रक्तपूयता, संधिशोथ, शुक्रादि-नेत्ररोग, वृक्कशोथ।

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक - रोगी को बच्चों से दूर रखे तथा वेक्सीन का टीका करा देवें।

शमन चिकित्सा—

दाने निकलने के समय केशर, मकरध्वज या रससिन्दूर मुनक्का के साथ दें तथा मांस्यादिक्वाथ दोनों समय दें।

पथ्य—दूध।

रोमान्तिका—

इस तीव्र संक्रामक रोग में नासा कंठ की श्लैष्मिक कला का प्रदाह हो कर चौथे दिन देह पर पिडिकाऐं निकल आती हैं।

कारण—

इसके कीटाणु, श्लेष्मा तथा खुरण्ड के उपचर्म द्वारा फैलते हैं।

परिपाक काल—

१० से १५ दिन। सीमा—५ से २० दिन।

लक्षण—

ज्वर, प्रतिश्याय, नासास्राव, छींक आना, अक्षिस्राव, लालिमा, कास होता है। मुख की श्लैष्मिक कला पर लाल-लाल निशान दिखाई देते हैं। चौथे दिन पिडिकाऐं निकल आती हैं। पिडिकाऐं कुछ उभरी हुई, घन तथा लाल होती हैं जिनमें जलन कण्डू बेचैनी होती है। दो से चार दिन रह कर पिडिकाऐं मुर्झा जाती हैं। इनके बैठ जाने पर धूसर धब्बे रह जाते हैं।

तापनिपात से नाड़ीगति व श्वासगति अधिक होती है।

उपद्रव—

तीव्र कास, काली खांसी, राजयक्ष्मा आदि।

चिकित्सा—

रोगी बच्चो को अलग रखें।

शेष मसूरिकावत्।

कामला (Jaundice)

परिचय—

आँखे, त्वचा, मुख, मूत्र का पीला हो जाना। शाखाश्रय तथा कोष्ठाश्रय दो भेद हैं।

कारण—

स्रोतोरोध, संक्रामकविष, रक्तनाशज।

संप्राप्ति—

उपरोक्त कारणों से यकृत् पित्त अन्त्र में नहीं पहुँच कर सीधा रक्त में मिल जाता है।

लक्षण—

त्वचा, नख, नयन, मुख, नासा पीले हो जाते है व मल श्वेत हो जाता है

चिकित्सा—

कुटक, यवक्षार आदि का प्रयोग करें। नवायसलौह, आरोग्यवर्धिनी दें।

पथ्य—तक्र व फल-रस।

पाण्डु रोगीतुयोऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्यपित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ।
हारिद्रनेत्रः सभृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः
दाहाविपाकदौर्बल्य सदनारुचिकर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रयामता ।

कामला से कुम्भ कामला तथा इसके बाद हलीमक हो जाता है।

श्वास (Asthma)

परिचय—

श्वसन संख्या मे वृद्धि हो जाना, श्वास कहलाता है।

कारण—

रजोधूमातपानिल, व्यायामकर्म, भाराध्व कर्शण, पैतृक प्रवृत्ति ।

संप्राप्ति—

जब वायु कफ से श्वासवहस्त्रोत (वायु-मंदिरों में) अवरोध (शोथ व संकोच) करता है, तब श्वास रोग हो जाता है।

लक्षण—

महान्, ऊर्ध्व, छिन्न, तमक, क्षुद्र नाम से ५ भेद हैं।

क्षुद्रः साध्यःमतस्तेषां तमकः कृच्छ्रउच्यते ।
अयः श्वासाः नसिद्धयन्ति तमकः दुर्बलस्यच ॥

तमक श्वास में श्वास कठिनाई से आता है और विशेष कूजन दूर से सुनाई देता है। श्लेष्मा में फास्फरस विशेष होता है। रक्त मे अम्लरंगेच्छु बढ़े हुए हैं। ये इस रोग में १० से ३० प्रतिशत तक हो जाते हैं।

चिकित्सा—

(१) वेगशामक—सोमलता

(२) वेगावरोधक—श्वासकुठार, अर्कलवण, कनकासव, वासावलेह, वासाक्षार आदि ।

फुफ्फुसावरण प्रदाह (Pleurisy)

परिचय—

फुफ्फुसों के आवरण के शोथ को फुफ्फुसावरण प्रदाह कहते हैं। इसे पार्श्वशूल कह सकते हैं।

कारण—

क्षयकीट, श्वसनक ज्वर, आमवात आदि।

भेद—

(१) शुष्क व (२) तरलमय।

शुष्क—

पार्श्वशूल, शुष्कक्षुद्रकास, उच्छ्वास निःश्वास में घर्षण होता है, ज्वर रहता है तथा श्वास का शब्द मंद सुनाई देता है।

तरलमय—

शुष्कक्षुद्रकास, पार्श्वशूल ज्वर १०३ डिग्री, तरल बन जाने पर थोड़ा कम हो जाती है। रोगी रुग्णपार्श्व से लेटा रहता है। ठेपन से ठोस, श्वास शब्द सुनाई नहीं देता।

चिकित्सा—

पूर्ण विश्राम। नारायण तेल से अभ्यंग, पुष्करमूल, हींग, फिटकिरी, सोंठ अफीम का लेप अथवा दशांग लेप करें।

शृङ्गभस्म, कफकेतु, शृंग्यादिचूर्ण आदि दें।

आगन्तुपूयमेह भृशोष्णवात (Gonorrhea)

नूतन—

मूत्र के प्रारम्भ में रक्त तथा पूय आना।

पुरातन—

मूत्र के अन्त में थोड़ी पूय आना।

कारण—

इसके जीवाणु युग्म बिन्दुक कहलाते हैं जिनका संक्रमण मैथुन द्वारा होता है।

संप्राप्ति—

जीवाणु मूत्रप्रसेकद्वार में क्षत पैदा कर देते हैं।

लक्षण—

रक्तमिश्रित स्राव, उपस्थ में शोथ, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर आदि होते हैं। परन्तु जीर्णावस्था में उपस्थ मूल प्रभावित होता है जिससे पतली पूय आती है।

उपद्रव—

मांजिष्ट, आविल-मेह, बस्तिशोथ, संधिवात, नेत्राभिष्यन्द, मूत्र का बिन्दु बिन्दु आना।

मधुमेह जियाबितीसी (Diabetis Mellitus)

परिचय—

यह रक्तस्थ धातु पाक के न होने से उत्पन्न होता है। इससे रक्त में शर्करा बढ जाती है तथा मूत्र में आने लगती है। इसमे मूत्राधिक्य, तीव्र क्षुधा, क्षीणता आदि रहते हैं।

कारण—

अधिकतर यह ४० से ६० वर्ष के मध्य होता है परन्तु न्यूनाधिक आयु वालों में भी होता है, युवकों में यह रोग घातक है। पैत्रिक प्रवृत्ति भी होती है, चिन्ता, मानसिक-आघात तथा स्थूलकाय पुरुषों में अधिक सम्भावना रहती है।

आहार के तीन प्रधान अवयव, प्रोटीन, वसा, कार्बोज में, इसका कार्बोज से सम्बन्ध है। कार्बोज का पचन हो कर अन्त में ग्लुकोज बनता है, जो कि प्रतिहारिणी शिरा द्वारा यकृत् में पहुंच कर ग्लाइकोजन के रूप में परिवर्तित हो संचित रहता है, आवश्यकतानुसार रक्त में पहुँचाया जाता है।

इसकी मात्रा रक्त में ०.८ प्रतिशत से ०.१२ प्रतिशत होती है। १०००० माशा में ८ से १२ माशा, इसके बढ़ जाने पर मधुमेह के लक्षण उपस्थित होते हैं। १८ से २० माशा से अधिक होने पर वृक्क इसे मूत्र द्वारा बाहर निकाल देते है।

(१) कार्बोज वसा आदि का अति प्रयोग।

(२) अग्न्याशयविकृति

(३) शोक, भय, चिन्ता, आघातादि से मस्तिष्क में विकार तथा पिच्यूटरीबोडी का अर्बुद।

संप्राप्ति—

अग्न्याशय के कोषों के नष्ट हो जाने से अग्न्याशय रस उचित मात्रा में नहीं होता व वृक्क की प्रणालियों के कोषों के क्षीण होने से रक्त में शर्करा की मात्रा बढ जाती है। वहाँ वसाबिन्दु जमा हो जाते हैं।

लक्षण—

प्रचण्ड।

यह युवकों में अकारण आरम्भ होता है तथा रोगनिर्णय के पूर्व ही रोगी मर जाता है।

जीर्ण—

गुप्त रूप से प्रारम्भ होता है, शरीर दुर्बल, क्लान्त कण्डूयुक्त, तृषाधिक्य, मूत्राधिक्य, वर्णश्वेत, १०५५ से १०६० गुरुत्व मूत्रपरीक्षा से ज्ञान होता है।

उपद्रव—

संन्यास, अतिसार, पिडिकाऐं, मोतियाबिन्द, वातिकविकार, क्लैव्य, रक्तभाराधिक्य, वृक्कशोथ, यक्ष्मा।

चिकित्सा—

इन्स्यूलिन से लाभ होता है।

प्रमेह भेदाः

च०	सु०	लक्षण	ग०	आ० नाम
उदक मेह	उदक मेह	अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्ध	उदक मेह (कफ)	Diebetes Insipidous
इक्षुवालिका-,,	इक्षुवालिका ,,	अत्यर्थमधुरंशीतमीषत्पिच्छिल माविलम्	,, (वात)	,, Nerrous polyuria
सान्द्र ,,	सान्द्र ,,	पर्युषितंमूत्रं सान्द्रीभवति		
,, प्रसाद ,,		संहन्यतेमूत्रं किंचित्किंचिद्		
	सुरा ,,	उपर्यच्छमधोघनम्		
शुक्ल ,,	पिष्ट ,,	शुक्लं पिष्टनिभम्	पिष्ट ,,	Phosphateuria
शुक्र ,,	शुक्र ,,	शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा	शुक्र ,,	Spermatorrhoea
शीत ,,	शीत ,,	अत्यर्थं शीत मधुरम्		
सिकता ,,	सिकता ,,	मूर्तांणून्सिकता मेही	सिकता मेह	Lihuria
शनैर्मेह	शनैर्मेह	मन्दंमन्दमवेगंतु		
आलाल मेह		तन्तुबद्धमिवालालम्	लाल	Excessive prostatic secretion
	लवण मेह			
	फेन मेह			
		वृक्करोगेषु लसीकायुक्तम्	लसीका मेह	Albumin uria

क्षार मेह	क्षार मेह	गन्धवर्णरसस्पर्शैर्यथाक्षारः	क्षार मेह	Highly alkaline urine
काल ,,		मसीवर्णमजस्रम्	काल ,,	Black water fever
नील ,,	नील ,,	चापपक्षनिभम्	नील ,,	Indicanuria
हारिद्र ,,	हारिद्र ,,	हरिद्रोदकसंकाशंकटुकम्	हारिद्र ,,	Excess of bile in urine
मंजिष्ट ,,	मंजिष्ठ ,,	मंजिष्ठोदक संकाशं भृशविस्रम्	मजिष्ट ,,	Haemoglobin uria
लोहित ,,	शोणित ,,	विस्रं लवणमुष्णं च रक्तम्	रक्त ,,	Haematuria
	अम्ल ,,	अत्यम्लं रसगन्धाभ्याम्	अम्ल ,,	Highly acid urine
वसा ,,	वसा ,,	वसामिश्रं वसाभंवा	वसा ,,	Lipuria
मज्जा ,,		मज्जानं सह मूत्रेण		
हस्ति ,,	हस्ति ,,	हस्तीमत्त इवाजस्रम्		
मधु ,,	क्षौद्र ,,	कषाय मधुरं पाण्डु रूक्षम्	मधु ,,	Diabetes
	सर्पि मेंह	श्लीपदे मधुमेहेच	सर्पिर्मेह	Chyluria
			शीधु मेह	Acetonuria
		पूयमिश्रं यदा मूत्रम्	पूय ,,	Piuria
			भेषज ,,	Urinary excretion of coloured drug

परन्तु भोजन की ओर ध्यान दें! भोजन ऐसा हो कि रक्त में इसका परिणाम ०'१८ से अधिक न हो। आजीवन मूत्र परीक्षा का साधन रखें।

अतिन्यून कार्बोजनक प्रदार्थ

मांस	दुग्ध	धान्य	शाक
भेड़	कृत्रिम दुग्ध	निशास्ता	पालक, सेव, गोभी
बकरी	घृत	सहित	चुकन्दर
सुअर		आटे की रोटी	गांठ गोभी
मुर्गी		बिस्कुट	गाजर, मूली
मछली			खरबूजा
अन्डे			टमाटर, बेंगन

शिलाजतु प्रयोग करें, चन्द्रप्रभा, वसन्त कुसुमाकर जामुन की मज्जा का चूर्ण बना देवें।

कुष्ठ Leprosy

यह संक्रामक जीर्ण रोग है जिसमें त्वचा या श्लैष्मिककला में गंड होकर स्पर्शशून्य मंडल होकर फट कर व्रण हो जाते हैं।

कारण:—

दण्डाकार बैसीलस लेप्रोसी कीटाणु है। दरिद्रता, क्षुधार्तता घन निबिड़ निबास इसके सहायक कारण हैं।

संप्राप्ति:—

इसका कीटाणु त्वचा, श्लैष्मिक कला व वात तन्तुओं में गंड पैदा करते हैं। धीरे धीरे ये फट कर व्रण बन जाते हैं।

परिपाक काल—२ वर्ष।

लक्षण—

(१) ग्रन्थिक (२) वातिक (३) मिश्रित

ग्रन्थिक—ज्वर होकर मंडल बनते हैं। फिर उनमें गंड हो जाते हैं। इनकी संख्या बढ़ कर फटने लगती हैं। जिससे मनुष्य की आकृति में अन्तर हो जाता है। ये मुख कण्ठ स्वर-यन्त्र नासा, आँख आदि में होते है। अन्त में राजयक्ष्मा आदि से पीड़ित हो कर मर जाता है। अवधि २ से १० वर्ष।

वातिक—इसमें वातिक पीड़ाऐं (अन्त-प्रकोष्ठ) वात नाड़ियें दृढ़ रज्जुवत् हो जाती हैं। जिनमें चिमचिमाहट, सरसराहट आदि वेदनाऐं होती हैं। फिर मंडल होते हैं। जो

पहिले स्पर्श शक्ति नष्ट हो जाती है। फिर वहीं छाले व व्रण हो जाते हैं। अंगुलियें झड़ती हैं। ऐसे रोगी २०-२० वर्ष जीवित रहते हैं।

चिकित्सा—

इस रोगी को नगरों से एकान्त स्थानों में रखें तथा चावल मोगरा तैल आदि तैल प्रयोग करें।

संशोधन

अपतर्पण के लंघन, लंघनपाचन तथा दोषावसेचन, तीन भेद बताये हैं तथा इनके चिकित्सा सूत्र भी दोषों के अल्प, मध्य तथा बहुदोष के अनुसार क्रम किया जाता है।

अधिक बढ़े हुए दोषों की चिकित्सा दोषों को शरीर से बाहर निकालना होती है जैसे विना खेत की मोड तोड़े उसमें इकट्ठा हुआ पानी नहीं सुखाया जाता उसी तरह वृद्ध दोषों को निकाले बिना रोग शान्ति नहीं होती।

दोषावरोचन ऊपर और नीचे के दोनों स्रोतों द्वारा किये जाते हैं। यह अन्तः परिमार्जन औषध है। जो कि कोष्ठशुद्धि देहशुद्धि के साथ करती है।

मलापहं रोगहरं बलवर्णं प्रसादनम्।
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषायुज्यतेचिरम्॥

संशोधन से शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ, मूत्र, पुरीष तथा मलशोधक बलवर्ण की वृद्धिहोती है, अर्थात् सशोधन के भली प्रकार के प्रयोग से इन्द्रियों में बल, धातुओं में स्थिरता तथा जवानी के साथ बुद्धि प्रसाद प्राप्त होता है। संशोधन के पूर्वकर्म हैं स्नेहन तथा स्वेदन। ये दोनों कर्म स्तम्भस्वरूप है अतः सशोधन चाहने वाले व्यक्तियों को ये दोनों पूर्व कर्म कराएँ। इसके बाद शोधन का पूर्व-कर्म वमन प्रयोग दें।

वमन—

वमन द्रव्यों मे मुख्यतया निम्न गुण रहते है—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकासी

ऐसे द्रव्य व्यवायी व विकासी द्रव्य प्रभाव से हृदय में जाकर धमनियों के माध्यम से देहस्थ सूक्ष्म स्रोतों मे प्रविष्ट हो कर उष्ण के कारण उन स्रोतों में रहने वाले दोष समूह का विलयन करते हैं तथा अपने तीक्ष्ण गुण के कारण स्रोतोऽवकाशों में श्लिष्ट दोष का छेदन भी करते जाते हैं। इस प्रकार विलयन तथा विच्छिन्न हुआ दोष स्निग्ध शरीर में मधु की तरह विना चिपके कोष्ठ की ओर आकर आमाशय में सगृहीत होता है उस समय द्रव्यस्थित अग्नि तथा वायु के उत्कर्ष से आमाशय संकोच होता है तथा उस द्रव्य की ऊपर की ओर प्रवृत्ति हो कर मुख मार्ग से वाहिर निकलने को वमन कहते हैं।

वमन की अवस्थाएँ—

वमन द्रव्य पिलाने के एक घंटे तक इन्तजार किया जाय, इसके बाद शरीर में पसीना आता है—यह अवस्था दोष-विलयन की प्रथम अवस्था समझी जाय।

इसके बाद रोमांच हो जाना, यह दोषों की दूसरी अवस्था गति प्रकट करती है।

जब उदर में आध्मान हो तो यह दोषों की तीसरी स्थिति कोष्ठ में आने की समझें।

अब चौथी अवस्था में जी मिचलाने लगता है तथा मुँह से पानी आने लगता है। तब दोषों की गति ऊपर की ओर होने लगी है समझें।

इस स्थिति में रोगी को घुटने जितनी ऊँची चौकी या कुर्सी पर बैठाएँ तथा उसके उदर प्रदेश पर हाथ तपा कर सेक करें। अब उसके मस्तक, दोनों पार्श्व को पकड़ने, नाभि को दबाने, पीठ को नीचे से ऊपर की ओर मलने के लिए चार परिचारकों को लगाएँ जो हर समय अपने काम में निडर हो कर लगे रहें तथा रोगी को इस प्रकार उपदेश दें—

रोगी अपने होठ, गला, तालु कंठ को खुला रखें।

यदि वमन वेग न हो रहा हो तो कंठ में अंगुली से स्पर्श करें। इस प्रकार कितने वमन के वेग होते हैं उसकी संख्या नोट करें।

इस प्रकार सम्यग् योग हो जाने पर उसी दिन सायंकाल अगले दिन सुखोष्ण जल से शुद्धि करा सुखोष्ण यवागू २-३ समय पिलाएँ तथा ५ वें अन्नकाल में घृतयुक्त, सातवें अन्न-काल में थोड़े घी व स्नेहयुक्त मांस रस से, ११वें अन्नकाल तक संसर्जन क्रम करें। इस प्रकार ७ रात्रि के बाद अपने प्रकृतिस्थ भोजन पर ले आवें।

वमन कफ दोष को संशोधन करने का उपक्रम है।

दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्।

वम्य द्रव्य—

मदनफल, अश्मन्तक, देवदाली, कड़वी तुम्बी, घीयातोरु, इन्द्रजव, कड़वीतोरु आदि का प्रयोग करें।

विरेचन—

इस उपक्रम से पित्त निर्हरण होता है। यह दोष का अवसेचन अधोभाग गुदा द्वारा कराता है।

विरेचन द्रव्य भी उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी व विकासी गुणयुक्त औषधियां अपने वीर्य से हृदय में जाकर धमनियों द्वारा छोटे बड़े स्रोतों में पहुँच कर पूर्वोक्त प्रकार से दोषों को कोष्ठ में लाकर ऐसे द्रव्यों में जल तथा पार्थिव महाभूतों की आधिक्यता से अधो-भाग से दोष हरण कराता है।

सम्यग् दोष हरण हो जाने के बाद संसर्जन क्रम कराऐं।

विरेचन द्रव्य—

काली निशोथ, अमलतास, शाबर लोध, थूहर, सातला, शङ्खिनी, दन्ती आदि द्रव्यों का उपयोग करें।

वस्ति कर्म—

यह वात दोष को अवसेचन कराने वाला मुख्य उपक्रम है। यह स्निग्ध तथा रुक्ष दो प्रकार की है।

(क) अनुवासन—इसमें गुदा मार्ग से औषधि साधित तेलों का प्रयोग किया जाता है।

(ख) निरुह—औषधियों के क्वाथ को गुदा मार्ग द्वारा देना निरुह बस्ति कहलाती है। यह रुक्ष वस्ति है।

वस्ति प्रयोग—

रोगी शय्या के चारों ओर पर्दा लगाएँ। रोगी के नीचे मोमजामा बिछाएँ। रोगी को बांई करवट लेटा कर दाहिनी ओर घुटना ऊपर की ओर मुड़वावें फिर बस्तियन्त्र के मुख से थोड़ा द्रव्य निकाल कर यन्त्र का मुख २॥ से ४॥ इंच तक गुदा में डाल दें। यन्त्र का मुख डालने से पूर्व किसी स्नेह को उस पर लगा दें। बस्ति पात्र में थोड़ासा द्रव रहने पर नलिका को गुदा से बाहर निकाल दें। बस्तिद्रव को १५ मिनिट तक आंतों में रोक रखे। जब प्रवाहण की इच्छा हो तो मलपात्र रखें।

वस्ति के दूसरे प्रकार से दो भेद किए जा सकते हैं :—

(क) अन्तःक्षेपण (विरेचन)

(ख) अन्तःसेचन (शनैः शनैः)

अन्तःक्षेपण के भेद—

१. उत्सर्जक
२. विरेचक
३. वातहर
४. कृमिघ्न

अन्तःसेचन के भेद—

१. पोषण
२. उत्तेजक

३. जलपोषण
४. कषाय
५. शामक
६. सम्मोहिनी

उत्तरबस्ति—

इसका प्रयोग पुरुषों में शिश्न द्वारा तथा स्त्रियों के योनि मार्ग से किया जाता है। इनकी अग्रनलिका दोनों के लिये अलग अलग होती है। पूर्वोक्त प्रकार से बस्तिपात्र में क्वाथ या द्रव डाल कर शोधन क्रिया की जाती है।

रक्त का संगठन

नाम तत्व	प्रति १०० मिलिलिटर में	वृद्धि	न्यूनता
(१) कैल्सियम्	९ से ११ मिलि ग्राम	अस्थ्यर्बुद उपचुल्लिका क्षय	कफजशोथ, अस्थि शोथ, ग्रहणी अस्थिमार्दव
(२) लवण	५६० से ६२० ,,	कफज शोथ, यकृद्दाल्युदर	अतिसार, स्वेद, मधुमेह
(३) पोटासियम	१५ से २० ,,	मूत्ररक्तता, उपचुल्लिका क्षय	अम्लरक्तता, मधुमेह, वृहदंत्रव्रण मूत्रलद्रव्यों से,
(४) सोडियम	३१५ से ३५० ,,	कफज शोथ (तीव्र)	मधुमेह, जीर्ण वृक्क रोग
(५) शर्करा	८० से १२० ,,	मधुमेह, अधिवृक्कवल्कस्त्रव व पोषणिका के अधिक कार्य करने से	
(६) कोलेस्टेरोल	१५० से ३०० ,,	रक्तभाराधिक्य, चुल्लिकास्र न्यूनता मेदस्विता, मधुमेह, जीर्णवृक्क रोग गर्भावस्था	चुल्लिका ग्रंथि की प्रबलता
(७) वसाम्ल	३०० से ४५० ,,	भोजनोपरांत, मधुमेहजअम्लरक्ता, जीर्ण वृक्क रोग	
(८) प्रोटीन	६.३ –७.८ ,,		कफजशोथ, यकृद्दाल्युदर
(९) अल ब्यूमि	३ से ४ ग्राम ,,		वृक्क रोग, यकृद्दाल्युदर
(१०) ग्लोब्यूलिन	१-५ से ३ ग्राम		वृक्क रोग, ,,
(११) फाइब्रिनोजन	.३ ग्राम	गर्भावस्था	यकृद्रोगोमें
(१२) फास्फरस	३ से ४ ग्राम	वृक्क रोग, उपचुल्लिका की प्रबलता में	अस्थिमार्दव, ग्रहणी उपचुल्लिकादौर्बल्य
(१३) यूरिया (प्रोटीनपचनसे)	२० से ४० ग्राम	वृक्क रोग, मूत्रमार्गावरोध	
(१४) यूरिकएसिड (न्यूक्लिओप्रोटीन के पचन से	३ से ४ मिलि ग्राम	गठिया, संधिक आमवत, वृक्क रोग, हृद्दौर्बल्य	

(१५) विलिरुविन	प्रत्यक्ष .२ से —४ मि. ग्राम परोक्ष .२ से ७ ,, ,,	यकृद्रोगज कामला, पौरुष ग्रंथ्यर्बुद	जीर्णवृक्क रोग में
(१६) रक्त कण	४.५ से ५.५ लाख		
(१७) श्वेत कण	४ हजार से ८ हजार		तीव्र संक्रामक रोग
(१८) बहुरूपमींगीयुक्त	५० से ७० प्रतिशत	पूय संक्रमण से	
(१९) क्षुद्रलसीकाणु	२० से ४० प्रतिशत	कुक्कुरकास, रोमान्तिका, मसूरिका जीर्ण क्षय, फिरंग, अस्थि शोथ, उण्डु कपुच्छशोथ	
(२०) वृहल्लसी काणु	४ से ८ प्र० श०	क्षय रोग में	
(२१) अम्लरंगेच्छु	½ से ३ प्र० श०	एक्जीमा, अंत्रकृमि, श्वास रोग	
(२२) रक्त कण-पतन E.S.R.	१ घंटे में १.७ मि. मी.	क्षय, जीर्ण वृक्क रोग, यकृद्दाल्युदर, आमवात, हृद्रोग (तीव्र)	असात्म्यता

वात—

त्वचा	शीत	श्याव	अरुण	रुक्ष
नेत्र	अन्दर धंसे हुए	„	„	„
मूत्र	जल की तरह	„	„	„
मल	शुष्क, कठोर	श्याम		मात्रा में न्यून
रस				कषाय रस
नाड़ी	चपला, (तीव्र)	अस्थिर व निर्बल		(सर्पगतिवत्)

प्राणशक्ति—प्रतिरोधक शक्ति—सहन शक्ति की न्यूनता

शरीर तथा मन में चलता (Excitability)

शीत आहार-विहार का असात्म्य होना, विषमाग्नि, वृद्धावस्था, सायंकाल, रात्रि के पिछले समय में भोजन के जीर्ण होने पर, वर्षा काल में (रोग-वृद्धि या उत्पत्ति), शीत, रुक्ष (गुण) अपौष्टिक आहार, अतिशारीरिक श्रम, अतिक्रोध, चिन्ता, भय, शोक आदि से पैदा होने वाली वेदना वायु वृद्धि को प्रकट करती है।

पित्त—

त्वचा	उष्ण	पीत	स्वेदयुक्त
नेत्र		पीत या रक्त	
मूत्र	उष्ण	पीत रक्त	पूययुक्त
ल	द्रवरूप, उष्ण	पीत	
रस	कटु, तिक्त, अम्ल		
नाड़ी	तीव्र (वेगवान्) रक्तपूर्ण (दीर्घा) बलवती (मण्डूकगतिवत्) विशेष उष्ण।		

वृद्धि की अपेक्षा पक्ति कर्म प्रबल, मध्य आयु, मध्यान्ह, मध्यरात्रि, भोजन के पचन का समय, ग्रीष्म, शरत् (काल)। कटु अम्ल लवण, रस अतिश्रमशील, गर्म रुक्ष शुष्क देश पित्त वृद्धि को बताते हैं।

कफ—

त्वचा	आर्द्र	स्निग्ध	श्वेत
नेत्र	„	„	„
मूत्र	मात्रा में अधिक	„	धुंधला निक्षेपयुक्त

मल	शिथिल, मात्रा में अधिक, पिच्छिल, श्वेतवर्ण, दुर्गन्धित
रस	मुखमाधुर्य, नमकीन
नाड़ी	मन्दगति, मन्दवेग, स्थिर (कुक्कुट या मयूरगति) विशेष उष्ण न हो
	(पचन से वृद्धि अधिक)गुरुता, स्निग्धता, शीतता, अग्निमन्दता। आयु की प्रथम अवस्था, शीतकाल, पूर्वाह्न, वसन्त, भोजन के तुरन्त बाद (रोगवृद्धि) आनूपदेश कफ वृद्धि को प्रकट करते हैं।

प्रसूति - विज्ञान

लेखिका : शान्ति देवी जोशी

[वैद्या श्री शान्ति देवी जोशी का जन्म चिकित्सा-परिवार में हुआ। इनके पिता पालासनी (जोधपुर) निवासी श्री शिवदासजी ईटोदिया जोशी ने अपने जीवन-काल में त्याग एवं तपस्या को अपनाया एवं सन्यासावस्था में मण्डोर के पास जीवितावस्था में समाधि ले ली। वह स्थान आज भी तीर्थ-स्थान बना हुआ है-जिसे पवित्र स्थान मान कर ही वर्ष में फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी तक साप्ताहिक हरि-कीर्तन होता है एवं मेला लगता है। देश के कोने कोने से यात्री दर्शनार्थ एकत्रित होते रहते हैं। वैद्या श्री जोशी पूज्यपाद राजवैद्य महोपाध्याय पं. उदयचन्द्र जी प्राणाचार्य भट्टारक की आयुर्वेदीय-शिष्या हैं एवं अपने को उनकी धर्मपुत्री भी मानती हैं। आपको अपने पिता के समान ही विज्ञ श्री बाबूलाल जी जोशी जैसे पति मिले हैं जो स्वभाव से ही सेवा भावी हैं। आप महिला चिकित्सिका चरित्रनायक के शुभाशीर्वाद से सफल चिकित्सिका हैं। इस सब के अतिरिक्त आप कांग्रेस में भी एक प्रमुख समाज-सेविका का काम सम्भाले हुए हैं। आपका यह उपयोगी लेख, आशा है, आयुर्वेदीय छात्राओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।—प्र. संपादक]
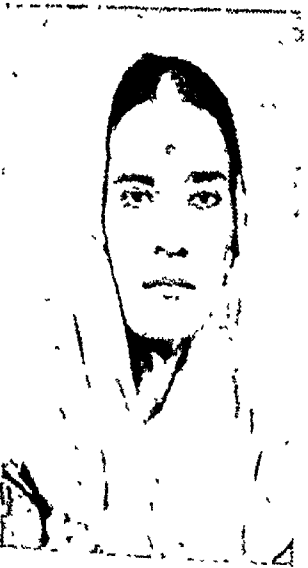
प्रकृति के इस निर्माण में इस जगत को निरन्तर गतिशील रखने के लिए प्राणी मात्र में ऐसी परम्परा चला रखी है कि वह अपनी परम्परा को चलाता रहे। जीवन के लक्षणों में चैतन्य का यह भी लक्षण बताया है कि सन्तान उत्पन्न करना—जिससे कि वह अपने समान प्रतिकृति बना सके। एककोषीय प्राणियों में यह प्रक्रिया एक ही कोष द्वारा बनती रहती है परन्तु बहुकोषीय प्राणियों में इस कार्य के लिए पृथक् संस्थान बना रखा है।

मनुष्य जाति के इस विभाग को प्रजनन संस्थान कहते हैं। ये अंग बस्ति गुहा में लगे रहते हैं।

बस्ति गुहा Pelvic Cavity

बस्ति गुहा चार अस्थियों से बनती है, दो नितम्बास्थियां, त्रिकास्थि १ अनुत्रिकास्थि १ दोनों नितम्बास्थियां सामने मध्य रेखा में जहां मिलती हैं उसे विटप संधि या भग सन्धि कहते हैं, प्रजनन अंगों के द्वार यहीं से हैं जिनमें से कुछ बस्तिगुहा में रहते हैं, कुछ बाहर रहते हैं।

प्रजनन अंगों के कोशों की सूक्ष्म रचना में यह विशेषता होती है कि इन कोशों पित्र्य सूत्र (क्रोमो सोम) आधे होते हैं जो कि नर तथा नारी के बीज कोश मिल कर भ्रू कोश बनता है जिसमें कि दोनों ओर के सूत्र मिल कर यह संख्या पूर्ण होती है। अब ह पहिले नारी जननेन्द्रिय का वर्णन करते हैं।

नारी जननेन्द्रिय (Female Genital)

यह दो प्रकार की है—(१) बाहर से दिखने वाली बहिर्भग, तथा बस्तिगह्वर म रहने वाली नहीं दिखने वाली अंतर्भग या अंतर्जननेन्द्रियां कहलाती हैं।

बहिर्भग External Genitals—गवाक्ष की आकार का सात अवयवों वाला बाह्य प्रदेश है जो बाहिर से दीख पड़ता है। १ वृहद्भगोष्ठ, २ क्षुद्रभगोष्ठ, ३ भगशिश्निका या भगांकुर, ४ भगालिन्द, ५ मूत्रप्रसेक द्वार, ६ भगद्वार, ७ भगांजलिका—

(१) वृहद्भगोष्ठ Labia maljora—ये मोटे नर्म ओष्ठ सदृश हैं। इनमें बाहर लोम वाली त्वचा तथा भीतर भेद एवं स्नायु सूत्र रहते हैं। यह ऊपर भगशिश्निका से तथा नीचे भगांजलिका से मिलते हैं। इनमें काम संवेदनों नाड़ियां तथा पूति रसस्रावी ग्रन्थियां रहती हैं।

(२) लघुभगोष्ठ Libiaminora—ये दोनों ओर पतले, छोटे दो अंगुल चौड़े ओष्ठ हैं। इनमें भी पूति रसस्रावी ग्रंथियों के स्रोत रहते हैं।

(३) भगशिश्निका भगांकुर Clitoris—यह मध्य रेखा में भगपीठ में बड़ के अंकुर के समान छिद्ररहित अवयव जो कि रतिकाल में उत्तेजनशील होता है।

(४) भगालिन्द (Vestibule) इसके मध्य में मूत्रप्रसेक द्वार रहता है।

(५) मूत्रप्रसेक द्वार (External orific of the Urethra) यह भगद्वार से ½ इंच ऊपर होता है। इसके दोनों ओर योनिद्वारिक दो ग्रन्थियां रहती हैं।

(६) भगद्वार (Vaginal orifice) यह मूत्रप्रसेक द्वार के नीचे बीच में चौड़ा प्रदेश पश्चिम तथा पार्श्व की ओर योनिच्छद्रा कला से घिरा होता है। कुमार्यवस्था में इसे कुमारीच्छद कहते हैं। लेकिन प्रसूता में यह विच्छिन्न हो जाता है।

(७) भगांजलिका (Four Chette) यह अधोधारा में कलामय अवयव है। प्रसवकाल में यह कट जाती है जिसे मूलावदरण योनिव्यापद कहते हैं।

अंतर्भग—अन्तरीयजननेन्द्रियां (Vaginal Canal)

बस्ति और गुदा के बीच भगद्वार से गर्भाशय तक चार अंगुल लम्बी, ५-६ अंगुल चौड़ी टेढ़ी गुहा है। इसे अपत्य पथ भी कहते है।

गर्भाशय (Uterus)—

यह छोटी तूम्बी के समान नीचे की ओर मुखवाली मांस थैली है। इसके सामने मूत्राशय तथा मलाशय होता है। कन्याओं में उनकी मुट्ठी के आकार का तथा गृहीत गर्भा में यह बढ़ जाता है। इसके तीन भाग हैं, उर्ध्व, मध्य, निम्न उर्ध्व अंश मुख मध्य गात्र और निम्न ग्रीवा कहलाता है।

(१) गर्भाशय मुख (Os-ulerus)—यह सदा संकुचित रहता है, आर्तवकाल में १६ सोलह दिन के समय थोड़ा खुला रहता है, तथा प्रसवकाल में सम्पूर्ण खुल जाता है, मुख के न खुलने से रजःकृच्छ्र होता है।

(२) गर्भाशय ग्रीवा (Cirvix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्यस्थ दो अंगुल लम्बा संकुचित भाग गर्भाशय ग्रीवा है।

(३) गर्भाशय गात्र (Body of Uretrus)—यह छोटी तुम्बी के समान है जिसं अवकाश त्रिकोणाकार है, त्रिकोण के ऊपर के दोनों पार्श्वकोण बीज स्रोतों से मिले हैं, नीचे के कोण ग्रीवा सरणी से मिला है।

गर्भाशय के बन्धन (Ligument of the uterus)—गर्भाशय में आठ बन्धन होते हैं।

१. अग्रिम,	२. पश्चिम,	३. पक्षबन्धन,	४. रज्जुबन्धन,	५. त्रिकगर्भाशय बन्धन,
१	१	२	२	२

पक्ष बन्धनो के अंतराल में दोनों बीज स्रोत, बीजाधार रहते है।

बीजाधार (बीजकोष) डिम्ब ग्रन्थियां (Ovary)—गर्भाशय के दोनों ओर बेर की गुठली के समान दो छोटी छोटी ग्रंथियां पक्षबन्धनों के दोनों स्तरों के बीच गर्भाशय के पार्श्वकोणों के समीप तिरछी रहती हैं। यह ग्रंथि अन्तर्मुख व बहिर्मुख है, बहिर्मुख प्रान्त से एक पतली कुल्या बीजरूप आर्तव को वहन करने के लिए बीज कुल्या या डिम्ब प्रणाली है।

बीजस्रोत (बीजकुल्या) डिम्ब प्रणाली (Fallopian tube)—गर्भाशय के पार्श्व भाग के कोणों से दो नालियां डिम्ब प्रणाली व ग्रंथि के बाहर तक फैली हुई होती हैं, इनका बाहर का सिरा झालर की तरह होता है। इनके द्वारा बीज गर्भाशय में पहुंचता है, इसके चार भाग होते हैं।

१. पहला भाग गर्भाशय की दीवार में रहता है।
२. दूसरा संकीर्ण अंश।
३. तीसरा कुछ चौड़ा भाग।
४. अन्तिम भाग फूल के समान खुला हुआ रहता है।

स्तन (Female Breast)—स्त्रियों मे दूध बनाने वाली ग्रंथियां स्तनों में रहती हैं, इनका प्रजनन यन्त्रों के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्ण रूप मे युवावस्था तक इनकी पुष्टि होती है, प्रत्येक स्तन में दूध बनाने वाली १६ से १८ तक ग्रथियों के समूह रहते हैं, प्रत्येक ग्रथि मे दुग्धहारिणी का प्रारम्भ होकर चूचुक के केन्द्र पर खुलती है।

चूचक Nipple—स्तन के ऊपरी भाग में एक वर्तुलाकार उभार होता है जिसे चूचुक या स्तन वृन्त कहते हैं। चूचुक के शिखर मे दुग्ध स्रोतों के १२ से २० तक छिद्र होते हैं।

डिम्ब ग्रंथि या अंडाधार Graffian follicle—इनका आकार कबूतर के अडे के समान होता है, जिसकी लंबाई १ इच, मोटाई ४/३ इंच होती है। इनमें अनेक डिम्ब कोष रहते हैं, समय पर डिम्ब कोष परिपक्व होकर पकता है, और डिम्ब छूट कर डिम्ब प्रणाली में जाता है, फटे हुए डिम्ब कोष में रक्त भर जाता है, तथा कुछ समय बाद वह स्थान पीला हो जाता है। जिसे पीतांग कहते हैं, यदि डिम्ब का शुक्र कीट के साथ संयोग होकर गर्भ स्थिति हो जाती है, तो पीताङ्ग बढ़ जाता है। अन्यथा सिकुड़ जाता है और सिकुड़ कर सफेद होने से श्वेताङ्ग कहलाता है।

डिम्ब ग्रंथि की रचना Structure of the ovary—यह सौत्रिक तन्तुओं से बनी होती है। इनमें अनैच्छिक मांस होता है तथा ऊपर चौकोर कोषों का स्तर तथा भीतर गोल कोष रहते हैं।

डिम्ब Ovum—प्रत्येक डिम्ब १/१२ इंच के परिमाण का गोल कोष होता है, इस पर डिम्ब वेष्ठ रहता है।

पुरुष जननेन्द्रियां Male Genitals—

शिश्न Penis—यह पेशियों से बना होता है जिन का नाम शिश्न पार्श्विका (१) मूत्र प्रसेक धरा, (२) जिनकी उत्तेजना से प्रहर्षण होता है तथा यही मैथुन का साधन है। इसी के अग्र भाग में मूत्र बहिर्द्वार है।

वृषण Testicles—यह शुक्र जनक दो ग्रंथियां होती हैं जो बन्धनियों द्वारा कोष के अन्दर लटकती रहती हैं, ये गर्भस्थ शिशु में सात महीने तक वस्ति गुहा में रहती हैं। इसके बाद वंक्षण सुरंग पथ से कोष में आ जाती है, वृषण कोष में वृषण ग्रथि व वृषण बंधनो शुक्रवाहिनी रहती है।

वृषण कोष Scrotum—स्थूल कला से बनी ढीले चर्म से घिरी हुई थैली है।

वृषण ग्रन्थि

यह पक्षी के अडे के सदृश बंधनियों द्वारा अंड धर पुटक में रहती है।

शुक्र प्रणोका या शुक्र प्रणाली—यह वृषण ग्रंथि की पुच्छ से आरम्भ होकर ऊपर को जाती है, फिर उदर की दीवार में से होकर बस्ति गुहा में चली जाती है, यह बहुत से तंतुओं का समूह है।

पौरुष ग्रंथि या अष्ठीला Prostate Gland—यह मूत्र मार्ग के आरम्भिक भाग के ऊपर बस्ति गुहा में रहने वाली अखरोट के फल समान आकार वाली ग्रन्थि है। कामोत्तेजना के समय इसमें से पिच्छिल पदार्थ निकलता या झरता है। वृद्धावस्था में कभी कभी बढ़ जाती है जिससे कि मूत्र कृच्छ्र हो जाता है।

मूत्र प्रसेक पार्श्विक ग्रन्थि Ejaculatory gland—यह मूंग के दाने के समान मूत्र प्रसेक के मध्य भाग के बाहर दोनों तरफ रहती हैं। इनके स्रोत मूत्र प्रसेक के अंदर खुलते हैं और हर समय मूत्र प्रसेक को तर रखते हैं।

शुक्र Sperm—शुक्र सोमात्मक श्वेत वर्ण चिकना बल-पुष्टिकारक, गर्भ का बीज शरीर का सार और जीव का उत्तम स्थान है। यह सफेद रंग का गाढा द्रव्य है जिससे विशेष प्रकार की गंध आती है, इसकी प्रतिक्रिया कुछ क्षारीय होती है। इसकी मात्रा आधा से सवा तोले तक की है जिसमें शुक्र कीट, जल, खटिक, स्फुरित, लवण आदि पाए जाते हैं।

शुक्र कीट Spermatozoa—इनकी लम्बाई $\frac{१}{३००}$ इंच होती है, यह अधिक अम्ल तथा क्षारीय द्रव्य अधिक उष्णता के प्रभाव से मर जाते हैं। शरीर की उष्णता वाले स्थान में १४ दिन तक जीवित रहते हैं। २५ वर्ष की आयु में यह बनने प्रारम्भ होते हैं किन्तु २० से २५ वर्ष की आयु में पुष्ट होते हैं। शुक्र कीट के चार भाग होते हैं। (१) सिर (२) ग्रीवा (३) गात्र (४) पुच्छ, सिर चपटा और आगे से अति तीक्ष्ण होता है। शरीर में इसके पैदा होने के साथ साथ यौवन के अन्य चिह्न भी दिखाई देते हैं।

आर्तव (Menstruation)

द्वादशाद्वत्सरादूर्ध्वम्। आपंचाशत्समाः स्त्रियः।
मासि मासिभगद्वारात्। प्रकृत्यैवार्तवं स्रवेत्॥

आर्तव (रज) शोणित—

ये इसके पर्यायवाची शब्द या नाम हैं। यह युवावस्था का द्योतक है अतः इसके साथ स्तन-वृद्धि कामाद्रि तथा कक्षतल पर लोम पैदा होने लगते हैं। यह गर्भाशय से रक्त श्लेष्मा के साथ प्रति माह निकलता है।

इसका प्रथम दर्शन रजोदर्शन कहलाता है। इस स्थिति में स्त्री को रजःस्वला या

ऋतुमती कहा जाता है। भारतवर्ष में इसका प्रारम्भ १२ से १४ वर्ष की आयु से होता है। इसके आरम्भ में निम्न कारण भी प्रभाव डालते हैं।

(१) जलवायु

(२) जातियां कई प्रकार की हैं कि जिनमें जाति प्रभाव से रजो दर्शन स्वाभाविक तथा जल्दी होता है।

(३) सामाजिक अवस्था तथा आहार-विहार आदि।

(४) आर्तव स्राव प्रतिमाह होता है। परन्तु गर्भावस्था तथा स्तन्य काल में बन्द रहता है।

(५) रजोदर्शन से रजोनिवृत्ति तक ही स्त्री गर्भ धारण के योग्य रहती है।

रजोनिवृत्ति—

४० से ५० वर्ष की आयु में स्त्रियों का आर्तव सदा के लिए बन्द हो जाता है, इसे रजोनिवृत्ति कहते हैं।

आर्तव कालान्तर—

प्रति दो ऋतुओं के बीच प्रायः २८ से ३१ दिन का अन्तर रहता है।

आर्तव काल—

आर्तव प्रायः ४ से ५ दिन तक निकलता रहता है। दो दिन से कम व आठ रोज से ज्यादा रहना रोगसूचक है। सामान्यतया इसका परिमाण २ से ४ छटांक तक होता है।

आर्तव प्रारम्भ दिन से १६ रात्रि ऋतुकाल या गर्भ धारण काल कहा जाता है।

रजस्वला के लक्षण

पीन प्रसन्नवदनाम्। प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ॥
नर कामां प्रियकथा। स्त्रस्त कुक्ष्यक्षि मूर्द्धजाम् ॥
स्फुरद्भुज कुच श्रोणि। नाभ्यूरुजघनस्फिचाम् ॥
हर्षोत्सुक्य परां चापि। विद्यादृतुमतीमिति ॥

जिसका मुख पुष्ट और प्रसन्न हो तथा सारे शरीर और मुंह, दां आदि पर चिकनाई हो। पुरुष की अभिलाषी हो तथा जो मधुर बातें करें। जिसकी कुक्षि आंख, बाल ढोले से हो जाँय तथा बाहें, कुच, कमर और नाभि, जानु, उरु और फड़कने लगें एवं हर्ष और आनन्द में तत्पर हो ऐसी स्त्री को ऋतुमती जानना चाहिए।

शुद्ध आर्तव के लक्षण

शशासृक्प्रतिमं यत्तु। यद्वा लाक्षा रसोपमम् ॥
तदार्तवं प्रशंसति, यद्वासोन विरंजयेत् ॥

रजस्वला के परिहार—दिन में सोना, अंजन लगाना, रोना, चन्दन लगाना, तेल-मालिश करना, नख काटना, दौड़ना, हँसना, बहुत बोलना, तीक्ष्ण शब्द सुनना, कंघी से बाल बनाना, तेज हवा खाना और परिश्रम करना आदि कार्य नहीं करने चाहियें।

रजस्वला के कार्य—कुशा की शय्या पर सोना, हथेली पर पत्तों की पत्तल में रख कर भोजन करे और तीन दिन पुरुष से बची रहे और चौथे दिन स्नान कर पति का दर्शन करे।

पूर्वं पश्येद ऋतु स्नाता। यादृशम् नरमंगना।
तादृशम् जनयेत्पुत्रं। भर्तारं दर्शये दतः॥

आर्तव सम्बन्धित रोग

(१) नष्टार्तव (Amenorrhoea) ऐमिनोरिया।

(२) रक्तप्रदर (Menorrhajia) मेनोरेजिया।

(३) कष्टार्तव (Dysmenoorrhoea) डिसमेनोरिया।

(४) श्वेतप्रदर (Leucorrhoea) ल्यूकोरिया।

आर्तव स्राव की चार अवस्थायें

(१) प्रथमावस्था—यह आर्तव स्राव से ४-५ दिन पहले शुरू होती है। इसमें गर्भाशय की श्लैष्मिककला अधिक रक्तमय, मोटी तथा नरम हो जाती है।

(२) द्वितीयावस्था—यह भी चार पांच दिन तक रहती है। अधिक रक्त बहकर श्लैष्मिककला के नीचे इकट्ठा होकर कला के फटने पर गर्भाशय में होता हुआ निकलता है, अतः इस स्राव में श्लैष्मा के साथ अधिक खटिक रहने पर भी स्कन्दन के अभाव से जमता नहीं। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

(३) तृतीयावस्था—यह सात दिन तक रहती है। इसमें समस्त ग्रंथियें व कला पूर्वावस्था प्राप्त करती है।

(४) चतुर्थावस्था—यह तृतीयावस्था से शुरू होकर प्रथमावस्था तक की होती है।

आर्तव का डिम्ब के परिपक्व होने से सम्बन्ध

आर्तव प्रारम्भ होने के ५ से १४ दिन बाद डिम्ब ग्रंथि से परिपक्व डिम्ब छूटता है, यह पहले बताया जा चुका है कि ऋतुकाल १६ (सोलह) रात्रियों का व सोलह दिन का होता है। यदि इन दिनो में इसके साथ शुक्रकीट का संयोग डिम्ब प्रणाली में हो जाये तो गर्भ स्थिति बन जाती है। आर्तव स्राव से गर्भाशय की श्लैष्मिक कला नरम हो जाती है।